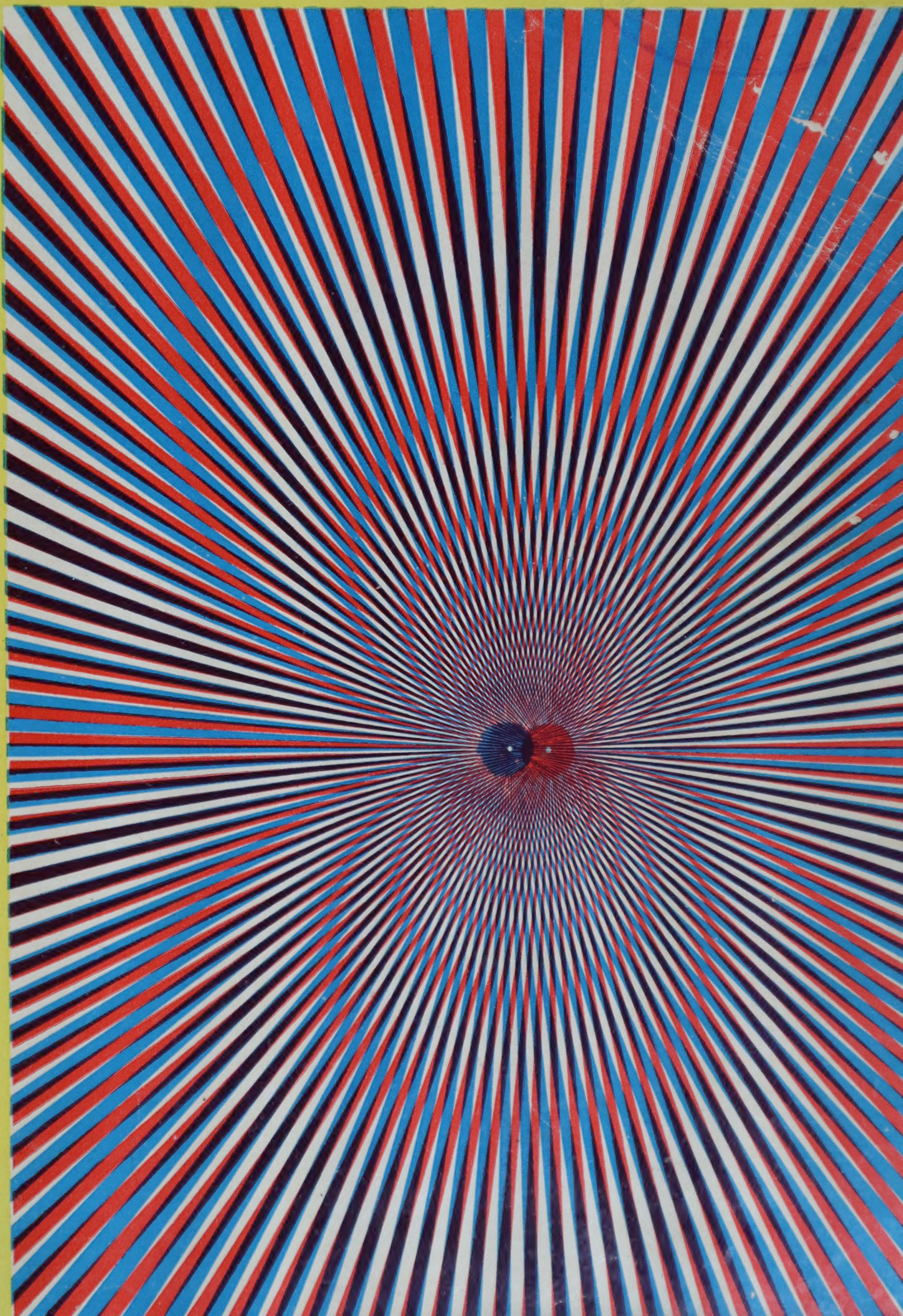
विज्ञान प्रगति

माघ 1890 : जनवरी 1969



य भाषा यूनिट,
ल आफ साइंटिफिक
ंडस्ट्रियल रिसर्च



←

चांद के सब
निकट पहुंचने व
प्रथम मानव
(बांयें से): ला
एन्डर्स ग्रौर
मैन। अपोलो-8
ये यात्री लगभ
110 किलोमीट
दूरी से चांद व
10 परिक्रमा लग
कर सकुशल पृथ्व
पर लौट ग्राये हैं



→

अपोलो-8 के द्वारा 1,78,400 किलोमीटर दूरी से लिया गया पृथ्वी का चित्र । इस में दक्षिण अमेरिका मध्य में है और संयुक्त राज्य अमे-रिका नीचे बायीं ओर ।

अपोलो-8 की चन्द्र यात्रा के बारे में फरवरी 1969 अंक में एक विशेष लेख पढ़िये ।

प्रैक्टीकल काम सिखाने वाली सचित्र टैक्निकल इन्डस्ट्रियल पुस्तकें

● ट्रांजिस्टर

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	22.50
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजाइन	12.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	10.50
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सरकिट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

● रेडियो

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	8.25
सरकिट डायग्राम्ज ग्राफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	3.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	1.00
बिनबिजली का रेडियो	6.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स (दो भाग प्रत्येक)	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

● इलैक्ट्रिकल

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15..00
इलैक्ट्रिक गाइड	1050
इलैक्ट्रिक वायरिंग	4.50
इलैक्ट्रिक लाइटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज़	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स ग्राल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वेल्डिंग	6.00
ग्राल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
*भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल ग्रारमेचर वाइंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए.सी. मोटर वाइंडिंग सचित्र	12.00
ग्रारमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
ग्राई.टी.ग्राई.इलै. सौल्व्ड पेपर्स	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00

● वर्कशाप खराद सम्बन्धी

मशीनिष्ट गाइड ग्राई. टी. ग्राई. के सिलेबस के ग्रनुसार (पृ. 664)	16.50
कास्ट ग्रायरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
खराद ग्रापरेटर गाइड (उर्दू में)	8.25
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज ग्रौर उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिग ग्रौर सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25

● ग्राटोमोबाइल व मोटर

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुग्रल (तीन भाग)	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर	6.00
मोटर ड्राईविंग	4.50
मोटरकार ग्रोवरहालिंग	6.00
मोटर मैकेनिक टीचर गुरुमुखी	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
ग्राधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूटर व ग्राटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
ग्राटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटर कार प्राइमर	1.50
खेती ग्रौर ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00

● फर्नीचर

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटलॉग	25.50
न्यू फर्नीचर कैटलॉग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
ग्राधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुग्रल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6.75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्प्लीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

● सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी ग्रार्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजाइन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (ग्रंग्रेजी)	5.25
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिन्दी)	5.25

● गेट ग्रिल जाली

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
ग्रायरन फर्नीचर	12.00

● लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (ग्रंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक ग्राफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

● विविध

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजाइन	3.75
ग्रायल व गैस इंजन गाइड	15.00
ग्रायल इंजन गाइड	8.25
सिनेमा मशीन ग्रापरेटर्स गाइड	8.25

● एग्रर कन्डीशनिंग

रैफरीजरेटर गाइड	8.25
ग्राइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एग्रर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देखलें। डाक खर्च ग्राहक को देना होगा।

1.1969

देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6 फोन नं. { 261030, 264191, 265403 }

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। विज्ञान प्रगति का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिय शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या ....है। मैं..................रु. का चेक/पोस्टल/मनी आर्डर

संख्या.......................................दिनांक.....................भेज रहा हूं।

पूरा नाम ....

पता..

डाकघर ....जिला..................राज्य.............

हस्ताक्षर ....

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलबीर वर्मा

मुख-चित्र परिचय

पास-पास स्थित दो सूक्ष्म छिद्रों से होने वाले द्रव प्रवाहों के पैटर्नों के अध्यारोपण से उत्पन्न म्वॉरे पैटर्न । म्वॉरे पैटर्न पर एक विशेष लेख पढ़िये पृष्ठ 4 पर ।

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 माघ 1890 जनवरी 1969 अंक 1 पूर्णांक 196

विषय सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

झिलमिलाती धारियां

म्वॉरे पैटर्न

धुरेन्द्र कुमार गर्ग

आजकल बहुत से लोग घरों में नायलान के पर्दे लटकाते हैं। ये परदे दूसरे कपड़ों के पर्दों से अधिक सुन्दर और टिकाऊ होते हैं। जब हवा चलती है ये लह-लहाते हैं। इन लह-लहाते पर्दों को आपने आवश्य देखा होगा। इन को देखने से आप को ऐसा लगता है मानो लहरें एक के बाद एक 'आगे बढ़ रहीं' हैं। ये 'चलती हुई' लहरें आप को सुन्दर दिखायी देती हैं। लेकिन ये बनती कैसे हैं? वास्तव में यह लहरें नहीं हैं ये तो वक्र धारियां हैं। जब एक प्रकार का वक्र का समूह (फेमिली) दूसरे प्रकार के वक्र समूह पर अध्यारोपित किया जाता है तो वक्रों का एक नया समूह बन जाता है। इस नये वक्र समूह को भौतिकशास्त्री म्वॉरे धारियां (म्वॉरे पेटर्न) कहते हैं।

उपयोग

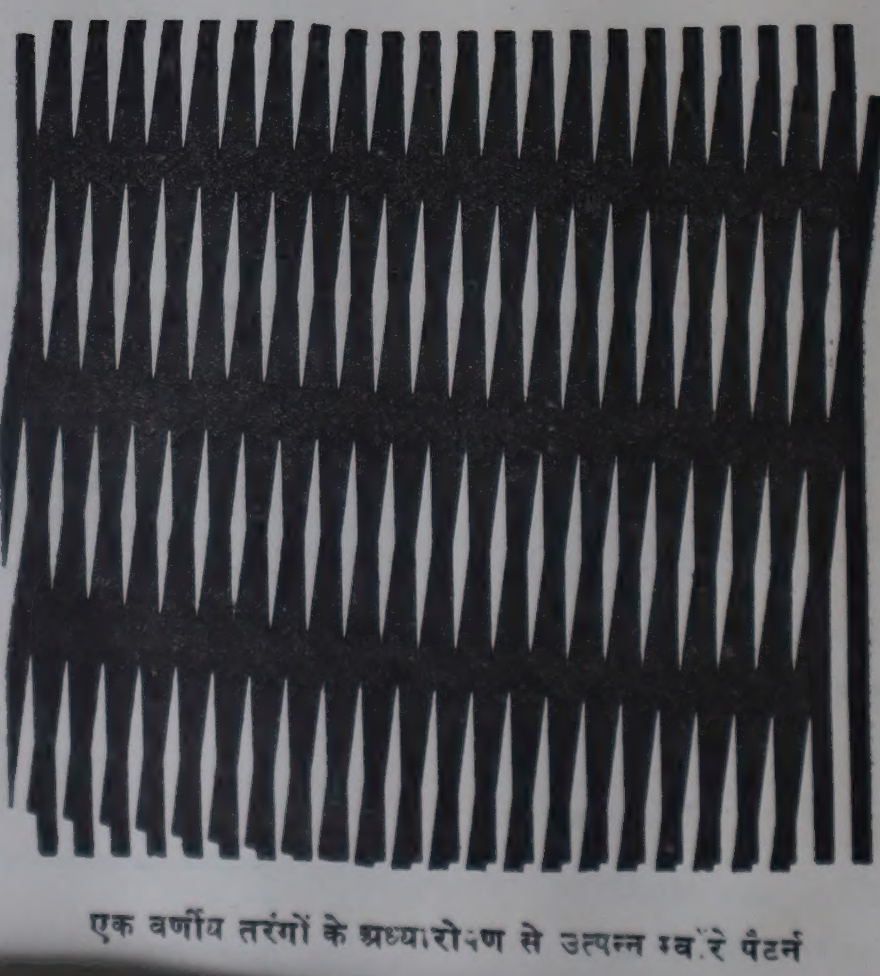
नायलांन के पर्दे के हिलने से ये म्वॉरे पैटर्न ही बनते हैं। इन से ही 'चलती हुई धारियों' का आभास होता है। इन धारियों ने भौतिक-शास्त्रियों को यंत्रों में सूक्ष्म विस्थापन मापने की प्रेरणा दी और आज ये म्वॉरे पैटर्न, उद्योगों के लिये बहुत उपयोगी बन गये हैं। धातुओं के 'थकने' के कारण उन में सूक्ष्म दरारें पड़ जाती हैं। इन दरारों, जो खाली आंख से नहीं दिखायी देतीं, के कारण धातु की चादरें आदि कल-पुर्जे बनाने के लिये बेकार हो जाती हैं। इन दरारों को मापने के लिये म्वॉरे पैटर्न बहुत उपयोगी पाये गये हैं। इस पैटर्न की मदद से किसी सतह की 'सपाटता' (फ्लटनैस) भी आसानी से मापी जा सकती है।

महीन तार जैसी वस्तुओं का व्यास आमतौर से माइक्रोमीटर से नापा जाता है। माप की शुद्धता माइक्रोमीटर के स्क्रू की चूड़ियों पर निर्भर करती है और बहुत अच्छी किस्म का पास-पास चूड़ियों वाला स्क्रू बनाना, आसान काम नहीं है। म्वॉरे पेटर्न की सहायता से, माइक्रोमीटर की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्धता से माप लिया जा सकता है।

यदि दो कांच की प्रेषण (ट्रांसमिशन) ग्रेटिंग (जिन में लाइनों की संख्या व दूरी लगभग बराबर हो) को एक के ऊपर एक रख कर ऊपर वाली ग्रेटिंग को सरकायें तो बहुत सुन्दर म्वॉरे धारियां दिखाई पड़ती हैं। इन धारियों की आपस की दूरी दोनों ग्रेटिंग द्वारा बनी रेखाओं के बीच के कोण पर निर्भर है। जैसे जैसे यह कोण कम होता जाता है, अन्तराल भी बढ़ता जाता है। धारियां दिखने के लिये इस कोण का 45° से कम होना आवश्यक है। इससे अधिक कोण पर धारियां दिखाई नहीं पड़ती है। यद्यपि प्रेषण ग्रेटिंग की लाइनों को खाली आंख से देखना मुश्किल है लेकिन ऐसी दो ग्रेटिंगों से उत्पन्न म्वॉरे धारियां आसानी से देखी जा सकती हैं।

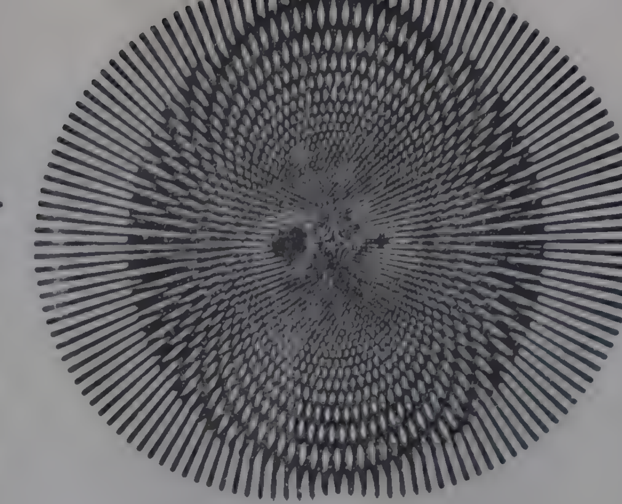
प्रथम प्रयोग

इस प्रयोग का उपयोग सब से पहले सन् 1874 में लार्ड रेले ने ग्रेटिंग की शुद्धता का पता लगाने के लिये किया था। उस के बाद जे.



एक वर्णीय तरंगों के अध्यारोपण से उत्पन्न म्वॉरे पैटर्न

गिल्ड व उन के साथियों ने ब्रिटेन की राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में इस पर अनुसंधान किया और यह पता लगाया कि इस की सहायता से किसी चीज की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई आदि बहुत सूक्ष्मता से नापी जा सकती है।



→ पास-पास स्थित दो सूक्ष्म छिद्रों के द्रव प्रवाह को दर्शाने वाला एक म्वॉरे पैटर्न

भिन्न प्रकार के म्वॉरे पैटर्न

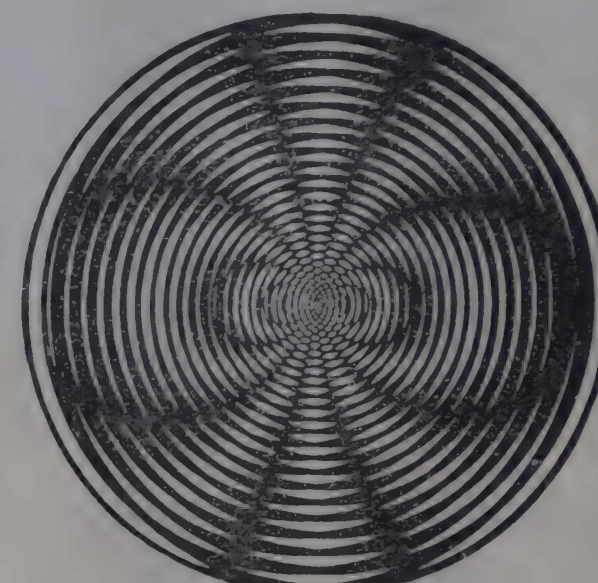
वक्रों के समूहों की प्रकृति के अनुसार अनेक प्रकार के पैटर्न बनते हैं। एक साधारण ग्रेटिंग की काली व सफेद रेखायें समतल आवृत्ति की वे तरंगे समझी जा सकती हैं जिनकी तरंग-लम्बाई ग्रेटिंग की आवृत्ति की लम्बाई के बराबर होती। तरंगों की दिशा रेखाओं के लम्बरूप रहती है। इन से बनने वाले पैटर्न केवल तरंगों के फेज के बारे में सूचना देते हैं। पिछले पृष्ठों पर दर्शाया गया म्वॉरे पैटर्न इसी प्रकार का है।

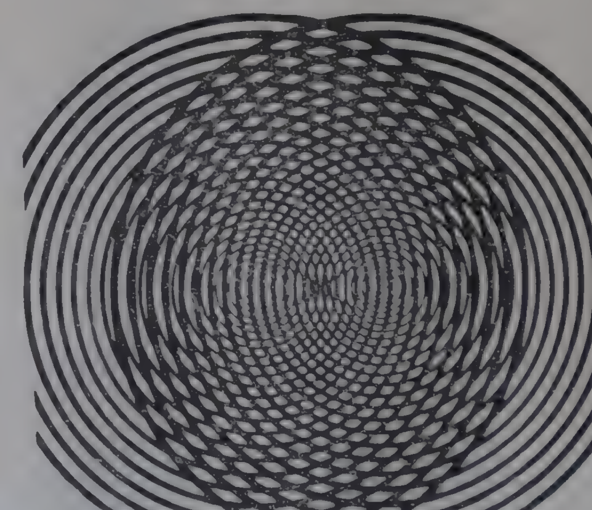
म्वॉरे विधि से क्षेत्र व बहाव की समस्यायें भी बिना परेशानी के हल की जा सकती हैं। पास-पास स्थित दो सूक्ष्म छिद्रों में से निकलने वाले द्रव के प्रहावों को भी म्वॉरे पैटर्न में दर्शाया जा सकता है। यह पैटर्न लगभग वैसा ही बनेगा जैसा कि मुख पृष्ठ पर दिये गये चित्र में दर्शाया गया है।

यदि उपर्युक्त म्वॉरे पैटर्न के केन्द्रों में काफी अन्तर कर दिया जाये तो सबसे ऊपर वाले चित्र में दिखाये गये पैटर्न प्राप्त होते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि म्वॉरे पैटर्न उद्योगों में सूक्ष्म दूरी को मापने के लिये बहुत उपयोगी पाये गये हैं। धातु की चादरों की मोटाई सदैव एक समान रखने के लिये म्वॉरे विधि बहुत सुविधा-जनक पायी गई है। धातु में उत्पन्न प्रतिबलों का पता लगाने के लिये भी म्वॉरे विधि बहुत उपयोगी है।

गणित शास्त्र में इन म्वॉरे पैटर्नों का उपयोग ग्राफ से सवाल हल करने के लिये किया जा सकता है। 'लापला ट्रान्सफारमेशन' के प्रश्न इन से आसानी से हल किये जा सकते हैं।





विपरीत आवेशों के विभवों के अध्यारोपण से उत्पन्न विभिन्न म्वॉरे पैटर्न



सड़क-निर्माण के लिये अद्वितीय पदार्थ—

डा म र

(भाग-2)

रमाशंकर शुक्ल और मामचन्द हरित

आप इस लेखमाला के प्रथम भाग में डामर की खोज, निर्माण और परखने की विधियों के बारे में पढ़ चुके हैं। अब प्रस्तुत है विभिन्न प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्रों में प्रयुक्त किये जाने के लिये डामर के विशेष इम्लशन आदि बनाने की विधियां।

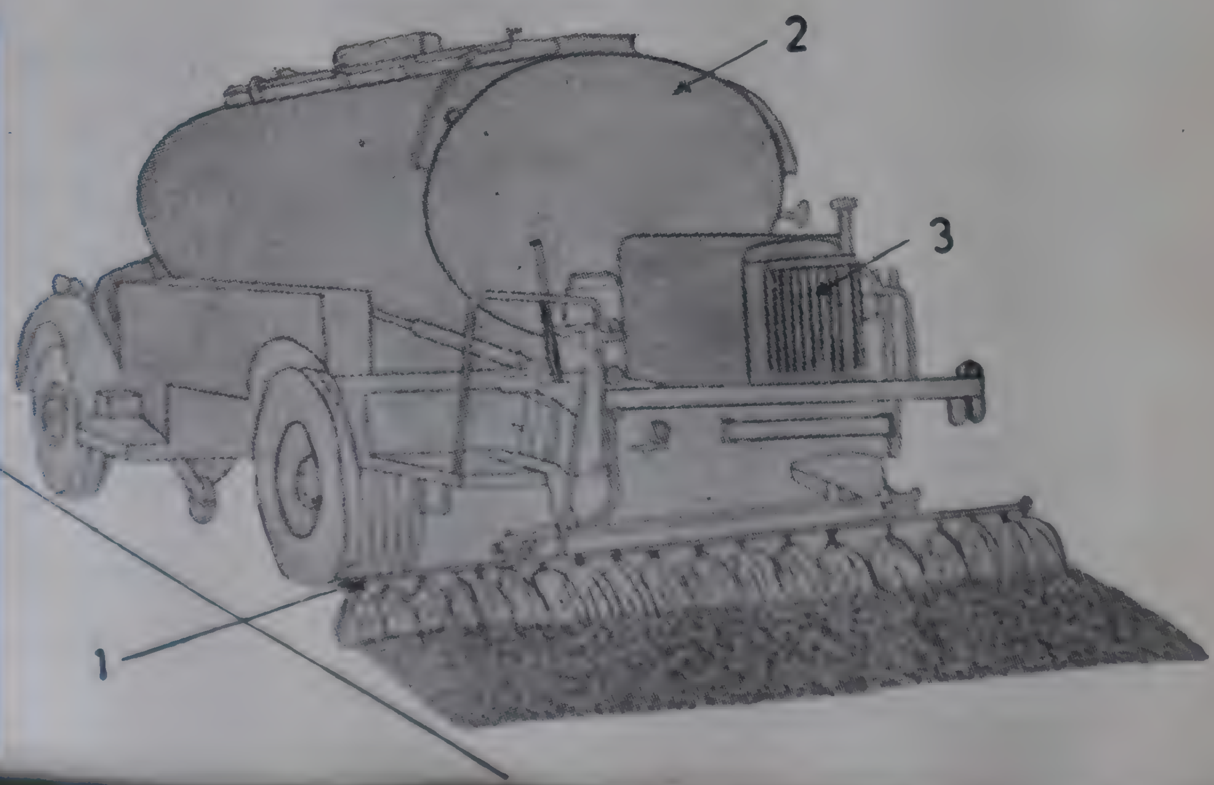
— सम्पादक

डामर एक ऐसा पदार्थ है जो गर्मी से पिघलता है, व सर्दी में कठोर हो जाता है। इसलिए सड़क निर्माण हेतु ऐसी तरलता के डामर का इस्तेमाल करना चाहिये जिसमें सर्दी में दरारें न पड़ें तथा गर्मी पाकर वह बहने न लगे। डामर के इन्हीं गुणों के कारण अधिकतर निर्माण कार्य गर्मी में किए जाते हैं। परन्तु यदि सर्दी में डामर से कार्य करना पड़े तो यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि डामर को चाहे जितना गर्म किया जाये सड़क पर डालते-डालते वह बहुत कठोर हो जाता है। इससे रोड़ी उसके साथ चिपकती ही नहीं।

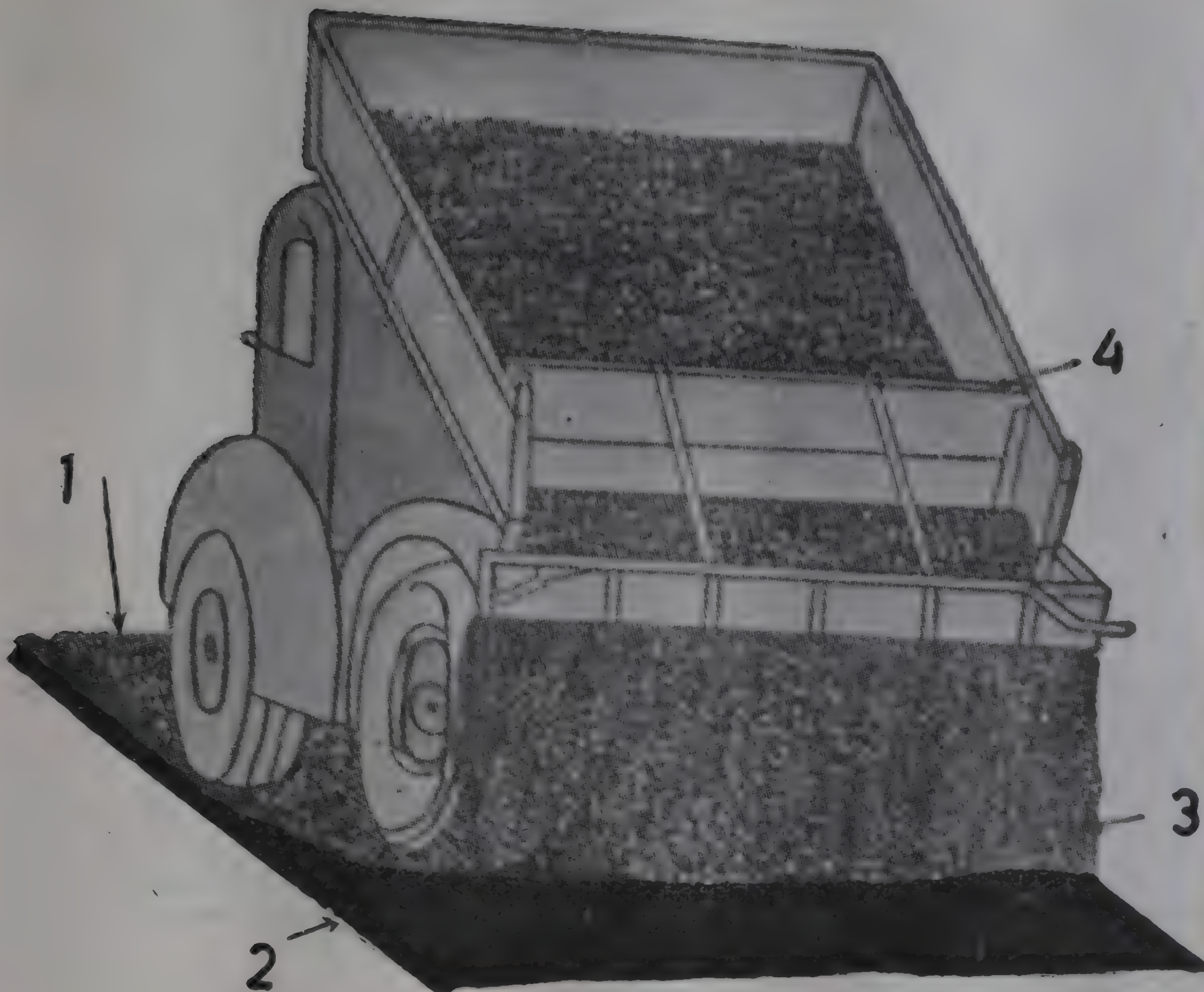
इस असुविधा को दूर करने के लिए डामर में पेट्रोल अथवा मिट्टी का तेल मिलाकर उसे पतला कर लिया जाता है। निर्माण कार्य के पश्चात तेल अथवा पेट्रोल धीरे-धीरे हवा में उड़ जाता है और डामर अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है।

तेल के चयन में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। यदि निर्माण के बाद सड़क को तुरन्त यातायात के लिए खोलना होता है तो 'तुरन्त उड़नशील' डामर का उपयोग करते हैं। इसमें पेट्रोल का प्रयोग किया जाता है। 'मध्यम उड़नशील' में मिट्टी का तेल तथा 'अउड़नशील' डामर में भारी तेलों का उपयोग होता है। अउड़नशील डामर प्रायः मिट्टी के स्थिरीकरण में प्रयुक्त होते हैं।

उड़नशील डामर बनाने की विधि अति सरल है। एक भट्टी में उपयुक्त तेल को गर्म करके उसमें गर्म डामर मिला लेते हैं। मिश्रण को अच्छी प्रकार से मथ लेते हैं। इस विधि से तेल या डामर की मात्रा घटा-बढ़ा कर इच्छित तरलता का मिश्रण तैयार किया जा सकता सकता है। भट्टियों में तैयार किया हुआ डामर महंगा पड़ता है। इसलिए आजकल इसको निर्माण कार्य के साथ-साथ बनाते जाते हैं तथा प्रयुक्त करते जाते हैं।



यांत्रिक स्प्रेयर द्वारा डामर का छिड़काव :
1. ब्रुश 2. डामर टैंक,
3. पम्प



रोडी फैलाने की यांत्रिक युक्ति :
1. चलने की दिशा 2. डामर
3. बारीक रोडी 4. टल बोर्ड

इमलशन का निर्माण तथा उपयोग

उपर्युक्त मिश्रण की लागत को कम करने के लिये कुछ लोग तेल के स्थान पर पानी का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। इस प्रकार से बने हुए पदार्थों को इमलशन कहते हैं।

'डामर-इमलशन' में डामर की छोटी-छोटी बूंदों को पानी के अन्दर तैरा दिया जाता है। डामर की बंदों का आकार 0.001 से 0.005 मिमी. तक होता है। आमतौर से तीन प्रकार के इमलशनों का उपयोग किया जाता है, जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

चिकनी मिट्टी से बने इमलशन : यह उस इमलशन का नाम है जिसमें डामर की बूंदों को पानी में तैरने के लिए चिकनी मिट्टी का सहारा लिया जाता है। इसमें अधिकतर बेन्टोनाइट प्रयोग में लाई जाती है। इस प्रकार के इमलशन में एक दोष है कि वायुमंडल से बेन्टोनाइट नमी अवशोषित कर लेती है इसलिये सड़क जल्दी ही कट जाती है।

'ऋण विद्युत युक्त' इमलशन : डामर का इमलशन तैयार करने के लिये सोडियम अथवा पोटैशियम के साबुन तथा क्षारीय पानी (पी.-एच. 9–11) भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के इमलशन 'ऋण विद्युत युक्त' होते हैं अर्थात् इमलशन में डामर की बूंदों की ऊपरी सतह पर ऋण विद्युत होती है।

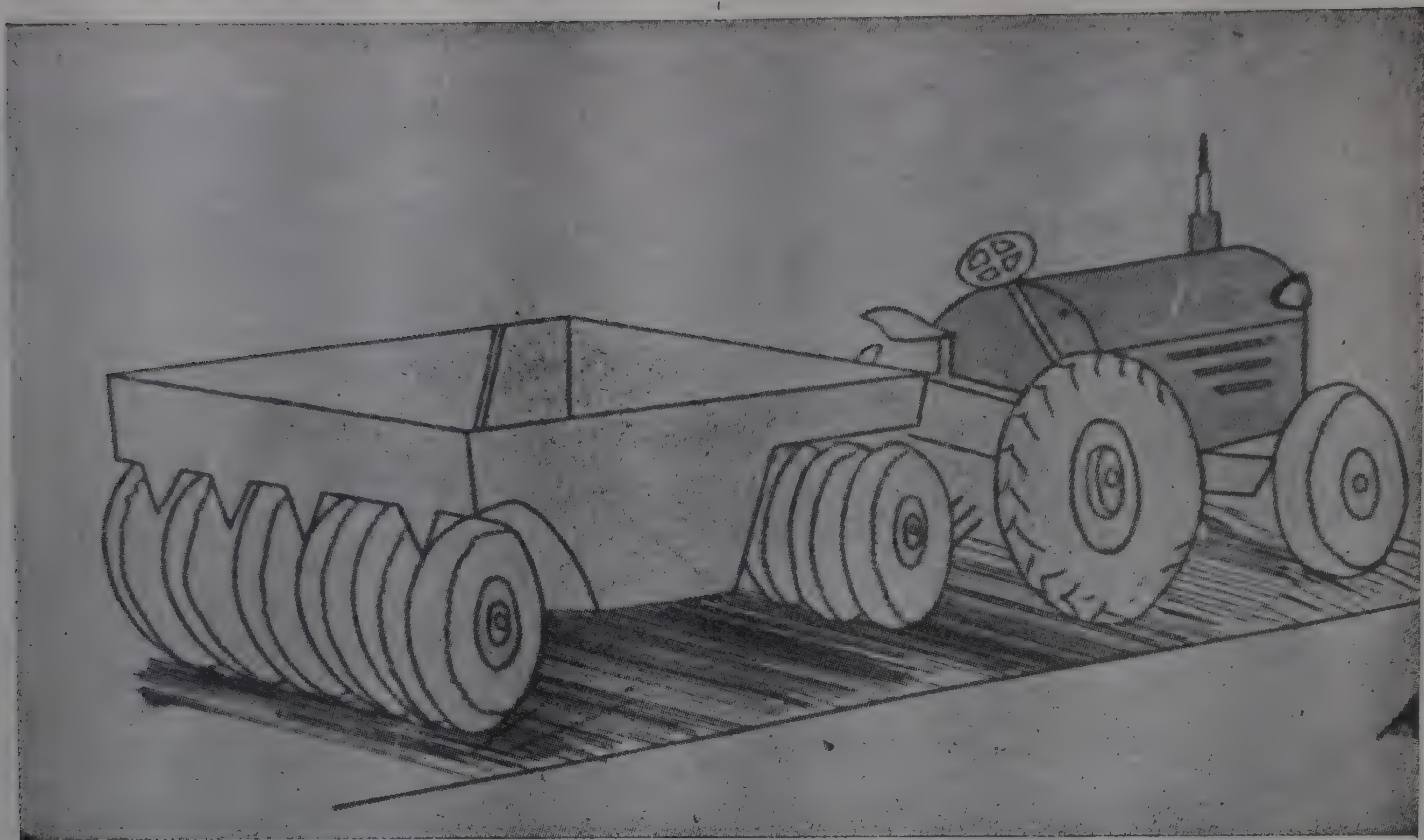
कुछ ऐसे इमलशन भी होते हैं जिनमें डामर की बूंदों की अपेक्षा पानी की बूं डामर में तैरती रहती हैं।

धन विद्युत युक्त इमलशन : इस प्रकार के इमलशन में डामर की बूंदों की ऊपरी सतह पर धन विद्युत पाई जाती है तथा पानी को अम्लीय रखा जाता है। प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि धन विद्युत युक्त इमलशन, ऋण युक्त इमलशन तथा अन्य इमलशनों से अधिक उपयोगी होते हैं।

वैसे तो तीनों प्रकार के इमलशनों का इस्तेमाल किया जाता है परन्तु धन विद्युत युक्त इमलशन अधिक प्रयुक्त किये जाते हैं। निर्माण कार्य के पश्चात डामर तथा पानी या तो वाष्पीकरण ारा अथवा धन-ऋण विद्युत संयोग द्वारा अलग-अलग हो जाते है और सड़क पर डामर की पतली पर्त बन जाती है। इमलशन के प्रयोग में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि इसे पानी मिलाकर इच्छानुसार तरल बनाया जा सकता है।

रोलर द्वारा सड़क की कुटाई





वायु भरे (न्यूमेटिक) रोलर द्वारा सड़क का समापन

इमल्शन बनाने की विधि

वैसे तो इमल्शन बनाने की विधि बहुत सरल है परन्तु व्यावहारिक रूप में कई प्रकार की कठिनाइयां आ सकती हैं । पहले ऐसी मशीनें प्रयोग में लाई जाती थीं जिनमें एक बार में एक निश्चित मात्रा ही बनती थी । परन्तु आजकल लगातार काम करने वाली मशीनों का उपयोग किया जाता है । इन मशीनों को इमल्शन बनाने वाली मशीनें कहते हैं ।

पहले गर्म डामर (93°—121°) जिसमें इमल्शन बनाने में सहायक पदार्थ मिले होते हैं को रोटर के बीच में प्रवाहित किया जाता है जहां डामर की पतली परत बन जाती है । इसके पश्चात् पानी जिसकी क्षारीयता अथवा अम्लता निर्धारित होती है उसके अन्दर भेजा जाता है तथा इस प्रकार डामर छोटी-छोटी बूंदों में विभाजित होकर पानी में तैरने लगता है । इनकी मात्रा लगभग 1 प्रतिशत रखी जाती है । रोटर के बीच में जितना स्थान कम रखा जाता है उतनी ही छोटी बूंदे पैदा होती हैं परन्तु इससे उत्पादक क्षमता कम हो जाती है ।

इमल्शनों को उनके जमने के समय के अनुसार तीन वर्गों में बांटा जा सकता है : शीघ्र जमने वाले, मध्यम रूप से जमने वाले तथा कभी न जमने वाले इमल्शन । कभी न जमने वाले इमल्शन प्रायः मिट्टी के स्थिरीकरण में प्रयुक्त किये जाते हैं ।

आधुनिक युग में सड़क की महत्ता इतनी बढ़ चुकी है कि डामर की उपयोगिता का सही वर्णन नहीं हो सकता । शहरों में तो शायद कोई ही ऐसा व्यक्ति होगा जिसे डामर के नित्य प्रति ही दर्शन न होते हों ।

उड़नशील डामर का उपयोग देश के ठंडे क्षेत्रों में अधिक मात्रा में किया जाता है । आज जब कि हिमालय क्षेत्र में सड़क निर्माण कार्य इतने बड़े पैमाने पर हो रहा है, इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है ।

देश में पेट्रोल तथा मिट्टी के तेल की कमी तथा देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए नितान्त आवश्यक हो जाता है कि हम सड़क निर्माण के लिए डामर इमल्शन पर ही जोर दें । सड़क निर्माण के अतिरिक्त डामर इमल्शन मिट्टी के स्थिरीकरण, ढलान स्थिरीकरण आदि में भी इस्तेमाल किया जा सकता है ।

आप जानते हैं कि हम अपने शरीर से, एक सीमा के अंतर्गत, चाहे जितना कार्य ले सकते हैं क्योंकि हमारे शरीर की बनावट इस तरह की है कि अधिक परिश्रम मांसपेशियों, पुट्ठों इत्यादि को शक्तिशाली बनाता है और उनमें प्रतिरोध उत्पन्न करता है जो शरीर की कार्य क्षमता में वृद्धि करता है। परन्तु सीमा का उल्लंघन करने पर हमें थकावट अनुभव होती है जो कि दो प्रकार की होती है: शारीरिक और मानसिक।

जहां तक शारीरिक थकावट का प्रश्न है, वैज्ञानिक खोजों के अनुसार यह मांसपेशियों में लैकटिक अम्ल के निर्माण तथा उपस्थिति के कारण आती है। यह अम्ल शारीरिक क्रियाओं के लिये बेकार है खाद्य पदार्थों से प्राप्त कार्बोहाइड्रेटों के कुछ भाग को हमारा शरीर ग्लाइकोजन में बदल देता है। हमारी मांसपेशियां कार्य करते समय ग्लाइकोजन का उपयोग करती हैं। ग्लाइकोजन एक ओर तो मांसपेशियों को कार्य करने के लिये ऊर्जा देता है, दूसरी ओर लैकटिक अम्ल भी उत्पन्न करता है। यही अम्ल थकावट पैदा करता है क्योंकि मांसपेशियों के ऊतकों की दशा इस अम्ल की उपस्थिति में ऐसी हो जाती है कि वे कार्य नहीं करना चाहते हैं।

थकावट और उसके कारण

चन्द्रकुमार मिश्र

नवीन खोज

यद्यपि अधिवृक्क ग्रंथियां (एड्रीनल ग्लैंड) ऐसा स्राव उत्पन्न करती है जो कि अधिकांश लैकटिक अम्ल को ठिकाने लगा देता है, परन्तु शेष अम्ल मनुष्य को उत्तेजित कर अधिक आक्सीजन ग्रहण करने के लिये बाध्य कर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि थकावट आयेगी ही नहीं वरन् यदि हम कार्य को सुनियोजित ढंग से करें और सामान्य बातों का ध्यान रखें तो कार्य अधिक कर सकेंगे। सुनियोजित ढंग से कार्य करने के संबंध में सबसे मुख्य बात है शारीरिक व्यायाम। व्यायाम किसी भी तरह (खेलकूद से लेकर घूमने तक) का हो सकता है। एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण के अनुसार नियमित व्यायाम द्वारा मनुष्य की कार्यक्षमता लगभग 20 प्रतिशत बढ़ायी जा सकती है। फ्रांस के एक बड़े उद्योग संस्थान में किये गये प्रयोगों के अनुसार यह पाया गया कि वे व्यक्ति जो लिखने-पढ़ने का कार्य करते हैं, मध्यान्तर में हल्का सा व्यायाम करें या खेल कूद में भाग लें तो वे शेष समय में प्रफुल्ल चित्त रहेंगे तथा बेहतर कार्य कर सकेंगे। इसका कारण यह है कि व्यायाम या खेलकूद के समय मांसपेशियां विश्रामकाल की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक आक्सीजन लेती हैं। इस अधिक आक्सीजन वाले रक्त को मांसपेशियों तक पहुंचाने के लिये दिल की रक्त पम्प करने की क्षमता में वृद्धि होती है। इससे उन सब नलिकाओं में, भी पर्याप्त रक्त प्रवाहित होने लगता है जिनमें से सामान्यत: कम प्रवाहित होता। इससे मांसपेशियों की सहनशीलता में वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त ग्रंथियां भी अधिक सुचारु रूप से कार्य करने लगती है।

कुछ व्यक्तियों को रोगों के कारण जल्दी थकावट आ जाती है। जिनके शरीर में रक्त की मात्रा आवश्यकता से कम होती है या जिनकी थाइराइड ग्रंथि ठीक कार्य नहीं करती, अथवा जो मधुमेह जैसे रोगों से पीड़ित होते हैं, उन्हें भी शीघ्र ही थकावट आ जाती है। ऐसे व्यक्तियों का उपचार किया जा सकता है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि विशेष परिस्थितियों में हम बहुत अधिक कार्य कर सकते हैं। जब हमें कार्य करने में बहुत आनन्द आ रहा हो या हम किसी बीमार प्रियजन की सेवा में लगे हों अथवा हमारा अपने गंतव्य पर पहुंचना अत्यंत आवश्यक हो, उस समय लगातार कई दिनों तक कार्य करते रहने पर भी हमें थकावट महसूस नहीं होती। दूसरे महायुद्ध तथा भारत-पाकिस्तान युद्ध में ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जिनमें सैनिकों ने बिना विश्राम किये कई दिनों तक कार्य किया है। इन परिस्थितियों में मस्तिष्क के रेटिक्यूलर भाग से ऐसे 'संकेत' निकलते हैं जो थकावट के संकेतों को नष्ट कर देते हैं। मस्तिष्क का यह भाग सामान्यत: उदासीन रहता है किन्तु विशेष परिस्थितियों में वह उत्तेजित हो कर संकेत देने लगता है। इस कारण हम अपनी शारीरिक थकावट को भूल जाते हैं।

मानसिक थकावट

एक ही प्रकार का कार्य काफी समय तक करते रहने के कारण उसमें हमारी रुचि कम हो जाती है और मन ऊब जाता है। इस ऊब के कारण भी हमें थकावट मालूम होने लगती है। यह थकावट वास्तव में मानसिक है तथा इसका उपचार है कार्य में रोचकता उत्पन्न करना। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो कार्य के बीच में चाय-कॉफी आदि लेना या कुछ दिलचस्प वार्तालाप कर लेना बहुत लाभदायक होता है। इससे ऊब समाप्त हो जाती है।

उन्नति के साधन

नौकरी में उन्नति पाने, अधिक आय करने आदि के लिये अनेक प्रकार के 'स्वाध्याय' के विज्ञापन समाचार-पत्रों में आते रहते हैं। सामान्यत: प्रत्येक व्यक्ति उन्नति करना तथा अपनी आय बढ़ाना चाहता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के पास न तो वह आत्मविश्वास या लगन होती है जो ऐसे अध्ययन के लिये आवश्यक है और न परिश्रम की क्षमता। अत: वह कार्यप्रारम्भ तो बड़े जोर से करता है किन्तु किसी परिस्थितिवश उसे जब छोड़ता है तो आत्मग्लानि होती है और वह अपने को शारीरिक रूप से थका समझने लगता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के लिये लाभदायक यही है कि वह अपनी वास्तविक क्षमता के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करे तथा अपने को बेकार की चिन्ता से बचाये रखे।

जिस प्रकार के खेल, मनोरंजन, तथा रुचि में व्यक्ति का वास्तविक रूप से रुझान हो उसे वही करना चाहिये। आधुनिक उग्र जीवन (फास्ट लाइफ) में यदि किसी की रुचि हो तो वह वैसा जीवन व्यतीत करे अन्यथा शांत जीवन व्यतीत करना ही उसके लिये श्रेयस्कर होगा।

टिड्डियों में प्रावस्था रूपांतरण

सतीशचन्द्र

टिड्डी की विभीषिकाओं से मानव जाति विगत अनेक शताब्दियों से ग्रस्त है । इसकी विनाशलीला का उल्लेख अथर्ववेद में भी मिलता है, लेकिन इस सुदीर्घ अवधि में हम इसे दैवी विपत्ति के रूप में स्वीकारते हुए दुर्भाग्य और अज्ञान के गहन अंधकार में डूबे रहे ।

टिड्डियों का प्रकोप चक्रों में होता है । एक बार आक्रमण शुरू होने के बाद लगातार कई वर्षों तक टिड्डी के झुंड निश्चित क्षेत्र में आकर फसलों को ध्वस्त करते हैं, जिसे 'प्लेग' की अवधि भी कहा जाता है । 'प्लेग' की समाप्ति के बाद कई सालों तक 'विराम' की अवस्था रहता है । जब टिड्डियों के झुंड का नामोनिशान नहीं रहता है, किसान राहत की सांस लेते हैं और दुर्भिक्ष का भय टल जाता है । फिर अचानक 3 से 9 वर्ष बाद एक दिन टिड्डियों के विशाल झुंड आकाश में उड़ते हुए, अपने आगमन की भयंकर सूचना प्रसारित कर, आतंक का वातावरण उपस्थित कर देते हैं । उदहाहरणार्थ हमारे देश में 1860 से अब तक रेगिस्तानी टिड्डी के 10 'प्लेग' आ चुके हैं । इनकी अवधि इस प्रकार है, 1863-67, 1869-73, 1876-81, 1889-98, 1900-07, 1912-20, 1929-31, 1940-46, 1950-55 और 1959-63 । प्लेग की समाप्ति के बाद टिड्डियां कहां विलीन हो जाती हैं और वर्षों तक विलुप्त रहने के पश्चात फिर कहां से आटपकती हैं, यह तथ्य सबको अलौकिक और रहस्यमय लगता है ।

इस रहस्य का उद्घाटन किया है रूसी वैज्ञानिक वी.पी. उभारोभ ने । सन् 1921 में सर्वप्रथम उन्होंने ही टिड्डियों के अचानक विलुप्त और पुनः अवतरित होने की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की ।





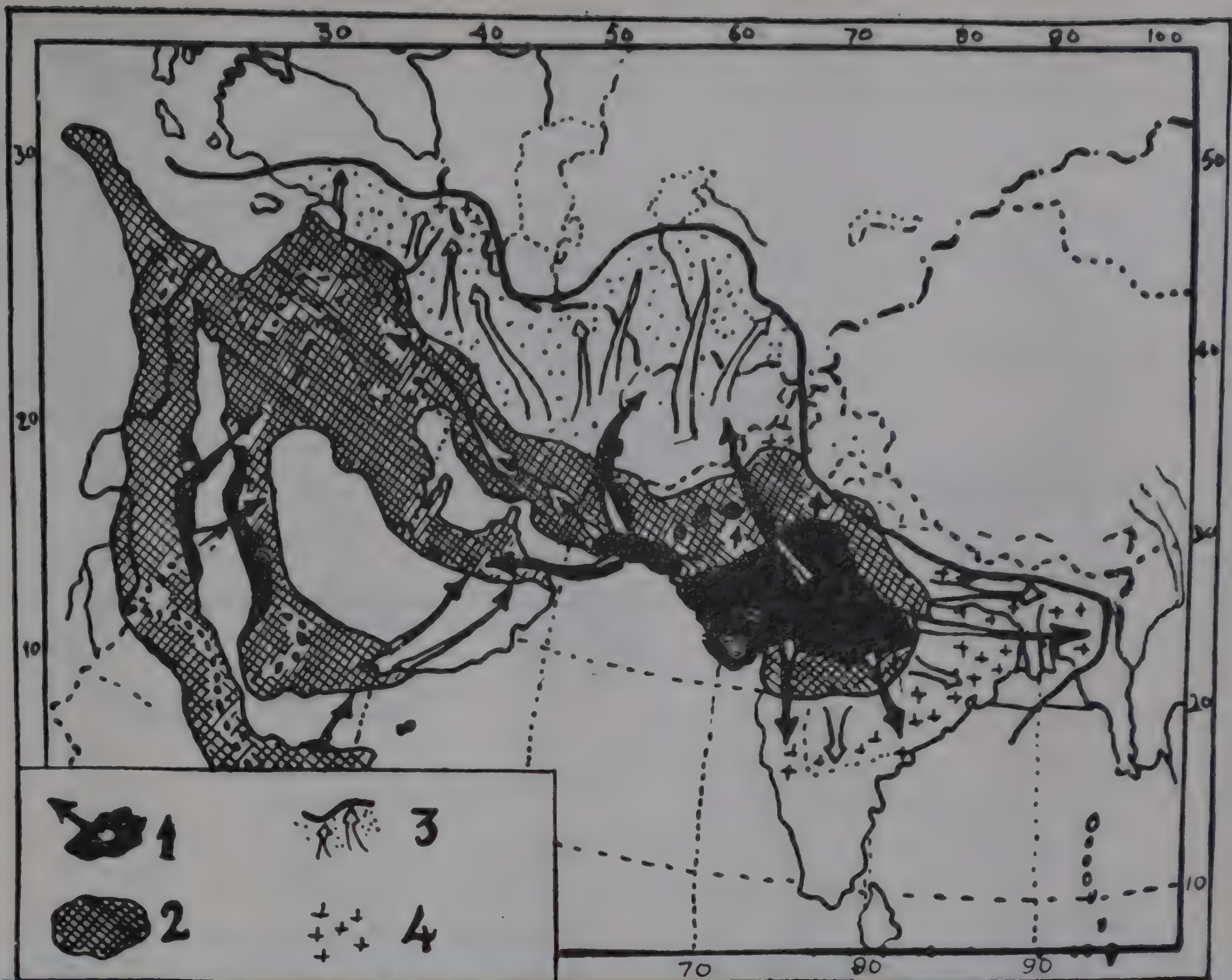
अंडे देती हुई टिड्डी

उन्होंने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसका नाम है—'प्रावस्था रूपान्तर सिद्धान्त' (फ़ेज थ्योरी) । उन्होने इस सिद्धान्त का परीक्षण टिड्डी की '**लोकस्टा माइग्रेटोरिया**' नामक प्रजाति पर किया था, परन्तु बाद में अन्य प्रजातियों पर भी यह परिकल्पना खरी उतरी और अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में विख्यात हो गई है । टिड्डी अनुसंधान की पूरी इमारत इसी सिद्धान्त की नींव पर टिकी हुई है ।

प्रावस्था रूपान्तरण सिद्धान्त

बड़े पैमाने पर फसलों को नष्ट करनेवाली टिड्डियां दो वर्गों में बांटी जा सकती हैं । 'एकाकी' (सालोटरी) और 'यूथी' (ग्रेगेरियस) हालांकि इन दोनों वर्गों के मेल से एक तीसरा, मध्यम वर्ग, भी बनता है । दोनों प्रावस्थाओं में टिड्डियां रंग, आकृति और प्रकृति में एक दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें सहज ही दो विभिन्न जातियों की संज्ञा दी जा सकती है । उदाहरण के लिये **लोकस्टा माइग्रटोरिया** और **लोकस्टा डेनिका** पहले दो विभिन्न जातियां समझीं जाती थीं, जब कि वास्तव में वे एक ही जाति के दो भिन्न स्वरूप हैं । इसी आधार पर उभारोभ ने बताया कि प्रतिकूल मौसम अथवा अच्छे नियंत्रण के बावजूद भी 'प्लेग' की समाप्ति के बाद टिड्डियां पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाती बल्कि उनका स्वरूप बदल जाता है । वे 'यूथी' प्रावस्था से 'एकाकी' प्रावस्था में रूपान्तरित हो जाती हैं और अपने स्थायी प्रजनन क्षेत्रों में जीवन-यापन करने लगती हैं । उस समय वे समूह में नहीं रहती । उनका रंग और आकार बदल जाता है और उनमें सुदूर प्रवास की क्षमता नहीं रह पाती ।

धीरे-धीरे अनुकूल परिस्थितियों के आ जाने पर उनकी प्रजनन शक्ति में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है और वे 'एकाकी' से फिर 'यूथी' प्रावस्था में रूपान्तरित हो जाती हैं । रंग, प्रकृति, आकार-प्रकार की भिन्नता के कारण ही पहले वैज्ञानिक एकाकी प्रावस्था वाली टिड्डियों को किसी अन्य जाति के कीड़े समझते थे ।



टिड्डियों के प्रस्थान का नक्शा

वर्गों के सामान्य अभिलक्षण

अब तक टिड्डियों की कुल 9 प्रजातियों का पता चला है और हर प्रजाति के प्रावस्था अभिलक्षण भिन्न होते हैं परन्तु साधारणतया हम निम्न लक्षणों से 'स्वरूप विभाजन' कर सकते हैं ।

एकाकी प्रावस्था : इस प्रावस्था में टिड्डी वातावरण के अनुरूप ही अपना रंग बदलती है । इसलिये वह हरे, भूरे, या धूमिल या अन्य किसी भी रंग में पायी जा सकती है । वे कमजोर होती हैं और झुंडों में नहीं रहती । वयस्क टिड्डी के पंख छोटे तथा सिर, पैर और पिछले जंघे बड़े होते हैं ।

यूथी प्रावस्था : यूथी प्रावस्था में टिड्डी का रंग काला, पीला अथवा नारंगी होता है । उसमें समूह में, लम्बी पंक्ति बनाकर, चलने की प्रवृत्ति होती है । इस प्रावस्था में वे बड़ी क्रियाशील होती हैं और उनके शरीर का ताप भी अपेक्षाकृत अधिक रहता है । वयस्कों के पंख लम्बे, वक्ष चौड़े और पिछली जंघा छोटी होती है ।

मध्य प्रावस्था : इसमें एकाकी और यूथी दोनों प्रावस्थाओं के अभिलक्षण पाये जाते हैं ।

प्रावस्था रूपान्तर के कारण

यह ठीक नहीं मालूम हो सका है कि किन विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण टिड्डियों में फिर से एकत्रित होने, समूह बनाने और झुंडों में उड़ान भरने की प्रवृत्ति जगती है, परन्तु वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि इस प्रक्रिया का प्रारम्भ ऐसे क्षेत्रों में नहीं होता जहां की परिस्थितियां उनके व्यापक प्रजनन के लिये बिल्कुल अनुकूल हैं और जहां बृहत पैमाने पर जननक्रिया द्वारा संख्या में वृद्धि होती है बल्कि सीमित 'प्रकोप स्थलों' में होता है । प्रकोप स्थलों में कभी परिस्थितियां टिड्डियों के प्रजनन और विकास के लिये बहुत अनुकूल हो जाती हैं और कभी प्रतिकूल । यदि प्रकोप स्थलों में मौसम लगातार अनुकूल बना रहता है तो टिड्डियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और वे आसपास के क्षेत्रों में फैल जाती हैं । परन्तु मौसम के प्रतिकूल हो जाने पर वे अपने प्राकृतिक और स्थायी प्रजनन क्षेत्रों में लौट आने के लिये बाध्य हो जाती हैं । इससे इन क्षेत्रों में निश्चय ही बहुत भीड़ हो जाती है और टिड्डियों को जीवन संघर्ष के अलिखित नियमों के अनुसार लम्बी यात्रायें करने के लिये मजबूर होना पड़ता है । वैसे प्रजातियों और क्षेत्रों के अनुसार इस प्रक्रिया में थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है ।

प्रयोगशाला में भी प्रावस्था परिवर्तन के सफल परीक्षण किये जा चुके हैं । यह देखा गया है कि एकाकी प्रावस्था के सदस्यों को दीर्घकाल तक समूह में जनन करने का अवसर दिया जाता तो उनमें यूथी प्रवृत्ति 'जग' जाती है और अगर यह क्रम अक्षुण्ण रखा जाय तो अन्ततः उनमें सामहिक उड़ान भरने की क्षमता आ जाती है । इसके विपरीत यूथी प्रावस्था के सदस्यों को कई पीढ़ियों तक एकान्त में पालकर उन्हें एकाकी प्रावस्था में परिवर्तित किया जा सकता है । जे. सी. फाउरे ने सन् 1932 में एक प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि भीड़ के कारण टिड्डियों में अविराम क्रियाशीलता जगती है जिसके फलस्वरूप प्रवास की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ।



पालने की छुट्टी

पप्पू तीन साल का है और उसका यह पालना ? बस, उससे एक दिन छोटा। वे भी दिन थे, जबकि पप्पू के बिना पालना और पालने के बिना पप्पू नहीं था। धीरे-धीरे पप्पू बड़ा हुआ। वह घुटने के बल चलने लगा। अब पालने में झूलना उसे अच्छा न लगता। पालने की छुट्टी कर दी गई। लेकिन, पालने का क्या हो ? पप्पू सोचता रहा और उसने एक मज़ेदार तरकीब सोच निकाली। उसने रंग-बिरंगी किताबें, गुड़िया और बल्ले को पालने में रख दिया और फिर खुश...मां तो जैसे फूली ही न समाई, बोली—"ज़रा देखिये तो अपने लाडले को। कितना खुश है।" पिता ने एक नज़र पप्पू पर डाली। फिर, हंसते हुए पत्नी से बोला—"पालने को हमने खूब लम्बी छुट्टी दी...ठीक ही किया था न ?"

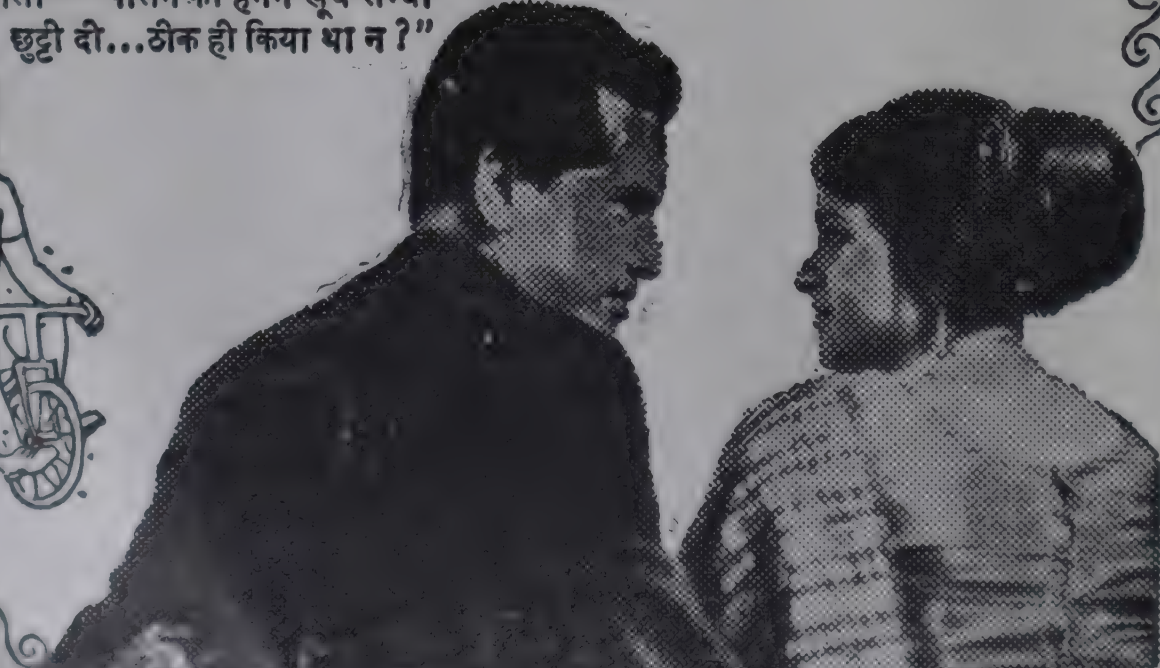
जी हां, इन्होंने ठीक किया।

समझदार मां-बाप हमेशा परिवार नियोजन करते हैं। परिवार नियोजन का मतलब सिर्फ यही नहीं है कि बच्चे कम हों। बल्कि, इसका मतलब यह भी है कि बच्चे तभी हों, जबकि माता-पिता चाहते हों और उनकी परवरिश के लिये हर तरह से तैयार भी हों। बच्चे का जन्म अब एकदम संयोग की बात नहीं। बच्चे का जन्म अब आपके बस में है।

इसका श्रेय परिवार नियोजन को जाता है।

मुफ्त सलाह और सामान के लिये निकटतम परिवार नियोजन केन्द्र में जाइये।





davp 68/441

ब्राह्मी

राजेन्द्र सिंह

ब्राह्मी एक उपयोगी वनौषधि है जिससे निस्सारित रसायनों का उपयोग मानसिक कमजोरी तथा कुष्ठ की चिकित्सा में किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम है **सेन्टेला एशियाटिका**। पर कुछ वनस्पतिशास्त्री इसे **हाइड्रोकोटाइल एशियाटिका** भी कहते हैं। इसे गुजराती में खडब्राह्मी अथवा विया ब्राह्मी; मराठी में करिवणा, बंगला में थुडकुडी या ब्राह्मीसाक, उड़िया में कृष्णपर्णी, कन्नड़ में नीर ब्राह्मी, तेलुगु में साम्राणि चेट्टु, तमिल में बाल्लरी किरी और असमिया में मनीमुनी कहते हैं।

यह अमबेलीफेरी कुल का पौधा है और सारे भारतवर्ष में, समुद्र तल से 2,000 फुट तक की ऊंचाई वाले स्थानों पर, पाया जाता है।

ब्राह्मी का पौधा, भूमि पर फैल कर चलता है। तने की प्रत्येक गांठ से गुच्छों में जड़ें निकलती हैं। पौधों की जड़ें छोटी और सूत्रवत होती हैं, जिसका रंग सफेद होता है, पर पुरानी जड़ें थोड़ी कालापन लिए हुए होती हैं। ब्राह्मी की पत्तियां वृक्काकार होती हैं और उनकी लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ से अढ़ाई गुनी तक होती है। हर एक पत्ती में सात शिराएं होती हैं। इसमें तने की गांठों के ऊपर रक्ताभश्वेत रंग के फूल गुच्छे में लगते हैं। ये वसन्त के दिनों में आते हैं।

ब्राह्मी को अलकोहल से निस्सारित करने पर एक सुगंध तेल, एक वसीय तेल, सिटोस्टेराल, टैनिन और रेजिन पदार्थ प्राप्त होते हैं। सुगंध तेल हरे रंग का होता है और उसमें वैसी गंध आती है जैसी स्वयं ब्राह्मी के पौधों में से। वसीय तेल में ओलीक, लिनोलिक, लिनो-लेनिक, पामिटिक, स्टीयरिक तथा अन्य अम्लों के ग्लिसराइड होते हैं।

इसमें से एक ग्लाइकोसाइड, एसिआटिकोसाइड भी बिलगाया जाता है। यह कोढ़ के उपचार में उपयोगी पाया गया है। समझा जाता है कि इसका घोल कोढ़ के कीटाणु, **बैसीलस लेप्री**, की मोमी त्वचा को घोल लेता है जिससे कीटाणुओं पर अन्य औषधियां क्रिया करने लगती हैं और उसे नष्ट कर सकती हैं। एसिआटिकोसाइड और आॅक्सीएसिआटिकोसाइड जो एसिआटिकोसाइड को परमैंगनेट से आक्सीकृत करके प्राप्त होता है, कुछ किस्म के क्षय रोगों में भी उपयोगी पाये गये हैं।

औषधीय गुण

ब्राह्मी से प्राप्त 'ब्राह्मीन' हृदय की पेशियों को शक्ति देती है। यह श्वसन संस्थान, तथा छोटी आंतों को उत्तेजित करती है।

सन्धिवात रोग में ब्राह्मी का रस किसी तेल में मिलाकर लगाने से फायदा होता है। ब्राह्मी के पत्तियों, मूल, फल, फूल और बीज की लुगदी सर्पदंश वाले स्थान पर लगाने तथा खाने से लाभ होता है।

खांसी तथा बलगम में ब्राह्मी के पौधे को उबलाकर रोगी की छाती पर लेप करने से लाभ होता है। अतिसार, फोड़ा आदि में ब्राह्मी का लेप लाभदायक है।

नवीन खोजों से पाया गया है कि ब्राह्मी में कीट आदि को भी नष्ट करने की क्षमता है।

हानियां

यह पाया गया है कि ब्राह्मीन का अधिक समय तक सेवन करने से शरीर पर हानिकारी प्रभाव भी पड़ सकता है। इससे रक्तचाप कम हो जाता है और मस्तिष्क के तन्तु अधिक उत्तेजित हो जाते हैं। इससे सर दर्द, अतिसार, जी मिचलना, हिस्टीरिया, वमन आदि भी हो सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि ब्राह्मी से बनी औषधियों का उपयोग सुयोग्य चिकित्सक के मतानुसार ही करना चाहिए।



ब्राह्मी के पत्ते



ब्राह्मी की सात शिराओं वाली पत्ती

ब्राह्मी के उपयोग के बारे में अनेक अंधविश्वास हैं । कुछ अंध-विश्वासी लोगों का मत है 'ब्रह्मा की पुत्री', ब्राह्मी, का सेवन, बहते हुए जल में, एक टांग पर खड़े होकर, मंत्रों के उच्चारणों के बीच, पवित्र शरीर से, करना चाहिए । ऐसा नहीं करके, यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मी का सेवन किसी अन्य रीति से करता है तो ब्रह्मा नाराज होकर उस व्यक्ति को नाना प्रकार के कष्ट देते हैं ।

- आज वैज्ञानिकों की राय है कि यह अंधविश्वास है । योग्य चिकित्सक ही ब्रह्मा है, उसके मतानुसार, कभी, किसी रूप में ब्राह्मी का सेवन किया जा सकता है ।

ब्राह्मी के उत्पाद

ब्राह्मी से तैयार की गई अनेक आयुर्वेदिक दवाइयां—ब्राह्मी पाक, ब्राह्मी घृत, ब्राह्मी तेल, ब्राह्मी बूटी, सारस्वत चूर्ण, ब्राह्मी रसायन, सारस्वतीरिष्ट आदि नाम से बाजार में मिलती हैं । ब्राह्मी से कुछ एलोपैथिक दवाइयां भी बनायी जाती हैं। कुछ प्रमुख दवाइयां—केटाप्लाज्मा सेन्टेली, डिकाक्टस् सेन्टेली, एक्स्ट्राकटम सेन्टेली लिक्वीडम और सुक्स सेन्टेली हैं ।

यह आवश्यक है कि ब्राह्मी से तैयार की गई दवायें ठंडी, सूखी तथा अंधेरी जगह में रखी जायें ।

ब्राह्मी के उपयोगी गुणों के कारण अल्जीरिया, फ्रांस, लंका तथा भारत में इसकी खेती की जाने लगी है । आशा है वैज्ञानिकों के प्रयास से ब्राह्मी से, हमें भविष्य में और लाभकारी वस्तुए प्राप्त होंगी । ●

कैंसर अर्बुद : विभिन्न धारणायें

रमेश चन्द्र गर्ग

कैंसर एक प्राणघातक रोग है जिस की सफल चिकित्सा अब तक ज्ञात नहीं हो पायी है। यह एक रोग नहीं है। ऐसे कई रोग जिनके लक्षण आपस में बहुत मिलते हैं, कैंसर कहलाते हैं। इन सब रोगों में आमतौर से अर्बुद (रसौली) उत्पन्न हो जाती है अथवा शरीर की कुछ कोशिकायें अनावश्यक रूप से बढ़ने लगती हैं। कैंसर का अर्बुद अन्य फोड़ों से भिन्न होता है, वह तेजी से बढ़ता है, उसमें मर्मान्तक पीड़ा होती है और वह दूसरे अंगों में भी फैल जाता है। इसे दुर्दम्य अर्बुद (मैलिग्नैंट ट्यूमर) कहते हैं।

अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि अर्बुद किस प्रकार उत्पन्न होता है। यद्यपि इसकी उत्पति के बारे में वैज्ञानिकों की अनेक धारणाएं हैं परन्तु इनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं :

(1) शरीर के किसी भी भाग को यदि लगातार उत्तेजना मिलती रहे तो उस भाग में एक विशेष प्रकार की कोशिकायें उत्पन्न हो जाती हैं जो दुर्दम्य अर्बुद को जन्म देती हैं। उदाहरणस्वरूप पाइप द्वारा धूम्रपान करने से ओठों में उत्तेजना उत्पन्न होती रहती है जिससे वहां अर्बुद बन जाता है। इसी प्रकार बच्चे द्वारा मां का दुग्धपान करने से स्तन को निरन्तर उत्तेजना मिलती है और स्तन में दुर्दम्य अर्बुद की उत्पति होती है।

(2) शरीर में दुर्दम्य अर्बुद को उत्पन्न करने वाली कोशिकाएं पहले से ही उपस्थित रहती हैं। वे सुप्तावस्था में रहती हैं और जैसे ही उनको शरीर के वातावरणानुसार मौका मिलता है, वे उभर आती हैं और रोग उत्पन्न कर देती हैं।

उत्तेजना के कारण को तर्क द्वारा खंडित किया जा सकता है। जो व्यक्ति धूम्रपान नहीं करते उन के ओठों में भी दुर्दम्य अर्बुद उत्पन्न हो जाता है और वे स्त्रियां भी वक्ष कैंसर से पीड़ित हो जाती हैं जो बच्चों को दुग्धपान नहीं करातीं। इसके अतिरिक्त शरीर के अन्य ऐसे भागों में भी जहां लगातार उत्तेजना नहीं मिलती, दुर्दम्य अर्बुद पैदा हो जाते हैं।

दुर्दम्य अर्बुद की उत्पति के बारे में उपर्युक्त दूसरा कारण भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। हमें ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते हैं जो बहुत दुबले-पतले होते हैं; वे संतुलित भोजन से सदा वंचित रहते हैं; उनके शरीर की रोगों के आक्रमण को रोकने की क्षमता भी बहुत क्षीण होती है परन्तु फिर भी उन्हें दुर्दम्य रसौली नहीं होती। इसके विपरीत सदा पर्याप्त मात्रा में संतुलित भोजन लेने वाले सम्पन्न व्यक्ति कैंसर से पीड़ित हो जाते हैं। इस संबंध में यह विचारणीय है कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे सम्पन्न देश में कैंसर से पीड़ित होने वाले व्यक्तियों की संख्या अल्प विकसित देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है।

आइये, अब आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली की दृष्टि से दुर्दम्य अर्बुद की उत्पति के कारणों का अध्ययन करें।

आयुर्वेद की प्राचीन पुस्तक **सुश्रुत संहिता** में अर्बुद की उत्पति निम्न प्रकार से बतलाई गई है :

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृतं स्थिरं मन्दरुजं महान्त—मनल्पमूलं चिरवृद्धयपाकम्।
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोकं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।

(सु. नि. स्था. अ. 11 श्लोक 12)

अर्थात् शरीर के किसी प्रदेश में प्रवृद्ध हुए दोष मांस को अत्यन्त दूषित करके गोलाकार, स्थिर, अल्प पीड़ा देने वाला, बड़ा गहरा, बहुत दिनों के बाद बढ़ने वाला और न पकने वाला मांसोच्छ्राय के रूप में प्रतीत होने वाला 'शोक' उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेदविद उस शोक को 'अर्बुद' कहते हैं।

तात्पर्य यह कि आयुर्वेद में अर्बुद की उत्पति का कारण वायु, पित्त, कफादी दोषों का अत्यधिक मात्रा में बढ़ना है। वैसे भी आयुर्वेद में प्रत्येक रोग का कारण इन दोषों का बढ़ जाना मात्र है। यह त्रिदोष सिद्धान्त अनुभव पर आधारित है और इसमें कुछ सत्यता निहित हो सकती है।

ऊतकों के आकार में वृद्धि

वर्तमान मतानुसार ऊतकों में नवीन वृद्धि होने के कारण अर्बुद की उत्पति होती है। ऊतकों के आधार में क्यों वृद्धि होने लगती है, इसका अभी तक कोई स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं हो पाया है। विकृति-विज्ञान-विदों के अनुसार दुर्दम्य अर्बुदों की उत्पति के दो कारण, परजीव तथा लसीका-अवरोध हो सकते हैं।

इस विषय में जो अनुसंधान किए गये उनके आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(1) कुछ दुर्दम्य अर्बुदों में अति सूक्ष्म विषाणु होते हैं, जिनका संवर्धन किया जा सकता है।

(2) ये विषाणु अकेले ही अर्बुद उत्पन्न नहीं करते हैं। परन्तु यदि इन विषाणुओं को विषाणुमुक्त अर्बुद कोशिकाओं के निस्राव के साथ

(शेषांश पृष्ठ 25 पर)

रबर की कहानी

कई शताब्दी पहले मध्य और दक्षिण अमेरिका के इंडियनों ने जंगल में एक विचित्र वृक्ष खोज निकाला। जब उन्होंने उस वृक्ष की छाल में काट की, उसमें से दूध जैसे सफेद द्रव की बड़ी-बड़ी बूंदें टपकने लगीं। यह बूंदें क्योंकि आंसुओं सरीखी दिखती थीं उन्होंने उस वृक्ष का नाम 'रोता पेड़' रख दिया। उन इंडियनों को बाद में यह भी पता चला कि पेड़ का वह सफेद चिपचिपा द्रव जम कर इतना सख्त हो जाता है कि जमीन पर मारने पर उछलता है।

अमेरिका की खोज हुए अभी कुछ अधिक समय नहीं हुआ था कि कुछ स्पेनवासी घुमक्कड़ घूमते-घूमते मेक्सिको पहुंचे। वहां उन्होंने अजतेक जाति के इंडियनों को उछलने वाली गेंद से बास्केटबाल सदृश एक खेल खेलते देखा। वापसी पर ये खोजकर्ता घुमक्कड़ इस विचित्र गेंद के कुछ टुकड़े अपने साथ यूरोप लेते आए। इनमें से कुछ विख्यात वैज्ञानिक जोसेफ प्रीस्टली ने भी देखे। "मैंने एक ऐसा पदार्थ देखा जोकि कागज पर बने सिक्के की काली पेन्सिल के निशान मिटाने के लिए बहुत उत्तम है," उसने कहा। पेन्सिल की लिखाई मिटाने (जिसके लिये अंग्रेजी शब्द 'रबिंग' है) के काम में आने के कारण गोंद का नाम 'रबर' पड़ गया, जिसे हिन्दी में रबड़ भी कहा जाता है।

अब यूरोप और अमेरिका के लोग रबर के कुछ अन्य उपयोग खोज निकालने के लिए उत्सुक हो उठे। यह देखा गया कि जिस [illegible] जलसह हो जाता था। लेकिन गर्मियों में यह चिपचिपाने लगता था तथा ठंड पड़ने पर कड़ा और मजबूत। तो भी, कारखानेवालों ने रबर के जूते, होज़ पाईप, मोटरों को ढांपने के लिये पोश तथा अन्य वस्तुएं बनाना शुरू कर दिया।

वल्कनाईजकृत रबर

रबर को दृढ़ और नम्य बनाने की समस्या को सुलझाया चार्ल्स गुडईयर नामक एक अमेरिकी आविष्कर्ता ने और वह भी बिल्कुल संयोगवश। एक दिन जबकि वह रबर और गंधक के मिश्रण पर प्रयोग कर रहा था कि उसमें से कुछ जलते स्टोव पर गिर पड़ा। थोड़ी ही देर में रबर दृढ़ हो गया किंतु फिर भी उसमें नम्यता बनी रही। गुडईयर को महसूस हुआ कि उसका अनुसंधान कार्य सही दिशा में बढ़ा है। अतः उसने कुछ और प्रयोगों के पश्चात 'वल्कनाईज्ड रबर' को पेटेंट करवा लिया। 'वल्कन' रोमनों का अग्नि देवता है। इस आविष्कार से रबर की मांग बहुत बढ़ गई। और सुदूर पूर्व और दक्षिण अमेरिका के गर्म व नमीवाले प्रदेशों में रबर के वृक्षों के विशाल बागान लगाए गए।

द्रव रबर जिसे कि अंग्रेजी में 'लेटेक्स' कहते हैं पैरा किस्म के रबर-वृक्ष से निकलता है। ये वृक्ष पचास फुट से भी अधिक लम्बे हो जाया करते हैं। इस द्रव का लगभग एक-तिहाई भाग ही रबर होता है, बाकी पानी होता है।

क्रेप रबर

वृक्ष की छाल में काट बना दी जाती है और बूंद-बूंद कर टपकने वाला दूध प्याले में जमा होता रहता है। कर्मी लोग एक-एक कर के वृक्षों में काट बनाते रहते हैं और प्यालों में जमा हुए लेटेक्स को बड़े पात्रों में एकत्र करते जाते हैं। इस प्रकार जमा किये गए कुल लेटेक्स को छानकर उसमें से मैल निकाल दी जाती है। इसके बाद उसमें तेजाब मिलाया जाता है जिससे रबर के सूक्ष्मकण आपस में मिल कर मुलायम गुंधे हुए आटे सदृश बन जाते हैं। तब इसे बेलनों में गुजारा जाता है जिससे उसका पानी निचुड़ जाता है और रबर की चादरें बन कर तैयार हो जाती हैं। ये चादरें क्रेप कागज जैसी सिकुड़ी होती हैं, इसी लिये उसे 'क्रेप रबर' कहा जाता है। क्रेप रबर को सीधे ही क्रेप तलों वाले जूते बनाने के काम में लाया जा सकता है। कई बागानों में क्रेप रबर के थानों को रबर का सामान बनाने वाले कारखानों को भेजने से पहले धुंआघरों में टांगकर सुखा लिया जाता है।

कुछ लेटेक्स को द्रव रूप में ही रहने दिया जाता है और उसे टंकीदार पानी के जहाजों में लादकर समुद्रपार कारखानों को भेजा जाता है। यहां इसे हाथों के दस्तानों, तैरते समय सिर पर लगाने के टोपों और चादरों जैसी चीजें बनाने के काम में लाया जाता है। किंतु रबर का अधिकांश सामान 'वल्कनाईज्ड रबर' से ही तैयार किया जाता है। कच्चे रबर को पहले गूंध लिया जाता है और फिर उसमें गंधक व कुछ निर्धारित पूरक (फिलर) मिलाए जाते हैं। इन पूरकों के कारण न केवल अंतिम तैयार माल बढ़िया बनता है अपितु वह रंगा भी जाता है। उदाहरण के लिये, हल्के पीले रंग के कच्चे रबर में कार्बन ब्लैक मिला कर (जो कि बहुत महीन कार्बन पाउडर होता है) चमकदार काला रंग दिया जा सकता है जैसा कि होज पाईप और मोटरगाड़ियों के टायरों का होता है। गंधक व पूरक मिले रबर के उपरोक्त मिश्रण को फिर सांचे में डालकर व ठोक कर वांछित आकार दिया जाता है और

फिर दाब के साथ गर्म कर के उसे वल्कनाईज़ किया जाता है।

संसार के कुल रबर का तीन-चौथाई भाग मोटरगाड़ियों के लिए टायर व ट्यूब बनाने में काम आता है। टायर का मुख्य भाग जिसे 'केसिंग' कहते हैं, रबर की चपटी पट्टियों से बनाया जाता है। रबर को मजबूत बनाने के लिए इन पट्टियों में पहले सूत, रेयन अथवा नाइलोन के धागे दबा कर डाल दिये जाते हैं। टायर को फिर सांचे में डालकर वल्कनाईज़ कर लिया जाता है और बाद में काट-छांट कर साफ कर लिया जाता है।

रबर की रासायनिक संरचना

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान रबर उगाने वाले सुदूर पूर्व के देशों पर जापानियों ने आक्रमण कर दिया जिससे अमेरिका, ब्रिटेन आदि को प्राकृतिक रबर मिलना बंद हो गया। उनके लिये यह एक बड़ी कठिन घड़ी थी क्योंकि वे स्वयं युद्ध में रत थे और उन्हें ट्रकों, जीपों और विमानों के लिये टायरों, हवाई हमलों से बचाव के लिये गुब्बारों, डूबते जहाजों व विमानों से पानी में प्राण-रक्षा करने के लिये डोंगियों और स्टोरेज बैटरियां बनाने के लिये रबर की अनिवार्य रूप से आवश्यकता थी।]

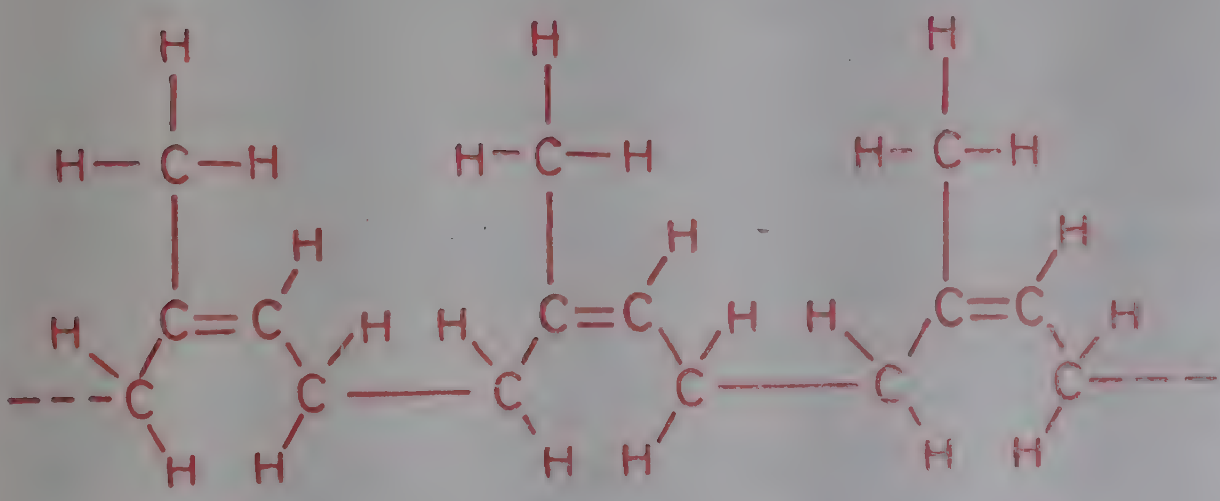
लेकिन अमेरिका के रसायनज्ञ इस तरफ से बेखबर नहीं थे। दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने से कई साल पहले से ही वे प्राकृतिक रबर की रासायनिक संरचना का अध्ययन कर रहे थे और उसके प्रतिस्थाप्य (सबस्टिट्यूट) तैयार करने के संबंध में प्रयोग कर रहे थे। उन्हें यह ज्ञात हो चुका था कि रबर एक हाइड्रोकार्बन है जिसमें प्रति पांच कार्बन परमाणुओं के लिए आठ हाइड्रोजन परमाणु विद्यमान हैं। वास्तव में जब सी$_5$ एच$_8$ (C_5H_8) हाइड्रोकार्बन को, जिसे कि आइसोप्रीन कहते हैं, रखा रहने दिया जाता है तो वह बहुलक (पॉलीमर) बनाकर, रबर सदृश पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है।

रसायनज्ञों का विश्वास है कि प्राकृतिक रबर का प्रत्येक अणु आइसोप्रीन वर्गों की एक बड़ी लंबी शृंखला होती है जिसमें कि दस-दस हजार तक आइसोप्रीन वर्ग परस्पर संकुलित रहते हैं। यह शृंखला किसी बल पड़े हुए तार के समान हर दिशा में बल खा सकती है। संभवतया रबर में उछलने की प्रवृत्ति का कारण यही है।



प्राकृतिक रबर का प्रत्येक अणु हजारों आइसोप्रीन वर्गों की बनी एक बड़ी लम्बी शृंखला होती है जो कि सभी दिशाओं में फैली रहती है। यहां इस शृंखला के एक अंश का सपाट चित्र दिखलाया गया है।

ये लम्बे अणु आपस में ऐसे गुंथे हुए हैं कि इनका एक प्रकार का जाल सा बन जाता है। जब रबर को वुल्कनाईज़ किया जाता है तो गंधक के परमाणु अनेक स्थानों पर रबर के अणुओं से संकुलित हो जाते हैं जिससे कि रबर का पिंड कठोर और मजबत हो जाता है। जब इसमें इस प्रकार की ग्रंथियां कम होती हैं तो रबर मुलायम और लचीला होता है और जब ये ग्रंथियां अत्यधिक होती हैं तब रबर गाढ़ा और कठोर हो जाता है, वैसा ही जैसा कि कंघे बनाने के काम आता है।



प्राकृतिक रबर के अणु के एक अंश की रासायनिक संरचना

'ब्यूना एस' व अन्य इलैस्टोमर

इतनी जानकारी हो जाने पर रसायनज्ञ यह समझ गये कि संश्लिष्ट रबर बनाने में तभी सफल हो पाएंगे जब कि लम्बे, शृंखला सदृश बहुलक (पॉलीमर) बनाने की विधि ढूंढ निकालेंगे। रबर के जिस पहले अच्छे विकल्प को बनाने में वे सफल हुए उसे नीओप्रीन कहा जाता है। इसे ऐसिटिलीन (C_2H_2) और हाइड्रोक्लोरिक एसिड से बनाया जाता है। प्राकृतिक रबर से महंगा होने पर भी पेट्रोल, तेल, सूर्य के प्रकाश और वायु से सम्पर्क होने पर यह उतनी आसानी से विश्लिष्ट नहीं हो जाता।

(शेषांश पृष्ठ 29 पर)

रत का वरुणादूत

मानसून

राधाकांत भारती

...न गर्मी के भीषण ताप से तप्त भारत-भूमि को त्राण देने के लिए मानसून का आगमन हर वर्ष जून के महीने में होता है। इसके आने के साथ ही वर्षा ऋतु का आरम्भ होता है। कृषि प्रधान भारत ...खेतों में किसान बरसात के साथ ही अपने कृषि कार्य का श्रीगणेश ...रते हैं। भारत ही नहीं एशिया के सम्पूर्ण दक्षिणी-पूर्वी भाग के ...न-जीवन को प्रभावित करने वाली इससे और अधिक महत्वपूर्ण ...सरी कोई प्राकृतिक घटना नहीं है।

हिन्द महासागर से होकर बहनेवाली इस तेज हवा का नाम 'मानसून' ...रबी भाषा के शब्द 'मौसिम' से बना है—जिसका अर्थ मौसम होता ...। मानसून वे नियंत्रित पवन हैं जो वर्ष के एक निश्चित काल में ...ला करते हैं। बहुत पहले जब आज जैसे शक्तिचालित जलयान न थे, ...ोग पालवाली बड़ी नावें चलाया करते थे, जो अपनी गति और दिशा ... लिए हवा के बहाव पर निर्भर थी। हिन्द महासागर के समुद्री ...यापार में सभी ऐसी नावें चलने के लिए इस मानसून हवा का सहारा ...ती थी जो छः महीने एक दिशा में फिर छः महीने दूसरी दिशा में ...हती हैं। इसी वजह से मौसम के अनुसार बहनेवाली इस हवा का ...ाम लोगों ने 'मानसून' याने मौसम रखा। हेली नामक भू-भौतिक-...ास्त्री ने विश्लेषण के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि 'मानसून' पवन ... चलने की मुख्य वजह जमीन और समुद्र के तापमान का अधिक ...न्तर का होना है। उसके मतानुसार मई-जून में अधिक गर्मी पड़ती ..., फलस्वरूप एशिया के भूभाग में विशेषकर मध्य में स्थित पठारी ...हस्सों में तापमान अधिक हो जाता है। थल का ताप अधिक हो जाने ... वहां वायुदाब कम हो जाता है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध ...क फैले हिन्द महासागर के जल का ताप थल की तुलना में कम ...हता है। जल का ताप कम होने के कारण दक्षिणी हिन्द महासागर ...ें उच्च वायुदाब हो जाता है। फलस्वरूप दक्षिण के उच्च वायु दाब ...ाले सागर के क्षेत्र से हवा एशिया के मध्यभाग वाले निम्नवायु दाब ...े इलाके की ओर बहने लगती है। इस प्रकार मानसून पवन का आरम्भ होता है, जो हिन्द महासागर के सुदूर दक्षिणी भाग (आस्ट्रेलिया और मालागासी (मेडागास्कर) के मध्य के इलाका से चलती है। एशिया के मध्य में स्थित निम्न वायु दाब के क्षेत्र में पहुंचने को आतुर ये तेज हवाएं विषुवत रेखा को पार करती हैं। विषुवत रेखा पर पृथ्वी की परिक्रमा की गति के कारण इनकी दिशा बदल जाती है और ये उत्तर पू ' की ओर बहने लगती हैं।

बहुत दूर तक सागर के जल के संपर्क में रहने के कारण इनमें जल भर जाता है और बादल के रूप में ये प्रायद्वीपीय भारत और पश्चिमी तट से एशिया महादेश में प्रवेश करती हैं। हालांकि विषुवत रेखा को पार करते समय इनकी जल संपत्ति कुछ कम हो जाती है, पर पुनः सागर से गुजरने पर वे उस क्षति की पूर्ति कर लेती हैं। मेघ राशि से पूरित ये हवाएं तप्त-भूभाग में प्रवेश करते ही नीले आसमान को मेघाच्छादित कर देते हैं। गर्म भूमि के ऊपर उष्ण हवा के संपर्क में आने पर ताप की विषमता के कारण बादलों से भरी ये हवाएं आंदोलित हो उठती हैं। इससे उनमें चक्रवात के लक्षण प्रगट होने लगते हैं, जिससे तेज झंझावात तथा बिजली की कड़क के साथ वर्षा की बूंदे धरती का गर्म मुख चूमती हैं।

सागर की विशाल जलराशि के ऊपर आसमान से उठकर दूर से आकर तप्त धरती पर बरस पड़नेवाला मानसून अपनी अनियमितताओं और बेढंगी चाल के लिए मशहूर है। इसके आने का समय तथा प्रति वर्ष विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त होने वाली वर्षा की मात्रा अत्यन्त असमान और अनिश्चित है। भारत को प्राप्त होने वाली वर्षा का सत्तर प्रतिशत से अधिक दक्षिण-पश्चिम मानसून से प्राप्त होता है। यह स्वीकृत तथ्य है कि दक्षिण-पश्चिम मानसून से भारत के पश्चिमी तट तथा हिमालय के इलाके तक चार महीने तक वर्षा का मौसम बना रहता है। इस अवधि में यहां कुछ-न-कुछ वर्षा होती रहती है, जिससे कृषि कार्यों में मदद मिलती है।

मानसून से मिलनेवाली वर्षा का एक विचित्र पहलू यह भी है कि वर्षा की प्राप्त-मात्रा में स्थानीय भिन्नताएं रहने पर भी प्राप्त वर्षा की सम्पूर्ण मात्रा प्रायः समान हुआ करती है। अर्थात् कहीं पर वर्षा की मात्रा कम होने की वजह दूसरे इलाके में होने वाली अधिक वर्षा है। फलस्वरूप प्रत्येक वर्ष बरसात के दिनों में किसी क्षेत्र में वर्षा की कमी से हाहाकार मच जाता है, तो दूसरी ओर अधिक वर्षा के कारण नदियों में भीषण बाढ़ आ जाती है।

विलम्ब से आने पर मानसून प्रायः कम वर्षा देता है। ऐसी स्थिति में आरम्भ में वर्षा धीमी होती है फिर बाद में सहसा भारी वर्षा हो जाती है। सामान्य रूप से मई में भारत के पश्चिमी तट पर ही नहीं बल्कि बंगाल, असम तथा दक्षिणी पूर्वी हिमालय तथा गंगा के मैदान में भारी वर्षा हुआ करती है। जून के अंतिम सप्ताह से शुरू होकर वर्षा की मात्रा और गति में जुलाई तक वृद्धि होती जाती है। जुलाई में भारत के हर भाग में वर्षा की बहार रहती है, केवल दक्षिण का पठारी इलाका, विशेषतः मद्रास और केरल का दक्षिणी भाग भारी वर्षा के प्रभाव से वंचित रह जाता है।

मानसून की सबसे अधिक गति (कभी जुलाई-कभी अगस्त) के बाद कुछ दिनों का एक विश्रांति काल आता है। इसका कारण विषुवत रेखीय पट्टी में होने वाले वायविक परिवर्तन हैं। परन्तु इसके तुरन्त बाद ही बंगाल की खाड़ी में हवा के चक्रित होने से चक्रवात का सृजन होता है। ये चक्रवात तेज गति से सागर तल से होते हुए बंगाल के रास्ते उत्तरी भारत के इलाके में प्रवेश करते हैं। गंगा के विस्तृत मैदान से होते हुए पंजाब तक पहुंच जाते हैं। तूफानी रफ्तार के साथ बढ़ते हुए ये चक्रवात अपने रास्ते में भारी वर्षा करते हैं। बंगाल में प्रवेश करते ही इसकी एक शाखा असम की ओर मुड़ती है, जो पूर्वी हिमालय तथा गारी, खासी जयंतिया क्षेत्र को प्रभावित करती है।

अगस्त के बाद पश्चिमी तट के इलाके में वर्षा की रफ्तार धीमी होने लगती है। सितम्बर के बाद मध्य और उत्तरी भारत में भी वर्षा की मात्रा क्रमशः कम होने लगती है। इस समय तक एशिया महाद्वीप के मध्य निम्न वायु दाब समाप्त हो जाता है और वहां उच्च वायु दाब की स्थिति आने लगती है। फलस्वरूप यह मानसून दूत वहां से विमुख हो विपरीत दिशा में वापिस लौटता है। इस तरह से अक्तूबर तक उत्तर भारत में वर्षा की समाप्ति हो जाती है और लौटते हुए मानसून से ठंडक की शुरूआत हो जाती है। यही मानसून लौटता हुआ बंगाल की खाड़ी से होकर पूर्वी तट तथा भारत के दक्षिणी भाग में पहुंचता है। उत्तरी-पूर्वी मानसून के नाम से मशहूर यह पवन दक्षिण में वर्षा की शुरूआत करता है। वहां इसके द्वारा अक्तूबर से लेकर नवम्बर-दिसम्बर तक काफी वर्षा हुआ करती है।

इस समय बंगाल की खाड़ी में चक्रवातों का जोर रहता है। वहां से भयंकर चक्रवात उत्पन्न होते हैं और बंगाल, असम तथा बर्मा के तटवर्ती इलाकों में पहुंचते हैं। इन चक्रवातों में चक्कर काटती हवाओं से वर्षा होती है जिससे खड़ी फसल, मकानों तथा आबादी को काफी नुकसान पहुंचता है।

दिसम्बर के अन्त तक मानसून बरसाती लीला दिखाकर वापिस लौटता रहता है। गर्मी के ताप से तप्त प्यासी धरती मानसून का अपरिमित जलरशि प्राप्त कर लुप्त तृप्त हो चुकी होती है। दूर तक फैले हुए खेतों में खड़ी फसलें लहलहाने लगती हैं। निरभ्र नीलाकाश में उदित सूर्य की सुनहली किरणें वर्षा जल से धुली वसुधा के शस्य श्यामल कलेवर पर खेलने लगती हैं। सद्यः स्नाता नवोढ़ा की तरह नैसर्गिक सौंदर्य बिखेरती उल्लसित धरा वसंतागमन के स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाती है।●

हृदय परिवर्तन : कृत्रिम अवयवों से

अशोक सेन

आपकी कमीज फट जाती है तो आप दूसरी कमीज बनवा लेते हैं। आपके जूते खराब हो जाते हैं तो आप दूसरे खरीद लेते हैं। इस प्रकार हर टूटी वस्तु के स्थान पर नई ले सकते हैं।

अब तो असली दांत टूट जाने पर बुड्ढे बाबा नकली दांत (असली दांतों से अधिक सुन्दर और चमकदार) लगवाकर जवानों की टोली में शामिल होने की कोशिश करते हैं और अंधा फूटी आंख के स्थान पर नई आंख लगवा कर 'नैनसुख' बन जाता है। पर यदि किसी का दिल ही खराब हो गया हो (चिकित्सक की दृष्टि में) तो! क्या वह भी बदला जा सकता है? हां! एक व्यक्ति के शरीर में से दिल निकालकर दूसरे व्यक्ति के शरीर में लगा देने—हृदय प्रतिरोपण— के अब तक अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं। यद्यपि शल्य-चिकित्सकों की दृष्टि से इनमें अधिकांश सफल रहे हैं परन्तु दक्षिण अफ्रिका के फिलिप ब्लेबर्ग ही ऐसे व्यक्ति है जो दूसरे के दिल के सहारे पिछले एक वर्ष से जीवित हैं।

हृदय प्रतिरोपण में वैज्ञानिकों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है; जैसे केवल उसी मनुष्य का हृदय दूसरे को दिया जा सकता है जिसकी मृत्यु कुछ ही क्षणों पहले हुई हो। यदि दाता की मृत्यु होने और उसका हृदय निकालने के बीच काफी देर हो जाती है तो मृत हृदय की मांसपेशियां प्रभावित हो जाती हैं और साथ ही हृदय में रक्त के थक्के बन जाते हैं।

हृदय प्रतिरोपण में दूसरी कठिनाई है शरीर द्वारा बाहरी वस्तुओं का अस्वीकृत करने का गुण। शरीर में जब कोई बाहरी वस्तु प्रविष्ट कराई जाती है तो वह उस वस्तु को नष्ट करने या उसे बाहर निकाल फेंकने का पूरा प्रयत्न करता है। प्रतिरोपण हेतु यह भी आवश्यक है कि हृदय देने वाले और हृदय ग्रहण करने वाले व्यक्ति के रुधिर समूह एक ही होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो प्रतिरोपण असफल हो जाता है।

शरीर के कुछ अंगों, जैसे नेत्र आदि, का परिरक्षण शरीर के बाहर सम्भव हो सका है परन्तु हृदय का परिरक्षण आज भी अत्यंत जटिल समस्या है। हमें आशा है कि विज्ञान के बढ़ते हुए चरण निकट भविष्य में इन समस्याओं का कुछ समाधान अवश्य ही खोज निकालेंगे। लेकिन क्या जब तक इन समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता, हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति अपनी बीमारी से राहत नहीं पा सकता? इस प्रश्न का उत्तर खोज निकालने के लिये अमेरीका और जापान के कुछ विख्यात वैज्ञानिकों ने एक कृत्रिम हृदय की कल्पना की और धीरे-धीरे उस कल्पना को वास्तविक रूप देना आरम्भ किया। आज यह कल्पना साकार हो गई है। कृत्रिम हृदय को अब तक अनेक जानवरों पर परखा जा चुका है। इनके बारे में और कुछ बताने से पहले बेहतर होगा कि वास्तविक (प्राकृतिक) हृदय की रचना का संक्षिप्त वर्णन किया जाये।



प्लास्टिक पदार्थ से बने कृत्रिम हृदय। मनुष्य के रुग्ण हृदय को
दो भागों से मिलकर बनता है। (बायें) दोनों



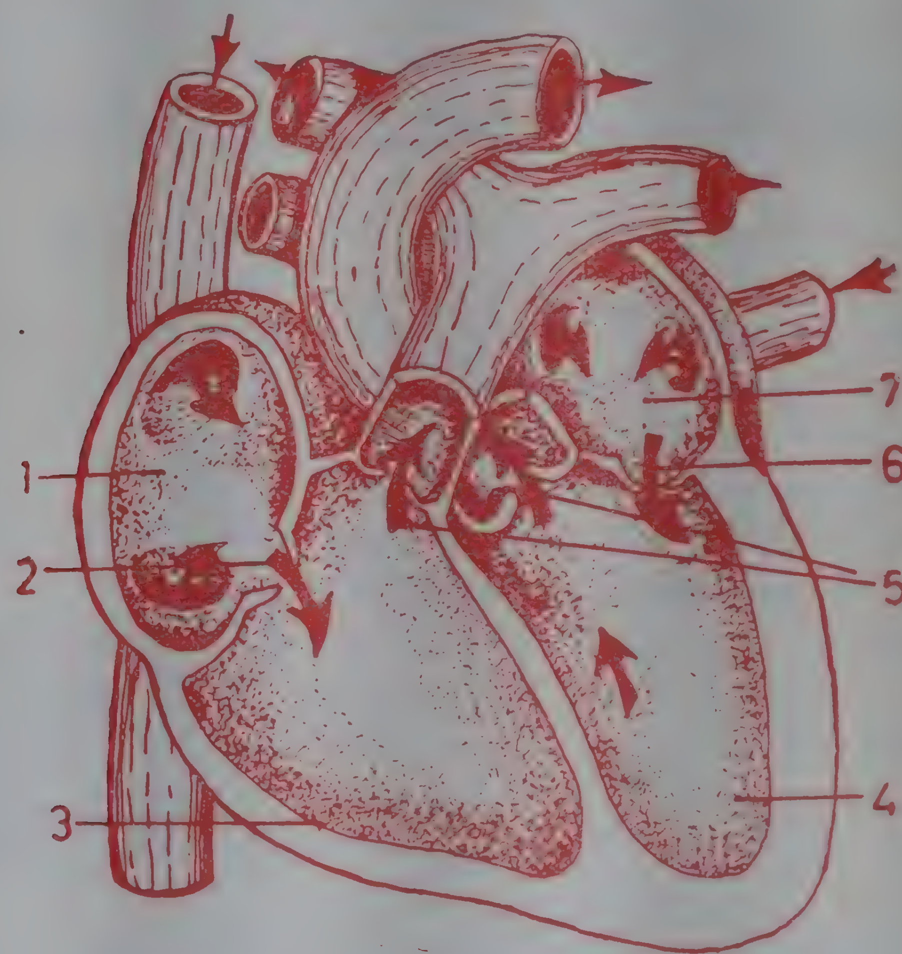
शल्य-चिकित्सक मनुष्य के रुग्ण हृदय के स्थान पर कृत्रिम हृदय लगाते हुए ।



यों से बदलने के प्रयत्न बराबर जारी ह । (बायें) कृत्रिम हृदय
र हृदय को वास्तविक आकार प्रदान करते हैं ।

हृदय की रचना

मनुष्य का हृदय मांशपेशियों से बना एक जटिल पम्प है जिसमें चार कपाट (वाल्व) होते हैं जो रुधिर के प्रवाह को नियंत्रित करते हैं । ये कपाट ट्राइकस्पिड वाल्व, मिट्रल वाल्व और अर्द्धचन्द्राकार (सेमील्यूनर) कपाट हैं । हृदय की मांसपेशियां इतनी ऊर्जा उत्पन्न कर देती हैं कि उसकी सहायता से हृदय निरन्तर धड़कता (गति) रहता है । जब कभी भी इन कपाटों में से कोई खराब हो जाता है तो हृदय को रुधिर पम्प करने में अधिक बल लगाना पड़ता है और साथ ही रुधिर का प्रवाह भी अनियमित हो जाता है । मनुष्य के रुधिर में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ जाने पर ये कपाट संकीर्ण हो जाते हैं जिससे हृदय में आने जाने वाले रुधिर की गति मंद पड़ जाती है । इस अवस्था में यदि बिगड़े कपाट को न बदला जाये तो हृदय की गति के रुक जाने की पूर्ण सम्भावना होती है और गति रुकने का अर्थ है मृत्यु ।

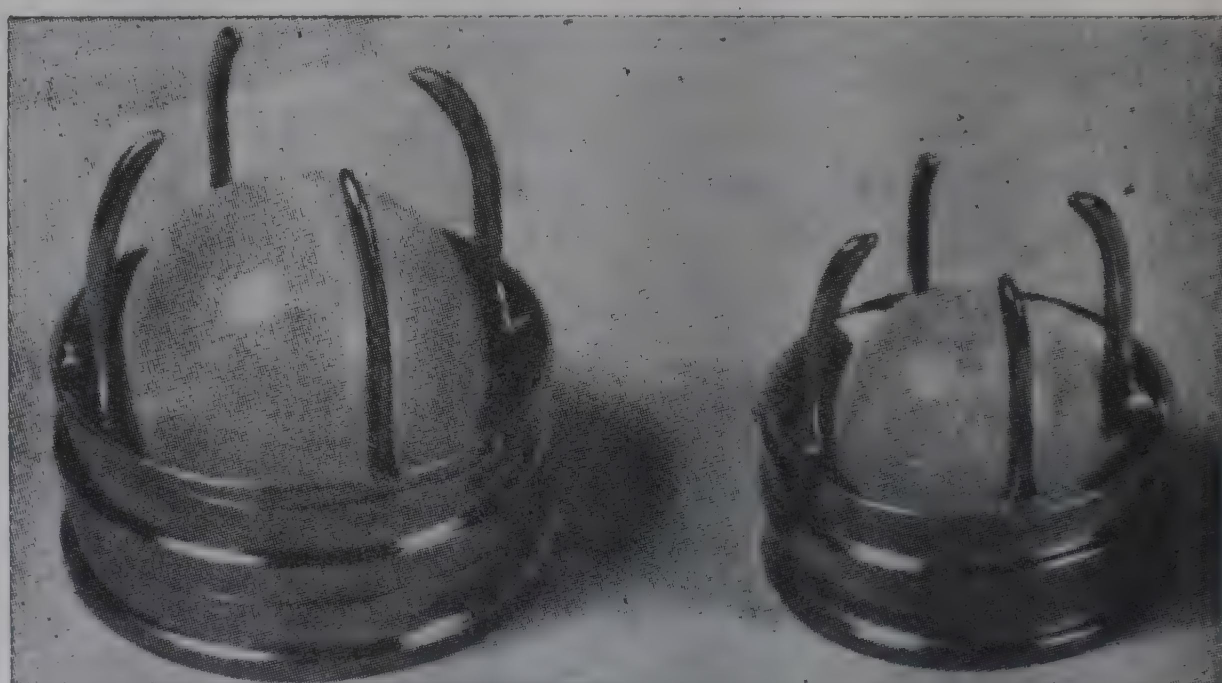


हृदय के आन्तरिक भाग जिसमें कक्ष और कपाट दिखाई दे रहे हैं : 1. दायां अलिन्द, 2. ट्राइकस्पिड कपाट, 3. दायां निलय, 4. बायां निलय, 5. अर्द्धचन्द्राकार कपाट, 6. मिट्रल कपाट, 7. बायां अलिन्द ।

खराब कपाट को बदलने के लिये वैज्ञानिकों ने प्लास्टिक के कुछ कपाटों की नकल बनाने का प्रयत्न ही नहीं बल्कि कुछ कपाट बना भी लिये हैं । परीक्षण के लिये वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में बन्दर, कुत्ते, बछड़े आदि जानवरों के हृदय में इन कपाटों को लगाया । पर प्लास्टिक कपाटों के उपयोग में अनेक कठिनाइयां आती हैं । वास्तव में शरीर के अन्दर प्लास्टिक के कपाट लगा दिये जाने पर वे प्रभावित हो जाते ह । पॉलीयूरीथेन के कपाट तो कुत्ते के शरीर में कुछ समय पश्चात गलना शुरू हो जाते हैं । कुछ जानवरों में तो इन कपाटों के चारों



मानव हृदय के खराब कपाट को जब कृत्रिम कपाट से बदला जाता है तो उसके चारों ओर मांस की एक मोटी तह जम जाती है जिससे कपाट कार्य करने योग्य नहीं रह पाता ।



कपाट जिनका प्रयोग आजकल मनुष्य के हृदय के खराब कपाटों को बदलने में किया जा रहा है । यह कपाट एक प्रकार की रबर या प्लास्टिक की गोली होती है जो स्टेनलैस स्टील की जाली में फंसी रहती है । यह गोली रुधिर को विपरीत दिशा में प्रवाहित नहीं होने देती ।

और रुधिर जमना शुरू हो जाता है तथा मांस की एक मोटी तह तक जम जाती है । इससे कपाट कार्य करने योग्य नहीं रह जाता और जानवर के हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है ।

हमारा शरीर बाहरी वस्तु को ग्रहण करना पसंद नहीं करता । यही समस्या 'प्लास्टिक कपाट' के साथ भी रहती है, क्योंकि जब भी इन कपाटों को हृदय में लगाया जाता है तो इनके सम्पर्क में आते ही रुधिर में थक्के बनना शुरू हो जाते थे । पर यह समस्या इतनी जटिल नहीं थी कि उसका कोई उपाय न ढूंढ़ निकाला जा सके । कपाट को अधिक चिकना और चमकदार बनाकर फिर रुधिर को उसके आसपास कुछ अधिक वेग से प्रवाहित करा के थक्के बनने को रोका जा सकता है ।

हमारी रुधिर नालिकाओं की भीतरी सतह पर और रुधिर के कणों में ऋणात्मक आवेश रहता है जिनके कारण नालिकायें रुधिर कणों को अपने से हमेशा दूर हटाती रहती हैं । इससे रुधिर में थक्के नहीं बन पाते । जब कभी रुधिर नालिकाओं में कोई टूट-फूट हो जाती है तो उनका ऋणात्मक आवेश समाप्त हो जाता है । और रुधिर कण उसकी ओर आकर्षित होने लगते हैं जिससे वे थक्कों में परिवर्तित हो जाते हैं । इसी वजह से वैज्ञानिक हृदय के कृत्रिम कपाटों में स्थायी रूप से ऋण आवेश जमाने अथवा शरीर में 'हिपैरीन' जैसा रासायनिक पदार्थ प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करते हैं । इससे रुधिर में थक्के नहीं बन पाते ।

कृत्रिम कपाट

आजकल प्रयोग में आ रहे कृत्रिम हृद् कपाट चिड़ियों के पिंजरे के समान स्टेनलैस स्टील से बनी जाली के अन्दर बन्द होते हैं । ये कपाट वास्तव में रबर की गोलियां होती हैं । जब रुधिर हृदय से बाहर धकेला जाता है तो दबाव के कारण यह गोली ऊपर की ओर हट जाती

है परन्तु जैसे ही दबाव कम होता है वह फिर दुबारा अपने स्थान पर आकर अटक जाती है। इस प्रकार रुधिर का विपरीत दिशा में प्रवाह सम्भव नहीं हो पाता।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि कृत्रिम कपाट हृदय की मांसपेशियों को ही काट कर तैयार किये जा सकते हैं। उनका विचार है कि इस प्रकार के कपाटों को शरीर आसानी से स्वीकार कर सकेगा।

गतिचालक (पेस मेकर)

इससे पहले कि वैज्ञानिक मनुष्य के असली हृदय के स्थान पर नकली हृदय लगाने की बात सोचते, यह मालूम करना आवश्यक था कि नकली हृदय में धड़कन किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है। स्वस्थ हृदय में एक ऐसा अंग भी होता है जो हृदय के धड़कने (सिकुड़ने और फैलने) को नियंत्रित करता है। इस अंग को गति चालक (पेस मेकर) कहते हैं। यह पेस मेकर एक मिनट में प्राय: 70 से 80 की दर से संकेत उत्पन्न करता है। ये संकेत अलिन्द (एट्रियम) से होते हुए निलय (वैन्ट्रिकल) तक जाते हैं और उनको क्रियाशील बनाये रखते हैं। कभी-कभी जब हृदय में कोई खराबी आ जाती है तो पेस मेकर के संकेत उत्पन्न करने की गति काफी धीमी पड़ जाती है या वे एकदम रुक जाते हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य के हृदय की गति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इससे कभी-कभी निलय पूरी तरह रुधिर से भरे बिना ही सिकुड़ कर रक्त को धमनियों में धकेल देता है। इससे शरीर को पर्याप्त मात्रा में शुद्ध रुधिर प्राप्त नहीं हो पाता। इस अवस्था में हम थकावट महसूस करते हैं और कभी-कभी तो बेहोश तक हो जाते हैं। हृदय की गति को पुन: ठीक ढंग से बनाये रखने के लिये वैज्ञानिकों ने एक प्रकार के 'इलैक्ट्रानिक पेस मेकर' बनाये हैं। ये पुराने जमाने की जेब घड़ी के आकार के होते हैं। पेस मेकर को छाती की खाल के नीचे सिल दिया जाता है और एक स्टेनलैस स्टील के तार से हृदय से जोड़ दिया जाता है। इसमें बहुत छोटी बैटरी लगी होती है। जो आम तौर पर तीन साल तक काम देती है, जिसके बाद एक छोटा-सा आपरेशन करके इस को बदला भी जा सकता है।

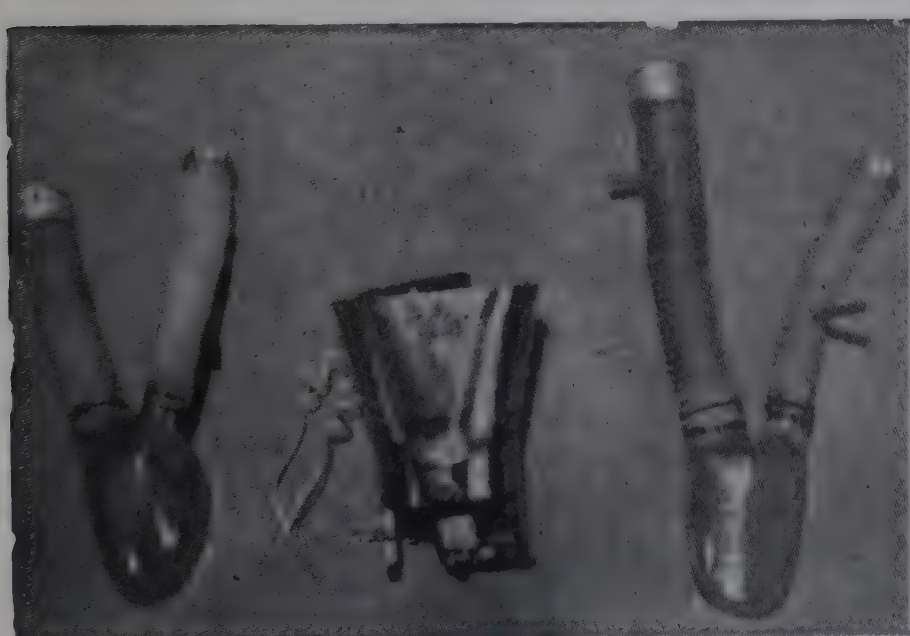
कुछ प्रकार के पेस मेकरों में बैटरी शरीर के बाहर भी लगाई जा सकती है। इसे आसानी से हम अपने कन्धे पर लटका सकते हैं। पेस मेकर के संकेतों की दर उस पर लगे एक डायल को जरा सा इधर-उधर घुमाने से घटाई और बढ़ाई भी जा सकती है। मान लीजिये कि आप थके हुए हैं तब आप धीरे से इसके डायल को एक ओर घुमा दीजिये। बस देखते ही देखते आपके शरीर में रुधिर का प्रवाह अधिक ेग के साथ होने लगेगा और आप में फुर्ती आ जायेगी। यदि आप कभी आराम करना चाहें तो इसके डायल को बस थोड़ा-सा दूसरी ओर घुमा देना ही काफी होगा। आज न जाने कितने लोग इलैक्ट्रॉनिक पेस मेकर की वजह से सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पेस मेकर के इस अद्भुत कार्य से वैज्ञानिकों को काफी भरोसा हो गया कि इसकी सहायता से वे कृत्रिम हृदय को भी गतिशील बना सकेंगे।

कपाट क्यों–पूरा दिल ही बदलिये

पर हृदय के खराब कपाटों को बार-बार बदलने से अच्छा है कि पूरा दिल ही बदल दिया जाय। वैज्ञानिकों ने शायद यही सोचकर कृत्रिम हृदय को बनाने की बात सोची होगी।

प्रारम्भ में जो कृत्रिम हृदय बनाया गया उसमें पालीयूरीथेन पदार्थ से बने दो कक्ष थे। स हृदय से रुधिर को शरीर में धकेलने के लिये एक मोटर की व्यवस्था की जाती थी। इस मोटर की सहायता से दोनों कक्ष एक के बाद एक धड़कते और धिर प्रवाहित होने लगता। इसमें दो विशेष कठिनाइयां थी। इसमें लगी मोटर का भार अधिक था तथा मोटर के चलने से गरमी पैदा हो जाया करती थी जो हानिकर थी।

शीघ्र ही कृत्रिम हृदय में कई एक संशोधन किये गये और अन्त में एक 'थैलीनुमा' हृदय का विकास हुआ। यह हृदय पॉलीइथीलीन से बना होता है जिसके ऊपर सिलास्टिक का खोल होता है। इसमें दो कक्ष होते हैं: पहला रुधिर कक्ष और दूसरा वायु कक्ष। दोनों कक्षों के बीच एक लचीला विभाजन होता है। हृदय का वायु कक्ष एक लम्बी नली से जुड़ा रहता है। यह नली शरीर के बाहर रखी मशीन से जोड़ दी जाती है। यह मशीन वायु को दबाव के साथ हृदय के वायु कक्ष में पम्प करती है। वायु विभाजन को ऊपर उठाती है जिससे धिर कक्ष में भरे धिर पर भी दबाव पड़ता है और वह इस प्रकार हृदय से बाहर धकेल दिया जाता है। दबाव कम हो जाने पर विभाजन नीचे





पैण्डुलम के आकार का एक कृत्रिम हृदय: इसके प्रतिरोपण के प्रयोग सब से पहले कुत्तों पर किये ग े। (बायें) कृत्रिम हृदय के विभिन्न भाग, बीच में एक मोटर है जो कृत्रिम हृदय को गतिशील बनाये रखती है। (दायें) तीनों भागों से संयोजित कृत्रिम हृदय





कृत्रिम हृदय की कार्यविधि : कृत्रिम हृदय एक लचीले विभाजन द्वारा दो कक्ष में बंटा रहता है। हृदय का संबंध एक नलिका से होता है। इसके द्वारा वायु हृदय में दबाव के साथ भेजी जाती है। वा ु क दाब से वह लचीला विभाजन ऊपर उठता है और हृदय से धिर बाहर पम्प कर दिया जाता है। दबाव कम होते ही विभाजन नीचे गिर जाता है जिस से हृदय में रुधिर दुबारा भर जाता है। यही क्रिया बार-बार होने से हृदय धड़कता है और रुधिर को पम्प करता है।

की ओर आ जाता है और हृदय फिर रुधिर से भर जाता है। पुनः दाब बढ़ने पर रक्त फिर हृदय से बाहर धकेल दिया जाता है। हृदय कक्ष में रुधिर के भरने और निकलने की क्रिया इसी प्रकार दुहरायी जाती है।

प्राकृतिक हृदय के स्थान पर कृत्रिम हृदय लगाने में दो 'हृदयों' की आवश्यकता पड़ती है। एक दायें अलिन्द और निलय का काम करने के लिये और दूसरा बायें अलिन्द और निलय के लिये। कृत्रिम हृदय लगाने से पहले शल्य चिकित्सा द्वारा प्राकृतिक हृदय को निकाल दिया जाता है। प्राकृतिक हृदय से सम्बद्ध धमनियों और शिराओं को काट दिया जाता है और उनका सम्बन्ध एक 'हृदय-फेफड़े' मशीन से कर दिया जाता है। यह मशीन कुछ समय के लिये हृदय और फेफड़े दोनों का कार्य कर देती है। इसी बीच प्राकृतिक हृदय को निकाल कर वहां प्लास्टिक से बने कृत्रिम हृदय को सिल दिया जाता है और उसे धमनियों और शिराओं से जोड़ दिया जाता है। कृत्रिम हृदय ठीक धड़क सके इस के लिये हृदय को 'पेस मेकर' से भी जोड़ दिया जाता है। आरम्भ में कृत्रिम हृदय रुधिर को धीरे-धीरे पम्प करता है परन्तु जैसे-जैसे वह प्राकृतिक हृदय का स्थान लेता जाता है, उसके पम्प करने की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

इस प्रकार के हृदय को लगा कर कुछ बछड़ों को 30 घण्टे तक जीवित रखा जा सका है। मनुष्यों में उन के हृदय को पूरी तरह कृत्रिम हृदय से बदलने के प्रयास बराबर जारी हैं।

थके हुए हृदय को आराम पहुँचाना

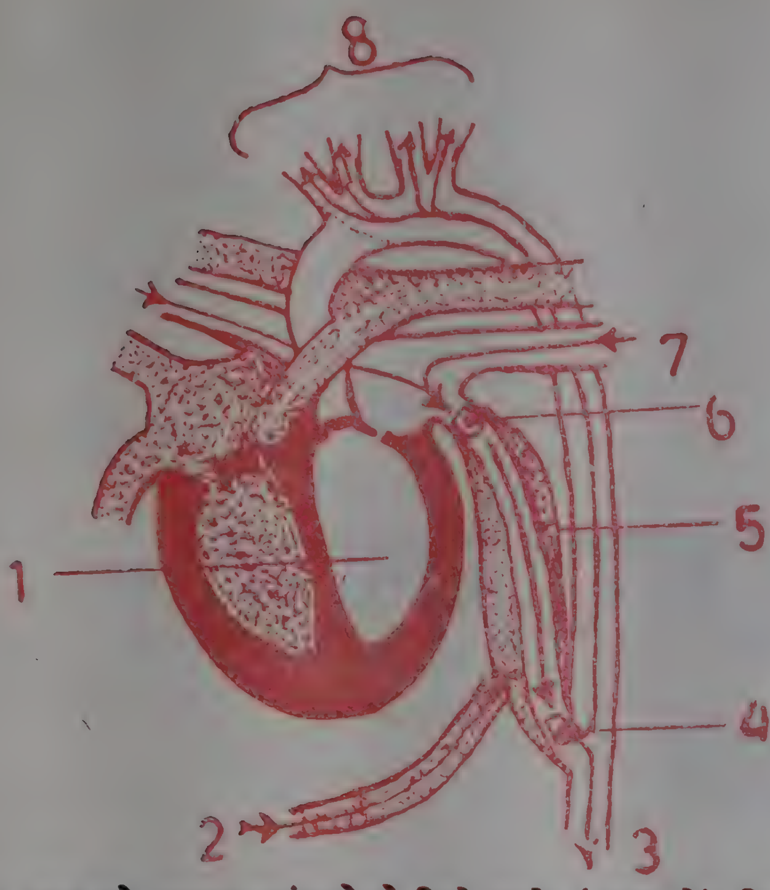
कार्य करने पर हमें थकावट आ जाती है। थकावट को दूर करने के लिये हम आराम करते हैं। यदि हम थकावट को दूर न करें तो एक समय ऐसा भी आ सकता है कि हम और अधिक काम करने योग्य नहीं रह पायें। पर क्या आपने कभी अपने हृदय की थकावट के बारे में भी सोचा है, जो दिन रात, अपना कार्य बड़ी कुशलता के साथ निभाता रहता है। जब आप व्यायाम करते हैं या कोई परिश्रम वाला कार्य करते हैं तो आपके हृदय के धड़कने की गति करीब आठ गुना अधिक बढ़ जाती है। इससे शरीर में स्वच्छ रुधिर की मात्रा कभी कम नहीं होने पाती है। पर जब हमारे शरीर को अधिक रुधिर की आवश्यकता नहीं होती तो हृदय के धड़कने की गति भी धीमी पड़ जाती है। जिन व्यक्तियों को जीवाकोपार्जन हेतु अधिक शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है उन्हें अधिक शुद्ध धिर की निरतन्र आवश्यकता होती है। फलस्वरूप उन के हृदय की मांसपेशियां मोटी पड़ जाती हैं और हृदय के भीतरी कक्ष बड़े हो जाते हैं।

कारण जो भी हो, लगातार अधिक कार्य करते रहने पर हृदय रुधिर को उचित प्रकार से पम्प करने की क्षमता खो बैठता है। कभी कभी निलय की कोशिकाओं में टूट-फूट आ जाती है या हृदय की भित्तियों में छेद हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यह जरूरी नहीं है कि आप अपने 'थके हुए' दिल को निकलवा दें और उस के स्थान पर कृत्रिम





प्राकृतिक हृदय के खराब निलयों को कृत्रिम निलय से बदल दिये जाने पर कृत्रिम हृदय की कार्यविधि तीरों द्वारा दिखाई गई है : 1 लचीला विभाजन; 2 वायु नलिका



थके हुए हृदय को आराम पहुंचाने के लिये उसके (हृदय के) निलय को कृत्रिम निलय से बदल दिया जाता है। इससे प्राकृतिक हृदय के निलय को कुछ आराम मिल जाता है:

1. **बायां निलय जो बदला गया है;**
2. **वायु नलिका जिसमें वायु दाब पर भेजी जाती है;**
3. **शरीर के निचले भाग को रुधिर ले जाने वाली धमनी;**

4,6. **कपाट जो रुधिर के विपरीत प्रवाह को रोकते हैं,**

5. **कृत्रिम निलय जो एक दूसरी नालिका के अन्दर बन्द रहता है;**
7. **शरीर के ऊपरी भाग को रुधिर ले जाने वाली धमनियां**

दिल लगवा लें। उचित यही होगा कि आप अपने दिल को थोड़ा आराम कर लेने दें, जिससे वह अपनी टूट-फूट की मरम्मत कर सके और फिर दुबारा ठीक से कार्य कर सकने योग्य हो जाये।

इस प्रकार थके हुए हृदय को आराम पहुंचा सकने के लिये वैज्ञानिकों ने एक प्रकार के कृत्रिम निलय की रचना की जिसे प्राकृतिक निलय के स्थान पर प्रतिरोपित किया जा सकता है। इस कृत्रिम निलय का आकार एक छोटे केले जितना होता है। हृदय में यथा स्थान बिठाने के बाद उसके ऊपरी भाग को फेफड़ों से शुद्ध रुधिर लाने वाली शिरा, पलमोनरी शिरा, से जोड़ दिया जाता है और निचले भाग को शरीर में शुद्ध रुधिर ले जाने वाली धमनियों से सम्बद्ध कर दिया जाता है। कृत्रिम निलय एक दूसरी नलिका के अन्दर बन्द होता है जिसका सम्बन्ध एक वायु नलिका से कर दिया जाता है। वायु नलिका शरीर के बाहर वक्ष में एक छेद करके बाहर निकाल ली जाती है। इस वायु नलिका में काफी दाब पर वायु भेजी जाती है। इस से यह निश्चित रूप से अपना कार्य शुरू कर देता है। कृत्रिम निलय के दोनों ओर दो कृत्रिम कपाट भी लगे होते हैं जो रुधिर को विपरीत दिशा में प्रवाहित होने से रोकते हैं।

इन सारी बातों से परिणाम तो यह निकला कि जब कभी भी आपके हृदय में कोई खराबी आ जाये तो आपको यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि क्या वह खराबी ऐसी है जिन्हें कृत्रिम कपाट बदल कर या फिर हृदय में कृत्रिम मिलय लगाकर आराम पहुंचाने से ठीक किया जा सकता है या नहीं। यदि वास्तव में हृदय इस योग्य नहीं है तो निराश न हो, फौरन ही अपने असली दिल को एक नकली दिल से बदलवा लें।

कैंसर अर्बुद...

(पृष्ठ 15 का शेषांश)

मिलाकर (विशिष्ट कारक) इन्जेक्शन लगा दिया जाय तो दुर्दम्य अर्बुद की उत्पति होती है। ये विषाणु कोशिकाओं पर आक्रमण करते हैं और उन कोशिकाओं को कैंसर कोशिकाओं में परिवर्तित कर देते हैं।

कुछ प्रमाण ऐसे भी मिले हैं कि समुद्र सतह के नीचे बसी आबादी में तथा घनी आबादी वाले शहरों में लोग दुर्दम्य अर्बुदों से पीड़ित होते हैं। भोजन में आवश्यक तत्वों की निरन्तर कमी भी कोशिका चयापचय में गड़बड़ी ैदा कर देती हैं जिससे कोशिकाओं में वृद्धि ोने लगती है।

प्राण घातक

आमतौर पर दु ्म्य अर्बुद हमेशा ही प्राणघातक सिद्ध होता है। आम धारणा है कि सार्कोमा (एक प्रकार का कैंसर) से पीड़ित रोगी का जीवन 3 से 6 महीने तक तथा कार्सिनोमा से पीड़ित रोगी 2 से 3 वर्ष तक ही जीवित रहता है।

सार्वजनिक विश्वास के विपरीत कैंसर रोग आमतौर पर वेदनाकारी नहीं होता। वास्तव में प्राथमिक विक्षति में लेशमात्र पीड़ा भी नहीं होती। इससे अर्बुद की ओर रोगी का ध्यान उस समय तक नहीं जाता जब तक कि वह काफी बढ़ नहीं जाता। और बढ़ जाने पर अर्बुद अस्थि, यकृत अथवा केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के किसी भाग के सम्पर्क में आता है उससे अत्यन्त तीव्र वेदना होने लगती है।

दुर्दम्य अर्बुद की कोशिकाओं को समल नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय गंभीर एक्स किरण (डीप एक्स-रे) समझा जाता है। रेडियम चिकित्सा जैसी विधियां तो अब पुरानी सी होने लगी हैं। चिकित्सक में रेडियधर्मी कोबाल्ट का उपयोग भी कर रहे हैं। अब परमाणु ऊर्जा का उपयोग दुर्दम्य अर्बुद के उपचार में किया जाने लगा है।

पर उपर्युक्त चिकित्साओं के आधार पर हम दुर्दम्य अर्बुद (कैंसर) के कारण का निराकरण नहीं करपाये हैं। आधुनिक चिकित्साशास्त्रियों को दु ्म्य अर्बुद के कारण की खोज एक गुत्थी बन गई है जो सुलझाये नहीं सुलझ रही है।



दूसरा बच्चा कब ?

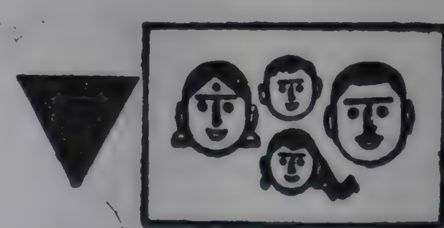
'कितना होनहार है ये बच्चा आपका!'
इसे आपके प्यार और दुलार की बहुत जरूरत है। डाक्टर बताते हैं कि पहले ४-५ वर्षों में बच्चे के दिमाग और बढ़वार की बुनियाद पड़ती है। यदि आप दूसरा भी ऐसा फूल सा बच्चा चाहती हैं तो कम से कम तीन-चार साल बाद उसके बारे में सोचिये।

"लेकिन क्या बच्चे का जन्म अपने बस की बात है ?"

"जी हां, बच्चे का जन्म बिल्कुल अपने बस की बात है। आज ऐसे अनेक तरीके मौजूद हैं, जिनके इस्तेमाल से बच्चा तभी होगा, जब आप चाहेंगे।

किसी भी परिवार नियोजन केन्द्र में जाकर आप इसके बारे में मुफ्त सलाह ले सकते हैं।

याद रखिये . . .



दो या तीन
बच्चे......
बस



davp 68/280

देश

की

समृद्धि

के

लिये

अनिवार्य

परिवार नियोजन

रमेश चन्द्र गर्ग

भारत की दिन प्रति-दिन बढ़ती हुई जनसंख्या का स्वयं भारत-वासियों के हृदय में चिन्ता का विषय बन जाना स्वाभाविक ही है। बढ़ती हुई आबादी से उत्पन्न समस्या को उस समय अधिक पुट मिला जब देशवासियों को खाद्यान्नों की कमी का सामना करना पड़ा। देश के कर्णधारों ने गहन विचार कर सर्वसम्मति से यह निष्कर्ष निकाला कि इस समस्या को येन-केन प्रकारेण हल करना चाहिये। इस व्याधि को दूर कर रोग-लाभ की प्राप्ति का सिद्धान्त अपनाना अर्थात् दो या तीन बच्चों से अधिक पैदा होने पर रोकथाम करना ही इस का एकमात्र उपाय पाया गया और सरकार ने परिवार-नियोजन को कार्यान्वित करने के लिए कमर कस ली। सरकार अपनी इस योजना में अभी तक एक सीमा तक सफल भी हो सकी है। पर पूर्णरूपेण सफलता उसी समय मिल सकती है जब जनता भी पूरी तरह से इस कार्य में योगदान दे।

सन् 1947 में, विभाजन के बाद, भारत की जनसंख्या लगभग 32 करोड़ थी। इस के दस साल बाद 1957 में वह बढ़ कर 42 करोड़ हो गई और अब 1968 में लगभग 52 करोड़। यदि आबादी पर रोकथाम न की गई तो अगले बत्तीस वर्ष में भारत की आबादी 100 करोड़ तक पहुंच जायेगी।

अभी तक की परिवार-नियोजन योजनाओं में 'नसबन्दी' और 'निरोध' पर काफी बल दिया गया है। लूप तथा अन्य उपाय भी उपयोग में लाये गए हैं। परन्तु सरलतम उपाय की खोजबीन अभी जारी है। हाल ही में जामनगर आयुर्वेद अनुसंधान महाविद्यालय और केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान में मौखिक गर्भ-निरोधक औषधियों पर अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। इन अनुसंधानों के अनुसार हम आशा कर सकते हैं कि कालान्तर में मुंह से खायी जा सकने वाली गर्भ-निरोधक औषधि अवश्य खोज ली जायेगी।

परिवार-नियोजन के उपायों में शायद सब से अच्छा है नसबंदी इससे अन्य उपायों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। नसबन्दी कराने से शरीर पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि किसी के मस्तिष्क में इस किस्म की धारणा बनी हुई है तो उसे निकाल देना चाहिये।

सरकारी सूचना के अनुसार परिवार-नियोजन के कार्यक्रम के प्रारम्भ होने से अब तक कई स्थानों पर जन्म दर में काफी कमी हुई है। हाल में किये गये सर्वेक्षण के अनुसार देश के कुछ भागों में जन्म दर में 1.5 प्रतिशत की कमी हुई है। असम के चाय की खेती करने वालों में 1960 में जन्म दर 43.4 प्रति हजार थी जो घट कर 1965 में 25.5 रह गई। चिनहट तथा लखनऊ के मोहनलाल गंज में 1963 में जन्म दर 50.8 प्रति हजार थी जो 1967 में घटकर 45.3 रह गई। कलकत्ता शहर के एक केन्द्र में 1963 में जन्मदर 25.7 प्रति हजार थी जो 1966 में घट कर 18 रह गई। परिवार-नियोजन के ही परिणामस्वरूप 1967-68 में आबादी में लगभग एक करोड़ की वृद्धि नहीं हुई। यदि परिवार नियोजन के उपायों का प्रयोग न किया गया होता तो जनसंख्या में 1 करोड़ की वृद्धि और हो जाती। तात्पर्य यह है कि जन्म दर में कमी परिवार नियोजन द्वारा सफलतापूर्वक की जा सकती है।

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टेक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है । प्रकाशित लेखों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है ।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं ।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिये जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके ।

लेखों की शब्द संख्या 2000 से अधिक नहीं होनी चाहिये ।

लेख कागज की एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिए । हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी ।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं । चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहियें । फोटो ग्लौसी कागज पर होने चाहिये ।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति', भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, कि पते पर आनी चाहिये ।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिए । इसमें लेखक की शिक्षा, महत्त्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हॉबी होनी चाहिए ।

'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है ।

रबर की कहानी

(पृष्ठ 17 का शेषांश)

दूसरे विश्वयुद्ध छिड़ने के काफी पहले से ही अमेरिकी सरकार 'ब्यूना एस' नामक कृत्रिम रबर से प्रयोग करने के लिए कुछ कम्पनियों की सहायता कर रही थी। (यह ब्यूटाडाइन और स्टाइरीन नामक दो रसायनों से तैयार किया जाता है)। अतः जब जापानियों ने अमेरिका को प्राकृतिक रबर की सप्लाई रोक दी, वहां के दर्जनों कारखाने युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्याप्त 'ब्यूना एस' बना रहे थे।

'ब्यूना एस' इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि युद्ध समाप्त हो जाने के उपरांत भी कारखाने इसे बनाते रहे। भारी मोटरगाड़ियों और मोटर ठेलों के टायरों के निर्माण में यह विशेषतया उपयोगी सिद्ध हुआ। रबर के जितने भी प्रतिस्थाप्य बने हैं उनमें 'ब्यूना एस' सर्वाधिक प्रचलित है। साथ ही अन्यों की तुलना में प्राकृतिक रबर से यह सर्वाधिक मिलता-जुलता है। अमेरिका में बनने वाले कुल संश्लिष्ट रबर का अस्सी प्रतिशत से भी अधिक 'ब्यूना एस' होता है।

रसायनज्ञ साठ से भी अधिक किस्म के रबर के प्रतिस्थाप्य बना सकते हैं परंतु निर्माता लोग इन्हें प्रतिस्थाप्य कहना पसंद नहीं करते क्योंकि इन नए पदार्थों के कुछ ऐसे उपयोग भी हो सकते हैं जो कि प्राकृतिक रबर के भी नहीं होते। अतः रबर-सदृश पदार्थों को वे लोग 'इलैस्टोमर' कहना पसंद करते हैं।

ब्यूटिल एक बहुत अच्छा इलैस्टोमर है जो कि प्राकृतिक रबर से दस गुने अधिक समय तक वायु को बंद किये रख सकता है। अतः टायरों के अंदर की ट्यूबें बनाने के लिये यह सर्वोत्तम पदार्थ है। इसी प्रकार विनाइल क्लोराइड का एक रबर सरीखा बहुलक है कोरोसील। इसमें अधिकांश इलैस्टोमरों जितनी तनन क्षमता तो नहीं है लेकिन एक तो यह आसानी से जलता नहीं, दूसरे इसे आसानी से अनेक रंगों में रंगा जा सकता है। फुहारेदार स्नानघरों की दीवारों को पानी से बचाने के पर्दे, कमरबंद पेटियां, बरसाती कोट और छतरियां कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो आजकल कोरोसील से बनाई जाती हैं।

रबर के विविध उपयोग

जाड़े समाप्त हो जाने पर हम लोग अपने गर्म कपड़ों, कम्बल आदि को फ़िनाइल की गोलियां आदि डालकर बंद कर देते हैं ताकि उन्हें कीड़े काट न डालें। इसी प्रकार युद्ध समाप्त हो जाने पर यूरोप और अमेरिका में टैंकों, तोपों, यहां तक कि पूरे-के-पूरे समुद्री युद्धपोतों को भी एक प्रकार से फिनाइल की गोलियां डालकर रख दिया जाता है ताकि उन्हें जंग लगने और मलिन होने से बचाया जा सके। और इस काम के लिये थायोकोल नामक एक इलैस्टोमर का उपयोग किया जाता है। थायोकोल प्राकृतिक रबर जितना मजबूत तो नहीं होता किन्तु इसपर पेट्रोल, ग्रीज व अन्य रसायनों का उतनी आसानी से असर नहीं होता। इसे गोंदीले द्रव के रूप में धातु के बने हिस्सों-पुर्जों पर छिड़क दिया जाता है। सूखने पर यह एक मजबूत परत के रूप में उनपर जम जाता है और भंडारन के दौरान अथवा कहीं दूर भेजे जाते समय उन्हें जंग लगने से बचाता है। छपाई की मशीनों में जिन बेलनों से स्याही लगाई जाती है, उनके बनाने में भी थायोकोल का उपयोग किया जाता है।

नये इलैस्टोमर

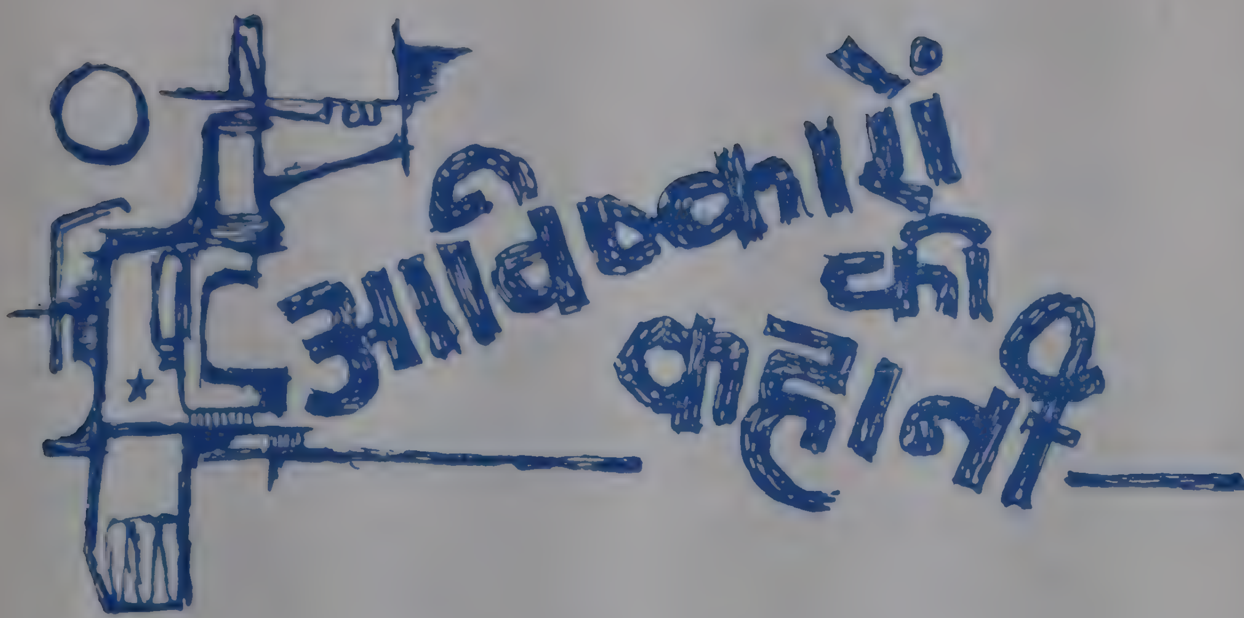
रसायनज्ञों ने जो दर्जनों इलैस्टोमर बनाए हैं उनमें से एक भी हू-ब-हू प्राकृतिक रबर जैसा नहीं है तो भी उन्हें इस बात की चिंता करने की फुर्सत नहीं है। वे तो नए-नए कामों के लिये विशिष्ट प्रकार के इलैस्टोमर विकसित करने में लगे हुए हैं। इनमें से कुछ तो भारी मशीनों के नीचे रखने के लिये उपयुक्त हैं। इससे कम्पनों को दबाया जा सकता है। कुछ अन्यों का खतरनाक रसायनों का व्यवहार करने वाले लोगों के लिये संरक्षक पोशाकें बनाने में इस्तेमाल किया जा सकता है। लेटेक्स अर्थात् द्रव रबर को फेंट कर उसमें वायु मिलाये जाने से फेनिल रबर (फोम रबर) तैयार किया जाता है जिससे कि गद्दे-गद्दियों, सिरहाने-तकिये आदि बनाए जा सकते हैं।

ध्रुव प्रदेशों में (जहां कि तापमान शून्य से भी सौ अंश नीचे होता है) उड़ान भरने वाले विमानों के कुछ विशेष कल-पुर्जे विशेष प्रकार के इलैस्टोमरों से बनाए जाते हैं जो कि इतने कम तापमान पर भी मजबूत व लचीले बने रहते हैं।

इलैस्टोमरों पर अनुसंधान कार्य करने वाले वैज्ञानिकों और इंजीनियरों का कहना है कि इन बहुमूल्य पदार्थों के अन्यान्य उपयोग भी खोज निकाले जाएंगे। उनका तो विचार है कि वह समय दूर नहीं जब कि रबर की सड़कों पर ऐसी मोटर कारें दौड़ा करेंगी जिनके टायर ही नहीं अपितु स्प्रिंग भी, और तो और पूरा काय (बॉडी) भी, रबर के बने होंगे।●

भूल-सुधार

विज्ञान प्रगति के दिसम्बर 1968 अंक का क्रमांक 11 है 15 नहीं।



फाऊन्टेन पेन की कथा

हरिकृष्ण देवसरे

सबसे पहला पेन तो उसे मानना चाहिए जिसे हम चकमक पत्थर कहते हैं। यानी आदिम मानव ने चकमक पत्थर से गुफाओं की दीवारों पर चित्र बनाए थे। लेकिन फिर हड्डियों तथा धातु की कलमें बनने लगीं और उनसे लोग तरह-तरह के चित्र और अक्षर बनाते थे।

उस समय ये कलम केवल लिखने के ही काम में न आते थे बल्कि जरूरत पड़ने पर ये अच्छे खासे हथियार भी थे। आपने जुलियस सीजर का नाम सुना होगा। उसकी हत्या ऐसी ही कलम से हुई थी। धीरे-धीरे जब कागज का आविष्कार हुआ तो उस पर रंग से लिखने के लिए कलम की आवश्यकता पड़ी और आधुनिक कलम का प्रारम्भिक रूप बना। यह काम आरम्भ में बत्तख, हंस या मोर जैसे पक्षियों के पंखों से किया जाता था। देखने और लिखने में ये कलम बड़े सुन्दर लगते थे। अंग्रेजी में 'पेन' नाम लेटिन शब्द 'पेन्ना' से बना है जिसका अर्थ होता है 'पंख'। उस जमाने में लोग छोटे-छोटे चाकू पास रखते थे और पंख-कलम की नोक घिस जाने पर उसे तेज कर लेते थे। लगभग पांचवीं शताब्दी से अठारहवीं शती तक लिखने के लिए यही कलम इस्तेमाल किये जाते रहे। भारत में पंखों की जगह लकड़ी की कलम इस्तेमाल होने लगी थी। आज भी वैसी कलम बाजार में मिलती है और बहुत से पुरानी शैली के स्कूलों में उन्हीं से लकड़ी की पट्टी पर 'छुई' (मुलतानी) पोतकर लिखना सिखाया जाता है।

यूरोप में सन् 1780 में लिखने की कलम में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। बरमिंघम के एक व्यापारी सैमुएल हैरीसन ने इस्पात की कलम बनाई और लिखने के लिए उन्हें बाजार में लोकप्रिय बनाया। इससे लोगों को नए विचार मिले और सन् 1808 में निब और होल्डर अलग-अलग बनाकर बेचने का काम शुरू हुआ। इसे ब्रियान डोन्किन ने सबसे पहले शुरू किया था। लेकिन अभी तक पेन थोड़ी ही संख्या में बनते थे। इसे पूरे व्यावसायिक रूप से बेचने का काम शुरू किया सन् 1832 में जान गिलियट तथा जान मिचेल ने, जिन्होंने पेन बनाने की मशीन लगाई और काफी संख्या में निर्माण करके बेचने लगे। ये सारा काम बरमिंघम शहर में हुआ और इस तरह लगभग पचास साल तक पेन बनाने तथा उनकी सप्लाई का काम वहीं से होता रहा।

पेन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा निब होता है। इसके लिए बहुत बढ़िया किस्म का मुलायम इस्पात इस्तेमाल किया जाता है। इन्हें बहुत ही अच्छी मशीनों से बनाया जाता है जिससे ये बिल्कुल ठीक बनें। इनके बीच का स्याही वाला छेद तथा चीरा आदि सब एक साथ ही किया जाता है। फिर इन्हें गर्म किया जाता है और तब मोड़ कर निब की शक्ल दी जाती है। इसके बाद दुबारा गर्म करके इन्हें मजबूत और स्थायी बनाया जाता है। जिन्हें हम सोने की निब कहते हैं वे सोने की मिश्र धातु से बनी होती हैं। कुछ निबों की नोक मात्र ही इस धातु से बनायी जाती हैं। अच्छी निबें सोने, तांबे और चांदी की मिश्र धातु से बनती हैं और इसीलिए वे कीमती होती हैं। पर ये निबें अधिक मुलायम और मजबूत होती हैं।

आज जिसे हम 'फाउन्टेन पेन' कहते हैं वे मुख्यतः प्लास्टिक के बने होते हैं। इनके मुंह पर निब के साथ एक 'लकड़ी जैसा' टुकड़ा लगा रहता है जो स्याही को आवश्यक मात्रा में ही बाहर आने देता है। आरम्भ में इन पेनों में स्याही भरने का काम कांच की एक नली द्वारा किया जाता था। फिर धीरे-धीरे इनमें लीवर लगाकर अन्दर रबर की नली लगायी गयी। इस तरीके से स्याही भरना अधिक सरल हो गया। किन्तु इस तरीके में एक दोष यह है कि यदि पेन साफ न किया

(शेषांश पृष्ठ 38 पर)

ध्रुवों से भी पवन उठती है

जिस प्रकार सूर्य की सतह से पवन उठा करती है, जिसे कि सौर वायु कहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी के ध्रुवों से भी पवन उठा करती है। उत्तर और दक्षिण ध्रुवों से उठने वाली यह पवन पृथ्वी के वातावरण का कुछ अंश अंतरिक्ष में ले जाती है।

इस ध्रुवीय पवन में वातावरण के इलैक्ट्रान और आक्सीजन, हीलियम, हाइड्रोजन व नाइट्रोजन के अणु मौजूद होते हैं। किंतु इससे पृथ्वी के वातावरण को होने वाली हानि बहुत नगण्य है और इससे पृथ्वी पर जीवों का पोषण करने वाली आक्सीजन के भंडार के क्षय हो जाने का कोई खतरा नहीं है।

ध्रुवीय पवन के अस्तित्व की खोज करने का श्रेय सान डीगो स्थित कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के डा. पीटर बैंक्स को प्राप्त है और इस की पुष्टि अमेरिकी उपग्रह एक्सप्लोरर-31 से भी हो चुकी है। ध्रुवीय पवन के अस्तित्व की सूचना सर्वप्रथम मैग्नेटोस्फीयर भौतिकी पर सितम्बर 1968 में वाशिंगटन में हुए अन्तरराष्ट्रीय परिसंवाद में दी गई।

परिसंवाद में यह भी बतलाया गया कि ध्रुवीय पवन सूर्य के प्रकाश की गर्मी पाकर फैलती है और बह कर पृथ्वी के चुम्बकीय सिरों (मैग्नेटिक टेल) पर पहुंच जाती है। यहां ध्रुवों के समीप, चुम्बकीय क्षेत्र की रेखाओं के बीच से होकर यह अंतरिक्ष में प्रविष्ट हो जाती है।

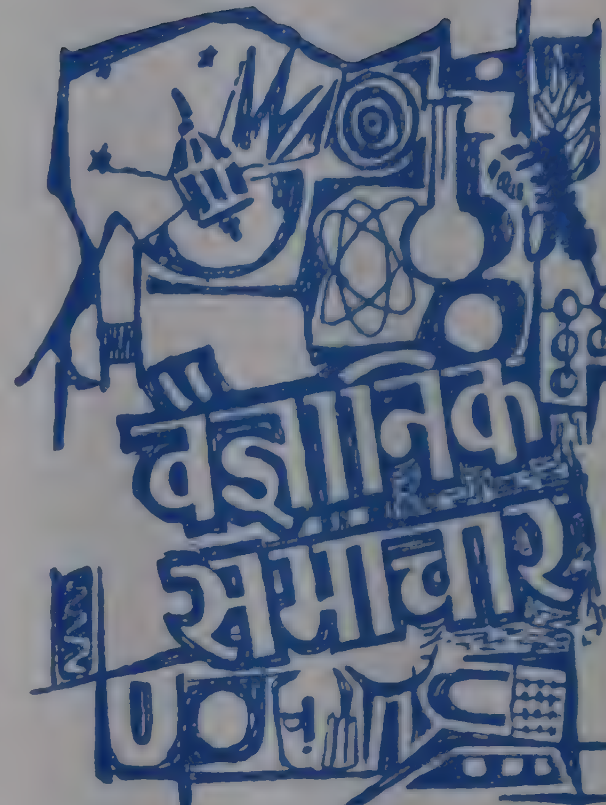
नया दीर्घकालिक संवेदनाहारी विकसित

शल्य-चिकित्सा के विकास में पीड़ाहरण करने वाले पदार्थों अर्थात् संवेदनाहारियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। पहले शल्यकर्म तभी किया जाता था जब कि उसके बिना कोई चारा ही न होता हो। कारण, पहले शल्यकर्म के दौरान रोगी बिल्कुल सचेत हुआ करता था। अतः पहले कुशल शल्य-चिकित्सक वही समझा जाता था जोकि शल्यकर्म के लिये कम-से-कम समय लेता हो। लेकिन तब दिक्कत यह होती थी कि शल्यकर्म को यथा-आवश्यकता समय नहीं दिया जा सकता था। संवेदनाहारियों की खोज से शल्य-चिकित्सकों की यह परेशानी दूर हो गई और चिकित्सा की इस विधा की दिनों-दिन उन्नति होती गई।

ऐसे संवेदनाहारियों का भी विकास हुआ जिनका उपयोग शरीर के एक सीमित स्थान को चेतनाशून्य करने के लिये किया जाता है। आजकल के बहु-प्रचलित स्थानीय संवेदनाहारियों में प्रोकेन (नोवोकेन) का स्थान महत्वपूर्ण है। लेकिन इसका प्रभाव भी कुछ ही मिनिटों तक होता है, उस के बाद पीड़ा फिर सताने लगती है। लेकिन हाल में संयुक्त राज्य अमेरिका में वाशिंगटन स्थित जार्ज टाऊन विश्वविद्यालय में एक ऐसे संवेदनाहारी का विकास हुआ है जिसका प्रभाव दीर्घकालीन होता है। आजकल प्रचलित अन्य संवेदनाहारियों की तुलना में यह कम-से-कम दस गुना अधिक प्रभावी है। इस नए संवेदनाहारी का नाम 'एस.एल. 1112' रख गया है और अभी यह निपट प्रायोगिक स्तर पर ही है।

स्क्विड मछलियों, लाब्स्टरों, चूहों और गिनी पिगों की तंत्रिकाओं पर किये गये परीक्षणों में यह देखा गया कि इसने कई घंटों तक तंत्रिका की क्रिया को रोक दिया जब कि प्रोकेन कुछ मिनिट तक ही तंत्रिकाओं को प्रभावित करती है। टांग की पीड़ा से तड़पते हुए एक घोड़े को इसका एक ही इंजेक्शन देने पर तीन सप्ताह से भी अधिक समय तक आराम रहा।

इस नए संवेदनाहारी की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल लक्ष्य बनाई गई तंत्रिका को ही प्रभावित करता है, समीपवर्ती क्षेत्रों पर इस का प्रभाव बहुत मामूली होता है। अतः पुराने दर्द के ऐसे अनेक प्रकार के रोगों में यह उपयोगी सिद्ध हो सकता है जिनका उपचार अब तक यही था कि या तो संबद्ध तंत्रिका को काट दिया जाय या फिर अल्कोहल या फीनाल से उसे नष्ट कर दिया जाय।



इस संवेदनाहारी का विकास अमेरिका के राष्ट्रीय हृदय संस्थान (यू. एस. नैशनल हार्ट इंस्टिट्यूट) के तत्वावधान में हुआ है। हृदय की अनियमित धड़कन को नियमित करने में संभवतया यह औषधि विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

क्या पृथ्वी आक्सीजन-हीन होती जा रही है?

आक्सीजन ही पृथ्वी की प्राणप्रद वायु है। किंतु पृथ्वी के साधनों का अधिकाधिक उपयोग करने तथा बिना सोचे विचारे कहीं भी कड़े-कचरे का ढेर लगाने के परिणामस्वरूप, क्या मनुष्य को पृथ्वी पर आक्सीजन की कमी का सामना करना होगा? उक्त प्रश्न 'अमेरिकन ऐसोसिएशन फार द एडवांसमेंट आफ साइंस' की वार्षिक बैठक में कार्नेल विश्वविद्यालय, अमेरिका के प्राफेसर लेमान्ट सी. कोल ने उठाया था।

कोयला आदि ईंधन जला-जला कर प्रति वर्ष हम वायुमंडल से प्राप्त होने वाली आक्सीजन की खपत बढ़ाते जा रहे हैं। दूसरी ओर वायुमण्डल को आक्सीजन प्रदान करने वाले हरे पौधों को उजाड़ कर हम वायुमण्डल को प्राप्त होने वाली आक्सीजन की मात्रा कम करते जा रहे हैं। प्रो. कोल

का कहना है कि विषैले कचरे से समुद्री प्लांकटोनिक डायटमों का धीरे-धीरे विनाश होता जा रहा है। इससे किसी समय वायुमण्डल में आक्सीजन की मात्रा यकायक कम हो सकती है। प्लांक्टोनिक डायटम वायुमण्डल की 70 प्रतिशत से भी अधिक आक्सीजन का प्रकाश-संश्लेषण द्वारा उत्पादन करते हैं।

प्रो. कोल ने अमेरिका के 'फूड एंड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन' का हवाला देते हुए कहा कि लगभग पांच लाख पदार्थ व्यर्थ समझ कर सागरों में फेंके जा रहे हैं। इनमें से बहुत से कीटाणुनाशी, रेडियोसमस्थानिक तथा संक्षालक पदार्थों की तरह जैव-सक्रिय हैं। साथ ही, इनमें से केवल कुछ पदार्थों का ही इस बात के लिए परीक्षण किया गया है कि वे समुद्री डायटमों के लिए विषाक्त तो नहीं हैं अथवा नाइट्रोजन अथवा अन्य तत्वों के चक्र में तो कोई बाधा नहीं डालते। वायुमण्डल में आक्सीजन की मात्रा बढ़ाने के संदर्भ में प्रो. डॉ. कोल का सुझाव है कि पृथ्वी पर अधिकाधिक हरे पौधे उगाये जाने चाहिएं।

शैलखंडों में जीव तत्त्व: पहचान की तुरंत विधि

हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका में एक ऐसा अनुपम यंत्र विकसित किया गया है जिससे अजैव पदार्थों में पाए जाने वाले जीव रसायनों का तत्काल और सही-सही पता लगाया जा सकता है।

इस यंत्र को लैसर-द्रव्यमान-वर्णक्रममापी (लैसर मास स्पेक्ट्रोमीटर) कहा जाता है और यह शैलखंडों, खनिजों और उल्कापिण्डों के नमूनों को नष्ट किये बिना उन में पाए जाने वाले कार्बनिक अथवा जैव-पदार्थों के अत्यंत-सूक्ष्मदर्शीय टुकड़ों को खोज कर उन की पहचान भी कर सकता है।

इस यंत्र में लाल (रूबी) लैसर में उत्पन्न संकेंद्रित प्रकाश पुंज को सूक्ष्मदर्शी में से फोकस कर उस नमूने पर डाला जाता है जिसका कि विश्लेषण करना होता है। फिर सेकंड के अंश मात्र में शक्तिशाली लैसर पुंज नमूने के अतीव सूक्ष्म अंश को एक वर्णक्रममापी (स्पेक्ट्रोमीटर) में वाष्पित कर देता है। यहां वाष्पित पदार्थों की अपने द्रव्यमानों के अनुसार रासायनिक पहचान होती है।

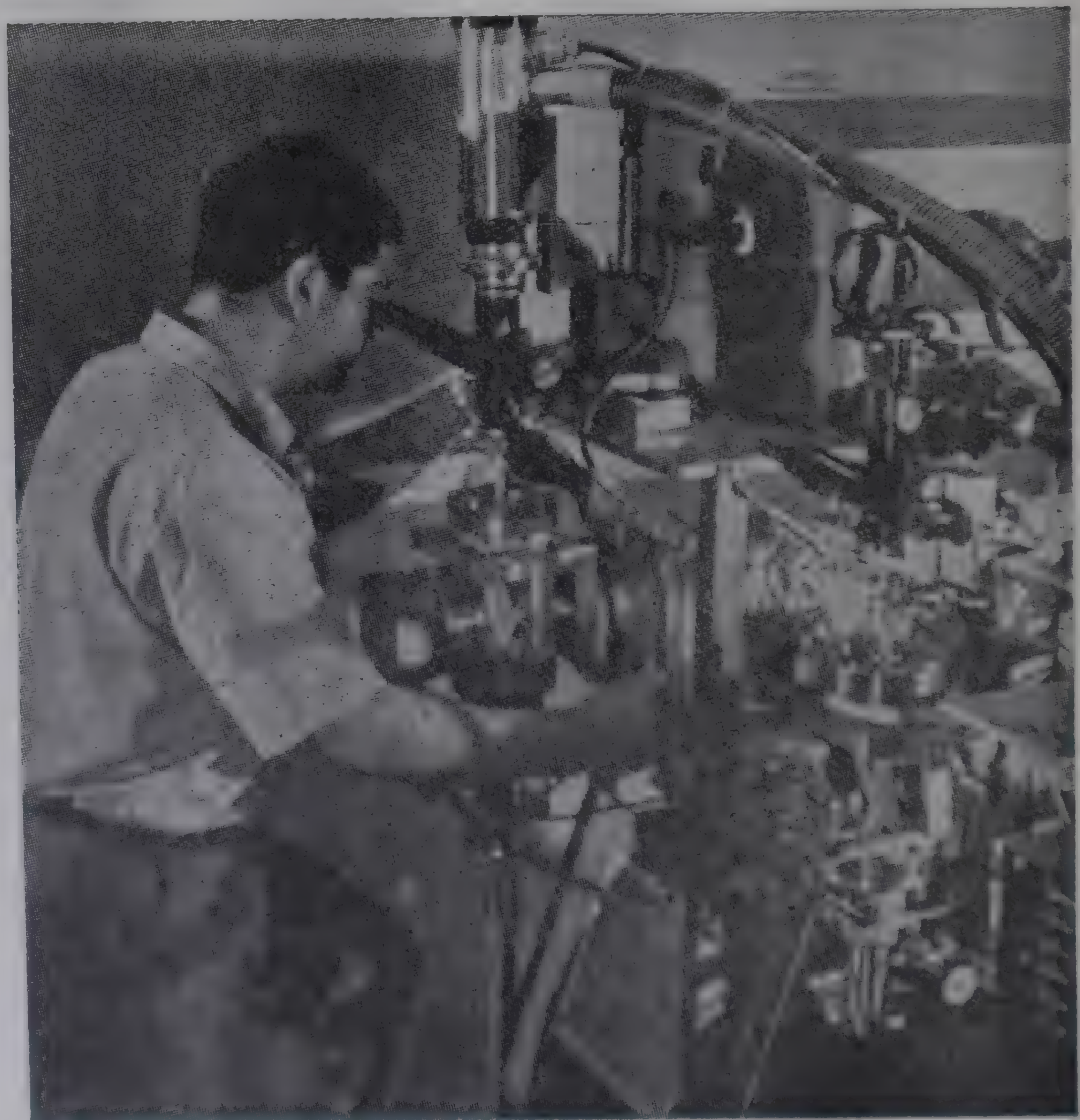
इस यंत्र का विकास पैन्सिलवानिया स्टेट युनिवर्सिटी के ईंधन-विज्ञान के सह-प्राध्यापक डा. फांसिस जे. वास्टोला ने किया है।

डा. वास्टोला का कहना है कि यह यंत्र इसलिये अनुपम है कि इससे किसी नमूने के सिर्फ चंद ग्राम-के-हजारवें भाग में से सीधे ही और लगभग तत्काल जटिल जैव-पदार्थों की पहचान हो सकती है। अधिकांश अन्य तरीक़ों में यह विश्लेषण सीधे तरीक़े से न होकर परोक्ष ढंग से होता है या फिर विश्लेषण के दौरान वह नमूना ही नष्ट कर देना होता है।

आजकल डा. वास्टोला लैसर किरणों को विभिन्न प्रकार के खनिजों और जैव-पदार्थों पर फोकस करके उन के वर्णक्रम संबंधी विवरण की सूची तैयार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ वर्णक्रममापी में अपने विशिष्ट रासायनिक 'उंगलियों के निशान' बनाता है और जैसे उंगलियों के निशान से मनुष्य की सही-सही पहचान हो सकती है, उसी प्रकार इन पदार्थों की भी इन के वर्णक्रमलेखों से सही पहचान हो सकती है।

पृथ्वी पर पाए जाने वाले पदार्थों के अविलंब विश्लेषण में उपयोग के अतिरिक्त इन वर्णक्रमी 'उंगलियों के निशानों' का अंतरिक्ष वैज्ञानिक भी उपयोग कर सकते हैं। इस से वे यह देख सकते हैं कि उल्कापिंडों अथवा चांद या विभिन्न ग्रहों से लिये गए शैलखंडों के नमूनों में जीवन के सूक्ष्म लक्षण विद्यमान हैं अथवा नहीं।

इस विधि से खनिज कोयले की जटिल भू-रासायनिक संरचना का ज्ञान भी हो सकता है। अभी तो विशाल खानों में पाए जाने वाले कोयले की संरचना में कौन-कौन से महत्वपूर्ण रासायनिक भेद कहां-कहां पाए जाते हैं, इसका भी ज्ञान नहीं हो पाता। और तो और कोयले के एक ही टुकड़े के भीतर रासायनिक



लैसर द्रव्यमान वर्णक्रममापी जिसमें लैसर प्रकाश पुंज और द्रव्यमान वर्णक्रममापी का सुसंयोग है। इससे शैलखंडों, खनिजों और उल्कापिंडों के प्रति सूक्ष्म अंशों में भी विद्यमान जैव-पदार्थों की तत्काल पहचान हो सकती है।

संरचना कहां-कहां बदलती है, इस बात का ज्ञान भी नहीं होता।

इस लैसर द्रव्यमान वर्णक्रममापी से यह जाना जा सकता है कि कोयले के किसी नमूने की रासायनिक संरचना इस काबिल है या नहीं कि उससे इस्पात कारखानों के लिये बढ़िया किस्म का कोक तैयार हो सके। ईंधन वैज्ञानिक इस विधि से एक किस्म का कोयला किसी दूसरी किस्म से क्यों अच्छी तरह जलता है तथा उन दोनों के रासायनिक भेद भी जान सकते हैं।

कार्यरत हृदय को देखने की नई विधि

जीवित मानव-शरीर में कार्यरत हृदय और संलग्न रक्तवाहिनियों की गति-विधि को दर्शाने की एक नई विधि का संयुक्त राज्य अमेरिका में विकास हुआ है।

इस विधि में रेडियधर्मी पदार्थों का उपयोग होता है और इस से अंततः जो चीज तैयार होती है उसे विशेषज्ञ 'रेडिय-समस्थानिक वाहिका-हृद चित्र' (रेडियो-आइसोटोप ऐंजियोकार्डियोग्राम) कहते हैं। इस युक्ति से हृदय और वाहिकाओं के अंग-रचनात्मक विवरण और रक्तप्रवाह के पैटर्न का नक्शा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

इस युक्ति से प्राप्त निदान-संबंधी जानकारी, हृदय के एक्स-किरण चित्रों द्वारा प्राप्त जानकारी सदृश ही होती है। बल्कि यह नई विधि एक्स-किरण चित्र विधि से इस दृष्टि से बढ़िया होती है कि इसमें रोगों को रेडिय-अपारदर्शी रंजक पदार्थ (रेडियोपेक डाईज) का इंजेक्शन नहीं देना पड़ता।

नई विधि में रोगी के हृद-कक्ष या रक्त-वाहिका में नाल-शलाका (कैथीटर) की सहायता से टैक्नेशियम 99 एम. नामक अहानिकर रेडियो-समस्थानिक की अल्प मात्रा इंजेक्ट की जाती है। इस रेडिय-समस्थानिक द्वारा गामा किरणें विकिरित होती हैं जिनका रोगी के वक्ष पर लगाए गए 'गामा सिंटिलेशन कैमरा' से चित्र लिया जाता है। इस कैमरा में एक क्रिस्टल होता है और इस पर जब-जब गामा विकिरणों का प्रहार होता है, तब-तब यह चमकने लगता है।

जैसे-जैसे हृदय और समीपवर्ती रक्त-वाहिकाओं में से टैक्नेशियम 99 एम. प्रवाहित होता है, उसमें से निकलने वाली गामा किरणों से इन अंगों की बनावट की रूपरेखा का विवरण और रक्त-प्रवाह का पैटर्न प्रस्तुत होता जाता है।

टैक्नेशियम 99 एम. के कार्य की तुलना लाखों छोटी-छोटी बत्तियों से की जा सकती है जो कि मानो शरीर के अन्दर जल-बुझ रही हों। इन सब के सम्मिलित प्रकाश से शरीर के अन्दर का बाह्य-रेखा दर्शी चित्र (सिलुएट) बन जाता है। इन सब के परिणाम से तैयार हुआ 'रेडिय-समस्थानिक वाहिका-हृदचित्र' को वाइडियो-टेप पर भी अभिलेखित किया जा सकता है जिसे कि विस्तृत अध्ययन के लिये बार-बार देखा जा सकता है।

अंग-प्रतिरोपित रोगियों की रक्षा हेतु सीरम

शल्य-चिकित्सा की दृष्टि से यद्यपि गुर्दे, हृदय और फेफड़े मनुष्य में सफलता-पूर्वक प्रतिरोपित किये जा चुके हैं तो भी ऐसे रोगी दीर्घकाल तक जीवित नहीं रह पा रहे। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि रोगी का शरीर प्रतिरोपित अंगों का बहिष्कार कर देता है। इस बहिष्करण (रिजेक्शन) को रोकने के लिये रोगी को ऐसी औषधियां देनी पड़ जाती हैं जोकि वैसे बड़ी खतरनाक होती हैं।

किन्तु हाल ही में अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में चूहों पर प्रयोग करके एक ऐसे सीरम का विकास किया गया है जोकि शरीर को प्रतिरोपित अंगों का बहिष्कार करने से रोक देता है और इस के साथ-साथ संक्रमण व रोग का मुकाबला करने वाली शरीर की प्राकृतिक रक्षा-व्यवस्था को भी बनाए रखता है।

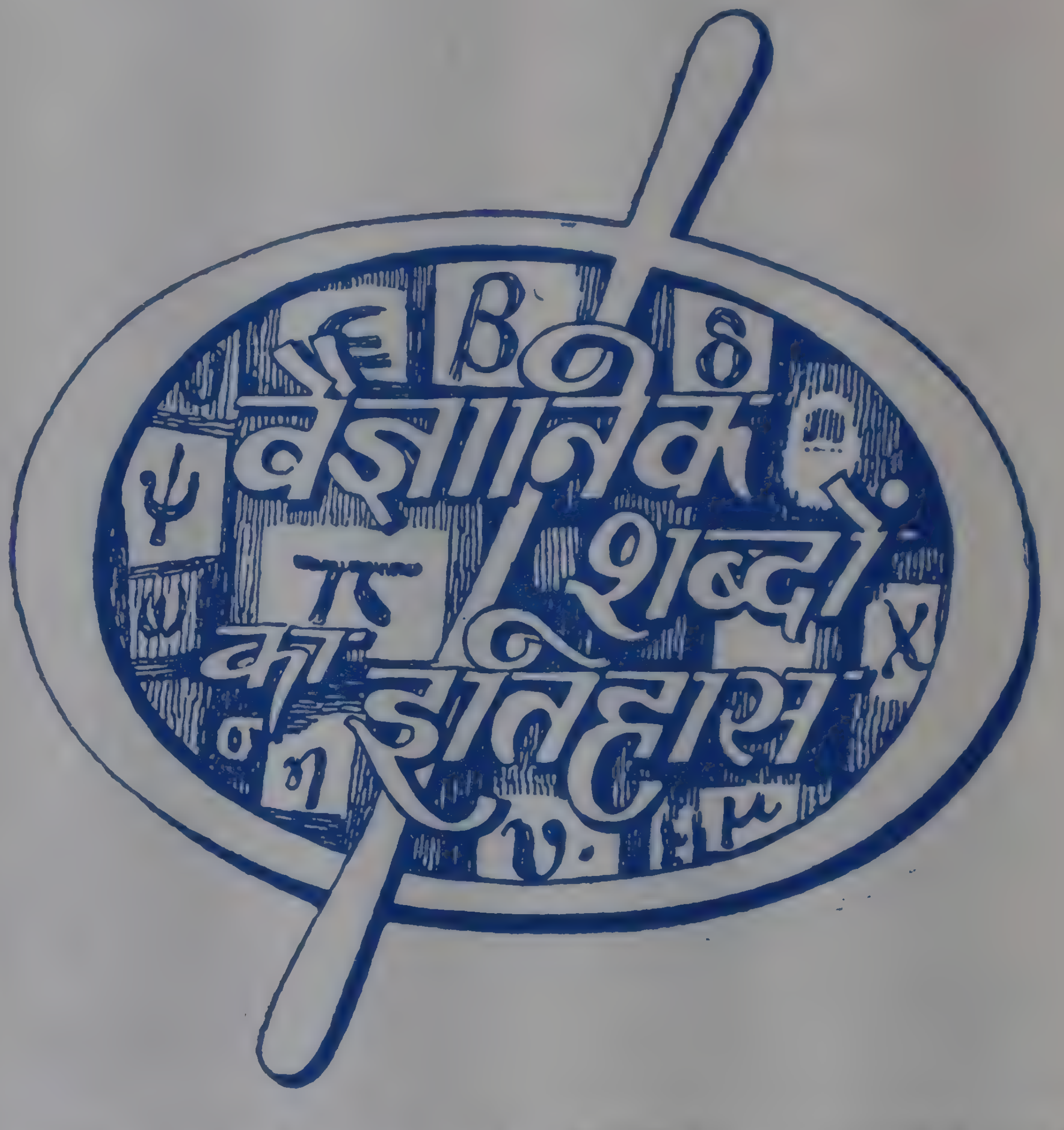
दाता चूहों से प्राप्त किये गए इस सीरम में प्रतिपिंड (ऐंटीबाडीज) और ऐंटीजन दोनों मौजूद होते हैं। प्रतिपिंड पदार्थ तो ग्राहक चूहों को प्रतिरोपित अंग स्वीकार करने के लिये पहले से तैयार कर देता है और ऐंटीजन पदार्थ बाहर से होने वाले संक्रमण का मुकाबला करने के लिए और अधिक प्रतिपिंड बनाने के लिये प्रेरित करता है।

ग्रेविटी

आइजक न्यूटन द्वारा प्रतिपादित गति के प्रथम नियमानुसार कोई भी गतिमान पिण्ड एक सरल रेखा में ही गतिमान रहेगा जब तक कि उस पर कोई बाहरी बल लगाकर उसे दिशा बदलने अथवा रुकने के लिए बाध्य न किया जाए। यदि एक रस्सी के एक छोर पर पत्थर बांधकर, दूसरे छोर को हाथ में पकड़ कर आप उस पत्थर को एक वृत्त में घुमाएं तो वह तभी वृत्त-पथ अपनाएगा जबकि उसकी गति तीव्र होगी। तीव्र गति से वृत्त-पथ में घूमते समय यदि पत्थर रस्सी से खुल जाए तो वह वृत्त-पथ में न रह कर एक ओर को दूर जा गिरेगा। वास्तव में रस्सी के खिंचाव के कारण ही पत्थर वृत्त-पथ में घूमने के लिए बाध्य था। यदि किसी समय पत्थर की गति आपने धीमी कर दी तो भी वह वृत्त-पथ-विमुख होकर रस्सी में बंधा ही नीचे गिर जाएगा।

इस पत्थर को वृत्त-पथ में रखने वाला बल सेन्ट्रीफ्यूगल बल (केन्द्रापसारी बल) कहलाता है। सेन्ट्रीफ्यूगल (centrifugal) शब्द लैटिन भाषा के शब्द सेन्ट्रम (centrum) अर्थात् केन्द्र और फ्यूगेरे (fugere) अर्थात् भागना से मिलकर बना है अर्थात् सेन्ट्रीफ्यूगल बल वह है जो किसी वृत्त-पथ में गतिमान पिण्ड को केन्द्र से दूर रहने के लिए बाध्य करता है। यही केन्द्रापसारी बल रस्सी से खुल जाने पर पत्थर को वृत्त-पथ से दूर फेंक देता है। इस पत्थर पर केन्द्रापसारी बल के विपरीत और परिमाण में समान एक अन्य बल भी कार्य करता है जिसे सेन्ट्रीपीटल (केन्द्राभिसारी) बल कहते हैं। सेन्ट्रीपीटल (centripetal) शब्द लैटिन के शब्द पीटरे (petere) अर्थात् 'की ओर जाना' से बना है। इस प्रकार केन्द्राभिसारी बल वह है जो वृत्त-पथ में गतिमान पत्थर को केन्द्र की ओर आकर्षित करता है। केन्द्रापसारी और केन्द्राभिसारी बलों का संतुलन बने रहने पर ही पत्थर वृत्त-पथ में रहता है।

रस्सी पत्थर को वृत्त-पथ से भागने से रोकती है क्योंकि वह आणविक संसक्ति (मालीक्युलर कोहिजन) के कारण टूटती नहीं। जब केन्द्राभिसारी बल इस प्रकार की संसक्ति के कारण होता है तो वह तभी कार्य कर सकता है जबकि पत्थर और वृत्त-पथ के केन्द्र के बीच कोई निरावकाश स्थूल सम्पर्क हो।



प्रत्येक वस्तु हर दूसरी वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करती है चाहे उन दोनों के बीच कोई सम्पर्क माध्यम हो अथवा न हो। वस्तु की संहति जितनी अधिक होगी उतनी ही उस की आकर्षण शक्ति भी अधिक होगी। उदाहरणार्थ यदि पृथ्वी से 1000 मील ऊपर ले जाकर किसी पिण्ड को शून्य में छोड़ दिया जाय तो भी पृथ्वी उसे अपनी ओर खींचती है और वह पिण्ड पृथ्वी की ओर को अग्रसर होता है, यद्यपि पृथ्वी से 1000 मील ऊपर शून्य ही शून्य है। चन्द्रमा पृथ्वी से 2,37,000 मील दूर है। वह भी पृथ्वी पर गिरने का प्रयास करता है परन्तु उसकी अपनी गति है, वह स्थिर नहीं है, पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है और केन्द्रापसारी बल उसकी पृथ्वी पर गिरने की गति से संतुलन बनाए रखता है। इस प्रकार वह अपनी कक्षा में पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है और कभी कक्षा से बाहर नहीं जा पाता।

बिना भौतिक सम्पर्क के जो खिंचाव होता है वही हमें भार अथवा भारीपन का ज्ञान कराता है। लैटिन भाषा में 'भारी' के लिए ग्रेविस (gravis) शब्द है। इसलिए एक पिण्ड के दूसरे पिण्ड के प्रति आकर्षण को ग्रेविटी (gravity) कहा गया। और यह ग्रेविटी ही वह केन्द्राभिसारी बल है जिससे समस्त सौर-मण्डल टिका हुआ है और पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर है।

इनसाइज़र, केनाइन, मोलर....

मनुष्य के मुख में 32 दांत होते हैं। ये दांत कई प्रकार के होते हैं। हर प्रकार के दांतों का एक कार्य विशेष होता है। सामने के आठ दांत (चार ऊपर के और चार नीचे के) चौड़े तथा ऊपर से मोटे होते हैं और नीचे की ओर पतले होते जाते हैं। यह पतला सिरा छैनी की तरह धार वाला होता

है । ये आठ दांत 'काटने वाले दांत' अथवा इनसाइजर (incisors) कहलाते हैं । इनसाइजर (incisor) शब्द लैटिन के शब्द सिडेरे (caedere) से बना है जिसका अर्थ 'काटना' होता है। चूहे, गिलहरी तथा ऊदबिलाव आदि के इनसाइजर बहुत पैने होते हैं। ये जन्तु हर समय उन दांतों से कुछ न कुछ कुतरते रहते हैं ।

कुतरने वाले दांतों के पीछे चार शंक्वाकार दांत, ऊपर के तथा निचले जबड़े में एक-एक दांत दोनों ओर होते हैं । ये दांत काटने के नहीं, वरन फाड़ने के काम आते हैं । मांसाहारी जन्तुओं के लिये ये दांत बहुत उपयोगी होते हैं । कुत्ते में ये दांत बड़े तथा प्रखर होते हैं इसीलिए इन को अंग्रेजी में कभी-कभी डॉग टीथ (dog teeth) कहा जाता है। वैसे इन दांतों को विज्ञान की भाषा में कैनाइन (canine) दांत कहा जाता है । इसका अर्थ भी लगभग वही है । लैटिन भाषा में कुत्ते को कैनिस (canis) कहते हैं ।

सबसे पीछे की ओर दोनों जबड़ों में दोनों ओर तीन-तीन (कुल मिलाकर बारह) दांत होते हैं । इन दांतों की सतह समतल नहीं होती और इनके बीच में भोजन को 'पीसा' जाता है अर्थात् भोजन को इन्हीं दांतों से चबाया जाता है । पिसाई का काम क्योंकि चक्की में दो पाटों के बीच होता है इसलिये इन दांतों को मोलर (molar) दांत नाम दे दिया गया । लैटिन में मोला (mola) का अर्थ होता है 'चक्की का पाट' । हिन्दी में मोलर दांतों को चर्वण दांत कहा जाता है । चर्वण दांत तथा केनाइन दांतों के बीच दोनों जबड़ों में र-उधर ो-दो दांत (कुल मिलाकर आ) और होते हैं । इन दांतों में नीचे की ओर दो शंक्वाकार बिन्दु (किनारे) होते हैं । इन दांतों को अग्रचर्वण अथवा प्रीमोलर (premolar) दांत कहा जाता है । क्योंकि ये चर्वण दांत (molar) से पहले होते हैं । लैटिन के उपसर्ग 'प्री' (pre) का अर्थ अग्र अथवा पूर्व होता है ।

दांत को लैटिन भाषा में डेन्स (dens) कहते हैं इसलिए दंत-चिकित्सक को अंग्रेजी में डेंटिस्ट कहा जाता है ।

मैगनेट, मैंगनीज, मैग्नीशियम

आज से हजारों वर्ष पूर्व मनुष्य को एक काले खनिज के कुछ ऐसे टुकड़े मिले जो लोहे को अपनी ओर आकर्षित करते थे । इन टुकड़ों के इस आकर्षण-गुण को देखकर उसे बड़ा अचम्भा हुआ । कहा जाता है कि मिलेटस (एशिया माइनर का एक नगर) के थेल्स ने सर्वप्रथम उस खनिज के आकर्षण गुण का अध्ययन किया । उस खनिज के नमूने उसने एशिया माइनर के एक अन्य नगर मैगनेसिया से प्राप्त किए थे । इसलिए उसने उस खनिज का नाम 'मैगनेस' रख दिया । इसी शब्द से "मैगनेट" शब्द की व्युत्पत्ति हुई और उस खनिज को "मैगनेटाइट" कहा जाने लगा ।

रोमन प्रकृतिविद गेयस प्लिनियम सेकंडस (प्लिनी द ऐल्डर के नाम से प्रसिद्ध) को थेल्स के मैगनेस से एक अन्य खनिज का भ्रम हो गया और उसने उसका नाम भी मैगनेस रख दिया । मध्ययुग में प्लिनी की पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतिलिपियां तैयार की गईं । प्रतिलिपियां तैयार करते समय कुछ प्रतियों में (magnes) मैगनेस की वर्तनी गलती से (manganese) लिख दी गई ।

कुछ वर्ष पश्चात प्लिनी के "मैगनेस" का उपयोग कांच-निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले कच्चे माल में विद्यमान अशुद्धियों के हरे रंग को निकालने के लिए किया जाने लगा । इस लिए उस खनिज (मैगनेस) का नाम पाइरो-ल्यूसाइट रख दिया गया । क्योंकि ग्रीक भाषा में 'पायर' (pyr) का अर्थ 'आग' होता और ल्यूईन (louein) का अर्थ होता है 'धोना' । इन दोनों शब्दों के आधार पर ही मैगनेस को 'पाइरोल्यूसाइट' नाम दिया गया ।

सन् 1774 में स्वीडिश खनिज वैज्ञानिक गॉटलीब ने पाइ ोल्यूसाइट से एक नई धातु बिलगाने में सफलता प्राप्त की । इस धातु का नाम उसने मैंगनीज (manganese) रख दिया । वह धातु आज भी इसी नाम से जानी जाती है ।

प्राचीन काल में मैगनेसिया के क्षेत्र में एक अन्य खनिज भी पाया गया था जो सफेद ंग का था । रोमन लोगों ने इस खनिज का नाम मैगनेसिया अल्बा (magnesia alba) रख दिया । 'अल्बा' का अर्थ सफेद होता है । 'अल्बा' इसलिये इसके नाम से लगाया गया कि काले खनिज 'मैगनेस' से भ्रम न हो जाए । 1831 में फ्रांसीसी रसायनज्ञ एन्ताय ए. बी. बसी ने मैगनेसिया अल्बा से मिलते-जुलते एक रसायन से एक धातु बिलगाई । इसका नाम उसने मैगनीसियम रख दिया ।

नोवा, सुपरनोवा

सन् 1575 में आकाश में एक विलक्षण घटना घटी । काश्यपी तारा मण्डल (कैसिओपिया कान्स्टेलेशन) में एक नया तारा अपूर्व चमक के साथ चमचमाने लगा । यह इतना चमकदार तारा था कि दिन में भी देखा जा सकता था । कुछ दिन बाद तारे की चमक कम होती गई । उस समय तक यह माना जाता था कि आकाश पूर्ण है और समें कोई परिवर्तन कभी नहीं होते । इस दृष्टि से एक नए तारे का प्रकट होना एक विलक्षण घटना ही थी जिसके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना अत्यावश्यक था । इस नए तारे का अध्ययन एक युवा डेनिश वैज्ञानिक टाइको ब्राहे ने किया । एक वर्ष पश्चात उसने इस तारे के संबंध में एक पुस्तक 'डी नोवा स्टैला' प्रकाशित की । उस पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद से ही आकाश में नए प्रकट होने वाले तारे को 'नोवा' (Nova) अर्थात् नवतारा कहा जाने लगा । 'नोवा' शब्द लैटिन के 'नोवस' से बना है जिसका अर्थ 'नया' होता है ।

सन् 1604 में एक अन्य नोवा प्रकट हुआ जिसका अध्ययन ब्राहे के एक शिष्य योहान कैपलर ने किया । उसने भी इस तारे के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी ।

आज यह सर्वविदित है कि 'नवतारे' वास्तव में कोई नए तारे नहीं होते । बल्कि आकाश में पहले से ही विद्यमान क्षीण चमकवाले तारों में विस्फोट का परिणाम ही नवतारे का उदय होना है । हमारी अपनी आकाशगंगा में प्रतिवर्ष लगभग 25 नवतारों का उदय होता है । इनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जिनमें विस्फोट के उपरान्त द्युतिवृद्धि केवल कुछ

(शेषांश पृष्ठ 38 पर)

कीड़ों की यौन गंध

आर. पी. श्रीवास्तव
और
अनूपकुमार भट्टाचार्य

कीड़े बहुत प्राचीन जीव हैं। विकास के क्रम में वे मनुष्य से बहुत पहले पृथ्वी पर अवतरित हो चुके थे। आदिम कीड़ा आज से 50 करोड़ वर्ष पहले ही पृथ्वी पर पदार्पण कर चुका था। कालान्तर में उसके शरीर में उत्परिवर्तन हुये जिसके फलस्वरूप कीड़ों की नयी जातियां और प्रजातियां विकसित, हुईं। पर प्रकृति के अलिखित, अटूट नियमों के अनुसार प्राकृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुये और फलस्वरूप कीड़ों की अनेक जातियां समूल नष्ट हो गईं। फिर भी अधिकांश जातियो के कीड़ों ने अपने आपको बदलती परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया और आज भी पृथ्वी पर ऐसी कोई जगह नहीं जहां कीड़े नहीं पाये जाते। इन रीढ़-हीन, बाहरी ढांचे वाले और 6 पैरों वाले जन्तुओं की पृथ्वी पर 9,00,000 से भी अधिक अलग-अलग जातियां फल-फूल रही हैं।

प्रकृति ने यदि जीवों को नष्ट करने के लिये नियम बनाये हैं तो उनका वंश बढ़ाने के लिये भी व्यवस्था की है। वंश बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय है नर और मादा में परस्पर यौन आकर्षण। कीड़ा समय विशेष पर अपने साथी (नर अथवा मादा) की ओर आकर्षित होता है। परिस्थितियां अनुकूल होने पर उनमें यौन संबंध होता है और फलस्वरूप वंश वृद्धि हेतु नये जीव का जन्म।

विपरीत लिंग के अपने साथी को आकर्षित करने के लिये अलग-अलग किस्म के प्राणियों के अलग-अलग तरीके हैं। मादा को लुभाने के लिये मोर नाचता है तो शुतर्मुग उछल-कूद मचाता है। स्टिलबैक नर घोंसले बनाकर मादाओं को रिझा-रिझा कर लाता है तो कबूतर कबूतरी को फुसलाता है। पर जोड़ा बनाने के लिये कुछ कीड़ों का अपने साथी को बुलाने का तरीका कदाचित सबसे अलग है। वे अपने शरीर में से एक विशेष प्रकार की गंध निकालते हैं। नर के शरीर में से निकलने वाली गंध मादा को अपनी ओर आकर्षित करती है और मादा की यौन गंध नर को। तितली कुल (**लेपिडोप्टेरा**), चींटी कुल (**हाईमेनोप्टेरा**), घुन कुल (**कोलिओप्टेरा**), मक्खी कुल (**डिप्टेरा**), टिड्डीकुल आदि कुलों के कीड़े जोड़ा बनाने के लिये अपने साथियों को गंध उत्पन्न करके ही आकर्षित करते हैं।

यौन गंध उत्पन्न करने का कार्य नर और मादा दोनों के जिम्मे आ सकता है। वैसे इस कार्य में मादायें नर से आगे रहती हैं। दूसरे शब्दों में यौन गंध उत्पन्न करने वाले अधिकांश कीड़ों में मादायें ही गंध उत्पन्न करती हैं। आमतौर पर एक जाति के कीड़ों द्वारा उत्पन्न गंध उसी जाति के विपरीत लिंग वाले कीड़ों को आकर्षित करती है। पर इसके अपवाद स्वरूप अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जिप्सी मोथ की मादा द्वारा उत्पन्न गंध अपनी जाति के नर को तो आकर्षित करती ही है लेकिन मोथ के नर को भी आकर्षित कर लेती है। इसी प्रकार तम्बाकू के पौधों पर रहने वाले शलभ की मादा यौन गंध उत्पन्न करके बुलाना तो अपने नर को चाहती है पर **इफेस्टिया कुहनिएला** (इंडियन मील मोथ) के नर भी लट्टू होकर उसके पास आ जाते हैं। समझा जाता है कि अन्य जातियों के कीड़ों को आकर्षित होने का मुख्य कारण यौन गंध से प्रभावित होने वाले अंगों की उपस्थिति है। हो सकता है कि विभिन्न जातियों के कीड़ों के परस्पर आकर्षित होने का कारण उनके यौन गंध की रासायनिक संरचना की समानता हो।

कहते हैं प्रेमिका की सच्ची पुकार प्रेमी को सैकड़ों मील दूर से बुला लेती है। मनुष्य की तुलना में कीड़े बहुत छोटे और सरल जीव हैं इसलिये मादा कीड़ा अपने नर को सैकड़ों मील की दूरी से तो नहीं बुला सकती। हां, सैकड़ों फुट की दूरी से जरूर बुला लेती है। प्रसिद्ध कीटशास्त्री मेयर ने अपने प्रयोगों में एक बार प्रोमेथिआ मोथ की पांच मादाओं को एक बेलजार में रखकर उसे कपड़े से ढंक दिया। मादायें अपने साथियों के लिये बेचैन थी। उन्होंने अपनी यौन गंध भेजी और 200 फुट दूरी पर बैठे नर को अपने पास बुला लिया।

लेसर पीच बोरर (**सिनेनथेडोन पिक्टिपेस**) का नर मादा की गंध पाकर 500 फुट से खिंचा चला आता है। पर कुछ कीड़े बहुत आशिक मिजाज होते हैं। वे तो मीलों से खिंचे चले आते हैं। सोमिया सिन्थया का नर मादा की गंध पाकर डेढ़ मील दूर से भागा चला आता है और जिप्सी मोथ का बांका नर तो 2 मील दूर से ही अपनी मादा की गंध पा जाता है।

कौन किस समय बुलाता है

अंगूर की बेलों को नुकसान पहुंचाने वाले **लोबेसिया बोट्रेना** संध्या के समय गंध उत्पन्न कर अपने साथी को बुलाते हैं तो **बल इलीएना एम्बिगुएला** दोपहर के समय 2 से 6 बजे तक गंध पैदा करते हैं। **पारगेनोथिस पिलेरिआना** की मादा अपने नर साथी को बुलाने के लिये दोपहर 11 बजे से सायं 4 बजे तक गंध उत्पन्न करती है। कभी-कभी मादायें नर के लिये कई दिनों तक लगातार तड़पती रहती हैं और उसे बुलाने के लिये यौन गंध के रूप में संकेत भेजती रहती हैं। ककड़ी की बेलों को हानि पहुंचाने वाले कीड़े कुम्बर बीटल की मादा वयस्क होने के बाद जब एक बार यौन गंध का उत्पादन करती है तो लगातार 10 दिन तक किये ही जाती है। रानी मधुमक्खी 5-7 दिन तक लगातार नर मक्खी की कामना में गंध छोड़ती रहती है। आमतौर पर कीड़े जोड़ा बना लेने के बाद यौन गंध का उत्पादन बन्द कर देते हैं पर कुछ कीड़ों में उसके बाद भी गंध उत्पन्न होती रहती है।

गंध उत्पन्न करने वाले अंग

निश्चय ही सब जातियों के कीड़ों में यौन गंध उत्पन्न करने वाली ग्रंथियां शरीर में एक ही स्थान पर स्थित नहीं होती। तितली कुल के कीड़ों में गंध उत्पन्न करने वाली ग्रंथि उदर के पिछले भाग में स्थित होती है। बिच्छू मक्खी (स्कोर्पियन फ्लाई) में कई ग्रंथियां गंध उत्पन्न करती हैं। वे भूरे अथवा लाल रंग की होती हैं और उदर के छठे-सातवें अथवा सातवें-आठवें खंडों में होती हैं। लकड़ी के लट्ठों में छेद करने वाले कीड़े स्कोटिलिड बीटल के नर में गंध का उत्पादन भोजन नली के पिछले भाग की भीतरी सतह से होता है। और वह मलमूत्र के साथ बाहर आ जाती है।

तिलचट्टा की कुछ जातियों में तीन प्रकार की गंध ग्रंथियां पायी जाती हैं। ये शरीर के अगले, मध्य तथा पिछले भागों में स्थित होती हैं। गंध उत्पन्न करने के लिये ये ग्रंथियां बाहर आ जाती हैं। उनमें संकोचन और विमोचन होता है।

रासायनिक संरचना

जब से वैज्ञानिकों को यौन गंध के बारे में ज्ञात हुआ है उसी समय से वे विभिन्न कीड़ों द्वारा उत्पन्न गंधों की रासायनिक संरचना ज्ञात करने के लिये उत्सुक थे। उन्होंने इसके लिये अनवरत प्रयत्न किये। इस संबंध में सबसे बड़ी और प्रथम कठिनाई थी पर्याप्त मात्रा में गंध पदार्थ का एकत्रण क्योंकि कीड़ों में यह पदार्थ बहुत कम मात्रा में मौजूद होता है। वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद बुटेनेन्ट और उनके सहयोगियों ने रेशम के कीड़े (**बाम्बेक्सी मोरी**) की 5,00,000 मादाओं की गंध उत्पादक ग्रंथियों से 12 मिलीग्राम शुद्ध यौन गंध पदार्थ निकाला। इस गंध पदार्थ का नाम उन्होंने बोम्बिकोल रखा। उन्होंने पाया इस गंध के एक मिलीग्राम के एक सौ खरबवां भाग मिल जाने पर भी नर मादा के पास खिंचा चला आता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग के दो वैज्ञानिक जेकबसन और बेरोजा ने 5,00,000 मादा जिप्सी मोथों से 20 मिलीग्राम यौन गंध पदार्थ प्राप्त किया। यह पदार्थ तेल जैसा द्रव है और इसकी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा (एक मिलीग्राम के 2 सौ खरबवें भाग जैसी कम) ही नर को 'दीवाना' बना देने के लिये काफी है। क्योंकि इसे उन्होंने जिप्सी मोथ से प्राप्त किया था इसलिये इसका नाम गिप्ल्योर रखा।

दस हजार मादा तिलचट्टों को नौ महीने तक लगातार भाप से निसारित करने के बाद वैज्ञानिक यामामोतो ने उनका यौनगंध पदार्थ प्राप्त किया। यह पीले रंग का मीठी गंध वाला द्रव है।

कीड़ों के यौन गंध की रासायनिक संरचना

कीड़ा	गंध का व्यावसायिक नाम	रासायनिक संरचना
रेशम का कीड़ा	बोम्बिकोल	10,12 हैक्साडेकाडिअन 1–ओल
जिप्सी मॉथ	गिप्ल्योर	1 हैक्सल-12-हाइड्राक्सी-3 डोडेसिनाइल एसीटेट
मधुमक्खी	—	9 आक्सो-ट्रांस 2-डेसेनोइक ऐसिड
अमेरिकन काक्रोच	—	2,2 डा मिथाइल-3 आइसो प्रोपाइलिडीन साइक्लो प्रोपाइल प्रोपिओनेट
मैड फ्लाई	सिग्ल्योर	2,3 सैकंडरी ब्यूटाइल-4 क्लोरो-2 मिथाइल साइक्लो हैक्सेन कार्बोक्सिलट
मैड फ्लाई	ट्राइमेडल्योर	2,3, टरशरी ब्यूटाइल
ओरियन्टल फ्रूट फ्लाई	मिथाइल यूजीनाल	4 एलिल, 1,2 डाइ-मिथाक्सीबैंजीन

कीट नियंत्रण में सहायक

अब प्रश्न उठ सकता है कि क्या कीड़ों की यौनगंध के अध्ययन का कोई व्यावहारिक पहलू भी हो सकता है? वैज्ञानिक पहले-पहल किसी वस्तु के अध्ययन उसे एक स्थान पर प्रयुक्त करने के उद्देश्य से नहीं करते। वे तो अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत करने के लिये ऐसा करते हैं। परन्तु कालान्तर में उनके सैद्धांतिक अनुसंधान व्यावहारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ऐसा ही यौनगंध पदार्थ के अध्ययन के बारे में कहा जा सकता है।

कीड़ों की यौन गंध उनकी रोकथाम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु सिद्ध हो सकती है। इन गंध पदार्थों को प्रयोगशालाओं में संश्लेषित करके उनकी मदद से जाति विशेष के कीड़ों को एक इच्छित स्थान पर 'बुलाया' जा सकता है और काफी संख्या में इकट्ठे हो जाने पर उन्हें नष्ट किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में संसार की अनेक प्रयोगशालाओं में अध्ययन हो रहे हैं और जर्मनी के मैक्स प्लांक इंस्टीट्यूट आफ बायोकैमिस्ट्री में बोम्बिकोल संश्लेषित भी किया जा चुका है।

'फाऊन्टेन पेन'

(शेषांश पृष्ठ 30 का)

गया तो कुछ दिनों के बाद रबर की नली सड़ जाती है। इससे पेन खराब हो जाते हैं तथा लीवर में भी जंग लग जाता है। कुछ ऐसे भी पेन चले जिनके पीछे पम्प फिट करके उसे स्प्रिंग द्वारा चलाकर स्याही भरते हैं। लेकिन यह तरीका बहुत कामयाब नहीं हुआ क्योंकि पम्प ढीला हो जाने पर स्याही भरना कठिन हो जाता है। अब आजकल निब के हिस्से को कड़ा बनाकर पेन की नली में ही स्याही भरते हैं और उसे इस तरह बनाते हैं कि स्याही बाहर न आए।

अब 'बॉल' पेन भी खूब चलते हैं। इनमें काफी गाढ़ी स्याही भरी जाती है और इनकी निब की नोक गोल होती है। ये सस्ते भी होते हैं और इनसे स्याही गिरने का भी भय नहीं होता। यही कारण है कि ये काफी लोकप्रिय हो गए हैं।

•

वैज्ञानिक शब्द

(शेषांश पृष्ठ 35 का)

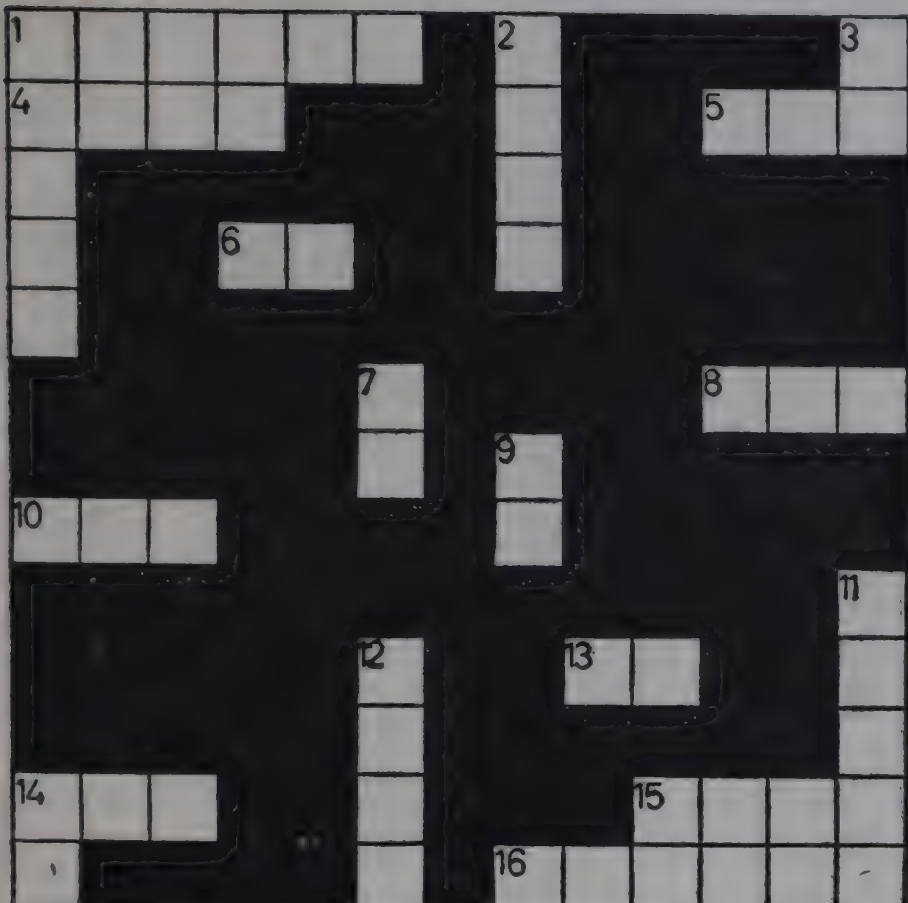
सौ गुनी होती है और फिर अदृश्य होने लगते हैं। कुछ ऐसे नवतारे भी देखने में आए है जिनमें विस्फोट के बाद कई करोड़ गुनी द्युति हो गई और वे सम्पूर्ण आकाशगंगा में सर्वाधिक चमकदार दिखाई दिए। इस प्रकार का नवतारा (नोवा) सुपरनोवा अर्थात अधिनवतारा कहलाता है।

अभी तक केवल तीन अधिनवतारे (सुपरनोवा) हमारी आकाशगंगा में देखे गए हैं। इनमें सबसे पहला अधिनवतारा 1054 में चीनी तथा जापानी वैज्ञानिकों द्वारा देखा गया था और शेष दो क्रमशः 1572 में ब्राहे द्वारा, 1604 में कैपलर द्वारा देखे गए। 1054 में जो अधिनवतारा देखा गया उसके विस्फोट के धुंधले से अवशेष आज भी कैब नीहारिका के रूप में हमें दिखाई देते हैं।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक-6

सुरेन्द्र एस. वर्मा



बायें से दायें

1. वायु-वेग मापनेवाले यन्त्र का अंग्रेजी नाम ।
4. सर्वप्रथम सीमेन्ट निर्माण की पद्धति की खोज करनेवाला वैज्ञानिक।
5. वंशानुक्रमता के नियमों का सर्वप्रथम पता लगाने वाला वैज्ञानिक।
6. ई. पू. के इस ग्रीक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम भाप से कार्य लिया ।
8. इस ग्रह की खोज 23 सितम्बर, 1846 को जर्मन नक्षत्रविद् जान गैले ने की थी ।
10. उष्मा मापने की इकाई ।
13. सुप्रसिद्ध भारतीय परमाणु वैज्ञानिक तथा भारत में परमाणु ऊर्जा का प्रणेता ।
14. एक प्रकाश क्वांटम
15. सबसे चमकदार तारा ।
16. उन्नीसवीं शताब्दी के इस अंग्रेज रासायनिज्ञ ने ही सर्वप्रथम परमाणु के बारे में अस्पष्ट दार्शनिक कल्पनाओं को एक स्पष्ट वैज्ञानिक सिद्धांत का रूप दिया था ।

ऊपर से नीचे

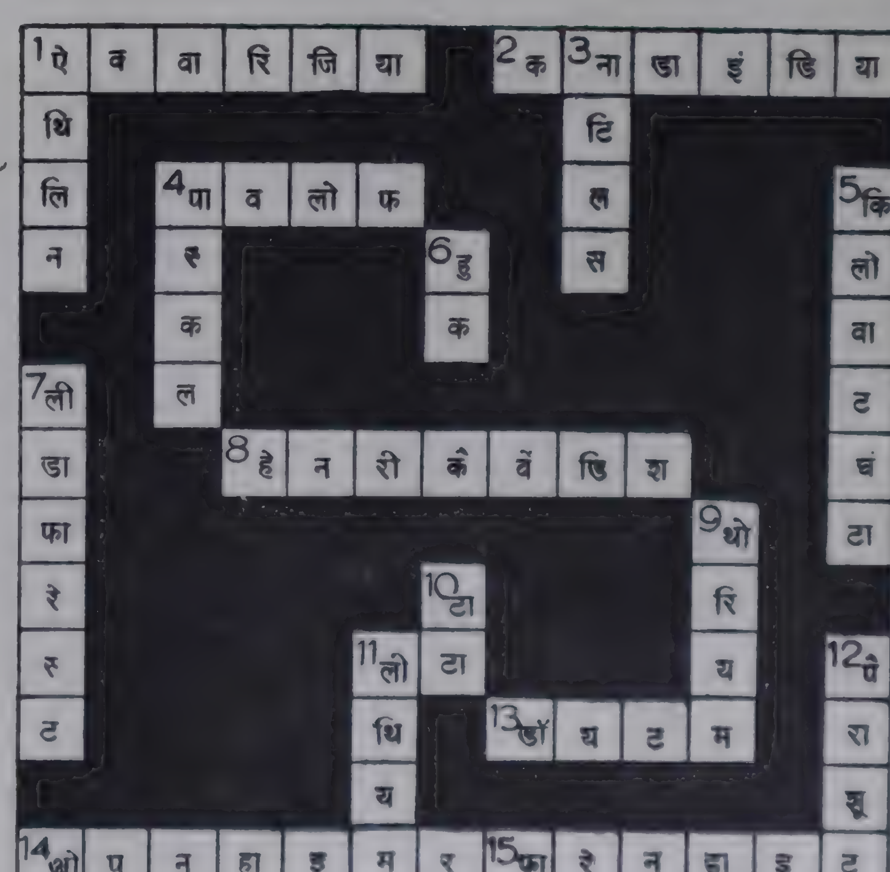
1. सीमेन्ट को 'पोर्टलैण्ड सीमेन्ट' नाम देने वाला व्यक्ति ।
2. पदार्थ का वह छोटे से छोटा कण जो रासायनिक क्रिया में भाग ले सकता है ।
3. कार्य और ऊष्मा में संबंध ज्ञात करने के लिये पहला प्रयोग इस वैज्ञानिक ने किया था ।
7. 'जल का घनत्व 4° सेंटीग्रेड पर सबसे अधिक होता है ।' यह सिद्ध करने के लिये इस वैज्ञानिक का प्रयोग सुप्रसिद्ध है ।
9. एक अंतरिक्ष यात्री अंतरिक्ष यान में हथौड़े से अखरोट तोड़ना चाहता है । क्या वह ऐसा कर सकता है ?
11. रेलवे इंजन का आविष्कारक ।
12. सर्वप्रथम परमाणु बम का विस्फोट इस देश में हुआ था ।
14. प्रकाश की गति ज्ञात करने के लिए इस फ्रांसीसी वैज्ञानिक द्वारा किया गया प्रयोग प्रसिद्ध है ।

निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा । अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जा ेगी । आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा ।

• • •

विज्ञान वर्ग पहेली 5 का हल



sैटर्न-5 राकेट जिसकी सहायता से अपोलो-8 को अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया गया था ।



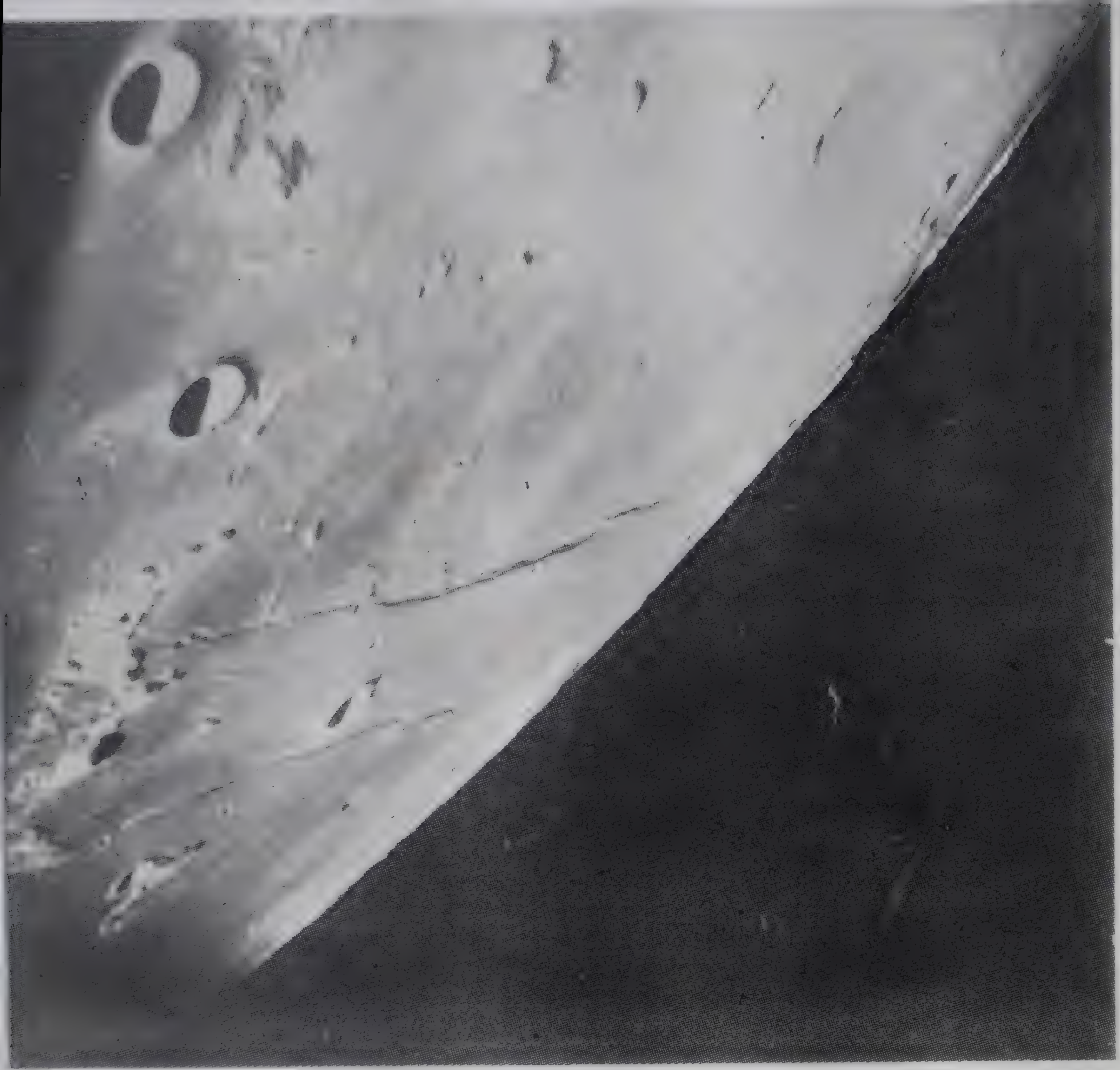
कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए यूनाइटेड इंडिया प्रैस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित

Regd. No. D-464

फाल्गुन 1890 फरवरी 1969

विज्ञान प्रगति





(बायें) अपोलो-8 द्वारा लिया गया चन्द्रमा के 'शांति सागर' का चित्र ।

(नीचे) वापिसी उड़ान के दौरान अपोलो-8 द्वारा लिया गया पृथ्वी का एक चित्र ।

तीसरे आवरण पृष्ठ के चित्रों के शीर्षक

(ऊपर) चन्द्रमा की प्रथम परिक्रमा के दौरान अपोलो-8 द्वारा लिया गया पृथ्वी का एक चित्र।

(नीचे) चन्द्रमा के गोक्लेनियस ज्वालामुखी का चित्र ।



'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक ग्रौर ग्रौद्योगिक ग्रनुसंधान परिषद की भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, ग्रौर राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण ग्रौर प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। विज्ञान प्रगति का शुल्क तथा परिषद के ग्रन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाग्रों के प्रकाशन मंगान क लिये ग्रग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी ग्रार्डर या डिमांड ड्राफट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक ग्रौर ग्रौद्योगिक ग्रनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख ग्रवश्य कर।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. ग्राई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही ग्रगले वर्ष क लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय ग्रपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख ग्रवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. ग्राई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या ....है। मैं..................रु. का चेक/पोस्टल/मनी ग्रार्डर

संख्या..................................दिनांक.........................भेज रहा हूं।

पूरा नाम ....

पता..

डाकघर ....जिला ....राज्य............

हस्ताक्षर ....

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलबीर वर्मा

मुख-चित्र परिचय

भविष्य का अंतरिक्ष स्टेशन
(चित्र – संयुक्त राज्य सूचना सेवा के सौजन्य से)

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 फाल्गुन 1890 फरवरी 1969 अंक 2 पूर्णांक 197

विषय सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

एक राष्ट्र :
एक कौम

एक देश के रहने वालों में, एक झण्डे और उसके प्रति निष्ठा की शपथ लेने वालों में समानता की डोर इतनी मजबूत होती है कि जो लोग भारत को एक राष्ट्र मानते हैं, उनके सामने बहुमत और अल्पमत का सवाल ही पैदा नहीं होता। सभी को समान अवसर प्राप्त हैं। सभी बराबर हैं....हमारा देश धर्म-निरपेक्ष और लोकतंत्रीय राष्ट्र होगा, जिसमें सभी लोगों के बीच पूर्ण एकता और प्रेम की भावना होगी....



महात्मा गांधी



विज्ञान और मानव संस्कृति में ज्योतिष

एस. चन्द्रशेखर

डा. एस. चन्द्रशेखर, एफ. ग्रार. एस. जगत् प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषविद् हैं, जिन्होंने अब संयुक्त राज्य अमेरिका की नागरिकता स्वीकार कर ली है। आजकल आप शिकागो विश्वविद्यालय में तारा भौतिकी के विशिष्ट सेवा प्राध्यापक (डिस्टिंगुइश्ड सर्विस प्रोफेसर) हैं। द्वितीय नेहरू स्मृति भाषण देने के लिये आप को विशेष रूप से भारत आमंत्रित किया गया था। गत 13 नवम्बर को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में आपने भाषण दिया। प्रस्तुत लेख उसी भाषण का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर है। (रूपान्तरण – रत्नाम्बर जोशी)

—सम्पादक

मेरे हृदय में आधुनिक भारत के महान पुत्र, श्री जवाहरलाल नेहरू, के लिये जो आदर और सम्मान है, उसे मेरे लिये शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक स्थान पर लिखा है, "भारतीयता की जड़ें अतीत में बहुत गहरी हैं, भविष्य उसे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है तो अतीत उसे सम्भल कर कार्य करने को कहता है।"

मैंने इस भाषण के लिये **'विज्ञान और मानव संस्कृति में ज्योतिष'** विषय चुना है। यह विषय, मुझे आशंका है, इतना विशाल है कि उस के बारे में इस अवसर पर मैं केवल कुछ अटपटे विचार ही प्रस्तुत कर पाऊंगा।

क्रम-बद्ध अभिलेख

ज्योतिष के बारे में एक बात निश्चित है कि वह ही विज्ञान की ऐसी शाखा है जिसका हमें प्राचीन काल से लेकर अबतक क्रम-बद्ध अभिलेख मिलता है। आज हमें ज्ञात है कि चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में, यूनानी ज्योतिष के अभ्युदय से केवल एक दो शताब्दी पूर्व ही, बेबीलोनिया में ज्योतिषशास्त्र ने वैज्ञानिक आधार प्राप्त कर लिया था। पर हेलेनकी ज्योतिष के विकास की कहानी बहुत सीमा तक अज्ञात है जबकि इसका अभ्युदय उससे भी प्राचीन काल में हुआ था और सन् 140 ईसवी में टॉलेमी के निर्देशन में विकास के चरम स्तर तक पहुंच चुका था। उसके लगभग तीन शताब्दी बाद भारतीय ज्योतिष का अभ्युदय हुआ। इस पर यूनानी ज्योतिष की गहरी छाप स्पष्ट है। यहां यह प्रश्न उठता है कि यह ज्ञान यूनान से भारत किस प्रकार पहुंचा। इस प्रश्न का उत्तर देना उस समय विशेष रूप से कठिन हो जाता है जब हम फारसी विद्वानों के माध्यम से इस के ज्ञान के प्रसार की कल्पना करते हैं। इस के कुछ शताब्दी बाद, नौवीं शताब्दी में, हम इस्लामी ज्योतिष को हिन्दू और हेलेनकी ज्योतिष से प्रभावित पाते हैं। जब कि मिश्र से फारस तक, मुस्लिम दुनिया के पूर्वी भाग में यूनानी ज्योतिष ने शीघ्र ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, पश्चिम यूरोप में हिन्दू ज्योतिष का प्रभाव पन्द्रहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा।



स्वतंत्र विकास

हमें बेबीलोनियन ज्योतिष के आरम्भिक काल के बारे में बहुत कम ज्ञान है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा और नक्षत्रों की गति आदि से संबंधित सिद्धान्त वहां पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले विकसित नहीं हुआ था। यह आम धारणा है कि बेबीलोनियन ज्योतिष का विकास यूनानी ज्योतिष से स्वतन्त्र रूप में हुआ।

बेबीलोनियन और यूनानी ज्योतिष में मुख्य अन्तर यह है कि बेबीलोनियन ज्योतिष सिर्फ अंकगणित पर आधारित है और इसमें नक्षत्रों की गति से संबंधित ज्यामितीय आकार (मॉडल) नहीं हैं, जब कि यूनानी ज्योतिष का आधार ज्यामिति है। इन के अन्तर से हम यह आसानी से जान सकते हैं कि उनमें से प्रत्येक का हिन्दू ज्योतिष पर क्या प्रभाव पड़ा।

मॉडल का सर्वप्रथम प्रयोग

यूनानी ज्योतिष में नक्षत्रों की गति दर्शाने के लिये यूडोक्स ने चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में सर्वप्रथम एक मॉडल 'यूडोक्सुअस' का निर्माण किया था। बहुत सी कमियां होते हुए भी इस मॉडल ने नक्षत्रों के गति संबंधी सिद्धान्तों के विकास में बहुत सहायता दी। टालेमी की पुस्तक 'एलमागेस्ट' में हेलेनकी ज्योतिष के चरम विकास की झांकी मिलती है। यह पुस्तक ज्योतिष शास्त्र की सर्वोत्तम पुस्तक है और केपलर द्वारा

आधुनिक ज्योतिष के प्रारम्भ किये जाने से पूर्व यह पुस्तक ही सर्वोत्तम थी।

ज्योतिष यूनान से भारत किस प्रकार पहुंचा इस समस्या के हल में **चान्द्र सिद्धान्त** में टालेमी द्वारा किये गये संशोधन विशेष महत्वपूर्ण हैं। **सूर्य सिद्धान्त**, जो हिन्दू ज्योतिष की महत्वपूर्ण पुस्तक है, के मूलतः यूनानी उद्गम पर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। इस की पुष्टि उस में वर्णित शब्दावली में प्रयुक्त इकाइयों और संगणना विधि से होती है। परन्तु उत्तर भारत में ज्योतिष टालेमी के **चान्द्र सिद्धान्त** में सुधार सेलगभग अछूता सा ही रहा जो एक विशेष घटना है। हिन्दू ज्योतिष के अध्ययन से ई. पू. 150 से 150 ई. तक के 300 वर्ष के समय की यनानी ज्योतिष के विकास की काफी अच्छी सूचना प्राप्त की जा सकती है।

वराहमिहिर की **पंच सिद्धांतिका** के अनुसार प्रारम्भिक हिन्दू ज्योतिष में हम ज्योतिष अध्ययन की दो भिन्न विधियों में स्पष्ट भेद देख सकते हैं। पहली विधि त्रिकोणमितीय है जो सूर्य सिद्धान्त पर आधारित है और दूसरी बेबीलोनिया ज्योतिष की तरह गणितीय विधि है, जो कि दक्षिण में प्रचलित है। बेबीलोनिया का प्रभाव कुछ वर्ष पूर्व ही दृष्टिगत हुआ और 17वीं और 18वीं शती में तमिल में प्रचलित विधियों पर उसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

मूलतः भारतीय

यह कह देने मात्र से कि हिन्दू ज्योतिष पर पश्चिम का प्रभाव पड़ा है, यह नहीं समझना चाहिए कि हिन्दू ज्योतिष का कोई मूल उद्गम नहीं है अथवा उस का स्वतन्त्र विकास ही नहीं आ। भारत में एक ही समय में प्रचलित दो भिन्न ज्योतिष पद्धतियों के बारे में कुछ दिलचस्प उदाहरण भी मैं रखूंगा।

सन 1825 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्नल जॉन वारेन ने **'कला संकलित'** नामक एक 500 पृष्ठ की पुस्तक लिखी, जिसमें उसने दक्षिण भारत में समय विभाजन की विभिन्न प्रचलित विधियों का वर्णन किया। इस पुस्तक में वारेन ने लिखा है कि वह किस प्रकार पांडिचेरी में एक कलेंडर बनाने वाले से मिला जिसने उसे शंखों की सहायता तथा स्मृति पर आधारित शब्दों और वाक्यांशों की सहायता से चन्द्र ग्रहण की गणना करके दिखायी थी। वारेन ने लिखा है, 'यद्यपि उस व्यक्ति को हिन्दू ज्योतिष का बिल्कुल भी ज्ञान न था तो भी वह स्मृति के आधार पर गणना कर सकने में समर्थ था। उस व्यक्ति ने मई 31-1 जून, 1825 के चन्द्रग्रहण की काफी सही भविष्यवाणी की थी।'

इसमें हमारे लिये भविष्यवाणी की सत्यता उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितना यह तथ्य कि ज्योतिष की उस पद्धति का, जो ईसा की तीसरी शताब्दी में रोमन साम्राज्य में और छठी शताब्दी में, वराहमिहिर के समय प्रचलित थी, 1825 में भी उपयोग किया जाता था। पश्चिमी देशों में हिन्दू ज्योतिष के प्रभाव का एक और दृष्टान्त मिलता है, जो मध्ययुग में हेलेनिक प्रभाव से मुक्त थे। हाल ही में एक लैटिन पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें सूर्यसिद्धान्त में वर्णित विधियों का उल्लेख किया गया है।

सूर्य सिद्धान्त

सूर्य सिद्धान्त में तो यूनानी प्रभाव मिलता है परन्तु बेबीलोनियन ज्योतिष का प्रभाव वैदिक काल के अन्त और सूर्य सिद्धान्त से पूर्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप तत्कालीन ज्योतिष के अनुसार 18 मुहूर्त का सब से बड़ा दिन और 12 मुहूर्त का सबसे छोटा दिन माना गया। भारत में 2:3 के इस अनुपात की बहुत ही कम सम्भावना है। लेकिन मेसोपोटामिया के लिये यह उपयुक्त बैठता है और बेबीलोनिया की पुस्तकों में इस का वर्णन मिलने से इसका उद्गम उस देश में प्रमाणित साबित होता है। इस के अतिरिक्त बेबीलोनियन और भारतीय ज्योतिष में और भी अनेक साम्यतायें स्थापित हो चुकी हैं। इस प्रकार हिन्दू ज्योतिष की समय मापने की पद्धति की सब से महत्वपूर्ण अंक-तिथि का आभास बेबीलोनिया के **चान्द्र सिद्धान्त** में मिलता है।

प्राचीन काल में भारत और पश्चिमी देशों के बौद्धिक सम्पर्क का मूल्यांकन करते समय इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखना चाहिये। यह भी निश्चित है कि विदेशी सम्पर्क की यह समस्या ही एकमात्र अथवा मुख्य घटना नहीं है। भारतीय संस्कृति में आर्यों के इतिहास, भाषा और साहित्य के साथ दक्षिण की तत्कालीन द्रविड़ सभ्यता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। न्यूगेबार के अनुसार तमिल और संस्कृत स्रोतों के मेल से हमें भारतीय ज्योतिष के अध्ययन में अधिक सहायता मिलती है। सूर्य सिद्धान्त स्पष्टतः टॉलेमी-पूर्व यूनानी विधियों पर आधारित है जब कि तमिल विधि मूलतः गणित पर आधारित है और बेबीलोनियन ज्योतिष से प्रभावित है। इसका यह अर्थ नहीं कि तमिल विधि सीधी मेसोपोटामिया से प्राप्त हुई जब कि उत्तर भारत में प्रचलित ज्यामितीय विधियां यूनान और ईरान होकर आईं।

प्राचीन हिन्दू ज्योतिष के पूर्ण ज्ञान का सही मूल्यांकन होना अभी आवश्यक है। यह समस्या भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतभेदों और मूल अभिलेखों के अभाव के कारण बहुत जटिल हो गई है। अब हिन्दू ज्योतिष इतिहासकारों का यह प्रमुख ध्येय होना चाहिये कि नक्षत्र और चन्द्र ग्रहों की गणना आदि संबंधी इतिहास की पुस्तकों को ढूंढने की कोशिश करें, क्योंकि यह निश्चित है कि इतने विकसित ज्योतिष का कोई न कोई मूल स्रोत अवश्य होगा। इस सामग्री का प्रकाश में आना ज्योतिष के विकास के लिये आवश्यक है।

न्यूटन और गैलीलियो

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि विधियों की भिन्नता होते हुए भी प्रत्येक सभ्य देश में मानव का एक मात्र ध्येय अपने वातावरण

का अध्ययन रहा है। प्रकृति के कुछ अद्भुत नियम सर्वत्र और सर्वदा एक से हैं। न्यूटन भी गिरते सेब को देखकर इसी सिद्धान्त से आकृष्ट हुआ था। उस समय गैलीलियो ने वस्तु की गति के नियम का प्रतिपादन कर लिया था। उस के इन नियमों के आधार गिरती हुई वस्तुएं तथा पेन्डुलम आदि थे। उसने अपने दूरदर्शी द्वारा बृहस्पति के उपग्रहों की गति देख कर कॉपरनिकस के सिद्धान्त की पुष्टि की थी, लेकिन गैलीलियो और उसके सहयोगियों को यह अनुमान नहीं हो सका था कि यह मूल नियम पृथ्वी से फेंके गये पत्थर अथवा सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने वाले नक्षत्रों पर एक ही समान लागू हो सकेगा अथवा नहीं इसीलिये गिरते सेब को देख इस ओर सर्वप्रथम न्यूटन का ही विचार प्रवाह हुआ।

पृथ्वी पर सभी वस्तुएं उसके केन्द्र की ओर आकर्षित होती हैं। यह प्रवृत्ति कितनी दूर तक प्रभावशाली है? क्या यह परिस्थिति चन्द्रमा तक उपस्थिति है? गलीलियो ने साबित कर दिया था कि किसी वस्तु की स्थिर-अवस्था और उस के समान गति से बढ़ते रहने की अवस्था में कोई भेद नहीं है। इस में परिवर्तन लाने के लिये बल की आवश्यकता होती है। यदि चांद पर किसी प्रकार का आकर्षण न रहे तो वह अपनी कक्षा को छोड़ कर उससे स्पर्श रेखा बनाकर चलने लगेगा।

न्यूटन का विचार

न्यूटन ने सोचा यदि चन्द्रमा की गति पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण ही है तो यह आकर्षण चांद को स्पर्श रेखा से खींच कर कक्षा में लाने का कार्य करता है। क्योंकि न्यूटन को स्पर्शरेखा और कक्षा की दूरी तथा समय का पता था इसीलिये वह बता सका कि चांद स्पर्श रेखा से 1 सेकंड में कितनी दूर 'खींचा' जाता है। इस गति की वस्तुओं के गिरने की गति से तुलना करने पर न्यूटन ने देखा कि दोनों का अनुपात 1:3600 है, क्योंकि चन्द्रमा पृथ्वी की सतह से उस के केन्द्र तक की दूरी की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से 60 गुना दूर है। न्यूटन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति दूरी के वर्ग के अनुपात से घटती जाती है। तब प्रश्न उठा कि क्या पृथ्वी की ही तरह की गुरुत्वाकर्षण शक्ति सूर्य में भी विद्यमान है? न्यूटन ने सोचा कि यदि सूर्य में गुरुत्वाकर्षण शक्ति मानी जाये तो केपलर का नक्षत्रों की गति संबंधी नियम स्पष्ट हो जाता है। इसी आधार पर न्यूटन ने अपना प्रसिद्ध नियम प्रतिपादित किया :

'ब्रह्माण्ड में प्रत्येक कण दूसरे कण को अपनी ओर आकर्षित करता है। यह गुरुत्वाकर्षण बल दोनों कणों की मात्राओं के गुणनफल का समानुपाती और उन दोनों के बीच की दूरी के वर्ग का व्यतक्रमानुपाती होता है।'

विचारों में क्रान्ति

अठारहवीं शती में अनेक वैज्ञानिकों ने नक्षत्रों की गति ज्ञात करने के संदर्भ में न्यूटन के नियमों का अध्ययन किया और इस विषय में संदेह प्रकट किया कि न्यूटन के सिद्धान्त उन नक्षत्रों पर लागू हैं जो सौर परिवार में नहीं है। सन् 1803 में विलियम हर्शेल ने निकटस्थ नक्षत्रों के एक जोड़े (क्लोज पेयर) के अध्ययन से यह सिद्ध कर दिया कि नक्षत्रों की कक्षायें दीर्घवृतीय हैं और इस प्रकार केपलर के नक्षत्रों की गति ने दूसरे नियम की भी पुष्टि की। इससे न्यूटन के दूरस्थ नक्षत्रों के बारे में गुरुत्वाकर्षण नियम की भी पुष्टि हुई और वैज्ञानिक विचारणा में पहली बार क्रान्ति आई।

आधुनिक ज्योतिष

अब मैं पिछली शताब्दी के मध्य में ज्योतिष के संदर्भ में हुये क्रान्तिकारी परिवर्तनों पर कुछ विचार प्रकट करूंगा।

अठारहवीं शताब्दी में विशप बर्कले तथा अन्य दार्शनिकों का विचार था कि सूर्य, चांद और नक्षत्र हमारे मस्तिष्क के विचार मात्र हैं और उन की संरचना के बारे में जानने की कोशिश करना व्यर्थ है। कुछ ऐसे ही विचार दार्शनिक अगस्त कांत के भी थे। तो भी कुछ समय पश्चात उपर्युक्त प्रश्न (खगोलीय पिण्डों का अध्ययन) ही ज्योतिषविदों के अध्ययन का प्रमुख विषय बन गया।

न्यूटन के श्वेत प्रकाश की प्रकृति से संबंधित प्रयोग से सब परिचित हैं। इस में एक सूक्ष्म छिद्र में से प्रकाश की किरणों को गुजार कर एक प्रिज्म के पार्श्व पर डाला जाता है और प्रिज्म उस प्रकाश को उसके सात रचकों में विभक्त कर देता है। ब्रिटिश भौतिक शास्त्री विलियम वोलस्टन ने यह प्रयोग प्रकाश को गोल छिद्र के स्थान पर 1/20 इंच चौड़ाई की दरार में से गुजार कर दोहराया। उन्होंने देखा कि उस 'शोधित' प्रकाश (उन के अनुसार) से बनने वाले वर्णक्रम में सात गहरी रेखायें हैं। वोलस्टन ने इन रेखाओं को वर्णों की स्वाभाविक सीमायें समझ कर कोई महत्व नहीं दिया और इतने से ही संतोष कर अपने अध्ययन को आगे नहीं बढ़ाया। 1814 में इसी विषय पर फ्रानहोफर ने स्वतन्त्र रूप से अध्ययन आरम्भ किये। अपने अवर्णनीय (मोनोक्रोमिटिक) लैंसों के दोष दूर करते हुए उस ने पाया कि सौर वर्णक्रम में सात ही नहीं वरन् हजारों अज्ञात रेखायें हैं। उन्होंने छः सौ तक रेखायें गिनीं और तीन-सौ से अधिक रेखाओं के सही चित्र बनाये। पर फ्रानहोफर केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने अन्य तारों से आने वाली प्रकाश किरणों का भी अध्ययन किया और यह ज्ञात किया कि यद्यपि वे सौर प्रकाश किरणों से काफी भिन्न हैं परन्तु उन में भी गहरे रंग की रेखायें उपस्थित हैं।

वर्णक्रम का अध्ययन

फ्रानहोफर की इन रेखाओं की प्रकृति ज्ञात करने के संबंध में अनेक प्रयोग किये गये। लेकिन सही प्रकृति जर्मन भौतिकविद किर्चोफ के विकिरण नियम के प्रतिपादन के उपरान्त ही 1851 में ज्ञात हुई। उन के विकिरण नियम के दो भाग हैं।

पहले भाग के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपनी विशिष्ट विकिरणें ही उत्सर्जित करती हैं। दूसरे भाग के अनुसार उच्चताप के स्रोत से उत्सर्जित होने वाले विकिरणों को जब अपनी विशिष्ट विकिरणों से चमकने वाली निम्न ताप की गैस में से गुजारा जाता है तो पारेषित

(शेषांश पृष्ठ 66 पर)

होलोग्राफी

जोगेन्द्र सक्सेना

लैसर किरणों ने आज प्रायः सभी क्षेत्रों में चमत्कार-सा कर दिखाया है। इनकी खोज सन् 1960 में हुई थी, तब से विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में इनका आश्चर्यजनक उपयोग हुआ है। इनकी खोज से आविष्कार के नये-नये क्षेत्र खुलते जा रहे हैं। आज लैसर किरणों का उपयोग आंख की रेटिना जैसे नाजुक अंगों के आपरेशन से लेकर खगोलीय पिंडों को संकेत भेजने तक हो रहा है। जहां एक ओर उनसे हीरे जैसी कठोरतम वस्तु काटी जा सकती है वहां उनकी मदद से अंधा 'राह भी देख' सकता है।

अब इन किरणों का सिनेमा के क्षेत्र में भी प्रवेश हो गया है। वह दिन दूर नहीं है जब थकी-मांदी गृहिणी अपने शयन कक्ष में आराम करने के साथ-साथ कमरे की दीवार पर लगे दृश्य पटल का स्विच 'आन' करके होलोग्राफी की नई तकनीक से प्रकृति के त्रिविमीय दृश्य देखकर सब थकान भूल जाएगी। दीवार पर जगमगाने वाले दृश्य केवल वास्तविक ही नहीं होंगे अपितु आजकल प्रचलित त्रिविमीय छायाचित्रों से पूर्णतः भिन्न होंगे।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि इन त्रिविमीय छायाचित्रों के व्यापक प्रयोग में आने में अभी बहुत समय लगेगा, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट नजर आता है कि होलोग्राफी के द्वारा यह एक दिन अवश्य सम्भव हो सकेगा। त्रिविमीय स्थिर चित्रों को बनाने में इस तकनीक का उपयोग आरम्भ हो गया है तथा प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध होता जा रहा है कि त्रिविमीय चलचित्र भी बनाना सम्भव हो सकेगा।

होलोग्राफी

आखिर यह होलोग्राफी है क्या और यह प्रचलित फोटोग्राफी से किस प्रकार भिन्न है ? पहली बात तो यह कि प्रचलित फोटोग्राफी की विधि से दृश्यों का अंकन समुचित तरीके से नहीं होता है। किसी दृश्य को देखते समय हमारी आंखें बहुत सी ऐसी चीजें भी देखती हैं जिनका चित्र लेते समय 'लोप' हो जाता है। प्रत्येक वस्तु उसके द्वारा प्रतिबिम्बित प्रकाश की मदद से ही देखी जाती है। उसको देखने के लिये कोई बाह्य प्रकाश स्रोत होना आवश्यक है। वस्तुओं पर प्रकाश पड़ने पर उसका प्रत्येक बिन्दु प्रकाश परावर्तित करने लगता है। हम मान सकते हैं कि हर एक वस्तु अनेक छोटे-छोटे बिन्दुओं से बनी है और प्रत्येक बिन्दु से परावर्तित प्रकाश तरंगें उसी प्रकार चलती हैं जैसे तालाब में पत्थर डालने पर लहरें।

किसी वस्तु को देखने अथवा चित्रांकित करने के लिये हमें सबसे पहले उसके विभिन्न अंगों से प्रस्फुटित होने वाली प्रकाश तरंगों से बनी जटिल प्रतिकृति को सुलझाना आवश्यक है। हमारी आंखों में और कैमरे में यह जटिलता लैंसों से दूर होती है। लैंस वस्तु के प्रत्येक अंग से परावर्तित होने वाली तरंगों को पुनर्केन्द्रित करते हैं और इस प्रकार जब वे प्रकाश-तरंगें संवेदनशील नेत्र-पटल (रेटिना) अथवा कैमरे के अन्दर रखी फिल्म पर पड़ती हैं तो वे उस वस्तु का, जिससे वे परावर्तित होती हैं, चित्र बना देती हैं।

साधारण अन्तर

इस व्यवस्था में तरंगों की समय-नियमन संबंधी सूचना जो त्रिविमीय सूचना प्राप्त करने के लिये आवश्यक होती है, नष्ट हो जाती है। हमें किसी दृश्य की गहराई का आभास इसलिये हो जाता है कि हमारी दोनों आंखें एक ही दृश्य को थोड़ी भिन्न-भिन्न स्थितियों से देखती हैं। फिर वस्तुओं की गोलाई देखने के लिये हम अपनी स्थिति बदल भी लेते हैं। किन्तु प्रचलित कैमरे में जो किसी दृश्य के बिम्ब को केवल एक स्थिति में अंकित करता है ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। इसलिये वास्तविक दृश्य और प्रचलित कैमरे द्वारा लिये गये चित्र में कुछ अन्तर रह जाता है।

किसी दृश्य अथवा वस्तु के सही चित्रांकन के लिये वास्तव में लैंस द्वारा उसका बिम्ब प्राप्त करने के स्थान पर स्वयं तरंगों के पैटर्न को अंकित करना चाहिये और होलोग्राफी में ठीक ऐसा ही किया जाता है। इसके लिये कैमरे में लैंस हटाकर फोटो के फिल्म को इस प्रकार रख दिया जाता है कि किसी वस्तु से परावर्तित होने वाले तरंग पैटर्न उस पर अंकित हो सकें। फिल्म पर प्रकाशसंवेदी इमल्शन लगा रहता है प्रकाश तरंगें उस पर 'जम' (अंकित हो) जाती हैं और फिर इस फिल्म को पुनः आलोकित किया जाता है तो जमी हुई तरंगें फिर से दर्शक की आंखों की ओर प्रवाहित होने लगती हैं। अतएव दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है कि वह वस्तु के चित्र को नहीं वरन् स्वयं वस्तु को 'देख' रहा है। इस प्रकार अंकित चित्र **होलोग्राम** कहलाता है।



चमकीला पदार्थ सब दिशाओं में प्रकाश किरणें परावर्तित करता है : 1. सूर्य; 2. चमकीला पदार्थ

यह सब कहने में जितना सरल लगता है उतना वास्तव में होता नहीं है और यदि ऐसा हो सकता तो व्यावहारिक होलोग्राफी के लिये हमें आज तक प्रतीक्षा न करनी पड़ती । इस बारे में जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है तरंगों के समय को अंकित करना । प्रकाश-संवेदी इमल्शन केवल तरंगों के विस्तार (एम्प्लीट्यूड) के प्रति ही संवेदनशील होता है, इसलिए तरंगों के समय को उस पर सीधा अंकित किया जा सकता ।

कठिन प्रणाली

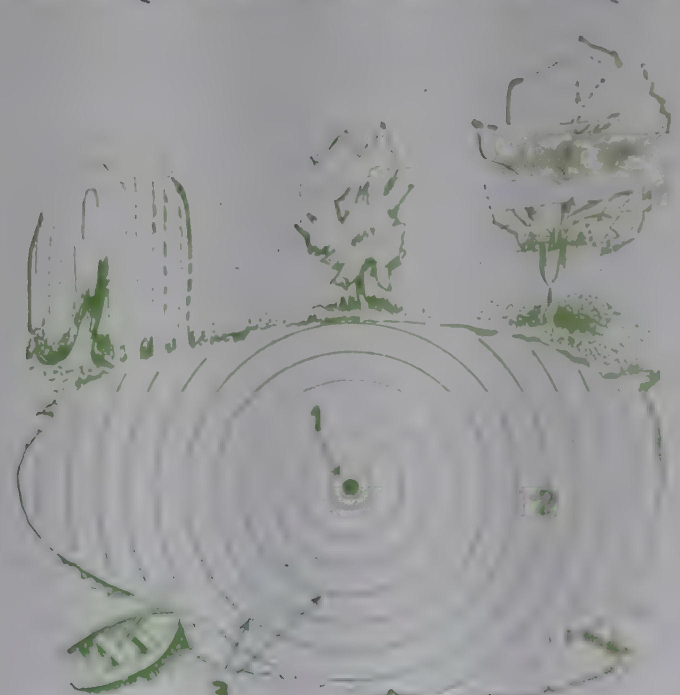
सिद्धान्त रूप में होलोग्राफी का आविष्कार आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व हो चुका था । उस समय प्रो. डेनिस गेबोर ने इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप के साथ प्रयोग करते समय यह पाया कि वे तरंगों के समय को भी अंकित कर सकते हैं बशर्ते कि तरंगें संदर्भ-प्रकाश-बीम (रिफ्रेंस बीम आफ लाइट) के साथ बाधा (इन्टरफियरेंस) उत्पन्न करें । संदर्भ-प्रकाश-बीम का समय निश्चित होता है और फोटोग्राफी फिल्म वास्तव में इस बीम के, तथा चित्रित किये जाने वाली वस्तु के विभिन्न अंगों से आने वाली प्रकाश तरंगों के, समय के अन्तर को अंकित करती है । यह इसलिये कहा जा सकता है कि दोनों बीमों में परस्पर होने वाली इंटर-फियरेंस 'समय-परिवर्तन को विस्तार-परिवर्तन में बदल देती है' । इसके बावजूद होलोग्राफी को व्यावहारिक रूप लैसर किरणों की खोज के बाद ही दिया जा सका ।

होलोग्राम की सर्वाधिक सुगम पद्धति में, दृश्य को आलोकित करने तथा उससे संदर्भ-प्रकाश-बीम उपलब्ध करने के लिये केवल लैसर की एक बीम का उपयोग किया जाता है । उपलब्ध संदर्भ बीम को फोटो-ग्राफी प्लेट तक पहुंचाया जाता है। वह जिस स्थान पर प्लेट से टकराती है उसी स्थान पर वस्तु से परावर्तित होने वाली लैसर किरणें भी टकराती हैं । परन्तु दोनों प्लेटों की सतह पर एक साथ नहीं पहुंचतीं क्योंकि लैसर किरणों को अधिक चलना पड़ता है । वे संदर्भ बीम से इंटरफियर करके प्लेट पर होलोग्राम बनाती हैं । किसी वस्तु के होलोग्राम को 'दिखने योग्य' बनाने के लिये उस पर लैसर किरणें उसी कोण से डाली जाती हैं जिस कोण से चित्र अंकित करते समय संदर्भ बीम डाली गई थी । इस व्यवस्था से प्राप्त होने वाले बिम्ब में वे सभी गुण होते हैं जिनकी पहले चर्चा की जा चुकी है । पर क्योंकि लैसर किरणें केवल एक ही रंग की होती हैं इसलिये बिम्ब भी केवल एक ही रंग का दिखायी देता है । आमतौर पर होलोग्राम बनाने के लिये लाल रंग की लैसर किरणें प्रयुक्त की जाती हैं इसलिए उनसे जो बिम्ब पुनर्गठित होता है उसका रंग भी लाल ही होता था ।

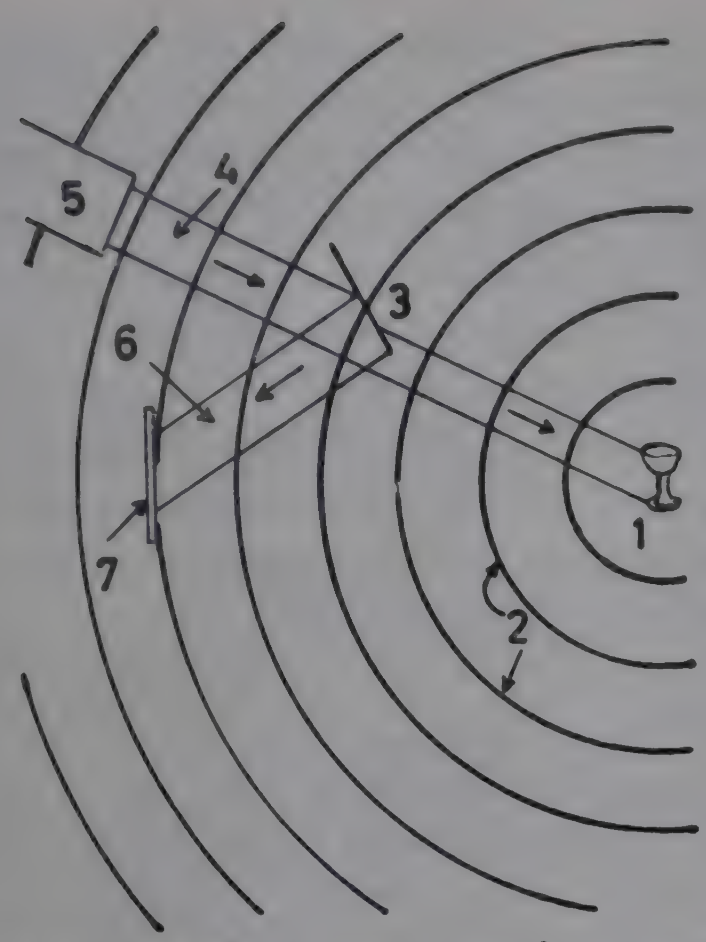
नई खोज

कुछ वर्ष पूर्व तक स्थिति ऐसी ही थी किन्तु अब एक नई खोज ने इस कार्य को और सुगम बना दिया है । इस खोज से ज्ञात हुआ कि तीन भिन्न रंगों की लैसर प्रकाश बीमों से किसी वस्तु को प्रकाशित करके तीन भिन्न रंगों की निर्देश प्रकाश बीम उपलब्ध की जा सकती हैं । इस प्रकार का होलोग्राम तीन भिन्न रंगों की लैसर किरणों से पुनः बिम्बित होता है और वस्तु का रंगीन चित्र पर्दे पर उभर आता है । यह इसलिये सम्भव है क्योंकि भिन्न-भिन्न लैसर प्रकाश बीमों से बनने वाली आवृत्ति रंगों का चयन करने में सक्षम होती है ।

इस सिलसिले में एक महत्त्वपूर्ण खोज और हुई है । इसमें होलोग्राम पर निर्देश-प्रकाश-बीम सामने से न डालकर पीछे से डालते हैं । इससे वर्णों का वर्गीकरण अधिक स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकार बननेवाला होलोग्राम सफेद प्रकाश में से केवल उन्हीं रंगों की लैसर बीमें चुनता है जो होलोग्राम बनाने के लिये प्रयुक्त की जाती हैं । सफेद प्रकाश में निहित अन्य सभी रंग 'छोड़' दिये जाते हैं और इससे



पानी में पत्थर डालने से लहरें सब दिशाओं में बढ़ने लगती हैं :
1. पत्थर; 2. तालाब; 3. लहरें



होलोग्राम बनाने की विधि : 1. पदार्थ; 2 पदार्थ द्वारा परावर्तित तरंगें; 3. दर्पण; 4. लैसर किरणें; 5. लेसर; 6. संदर्भ बीम; 7. फोटोग्राफिक प्लेट (होलोग्राम)

वस्तु का सही बिम्ब उसी रंग में बनता है जिस रंग का लैसर प्रकाश इस्तेमाल होता है ।

हिलने से धुंधला होना

अगर यह पद्धति चल-चित्रों में प्रयुक्त की जाये तो अनुमान है कि परदे पर एक सेकंड में 16 होलोग्राम की दर से अंकित किये जा सकते हैं । फिर भी अभी इस बारे में बहुत सी ऐसी बाते हैं जिनका उत्तर ढूंढना शेष है । चित्र लेते समय वस्तु का थोड़ा-सा हिल जाना पूरे चित्र को धुंधला कर देता है और इससे पूरा होलोग्राम ही नष्ट हो सकता है । इसका अर्थ यह हुआ कि पलक झपकने से भी कम समय में होलोग्राम का अंकन पूरा हो जाना चाहिए । हिसाब लगाकर देखा गया है कि प्रत्येक होलोग्राम का अंकन करते समय वस्तु की गति एक मीटर के एक करोड़वें भाग से कम होनी चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि चलते मनुष्य का चित्र लेने में एक पल के करोड़वें भाग से भी कम समय लगना चाहिए ।

कठिनाइयां और उनके हल

अनुमान है कि इस कार्य को सम्पादित करने में सक्षम लैसर किरण निकट भविष्य में ही उपलब्ध हो सकेंगी । किन्तु इस प्रकार इस्तेमाल की जाने वाली लैसर किरणों का 'कोहरेन्स' इतना अच्छा नहीं होता जितना कि निरन्तर निकलने वाली लैसर किरणों (कन्टीन्युअस लैसर) का । 'कोहरेन्स' लैसर किरणों का एक विशिष्ट गुण है और यह होलोग्राफी के लिये अत्यन्त आवश्यक है । इस कठिनाई को हल करने के लिये लैसर किरणों के कोहरेन्स में संशोधन करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं ।

एक दूसरी कठिनाई यह है कि उस विधि के द्वारा पुनर्गठित चित्र को एक समय में केवल कुछ लोगों को ही दिखाया जा सकता है । जिसका अर्थ यह हुआ कि इस विधि से बड़े दर्शक समुदाय के लिये चल चित्र प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो सकेगा । किन्तु प्रो. गेबोर के इस बारे में अपने सुझाव हैं । उनका कहना है कि चलचित्रों को अलग-अलग अनुभागों में बांट कर भिन्न-भिन्न लैसर बीमों द्वारा उन्हें दिखाया जा सकता है । इस प्रकार स्क्रीन कई लैसर बीमों से आलोकित हो उठेगी तथा प्रत्येक लैसर बीम एक अनुभाग में बिम्ब उपस्थित कर वहां बैठे लोगों को चलचित्र दिखा सकेगी । किन्तु इसके लिये साधारण होलोग्राम से काम नहीं चल सकेगा । क्योंकि इससे एक अनुभाग में बैठे हुए दर्शकों को दूसरे अनुभाग की लैसर किरणों के कारण बिम्ब टेढ़े-तिरछे दिखेंगे । इस कमी को दूर करने के लिये प्रो. गेबोर गेबरिल लिपमैन द्वारा विकसित एक विधि का उपयोग करना चाहते हैं । इस विधि के आविष्कार के लिये गेबरिल लिपमैन को 1908 में भौतिकी पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था । उस समय लिपमैन रंगीन फोटोग्राफ तैयार करने में व्यस्त थे और उनके द्वारा विकसित पद्धति 'लिपमैन विधि' कहलाती है । लिपमैन विधि का उपयोग कर गेबोर कृत्रिम बिम्बों को छांटकर अलग कर देना चाहते हैं और उनको हाल के विभिन्न हिस्सों में बैठे हुए दर्शकों को नहीं दिखाना चाहते ।

ऊष्मा

नाभिकीय

ईंधन

प्लाज्मा

जगदीश लूथरा

गैस की वह अवस्था जिसमें मुक्त धन तथा ऋण आवेशों (धन आयन तथा इलैक्ट्रान) की संख्या बराबर होती है, प्लाज्मा कहलाती है। यही प्लाज्मा की मूल परिभाषा है जो लैंगम्यूर ने प्रस्तुत की थी । प्लाज्मा अवस्था में पदार्थ के अधिकांश परमाणु इलैक्ट्रानों और धन आयनों में विभक्त हो जाते हैं ।

पिछले पन्द्रह वर्षों से प्लाज्मा पर काफी शोध-कार्य हो रहा है । मुख्य कारण यह है कि संगलन (फ्यूजन) और प्लाज्मा में आपस में काफी गहरा सम्बन्ध है । संगलन क्रिया जिस तापक्रम पर सम्पन्न होती है, उतने ऊंचे तापक्रम पर समस्त गैसें, प्लाज्मा में परिणत हो जाती हैं । संगलन क्रिया द्वारा नामिकीय ऊर्जा प्लाज्मा को सही तरीके से नियंत्रित करके ही प्राप्त की जा सकेगी । इसीलिए प्लाज्मा सम्बन्धी अनुसंधान कार्य की ओर आजकल विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है ।

ऊर्जा प्राप्त करने की अनेक विधियां हो सकती हैं । परन्तु इन सबकी अपनी-अपनी सीमायें हैं ।

आवश्यकता पूर्ति असम्भव

अभी तक प्रचलित तरीके अब काफी पिछड़े प्रतीत होते हैं । उनसे देश की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं हो सकती । नामिकीय विखण्डन से ऊर्जा प्राप्त करने का तरीका भी पचास-सौ वर्षों में लुप्त-प्रायः हो जायेगा ।

इस विचारधारा से ही वैज्ञानिकों का ध्यान नाभिकीय संगलन से ऊर्जा प्राप्त करने की ओर गया है । नाभिकीय संगलन से ऊर्जा प्राप्त करने का मुख्य लाभ एक तो यह कि इसमें प्रयुक्त होने वाला ईंधन सर्वव्यापी और काफी मात्रा में उपलब्ध है और दूसरा यह कि इसमें रेडियधर्मी अवशिष्ट की समस्या सामने नहीं आती ।

वैद्युत प्रतिकर्षण– मुख्य बाधा

संगलन क्रिया सम्पन्न होने के लिए मुख्य बाधा नामिकों का पारस्परिक वैद्युत प्रतिकर्षण है । इस समस्या का निदान, नाभिकों को काफी बड़ी मात्रा से ऊर्जा प्रदान करके ही हो सकता है ताकि वे वैद्युत प्रतिकर्षण को पार कर सकें ।

ड्यूटेरानों अथवा ड्यूटेरानों और ट्रीटानों के संयुक्त रूप में संगलन द्वारा ही, सम्भव है कि संगलन ऊर्जा प्राप्त की जा सके । क्योंकि इनमें विद्युत प्रतिकर्षण बल न्यूनतम होता है । नाभिकीय संगलन की प्रायिकता (प्राबेबिलिटी), नाभिकों की गतिज ऊर्जा पर निर्भर करती है । नीचे दी गयी तालिका में ड्यूटेरान की गतिज ऊर्जा और संगलन की प्रायिकता पर परस्पर सम्बन्ध दर्शाया गया है ।

(इकाई इलैक्ट्रान वोल्ट (1 ev), 11,600° के. पर किसी नाभिकीय कण की औसत ऊर्जा के तुल्य होता है)

ड्यूटेरान की गतिज ऊर्जा ev में	संगलन प्रायिकता	ड्यूटेरान की गतिज ऊर्जा ev में	संगलन प्रायिकता
100	10^{-60}	2,5000	10^{-12}
400	10^{-30}	10,000	10^{-60}
900	10^{-20}	40,000	10^{-3}
1600	10^{-15}		

साधारणतः किसी अणु अथवा परमाणु की औसत गतिज ऊर्जा, 20° सेन्टीग्रेड पर $\frac{8}{80}$ ev होती है । इस लिए औसत ऊर्जा को बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम ड्यूटेरान ईंधन को 10^8 केलविन ताप तक गर्म करना आवश्यक है । इतने ऊंचे ताप पर सारा ईंधन प्लाज्मा बन जाता है ।

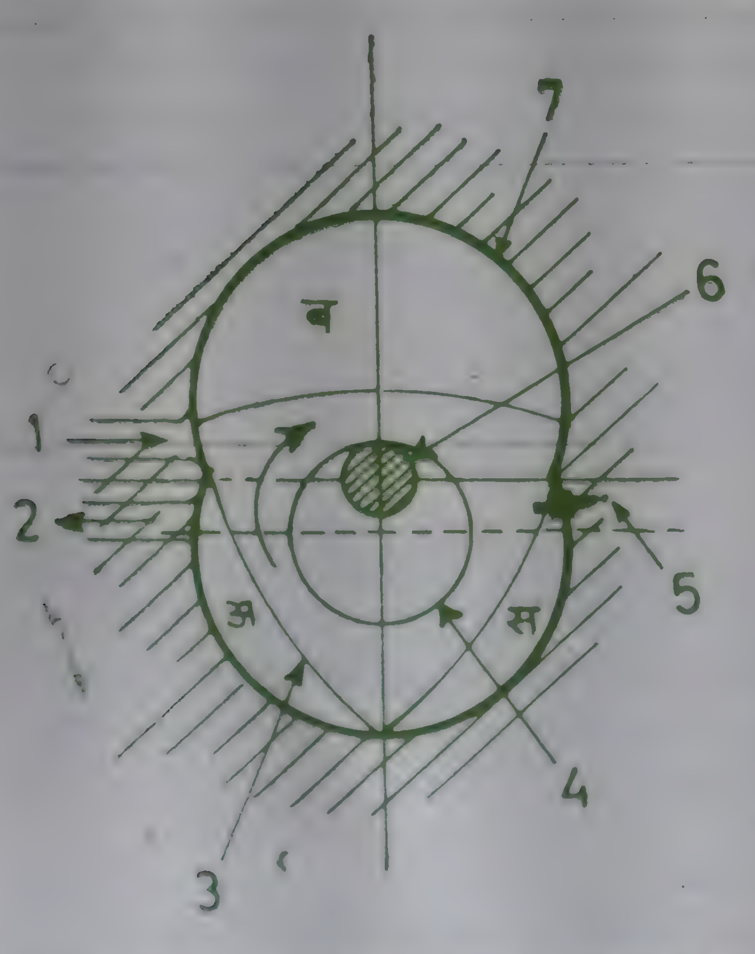
उच्च तापीय प्लाज्मा पर प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक

(शेषांश पृष्ठ 74 पर)

वांकल इंजन

सुन्दर प्रकाश अष्ठाना

मोटर कारों आदि तथा अन्य कार्यों में इस्तेमाल होने वाले आधुनिक अन्तर्दहन इंजन में कमी यह है कि वह स्थान बहुत घेरता है, भारी होता है तथा चलते समय उसमें कम्पन होता है। इन सबके अतिरिक्त उसमें यान्त्रिक सरलता नहीं है । जर्मनी के एक यांत्रिक इंजीनियर वान्कल ने एक ऐसा इंजन बनाने की योजना तैयार की जो उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो । उसने अपनी योजनानुसार कार्य आरम्भ किया और 1956 में प्रथम इंजन तैयार किया । इस इंजन को इसके निर्माता के नाम पर ही **वान्कल इंजन** कहा जाता है। प्रचलित अन्तर्दहन इंजन की अपेक्षा यह निश्चय ही काफी अच्छा है । यद्यपि यह भी एक अन्तर्दहन इंजन ही है परन्तु इसकी कार्यविधि तथा रचना अन्य प्रचलित अन्तर्दहन इंजनों (पैट्रोल इंजनों) से सर्वथा भिन्न है । दोनों में मूल अन्तर यह है कि प्रचलित इंजनों में संपीडन और प्रसरण क्रिया आगे-पीछे गति करने वाले पिस्टन द्वारा होती है जबकि वान्कल इंजन में यह क्रिया घूमने वाले एक 'लोब' द्वारा सम्पन्न होती है । इसीलिए इसे कभी-कभी 'भ्रमी अन्तर्दहन इंजन' भी कहा जाता है ।



चित्र 1 : 1. प्रवेश द्वार; 2. निर्गम; 3. लोब; 4. उत्केन्द्रीय बेयरिंग; 5. स्पार्क प्लग; 6. शाफ्ट; 7. खोल

हाल ही में कर्टिसराइट नामक अमरीकी कम्पनी ने वान्कल इंजन का एक चालू नमूना बनाया है और 'एन. एस. यू.' कार बनाने वाली जर्मन कम्पनी ने तो इस इंजन से चलने वाली कारें भी बना डाली हैं । अभी तक अधिक से अधिक 1000 अश्व शक्ति तथा कम-से-कम 3 अश्व शक्ति तक के यह इंजन बनाये गये हैं ।

कार्यविधि

इस इंजन की कार्यविधि समझने के लिये चित्र 1 को देखिये । लोब में दिखाई गई दिशा में घूमने से पैट्रोल और हवा का मिश्रण प्रवेश द्वार से कारबुरेटर में होता हुआ अन्दर आता है । जब लोब का सिरा प्रवेश द्वार को पार कर जाता है (जैसा चित्र 1 में कोष्ठ 'ब' में दिखाया गया है) तो लोब के घूमने से मिश्रण का संपीडन होने लगता है ।

कोष्ठ ब (चित्र 2 जैसी स्थिति) में आ जाता है । अब स्पार्क प्लग से चिन्गारी निकलती है जिससे मिश्रण में आग लगती है और गैस लोब को घुमाती हुई फैलती जाती है । प्रसरण समाप्त होने तक लोब का सिरा निकास द्वार खोल देता है । (जैसी कि चित्र 2 में कोष्ठ स की अवस्था है) । इस प्रकार जली हुई गैसें बाहर निकल जाती हैं। यही क्रिया हर कोष्ठ में होती है ।

इस इंजन में अभी तक अधिक-से-अधिक 7-7.5 तक के संपीडन अनुपात का इस्तेमाल किया गया है । इससे अधिक संपीडन अनुपात सील बंद करने की कठिनाई के कारण नहीं इस्तेमाल हो सका है । यही कारण है कि इस प्रकार के डीजल इंजन नहीं बनाये जा सके हैं ।

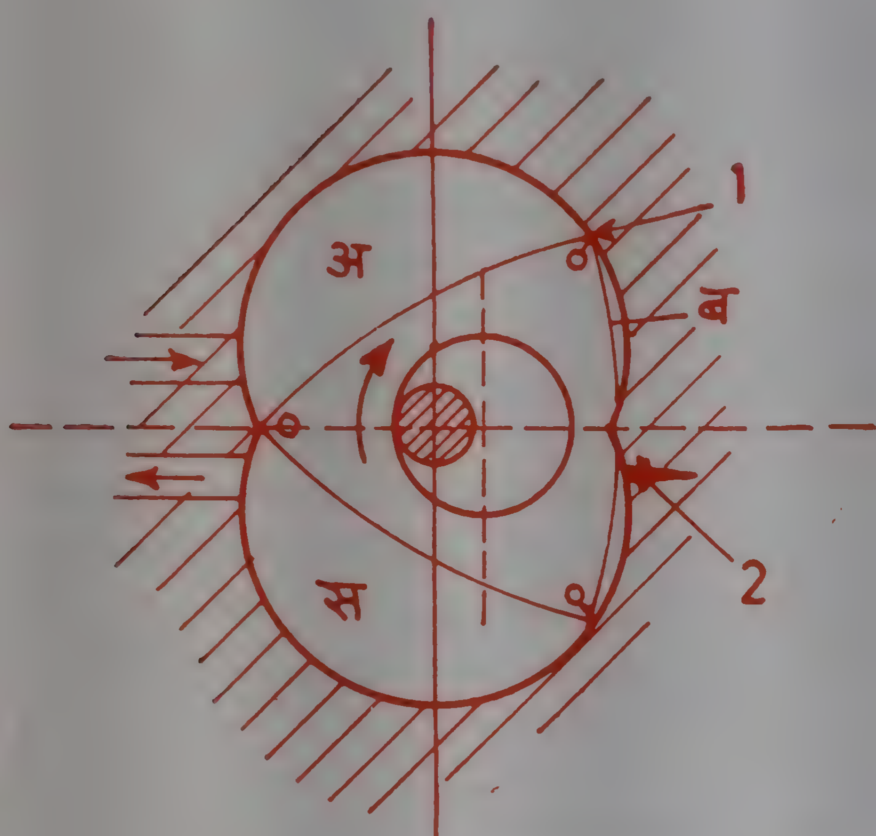
सिद्धान्त

वान्कल इंजन का रेखागणितीय सिद्धांत समझने के लिये चित्र 3 को देखिये । चित्र में 'अ' खोल का अक्ष है जो कि शाफ्ट का भी अक्ष है । जिस उत्केन्द्री शाफ्ट पर लोब घूमता है उसका अक्ष 'ब' है । ब स को जनित्र त्रिज्या (जनरेटिंग रेडियस) कहते हैं । लोब के किसी सिरे से उनके केन्द्र को मिलाने से यह बनता है । अ ब को इंजन की उत्केन्द्रता कहते हैं। इस इंजन में गियरों द्वारा ऐसा प्रबंध होता है कि ब अ के चारों ओर जब 3 चक्कर लगाता है तब स ब की एक परिक्रमा करता है । अर्थात् शाफ्ट के तीन चक्कर लगाने पर लोब अपने केन्द्र के चारों ओर

एक चक्कर उसी दिशा में लगाता है। इस प्रकार घूमने से स जो वक्र खींचता है उसी वक्र के आकार का खोल बनाया जाता है। इस वक्र का नाम एपीसाइक्लॉइड है। इसकी उत्केन्द्रता बदलने से ही इसका संपीडन अनुपात बदला जा सकता है। परन्तु अधिक उत्केन्द्रता नहीं रखी जाती है।

लोब की रचना

लोब के तीनों कोनों को मिलाने से एक समबाहु त्रिभुज बनता है जिसका गुरुत्व केन्द्र लोब का केन्द्र होता है। लोब के कोनों पर कोई मुलायम धातु स्प्रिंग के साथ लगी होती है जो सीलबन्दी में



चित्र 2 : 1. सीलिंग स्ट्रिप; 2. स्पार्क प्लग

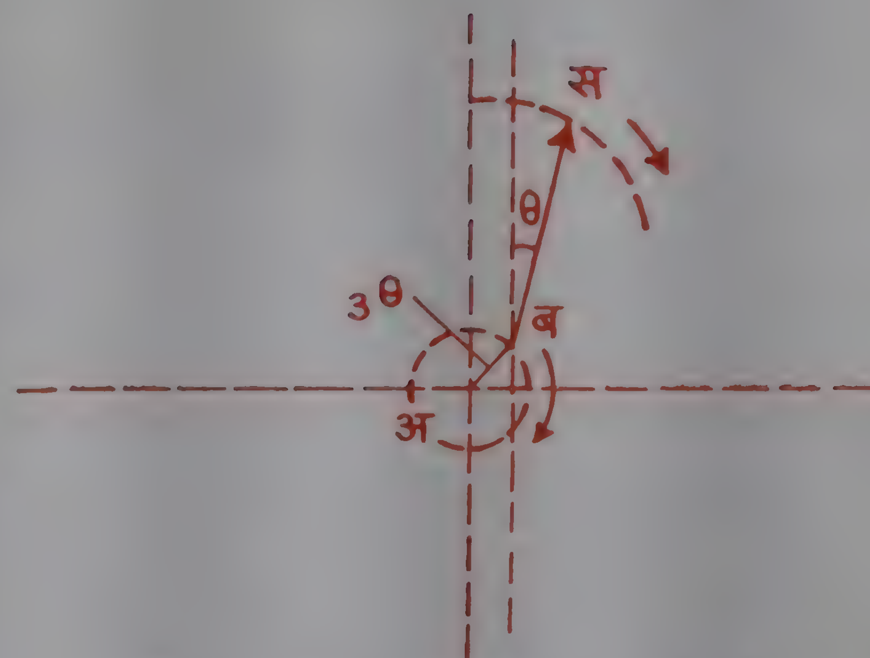
सहायता देती है। अतः गियर ब लोब में लगा हुआ होता है तथा गियर अ खोल में स्थित रहता है। इसके बीच में से शाफ्ट निकलता है। इन दोनों गियरों के दातों की संख्या का अनुपात 2:3 होता है। अर्थात्—

$$\frac{\text{अ में दांतों की संख्या}}{\text{ब में दांतों की संख्या}} = \frac{2}{3}$$

इस प्रबंध द्वारा ही चोब और शाफ्ट ऊपर बताई गई शर्तों के अनुसार घूमते हैं। इस प्रकार के गियरों के प्रबंध को 'ऐपीसाइक्लिक गियर ट्रेन' कहते हैं।

लाभ तथा उपयोग

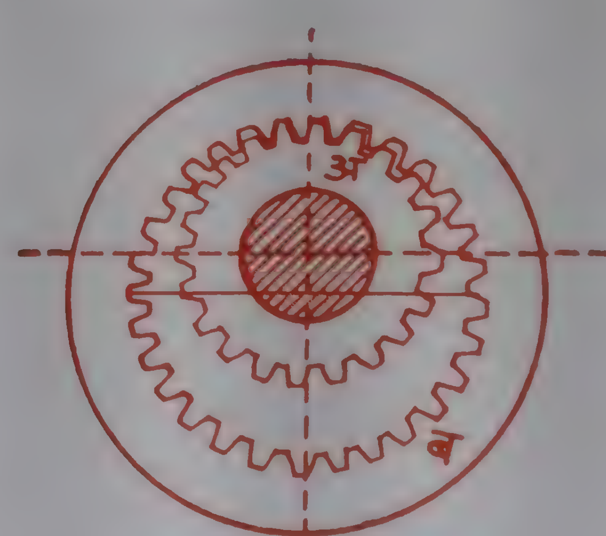
इसकी सर्वप्रथम और सब से बड़ी विशेषता यह है कि यह आम इंजनों की अपेक्षा वजन में हल्का और आकार में काफी छोटा होता है। समान शक्ति उत्पन्न करने वाले प्रचलित इंजनों से इसका भार आधा होता है तथा आकार एक तिहाई। इसमें लगने वाले कल-पुर्जों की संख्या भी 35 प्रतिशत कम होती है। इसलिये इसको बनाने में कम खर्च आता है।



चित्र 3 : अ. खोल का अक्ष; ब स जनित त्रिज्या

इसमें आगे-पीछे होने वाले हिस्से न होकर सिर्फ घूमने वाले ही हिस्से होते हैं इसलिये इसमें धड़धड़ाहट नहीं के बराबर होती है।

इसमें बलघूर्ण (टार्क) शाफ्ट के $\frac{2}{3}$ चक्कर तक मिलता है जब कि अन्य इंजनों में $\frac{1}{4}$ चक्कर तक ही मिलता है। इस प्रकार इसमें लगने वाले फ्लाई व्हील का आकार तथा भार कम हो जाता है। वह अन्य इंजनों की भांति आधे चक्कर में 'श्वास' न लेकर शाफ्ट के $\frac{2}{3}$ चक्कर में श्वास लेता है। इसलिये इसकी श्वसन क्षमता भी अपेक्षतया अधिक होती है। इसके और भी अच्छा होने का कारण यह है कि इसमें कपाट (वाल्व) नहीं होते। इन सब कारणों से इसकी रफ्तार और इंजनों से अधिक रखी जा सकती है और अधिक शक्ति पैदा की जा सकती है। यह इंजन बहुत कम और बहुत तेज रफ्तारों से बड़ी आसानी से घूम सकता है। इसलिए वाहनों के लिए यह निश्चय ही बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।



चित्र 4 : अ. गियर; ब. अन्तःगियर

उपर्युक्त लाभों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि यह इंजन आजकल प्रयोग में आने वाले पेट्रोल इंजनों का स्थान हर क्षेत्र में ले लेगा। मुख्यतः वहां जहां कम वजन एक मुख्य आवश्यकता है या जहां इंजन को लगाने के लिये कम स्थान ही उपलब्ध है जैसे कि नावों आदि में। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि पिस्टन वाले अन्तर्दहन इंजन केवल संग्रहालय में ही पाये जायेंगे।●

हैजे का उत्थान और पतन

(भाग 3)

जर्मनी में सन् 1883 के दौरान मौसम कैसा था इसका कोई लेखा मौजूद नहीं है और ना ही इसका कि सन् 1882 में क्या था और सन् 1884 में क्या रहेगा । मौसम खुश्क था या नम, नदियों में बाढ़ आई थी या नहीं, फसलें ठीक हुई थीं या नहीं, इन सभी का कोई लेखा मौजूद नहीं है और ना ही अब हमें इसकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है ।

परन्तु एक साहब ऐसे भी थे जिन्हें उस समय का मौसम और उसमें उपस्थित आर्द्रता बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होते थे । इन साहब का नाम था माक्स योसफ फान पटनकोफर और यह जर्मनी के म्यूनिख नगर के एक रसायनज्ञ थे ।

प्रोफेसर पटनकोफर अनेक रासायनिक पदार्थों की विश्लेषण विधियां विकसित करने के लिये विख्यात था, जैसे कि संखिया की उपस्थिति ज्ञात करने की विधि, जल और वायु में मौजूद कार्बन-डाइ-आक्साइड के विश्लेषण की विधि और पित्त अम्लों की परीक्षण विधि । लार में सल्फोसायनिक अम्ल होता है, इसका प्रदर्शन सबसे पहले पटनकोफर ने ही किया था । श्वसन प्रक्रिया के विभिन्न अवस्थानों के सर्वांगीण अध्ययन के कारण तो वे अब तक विख्यात हैं । परंतु इस सबके पश्चात् पटनकोफर ने रसायन शास्त्र को छोड़ मानव समाज में फैलने वाली महामारियों के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और हैज़े के संभावित कारणों पर अपने सिद्धांत प्रस्तुत करना प्रारंभ किया ।

हैजा संबंधी विचित्र धारणाएं

वैसे, हैज़े के कारणों के संबंध में लोगों ने भांति-भांति की परिकल्पनाएं पहले से ही प्रस्तुत कर रखी थीं । न्यूयार्क के डा. रीज़ का अल्कोहल सिद्धांत, बेयर का जल-मिअज्म (वाटर-मिअज्म) सिद्धांत, फोन गाइटल का जैव-धूलि (आर्गेनिक डस्ट) सिद्धांत, मकिसन का दुर्गंध (एफ्लूविया) सिद्धांत, ली का भू-वैज्ञानिक (जियोलोजिकल) सिद्धांत, डा. स्नो का उत्सर्जित-विष (एक्सक्रीमेन्टिशस प्वाइज़न) सिद्धांत, जॉनसन का रक्त सिद्धांत, फ़ार का कोलेरीन सिद्धांत, ब्राइडन का मॉनसून सिद्धांत और सनरैंट का रक्त में दमित स्वेद के प्रविष्ट हो जाने का सिद्धांत । इनके अतिरिक्त दो जनों ने ज्वर सिद्धांत पेश किये थे । इनमें से कीहल का ज्वर सिद्धांत जटिल था और इलिश का सरल । हैजे के कारण रूप में ओज़ोन सिद्धांत भी बहुत लोगों को मान्य था तो भी इसका श्रेय लेने को कोई तैयार नहीं था । इन सबके अलावा अन्य कई मान्यताएं भी मौज़ूद थीं । पटनकोफर ने इन सब मान्यताओं को आड़े हाथों लिया और एक-एक के दोषों और अन्तर-विरोधों को पेश कर उनके बखिये उधेड़े । और विडम्बना देखिये कि यह सब करने के उपरांत उसने हैज़े के संबंध में अपना जो सिद्धांत प्रस्तुत किया वह स्वयं बुरी तरह से परस्पर-विरोधी बातों से भरपूर था । उसने अपनी इस मान्यता को 'भू-जल का नियम' (लॉ आफ़ द सॉइल वाटर) के नाम से प्रस्तुत किया ।

पटनकोफर के इस सिद्धांत को न उस समय कोई समझा और न अब तक कोई समझ पाया है । शायद स्वयं पटनकोफर भी इसे नहीं समझा था । यह जटिल, दुरूह व रहस्यमय था । आंकड़ों से युक्त होते हुए भी यह निपट अर्थहीन था । कोई भी इसे समझ नहीं पाया तो भी प्रत्येक इसकी चर्चा करता और इसमें निहित गहन संदेश पर विद्वत्तापूर्ण लम्बे लेख लिखता । इस तथाकथित नियम की सचाई को मानने से इन्कार करना पाखंड के समान समझा जाता । ऐसी स्थिति में अकेला प्रो. पार्क्स ही ऐसा था जिसने बिरले साहस का परिचय दिया और शिकायत भरे लहजे में लिखा : "पटनकोफर के विचार किंचित कठिनाई से समझ में आते हैं ; उनमें अभिव्यक्ति की स्पष्टता की कुछ कमी-सी प्रतीत होती है ।"

भू-जल—हैजे का कारण

पटनकोफर के सिद्धांत में ऊपरी भूमि के नीचे स्थित मिट्टी की तह की दशा का विशेष रूप से विचार होता है । यह अवभूमि रेतीली है अथवा पथरीली, इसका इस सिद्धांत से गहरा संबंध है । पटनकोफर ने मिट्टी के कणों के बीच के रंध्रों का विवरण दिया है । यदि रंध्र अधिक होंगे तो उनमें पानी चुरा जायगा ; और बाद में जब पानी बाहर निकल जायगा तो रंध्रों में जहरीली गैस भरी हुई छोड़ जायगा । "नमीदार रंध्रयुक्त दूषित मिट्टी से एक प्रकार की रहस्यमय विषैली गैस का स्रवण होता है जिसकी पुष्टि हैज़े की महामारी के दौरान वायु में से ओज़ोन के गायब हो जाने से होती है" और "अगस्त और सितम्बर में जबकि हैज़ा सर्वाधिक फैलता है, मिट्टी में से कार्बनिक एसिड निर्सजित होती है ।" पटनकोफर की यह उक्तियां कितनी निरर्थक हैं । उसका कहना था कि यदि मिट्टी में रंध्र नहीं होंगे, वह सघन होगी और उसमें पानी व्याप्त नहीं हो सकेगा तो हैज़ा भी नहीं हो सकेगा । नदी के किनारों की रंध्रमय मिट्टी नदी के चढ़ने पर पानी से भर जाती है और उसके उतरने पर पानी से खाली हो जाती है और यह क्रम जारी रहता है । यह सब जानते हैं कि "हैजा नदियों का अनुगामी होता है," वह कहता । "एक-दूसरे से मिलने पर लोग हैजे से पीड़ित नहीं होते ; वे तो हैजे की 'रहस्यमयी विषैली वायु' (मिअज्मा) का सेवन करते हैं और इस प्रकार बीमार होते और मरते हैं । हैजे की महामारी को

रोकने के लिये न संगरोध (क्वारंटीन) की जरूरत है और न स्वच्छता की--हैजा संसर्गजन्य रोग नहीं है", पटनकोफर का स्पष्ट मत था ।

अधिकांश पहाड़ी प्रदेशों में धरती पथरीली होती है और पानी कम होता है, तो भी वहां हैजा फैल जाया करता है । मगर पटनकोफर के पास इस शंका का समाधान भी था । "यदि पहाड़ी बाशिंदे पहाड़ों में ही रहें और निचले मैदानों में न आएं तो हैज़े से विषाक्त होकर नहीं लौटेंगे ।"

यदि कोई आदमी हैजे के विष से संतृप्त भूमि पर रहेगा तो वह हैजे से कैसे बच सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर भी पटनकोफर के पास था । वह झल्लाकर कहता : "अगर तुम किसी सक्रिय ज्वालामुखी के पास रहते होगे या डाइकों से रुके हुए समुद्र के तट पर उसकी सतह से सैकड़ों फुट नीची धरती पर रहते होगे, तो क्या करोगे ? या तो तुम वह जगह छोड़कर चले जाओगे या फिर भाग्य के भरोसे बैठे रहोगे ?"

हठो पटनकोफ़र

धरती से सैकड़ों मील दूर गहन सागर में विचरनें वाले जहाजों पर हैजा कैसे फैल जाता है, यह प्रश्न भी पूछा जाता क्योंकि इस प्रकार की कई महामारियां पटनकोफर के समय में और उससे पहले फैल चुकी थीं । ऐसे जहाजों की टंकियों में पीने और नहाने-धोने के लिये मीठा पानी भरा होता है और वे स्वयं समुद्र के खारे पानी पर तैरते हैं । और यह बात निश्चित है कि उनमें रंध्रयुक्त या रंध्रहीन मिट्टी होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं होता । लेकिन इससे क्या ? इन 'असंभव' महामारियों के कारणों का स्पष्टीकरण भी पटनकोफर के पास मौजूद था । जब ऐसी महामारियों के अनगिनत उदाहरण उसके सामने रखे गए तो उसने अपना सबसे अधिक शक्तिशाली तर्क पेश किया--उसने इनका अस्तित्व मानने से ही इन्कार कर दिया ।

तो यह था पटनकोफर द्वारा प्रस्तुत 'भू-जल का नियम' । बल्कि यूं कहा जाय कि यह तो उस नियम का अंश मात्र था । इसके अतिरिक्त और बहुत था, बहुत कुछ ; जिसे कोई समझता नहीं था, लेकिन तो भी सभी उसकी प्रशंसा के पुल बांधते थे, बल्कि उसे श्रद्धा और भक्ति से देखते थे ।

'भू-जल का नियम' इतना पावन सिद्धांत समझा जाने लगा था मानों स्वयं ईश्वर ने कृपापूर्वक उसका बोध अकेले पटनकोफर को कराया हो । महामारियों पर ऐसी कोई पुस्तक नहीं होती थी जिसके प्रत्येक अध्याय के अंत में भू-जल और मौसम के विवरण संबंधी एक अनुभाग न लगाया जाता हो। इस विवरण में प्रचलित पवनों व मौसम के तत्कालीन तथा भूतकालीन इतिहास के साथ-साथ ज्वालामुखियों की सक्रियता संबंधी ब्यौरा भी दिया जाता था । सभी पुस्तकों के रचयिता जी-जान से इस नियम का कोई-न-कोई अर्थ निकालने की कोशिश करते तथा उसका हैजे के किसी-न-किसी अवस्थान से अथवा अन्य महामारियों से संबंध दिखलाने का यत्न किया करते । इतने पर भी ये लेखक लोग चकरा जाते थे और विचार-विमर्श का अंत आम तौर पर इस प्रकार करते थे : "यह रोग असाधारण है--प्रोफेसर पटनकोफर के सुन्दर 'भू-जल के नियम' से इसका सामंजस्य नहीं बैठता ।" न तो हैज़ा, और ना ही अन्य कोई महामारी, इस तथाकथित नियम के अनुरूप बैठी लेकिन फिर भी किसी ने इस सतत अननुरूपता का उल्लेख नहीं किया । और तो और विज्ञान की आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में भी कभी-कभी पटनकोफर की चर्चा होती है जिनमें उसके 'नियम' के मलबे में से सचाई की कणिका को खोजने का कठिन प्रयास किया जाता रहता है ।

विज्ञान का 'नियम' चाहे कितना ही जटिल क्यों न हो, यदि वह सच्चा है तो अवश्य ही सरल शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है । लेकिन 'भू-जल के नियम' को सरल भाषा में प्रकट करना असंभव है । एक कठिनाई और थी । इस नियम में बार-बार परिवर्तन किये जाते रहते थे, जिससे इसकी अस्पष्टता और भी बढ़ती जाती थी । जैसे-जैसे हैज़े के संबंध में नए तथ्य सामने आते थे, इस तथाकथित नियम की असंगतियां उग्र रूप धारण करके प्रकट होती थीं । इस प्रकार हैज़े के कीटाणु बार-बार इस नियम को चुनौती देते रहते थे । पटनकोफर के पास इनमें से प्रत्येक चुनौती का उत्तर था--उसने हैज़े के कीटाणुओं के अस्तित्व तक को मानने से इन्कार किया, उसने अपने 'नियम' में परिवर्तन किये, उसमें और पैबंद लगाए ; यहां तक कि अंततः उसके नियम का दुर्बल ढांचा विवाद के झकोरों में डांवाडोल होने लगता और ऐसा प्रतीत होता मानों अब गिरा कि गिरा।

मानव के हैज़ा संबंधी ज्ञान में अभिवृद्धि करने के कारण पटनकोफर को सन् 1883 में सम्मानित किया गया । और इसी साल मिस्र देश में भयानक हैजा भी फैल गया । हजारों लोग इसके शिकंजे में पड़कर मौत के घाट उतरे । जब नए मुर्दों को कब्रिस्तानों में जगह नहीं मिलती तो दोस्त-रिश्तेदार पुरानी कब्रों से मुर्दों को निकाल बाहर फेंकते और अपने नए मुर्दों को उसमें दफना देते ।

हैजा कीटाणु की खोज

मिस्र में हैज़ा फैलने का समाचार सुन डा. राबर्ट कॉख उसके कीटाणुओं की तलाश में मिस्र पहुंचा । पटनकोफर ने तो कह ही दिया था कि हैज़े के कीटाणु होते ही नहीं । डा. कॉख मिस्र से लौटा अर्द्ध-विराम आकार के कीटाणुओं के नमूने लेकर, न कि जहरीली गैसों या मिट्टियों या पानियों के नमूने लेकर । "इन कीटाणुओं से हैज़ा होता है," कॉख ने कहा । इससे पटनकोफर नाराज हो गया । उसने कॉख से तथाकथित हैज़ा-कीटाणुओं का कल्चर मंगवाया--इतना कि जिससे कॉख के कथनानुसार एक हजार लोग मर सकते थे । कॉख ने उसे अनेक अधभरी परीक्षण-नालिकाएं भेजीं । इनमें भूरे रंग का दुर्गंधपूर्ण द्रव भरा था । लेकिन इसके पश्चात क्या-क्या घटनाएं घटीं, यह ठीक-ठीक पता नहीं ।

जॉर्डन और बरोज़ नामक लेखक अपनी 'टेक्स्टबुक आफ बैक्टीरियोलाजी' शीर्षक पुस्तक में लिखते हैं : "पटनकोफर और उसके

सहायक अमरिख 'कॉख विब्रियो' का ब्रॉथ कल्चर निगल गए जिससे उन्हें हैज़ा हो गया।"

उधर ज़िसर ने अपनी 'टेक्स्टबुक आफ बैक्टीरियोलाजी' के पंचम संस्करण में लिखा : "पटनकोफर और अमरिख ने सोद्देश्य हैज़ा-स्पाइरिला से युक्त पानी पिया। ये दोनों परीक्षणकर्त्ता बीमार हो गए और उनमें हैज़े के विशिष्ट लक्षण प्रकट हुए। इनमें से एक (शायद अमरिख) तो मरते-मरते बचा।" लेकिन यही लेखक अपनी पुस्तक के दसवें संस्करण में लिखता है : "पटनकोफ़र, अमरिख और उनके कई शिष्यों ने कॉख विब्रियो के ब्रॉथ कल्चर निगले। इससे पटनकोफर को तो केवल मामूली से दस्त हो गए लेकिन उसके दो सहयोगियों को गंभीर किस्म का आंत्रशोथ (एन्टेरिटिस) हो गया जोकि हल्के किस्म के हैज़े के विशिष्ट लक्षण हैं।

लेकिन पाल द क्रुइफ का कथन है, "पटनकोफर ट्यूब का समस्त द्रव पी गया... रहस्यमयी बात है कि उसे कुछ भी नहीं हुआ... यह एक पहेली है जिसके स्पष्टीकरण की भी शुरुआत नहीं हुई है।"

इस घटना के अन्य विवरण भी एक-दूसरे से भिन्न हैं और शायद सही तथ्य अब कभी प्रकट नहीं होंगे। यह घटना अब संदिग्ध बन कर रह गई है और वैसे भी अब इसका विवरण कोई महत्व नहीं रखता। पटनकोफर के वफादार सहायक अमरिख के प्रति अवश्य हमारी कुछ सहानुभूति होती है क्योंकि इस 'प्रयोग' के पहले हैजे के संबंध में उसकी चाहे जो धारणा रही हो, इसके उपरांत उसके विचार असंदिग्ध हैं। वह मानने लगा कि कॉख की मान्यता सही थी और पटनकोफर की गलत; और यह कि वह स्वयं ईश्वर की दया से ही जीवित बच गया था। उसने 'भू-जल के नियम' का बहिष्कार कर दिया और नए विज्ञान के अग्रणियों के साथ हो लिया। उसने स्वयं भी अपने अध्ययन से कीटाणु-संबंधी ज्ञान में अभिवृद्धि कराई।

ऐसे मनुष्य बहुत बिरले होते हैं जो कि अपने निष्कर्षों व मान्यताओं से भी सत्य को सर्वोपरि स्थान देते हैं। कम-से-कम पटनकोफर ऐसे आदमियों में से नहीं था। वह महामारियों और विशेषतया हैजे का सर्वोच्च विशेषज्ञ विद्वान माना जाता रहा था। अब वह मानव तर्क-प्रतिमा की अन्यतम खोज, अपने 'भू-जल के नियम' का स्थान नगण्य रूप से छोटे, अर्धविराम-आकार वाले कीटाणुओं को कैसे ग्रहण करने देता? इन कीटाणुओं के पीछे न कोई तर्क था, न कोई सिद्धांत या नियम—इनमें तो बस अपना अस्तित्व बनाए रखने की एक अंधी आकांक्षा भर थी।

नियम में पुनः संशोधन

परन्तु पटनकोफर कॉख द्वारा प्रमाणित हैजे के कीटाणुओं जिन्हें वह 'डाइन के ठर्रे के मनहूस कीटाणु' (मिज़रेबिल जर्म्स आफ़ विच्स ब्रियू) कहता था, प्रभावित भी हुआ था। अब जबकि यह सिद्ध हो चुका था कि इन कीटाणुओं का अस्तित्व है और जबकि गहन सागरगामी जहाजों पर भी हैजा फैलता देखा गया था, उसके द्वारा बांधा गया यह तूमार चरमराने व लड़खड़ाने लगा और जब उसके गिरने का भय उत्पन्न हो गया, उसके अनुयाईगण दिशादर्शन के लिये उसका मुंह जोहने लगे।

पटनकोफर ने अपने इन श्रद्धालु अनुयाइयों को हतोत्साहित नहीं होने दिया। उसने अपने 'भू-जल के नियम' को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। इस नए नियम में यद्यपि उसने हैज़े के कीटाणुओं के अस्तित्व को स्वीकार किया तो भी उसने यह मानने से इन्कार कर दिया कि ये एक मनुष्य से दूसरे में प्रवेश करते हैं। 'कॉख गलत कहता है", पटनकोफर बोला। "हैजा-पीड़ितों के उत्सर्जित मल में कोई संदूषण नहीं होता। टाइफाइड ज्वर के कीटाणुओं के समान हैज़े के कीटाणु भी मनुष्य को संक्रमित करने के उपरांत अपनी प्रचंडता खो बैठते हैं और अहानिकर हो जाते हैं। हाल के किसी रोगी को प्रदान कर देने के कारण उनमें जिस हैजा-मिअज्मा का ह्रास हो चुका होता है, उसके भंडार को पुनः भरने और परिपक्व होने के लिये उन्हें फिर पानी सहित अव-भूमि के रंध्रों में प्रविष्ट होना पड़ता है। मिट्टी और

(शेषांश पृष्ठ 67 पर)

समुद्र की सतह से ऊंचाई (फुटों में)	हैज़े से मरने वाले (प्रति दस हज़ारों लोगों में से)	
	पटनकोफर द्वारा अनुमानित	वास्तव में मरने वाले
0	177	174
10	102	99
30	65	35
50	34	34
70	27	27
90	22	22
100	17	20
350	7	6

पटनकोफर ने यह तर्क पेश किया कि ऊंचे स्थलों पर भूमि में कम जल होगा और इसलिए हैजा भी कम होगा। उसकी गणनाओं के परिणाम यहां सारणी में दिये जा रहे हैं। यह परिणाम चकित करने वाले हैं। कोई सिद्धांत कैसे ही एक साथ गलत भी हो सकता है और सही भी प्रतीत हो सकता है। वास्तव में यह एक अद्भुत संयोग है। लेकिन शायद इसकी एक और व्याख्या भी हो सकती है। यह भी संभव है कि वास्तव में मरनेवालों का विवरण तत्कालीन स्वास्थ्य रिपोर्टों में छप चुका हो और पटनकोफर द्वारा अपनी गणनाएं प्रारंभ करने से पहले ही उसे उपलब्ध हो।

चन्द्रमा पर मानव अवतरण अभियान

अपोलो योजना

देवेन्द्रनाथ भटनागर



अपोलो–8 यान का मार्ग

दिसम्बर 1968 की 21 तारीख को अमरीका ने अपना चिर-प्रतीक्षित समानव-चन्द्र-यान, अपोलो-8, को उसके लक्ष्य पर भेज दिया। यद्यपि इस यान की यात्रा के कार्यक्रम के बारे में लोगों को अग्रिम सूचना थी परन्तु फिर भी यह समाचार सबके लिये बहुत सनसनीखेज था। मानव का सदियों का स्वप्न साकार होने जा रहा था। मनुष्य पहली बार चन्द्रमा के निकट जा रहा था। अपोलो-8 के यात्रियों ने अपने लक्ष्य के अनुसार अपनी यात्रा की, चांद के इर्द-गिर्द दस चक्कर काटे और 27 दिसम्बर, 1968 को 5,37,000 मील की यात्रा के बाद सकुशल वापस लौट आये। अपोलो-8 की इस ऐतिहासिक यात्रा का अधिक विवरण प्रस्तुत करने से पहले चन्द्रलोक की यात्रा का संक्षिप्त इतिहास बताना अधिक उपयुक्त होगा।

अन्तरिक्ष यात्रा के सपने मनुष्य प्राचीन काल से ही देखता आ रहा है। इसका प्रमाण उस समय लिखी गई कहानियों और अन्य गल्प साहित्य में मिलता है। इन गल्प कथाओं में मुख्य हैं जो आनेस केपलर की **सोम्नियम**, बिशप गाडविन की **चन्द्रमा में मनुष्य**, बजेराॅक की **चांद और सूरज की यात्रा**, वाल्येयर की **'माइक्रोमेगाज़'**, जूल्स वर्नकी **'पृथ्वी से चन्द्रमा तक'** और वेल्स की **'चन्द्रमा पर सर्वप्रथम मनुष्य'**। जूल्स वर्न ने काल्पनिक रेलगाड़ीनुमा राकेट में, जो वर्तमान लांचिंग पैड केपकेनेडी के बिल्कुल पास से छोड़ा गया था, अपने यात्रियों को चन्द्रमा की एक परिक्रमा करा कर वापिस धरती पर उतार लिया था। उसकी यह कल्पना कभी सत्य के इतने निकट उतरेगी किसी ने सोचा भी न था।

वर्न के **'कोलम्बियाड'** में भी तीन ही यात्री थे और वापसी पर समुद्र में ही उतरे थे। वर्न ने ही कुत्तों को सर्वप्रथम अन्तरिक्ष यात्रा के लिए चुना था। वर्न और वैल्स दोनों ने ही अपने अन्तरिक्ष यानों को छोड़ने के लिये बड़ी-बड़ी तोपों का उपयोग किया था।

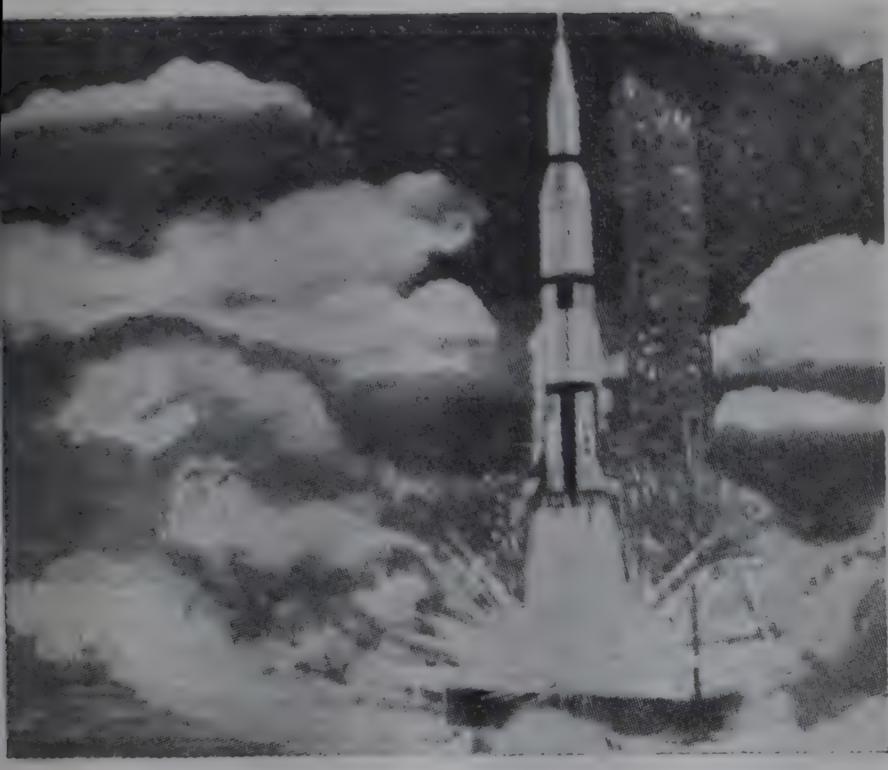
जहां एक ओर उपन्यासकार अपनी कल्पना की उड़ान भर रहे थे वहीं कुछ वैज्ञानिक उस कल्पना को मूर्त रूप देने में कार्यरत थे। वैज्ञानिकों पर इन कल्पनाओं का असर कितना गहरा था यह इसी से पता चलता है कि राकेटों के जनक गोडार्ड जिस दिन से चन्द्र यात्रा में दिलचस्पी लेने लगे थे उस दिन की सालगिरह का वर्न के उपन्यास नियमित रूप से पढ़ा करते थे। इन कल्पनाओं को मूर्त रूप देने के लिये जिन यानों का निर्माण गोडार्ड, त्सिओल्कोवस्की और ओवर्थ ने किया वे प्रथम राकेट थे जिनमें द्रव ईंधन का प्रयोग किया गया था।

गोडार्ड के अनुसन्धानों के फलस्वरूप 16 मार्च, 1926 को संसार के प्रथम द्रव-ईंधन राकेट ने लगभग 56 फुट की दूरी 2.5 सेकंड में तय की। गोडार्ड का सबसे अच्छा राकेट 2736 मीटर की ऊंचाई तक पहुंच पाया।

त्सिओल्कोवस्की ने अंतरिक्ष यात्रा की तकनीकी आवश्यकताओं का अध्ययन किया और अपनी किताबों में एक ऐसी ही यात्रा का वर्णन भी किया। इनकी किताबें सोवियत रूस में राकेट तकनीक के विकास के लिये बहुत प्रेरणा स्रोत रहीं। रूस में पहला द्रव-ईंधन राकेट 1933 में बना। उपरोक्त दो वैज्ञानिकों के अलावा जो वैज्ञानिक आधुनिक

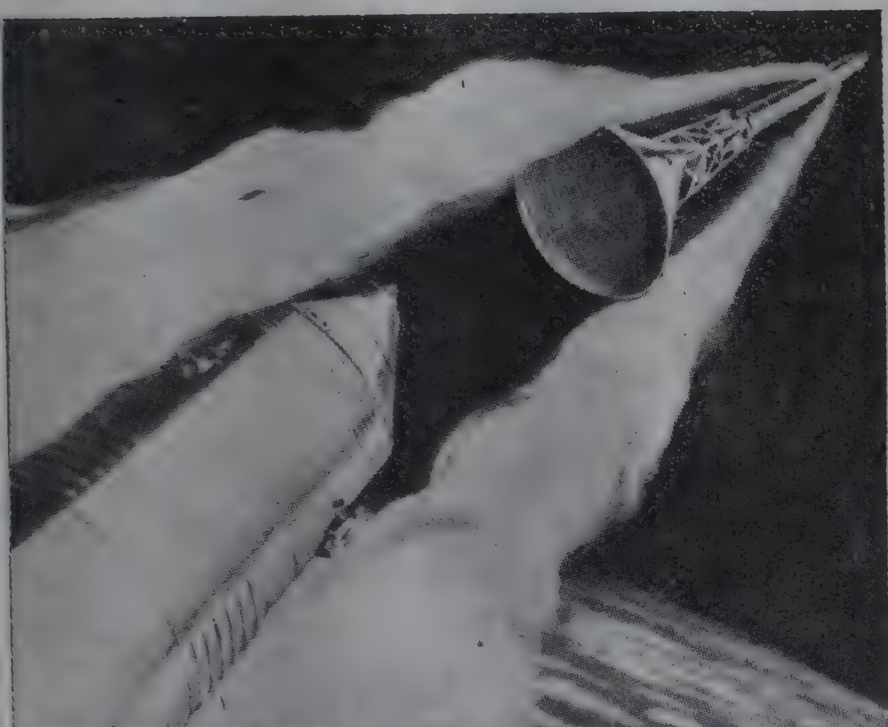
राकेट तकनीकी के लिये अधिक जिम्मेदार हैं वे हैं हरसन आवर्थ। यह भी लगभग उन्हीं दिनों राकेट तकनीकी के विकास में लगे हुए थे। इनके अनुसन्धानों का उपयोग जर्मनी में महायुद्ध के दौरान बड़े वी-2 राकेटों के निर्माण के लिये किया गया। यह राकेट नियंत्रित बमों की भांति इस्तेमाल किये जाते थे। यूरोप का प्रथम द्रव-ईंधन राकेट 1931 में जर्मनी में छोड़ा गया।

जो कहानियां-किस्से चन्द्र यात्रा को लेकर गढ़े गये उनसे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वे कल्पना को वास्तविक रूप देने के काम में मनुष्य के लिये प्रेरणा स्रोत बन गये और जो अनुसन्धान अब तक केवल एक वैज्ञानिक उत्सुकता मात्र थे अब हजारों इन्जीनियरों, वैज्ञानिकों और तकनीशियनों का व्यवसाय बन गये। गोडार्ड के प्रथम द्रव-ईंधन राकेट की उड़ान से लगभग 30 वर्ष के भीतर ही अंतरिक्ष युग का प्रारम्भ हो गया। किन्तु अन्तरिक्ष युग के प्रारम्भ करने में दो बड़े अनुसन्धानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा—परमाणु शक्ति और द्रव-ईंधन बैलेस्टिक राकेट।



सैटर्न राकेट द्वारा अपोलो यान का प्रक्षेपण

वास्तविक अंतरिक्ष युग का प्रारम्भ तो 1957 के अक्तूबर माह की 4 तारीख को हुआ जब स्पूतनिक प्रथम अंतरिक्ष में छोड़ा गया। हर 16 मिनट में पृथ्वी का चक्कर लगाने वाले इस स्पूतनिक ने संसार को अचम्भे में डाल दिया। इसी के एक माह बाद स्पूतनिक-2, छोड़ा गया जो प्रथम अंतरिक्ष यात्री 'लाइका' नामक कुतिया को लेकर उड़ा। 24 मीटर लम्बे इस स्पूतनिक का वजन 7,000 पौंड था। स्पूतनिक-2 से दो माह पूर्व अमरीकी वेनगार्ड के उड़ाने का प्रयास असफल रहा। स्पूतनिक ने संसार के दो बड़े राष्ट्रों के बीच अन्तरिक्ष विजय के लिये होड़ प्रारंभ कर दी।



यान व्यवस्था से विमुक्त होते हुए

विभिन्न पहलुओं का अध्ययन

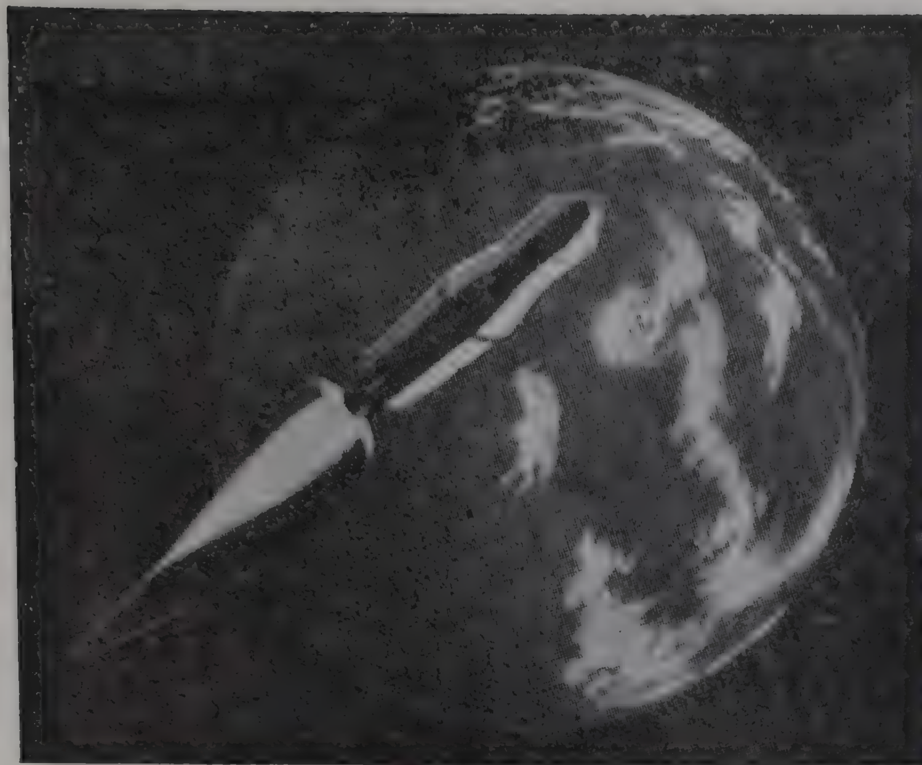
स्पूतनिक माला के अतिरिक्त वेनगार्ड, एक्सप्लोरर, डिस्कवरर, कास्मास आदि अनेक उपग्रह, अंतरिक्ष के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिये छोड़े गये। चन्द्रमा के अध्ययन के लिये छोड़े जाने वाले यान की शृंखला में ल्यूनिक, पायोनियर, रेंजर,ल्यूना तथा सर्वेयर विशेष उल्लेखनीय हैं। चन्द्र यान भेजने में भी पहल रूस ने की। उसने 1957 में ही ल्यूनिक प्रथम चन्द्र यान भेजा। पर यह चन्द्रमा की कक्षा में न जाकर सूर्य की कक्षा में चला गया। उसके लगभग दो माह बाद अमरीकी कृत्रिम उपग्रह पायोनियर-4 चांद की कक्षा में भेजा गया पर यह भी चांद से 37,3000 मील की दूरी पर चांद को बचाता हुआ सूर्य की कक्षा में चला गया। अंततः 1951 के सितम्बर की 12 तारीख को रूसी ल्यूनिक ने चांद के धरातल पर अपने को उतारा। ल्यूनिक-3 ने चांद के तब तक कभी न देखे गये छिपे भाग के चित्र पृथ्वी पर भेजे। 1960 के अन्त तक अमेरिका पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले 31 कृत्रिम और दो सुदूर अंतरिक्ष यान और रूस 7 उपग्रह और एक सुदूर अंतरिक्ष यान छोड़ चुका था।



एस IV इंजन द्वारा अंतरिक्ष यान की गति में वृद्धि

मानवरहित अंतरिक्ष यान भेजने के बाद तर्कसंगत कदम था मानव को अंतरिक्ष में भेजना। इसमें भी रूस ने ही पहल की। रूसी नागरिक यूरी गगारिन प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 12 अप्रैल, 1961 को

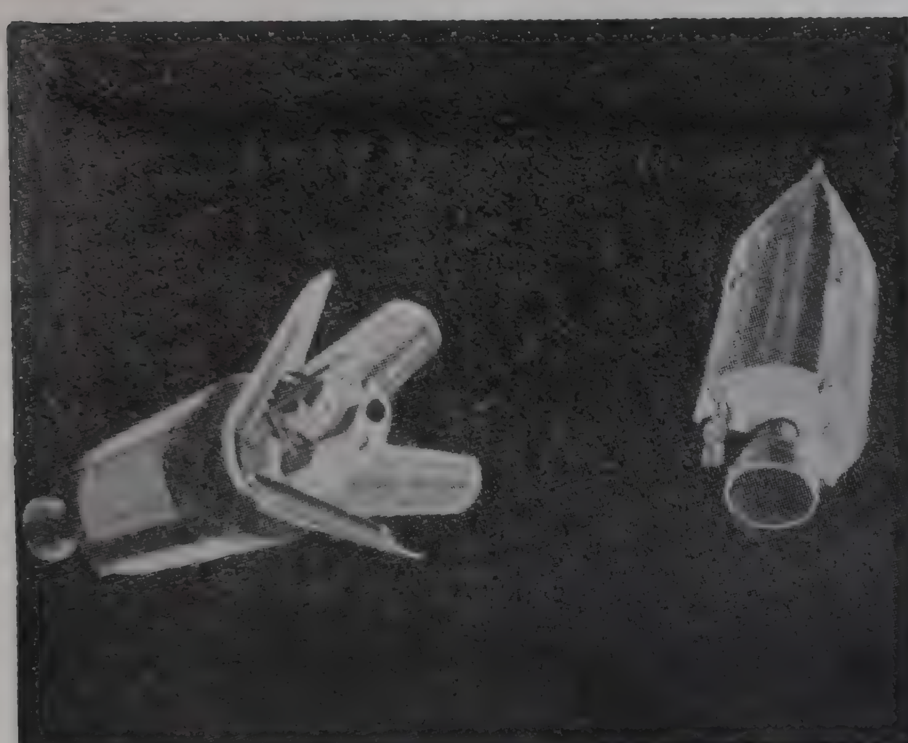
मानव की अंतरिक्ष यात्रा का श्रीगणेश किया । उन्होंने अपने वोस्तोक प्रथम में 108 मिनट में पृथ्वी का एक चक्कर लगाया और सकुशल धरती पर वापस आ गये । उसके बाद अमेरिका और रूस दोनों ने अनेक समानव अंतरिक्ष यान छोड़े । अब तक रूस और अमेरिका 52 मानव (अपोलो-8 के यात्रियों सहित) अंतरिक्ष में भेज चुके हैं । इनमें से कई यात्रियों ने अंतरिक्ष यात्रा के ौरान खाना, सोना, चलना-फिरना जैसी सामान्य शारीरिक क्रियायें ही नहीं की वरन् वे यान से बाहर निकल कर खुले अंतरिक्ष में चले हैं और काफी देर तक सैर भी की है । इस उड़ान के बाद मनुष्य अपने लक्ष्य, चांद की यात्रा के अधिक से अधिक निकट आता गया ।



पृथ्वी की कक्षा से मुक्ति—चांद की ओर गमन

अपोलो योजना

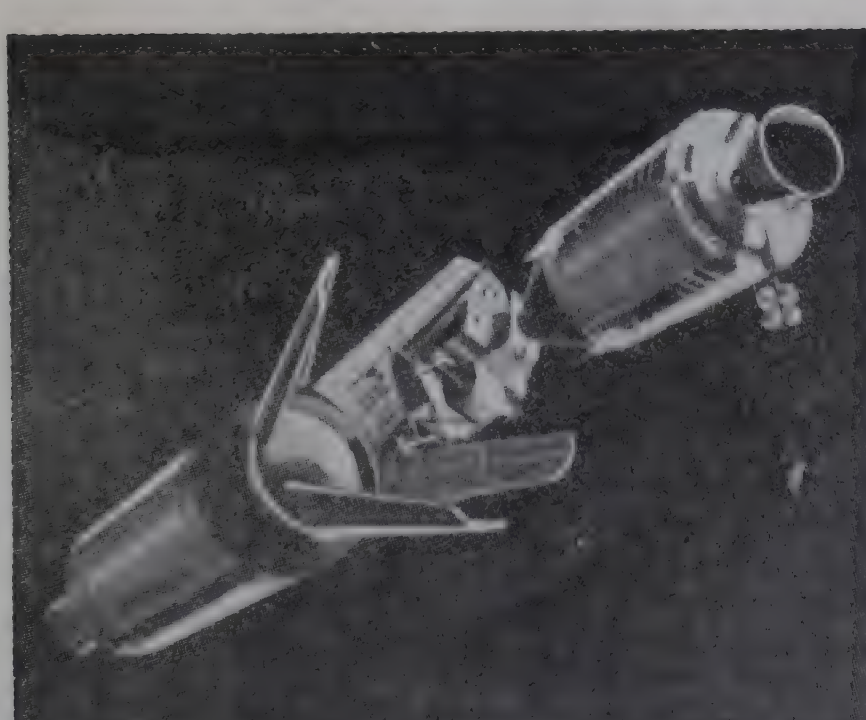
चन्द्रमा पर मनुष्य को उतारने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो योजना बनाई वह है अपोलो योजना । इस योजना से पूर्व दो त सबंधी योजनायें—मरकरी और जेमिनी कार्यान्वित की जा चुकी थीं । मरकरी योजना ने न केवल मनुष्य की अंतरिक्ष यात्रा सम्बन्धी आवश्यक तकनीकी जानकारी में वृद्धि की बल्कि उसकी अंतरिक्ष उड़ान की क्षमता सम्बन्धी सूचनायें भी प्रदान कीं । जेमिनी योजना ने मरकरी योजना से प्राप्त अनुभव और तकनीकी ज्ञान में वृद्धि की । अपोलो योजना का उद्देश्य रखा गया सौर परिवार के किसी अन्य पिण्ड की मानव यात्रा । चन्द्रमा हमारे निकट का खगोलीय पिण्ड है, अतएव पहले चन्द्र यात्रा का कार्यक्रम ही तैयार किया गया ।



आदेश और सेवा कक्षों का दिशा परिवर्तन

चन्द्रमा पर मनुष्य को उतारने के लिये तीन तरीके अपनाये जा सकते हैं : (1) अंतरिक्ष यान की पृथ्वी से चन्द्रमा की सीधी यात्रा और वापिसी; (2) पृथ्वी से दो अलग-अलग भागों में यान को कक्षा में भेजना, वहां उनका समायोजन और फिर उन दोनों को एक यान के रूप में चांद पर उतारना और वापिस ले आना; (3) पूर्ण यान को चांद की कक्षा में भेजना, उसके एक भाग को चांद पर उतारना और दूसरे भाग को उस समय तक चांद के इर्द-गिर्द घुमाते रहना जब तक चांद पर भेजा गया भाग वापिस आकर उससे न जुड़ जाय । गहन अध्ययन और प्रयोगों के बाद अपोलो यानों के लिये तीसरा तरीका अपनाया गया । इस विधि में चांद पर राकेट उतारने और वहां से वापिस लाने के लिये अपेक्षाकृत कम शक्ति वाले राकेटों की आवश्यकता होगी और समूची यात्रा में ईंधन भी कम लगेगा ।

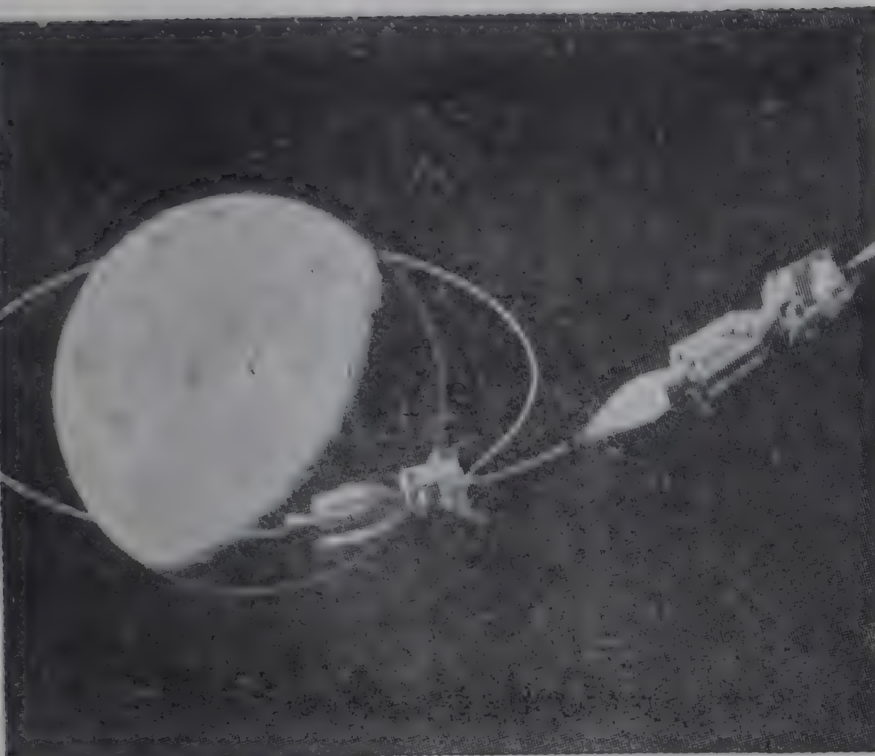
अब तक अपोलो योजना के अन्तर्गत 8 यान भेजे जा चुके हैं जिनमें 6 मानव रहित थे और अपोलो-7 और अपोलो-8 समानव यान थे । (अपोलो-7 के बारे में आप विज्ञान प्रगति के दिसम्बर 1968 अंक में पढ़ चुके हैं ।)



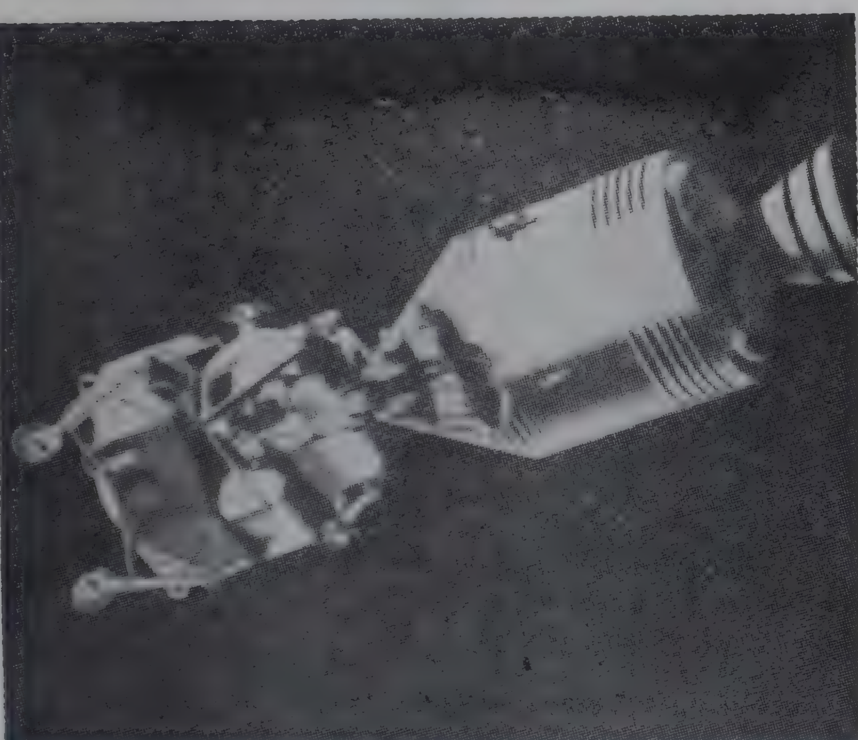
एस. IV से कक्षों की मुक्ति

सैटर्न राकेट

अपोलो अन्तरिक्ष यानों को छोड़ने के लिये जिस राकेट का चयन किया गया वह हैं सैटर्न श्रृंखला के राकेट । इस श्रृंखला के राकेट-1 ने 27 अक्तूबर, 1961 को प्रथम उड़ान की । इसकी प्रघात क्षमता 13 लाख पौंड थी । 1964 की 28 मई को सैटर्न ने अपोलो प्रथम को पृथ्वी की कक्षा में भेजा । सैटर्न पांच काफी परीक्षणों के



चन्द्रमा की कक्षा में प्रवेश



यात्रियों का चन्द्र कक्ष में स्थानान्तरण

बाद समानव अंतरिक्ष यान को चांद पर भेजने के लिये उपयुक्त समझा गया । यह एक बहुत बड़ा राकेट है । अपोलो समेत इसका वजन 3,000 टन है और लम्बाई 385 फुट, लगभग 36 मंजिल ऊंची इमारत के बराबर । यह तीन खंड का राकेट है और इसके तीसरे खंड के इंजन भी चालू किये जा सकते हैं । इसका पहला खंड 136 फुट लम्बा और 33 फुट व्यास का है––इसका वजन 24 टन है । इसमें दो ईंधन टैंक हैं । एक में 1,600 टन द्रव आक्सीजन और दूसरे में 650 टन बेहद साफ किया हुआ मिट्टी का तेल होता है । बिना ईंधन के इस खंड का वजन केवल 150 टन होता है। टैंकों में से ईंधन इसमें लगे हुए पांच इंजनों में जाता है जो 15 टन प्रति सेकंड के हिसाब से ईंधन खर्च करते हैं । हर इंजन समुद्र की सतह पर 15 लाख पौंड प्रघात देने की क्षमता रखता है । इसमें चार पंख (फिन) हैं जो उड़ान के दौरान इसे संतुलन प्रदान करते हैं । यह खंड राकेट और अंतरिक्ष यान को 38 मील की ऊंचाई पर 6,000 मील प्रति घंटे की रफ्तार पर छोड़ता है ।

प्रथम खंड के ठीक ऊपर दूसरा खंड है जो 81 फुट ऊंचा और 500 टन भारी है । इसका व्यास 33 फुट है और यह 470 टन ईंधन लेकर चलता है । इसमें द्रव आक्सीजन और द्रव हाइड्रोजन जलाई जाती है । इसमें भी पहले खंड की तरह पांच इंजन होते हैं और हरेक 200,000 पौंड प्रघात देने की क्षमता रखता है । राकेट का तीसरा खंड 59 फुट ऊंचा और 22 फुट व्यास का और 130 टन भारी है । इसमें 115 टन ईंधन होता है । इस खंड में केवल एक इंजन होता है और इसमें भी वही ईंधन प्रयोग में लाया जाता है जो दूसरे खंड में प्रयुक्त होता है । इसकी धकेलने की शक्ति 100 टन की है । इस खंड में 10 सहायक इंजन होते हैं इसके अलावा इसमें एक उपकरण कक्ष भी होता है जो सबसे ऊपर की ओर लगा होता है । इसमें तीनों खंडों को सही ढंग से चालू करने, दिशा निर्देशन करने, नियंत्रित और संतुलित रखने आदि के लिये यंत्र लगे होते हैं ।



चन्द्र कक्ष की मुक्ति



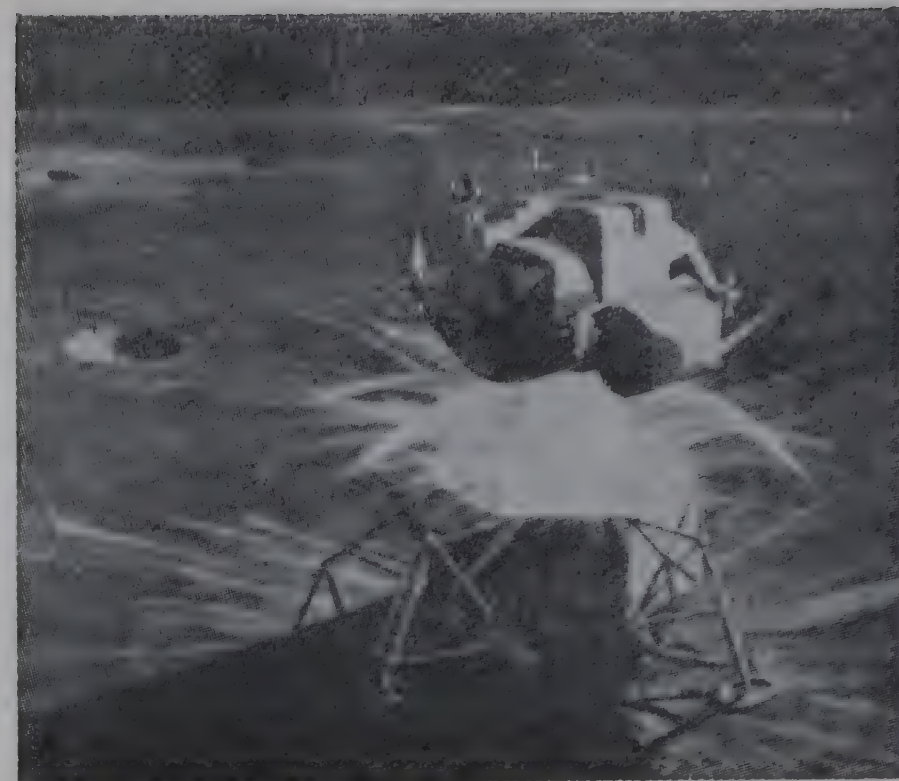
चांद पर चन्द्र कक्ष का अवतरण

अपोलो यान

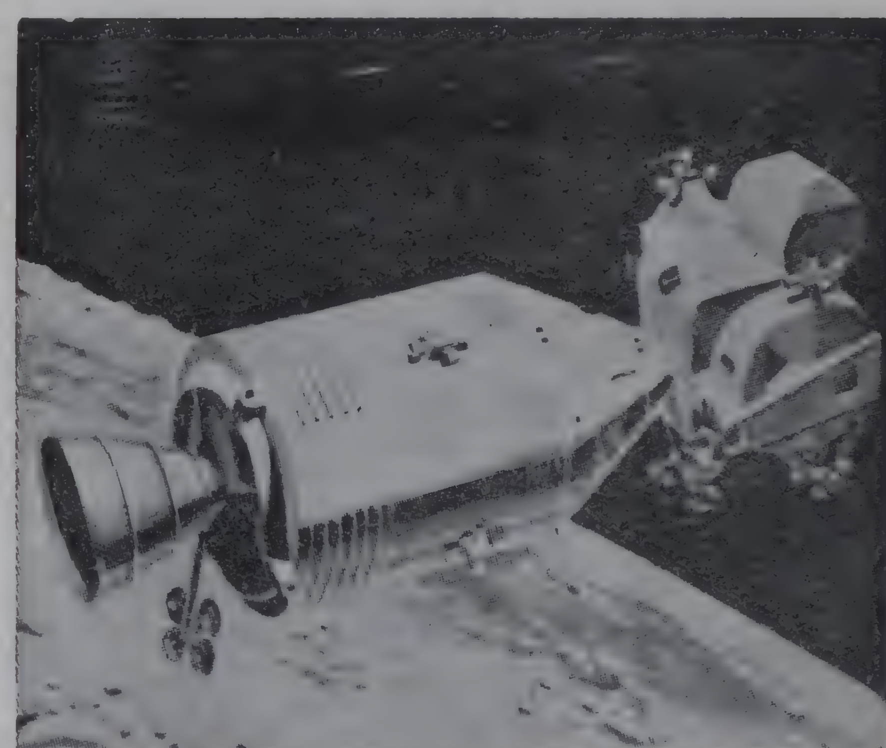
यद्यपि अपोलो योजना के अन्तर्गत जितने यान छोड़े गये उनकी सामान्य रूप रेखा एक सी है परन्तु प्रत्येक यान में, उससे पहले छोड़े गये यान से प्राप्त ज्ञान के आधार पर आवश्यक संशोधन किये जाते रहे हैं । अपोलो अंतरिक्ष यान व्यवस्था आमतौर पर 82 फुट लम्बी और लगभग 45 टन भारी होती है । इसमें तीन अलग-अलग कक्ष होते हैं इन तीनों कक्षाओं का नाम है आदेश कक्ष, सेवा कक्ष, और चांद कक्ष ।

आदेश कक्ष ही केवल ऐसा हिस्सा है जो अन्तरिक्ष यात्रा के बाद पृथ्वी पर वापिस आता है । इसमें अन्तरिक्ष यात्रियों के रहने का स्थान, नियंत्रण और इंजनों आदि को चालू करने के उपकरण लगे होते हैं । यह शंकु के आकार का है । इसके तले की चौड़ाई 13.8 फुट और लम्बाई 12 फुट है । इसमें दो खोल होते हैं । अन्दर वाले खोल में जिसमें यात्री होते हैं दाब को नियंत्रित किया जा सकता है अर्थात् वहां इतना दाब रखा जाता है कि यात्रियों को असुविधा न हो और दूसरा बाहरी खोल जो गर्मी से अंदर वाले खोल की रक्षा करता है । इसका भार 12,000 पौंड होता है । इसमें पांच खिड़कियां होती हैं । आंतरिक वातावरण को नियंत्रित करने के लिए एक विशेष व्यवस्था होती है जो 5 पौंड प्रति वर्ग इंच के दाब पर आक्सीजन छोड़ती है । कक्ष ताप लगभग 75 फा. और अपेक्षित आर्द्रता 40 से 70 प्रतिशत के बीच रखी जाती है ।

आदेश कक्ष के ऊपर मीनार के आकार का लांच एस्केप व्यवस्था होती है जो 8,200 पौंड भारी होती है । यदि प्रक्षेपण पर या उड़ान के एकदम बाद कोई खतरा हो जाय तो यह कक्ष आदेश कक्ष को लेकर बाकी खंडों से अलग हो जाता है जहां से पैराशूट की सहायता से आदेश कक्ष सही-सलामत धरती पर वापस आ जाता है । अंतरिक्ष यान के दूसरे खंड के जल जाने के 35 सेकंड बाद लांच एस्केप सिस्टम कक्ष से एक अन्य छोटे मोटर द्वारा अलग कर दिया जाता है ।



पृथ्वी की ओर यात्रा आरम्भ



आदेश कक्ष से चन्द्र कक्ष का युग्मन



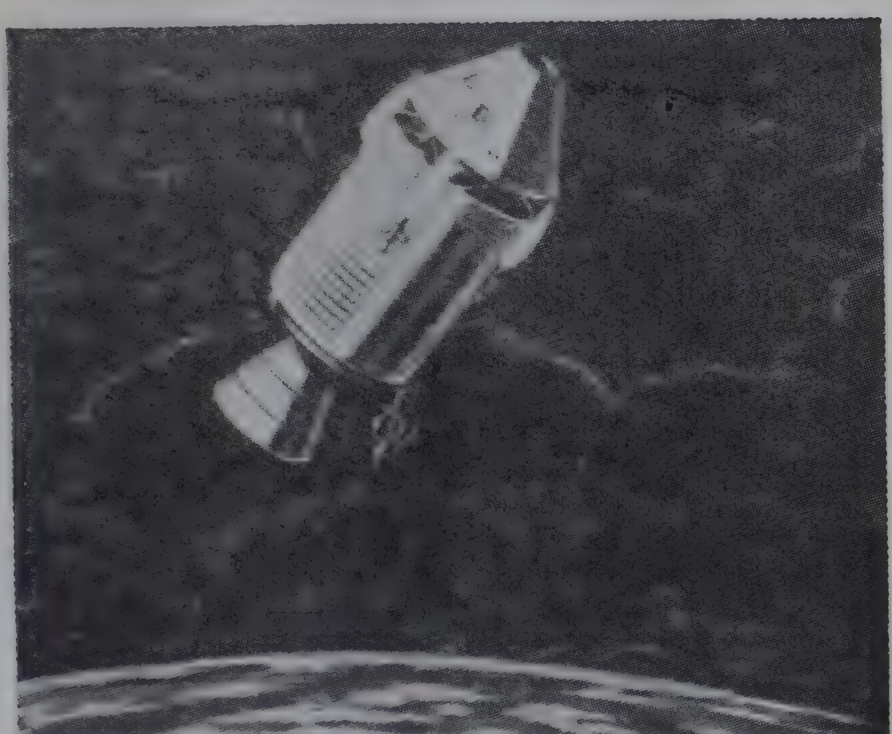
चन्द्र यात्रियों द्वारा चांद की सतह का अवलोकन



चांद की कक्षा में परिक्रमा



चांद की कक्षा से पृथ्वी की ओर गमन



आदेश कक्ष की मुक्ति



पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश

आदेश कक्ष के ठीक नीचे एक शंकु के आकार का छोटा सेवा कक्ष होता है । इसकी ऊंचाई 10 फुट 7 इंच और सबसे चौड़े भाग का व्यास 12 फुट 10 इंच होता है ।

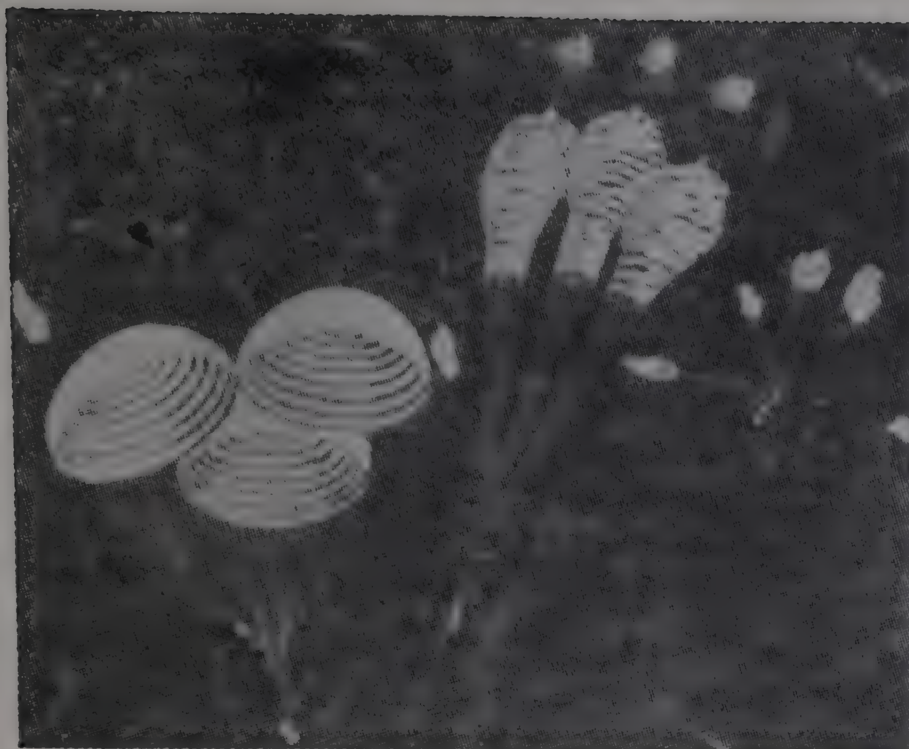
इसका भार 55,000 पौंड होता है । इसमें यान के लिये बिजली पैदा करने का यंत्र और अनगिनत यंत्रों को नियंत्रित और संचालित करने के लिये 506 स्विच और 400 यांत्रिक सूचक होते हैं । यह 22,000 पौंड प्रघात पैदा करता है और चन्द्रमा की कक्षा में प्रविष्ट होने से पहले यान की गति को कम करता है । यहीं से यान की उड़ने की दिशा में संशोधन किया जाता है । यह कक्ष आदेश कक्ष के पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करने से पूर्व अलग हो जाता है । सेवा कक्ष के नीचे एक ऐडेप्टर होता है जो अपोलो यानों को सैटर्न-5 राकेट के तीसरे खंड से जोड़ता है । इस खंड में ही चन्द्र खंड रहता है । यह 28 फुट लम्बा होता है और ऊपरी सिरे पर इसका व्यास 12.8 फुट और नीचे की ओर 22 फुट होता है । इसका वजन 4,000 पौंड होता है ।

चन्द्र खंड का वजन लगभग 35,000 पौंड होता है । यान का यह खंड ही आदेश कक्ष और सेवा कक्ष से अलग होकर चन्द्रमा की सतह पर उतरेगा । 'मकड़ी' के सदृश आकार के इस हिस्से में दो खिड़कियां होती हैं जो चन्द्रमा की सतह पर उतरने पर आंखों का काम देंगी । चार 'टांगें' इसे सहारा देकर चांद की सतह पर सीधा खड़ा रखेंगी । इस हिस्से की सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें दिशा निर्देश, नियंत्रण और संतुलन के लिये अलग-अलग व्यवस्था है ताकि इसमें बैठे हुए यात्रियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो । चन्द्र कक्ष के नीचे उतरने की जो प्रोपलशन व्यवस्था है उसमें थ्रोटल लगा होता है । इसके इंजन की प्रघात शक्ति कम ज्यादा की जा सकती है । इसका प्रघात 1,050 से 10,500 पौंड तक है । इस प्रकार की प्रघात शक्ति की आवश्यकता इसलिये है कि यह कक्ष चन्द्रमा पर इच्छित स्थान पर धीरे से उतर सके । उतरते समय जब खंड चन्द्रमा की सतह से 15 फुट की दूरी पर हो उस समय इसकी चाल केवल 3 मील प्रति घंटे होनी चाहिये । इसकी टांगें इस प्रकार से बनाई गई हैं कि उतरने के वक्त जो भी झटका लगे वे उसे बर्दाश्त कर सकें और यान को तथा उसके अन्दर बैठे यात्रियों को किसी किस्म का कोई नुकसान न हो । यान के किसी ऊंची-नीची जगह पर उतरने की दशा में भी इसकी टांगें इसका संतुलन खराब होने से बचायेंगी ।

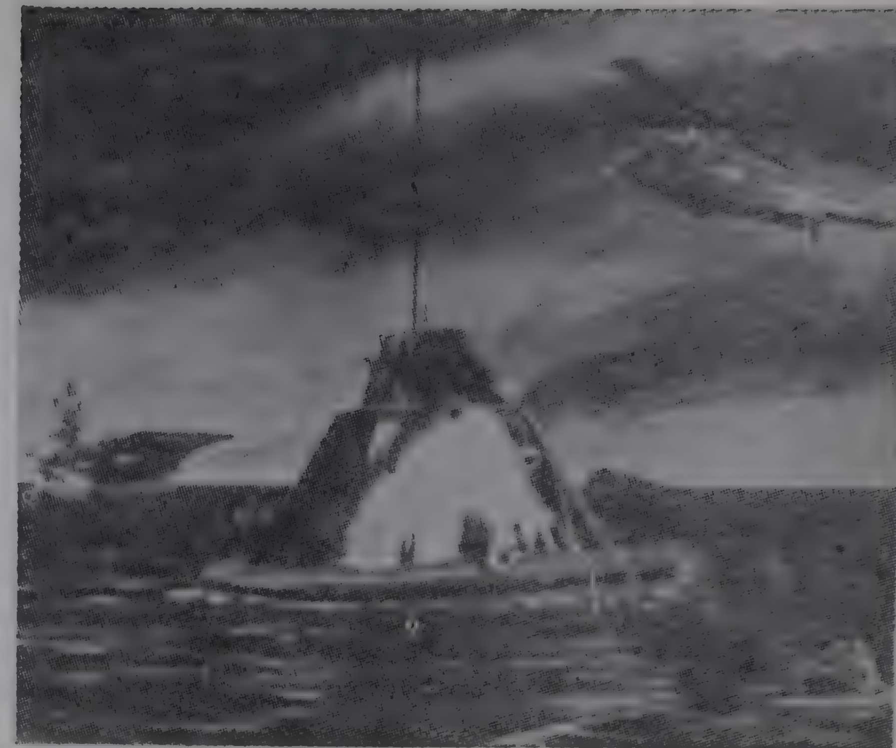
इस कक्ष के भी दो अलग-अलग हिस्से हैं । नीचे के भाग में इंजन और टांगें है जो चन्द्रमा की सतह पर उतरने के समय काम में आयेंगी और चन्द्रमा से वापसी के समय यह भाग एक प्रक्षेपण स्थल का काम करेगा । उस समय इस कक्ष का ऊपरी भाग, जिसमें अंतरिक्ष यात्रियों के बैठने का केबिन है और ऊपर उठने के लिये इंजन लगा है, इसी इंजन की सहायता से अपनी टांगों को नीची (चन्द्रमा पर) छोड़ कर ऊपर उड़ जायेगा तथा चन्द्रमा की कक्षा में घूमते हुए आदेश और सेवा कक्ष के साथ जुड़ जायेगा ।

अपोलो-8

दिसम्बर 1968 की 21 तारीख को शाम के 6 बजकर 21 मिनट पर एक ऐसा ही यान--अपोलो-8--अमेरिका के केप केनेडी



पैराशूटों से धरती पर उतरना



चांद की सफल यात्रा के बाद समुद्र में अवतरण

प्रक्षेपण स्थल से चन्द्रमा के लिये रवाना हुआ । इसका ध्येय था चन्द्रमा की कक्षा में जाकर उसके धरातल का निरीक्षण करना और भविष्य के अपोलो यानों से चन्द्र यात्रा पर आने वाले यात्रियों के चन्द्रमा पर उतरने के स्थान का सर्वेक्षण और चयन करना । सैटर्न-5 राकेट इस यान को लेकर आकाश में उड़ा । अन्तरिक्ष यात्री थे अन्तरिक्षयान के कमाण्डर फ्रैंक बोरमन, कमांड-कक्ष के चालक जेम्स लौवेल और चन्द्र कक्ष के चालक विलियम एण्डर्स । 383 फीट ऊंचे––या 36 मंजिली इमारत के बराबर ऊंचाई वाले इस राकेटयान का भार 3,000 टन था और प्रक्षेपण प्रघात (लांचिंग थ्रस्ट) 7,500,000 पौंड । दूसरे शब्दों में इसका प्रघात 115 चार इंजनों वाले भारवाहक हवाई जहाजों के पूरी रफ्तार से चलने के बराबर । इस यान पर चन्द्र कक्ष के बजाय उसी के वजन के बराबर का ल्यूनर रैस्ट आर्टिकल था । सैटर्न-5 ने इसे पृथ्वी से 119 मील ऊपर कक्षा में स्थापित किया । पृथ्वी की कक्षा में पहुंचने पर और पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाने के दौरान इन यात्रियों ने अपने यान की मशीनों की जांच पड़ताल की । यानों की सब मशीनें ठीक काम कर रही थीं । इस पार्किंग कक्षा को छोड़कर चन्द्रमा की यात्रा पर प्रस्थान करने का 'निर्देश' पाने पर यान में रात्रि के 9 बजकर 12 मिनट पर सैटर्न के तीसरे खंड के इंजन चालू करके पृथ्वी की कक्षा छोड़कर अन्तरिक्ष में प्रवेश किया । निर्देश मिलने से पहले वे पृथ्वी की कक्षा का डेढ़ चक्कर लगा चुके थे । चौबीस तारीख को रात के 1 बजकर 59 मिनट पर यान ने चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सीमा में प्रवेश किया । जब चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ने यान को अपनी ओर खींचना शुरू किया तब वे चन्द्रमा से 5,000 मील की दूरी पर थे । इसके बाद यान की गति बढ़ने लगी । इससे केवल कुछ मिनट पहले अन्तरिक्ष यात्रियों ने टेलीविजन सन्देश व चित्र प्रसारित किये और 3,20,000 किलोमीटर की दूरी से पृथ्वी का अध्ययन किया । कार्यक्रम के अनुसार यान ने 3 बजकर 29 मिनट पर चन्द्रमा की कक्षा में पहुंचने के लिए राकेट इंजन चालू किया और फिर वे उसकी कक्षा में पहुंचे गये । वहां पहुंच कर यान को चन्द्रमा के दस चक्कर लगाने थे जो अगले दिन अर्थात् 25 तारीख को प्रातः 11 बजकर 36 मिनट पर पूरे हो गये और 11 बजकर 40 मिनट पर यान ने पृथ्वी की ओर अपनी वापसी शुरू कर दी । 27 दिसम्बर की रात को 9 बजकर 21 मिनट पर कार्यक्रमानुसार तीनों यात्री सकुशल प्रशांत महासागर में उतर गये ।

यान की गति उड़ान के शुरू में 1750 मील प्रति घंटे से बढ़कर 25,000 मील प्रति घंटे हो गई थी । जब यान ने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण की सीमा पार की इसके बाद की गति लगभग 35,000 मील प्रति घंटा रही और चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में पहुंच कर और अधिक हो गई । इसकी गति कम करने के लिये इसके इंजनों को चालू किया गया । यान की अधिकतम गति 39,248 किलोमीटर रही जोकि पृथ्वी के वायुमण्डल में वापिस आते समय थी । इन लोगों ने कुल मिलाकर 247 घंटे की यात्रा में 537,000 मील की दूरी तय की । चन्द्रमा की ओर जाने में इन्होंने 69 घंटे लिये और चन्द्रमा के दस चक्कर 20 घंटे में करके वापिसी यात्रा 58 घंटों में पूरी की । अपनी इस छः दिन व तीन घंटे की ऐतिहासिक यात्रा के दौरान इन्होंने न केवल चन्द्रमा के अनेक चित्र लिये बल्कि टेलीविजन द्वारा अपने देशवासियों को चन्द्रमा की सतह के भी दर्शन करवाये । कुल मिलाकर इन्होंने छः बार प्रसारण किया ।

भविष्य का कार्यक्रम

अपोलो-8 की सफलता से प्रेरित होकर अमरीकी वैज्ञानिक 1969 में इसी तरह की और उड़ानें करेंगे । अपोलो-9 के अब तक के प्रकाशित कार्यक्रम के अनुसार यह यान पृथ्वी की कक्षा की यात्रा तक ही सीमित रह कर मकड़ी के आकार के चन्द्र कक्ष का परीक्षण करेगा । यद्यपि मानवरहित उड़ानों में इसका परीक्षण किया जा चुका है, अपोलो-9 में इसका समानव परीक्षण किया जायेगा । इस परीक्षण के लिये चन्द्र कक्ष को मुख्य अन्तरिक्षयान से अलग कर दिया जायेगा उसमें दो अन्तरिक्षयात्री रहेंगे जो उसे हर प्रकार से चलाने का परीक्षण करेंगे । चन्द्रमा की सतह पर उतरने के इस नकली प्रयोग के बाद इसे पुनः मुख्य यान से जोड़ा जायेगा, ठीक उसी तरह जैसा कि चन्द्रमा

(शेषांश पृष्ठ 67 पर)

स्मृति भी प्रतिरोपित की जा सकती है

अशोक सेन और कुमकुम

शरीर के विभिन्न खराब अंगों को निकालकर उनके स्थान पर दूसरे व्यक्ति के अंग प्रतिरोपित करना आज व्यावहारिक रूप से संभव है । फेफड़े, गुर्दे और हृदय तक प्रतिरोपित करना एक आम विषय बन गया है । अब उनके स्थान पर कृत्रिम अंग भी लगाये जा रहे हैं । इस बारे में स्वाभाविक प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के गुणों का भी आदान-प्रदान किया जा सकता है ? वैज्ञानिक इसे सैद्धांतिक रूप से संभव मानते हैं । स्मृति एक ऐसा ही गुण है ।

इस पत्रिका के दिसम्बर 1968 अंक में प्रकाशित 'हमें घटनायें क्यों याद रहतीं हैं ?' लेख में, आप पढ़ चुके हैं कि हमारे द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य (जिनमें देखना और सुनना भी शामिल है) द्वारा उत्पन्न उद्दीपनों की छाप न्यूरानों पर पड़ती है । जिसका प्रभाव उनमें उपस्थिति राइबोन्यूक्लिक एसिड के अणुओं पर पड़ता है और अन्त में संश्लेषित होने वाले प्रोटीन के अणुओं पर पड़ता है जिससे उनके रूप में परिवर्तन आ जाता है । जिस समय तक राइबोन्यूक्लिक एसिड और प्रोटीन के ये परिवर्तित अणु उपस्थित रहते हैं उसी समय तक हमारी स्मरणशक्ति भी बनी रहती है । इतना ही नहीं कुछ वैज्ञानिकों का यह मत भी है कि स्मरणशक्ति और शरीर में उपस्थित राइबोन्यूक्लिक एसिड की मात्रा में गहरा सम्बन्ध है । इसका अर्थ यही है कि किसी जीव में राइबोन्यूक्लिक एसिड की मात्रा जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक वह किसी कार्य को सीखने योग्य हो सकेगा । अमरीका के डा. केमेरान और उनके सहयोगियों ने कुछ प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के ऊपर किये जिनकी स्मरण शक्ति क्षीण हो गई थी । ऐसे व्यक्तियों में उन्होंने यीस्ट से प्राप्त राइबोन्यूक्लिक एसिड को प्रविष्ट कराया, जिसके फलस्वरूप उनकी स्मरणशक्ति में काफी सुधार हुआ है ।

एक ओर जैसे-जैसे हमें स्मरणशक्ति के रहस्य का ज्ञान प्राप्त होता जा रहा था वैसे दूसरी ओर कुछ वैज्ञानिकों ने स्मृति प्रतिरोपण को भी रूप देना चाहा । परन्तु कल्पना कर लेने से ही संतोष कहां ! शीघ्र ही वैज्ञानिकों ने कुछ प्रयोग करना आरम्भ कर दिये । इस प्रकार के प्रयोगों में जन्तुओं को नये काम सिखाये गये । फिर प्रशिक्षित जीवों के मस्तिष्क का निसार अप्रशिक्षित जन्तुओं के शरीर में प्रविष्ट कराया गया और उनका प्रभाव देखा गया । वैज्ञानिकों का विचार था कि यदि वास्तव में स्मृति प्रतिरोपण संभव है तो अवश्य ही अप्रशिक्षित जीव प्रशिक्षित जीवों की तरह वे काम आसानी से कर सकेंगे जो उन्होंने सीखे ही नहीं ।

प्लेनेरिया पर प्रयोग

इसी उद्देश्य को लेकर अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर ऐलन जैकबसन ने अपनी प्रयोगशाला में कुछ प्लेनेरियाओं को प्रशिक्षित किया । प्लेनेरिया केचुएं जैसा एक जन्तु है जिसका शरीर चपटा होता है । डा. जैकबसन ने प्लेनेरिया को एक बक्स में रखा । बक्स में प्रकाश उत्पन्न करने के लिये एक बल्ब और बिजली का एक मन्द धक्का देने के लिये एक इलैक्ट्रोड लगा था । बक्स में



स्मृति-प्रतिरोपण के कुछ प्रयोगों में एक प्रशिक्षित प्लेनेरिया के शरीर को दो भागों में काट दिया गया है। दोनों भाग कुछ ही समय में विकसित होकर नये प्लेनेरिया बन जाते हैं। परख कर देखा गया तो ज्ञात हुआ कि इन 'नये' जीवों में भी प्रशिक्षण का प्रभाव बना हुआ है। ऊपर : प्लेनेरिया, नीचे : प्लेनेरिया का 'विभाजन।'

जीवों को रखकर उन्हें बिजली का धक्का दिया गया, धक्का लगते ही बक्स में बल्ब जल उठा। यह क्रिया उन जीवों के साथ कई बार दुहराई गयी।

बिजली का धक्का लगते ही प्लेनेरिया सिकुड़ जाते थे। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने बक्स में रखे प्लेनेरिया को बिजली का धक्का तो नहीं पहुंचाया परन्तु बल्ब जलाकर प्रकाश किया। परिणाम यह हुआ कि प्लेनेरिया फिर भी सिकुड़ जाते थे क्योंकि वे अब यह सीख गये थे कि प्रकाश के होते ही उन्हें बिजली का धक्का अवश्य लगेगा।

विशेष जानकारी

डा. जैकबसन ने इन 'प्रशिक्षित' प्लेनेरियाओं के शरीर में से राइबोन्यूक्लिक एसिड निकालकर उसे दूसरे अप्रशिक्षित प्लेनेरियाओं में प्रविष्ट कराया। फिर उनको उसी बक्स में रखा और बल्ब को जलाया। यह देखा गया कि अप्रशिक्षित प्लेनेरिया भी अपने शरीर को प्रशिक्षित प्लेनेरियाओं के समान सिकोड़ लेते थे। डा. जैकबसन के इस प्रयोग से स्मृति प्रतिरोपण के विषय में काफी जानकारी प्राप्त हुई।

प्लेनेरिया के शरीर में एक अल्प विकसित नाड़ी संस्थान भी होता है और साथ ही अमीबा की भांति टूटकर वंशवृद्धि करने की क्षमता भी। इस क्षमता के द्वारा प्लेनेरिया के शरीर को कई भागों में काट देने पर प्रत्येक भाग कुछ ही देर बाद विकसित होकर पूरे प्लेनेरिया का रूप धारण कर लेता है।

डा. जैकबसन ने कुछ प्लेनेरियओं को ऊपर वाले प्रयोग द्वारा प्रशिक्षित करके उनके शरीर को दो भागों में बांट दिया। ये दोनों भाग विकसित होकर दो 'नये' प्लेनेरिया बन गये। अब इन 'नये' जीवों को भी जब बक्स में रखकर बल्ब जलाया गया तो वे भी सिकुड़ गये। इससे डा. जैकबसन ने यह परिणाम निकाला कि शायद इन दोनों प्लेनेरियाओं में पहले के प्रशिक्षण का प्रभाव बना हुआ था।

डा. जैकबसन के साथ प्रयोग कर रहे दूसरे वैज्ञानिक डा. मैक-कोनेल का विचार था कि इस प्रशिक्षण में प्लेनेरिया के शरीर में अवश्य कुछ-न-कुछ रासायनिक परिवर्तन आ जाते हैं। उन्होंने भी सोचा कि क्यों न कुछ प्रशिक्षित जीवों की स्मृति का प्रतिरोपण अप्रशिक्षित जीवों में किया जाये? इस कल्पना को वास्तविकता प्रदान करने के लिये उन्होंने प्लेनेरिया में एक अनोखा गुण खोज निकाला। एक भूखा प्लेनेरिया दूसरे प्लेनेरिया को (जिसके शरीर में कोई टूट-फूट आ गई हो) भी खा लेता है।

'अप्रशिक्षित को प्रशिक्षित का भोजन'

डा. मैककोनेल ने कुछ जीवों को प्रशिक्षित कराया और फिर उन जीवों के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कर लिये जिन्हें उन्होंने अप्रशिक्षित प्लेनेरिया को खिला दिया और फिर उन जीवों को उन्होंने अपने प्रयोगों में प्रयुक्त किया। उन्होंने पाया कि वे जीव जिन्हें प्रशिक्षित जीव खिलाये गये थे बिजली के प्रकाश से अपने शरीर को सिकोड़ लेते हैं। इससे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि जीवों में स्मृति का प्रतिरोपण सम्भव है। परन्तु कुछ वैज्ञानिकों का मत यह है कि इन प्रयोगों में कुछ ठीक व्यवस्था न होने के कारण उन्हें पूर्णतः सत्यता की कसौटी पर नहीं उतारा जा सकता।

आज वैज्ञानिक चाहे स्मृति प्रतिरोपण में सफलता प्राप्त कर पाये हों अथवा नहीं हमें आशा है कि भविष्य में अवश्य ही मनुष्यों में भी स्मृति प्रतिरोपण किया जा सकेगा। दूसरी ओर कुछ वैज्ञानिक ऐसे रासायनिक पदार्थों को ढूंढ़ने में कार्यरत हैं जिससे क्षीण स्मरणशक्ति वाले मनुष्यों की स्मृति में सुधार किया जा सके। ऐसा एक रासायनिक पदार्थ है 'मैग्नीशियम पेमोलीन'। इसके प्रभाव से शरीर में राइबोन्यूक्लिक एसिड का उत्पादन शीघ्र और अधिक मात्रा में होने लगता है। सम्भव है कि एक समय ऐसा भी आ जाये जब ऐसे ही रासायनिक पदार्थ की बनी गोलियां दुकानों पर आसानी से प्राप्त हो सकें जिनके खा लेने से मनुष्य अपनी स्मृति शक्ति को पुनः बढ़ा ले।

मानव संस्कृति में ज्योतिष

(पृष्ठ 47 का शेषांश)

प्रकाश में चमकने वाली गैस की विकिरणें चमकदार पृष्ठभूमि पर काली रेखाओं के रूप में दिखायी देंगी। इस नियम से वैज्ञानिकों को सौर और नक्षत्रीय वातावरणों का रासायनिक विश्लेषण करने का आधार प्राप्त हो गया। कालान्तर में किर्चोफ ने सूर्य के वातावरण में सोडियम, लोहा, मैग्नीशियम, कैल्शियम तथा अन्य अनेक तत्वों की उपस्थिति का पता लगाया। ताराभौतिकी का आधुनिक रूप किर्चोफ से आरम्भ हुआ और अभी चल रहा है। हमारे युग में मेघनाद सहा ने वर्णक्रमों के अध्ययन से खगोलीय पिंडों वातावरण के बारे में अत्यन्त महत्वपूर्ण खोजें की हैं।

चिरपरिचित प्रश्न

अब मैं मानव का एक चिरपरिचित प्रश्न आप के सामने रखूंगा। क्या ब्रह्माण्ड का आरम्भ स्वाभाविक रूप से हुआ है? अथवा उसका उद्‌भव कैसे हुआ। इस के बहुत से धार्मिक और दार्शनिक उत्तर दिये जाते रहे हैं। सब धर्मों और दर्शन ने इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

इसका सब से आसान हल है कि हम यह मान लें कि ब्रह्माण्ड सदैव विद्यमान था या हम यह नहीं जान सकते कि वह कैसे और कब बनना आरम्भ हुआ? अब, ज्योतिषशास्त्र के आधुनिक अनुसंधानों के बल पर, प्रथम बार हम उन प्रश्नों का––कि क्या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्वाभाविक थी? और यदि ब्रह्माण्ड का आरम्भ हुआ है तो क्या प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय रहे हैं––तर्कसंगत उत्तर खोज सकते हैं। हम दूसरे प्रश्न को लें।

क्या प्रकृति के नियम अपरिवर्तनशील हैं? क्या न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम को अपरिवर्तनशील माना जा सकता है? यह स्पष्ट है कि सीमित अवधि के लिये हम प्राकृतिक नियमों को अपरिवर्तनशील मान सकते हैं, परन्तु विविध विवेचनाओं के उपरान्त हम देखेंगे कि ब्रह्माण्ड में परिवर्तन अवश्य आये हैं।

हबल का नियम

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हबल ने सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड के विस्तार के मापन की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उस ने बताया कि ब्रह्माण्ड की मूल इकाई गैलेक्सी है, जिसका आभास हमारी आकाश गंगा से हो सकता है। मान लिया जाय कि एक गैलेक्सी में सौ करोड़ अथवा उससे अधिक तारे हैं जिनका आकार हजार-प्रकाश-वर्षों में आंका जा सकता है। हमारी गैलेक्सी का अर्द्धव्यास तीन हजार प्रकाश वर्ष है और उसका विस्तार बढ़ता जाता है। हबल के सिद्धान्त के दूसरे भाग के अनुसार सभी गैलेक्सी हम से दूर जा रही हैं।

हबल का नियम यह है कि यदि एक गैलेक्सी दूसरे से दुगुनी दूरी पर है तो उस की गति नजदीक वाली से दुगनी रफ़्तार से कम होती जायेगी हबल के नियम के अध्ययन से ब्रह्माण्ड में परिवर्तन के समय का पता चलता है। अनुमान है कि परिवर्तन का यह समय लगभग सत्तर खरब वर्ष होगा। इस लम्बे समय के मध्यावधि में प्राकृतिक नियमों में कितना परिवर्तन आया होगा या नहीं, यह विचारणीय है। इसका उत्तर आइंस्टीन के आपेक्षिकता सिद्धान्त में मिलता है।

प्राकृतिक नियमों में परिवर्तन

ज्योतिषशास्त्र में आइंस्टीन के सिद्धान्त को स्थूल रूप में लागू करने से ब्रह्माण्ड के विस्तार को उस दूरी से मापा जा सकता है, जो ब्रह्माण्ड के अर्धव्यास के समतुल्य हो। दूरी समय के साथ बदलती रही है। इसका वर्तमान मान दस अरब प्रकाश-वर्ष अनुमाना गया है। परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त को लागू करने से जो सब से महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है वह है कि अब से सत्तर खरब (बिलियन) वर्ष पूर्व ब्रह्माण्ड का अर्धव्यास शून्य होना चाहिये था। डिके ने गणना की है कि उस समय जब ब्रह्माण्ड का अर्द्धव्यास से वर्तमान व्यास से 10^{10} गुना कम था उसका ताप तब 10 खरब डिग्री रहा होगा। जब ब्रह्माण्ड में विस्तार होने लगा तो ताप घटने लगा।

ऊपर मैंने जिन अन्वेषणों का वर्णन किया है, उनसे यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड की उत्पति के विषय में मनुष्य की चिर जिज्ञासा को शांत करने में ज्योतिषशास्त्र ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

हैज़े का उत्थान और पतन

(पृष्ठ 56 का शेषांश)

उसमें निहित पानी अब भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ; कीटाणु तो गौण हैं, वे तो विष को मिट्टी से मानव शरीर में पहुंचाने में सहायक मात्र होते हैं ।" यह था पटनकोफर का नवीनतम 'भू-जल का नियम' ।

पटनकोफ़र का नया सिद्धांत न अब स्पष्ट है और न तभी स्पष्ट था । वैसे इसको सबल बनाने के लिये आंकड़ों के पुछल्ले लगाए गए थे और जैसा कि सभी जानते हैं आंकड़े कभी झूठ नहीं बोलते । पटनकोफर ने अवभूमि में मौजूद पानी के अनुपात से हैजे से मरने वाले लोगों की संख्या ज्ञात करने की एक जटिल विधि ढूंढ़ निकाली । और वास्तव में उतने ही लोग मरते थे जितनों की उसने अपनी गणना से अनुमान किया था ।

पटनकोफ़र के अनुयाइयों ने चैन की सांस ली और उनके हौसले भी बढ़ गए । यह सही है कि नए रंग में पेश किये गए 'भू-जल के नियम' को वह समझ नहीं पा रहे थे । किन्तु इससे क्या ? इसके मूल वृत्तांत को भी तो वे समझ नहीं पाए थे । और बिना समझे ही वे उसकी व्याख्या में ढेरों पन्ने लिख रहे थे । प्रोफेसर पटनकोफर की प्रशंसा के पुल बांधे गए--यहां तक कि उसे बैवेरिया की विज्ञान अकादेमी का प्रधान चुना गया ।

रॉबर्ट कॉख जैसे यथार्थतम तथ्यप्रेमी अनिश्चित सिद्धांत प्रस्तुत करने वालों के लिए विनाशकारी सिद्ध हो सकते हैं । पटनकोफ़र के सिद्धांत का उसके द्वारा अन्ततः जब पाया हिलाया गया तो वह दृश्य बड़ा ही दर्दनाक था ; उसकी घातकता स्वयं हैजे से कम न थी । कॉख ने हाम्बुर्ग और आल्टोना नगरों में फैले हैजे के अध्ययन प्रस्तुत करके 'भू-जल के नियम' को निर्मयता से ढेर कर दिया । जर्मनी की ये दोनों नगरियां अल्ब नदी के एक ओर के तट पर ही स्थित हैं, दोनों एक ही अवभूमि पर स्थित हैं और दोनों को एक ही नदी से पानी की पूर्ति होती है । अन्तर केवल इतना था कि आल्टोना नगर वालों को पहले पानी छानकर व साफ करके दिया जाता था जबकि हाम्बुर्ग वालों को बिना साफ किये सीधे नदी से ही सप्लाई होता था । कॉख ने बतलाया कि कैसे सन् 1892 में हाम्बुर्ग में हैजा फूट पड़ा और हजारों लोग इससे पीड़ित हुए और मर गए जबकि आल्टोना में केवल वे ही कुछ लोग हैजे से मरे जोकि हाम्बुर्ग गए थे और वहां के लोगों से मिले थे और जिन्होंने कि हाम्बुर्ग का पानी पिया था ।

कॉख ने नदी के पानी से लिये गए हैज़े के कीटाणुओं के कल्चर भी दिखलाए । अल्ब नदी के पानी को हैजा-पीड़ित रूसी प्रवासियों ने दूषित किया था । कॉख को हाम्बुर्ग के पानी में तो हैजा-कीटाणु मिले, लेकिन आल्टोना के साफ़ करके सप्लाई किये जानेवाले पानी में नहीं । इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि "मनुष्य द्वारा उत्सर्जित पदार्थ, उसका मल, अर्द्धविराम आकार के कीटाणुओं को फैलाता है और वे कीटाणु हैजा करते हैं--अवभूमि और उसके रंध्रों का कोई महत्व नहीं है-हैजे की रहस्यमई विषैली गैस (मिअज्म) जैसी कोई चीज नहीं है।"

पटनकोफ़र द्वारा आत्महत्या

कॉख द्वारा एकत्र किए गए तथ्य अकाट्य थे जिससे पटनकोफ़र द्वारा खड़ा किया गया चित्र-विचित्र ढांचा अंततः ढह गया । उसके समर्थकों ने धड़ा बदल लिया और अब वे राबर्ट कॉख के पुजारी बन गए । 'भू-जल का नियम' और उसका प्रस्तुतकर्ता महामारियों पर होने वाले अनुसंधान की मुख्यधारा को अब रंच मात्र भी प्रभावित नहीं कर पाते थे । चिकित्सा-शास्त्र में राबर्ट कॉख के नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने से चार साल पहले, सन् 1901 में, जीर्ण-शीर्ण और एकाकी पटनकोफ़र ने स्वयं अपने हाथों अपने जीवन का अंत कर लिया ।

वह एक अच्छा रसायनज्ञ था और अगर इसी क्षेत्र में बना रहता तो अधिक सुखी रहता और सम्मानपूर्ण मृत्यु को प्राप्त होता । यह कहा जा सकता है कि पटनकोफ़र को न कॉख ने धराशायी किया और न ही नए जीवाणु-विज्ञान के तथ्यप्रेमियों ने । उसे तो हैज़े के मूर्त्तिभंजक कीटाणुओं ने धराशायी किया । स्वयं पटनकोफ़र द्वारा तैयार की गई विशिष्ट परिस्थितियों में हैज़े के इन कीटाणुओं ने पहले तो उसे उठाया और फिर मिट्टी के घड़े की तरह सिर से फेंक दिया । कुछ ही वर्ष पश्चात् अन्य कीटाणु स्वयं रॉबर्ट कॉख को उसी प्रकार खंड-खंडित करने वाले थे जैसे कि हैज़े के कीटाणुओं ने माक्स योसफ फ़ोन पटनकोफ़र को किया था ।

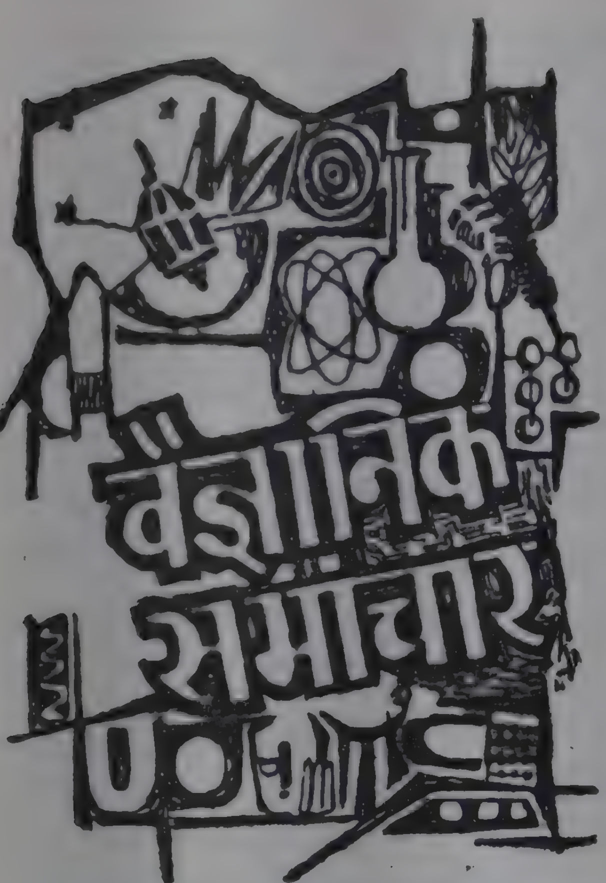
* * *

अपोलो योजना

(पृष्ठ 63 का शेषांश)

की सतह से लौटने के बाद पृथ्वी पर वापसी के लिये करने का कार्यक्रम है ।

अपोलो-10 की यात्रा बहुत कुछ अपोलो-8 की तरह ही होगी केवल यह अपने साथ चन्द्रकक्ष भी लेकर जायेगा और चन्द्रमा के अधिक नजदीक पहुंचेगा । यदि इन यात्राओं के दौरान कोई नई समस्या सामने नहीं आई और यह कार्यक्रम पूर्व-निश्चित योजनाओं के अनसार पूरे हो गये तो चन्द्रमा की सतह पर अपोलो-11 अपने यात्रियों सहित उतरेगा । सम्भवतः यह यात्रा अगले वर्ष, 1970 में की जायेगी ।



चमड़ा कमाने के लिये नया रसायन

विविध प्रकार के चमड़े तैयार करने के लिये चमड़ा कमाने की अलग-अलग विधियों और अलग-अलग रसायनों का उपयोग किया जाता है। ये रसायन आम तौर पर विभिन्न प्रकार के पदार्थों के निसार (एक्सट्रैक्ट) हुआ करते हैं।

किन्तु चमड़ा कमाने के पदार्थ तैयार करने की दृष्टि से हम अभी आत्मनिर्भर नहीं हैं और हमें प्रति वर्ष बहुत अधिक मात्रा में इनका आयात करना पड़ता है जिस में पर्याप्त विदेशी मुद्रा व्यय होती है।

इस कमी को पूरा करने की दिशा में केन्द्रीय चमड़ा अनुसंधान संस्थान, मद्रास बहुत सजग है। हाल ही में इस संस्थान ने एक ऐसा ही रसायन तैयार किया है जिसका नाम है टैनिन एक्सट्रैक्ट-ई। इस में उपलब्ध टैनिन की मात्रा लगभग 63.2 प्रतिशत है। प्रायोगिक संयंत्र में इसके उपयोग संबंधी प्रक्रिया का परीक्षण सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इस संबंध में अधिक जानकारी राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम, मंडी हाउस, लिटन रोड, नई दिल्ली से प्राप्त की जा सकती है।

नमक से सोडियम का उत्पादन

केन्द्रीय विद्युत रसायन अनुसन्धान संस्थान, कराइकुडी ने कुछ ऐसे सक्रिय सेलों का विकास किया है जिन के द्वारा साधारण नमक का ही विद्युत-विश्लेषण करके शत-प्रतिशत शुद्ध सोडियम का उत्पादन व्यापारिक स्तर पर किया जाना संभव हो गया है। बहुधा सोडियम के उत्पादन के लिये अभी तक हम अपने देश में किसी न किसी रासायनिक प्रतिक्रिया का ही सहारा लेते हैं। मात्र विद्युत-विश्लेषण के द्वारा सोडियम के उत्पादन की यह प्रथम प्रक्रिया है जो हमारी परिस्थितियों और औसत साधनों के अनुरूप होगी।

शुद्ध नमक का उत्पादन करने वाले किसी भी संयंत्र के साथ उक्त संयन्त्र को आसानी से चालू किया जा सकता है और इस प्रकार नमक के उत्पादन के साथ ही सोडियम उत्पादन को भी एक उप-व्यावसायिक स्तर पर हाथ में लिया जा सकता है।

नमक से कैल्शियम लवणों का निष्कासन

शुद्ध नमक प्राप्त करने के लिये नमक को धोने की जो प्रचलित विधियां अपनायी जा रही हैं, उन में केवल मैग्नीशियम के लवण ही निकल पाते हैं, जब कि कैल्शियम के लवणों की पर्याप्त मात्रा नमक में ही बची रह जाती है। इस का पता केन्द्रीय नमक एवं समुद्री रसायन अनुसन्धान संस्थान, भावनगर में संचालित परीक्षणों से चला है। संस्थान ने इस के लिये जो प्रविधि विकसित की है उसमें अवक्षेपन की पद्धति अपनायी गयी है। उचित तापान्तरण करते हुए यह विधि नमक से कैल्शियम लवण के रवे बिल्कुल अलग कर देती है। इस प्रकार प्राप्त नमक स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद बिल्कुल नहीं रह जाता।

संश्लेषी कैल्शियम सिलिकेट

भावनगर के नमक एवं समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान ने संश्लेषी कैल्शियम सिलिकेट के निर्माण की एक नवीन विधि निकाली है। रबर उद्योग में बारीक कैल्शियम सिलिकेट का बड़ा उपयोग होता है। इस कार्य के लिये जिन पदार्थों का उपयोग किया जाता है वे बहुधा काले रंग के होते हैं, अतः रबर का रंग भी काला हो जाता है। काले रंग के अतिरिक्त अन्तर्भरण प्रक्रिया के लिये जिन अन्य रंगों के पदार्थ उपलब्ध हैं उन में कैल्शियम सिलिकेट ही सब से अधिक उपयुक्त रहता है। रबर के साथ-साथ कई किस्म के पेण्टों के निर्माण में भी इस की उपयोगिता है। इस के निर्माण के लिये सोडियम सिलिकेट, नमक का अम्ल और एल्यूमिनियम ट्राइ-क्लोराइड कच्चे माल के रूप में आवश्यक है।

रबर की सड़क

ज्यार्जिया, सोवियत रूस के सड़क विशषज्ञों ने सिद्ध कर दिया है कि रबर की जो चीजें काम के लायक नहीं रही हों उन में बिटूमिन मिलाकर उन से तेज मोटरगाड़ियों के चलने लायक सड़कें बनायी जा सकती हैं। त्बिलिसी के उत्तर-पश्चिम की एक सड़क के 25 किलो मीटर भाग पर यह पदार्थ पांच वर्ष पहले डाला गया था और अभी तक सड़क का यह हिस्सा बिल्कुल नया सा लगता है। इस विधि से सड़क बनाने से उनकी मरम्मत के खर्च में काफी कमी होगी और मोटरों के टायर भी अधिक दिन चलेंगे।

रक्तस्राव रोकने वाली औषध

कुछ लोगों में तो एक बार किसी कारण रक्तस्राव शुरू होने पर बंद होने में नहीं आता। बहुधा इस का कारण शरीर में रक्तस्राव अवरोधी तत्वों का अभाव होता है। अत्यधिक रक्तस्राव मनुष्य के लिये बड़ा

घातक सिद्ध हो सकता है। अतः इस को रोकने के लिये सतत नई-नई प्रभावकारी औषधियों की खोज की जाती रही है। हाल ही में सोवियत संघ में किएव स्थित लोमोनोसोव रसायन भेषज कारखाने में एक नये मिश्रण 'ई. ए. सी. ए.' का उत्पादन किया गया है जो प्रयोगों के दौरान रक्तस्राव को रोकने में बहुत ही संतोषजनक पाया गया है। यों रसायनज्ञों ने इस का संश्लेषण 1899 में ही कर दिया था किन्तु उस समय चिकित्साशास्त्र में इस की इतनी उपयोगिता का अनुमान नहीं किया जा सका था। कहते हैं कि रक्तस्राव में खून को बहने से रोकने के लिये यही एक पहली दवा ऐसी है जिसमें गम्भीर से गम्भीर हालत में भी खून को रोकने की क्षमता है।

द्रवीय डायनमोमापी

केन्द्रीय यांत्रिक इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान, दुर्गापुर में द्रवीय दाब पद्धति पर आधारित एक यांत्रिक डायनमोमापी तैयार किया गया है। इस का उपयोग किसी भी मशीनरी की यांत्रिक क्षमता को परखने में किया जा सकता है। इस डायनमोमापी में ऐसी व्यवस्था है कि जो ऊर्जा इस में समाविष्ट होती है वह ऊष्मा में परिणत होकर भीतर विद्यमान जल के तापक्रम को बढ़ा देती है जिस के आधार पर समानुपातिक पद्धति से यांत्रिक क्षमता का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार के डायनमोमापियों का औद्योगिक स्तर पर निर्माण कार्य कलकत्ता की भारतीय इलैक्ट्रिक स्टील कम्पनी ने आरम्भ कर दिया है। 9000 अश्व शक्ति तक के डायनमोमापियों का विकास उक्त प्रयोगशाला में किया जा चुका है।

टेबल टेनिस स्वयं-शिक्षक मशीन

मानव-सहयोग के बिना, यंत्रों की सहायता से, मनुष्य स्वयं भी विभिन्न प्रकार के खेलों में दक्षता प्राप्त कर सकता है। ब्रिज आदि के खेल सिखलाने के लिये इस प्रकार की स्वयं-शिक्षक मशीनें पहले से ही उपलब्ध हैं। अब स्वीडन की स्टिगा नामक कम्पनी ने एक ऐसी मशीन बनायी है जिसके सहारे आप अकेले ही टेबल टेनिस का अभ्यास कर सकते हैं। यह मशीन आप के साथ खेलती है। इस मशीन में आप 200 से 4:0 टेनिस की गेंदें भर दीजिये और आपको जिस प्रकार की गेंद खेलने के अभ्यास करने हों, उस प्रकार सुई को घुमा दीजिये। गेंद निश्चित समयान्तर पर आप के पास आती रहेगी। इस मशीन द्वारा स्पिन लेकर घूमती हुई गेंदें भी फेंकी जा सकती हैं।

टेलीफोन लाउडस्पीकर

बंगलौर स्थित विद्युत एवं रडार विकास प्रतिष्ठान ने प्रतिरक्षा कार्यों में उपयोग के लिये एक टेलीफोन लाउडस्पीकर व्यवस्था का विकास किया है। इस में यह सुविधा रहती है कि दूरभाषी व्यक्ति की आवाज बढ़ा कर सुनी और दूसरों को सुनाई जा सकती है। सैनिक संचालन में इस प्रकार के बहुत से अवसर आते हैं जब कि आदेश आदि संचालकों की अपनी ही आवाज में सब को पहुंचाना लाभदायी और आवश्यक हो जाता है। न केवल क्षेत्रीय दूरभाषी, अपितु सैन्य प्रसारण के रूप में भी इस यन्त्र व्यवस्था का अपना महत्व है। यह यन्त्र पूर्णतया ट्रांजिस्टरयुक्त है और सभी इलाकों में निम्न अथवा उच्च किसी भी तापक्रम पर कार्य करने में समर्थ है।

सफेद दाग, आयुर्वेद और शल्य-चिकित्सा

बम्बई के एक आयुर्वेदिक डाक्टर श्री एम. वाई. परांजपे के अनुसार सफेद दाग पर शल्य उपचार द्वारा आयुर्वेदिक पद्धति से विजय पाई जा सकती है। डा. परांजपे ने जो पद्धति अपनायी है उसमें त्वचा का सफेद दाग से प्रभावित ऊपरी स्तर शल्य-क्रिया द्वारा निकाल कर अलग कर दिया जाता है और बाद में जो घाव बच रहता है उसको रुद्रजात तेल से उपचारित किया जाता है। इस तेल के प्रभाव से त्वचा की रंजित कोशिकायें परस्पर परिवर्धन को उन्मुख होती हैं और घाव भरने के बाद जो नयी त्वचा बनती है उस का रंग बिल्कुल प्राकृतिक त्वचा जैसा होता है। डा. परांजपे के अनुसार पिछले अठारह महीनों में इस विधि का लगभग दो सौ रोगियों पर परीक्षण किया गया है और केवल एक दर्जन को छोड़ कर शेष सभी पर यह विधि सफल और संतोषजनक पायी गयी है।

उन्नत मुलायम फेराइटों की निर्माण विधि

सिरेमिक उद्योग में मुलायम फेराइट का बहुत उपयोग होता है और अनेक विद्युत उपकरणों के निर्माण में यह काम आता है। इस का कारण यह है कि मिश्रधातुओं की अपेक्षा इन की विद्युत संवाहकता बहुत ही कम होती है। देश में विद्युत उपकरण उद्योग के दिनों दिन विकास के साथ ही इस की मांग बढ़ती जा रही है किन्तु देश के भीतर केवल कुछ ही फर्में इसका निर्माण कर सकने की स्थिति में हैं।

वैसे तो बहुत सी विधियां हमारी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं ने अलग-अलग समस्याओं को ध्यान में रखते हुए अब तक निकाली हैं किन्तु पूना स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला ने जो विधि विकसित की है उसकी विशेषता यह है कि आरम्भिक पदार्थ की शुद्धता और उस का आकार प्रकार इस विधि में अधिक संयत रहता है। साथ ही, उत्पाद सुडौल होता है। प्रक्रिया हेतु आवश्यक पदार्थों में जिंक आक्साइड को छोड़ कर शेष सभी पदार्थ देश में ही उपलब्ध हैं।



मेघनाद सहा

श्यामसरन 'विक्रम'

विश्व मंच पर कभी-कभी ऐसा व्यक्ति भी जन्म लेता है जो यह सच कर दिखाता है कि मर्द वह है जो जमाने को बदल दे। डा. मेघनाद सहा के विषय में यह निरतिशयोक्ति कहा जा सकता है।

ढाका से लगभग 30 मील दूर, सेवरातली गांव में 10 अक्तूबर, 1893 की वह सुहावनी सुबह कुछ अलग ही थी। उस दिन सहा-परिवार को पंचम पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। नवजात शिशु मेघनाद ने पहली पलक खोली, तब न तो 'उस के मुंह में चांदी का चम्मच था, न अंगुलियों में सोने की कलम'। बस, सब कुछ सामान्य था जिसे परिश्रम और अध्यवसायरूपी कठोर कसौटी की प्रखर पावक में तप कर सोने की भांति निखर आना था। अतः मां की गोद से आगे बढ़ कर, पालने की डोर के दायरे से बाहर निकल कर और घुटनुओं चलने की सीमायें भी लांघ कर, लेकर कलम दवात, चले—'जाओ, पढ़ने को' — के मातृ-आदेश पर बाल-मेघनाद सरस्वती का दामन थामे अपने ज्ञान तीर्थाटन पर निकल पड़ा।

दिन उगे सात मील जाना और दिन ढले सात मील लौट आना, चौदह मील रोज का वह पैदल तीर्थाटन ही तो था। परिस्थितियों ने भी सहयोग न देने की मानो कसम खा रखी थी। अच्छा स्कूल सात मील दूर; मध्यवर्गीय पिता केवल इतना चाहते थे कि यह पांचवी सन्तान भी इतना भर सीख ले कि दुकान पर परचूनी पुड़िया इधर बांधता जाए और बदले में कुछ सिक्कों की पुड़िया उधर बांधता जाए। परन्तु मेघावी मेघनाद, सरस्वती का दामन जो एक बार हाथ में आया उसे जान-जिन्दगी के मोल पर भी छोड़ने को तैयार नहीं था। मेघनाद ज्ञान के अर्जन और विज्ञान की आराधना में जी-जान से जुट गया।

आयु की बीसवीं मंजिल पार करते-न-करते 1913 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की विज्ञान-स्नातक तथा आनर्स गणित की परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में उतीर्ण करते हुए मेघनाद ने समूचे विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले मित्र-छात्र सत्येन्द्रनाथ बोस जो सहा के विषय में यह प्रशस्ति सुनाते थकते नहीं थे — "सहा के शब्दकोश में 'असम्भव' तो क्या, 'कठिन' नाम का भी शब्द मानो था ही नहीं"।

कुछ भी कठिन नहीं

कुछ भी तो उस के लिए कठिन नहीं था। किसी भी कार्य को उसके हाथों तक पहुंचने में देर लगे सो लगे, उस के हाथों सफल होने में देर को अवकाश कहां? आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय और जगदीश चन्द्र बोस जैसे महारथी गुरुजनों के आशीवार्दों के साथ-साथ सहा को अपने छात्र-जीवन में तत्कालीन भारत के जिन अन्य जगमगाते सितारों का सम्पर्क मिला, उन में उल्लेखनीय नाम हैं — निखिल रंजन सेन, ज्ञानचन्द्र घोष, ज्ञानेन्द्रनाथ मुखर्जी तथा नीलनरतन धर। वे ही दिन प्रसिद्ध क्रान्ति के भी दिन थे, अतः श्रद्धेय डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने भी मेघनाद को अति निकटता से प्रभावित किया था। उसी क्रान्तिदलीय सम्पर्क के प्रभाव ने मेघनाद के लिये परिवार की सहायतार्थ अर्थोपार्जन हेतु इण्डियन फाइनेन्स सर्विस में पहुंचने के मार्ग बन्द कर दिये। तथापि वह अवरोध अन्ततः साधक और साध्य, दोनों ही के लिये वरदान सिद्ध हुआ, क्योंकि विज्ञान से सहा को और सहा से विज्ञान को परस्पर कृत्कृत्य जो होना था, वह भिन्न क्षेत्रों में कदाचित न हो पाता।

सिद्धियां और प्रशस्तियां

सहा ने स्नातकोत्तरीय अध्ययन में गणित पर विशेष अनुसन्धान कार्य करते हुए 1916 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति आशुतोष मुखर्जी के अनुरोध पर उच्चाध्यापन का भी कार्य सम्हाल लिया। मुखर्जी महाशय उन दिनों इसी दुविधा में थे कि विश्वविद्यालय की पालित-प्रोफेसर-पीठिका पर चन्द्रशेखर वेंकटरमन तो आए नहीं और प्रो. डी. एन. बोस विश्वयुद्ध में ग्रसित जर्मनी में ही रुके रह गये। फिर यह उत्तरदायित्व किसे सौंपा जाए? मेघनाद सहा को पाकर आशुतोष मुखर्जी पूर्णतः चिन्तामुक्त हो गये। यद्यपि सहा विज्ञान-विषयों में स्नातकमात्र थे, तथापि अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर वे भौतिकी की स्नातकोत्तरीय कक्षाओं को बड़ी निपुणता से पढ़ाते रहे। साथ ही, जर्मन भाषा का भी अध्ययन करते रहे। वह अतिरिक्त भाषा-ज्ञान सहा को बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि उस काल के विज्ञान सर्वोपरि देश, जर्मनी के धुरन्धर विद्वानों के लेखों और अनुसन्धानात्मक विवरणों को सहा मूल जर्मन भाषा में ही पढ़ कर आत्मसात कर लेते थे। फलस्वरूप 1917 में 24 वर्षीय सहा का 'मैक्स्वेल स्ट्रेसेज' पर प्रथम शोधपूर्ण लेख विज्ञान की सर्वोच्च पत्रिका **फिलासाफिकल मैगजीन** में प्रकाशित हुआ।

फिर तो मानो सिद्धियों और प्रशस्तियों के निधि-द्वार सहा के लिए खुलते चले गये। 1918 में विकिरण दाब की विद्युत चुम्बकीय

सिद्धांत पर लिखे शोध-प्रबन्ध के सम्मान में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मेघनाद सहा को डी. एस-सी. की उपाधि प्रदान की। 1919 में सहा ने हारवर्ड क्लासिफिकेशन आफ स्टेलर स्पेक्ट्रा पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर प्रेमचन्द्रराय–छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। 1916 से आरम्भ हो कर जीवन के शेष चालीस वर्षों में एक भी वर्ष ऐसा नहीं गया, जो सहा को नयी सिद्धि, नयी कीर्ति न दिला गया हो। 1920 में सहा का 'उष्मिक आयनीकरण लेख' फिलासाफिकल मैगजीन में प्रकाशित हुआ। उन्हीं दिनों 1919-1920 में सहा को इम्पीरियल कालेज आफ साइन्स, लन्दन में प्रो. ए. फाउलर तथा जर्मनी में प्रो. नन्सर्ट के साथ कार्य करने का गौरव प्राप्त हुआ।

1921 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सहा को पुन: सेवार्थ बुला लिया। तदनुसार सहा ने 'खेरा-प्रोफेसर आफ फिजिक्स' की पीठिका पर दो वर्ष तक भौतिकी-अध्यापन का कार्य सम्पन्न किया। 1923 में इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग का अध्यक्ष पद सम्हाल लिया और पन्द्रह वर्ष तक उसी पद को गौरवान्वित करते हुए अपने खोज-कार्यों द्वारा विज्ञान-व्योम को चकाचौंध करते रहे। उसी मध्य 1934 में लन्दन की रायल सोसाइटी ने सहा को अपनी फैलोशिप प्रदान की। साथ ही साथ, इण्डियन साइन्स कांग्रेस ने भी अपने 1934 के अधिवेशन हेतु उन्हें अध्यक्ष निर्वाचित किया। एक बार फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सहा को भौतिकी की पालित-पीठिका पर नियुक्त कर लिया।

उसी अवधि में सहा ने जर्मनी की विज्ञान अकादमी की सदस्यता तथा कार्नेगी अनुसंधान छात्रवृत्ति प्राप्त की। जब 1927 में इटली ने अपने महानतम वैज्ञानिक वोल्टा की शताब्दी मनायी थी तब वे लोग सहा का भी सहयोग प्राप्त करना न भूले थे। सहा 1933 में आयोजित अमेरिका की हार्वर्ड विश्वविद्यालय शताब्दी में सम्मान-सहित सम्मिलित हुए थे।

वैज्ञानिक उपलब्धियां

प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स एडिंग्टन ने सहा की प्रशस्ति में कहा था –'अन्तरिक्षीय रहस्योद्घाटन और अनुसन्धान कार्यों में सहा के योग को वही महत्व दिया जायेगा, जो साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व फेब्रीशस द्वारा 'मीरा-सेती' नामक नये तारे की खोज किये जाने पर दिया गया था।

अन्तरिक्ष-विज्ञान सहा को उन के छात्र-जीवन से ही आकर्षित और प्रभावित करता आया था, जिसके लिए कुमारी एगने क्लार्क की विश्वप्रसिद्ध और सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तकें पढ़-पढ़ कर पचा जाने पर भी सहा की ज्ञानक्षुधा अतृप्त बनी रहती थी। स्नातकोत्तरीय अध्ययन के पश्चात (1915-16) से सहा ने भौतिकी और उच्च गणित के अपने गहन ज्ञान को उन्हीं दिनों के नव प्रतिपादित और विज्ञान-जगत के लिए आमूल क्रान्तिकारी जिन सिद्धान्तों और संकल्पनाओं के तलस्पर्शी अध्ययन पर केन्द्रित कर दिया उन में उल्लेखनीय थे––लारेन्स का इलैक्ट्रान सिद्धान्त, आइन्स्टीन का विशिष्ट आपेक्षिता - सिद्धान्त, नील्स बोर का हाइड्रोजन वर्णक्रम सिद्धान्त और तत्प्रेरित नया प्रमात्रिक (क्वान्टम) सिद्धान्त।

सहा से पूर्व वर्षों, युगों तक, विज्ञान के धुरन्धर विद्वानों—विशेषत: नोरमा लाक्यर और फादर सैकी द्वारा अन्तरिक्ष-विज्ञान के संग्रहीत ज्ञान और संकलित विवरणों का भण्डार इसलिए अनुपयोगी पड़ा रहा है कि वह सब उलझा-उलझा था। उन कठिनतम गुत्थियों को सुलझाने का श्रेय सहा को है, जिनके आयनीकरण के सिद्धान्त ने एक-एक कर के उन अबूझ रहस्यों पर से पर्दे उठा दिये। सहा के नवीनतम आयनीकरण के सिद्धान्त से पूर्व यह किसी को भी ज्ञात नहीं था कि तारकमंडल (नीहारिकाओं) में विभिन्न तारों के वायुमंडल किस प्रकार आयनीकृत होते रहते हैं और किस प्रकार वे परिवर्तन प्रयोगशाला में वर्णपटों पर देखे-समझे जा सकते हैं। अस्पष्टरूप से केवल यह अनुमान लगाया जाता था कि किसी भी परमाणु के इलैक्ट्रान, नाभिक की प्रदक्षिणा करते हुए उच्च ताप के कारण आयनीकृत होकर जब अपनी कक्षा बदल लेते हैं तब तथा विपरीतावस्था में कक्षा परिवर्तित करत हुए भी उनसे विशेष प्रकार का प्रकाश प्रसारित होता है।

अन्तरिक्ष संबंधी बुनियादी खोज

सहा के उच्चतापीय आयनीकरण-सिद्धान्त से प्रेरित हो कर आर. एच. फाउलर और इ. ए. मिले जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने भी सहा के कार्य को आगे बढ़ाया और अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी नित्य ही नयी खोज करने वाले वैज्ञानिकों का कार्य सरल किया। अब ऐसे प्रश्नों को सरलतापूर्वक हल किया जा सकेगा कि वायुमंडल, अयनमंडल तथा तारकमंडल में उच्च तापीय आयनीकरण के फलस्वरूप क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, पृथ्वी से आयनमंडल-भेदी विद्युत्चुम्बकीय तरंगें किस प्रकार पहुंचायी जा सकती हैं तथा पृथ्वी पर भी अपनी प्रयोगशालाओं में हम ऊष्मिक नाभिकीय (थर्मोन्यूक्लियर) शक्ति के उत्पादन हेतु चुम्बकीय द्रवगति-विज्ञान (मेग्नेटोहाइड्रोडायनेमिक्स) को किस प्रकार प्रयोग में ला सकते हैं। इन्हीं कार्यों के अन्तर्गत अणु-विज्ञान के क्षेत्र में डा. सहा की दूसरी महत्वपूर्ण खोज––सिलेक्टिव रेडिएशन प्रेशर––भी अत्यन्त सहायक सिद्ध हुयी है।

डा. सहा को यह बड़ा अटपटा लगता था कि भारत में प्रत्येक मास में किसी न किसी जाति अथवा समुदाय का नया वर्ष पड़ता है। अन्तरराष्ट्रीय काल-गणना की दृष्टि से वह सब कुछ नितान्त असंगत था। इस कार्य के अग्रदूत के रूप में डा. सहा को पंचांग संशोधन समिति का कार्य सौंपा गया कि वह देश में प्रचलित समस्त पंचांगों का अवलोकन-अवगाहन करे और सामन्जस्यता के आधार पर एक सर्वमान्य पंचांग प्रस्तावित करे। यह कार्य उन्होंने सफलता पूर्वक निभाया।

सहा योजना आयोग के सक्रिय सदस्य थे और जब कभी आयोग को अपने कार्यों में ढीला पाते तो नेहरू जी के सामने भी कमीशन को चुस्ती का चाबुक फटकारने से नहीं चूकते थे।

16 फरवरी, 1956 की शबनमी सुबह को सहा सदा के लिये धरती की गोद में सो गये।

सहा, मेघनाद सहा, डा. मेघनाद सहा की पावन स्मृति को हमारे कोटि-कोटि नत-विनत नमन।



★ इस्पात के बने जहाज पानी में क्यों तैरते हैं जबकि इस्पात की छड़ पानी में डूब जाती है ?

प्राचीन काल से ही लोग यह तो जानते थे कि यदि कोई वस्तु पानी में गिर पड़े तो पानी उसे ऊपर को उछालता है लेकिन पानी के इस उत्प्लावकता के गुण की सही प्रकृति की खोज सब से पहले यूनान अर्थात् ग्रीस के आर्किमीडीज़ नामक एक वैज्ञानिक ने लगभग ढाई सौ साल ईसापूर्व की थी। आर्किमीडीज़ ने अपने प्रयोगों में यह पाया कि जब किसी वस्तु को पानी में डाला जाता है तो वह ऊपर को उत्क्षेपित होती है और जिस बल से वह उत्क्षेपित होती है वह उस वस्तु द्वारा विस्थापित पानी के भार के बराबर होता है।

इस्पात के बने जहाजों के विभिन्न खंडों के बीच के स्थानों में वायु भरी रहती है जिसका प्रभाव यह होता है कि जहाज का औसत घनत्व पानी के घनत्व से बहुत कम हो जाता है। जब किसी जहाज को पानी में उतारा जाता है तो वह पहले तो धंसता चला जाता है और अंततः उस बिन्दु पर पहुंचता है जहाँ कि उस के द्वारा विस्थापित पानी का भार उस के अपने भार के बराबर होता है। ऐसी स्थिति में एक संतुलन स्थापित हो जाता है जिस से जहाज का डूबना बंद हो जाता है और वह तैरता रहता है।

यदि किसी वस्तु का औसत घनत्व पानी के घनत्व से अधिक होता है तो वह डूब जाती है। पत्थर और लोहे की छड़ इसीलिये डूब जाते हैं। आर्किमीडीज़ ने अपने उत्प्लावकता सिद्धांत के प्रथम व्यावहारिक उपयोग के समय इसी तथ्य से काम लिया। यूनान के बादशाह ने उन्हीं दिनों अपने लिये एक ताज बनवाया था। किन्तु किसी कारणवश उसे यह संदेह हो गया था कि सुनार ने शुद्ध सोने की बजाय उस में किसी घटिया धातु की मिलावट की है। उसने आर्किमीडीज़ से ताज को नुकसान पहुंचाए बिना उस की शुद्धता का परीक्षण करने को कहा।

आर्किमीडीज़ कुछ समय तक इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा करता रहा, मगर वह कोई हल ढूंढ नहीं पा रहा था। जनश्रुति यह प्रचलित है कि जब वह नहा रहा था तब उसे एकाएक इसका समाधान सुझाई दे गया। वह 'यूरीका!' 'यूरीका!' (मैंने खोज लिया!) चिल्लाता हुआ कपड़े पहने बिना ही गली में दौड़ा आया।

उसने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया। पहले ो उस ने ताज को वैसे ही (अर्थात् वायु में) तोला और फिर ताज के भार के बिल्कुल बराबर शुद्ध सोना ले कर उसे पानी में डाल कर तोला और यह देखा कि ऐसा करने पर शुद्ध सोने के भार में उत्प्लावकता के कारण कितनी कमी आई है। तब उसने ताज को पानी में डालकर तोला। उस ने पाया कि शुद्ध सोने की अपेक्षा अब भार की अधिक कमी हुई थी। स्पष्ट था कि वह ताज सोने और किसी अन्य कम घनत्व वाली धातु की मिलावट करके बनाया गया था।

★ धुले हुए कपड़ों को उजला बनाने के लिये उनमें नील क्यों लगाया जाता है ?

वैज्ञानिकों का कहना है कि साधारण प्रकाश जिसे हम 'श्वेत' प्रकाश कहते हैं वास्तव में जामनी से ले कर लाल तक, सभी रंगों के मेल से बना है। जिस संवेदना को हम 'रंग' कहते हैं, वह हमारी आंखों तक पहुंचने वाले प्रकाश के रंग पर आधारित होती है। वास्तविकता तो यह है कि किसी वस्तु का कोई रंग हो ही नहीं सकता। ऐसी वस्तु में यह गुण अवश्य हो सकता है कि वह किसी विशिष्ट रंग के प्रकाश को अवशोषित कर ले और बाकियों को परावर्तित कर दे। यदि हम सूर्य के प्रकाश-पुंज में से किसी प्रकार लाल प्रकाश निकाल दें तो बाकी बचे प्रकाश का रंग हरा होगा। अतः जो वस्तु हमें हरी दिखलाई देती है उस में लाल प्रकाश को अवशोषित करने की क्षमता होगी।

इसी प्रकार, जो वस्तु पीली दिखलाई देती है उस में नीले-जामनी (ब्लू-वायोलेट) प्रकाश को अवशोषित कर लेने का गुण होगा। रंगों के इन युग्मों (जोड़ों), जैसे कि लाल और हरे, पीले और नीले-जामनी, को प्रकाश के संपूरक (कम्पलीमेंटरी) रंग कहा जाता है। ऐसे संपूरक रंगों के अनेक युग्म हैं और सही मात्रा में मिलाने पर इन सब में श्वेत प्रकाश बनाने की क्षमता है। एक जोड़े में किसी कारण जब कोई एक रंग विद्यमान नहीं होता तो बाकी बचा प्रकाश, उस जोड़े के संपूरक का रंग धारण कर लेता है।

धुला हुआ कपड़ा पीला इस लिये प्रतीत होता है कि वह नीले-जामनी प्रकाश को अवशोषित कर चुका होता है। हमारी आंखों तक पहुंचने वाले प्रकाश में पीले रंग के प्रकाश की तो सामान्य मात्रा विद्यमान होती है परन्तु नीले-जामनी प्रकाश की कमी होती है। कपड़ों में लगाए जाने वाले नील में धुले हुए कपड़े में से परावर्तित होने वाले पीले प्रकाश को कुछ मात्रा में अवशोषित कर लेने की क्षमता होती है। इस से परावर्तित पीले प्रकाश का नीले से संतुलन स्थापित हो जाता है और ऐसा हो जाने पर कपड़ा फिर से सफेद व उजला दिखने लगता है।

★ दाब (प्रेशर) कुकर में खाद्य पदार्थ जल्दी क्यों पकते हैं?

सभी जानते हैं कि पानी सदैव भाप बन कर उड़ता रहता है। इस का अर्थ यह है कि पानी धीरे-धीरे द्रव से वाष्प में परिवर्तित होता रहता है। और पानी की सतह पर उसके अणु सदैव निकल-निकल कर ऊपर की वायु में प्रविष्ट होते रहते हैं। यदि पानी भरे किसी पात्र को गर्म किया जाय तो उस के वाष्प बनने की दर में वृद्धि हो जाती है। इस का कारण यह है कि गर्म पानी के अणुओं में गतिज ऊर्जा अधिक हो जाती है और पानी की सतह से उड़ कर वायु में पहुंचने की उन की क्षमता बढ़ जाती है। जब पानी का तापमान बढ़ाकर 100° से. अर्थात् 212° फा. कर दिया जाता है तो वह खौलने लगता है। अब यदि हम पानी के तापमान को 100° से. से भी ऊपर बढ़ाने के विचार से उसे और गर्म करते हैं तो पाते हैं कि वह अधिक जोश से खौलने लगा है और भाप भी अधिक निकलने लगी है परन्तु उस का तापमान बिल्कुल नहीं बढ़ा। अतः हम देखते हैं कि खाद्य पदार्थों को उबालने के लिये हमें अधिक से अधिक 100° से. का तापमान ही उपलब्ध है। यदि हम इन्हें कुछ तेजी से अर्थात जल्दी पकाना चाहते हैं तो हमें कोई ऐसा तरीका ढूंढना होगा जिस से कि पानी के खौलने का तापमान बढ़ाया जा सके। दाब (प्रेशर) कुकर वस्तुतः यही कार्य करता है।

पानी का क्वथनांक अर्थात् जिस तापमान पर पानी खौलने लगता है वह पानी पर मौजूद होने वाले दाब पर निर्भर होता है। यदि दाब बढ़ा दिया जाता है तो पानी अधिक ऊंचे तापमान पर खौलता है। और जब यह दाब कम कर दिया जाता है तो पानी का क्वथनांक भी कम हो जाता है। दाब-कुकर में पानी और खाद्य रख दिये जाते हैं और ढक्कन कसकर बंद कर दिया जाता है। जब कुकर में भाप बनने लगती है तो यह पानी पर दाब उत्पन्न करती है और पानी के तापमान को 100° से. से भी ऊपर बढ़ाने में सहायक होती है। कुकर में दाब धीरे-धीरे बढ़ना शुरू होता है और अंततः इतना बढ़ जाता है कि निकास वाल्व (ब्लो-आफ वाल्व) को सक्रिय कर देता है। इस बिन्दु पर पहुंच कर यदि भाप का आधिक्य हो जाता है तो उसे कुकर में से निकल जाने दिया जाता है। यहां पहुंचकर चाहे कुकर को कितना ही अधिक गर्म किया जाय, भाप का दाब इस निर्धारित बिन्दु से बढ़ नहीं सकता। अतः इस निर्धारित दाब के अनुरूप ही कुकर के पानी का तापमान निर्धारित हो जाता है। और चूंकि यह पूर्व-निर्धारित तापमान 100° से. से अधिक होता है इस लिये साधारण बर्तनों की अपेक्षा दाब-कुकर में खाद्य जल्दी पकते-उबलते हैं।

संसार के सर्वोच्च पर्वत, एवरेस्ट के शिखर पर वायुमण्डलीय दाब समुद्र-सतह पर पाए जाने वाले दाब का एक-तिहाई मात्र होता है। इस घटे दाब पर पानी 72° से. पर ही उबलने लगता है। अतः इस ऊंचाई पर उबालकर खाना बनाना बहुत ही कठिन हो जाता है। लेकिन दाब-कुकर स्वयं अपना दाब उत्पन्न कर, और इस प्रकार खाना पकाने की दर निर्धारित कर, इस कठिनाई को दूर कर देता है।

•

ऊष्मा नाभिकीय ईंधन...

(पृष्ठ 51 का शेषांश)

है कि प्लाज्मा का काफी समय तक सृजन किया जाये। इसके लिए मुख्यत: तीन विधियां उपयोग में लायी गयी हैं।

पहली विधि : एक पात्र में गैस ले कर उस को परिबद्ध चुम्बकीय क्षेत्र में रखा जाता है। पात्र के अन्दर जहां गैस होती है, विद्युत विसर्जन द्वारा आयनीकरण और ऊष्मन क्रिया में प्रारम्भ की जाती है। प्लाज्मा को अधिक आयनीकृत और गर्म करने के लिए विद्युत धारा प्रवाहित की जाती है।

दूसरी विधि : इलैक्ट्रान गन प्लाज्मा को उच्च वेग पर त्वरित करके उसका एक रिक्त चुम्बकीय क्षेत्र में अंत: क्षेपण (इन्टरएक्शन) किया जाता है । चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता को क्षण भर के लिए कम कर दिया जाता है जिससे प्लाज्मा उस रिक्त क्षेत्र का वेधन कर सके।

ऊपर बतायी गयी दोनों विधियों में चुम्बकीय क्षेत्र को अधिक तीव्र कर के प्लाज्मा को अतिरिक्त ताप प्रदान किया जा सकता है।

तीसरी विधि : इस विधि में पहले आयन पंज का सृजन और त्वरण कर के उस को कम दबाव पर बन्द की हुई गैस के कक्ष से गुजारा जाता है। इस प्रकार आयन कुछ इलैक्ट्रान ग्रहण कर लेते हैं। इस पुनर्बलित आयन पुंज को परिबद्ध चुम्बकीय क्षेत्र में रखते हैं। यहां पहले से विद्यमान कणों और गैसीय परमाणुओं के पारस्परिक संघातों के फलस्वरूप गैस के परमाणु इलैक्ट्रानों और आयनों में वियोजित हो जाते हैं। ये कण परिबद्ध चुम्बकीय क्षेत्र में धंस कर रह जाते हैं।

उक्त तीन विधियां के अतिरिक्त प्लाज्मा सृजन की एक अन्य विधि भी है जो प्रयोगाधीन है । इसमें रिक्त चुम्बकीय परिबद्ध कक्ष के केन्द्र पर लेसर-शलाखा को फोकस कर के लिथियम हाइड्राइड या भारी हाइड्रोजन को एक संघनित और तप्त प्लाज्मा के रूप में बदल दिया जाता है।

प्लाज्मा एक सुचालक, संपीडनशील तरल की तरह है जिस को दाब, आयतन, घनत्व, आदि गैसीय गुणों से परिभाषित किया जा सकता है। प्लाज्मा के विचित्र आचरण का मुख्य कारण प्लाज्मा कणों का सामहिक अंतरेक्षण और इसका आवेशयुक्त कणों से बना हुआ होना है।

प्लाज्मा एक सुचालक है, अत: ऊष्मा-संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि प्लाज्मा का पात्र से पूर्णतया ऊष्मा पृथग्न्यासन किया जाय।

प्लाज्मा पूर्ण सुचालक नहीं है इसलिये जब इस में विद्युत धारा प्रवाहित की जाती है तो ऊष्मा ऊर्जा का विमरण होता रहता है और धीरे-धीरे उत्पन्न चुम्बकीय क्षेत्र का क्षय होता है जिससे प्लाज्मा में अस्थिरता आ जाती है। आज की मुख्य समस्या प्लाज्मा को परिबद्ध रखना और उसमें स्थायित्व लाना है।

नाभिकीय संगलन रिएक्टर (प्रबाधक) की अपेक्षायें आज पूरी करना संभव नहीं है। अधिक तकनीकी प्रगति के साथ शायद ड्यूटेरान ईंधन पर चलने वाला शक्ति उत्पादक रिएक्टर बनाया जा सके। संभावित विधियां जो फलदायी हो सकती हैं वह हैं प्लाज्मा का उच्च आवृतक वैद्युत चुम्बकीय क्षेत्रों में ऊष्मन, तीव्रगामी आवेशरहित कणों का अन्त: क्षेपण, लेसर विधियों का अवरक्त क्षेत्रों में प्रयोग।

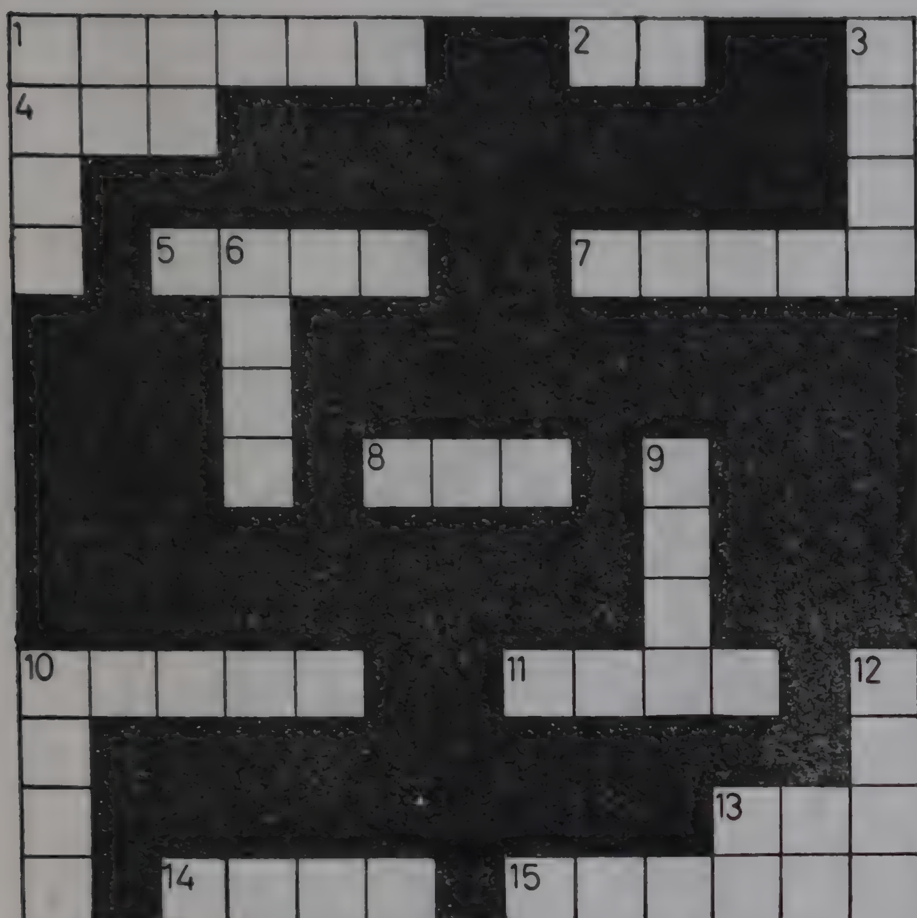
अब तक ऊष्मा नाभिकीय विद्युतगृह की रूप रेखा बनाना संभव न हो सका है। किन्तु इस नये ईंधन (प्लाज्मा) के सृजन और परिबद्धता की दिशा में भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र ने काफी प्रगति की है।

प्लाज्मा भौतिकी अपने आप में विज्ञान की एक प्रमुख शाखा है। संगलन से इसका गहरा सम्बन्ध होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया है। अभी हम अपने लक्ष्य 'अनन्त और अपार शक्ति का स्रोत' से काफी दूर है। ज्यों-ज्यों प्लाज्मा विज्ञान में प्रगति हो रही है हम अपने लक्ष्य के नजदीक पहुंच रहे हैं। ●

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 7

सुरेन्द्र एस. वर्मा



ऊपर से नीचे

1. पदार्थ की चौथी अवस्था।
3. नाइट्रोजन को 'नाइट्रोजन' नाम देने वाला वैज्ञानिक।
6. घावों को सड़ने से बचाने के लिये 'ऐन्टीसेप्टिक' का प्रयोग करने के आधुनिक तरीके की खोज इसी वैज्ञानिक ने की थी।
9. हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस का आविष्कारक।
10. आंख का वह भाग जो आंख में प्रवेश करने वाले प्रकाश की मात्रा को नियंत्रित करता है।
12. इलैक्ट्रान की पहचान करने वाला सर्वप्रथम अंग्रेज भौतिकविद्।

बायें से दायें

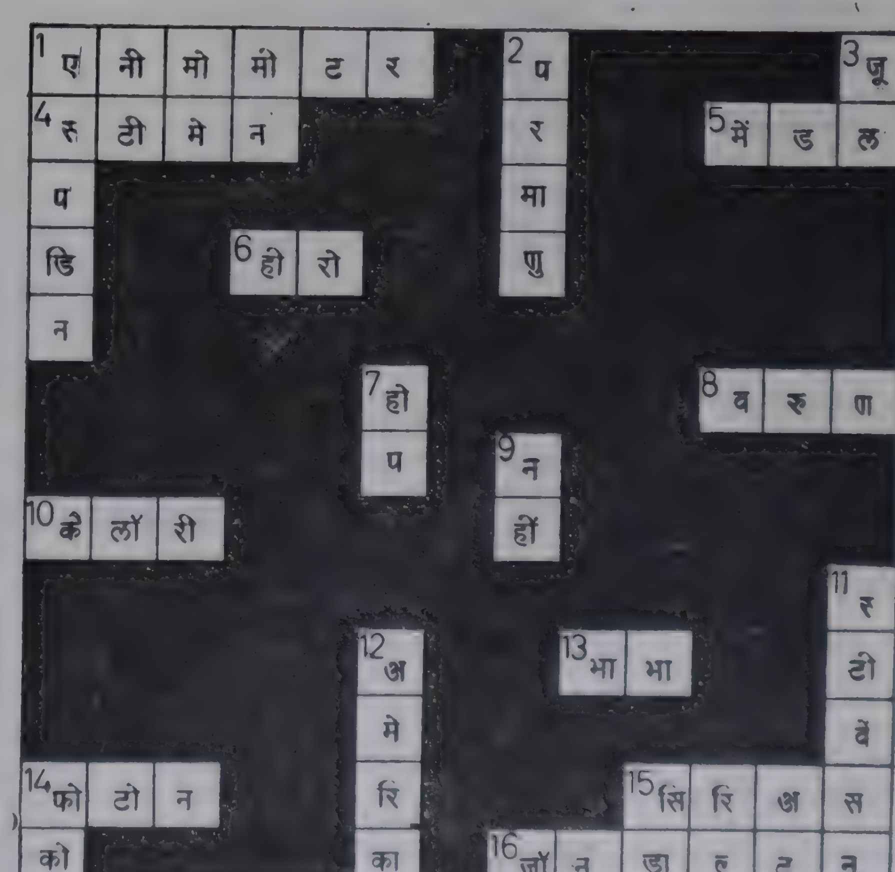
1. मनुष्य निर्मित तत्वों की श्रेणी में दूसरा तत्व जिसकी परमाणु संख्या 94 है।
2. इस फ्रांसीसी भौतिकविद् ने ही सन् 1849 में पृथ्वी पर किन्हीं दो बिन्दुओं के मध्य प्रकाश की गति मापने के लिये सबसे पहला प्रयोग किया था।
4. अंतरिक्ष यात्रा करने वाला प्रथम प्राणी।
5. सबसे हल्की गैस।
7. पत्तियों का हरा रंग इसी पदार्थ के कारण होता है।
8. आग के बाद का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आविष्कार।
10. सबसे भारी तत्व जो कि एक धातु है और जिसका आपेक्षिक घनत्व 22.48 है।
11. इस डच वैज्ञानिक ने गैलीलियो से भी पहले टेलीस्कोप का आविष्कार किया था।
13. लारेंसियम नामक तत्व का नाम इसी सुप्रसिद्ध अमेरिकी भौतिकविद् के नाम पर रखा गया है।
14. किसी पिण्ड को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से बहार जाने के लिये ——कि. मि. प्रति सेकंड की गति आवश्यक है।
15. तेरहवीं शताब्दी का यह अंग्रेज वैज्ञानिक - दार्शनिक प्रायोगिक विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है।

निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा। अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी। आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा।

• • •

विज्ञान वर्ग पहेली 6 का हल



क्लोरोफिल

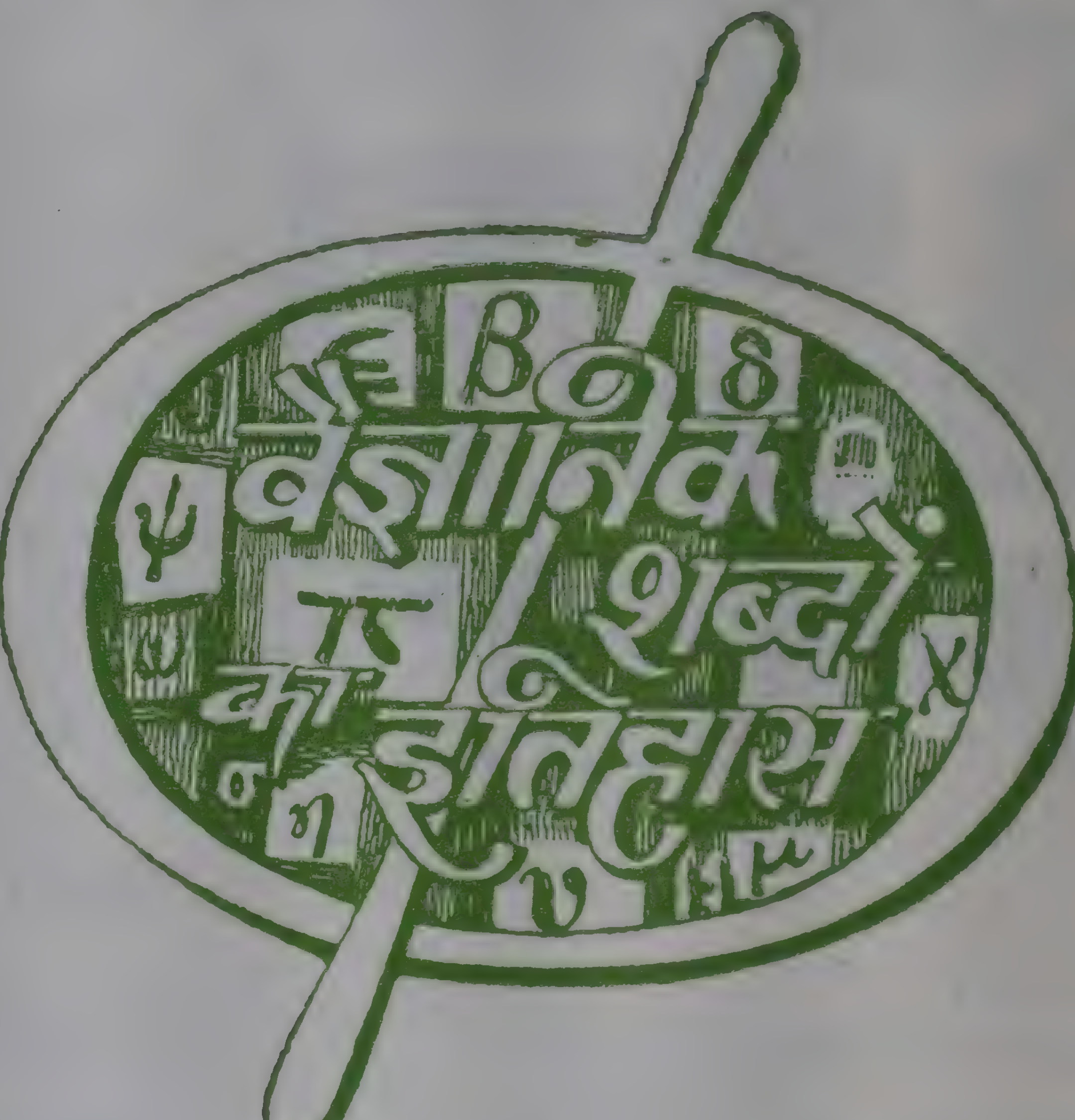
साधारणतया जब किसी रसायन के नाम में क्लोर प्रत्यय आता है तो ऐसा तो आभास होता है कि उस रसायन के अणु में एक या अधिक क्लोरीन परमाणु होने अवश्यम्भावी हैं। क्लोरोफार्म इसका उदाहरण है। क्लोरीन गैस को यह नाम भी उसके हरे रंग के कारण ही दिया गया था। कभी-कभी क्लोर प्रत्यय केवल पदार्थ के रंग की ओर ही इंगित करता है उसकी रासायनिक संरचना की ओर नहीं।

प्रकृति में पाया जाने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण हरा रंग पौधों की पत्तियों का है। पत्तियों को हरा रंग देने वाले पदार्थ को सर्वप्रथम 1817 में फ्रांसीसी रसायनज्ञ पियरे जे. पेलेतिए और जोसेफ बी. केवेन्तो ने बिलगाया और उन्होंने उस पदार्थ का नाम क्लोरोफिल रख दिया। क्लोरोफिल शब्द ग्रीक भाषा के शब्द क्लोरास अर्थात हरा और फिल्लान अर्थात पत्ती से मिल कर बना है। यहां क्लोरो प्रत्यय केवल रंग की ओर इंगित करता है। क्योंकि क्लोरोफिल में एक भी क्लोरीन परमाणु नहीं होता।

क्लोरोफिल सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में वायु की कार्बन डाव आक्साइड से भोजन तैयार करता है जिस पर जन्तु निर्भर हैं। इस दृष्टि से पृथ्वी पर पाया जाने वाला कोई भी रंगीन पदार्थ क्लोरोफिल जितना महत्वपूर्ण नहीं है। वैसे पौधों में अन्य अनेक रंगीन यौगिक हैं, जिनका महत्व तो निश्चय ही बहुत कम है फिर भी उन को हम छोड़ना नहीं चाहेगें।

उदाहरणार्थ, एक यौगिक है ऐन्थोसाइनिन, जो विभिन्न प्रकार के फूलों में प्रकट होता है। यह नाम ग्रीक भाषा के शब्द ऐन्थास अर्थात फूल और कायनास अर्थात नीले से मिल कर बना है। ऐन्थोसाइनिन शब्द की व्युत्पति देख कर ऐसा भ्रम होता है कि यह यौगिक केवल नीले फूलों में ही पाया जाता होगा। यह तो सही है कि यह नीले फूलों में पाया जाता है जैसे कि डेल्फीनियम में। लेकिन उचित वातावरण में ऐन्थोसाइनिन बैंगनी अथवा लाल भी हो सकता है। पोस्त, गुलाब आदि फूलों का रंग ऐन्थोसाइनिन के कारण ही होता है।

पौधों में पीले रंग का द्रव्य भी पाया जाता है। इन में से कुछ फ्लवोन (लैटिन भाषा के शब्द फ्लैवस अर्थात् पीला से व्युत्पन्न) और कुछ जेन्थोन (ग्रीक शब्द जेन्थास अर्थात पीला से व्युत्पन्न) कहलाते हैं लेकिन पौधों में सबसे अधिक पाया जाने वाला पीला-नारंगी रंग द्रव्य कैरोटीन होता है। इसे सर्वप्रथम कैरट अर्थात गाजर से



प्राप्त किया गया था। यह अन्य अनेक पौधों में तथा जन्तु-वसा में भी पाया जाता है।

ऐन्थ्रेसाइट

लैटिन भाषा में ऐसे राल जैसे पदार्थ को, जो इतना पतला हो कि वस्तुओं पर उसको पोता जा सके, इतना चिपचिपा हो कि जहां पड़ जाए चिपक कर सख्त हो जाए और जिन पदार्थों पर उसे पोता जाए उन्हें जल-सह बना दे, बिटुमन कहते हैं।

युगों पूर्व उगी वनस्पति से बने होने के कारण कोयला, मुख्यतः कार्बन होता है। समय व्यतीत होने के साथ-साथ पौधों के ऊतकों के हाइड्रोजन, आक्सीजन और नाइट्रोजन परमाणु समाप्त हो गए और शेष रह गया कार्बन। कोयले को यदि वायु की अनुपस्थिति में जलाया जाए तो उक्त परमाणुओं में से यदि कोई शेष रहे होते हैं तो वे भी गैसों और वाष्पों के रूप में निकल जाते हैं। इन वाष्पों में से कुछ को ठण्डा करके एक बिटुमन सदृश काला पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है जिसे 'कोल तार' कहते हैं। इसलिए जिस कोयले से 'कोलतार' प्राप्त किया जाता है उसे बिटुमनी कोयला (बिटुमिनस कोल) कहते हैं।

एक कोयला ऐसा भी होता है जिसमें कार्बन बहुत अधिक (90 प्रतिशत या और भी अधिक) होता है तथा अन्य तत्व उसमें इतने कम होते हैं कि उससे बिलकुल भी 'कोलतार' प्राप्त नहीं होता। यह बिटुमनी कोयले की अपेक्षा अधिक ऊष्मा तथा कम धुएं के साथ जलता है। यह 'एन्थ्रेसाइट कोल' अथवा ऐन्थ्रेसाइट कोयला कहलाता है। ऐन्थ्रेसाइट शब्द ग्रीक भाषा के शब्द एन्थ्रेक्स (anthrax) से बना है जिसका अर्थ कोयला होता है।

कोलतार से प्राप्त होने वाले यौगिकों में से एक के अणु में 14 कार्बन परमाणु त्रिमंडल में व्यवस्थित होते हैं। इस यौगिक का नाम ऐन्थ्रेसीन है। यह शब्द भी 'ऐन्थ्रेक्स' से ही बना है।

ऐस्टेराइड

वे खगोलीय पिण्ड जो सूर्य के चारों ओर घूमते रहते हैं, ग्रह (प्लेनेट) कहलाते हैं। कुछ अन्य ऐसे भी खगोलीय पिण्ड हैं जो ग्रहों की परिक्रमा करते रहते हैं। ये पिण्ड उपग्रह (सैटेलाइट) कहलाते हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है इस लिए चन्द्रमा भी उस के साथ-साथ सूर्य की भी परिक्रमा करता है। अन्य ग्रहों में से अधिकांश ऐसे हैं जिन की परिक्रमा कोई न कोई पिण्ड करता है।

ग्रहों की परिक्रमा करने वाले इन पिण्डों को सैटेलाइट (उपग्रह) कहा जाता है। सैटेलाइट शब्द लैटिन भाषा के शब्द सेटेल्स से बना है। 'सैटेल्स' का अर्थ होता है 'अनुचर' (वास्तव में चन्द्रमा पृथ्वी का अनुचर ही तो है)। ग्रह की परिक्रमा करने वाले पिण्ड को हिन्दी में उपग्रह कहा जाता है। रूसी भाषा में इस के लिए 'स्पुतनिक' शब्द है। स्पुतनिक का अर्थ होता है 'सहयात्री'।

उन्नीसवीं शती के आरम्भ से अब तक मंगल और वृहस्पति की कक्षाओं के बीच स्थित कक्षाओं में सूर्य की परिक्रमा करने वाले सैंकड़ों क्षुद्र ग्रह खोजे जा चुके हैं। ये सूर्य की परिक्रमा करने के कारण ग्रह कहलाए। परन्तु ये ग्रह अपने में इतने छोटे थे कि उनका कोई अन्य नाम रखा जाना आवश्यक समझा गया। उन ग्रहों में सब से बड़े ग्रह का व्यास भी केवल 480 मील है जब कि पूर्वज्ञात ग्रहों में सब से छोटे ग्रह का व्यास भी 3000 मील है।

इन छोटे ग्रहों को ऐस्टेराइड नाम दिया गया। (ऐस्टेराइड ग्रीक भाषा के शब्द ऐस्टर अर्थात तारा (स्टार) और ग्रीक प्रत्यय आइड्स अर्थात 'के आकार का' से मिलकर बना है)। दूरदर्शी से देखने पर ये क्षुद्र ग्रह आकार में तारे के समान दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में तारों और क्षुद्र ग्रहों में कोई सादृश्य नहीं। इस लिए इन्हें कभी-कभी प्लैनेटाइड भी कहा जाता है।

वास्तव में प्लैनेटाइड भी उपयुक्त नाम नहीं है। प्लैनेटाइड न केवल ग्रह (प्लैनेट) की शक्ल के होते हैं बल्कि वे ग्रह ही होते हैं। उन के क्षुद्र आकार पर बल देने के लिये उन्हें अक्सर माइनर प्लैनेट कहा जाता है। ऐस्टेराइड को हिन्दी में क्षुद्र ग्रह कहा जाता है जोकि सर्वथा उपयुक्त नाम है।

बहुत छोटे-छोटे क्षुद्र ग्रह जो कि पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करते हैं और जल कर समाप्त हो जाते हैं, अंग्रेजी में मीटिओर और हिन्दी में उल्का कहलाते हैं। मीटिओर शब्द ग्रीक भाषा के शब्द मीटिओरान से बना है जिसका अर्थ होता है आकाशीय घटना। यदि कोई उल्का (मीटिओर) वायुमण्डल में ही पूर्णतया भस्म नहीं हो पाता तो उसका शेष अंश पृथ्वी पर आ गिरता है और उल्कापिंड कहलाता है। आकाश में गतिमान, किन्तु वायुमण्डल में प्रवेश करने से पूर्व की अवस्था में यह मीटिओराइड कहलाता है।

क्रोमेटोग्राफी

जैव ऊतकों का रासायनिक अध्ययन करने में समक्ष आने वाली एक सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इन ऊतकों में अनेक यौगिक होते हैं। इन यौगिकों के समूह परस्पर इतने अधिक मिलते-जुलते होते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ पत्तियों में बहुत से यौगिक एक ही रंग के होते हैं और उन यौगिकों के बारे में कोई जानकारी प्राप्त करना अति कठिन था जब तक कि उन्हें अलग-अलग न किया जाता। परन्तु उन्हें अलग-अलग करना तो दुर्निवार समस्या थी।

इस दुर्निवार समस्या का हल ढूंढा रूसी वनस्पतिज्ञ मिखाइल त्स्वेत ने। बात 1906 की है। अपने प्रयोगों के दौरान त्स्वेत ने पत्ती के रंगद्रव्यों का मिश्रण लिया और पैट्रोलियम ईथर में उसे घोल लिया। फिर उस घोल को चूना-पत्थर से ठसाठस भरी हुई एक कांच नली में डाला। पैट्रोलियम ईथर तो चूना-पत्थर के बीच से निकल गया परन्तु रंगद्रव्य चूना-पत्थर के सूक्ष्म कणों पर रह गया।

इस के बाद भी त्स्वेत नली में लगातार पैट्रोलियम ईथर डालता रहा। इस से रंग द्रव्य घुल कर नीचे जाने लगा। रंग द्रव्य-मिश्रण के हर यौगिक की पैट्रोलियम ईथर में घुल कर बह जाने की दर अलग थी। यह घुल कर बहने की दर इस बात पर निर्भर थी कि कौन सा रंगद्रव्य चूना-पत्थर से कितनी मजबूती से चिपका हुआ था और कितनी सरलता से वह पैट्रोलियम ईथर में घुल सकता था। परिणामस्वरूप एक यौगिक घुल कर जल्दी ही नली में नीचे चला गया दूसरे को कुछ अधिक समय लगा, तीसरे को और भी अधिक समय लगा और इस प्रकार कांच नली में रंग द्रव्यों की अलग-अलग पट्टियां बन गई। हर पट्टी एक अलग रंग द्रव्य की थी। हर पट्टी का रंग भी अलग था। एक लाल, दूसरी नारंगी, तीसरी पीली आदि, आदि।

त्स्वेत ने इस प्रकार रंग द्रव्यों की पट्टियां अलग-अलग बनाने की तकनीक को 'क्रोमेटोग्राफी' कहा, क्योंकि ग्रीक भाषा के शब्द क्रोमा (chroma) का अर्थ 'रंग' होता है और ग्राफीन (graphein) का अर्थ होता है 'लिखना'। इस प्रकार क्रोमेटोग्राफी का अर्थ हुआ 'रंग में लिखना'। वास्तव में रंग द्रव्य मिश्रण की समस्या का हल कांच नली के चूना-पत्थर के स्तम्भ पर 'रंग में ही लिखा हुआ' मिला था। त्स्वेत की इस खोज को जीव रसायनज्ञों ने 25 वर्ष तक नहीं अपनाया। आज जैव रसायन के अध्ययन में त्स्वेत द्वारा खोजी गई विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो रही है। अंतर यह है कि चूना-पत्थर के स्थान पर आज के जीव-रसायनज्ञ कोई पाउडर अथवा अवशोषक कागज इस्तेमाल करते हैं। आजकल यह तकनीक अधिकतर यद्यपि रंगहीन यौगिकों के लिए इस्तेमाल की जाती है फिर भी 'क्रोमेटोग्राफी' ही कहलाती है।

प्रैक्टीकल काम सिखाने वाली सचित्र टैक्निकल इन्डस्ट्रियल पुस्तकें

(लगभग सभी पुस्तकें आई. टी. आई. व अन्य टेक्निकल इंस्टिट्यूशनों के स्वीकृत सिलेबस के अनुसार लिखी गई हैं)

● ट्रांजिस्टर

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	22.50
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजाइन	12.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	10.50
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सरकिट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

● रेडियो

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	6.00
सरकिट डायग्राम्ज आफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	4.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	3.00
बिन बिजली का रेडियो	1.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स (दो भाग प्रत्येक)	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

● इलैक्ट्रिकल

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15.00
इलैक्ट्रिक गाइड	10.50
इलैक्ट्रिक वायरिंग	4.50
इलैक्ट्रिक लाईटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स आल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वेल्डिंग	6.00
आल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
*भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल आरमेचर वाईंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए.सी. मोटर वाईंडिंग सचित्र	12.00
आरमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
आई.टी.आई.इलै. सौलव्ड पेपर्स	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00

● वर्कशाप खराद सम्बन्धी

मशीनिष्ट गाइड आई. टी. आई. के सिलेबस के अनुसार (पृ. 664)	16.50
कास्ट आयरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
खराद आपरेटर गाइड (उर्दू में)	8.25
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज और उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिंग और सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिंग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25

● आटोमोबाइल व मोटर

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुअल (तीन भाग)	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर	6.00
मोटर ड्राईविंग	4.50
मोटरकार ओवरहालिंग	6.00
मोटर मैकेनिक टीचर गुरुमुखी	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
आधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूटर व आटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
ऑटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटर कार प्राइमर	1.50
खेती और ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00

● फर्नीचर

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटेलॉग	25.50
न्यू फर्नीचर कैटलॉग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
आधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुअल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6..75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्प्लीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

● सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी आर्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजाइन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (अंग्रेजी)	5.25
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिन्दी)	5.25

● गेट ग्रिल जाली

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
आयरन फर्नीचर	12.00

● लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (अंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक आफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

● विविध

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजाइन	3.75
आयल व गैस इंजन गाइड	15.00
आयल इंजन गाइड	6.00
सिनेमा मशीन आपरेटर्स गाइड	8.25

● एअर कन्डीशनिंग

रैफरीजरेटर गाइड	8.25
आइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एअर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देख लें । डाक खर्च ग्राहक को देना होगा ।

देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6 फोन नं. 261030, 264191, 265403

पांच हजार पुस्तकों की विस्तृत जानकारी के लिए डेढ़ रुपये का मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर भेजकर 608 पृष्ठों की ज्ञान की कुंजी मंगाइए ।



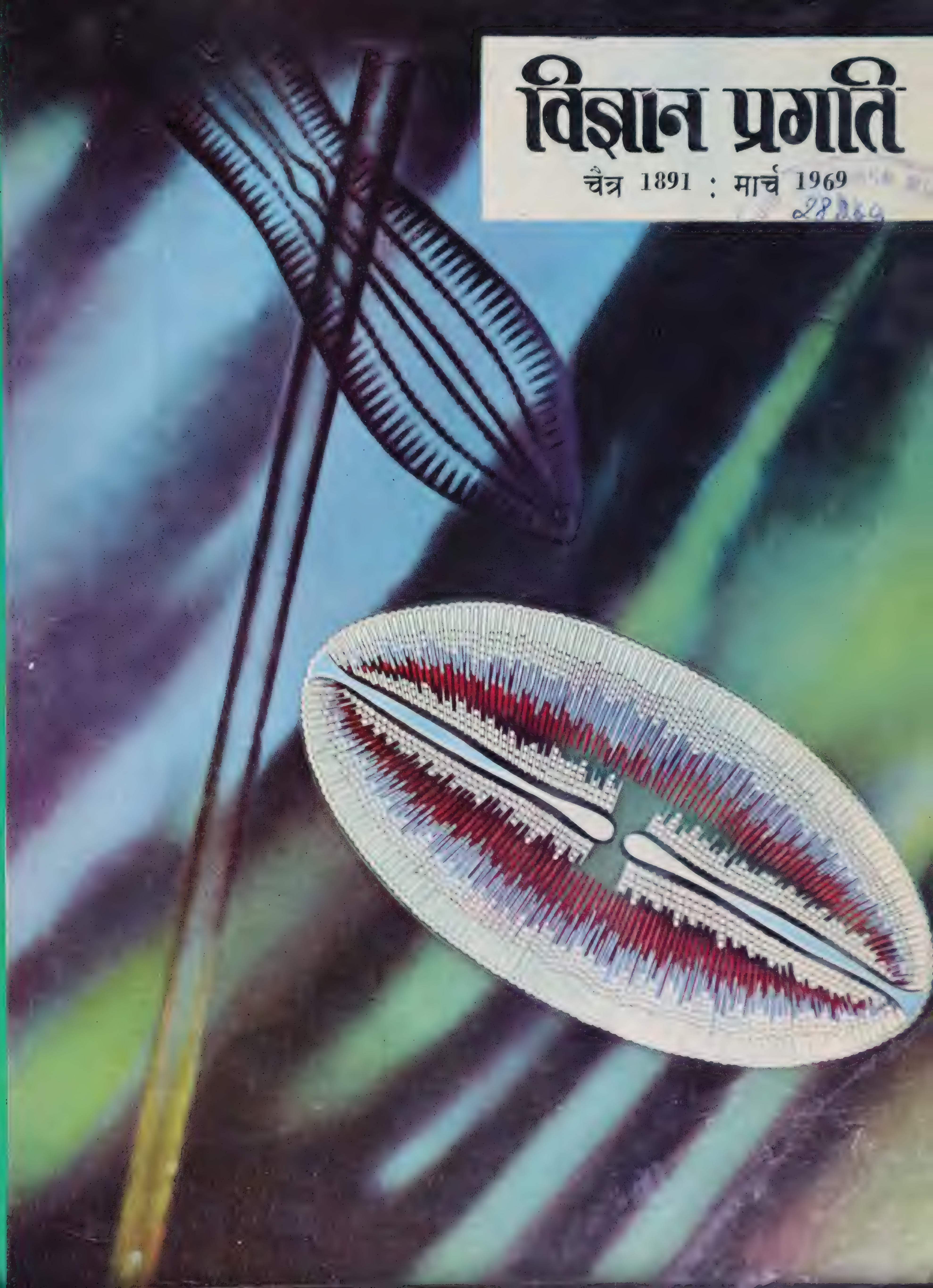


कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल ग्राफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए यूनाइटेड इंडिया प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

चैत्र 1891 : मार्च 1969





यूज-4 ग्रौर सोयूज-5 के यात्री: (बायें से) ब्लादीमीर शतालोफ, बोरिस वाल्यीनोफ, एलैक्सी यालिसेयेफ ग्रौर येवगेन्य ख्रूनोफ

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा, हिन्दी, में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। विज्ञान प्रगति का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12 से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगल वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या ....है। मैं..................रु. का चेक/पोस्टल/मनी आर्डर

संख्या.................................... दिनांक ....भेज रहा हूं।

पूरा नाम ....

पता...

डाकघर ....जिला ....राज्य............

हस्ताक्षर ....

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 चैत्र 1891 मार्च 1969 ग्रंक 3 पूर्णांक 198

विषय सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति ग्रंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल ग्राफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

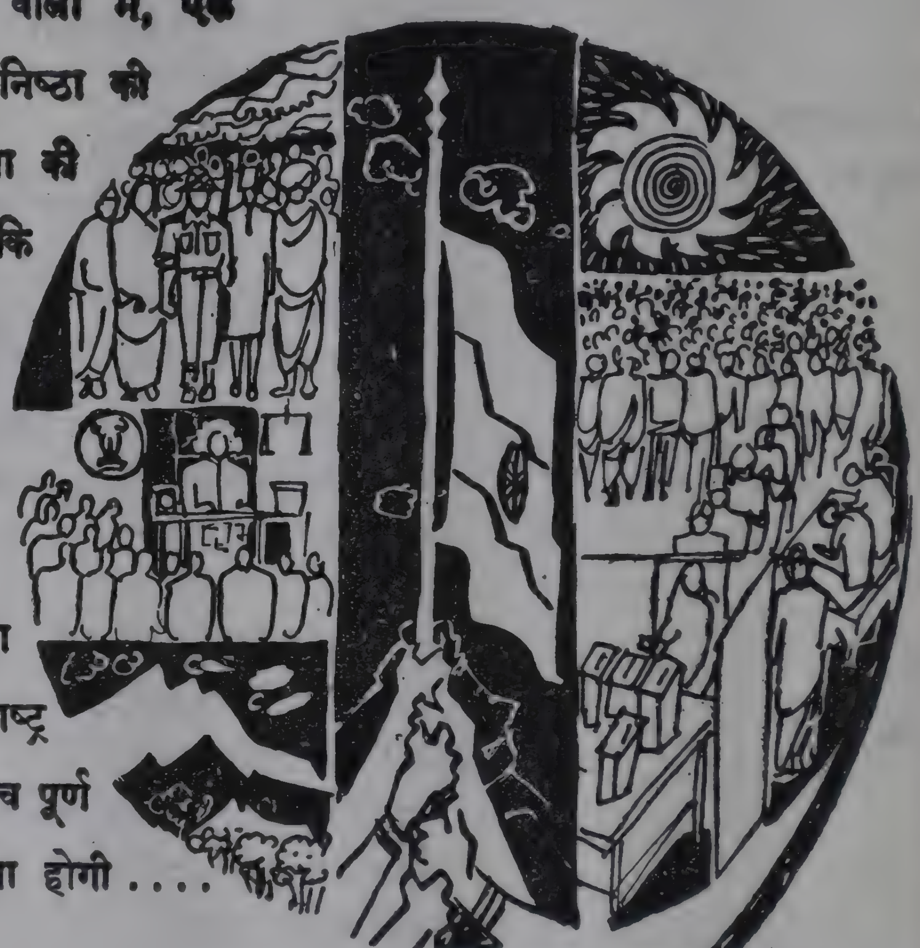
मुख-चित्र परिचय

डायएटम नेवीकुला क्लेवेटा — वास्तविक आकार से लगभग 1000 गुना बड़ा। (पृष्ठ 97 पर डायएटम के बारे में एक विशेष लेख पढ़िये) ।

विशेष सूचनाएं

एक राष्ट्र :
एक कौम

एक देश के रहने वालों में, एक झण्डे और उसके प्रति निष्ठा की शपथ लेने वालों में समानता की डोर इतनी मजबूत होती है कि जो लोग भारत को एक राष्ट्र मानते हैं, उनके सामने बहुमत और अल्पमत का सवाल ही पैदा नहीं होता। सभी को समान अवसर प्राप्त हैं। सभी बराबर हैं....हमारा देश धर्म-निरपेक्ष और लोकतंत्रीय राष्ट्र होगा, जिसमें सभी लोगों के बीच पूर्ण एकता और प्रेम की भावना होगी....



महात्मा गांधी



MAHATMA
GANDHI
BIRTH CENTENARY
OCT 2,1968 TO
FEB 22,1970
महात्मा
गांधी
जन्म शताब्दी
अक्तूबर 2,1968 से
फरवरी 22,1970

परिषद् के नये उपाध्यक्ष–

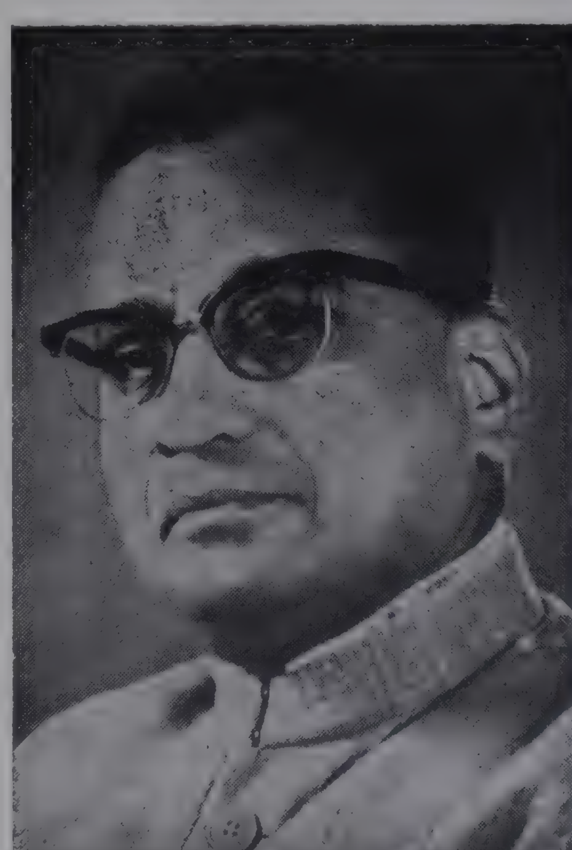
डा. वी. के. आर. वी. राव

शिक्षा मंत्री डा. वी. के. आर. वी. राव ने गत 14 फरवरी को वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के उपाध्यक्ष का पद ग्रहण किया । इससे पूर्व भी डा. राव परिषद् की शासी सभा के सदस्य रहे हैं । उपाध्यक्ष पद ग्रहण करने के उपरान्त 18 फरवरी को डा. राव परिषद् के मुख्यालय में पधारे । उपाध्यक्ष का स्वागत किया वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान के महानिदेशक डा. आत्मा राम ने । वैज्ञानिकों के समक्ष भाषण करते हुए डा. राव ने कहा :

"विज्ञान अब उस अवस्था को पहुंच चुका है जहां स्व. श्री जवाहरलाल नेहरू उसे पहुंचाना चाहते थे ।" भारतीय विज्ञान और टैक्नोलाजी की समस्याओं का उल्लेख करते हुए डा. राव ने वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् तथा विश्वविद्यालयों के बीच अधिकाधिक सहयोग के महत्व पर प्रकाश डाला । उत्पादन-उन्मुख वैज्ञानिक अनुसंधान पर बल देते हुए डा. राव ने कहा कि "विज्ञान की सार्थकता उत्पादन-उन्मुख होने में ही है ।"

डा. राव उच्च कोटि के अर्थशास्त्री हैं, परंतु विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधान के प्रति उनकी रुचि सदैव रही है क्योंकि उनके अनुसार केवल वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान और उसका सदुपयोग ही देश की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बना सकता है । आप देश में न केवल वैज्ञानिक अनुसंधान को बढ़ावा देना चाहते हैं वरन् आपकी सदैव यह इच्छा रही है कि वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणाम जन-जन तक उन्हीं की भाषा में पहुंचें ताकि देश में वैज्ञानिक वातावरण का सृजन हो । आप इस दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहे हैं तथा यथासमय आप संबंधित अधिकारियों को अपने बहुमूल्य सुझाव भी देते रहे हैं । स्व. श्री नेहरू की स्मृति में प्रकाशित 'विज्ञान प्रगति' का **'नेहरू स्मृति अंक'** जब आपको प्राप्त हुआ तो आपने वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान के तत्कालीन महानिदेशक को 'नेहरू स्मृति अंक' की प्राप्ति स्वीकृति भेजते हुए यह सुझाव भेजा कि **"उक्त पत्रिका हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित करके या तो निशुल्क अथवा अल्प मूल्य पर विज्ञान अध्यापकों, विशेष रूप से उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा कालेजों में भेजी जाए ।"** आप उस समय योजना आयोग के सदस्य थे ।

डा. राव के उक्त सुझाव पर परिषद् की शासी सभा की 49वीं बैठक में विचार किया गया । यह बैठक 6 मई, 1965 को हुई थी । परिषद् के तत्कालीन उपाध्यक्ष ने यह तय किया था कि डा. राव के सुझाव को कार्यरूप में परिणत किया जाए ।



डा. वी. के. आर. वी. राव

इसके बाद शासी सभा की 51वीं बैठक में परिषद् की भारतीय भाषा यूनिट के कार्य आदि पर विचार करते हुए **डा. राव के सुझाव पर यह निश्चय किया गया कि उक्त यूनिट द्वारा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी वैज्ञानिक साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया जाए तथा सर्वप्रथम बंगला भाषा में यह कार्य शुरू हो** उल्लेखनीय है कि उक्त यूनिट का नाम 'हिन्दी यूनिट' से 'भारतीय भाषा यूनिट' भी डा. राव के सुझाव पर ही रखा गया था । वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की शासी सभा तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान मण्डल के सदस्य होने के अतिरिक्त आप कई समितियों, आयोगों आदि के सदस्य अथवा अध्यक्ष रहे हैं । आप वैज्ञानिक और तकनीकी कर्मी निदेशालय तथा अनुसंधान सर्वेक्षण और आयोजन संगठन की कार्यकारी परिषदों के अध्यक्ष भी रहे हैं । 1947 से 1950 तक डा. राव आर्थिक विकास पर संयुक्त राष्ट्र उप-आयोग के सदस्य तथा अध्यक्ष रहे ।

आपने भारत सरकार के खाद्य सलाहकार के रूप में भी कार्य किया है । आप पेरिस के इंस्टीट्यूट द साइंस एकानामिके एप्लिके के तत्स्थानी सदस्य (करेस्पोंडेंट मेम्बर), रायल इकानामिक सोसाइटी, लंदन, के भारतीय संवाददाता, आय और सम्पदा संबंधी अनुसंधान की अन्तरराष्ट्रीय समिति की शासी परिषद् के सदस्य तथा इंडियन इकानामिक ऐसोसिएशन के अध्यक्ष रहे हैं । आप इन्टरनैशनल स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट के सदस्य हैं । आप भारत सरकार द्वारा नियुक्त अनेक आयोगों तथा समितियों, यथा करारोपण जांच आयोग, प्रेस कमीशन, राष्ट्रीय आय समिति और योजना आयोग के सलाहकारी मंडल,

(शेषांश पष्ठ 90 पर)

क्या प्रचलित अंग्रेजी कैलेंडर वैज्ञानिक है ?

आज संसार का कारोबार आमतौर पर जिस कैलेंडर द्वारा संचालित होता है उसकी कई बातें बहुत खटकने वाली हैं। इसका कारण यह है कि इसका विकास पिछले दो हजार वर्षों में विभिन्न प्रकार के परीक्षणों द्वारा मूल-सुधार कर-करके किया गया है। इतना तो निश्चित है कि यह वर्तमान औद्योगिक युग की हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है।

वर्तमान कैलेंडर के विकास की कहानी इतिहास-प्रसिद्ध रोमन जनरल और डिक्टेटर जूलियस सीज़र से प्रारम्भ होती है जिसने कि पुराने रोमन कैलेंडर में सुधार करवाया था। पुराना कैलेंडर कुछ सूर्य पर और कुछ चन्द्र पर आधारित था, परन्तु जूलियस सीज़र ने नये कैलेंडर का आधार पूरी तरह सूर्य को बनाया। इस कैलेंडर में एक वर्ष को 365-1/4 दिन का निर्धारित किया गया और इसे 12 महीनों में बांटा गया। पहला महीना **जन्युएरियस** 31 दिन का रखा गया, दूसरा **फेब्रुएरियस** 30 दिन का। बाकी के महीने क्रमशः 31 और 30 दिन के निर्धारित कर दिये गए। लेकिन इस प्रकार वर्ष में 366 दिन हो जाते थे। अतः इस त्रुटि को दूर करने के लिये फेब्रुएरियस को घटाकर 29 दिन का कर दिया गया, सिवाय अधिवर्ष अर्थात् लीप वर्ष के जिसमें कि यह 30 दिन का रखा गया।

सीज़रों द्वारा परिवर्तन

इस सुधरे हुए कैलेंडर को सन् 46 ईसापूर्व में अंगीकार कर लिया गया। रोम की सीनेट ने जूलियस सीज़र को सम्मानित करने के विचार से एक महीने, 'क्विंटिलिस' का नाम बदल कर **जूलियस** कर दिया। जूलियस सीज़र की हत्या के बाद सन् 44 ईसापूर्व में जब आगस्टस सीज़र सत्तारूढ़ हुआ तो उसने सीनेट द्वारा एक महीने का नाम अपने नाम पर रखवा लिया और इस प्रकार 'सेक्स-टिलिस' का नाम बदलकर **आगस्टस** रख दिया गया।

इतना ही नहीं वह दिनों के मामले में भी जूलियस से पीछे नहीं रहना चाहता था। अतः उसने फेब्रुएरियस में से एक दिन निकलवा कर आगस्टस में जुड़वा दिया और इस प्रकार दोनों सीज़रों के नाम पर रखे गए महीनों में 31-31 दिन हो गए। लेकिन मामला यहीं नहीं रुक पाया। लोगों ने शिकायत की कि वर्ष की चारों तिमाहियां बराबर नहीं हैं। अतः आगस्टस ने उस स्थिति को भी संभालना चाहा। उसने सितम्बर में से एक दिन निकलवा कर अक्तूबर में जुड़वा दिया, और एक दिन नवम्बर से निकलवाकर दिसम्बर में।

किन्तु इस सब के बावजूद सीज़रों का वर्ष 12-1/2 मिनट अधिक बड़ा था। वैसे यह अन्तर साधारण-सा प्रतीत होता है किन्तु अनेक शतियों के दौरान इसने कई दिनों का फर्क डाल दिया। सर्वप्रथम 'ईस्टर' के लिये जो दिन निर्धारित हुआ था उससे लेकर सन् 1582 तक पहुंचते-पहुंचते 12-1/2 मिनट के इस अंतराल से कैलेंडर में लगभग 10 दिन की अशुद्धि आ गई थी। इसे दूर करने के लिये पोप ग्रेगरी तेरहवें ने यह आदेश दिया कि कैलेंडर में से दस दिन निकाल दिये जायं और 4 अक्तूबर, 1582 के बाद का दिन 15 अक्तूबर, 1582 माना जाय। और इस प्रकार की परिस्थिति फिर उत्पन्न न हो इसके लिये पोप ने यह व्यवस्था दी कि जिस शताब्दि को 400 से पूरा-पूरा विभाजित किया जा सके, उस वर्ष को अधिवर्ष (लीप वर्ष) माना जाय। इससे कैलेंडर की अशुद्धि बहुत कम हो गई क्योंकि इससे एक दिन की अशुद्धि होने में 4000 वर्ष लगेंगे।

विचारणीय सुझाव

कैलेंडर की इस जटिल समस्या को सुलझाने का एक विचारणीय सुझाव केबल, गेटस्कल व कैंडेश ने अपनी पुस्तक **साइन्स इन ए चेंजिग वर्ल्ड** में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि वर्ष में 365 की बजाय 364 दिन होने चाहियें। ऐसे वर्ष में हमेशा एक जितने सप्ताह रहेंगे और तारीखें हर बार, हर साल के सप्ताह के उसी दिन पड़ा करेंगी। इससे वर्ष का प्रारम्भ रविवार को हुआ करेगा और अंत शनिवार को। और हमारे सूर्य-वर्ष की आवश्यकता के अनुसार 365वें दिन की व्यवस्था, वर्ष के अंत में एक दिन जोड़ कर की जायगी। इसे मंगल, शुक्र आदि सप्ताह का कोई दिन नहीं माना जायगा अपितु इसे केवल 'वर्षांत दिवस' (यीअर-एंड-डे) कहा जायगा। यह 30 दिसम्बर और 1 जनवरी के बीच का दिन रहेगा। और अधि-वर्ष (लीप वर्ष) में 30 जून और 1 जुलाई के बीच एक लीप-वर्ष दिवस रखा जायगा। वर्षांत दिवस और अधिवर्ष दिवस दोनों सप्ताह के दिनों के अन्तर्गत नहीं रहेंगे और इन दोनों दिनों की छुट्टी रखी जायगी।

इस सुझाव पर अमल किया जाय तो तिमाहियां और छमाहियां बिल्कुल बराबर रहेंगी; प्रत्येक तिमाही रविवार को प्रारम्भ होगी और शनिवार को समाप्त। प्रत्येक तिमाही में 13 रविवार होंगे और 13 शनिवार। ऐसे वर्ष में दिवस और सप्ताह प्रति वर्ष उसी स्थान पर रहेंगे। वाणिज्य व उद्योग तियां और निजी मामलों के लिये भी संभवतया यह कैलेंडर सर्वाधिक वैज्ञानिक सिद्ध होगा।

अंतरग्रहीय यात्रा की दिशा में नया कदम

अंतरिक्ष प्लैटफार्म

देवेन्द्र नाथ भटनागर

अभी ओपोलो-8 की सफलता की कहानियां पूरी तरह कही-सुनी भी न गई थीं कि सोवियत रूस के सोयूज-4 और सोयूज-5 के अंतरिक्ष में सफलतापूर्वक युग्मन की खबर फिर अखबार की सुर्खियों पर थी । संसार स्तम्भित था । मनुष्य की अंतरिक्ष पर विजय पाने की महत्वाकांक्षा ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी का बल पाकर संसार के दो बड़े राष्ट्रों के बीच की होड़ को और अधिक तेज कर दिया ।

जनवरी 1969 की 14 तारीख को मास्को समयानुसार सुबह के 10 बज कर 39 मिनट पर सोयूज-4 ने अपनी यात्रा आरम्भ की । इसके चालक थे ब्लादिमीर एलेक्जेंद्रोविच शतालोफ । उड़ान से पहले और अन्तरिक्ष में पृथ्वी की कक्षा में स्थापित होने के बाद यान से रेडियो सम्बन्ध स्थापित किये गये । शतालोफ ने यान के यंत्रों का परीक्षण किया । साथ ही टेलिविजन पर यान की गतिविधियों के और चालक के चित्र भी प्रसारित किये गये । पृथ्वी की एक परिक्रमा यान ने 88.25 मिनट में पूर्ण की और मास्को समयानुसार शाम के 3 बजे तक तीन चक्कर पूरे कर लिए । इस समय पृथ्वी से इसकी अधिकतम दूरी 225 कि. मी., न्यूनतम दूरी 173 कि. मी. और कक्षा का झुकाव 51° 40' था । यान के अन्दर का वायु दाब 800 मि. मी. (पारद) और ताप 19° सेन्टीग्रेड रखा गया था ।

मास्को समयानुसार शाम के 6 बजे तक सोयूज-4 धरती के इर्द-गिर्द पांच चक्कर लगा चुका था। चौथे और पांचवें चक्कर के दौरान वर्नियर इंजन के द्वारा उसकी कक्षा में संशोधन किया गया। इससे उसका परिक्रमा काल 88.75 मिनट, अधिकतम दूरी 237 कि.मी., न्यूनतम दूरी 207 कि.मी. हो गई परन्तु कक्षा का झुकाव पूर्ववत रहा । इस बीच शतालोफ ने यान के कैबिन के डिजाइन और साज-सामान के टेलीविजन चित्र भेजे ।

अगले दिन 15 जनवरी, 1969, को एक अन्य यान सोयूज-5 तीन यात्रियों को लेकर मास्को समयानुसार सुबह के 10 बजकर 14 मिनट पर उड़ा । यात्री थे कमांडर बोरिस वोलिनोफ, उड़ान इंजीनियर एलेक्सी येलिसेयेफ और शोध इंजीनियर येवजिनी ख्रुनोफ । यान के पृथ्वी की कक्षा में स्थापित होने पर यान की पृथ्वी से अधिकतम दूरी 230 कि.मी., न्यूनतम दूरी 200 कि.मी., कक्षा का झुकाव 51° 40' रखा गया । यान ने पृथ्वी की परिक्रमा 88.7 मिनट में पूर्ण की ।

कक्षा में पहुंचने के बाद इसने सोयूज-4 तथा पृथ्वी से रेडियो सम्बन्ध स्थापित किये । सारे दिन दोनों यान (सोयूज-4 और सोयूज-5) पृथ्वी की परिक्रमा करते रहे और अनुसंधानों में व्यस्त रहे । शाम के 9 बजे तक सोयूज - 4 बाईस और सोयूज-5 पृथ्वी की छः परिक्रमाएं कर चुके थे । इसके बाद सोयूज-5 के वर्नियर इंजन को चला कर यान की कक्षा में संशोधन किया गया । उसकी अधिकतम दूरी 253 कि. मी. तथा न्यूनतम दूरी 211 कि. मी. कर दी गई । अब इसका परिक्रमा काल 88.92 मिनट हो गया ।

युग्मन

जनवरी 16 को सुबह के 11 बज कर 20 मिनट पर यात्रियों ने सोयूज-4 और सोयूज-5 दोनों यानों को एक दूसरे से 'जोड़' दिया । इस समय दोनों यान सोवियत भूमि के ऊपर उड़ान कर रहे थे । युग्मन के समय सोयूज-4 का पृथ्वी के गिर्द 34वां और सोयूज-5 का 14वां चक्कर था । जोड़ने का कार्य 10 बजकर 37 मिनट पर शुरू हुआ । जब दोनों यानों ने एक दूसरे के नजदीक आना प्रारम्भ किया और दोनों यानों के बीच की दूरी सौ मीटर रह गई, कमांडर शतालोफ ने सोयूज-4 का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया और यंत्रों की सहायता से यान को संभाल कर सोयूज-5 से उसे जोड़ दिया । इसके बाद विद्युत परिपथ जोड़े गये । दो यानों को जोड़कर एक प्रायोगिक 'अंतरिक्ष स्टेशन' बनाना एक अभूतपूर्व घटना है । दोनों यानों के जुड़ने से इस स्टेशन में चार कक्ष बन गए । एक कक्ष से दूसरे में टेलीफान द्वारा सम्पर्क स्थापित किया जा सकता था ।

सोयूज-5 के यात्री सोयूज-4 में

जुड़ने के बाद यान-युग्म इसी तरह पृथ्वी की कक्षा में गतिमान रहा और इस दौरान यात्री तरह-तरह के परीक्षणों में संलग्न रहे । पैंतीसवें चक्कर के दौरान सोयूज-5 के यात्री ख्रुनोफ और येलिसेयेफ ने अपने अंतरिक्ष सूट पहने और यान-युग्म से बाहर निकल कर अंतरिक्ष में विचरण किया। फिर वापस यान में आकर उन्होंने अपने सूट उतारे और सोयूज-4 के कमांडर शतालोफ के बगल में जाकर बैठ गए । इस प्रकार सोयूज-5 के यात्री सोयूज-4 में पहुंच गए ।

यात्रियों का इस प्रकार एक यान से दूसरे यान में स्थानान्तरण न सिर्फ अपनी तरह का प्रथम परीक्षण है बल्कि अन्तरिक्ष विज्ञान की एक बहुत बड़ी सफलता भी है । इस सफलता से अब आशा हो गई है कि यदि भविष्य में कोई यान अंतरिक्ष में दुर्घटना ग्रस्त हो जाये तो उसमें से यात्रियों को किस प्रकार निकाल कर दूसरे यान में स्थानांतरित किया जा सकेगा । अंतरिक्ष विचरण के बाद दोनों यात्री जब सोयूज-4 में पूर्व-निश्चित स्थानों पर बैठ गये तो उन्होंने कक्षीय स्टेशन को नियंत्रित करने के लिए प्रयोग किए । इस स्टेशन की कक्षा की अधिकतम दूरी 250 कि. मी. और न्यूनतम दूरी 209 कि. मी. थी और कक्षा का झुकाव 51° 40' था तथा पृथ्वी के गिर्द चक्कर लगाने की अवधि 88.85 मिनिट थी ।

(शेषांश पृष्ठ 90 पर)

सूर्य, हरा पौधा और जीवन

सी. एम. गुप्त

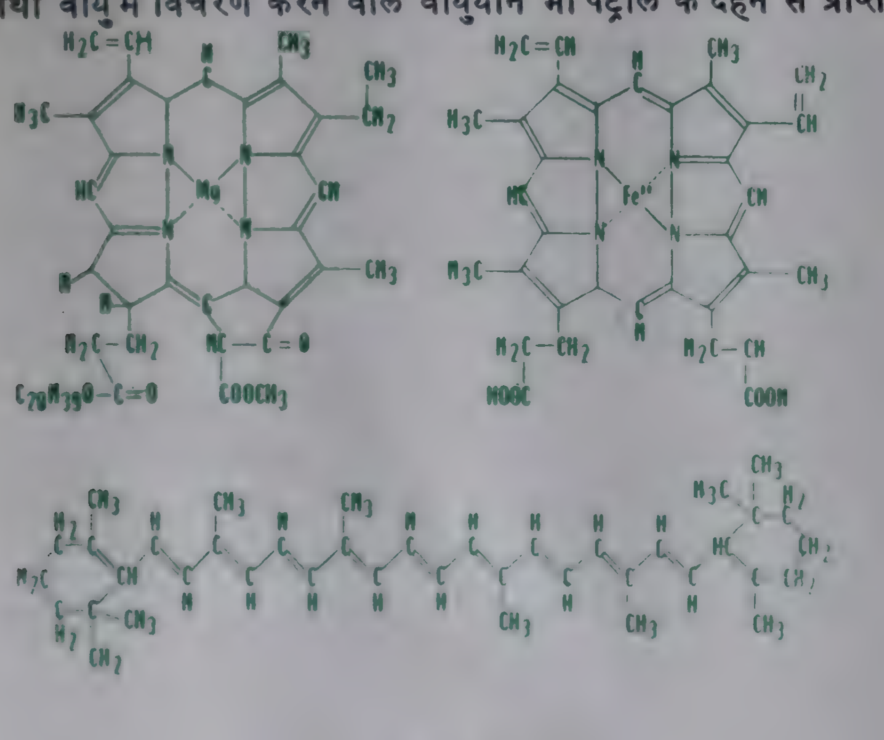
सभी जीवित वस्तुओं के भोजन का आधार पौधे ही हैं। इस कथन में लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कि यदि हरे वृक्ष न हों तो पृथ्वी पर जीवन नितान्त असम्भव हो जाय। पौधे मनुष्य को न केवल भोजन प्रदान करते हैं वरन् वस्त्र, हथियार, औजार, रंग, औषधि तथा अन्य अनेक अत्युपयोगी वस्तुएं भी पौधों से मिलती हैं। प्रश्न उठता है कि पौधे भी जीव हैं, उन्हें भी जीवित रहने के लिए भोजन चाहिए, उन्हें भोजन कहां से मिलता है? पौधे अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। इस क्रिया के लिए उन्हें ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा वे सूर्य के प्रकाश से ग्रहण करते हैं और इस प्रकार कार्बन-डाई आक्साइड और जल से सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में वे शर्करा (भोजन) का निर्माण करते हैं। भोजन निर्माण की क्रिया सम्पन्न करने की क्षमता केवल पत्तियों में होती है, क्योंकि पत्तियों में इस क्रिया में योग देने वाला हरा पदार्थ पर्णहरित (क्लोरोफिल) होता है। क्लोरोफिल की अनुपस्थिति में पत्तियां भोजन निर्माण नहीं कर सकतीं।

पृथ्वी पर जीवन की सक्रियता को बनाए रखने वाला ऊर्जा-स्रोत सूर्य ही है। यह ऊर्जा का एक अक्षुण्ण स्रोत है। ऊर्जा उत्पन्न करने के अनेक साधन हैं। ऊर्जा भी कई प्रकार की होती है, यथा ऊष्मा ऊर्जा, प्रकाश ऊर्जा, गतिज ऊर्जा, स्थितिज ऊर्जा, रासायनिक ऊर्जा, विद्युत ऊर्जा आदि। ऊर्जा की आवश्यकता प्रत्येक कार्य के लिए होती है। जल विद्युत संयंत्र नीचे गिरते हुए जल की ऊर्जा से चलता है तथा वायु में विचरण करने वाले वायुयान भी पेट्रोल के दहन से प्राप्त रासायनिक ऊर्जा का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार समस्त जीव भोजन द्वारा ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

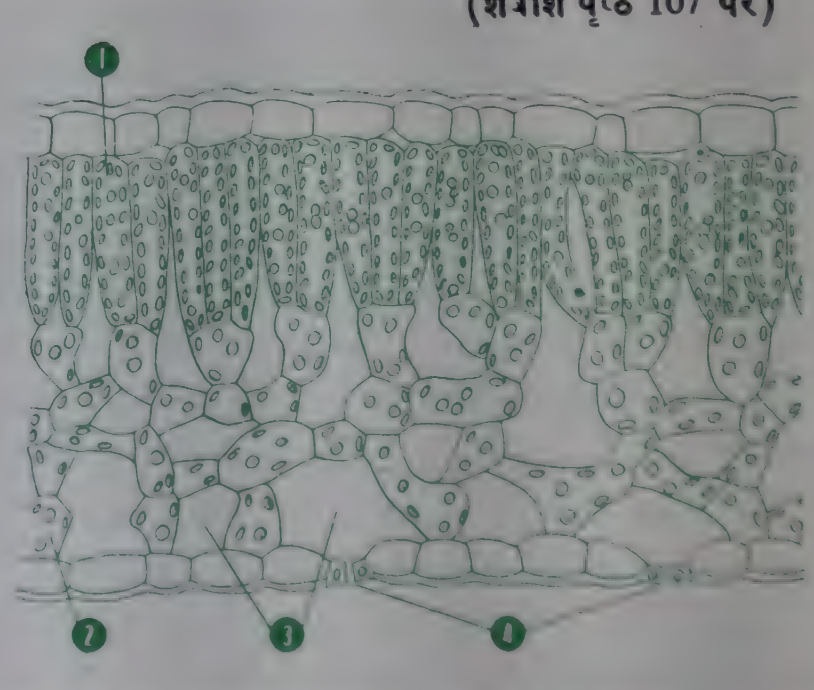
हम सांस द्वारा आक्सीजन लेकर वातावरण में कार्बन डाई आक्साइड मुक्त करते हैं। यह एक दूषित गैस है। यदि इसका किसी प्रकार उपयोग नहीं किया जाय तो पृथ्वी पर हमारा जीवन प्रायः दूभर हो जाय। गैसों के संतुलन का कार्य प्रकृति ने इसी हरे पौधे को सौंपा है। सूर्य के प्रकाश में हरा पौधा वायुमंडल की कार्बनडाई आक्साइड को अपनी पत्तियों के बारीक छिद्रों द्वारा ग्रहण करता है और हमारे श्वसन के लिए आक्सीजन गैस मुक्त करता है। इस प्रकार वायुमण्डल में आक्सीजन की कमी नहीं आती। पौधों की हरी पत्तियों में उपस्थित क्लोरोफिल एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है प्राणियों के लिए भोजन बनाने का कार्य यही करता है। क्लोरोफिल सूर्य की उपस्थिति में पानी तथा कार्बन डाई आक्साइड गैस का शोषण करता है तथा इनको शर्करा व आक्सीजन में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार पौधों व वृक्षों में ग्लूकोज, कार्बोहाइड्रेट का संश्लेषण होता रहता है। इस क्रिया को फोटोसिन्थेसिस अथवा प्रकाश-संश्लेषण कहते हैं।

इस क्रिया से न केवल वायुमंडल में आक्सीजन और कार्बन डाई-आक्साइड का संतुलन बना रहता है बल्कि पौधे की वृद्धि भी होती है। पौधों में इस क्रिया द्वारा निर्मित शर्करा हमें फलों के रूप में मिलती है और इस प्रकार परोक्ष रूप में सारे प्राणी अपने जीवन के लिए सौर

(शेषांश पृष्ठ 107 पर)



क्लोरोफिल



हरी पत्ती की अनुप्रस्थ काट : 1. मृदूतक (पेरेंकाइमा), 2. कोशिका 3. क्लोरोफिल ऊतक, 4. स्टोमैटा।

विद्युत संदीप्ति : प्रकाश का नया रूप

विजय कुमार शर्मा

लगभग 300 वर्ष पूर्व मेगडेबर्ग, जर्मनी, के मेयर आटो फान गैरिक ने अंधेरे में गंधक की एक गेंद को जब रगड़ा तो प्रकाश उत्सर्जित होने लगा। इस घर्षण-प्रभाव को गैरिक ने शर्करा को पीसने पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव की तरह माना। उस गेंद को रगड़ने और फलस्वरूप उसके विद्युन्मय होने से न केवल प्रकाश उत्पन्न हुआ बल्कि हल्की गड़गड़ाहट तथा तड़कने जैसी आवाज भी उत्पन्न हुई। आकाशीय विद्युत की चमक व गड़गड़ाहट तथा गैरिक द्वारा प्रेक्षित संदीप्ति, दोनों ही, किसी गैस में विद्युत विसर्जन का परिणाम हैं और दोनों ही **विद्युत संदीप्ति** हैं। इलैक्ट्रानों द्वारा उत्तेजित किसी पदार्थ की संदीप्ति विद्युत-संदीप्ति कहलाती है। इलैक्ट्रानों को त्वरित करने तथा इतना ऊर्जावान बनाने के लिए कि वे संदीप्त पदार्थों को उत्तेजित कर सकें, साधारणतया विद्युत क्षेत्र का प्रयोग किया जाता है। यह विद्युत क्षेत्र स्थिर अथवा प्रत्यावर्ती हो सकता है और इलैक्ट्रान पदार्थ में ही अथवा उस के बाहर उत्पन्न हो सकते हैं।

सर्वप्रथम अवलोकन

निर्वातित पात्र में विद्युत संदीप्ति का अवलोकन सर्वप्रथम फ्रांसीसी खगोलविद्, ज्यां पिकार्ड ने 1675 में किया। ज्योंही पिकार्ड बैरोमीटर को एक अंधेरे कक्ष में ले गया पारे के ऊपर एक प्रकार की चमक दिखाई दी। कुछ देर पश्चात जब पारा स्थिर हो गया तो चमक भी समाप्त हो गई। इस के बाद जब पारे की सतह नीचे आई तो कुछ क्षणों के लिए चमक फिर से उत्पन्न हुई, लेकिन पारे की सतह के ऊपर उठने पर यह प्रभाव नहीं देखा गया। इस चमक का कारण कांच से होने वाला विद्युत विसर्जन था। जब पारा एकदम नीचे गया तो कांच की नली की उस दीवार पर जहां से पारा हट गया, अतिरिक्त इलैक्ट्रान रह गए और फलस्वरूप विद्युत विसर्जन हुआ।

फास्फर

इसके पश्चात अंग्रेज भौतिकीविद् जान कैन्टन ने (1768) में इस दिशा में और आगे अध्ययन किया व पाया कि विद्युत स्पार्क द्वारा 'फास्फर' पदार्थों को उत्तेजित किया जा सकता है। फास्फर वे पदार्थ हैं जो ऊर्जा भंडारित करके उसे बाद में प्रकाश रूप में उत्सर्जित करने की क्षमता रखते हैं। फास्फर पदार्थों का उपयोग करके अब विद्युत संदीप्तिशील लैम्प भी बनाए जाने लगे हैं।

वैद्युत संदीप्तिशील लैम्प आधुनिक अलादीन का 'जादुई लैम्प' है जो भविष्य में घरों में प्रकाश करने के बारे में क्रान्ति ला देगा। प्रकाश करने का यह बिल्कुल नया तरीका वैद्युत संदीप्तशील फास्फर नाम के पदार्थों का उपयोग करता है। ये पदार्थ, वैद्युत धारा प्रवाहित होने पर उदीप्त हुए बगैर ही, प्रकाश का उत्सर्जन करते हैं। दूसरे शब्दों में विद्युत-ऊर्जा, ऊष्मा के रूप में एक मध्यवर्ती अवस्था में (जैसे कि साधारण उदीप्त प्रकाश बल्बों में होता है) आए बिना, सीधे ही, दृश्य विकिरणों में परिवर्तित हो जाती है। साथ ही विद्युत को पराबैंगनी विकिरण में भी परिवर्तित नहीं करना पड़ता, जैसाकि अतिदीप्त प्रकाश के लिये करना पड़ता है।

फास्फरों में ज़िंक सल्फाइड सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें वांछित लक्षणों के अनुसार कई सक्रियकारक (एक्टीवेटर) मिलाये जाते हैं। ऐसे सक्रियकारकों के मणिभ-पर्यावरण (क्रिस्टल एन-वायरनमेंट) में इलैक्ट्रानिक क्रियाओं के होने से संदीप्ति उत्पन्न होती है। बाहरी सतहों में प्रत्यावर्ती धारा प्रवाहित करने पर फास्फरों के पार, बीच में, एक प्रत्यावर्ती विद्युत-क्षेत्र स्थापित हो जाता है। यह विद्युत क्षेत्र फास्फर सतह के इलैक्ट्रानों को उत्तेजित करता है। फिर ये अधिक ऊर्जा वाले इलैक्ट्रान, दृश्य प्रकाश के रूप में अपनी अतिरिक्त ऊर्जा छोड़ते हैं और अपनी प्रारम्भिक अस्वथा को प्राप्त होते हैं।

ज़िंक सल्फाइड के अतिरिक्त अन्य फास्फर हैं — सिलिकन कारबाइड, कैडमियम सल्फाइड, ज़िंक ओरथोसिलिकेट, गैलियम फास्फाइड, बोरोन नाइट्राइड, कैल्शियम टंगस्टेट और कुछ प्रकार के कार्बनिक यौगिक।

वैद्युत संदीप्तिशील लैम्प में उत्प्रेरित फास्फर पाउडर की तनु फिल्म दो ऐसी विद्युत संवाहक सतहों के बीच में रख दी जाती हैं जिसमें से कम से कम एक पारदर्शक होती है। इस लैम्प के प्रकाश की तीव्रता निश्चित न्यूनतम वोल्टेज तक बढ़ती है तथा इसके बाद वोल्टेज बढ़ने पर प्रकाश की तीव्रता बहुत तेजी से बढ़ती है।

प्रकाश का रंग परास फास्फर में उपस्थित सक्रिय कारक पर निर्भर

करता है और उसे विस्तृत सीमाओं में नियंत्रित किया जा सकता है। सक्रियकारक के अल्प संमिश्रण उनके उत्सर्जन की तीव्रता और रंग, दोनों को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। एक जिंक सल्फाइड फास्फर जो अल्प-आवृत्ति उत्तेजन (500 चक्र प्रति सेकंड की विद्युत धारा) पर अधिकतर हरे प्रकाश का उत्सर्जन करता है, ऊंची आवृत्तियों पर बहुत अधिक नीले संघटक वाले प्रकाश का उत्सर्जन करने लगता है।

यह लैम्प-बल्ब या ट्यूब के जैसे निर्धारित आकार में होना आवश्यक नहीं है। लैम्प की ज्योतिर्मय चादरें किसी भी माप और आकृति में बनाई जा सकती हैं। चौथाई वर्ग इंच से लेकर 18 वर्ग फुट तक के ऐसे लैम्प बनाये गये हैं। निकट भविष्य में घरों में प्रकाश, विद्युत-संदीप्तशील खिड़कियों, भित्ति-पत्रों, वस्त्र-विन्यासों आदि से हुआ करेगा। ये आघात सह्य होते हैं। इस प्रकाश का एक सबसे आकर्षक लक्षण है इसका मृदु, चौंधरहित, छायारहित, एकसमान, विसरण होना। या यों कहें कि इस प्रकार के क्षेत्र-लैम्प अर्थात् द्वि-विमितीय-प्रकाश से, आकाश की तरह, प्रकाश का प्रसार होगा।

इसके अतिरिक्त इस लैम्प से इन्द्रधनुष के किसी रंग का प्रकाश प्राप्त किया जा सकेगा। इन विशेष लैम्पों में, दृश्य और परा-बैंगनी दोनों प्रकार के प्रकाश देने के लिये दो प्रकार के चूर्ण होते हैं। विशेष अवसरों के लिये उपयुक्त प्रकाश की व्यवस्था भी इन लैम्पों से सम्भव है, जैसे पार्टियों के लिये गुलाबी दीप्ति, गरमियों की संध्या के लिये शीतल नीला आदि।

अंतरिक्ष प्लैटफार्म

(शेषांश पृष्ठ 87 का)

परीक्षण पूरे कर चुकने के बाद 3 बजकर 44 मिनट पर दोनों यान अलग-अलग कर दिये गये और दोनों ने अलग-अलग उड़ान करनी शुरू कर दी। लेकिन सोयूज-5 के दोनों यात्री (ख्रुनोफ और येलिसेयेफ) सोयूज-4 में ही रहे आये।

17 जनवरी को मास्को समयानुसार 9 बज कर 53 मिनट पर सोयूज-4 अपनी यात्रा पूरी करके कजाखस्तान में पूर्व निश्चित स्थान पर उतरा। उतरने से पहले उसकी रफ्तार कम करने के लिये ब्रेकिंग इंजनों को चालू किया गया और यान अपनी वायुगतिकीय प्रणाली का उपयोग करके पृथ्वी पर धीरे से उतरा। अपनी उड़ान जारी रख कर अगले दिन 18 तारीख को सोयूज-5 भी कुस्तानाई से 200 कि.मी. दूर 11 बजे धरती पर उतर आया।

अभूतपूर्व उड़ान

यह एक अभूतपूर्व उड़ान थी। हालांकि इससे पूर्व भी कॉस्मोस 212 और कॉस्मोस 213 ने इस तरह का एक परीक्षण अप्रैल 1968 में किया था पर उस परीक्षण का पूरा महत्त्व उस समय स्पष्ट न हो पाया था। सोयूज-4 व सोयूज-5 परीक्षण अन्तरिक्ष में एक स्टेशन बनाने का प्रथम सफल प्रयास था। इस अन्तरिक्ष स्टेशन में चार कम्पार्टमेन्ट थे जिनमें वैज्ञानिक परीक्षणों के लिये अनेक यंत्र लगे थे। इस परीक्षण विशेष सफलता यह रही कि यात्री उड़े एक यान में और वापिस आये दूसरे यान में।

परिषद् के नये अध्यक्ष

(शेषांश पृष्ठ 85 का)

अर्थशास्त्री मंडल तथा शिक्षा संबंधी मण्डल के सदस्य रहे हैं। आप योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन मंडल (प्रोग्राम इवेल्यूएशन बोर्ड), राष्ट्रीय आय संबंधी अनुसंधान पर भारतीय सम्मेलन की संचालन-समिति, जनांकिकीय प्रशिक्षण तथा अनुसंधान केन्द्र की डेमोग्राफिक ट्रेनिंग एण्ड रिसर्च सेंटर शासी सभा और भारत सरकार की जनांकिकीय अनुसंधान सलाहकार समिति के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।

डा. राव ने अर्थशास्त्र की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें देश-विदेश में अपने विषय की मानक व सुप्रसिद्ध पुस्तकें हैं। भारत की राष्ट्रीय आय के संबंध में आपने जो अग्रणी कार्य किया है उससे आपको विशेष ख्याति मिली है। इसके अतिरिक्त आप मुद्रा और रोजगार, लोक वित्त तथा आर्थिक विकास आदि विषयों के आप विशेषज्ञ हैं।

डा. राव का जन्म 7 जुलाई, 1908 को हुआ था। आप की शिक्षा बम्बई विश्वविद्यालय और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हुई। आपने बम्बई विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की। बी. ए. और डॉक्टरेट की उपाधि आपने कैम्ब्रिज से प्राप्त की। 1942 में दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक और विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण करने से पूर्व आप एस. एल. डी. आर्ट्स कालेज, अहमदाबाद, में प्रधानाचार्य तथा अर्थशास्त्र के प्राध्यापक थे। अर्थशास्त्र में अनुसंधान और प्रशिक्षण के प्रमुख संस्थान दिल्ली स्कूल आफ इकानामिक्स की संस्थापना आपने ही की थी और आप ही उसके प्रथम निदेशक भी थे। इसके बाद आप तीन वर्ष तक दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे और फिर इंस्टीट्यूट आफ इकानामिक ग्रोथ के प्रधान बने। तत्पश्चात भारत सरकार ने आपको योजना आयोग का सदस्य बनने के लिये आमंत्रित किया। योजना आयोग का सदस्य बनने के बाद भी उक्त इंस्टीट्यूट से आपका शैक्षिक सम्पर्क बना रहा और आपको दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के इमेरिटस प्रोफेसर का पद मिला। 1967 में आप परिवहन और जहाजरानी के मंत्री बने और 14 फरवरी, 1969 को शिक्षा मंत्री।

बिन पानी की बर्फ

नरेन्द्र कुमार अग्रवाल

साधारणतया पदार्थ की तीन अवस्थाएं होती हैं : ठोस, द्रव और गैस। यदि पानी गर्म किया जाय तो वह भाप बनकर गैस अवस्था में आ जाता है और यदि 0° से. से भी नीचे ताप तक ठंडा किया जाय तो ठोस अवस्था में आकर बर्फ बन जाता है । इस प्रकार, पानी प्रकृति में ठोस, द्रव और गैस तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है । लेकिन कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो साधारण दशाओं में द्रव अवस्था को प्राप्त ही नहीं होते। वे या तो ठोस अवस्था में रहते हैं या फिर गर्म होने पर बिना द्रव अवस्था में परिवर्तित हुए ही गैस अवस्था में आ जाते हैं। कपूर तथा नेफ्थलीन ऐसे ही पदार्थ हैं जो ठोस से सीधे ही गैस अवस्था में आ जाते हैं और यह दशा-परिवर्तन की क्रिया ऊर्ध्वपातन कहलाती है । कार्बनडाईआक्साइड भी एक ऐसी ही गैस है जोकि साधारणतया द्रव अवस्था में नहीं पाई जाती, यद्यपि इसे विशिष्ट दशाओं में द्रव अवस्था में लाया जा सकता है । ठोस अवस्था में कार्बन-डाई-आक्साइड बहुत ठंडी होती है और अवस्था परिवर्तन की क्रिया में द्रव रूप में नहीं आती है। इसीलिये इसे 'सूखी बर्फ' (ठोस कार्बन-डाई-आक्साइड) कहते हैं। वायुमण्डलीय दाब पर सूखी बर्फ की ऊर्ध्वापातन क्रिया –78.7° सें. पर होने लगती है।

कार्बन-डाई-आक्साइड को ठोस अवस्था में लाने का काम सर्वप्रथम सन 1835 में थिलोलियर नामक एक वैज्ञानिक ने किया । लेकिन ठोस कार्बन-डाई-आक्साइड (सूखी बर्फ) का उत्पादन इस के काफी समय बाद तक नहीं हुआ और थिलोलियर का प्रयोग केवल प्रयोगशाला के महत्व का ही रहा। सूखी बर्फ का भारी मात्रा में उत्पादन तो 1925 में आरम्भ हुआ।

भारत वर्ष में इस समय तीन कारखाने इसका उत्पादन बड़े पैमाने पर करते हैं और प्रतिवर्ष लगभग 500 टन सूखी बर्फ का उत्पादन होता है।

शुष्क बर्फ बनाने के लिए कार्बन-डाई-आक्साइड गैस की कच्चे माल के रूप में आवश्यकता होती है जोकि या तो मिट्टी का तेल और पैट्रोलियम पदार्थ जलाने पर मिल सकती है अथवा इस को चूने की भट्टियों या अलकोहल बनाने के कारखानों से प्राप्त किया जा सकता है।

इस गैस को सर्वप्रथम कुछ रसायनों जैसे मोनोइथोनोल एमिन, सोडा कास्टिक, सक्रिय तारकोल आदि से गुजार कर शुद्ध किया जाता है । तत्पश्चात गैस को संपीडित कर के 900-1000 पौंड प्रति वर्ग इंच का दाब उत्पन्न किया जाता है जिससे गैस 15.5° सें. पर ही द्रव अवस्था में आ जाती है । कार्बन-डाई-आक्साइड का चरम ताप 87.31° सें. है। अतः इससे अधिक ताप पर इसे द्रवीभूत करना असम्भव है चाहे कितना ही दाब क्यों न बढ़ाया जाय।

द्रव कार्बन-डाई-आक्साइड को फिर संघनकों में संघनित किया जाता है । इससे द्रव वायुमण्डलीय दाब पर आ जाता है और इस का ताप त्रिक बिन्दु (–51.5° सें.) से नीचे रहता है । फलस्वरूप कार्बन-डाई-आक्साइड हिम का ऊर्ध्वपातन आरम्भ हो जाता है। यह हिम अति पोली होती है । इस हिम को निकालकर यांत्रिक संपीडकों में दबाया जाता है जिससे वह ठोस बन जाती है। यही सूखी बर्फ है। इस के $10 \times 10 \times 10$ इंच के घन का भार 50 पौंड होता है।

सूखी बर्फ के टुकड़े को क्राफ्ट पेपर में लपेट कर तापरोधक बर्तनों में रखा जाता है । सूखी बर्फ –78° सेन्टीग्रेड ताप पर सीधी गैस में बदलने लगती है। यह पानी की बर्फ के अनुपात में बहुत ठंडी होती है। इसका आपेक्षिक घनत्व भी साधारण बर्फ से अधिक होता है।

विविध उपयोग

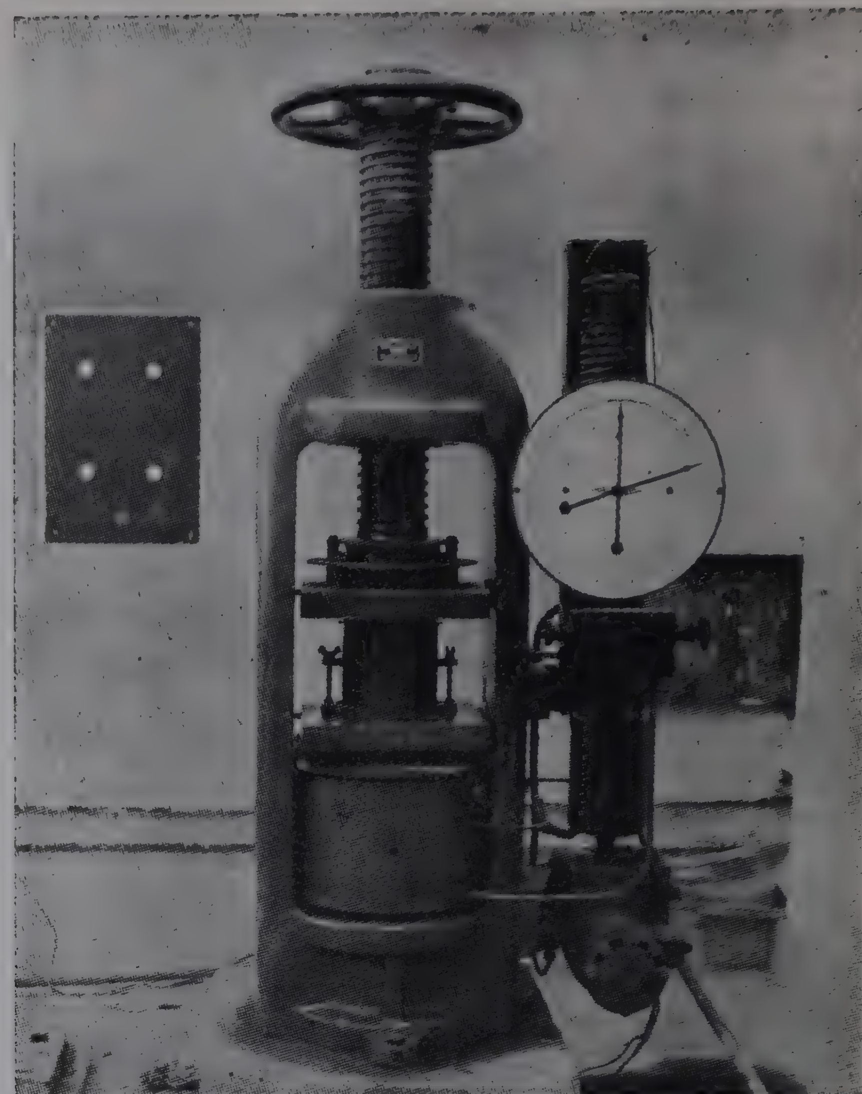
इसका उपयोग खाद्य वस्तुओं जैसे कि मांस, मछली, अंडे, आइसक्रीम, आदि को ठंडा रखकर दूर-दूर तक पहुंचाने में होता है। यह वस्तुओं को सड़ने से बचाती है क्योंकि इससे एक तो वे ठंडी रहती हैं और दूसरे निष्कासित कार्बन-डाई-आक्साइड जीवाणुओं के मारने तथा उन की मात्रा को बढ़ने से रोकने में सहायता देती है ।

एक गणना के अनुसार अगर एक मालगाड़ी के डिब्बे में खाद्य पदार्थ को 1 टन सूखी बर्फ से ठंडा किया गया हो तो उतने ही पदार्थ को निश्चित स्थान तक पहुंचाने के लिये 4 टन पानी की बर्फ की आवश्यकता होगी तथा रास्ते में कई बार पानी की बर्फ और भरनी पड़ेगी। इस प्रकार सूखी बर्फ खाद्य उद्योग में एक बहुत उपयोगी वस्तु प्रमाणित हुई है।

प्रयोगशाला में विभिन्न घोलों से पानी को एकाएक बर्फ बनाया भी जा सकता है । यह कार्य सूखी बर्फ द्वारा सम्पन्न हो सकता है। वायुयान में एल्यूमिनियम के जोड़ लगाने के काम में भी सूखी बर्फ का उपयोग होता है । बादलों को तलछट विधि द्वारा ठंडा बनाकर आप जहां चाहें वर्षा भी करा सकते हैं । पाइप लाइनों में पानी को बर्फ बनाकर उस के बहाव को रोका जा सकता है और इस प्रकार पाइप लाइन की मरम्मत की जा सकती है । इस प्रकार सूखी बर्फ बहुउपयोगी है । लेकिन भारत में इसका उपयोग अधिकतर आइसक्रीम व दवाइयों के बनाने में होता है । इतनी अधिक उपयोगी वस्तु होते हुए भी हम इस का मुकाबला पानी की बर्फ से नहीं कर सकते । कारण कि यह काफी महंगी पड़ती है। साधारण बर्फ में कच्चा माल पानी है जब कि सूखे बर्फ के लिये कार्बन-डाई-आक्साइड गैस की आवश्यकता होती है। इसके बनाने में भी साधारण पानी की बर्फ की अपेक्षा अधिक खर्च आता है ।

पत्थर और सड़क निर्माण

रमाशंकर शुक्ल



भार-सामर्थ्य परीक्षण यंत्र

सड़क-निर्माण में पत्थर का अपना अलग ही महत्व है । यह कहना अनुचित न होगा कि बिना पत्थर के टिकाऊ तथा सभी ऋतुओं में प्रयोग में आने वाली सड़क बनाना असम्भव है । सड़क इंजीनियरी केवल यही है कि प्रथम एक चट्टान को तोड़ा जाय और फिर मिट्टी, सीमेन्ट अथवा डामर या तारकोल से बांध कर उसे पुनः चट्टान का रूप दिया जाय ।

पुराने जमाने में सड़क-निर्माण सिर्फ जमीन को समतल करने तक ही सीमित था । परन्तु ऐसी सड़कें बरसात में प्रायः बेकार हो जाती थीं । अतः टेलफोर्ड नाम के एक प्रख्यात इंजीनियर ने 6″-8″ के पत्थरों के उपयोग का सुझाव रखा । परन्तु यह तरीका इतना उपयोगी सिद्ध नहीं हो सका। कारण कि 6″-8″ के पत्थरों का उपयोग करके भूमि को समतल करना एक जटिल समस्या थी । आजकल यह तरीका सड़क की निचली सतह पर प्रयोग में लाया जाता है । इसे **टेलफोर्ड मकाडम** भी कहते हैं ।

मकाडम का सुझाव

सत्रहवीं शताब्दी के लगभग मकाडम नाम के एक वैज्ञानिक ने सुझाव दिया कि यदि पत्थरों का आकार 6″-8″ के बजाय 1½″ 2″ के दरम्यान रखा जाय तो उससे दो लाभ होते हैं एक तो भार वितरण में सहायता मिलती है तथा दूसरे भूमि को समतल करना आसान हो जाता है ।

आजकल सड़क-निर्माण इन्हीं दो सिद्धांतों के आधार पर चल रहा है । लगभग 90 प्रतिशत सड़कें पत्थर से बनती हैं; बाकी 10 प्रतिशत में अन्य पदार्थों का उपयोग किया जाता है । ये पत्थर विभिन्न प्रकार की चट्टानों को तोड़कर प्राप्त किए जाते हैं ।

पत्थर के गुण का परीक्षण

सड़क पर पत्थर को कई प्रकार के आघातों का सामना करना पड़ता है । अतएव प्रयोग में लाने से पूर्व उसके गुणों का परीक्षण करना आवश्यक हो जाता है । पत्थर के जिन गुणों का पता लगाना आवश्यक होता है वे हैं —भार सामर्थ्य, कठोरता, धर्षणावरोधन, टिकाऊपन, जल शोषण और घनत्व ।

सड़क-निर्माण में जो पत्थर प्रयोग में लाये जाते हैं उनकी भार सहन करने की सामर्थ्य अधिक होनी आवश्यक है अन्यथा वे भार के कारण पिस जायेंगे और सड़क पर बूरे के रूप में रह जायेंगे । फलस्वरूप सड़क की भार सहन क्षमता कम हो जायगी और सड़क टूटने लगेगी ।

पत्थर की भार सामर्थ्य को मापने के लिये 1/2″ तथा 3/8″ के पत्थरों के ऊपर 40 टन का दबाव डाला जाता है । उसके पश्चात

बची हुई रोड़ी को 7 नम्बर की छलनी से छान लिया जाता है । छने हुए चूरे का भार समस्त भार का जितने प्रतिशत होता है उसे अवभंजन कहते हैं ।

सड़क की ऊपरी सतह में प्रयुक्त होने वाले पत्थरों का अवभंजन 30 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए ।

आघात परीक्षण यंत्र →



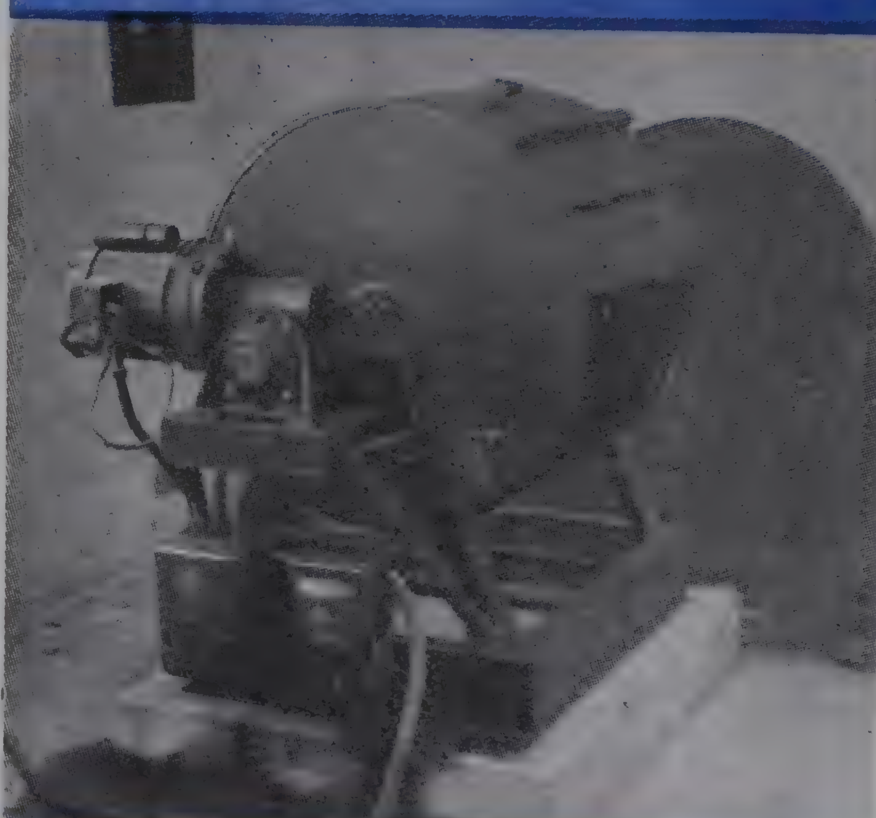
पत्थर की कठोरता को मापने के लिए एक चाकू से उस पर निशान लगाया जाता है । एक अच्छे कठोर पत्थर में चाकू से किसी भी प्रकार का निशान नहीं पड़ना चाहिए । सड़क पर पत्थर को गाड़ियों का आघात भी सहन करना पड़ता है ।

आघात परीक्षण विधि

आघात परीक्षण के लिए एक 4″ व्यास के लोहे के सिलन्डर में 1/2″ के पत्थर की 1-1/2″ मोटी तह बना लेते हैं । इसके पश्चात उसके ऊपर एक 30 पौंड के हथौड़े से 15″ की दूरी से 15 बार चोट पहुंचाते हैं। इसके बाद बचे हुए टुकड़ों को छलनी (7 नम्बर) से छान लेते हैं तथा छने हुए भाग की प्रतिशत मात्रा ज्ञात कर लेते हैं । एक अच्छे पत्थर में इस क्रिया से निकला हुआ बारीक चूर्ण 35 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए ।

भार सामर्थ्य तथा आघात के अतिरिक्त सड़क पर पत्थरों को घर्षण का भी सामना करना पड़ता है । इसका असर यह होता कि घर्षण से पत्थर के कोने चिकने हो जाते हैं और मोटर गाड़ियों के फिसलने का खतरा उत्पन्न हो जाता है । घर्षण क्षमता नापने के लिये लगभग

घर्षण-परीक्षण यंत्र →



500 ग्राम रोड़ी को एक लोहे के ढोल नुमा बक्से में कुछ लोहे के छर्रों के साथ डालकर उसे 30-35 बार प्रति मिनट की गति से 500 बार घुमाते हैं । इसके पश्चात रोड़ी को छलनी (12 नम्बर) से छान लेते हैं तथा प्राप्त चूर्ण की प्रतिशत मात्रा ज्ञात कर लेते हैं । सड़क की ऊपरी सतह पर प्रयोग में आने वाले पत्थर में इस प्रकार प्राप्त चूर्ण की मात्रा 40 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए जब कि निचली सतह पर 50 प्रतिशत चूर्ण तक का पत्थर प्रयोग में लाया जा सकता है ।

सड़क में प्रयुक्त पत्थर यदि अधिक टिकाऊ होगा तो सड़क भी अधिक दिन चलेगी । जमीन में पाये जाने वाले कुछ लवण पत्थर के

ग्रेनाइट पत्थर →



लिए हानिकारक होते हैं । वे पत्थर के छोटे-छोटे छेदों में से होकर अन्दर तक पहुंच जाते हैं और वहां रवे बनाने लगते हैं । इससे पत्थर छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाता है ।

टिकाऊपन नापना

टिकाऊपन को नापने के लिए पत्थर को 5 बार सोडियम या मैग्नी-शियम सल्फेट के संतृप्त घोल में डालते हैं और प्रत्येक बार उससे छोटे-छोटे टुकड़े अलग कर लेते हैं। सड़क-निर्माण में काम आने वाले पत्थर के

लिए चूर्ण की मात्रा सोडियम सल्फेट में 12 प्रतिशत तथा मैग्नीशियम सल्फेट में 18 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिये ।

प्राय: प्रत्येक पत्थर में पानी सोखने की क्षमता होती है । चूंकि सड़क के लिए पानी सबसे अधिक हानि पहुंचाने वाला द्रव है अतः यह आवश्यक है कि सड़क में प्रयुक्त पत्थर 2 प्रतिशत से अधिक पानी न सोखे । नीचे की सतह में प्रयुक्त होने वाले पत्थर के लिए यह मात्रा 4 प्रतिशत तक हो सकती है ।

सड़क में इस्तेमाल होने वाले पत्थर का भार भी बहुत महत्व रखता है । यदि पत्थर बहुत ही हल्का होगा तो मोटर गाड़ियों के साथ उसके उड़ जाने का खतरा बना रहेगा। अतएव सड़क-निर्माण में काम आने वाले पत्थर का वजन 10 पौंड प्रति घन फुट से कम नहीं होना चाहिये ।

सड़क में प्रयुक्त पत्थर

वैसे तो सड़क में लगभग सभी प्रकार के पत्थर प्रयोग में लाये जा सकते हैं परन्तु सख्त पत्थर ऊपरी सतह पर तथा नरम पत्थर निचली सतह पर प्रयोग में लाये जाते हैं । सड़क की ऊपरी सतह पर प्रयुक्त होने वाले पत्थरों का विशेष महत्व होता है। इस दृष्टि से केन्द्रीय सड़क अनुसन्धान संस्थान में भारत में पाये जाने वाले सभी पत्थरों का पूर्ण रूप से परीक्षण किया गया है ।

ग्रेनाइट : यह एक आग्नेय चट्टान है जो प्रकृति में क्वार्टज, अभ्रक तथा फैलसपार के मिश्रण के रूप में पाया जाता है । यदि क्वार्टज की मात्रा अधिक होती है तो इसे क्वार्ट-ग्रेनाइट कहते हैं ।

ग्रेनाइट मटमैले रंग का एक सख्त पत्थर है । इसका रंग सिलिकेट के रंग पर अधिक निर्भर करता है । यह बड़े तथा छोटे दोनों प्रकार के रवों में पाया जाता है । छोटे रवों वाला ग्रेनाइट पालिश कर के इमारतों में भी प्रयोग में लाया जाता है ।

भारत में पाये जाने वाले ग्रेनाइट के गुण इस प्रकार हैं :

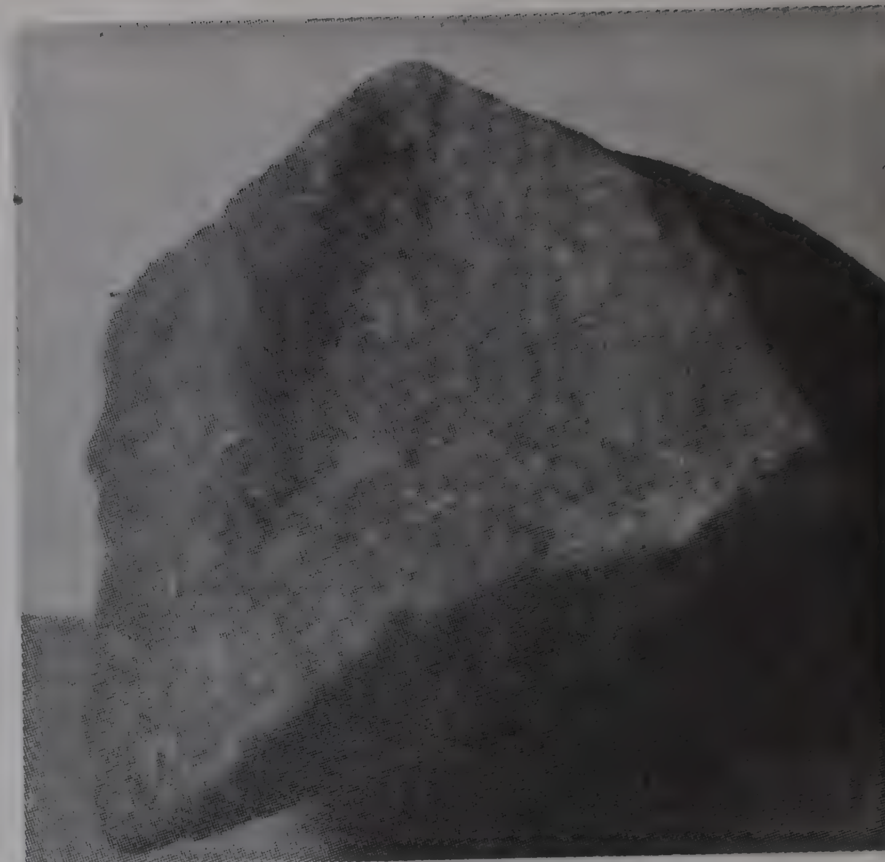
जल-शोषण	0.2 – 1.3 प्रतिशत
घर्षण संख्या	1.4 – 35.5 प्रतिशत
अवभंजन संख्या	15.0 – 35.4 प्रतिशत

बसाल्ट तथा ट्रैप : यह एक आग्नेय चट्टान है और मुख्यतः पोटैशियम एल्युमिनियम सिलिकेट तथा कैल्शियम मैग्नीशियम तथा लोहे के सिलिकेट से बनी होती है। यह पत्थर हरे भूरे, गहरे भूरे, नीले तथा काले रंगों में पाया जाता है ।

बसाल्ट, ग्रेनाइट से अधिक भारी तथा सख्त होता है । यह सड़क के लिए बहुत उपयुक्त पत्थर है ।

भारत में पाये जाने वाले ट्रैप के गुण निम्न प्रकार हैं :

जल-शोषण	0.3 – 3.3 प्रतिशत
घर्षण संख्या	8.9 – 23.9 प्रतिशत
अवभंजन संख्या	11.2 – 26.3 प्रतिशत

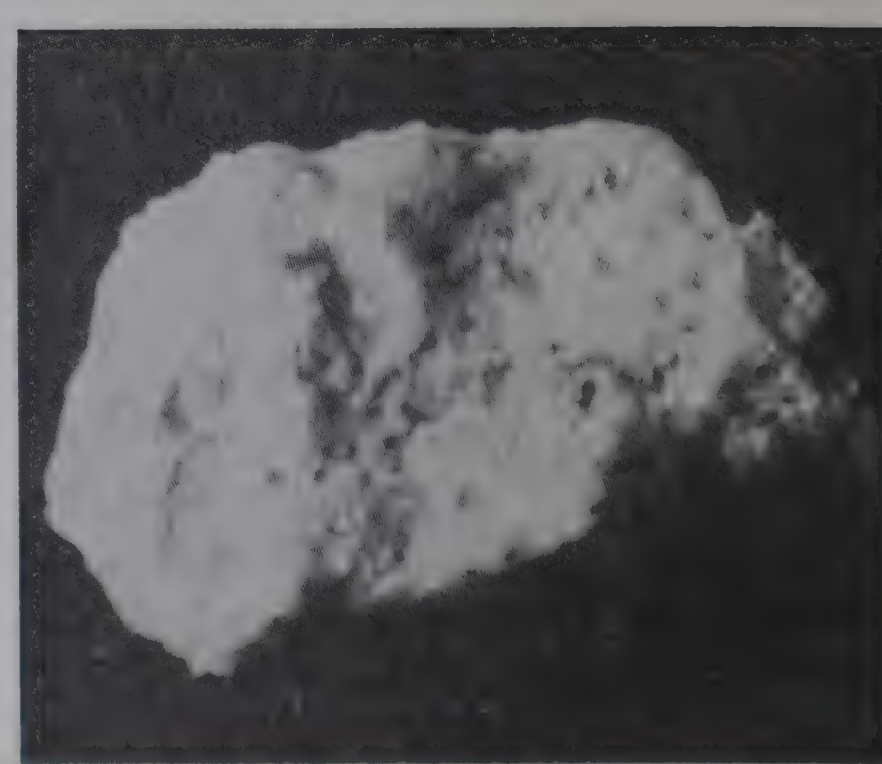


क्वार्टजाइट पत्थर



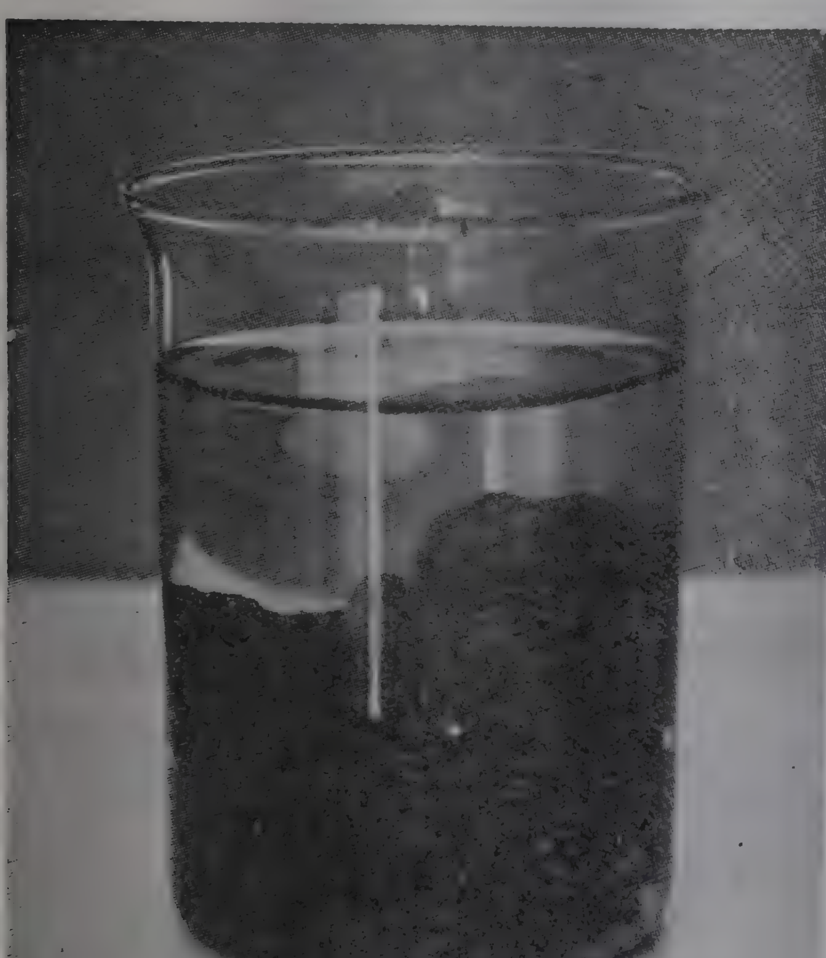
बसाल्टी चट्टान

बलुआ पत्थर





चूना-पत्थर



निष्कासन गुण ज्ञात करने के लिए प्रयोग

बलुआ पत्थर : यह एक तलछटीय चट्टान है और बालू के साथ चूना, मैग्नीशियम, एल्युमिना तथा लोहे के चूर्ण के बंधने पर बन जाता है। इस पत्थर का टिकाऊपन बालू के कणों को बांधने वाले पदार्थ पर निर्भर करता है। जब बालू के कण चूने के माध्यम से बंधते हैं तो यह अत्यधिक टिकाऊ हो जाता है। छिद्रिल बलुआ पत्थर भंगुर होता है तथा सड़क-निर्माण के बिल्कुल अयोग्य होता है।

प्रकृति में यह विभिन्न रंगों में पाया जाता है; जैसे सफेद, पीला भूरा, बादामी, नीला अथवा काला। सख्त पत्थर इमारतों में काम आते हैं और मोटे कणों वाले पत्थर सड़क-निर्माण में प्रयुक्त होते हैं।

भारत में पाये जाने वाले बलुआ पत्थर के गुण निम्न प्रकार हैं :

जल-शोषण	0.3 – 1.4 प्रतिशत
घर्षण संख्या	7.6 – 31.9 प्रतिशत
अवभंजन संख्या	5.7 – 27.6 प्रतिशत

चूना पत्थर : इस पत्थर का अधिकतर भाग चूने के कारबोंनेट का बना होता है। चूना पत्थर प्राय: बालू तथा मिट्टी के साथ मिला हुआ पाया जाता है। इस का प्रयोग अधिकतर इमारतों में ही होता है। परन्तु कम यातायात वाली सड़कों में भी इसका इस्तेमाल हो सकता है। कंकड़ के रूप में चूना पत्थर सब से कम शुद्ध अवस्था में पाया जाता है। इसमें लगभग 30 प्रतिशत मिट्टी तथा बालू होती है। सड़क निर्माण में इस का अधिकता से प्रयोग होता है। परन्तु इससे बनी हुई सड़कों पर बरसात में काफी कीचड़ हो जाती है।

भारत में पाये जाने वाले चूना पत्थर के गुण निम्न प्रकार हैं :

जल-शोषण	0.3 – 1.8 प्रतिशत
घर्षण संख्या	11.9 – 18.2 प्रतिशत
अवभंजन संख्या	15.0 – 24.8 प्रतिशत

क्वार्टजाइट : यह एक सख्त शीशे की तरह चमकने वाला पत्थर है जो मुख्यत: बालू का बना होता है। यह बहुत सख्त होता है और मजबूत तथा टिकाऊ होता है। इस लिये सड़क-निर्माण में विशेष रूप से उपयोगी है। इस के गुण निम्न प्रकार हैं :

जल-शोषण	0.2 – 2.0 प्रतिशत
घर्षण संख्या	10.0 – 33.00 प्रतिशत
अवभंजन संख्या	15.0 – 31.5 प्रतिशत

पत्थर डामर मिश्रण : सड़क-निर्माण में पत्थर प्राय: डामर अथवा तारकोल के मिश्रण के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

निष्कासन क्रिया

पानी सोखने की अपनी क्षमता के कारण प्रत्येक पत्थर डामर से अधिक पानी को पसन्द करता है। इस स्थिति में यदि डामर-पत्थर मिश्रण में पानी डाल दिया जाय अथवा सड़क-नर्माण के तुरन्त बाद वर्षा हो जाय तो पानी डामर की परत को हटाकर पत्थर तक पहुंच जाता है। इस क्रिया को निष्कासन क्रिया कहते हैं।

अत: पत्थरों को प्रयोग में लाने के पूर्व उनका निष्कासन गुण जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस के लिये ½" की रोड़ी में लगभग 5 प्रतिशत तारकोल अथवा डामर को मिलाकर ठंडा कर लेते हैं। उसके बाद उसे 24 घंटे तक 40° सेन्टीग्रेड वाले पानी में रखते हैं। तत्पश्चात यह ज्ञात कर लेते हैं कि कितने प्रतिशत क्षेत्र को पानी ने प्रभावित किया है।

सड़क-निर्माण में प्रयुक्त होने वाले पत्थरों में निष्कासन 25 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

आप भी बना सकते हैं

एक्सपोजर मीटर

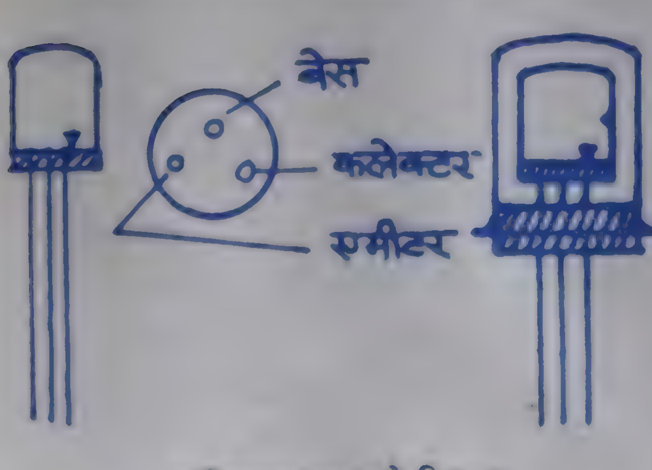
धुरेन्द्र कुमार गर्ग

एक्सपोजर मीटर व्यवसायी फोटोग्राफर के लिये ही नहीं फाटोग्राफी के शौकीन व्यक्तियों के लिये भी एक उपयोगी युक्ति है। यह प्रकाश का सही अन्दाजा बता कर कैमरे में एक्सपोजर निर्धारित करने में सहायक होते हैं। कई कैमरों में एक्सपोजर मीटर साथ ही लगे होते हैं। लेकिन जिन में साथ नहीं आते उन के लिये अलग से मिल जाते हैं। एक्सपोजर मीटर फोटो ट्रांजिस्टर के सिद्धान्त पर आधारित हैं। फोटो ट्रांजिस्टर बहुत ही महंगे होते हैं और बाजार में आसानी से नहीं मिलते। यहां एक सस्ते एक्सपोजर मीटर बनाने की सरल विधि दी जा रही है।

आवश्यक उपकरण

इसके लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे हैं :

ट्रांजिस्टर – ए. सी. 128
पोटेंशियोमीटर – 50,000 ओहम्
रेजिस्टेंस – दो : एक 10,000 ओह्म, प्रतिरोध का दूसरा ओह्म 330 प्रतिरोध का
मीटर – 0.1 मिली एम्पीयर
बैटरी – 6 वोल्ट (1.5 वोल्ट के चार सैल)

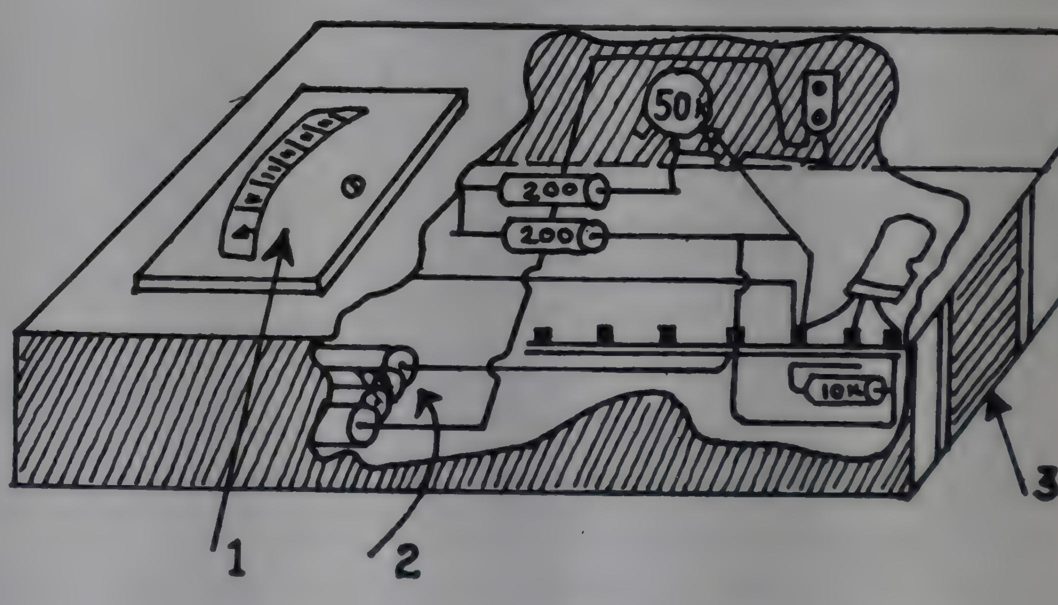


ट्रांजिस्टर पर लगे निशान

इन के अतिरिक्त एक आन-आफ स्विच, एक डिब्बा तथा अल्प पारदर्शक कांच की प्लेटों की भी आवश्यकता होती है।

विधि

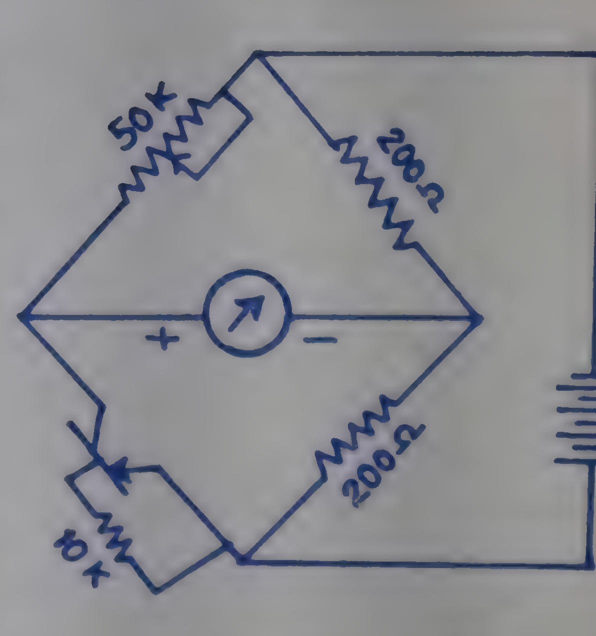
एक्सपोजर मीटर भारत इलैक्ट्रोनिक्स द्वारा निर्मित ए. सी. 128 ट्रांजिस्टर की सहायता से बनाया जा सकता है। इस ट्रांजिस्टर में तीन तार निकले होते हैं जिन में से एक को 'एमीटर' दूसरे को 'बेस' व तीसरे को 'कलेक्टर' कहते हैं। इनके पहचान के लिये ट्रांजिस्टर के ऊपर निशान लगे रहते हैं। दिखाये गये चित्र के अनुसार एमीटर बांयी तरफ होता है, कलेक्टर दाहिनी तरफ और बेस ऊपर।



एक्सपोजर मीटर : 1. मीटर; 2. सैल; 3. कांच प्लेट

पहले एमीटर की ओर से ऊपर के खोखले के बीच में एक छेद किया जाता है। इस छेद को करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अन्दर का ट्रांजिस्टर खराब न हो जाए। इसके लिये अच्छा तरीका यही है कि ट्रांजिस्टर को वाइस में पकड़ कर उसे रेती से काटा जाये। जब थोड़ा हिस्सा कट जाये तो उसमें ट्राइक्लोरोइथलीन या कार्बन टेट्राक्लोराइड डाल कर कई बार साफ किया जाता है। इससे उसमें भरा सफेद पेस्ट (सिलीकान ग्रीज़), बाहर निकल जाता है। अब इस ट्रांजिस्टर पर वायुमंडल के प्रभाव को रोकने के लिये छेद पर पारदर्शक टेप लगा देते हैं या उसे एक कांच की नली में कार्क लगा कर अच्छी तरह बन्द कर देते हैं। अब इस ट्रांजिस्टर को फोटो ट्रांजिस्टर की तरह उपयोग कर सकते हैं।

(शेषांश पृष्ठ 102 पर)



एक्सपोजर मीटर का सरकिट

समुद्र का सुन्दरतम पौधा —

डायएटम

जोगेन्द्र सक्सेना

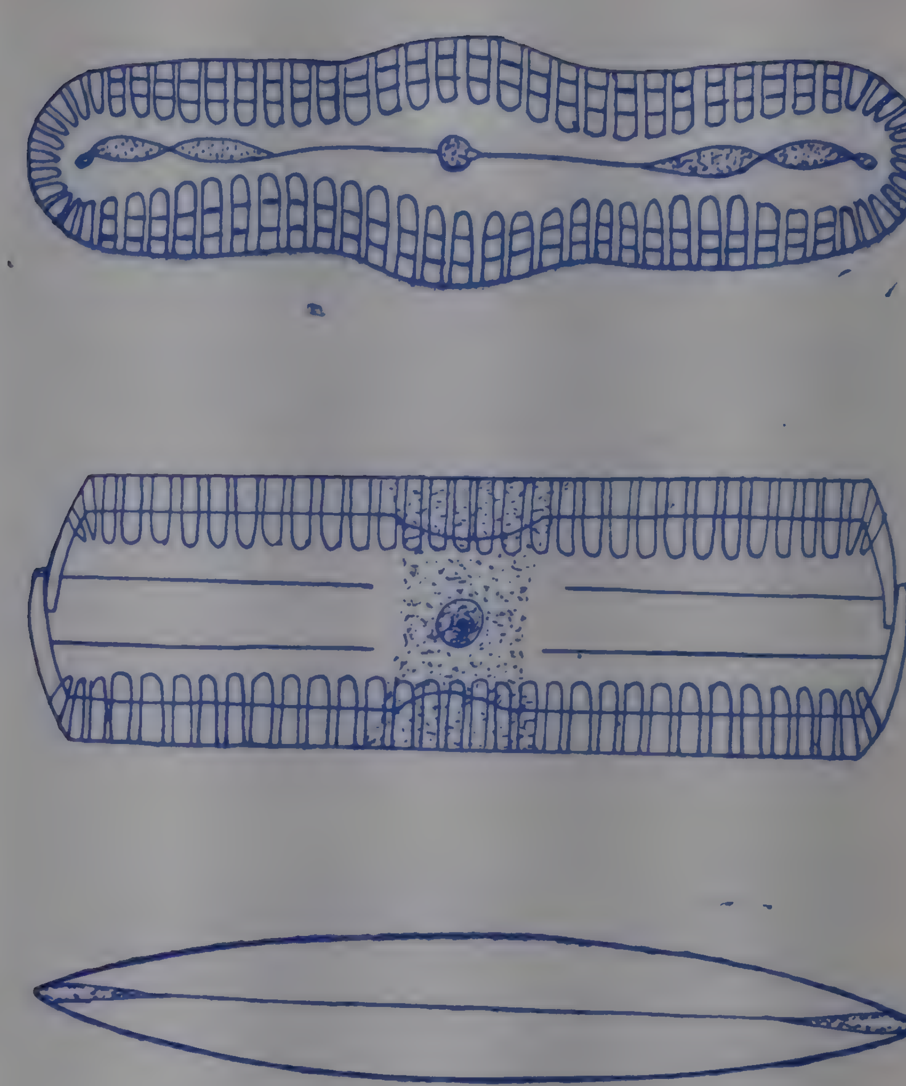
समुद्र के विविध जीव-जन्तुओं में छोटे-छोटे सुन्दर और अनोखे पौधे भी शामिल हैं। इन सुन्दर पौधों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है काई और काई एक नहीं अनेक प्रकार की होती है — एक कोशीय और बहु-कोशीय।

समुद्री काइयों की चर्चा करते समय हमारा ध्यान सबसे पहले एक-कोशीय काई — डायएटम की ओर जाता है। डायएटम नामक यह काई फाइलम **क्रासोफाइटा** और **ब्रेसिलारी ग्राफिसिया** की होती है। यह देखने में इतना अधिक सुन्दर और लुभावना होता है कि इसकी तुलना चमक-दमक और सुन्दरता में हीरे से की जाती है। इस अंक के मुख पृष्ठ पर एक डायएटम का ही चित्र दिया गया है।

डायएटम के छोटे-छोटे सुन्दर पौधे जल सतह पर इधर-उधर तिरते रहते हैं। ये बड़ी संख्या में उगते हैं, बड़ी तेजी के साथ बढ़ते हैं। इन एक-कोशीय पौधों की कोशिका-भित्ति सिलिका की होती है, जिसके कारण पौधों के मर जाने पर भी इनकी कोशिका-भित्तियां नष्ट नहीं होतीं। वे धीरे-धीरे जल के तल में जमा होती जाती हैं। कालांतर में ये ही सिलिकायुक्त जमावटों में परिवर्तित हो जाती हैं।



एक-कोशीय डायएटम। अपने इस अजीबो-गरीब रूप के कारण इसे पानी पर तैरने में सहायता मिलती है



ऊपर: *पिनूलेरिया डायएटम*, **शीर्ष अथवा कपाट दृश्य। इसमें इसके अन्दर की लम्बी सींवन (रेफ) दिखाई गई है।**

●

बीच में: *पिनूलेरिया डायएटम* **का पार्श्व अथवा मेखला दृश्य। इसमें एक दूसरे पर ढक्कन की तरह बन्द दो कपाटों को दिखाया गया है।**

●

नीचे: *एम्फीप्यूरा वेलूसीडा* **नामक द्विपार्श्व डायएटम।**

●

अपनी सुन्दरता और से कोशिका-भित्ति की दोनों ओर एक सी बनावट के करण डायएटम वनस्पतिशास्त्रियों के लिये विशेष आकर्षक पौधा है। खुले, शुद्ध जल में बहुतायत से पाये जाने वाले ये पौधे अपने निर्वाह के लिये पोषक तत्व समुद्र के जल में घुले लवणों से प्राप्त करते हैं।

समुद्र में अक्सर शरद ऋतु में तूफान आते हैं। इन तूफानों में समुद्री जल उथल-पुथल हो जाता है। इस 'समुद्र मंथन' का प्रभाव यह होता है कि तली का अधिकांश निर्मल जल ऊपर आ जाता है। इस निर्मल जल के ऊपर आने पर तथा दिन में प्रकाश की अवधि बढ़ जाने से अधिकाधिक धूप मिलने के कारण, डायएटम में अद्भुत रूप से जीवन का संचार होता है और इनके स्फुरण की गति इतनी तीव्र रहती है कि केवल दो दिनों में इनकी संख्या बढ़कर दुगुनी हो जाती है। कुछ ही काल में यह बढ़ कर समुद्र तल पर एक जीवित चादर के समान छा जाती है। किन्तु कुछ सप्ताहों के बाद जल की उथल-पुथल थम जाने पर

(शेषांश पृष्ठ 104 पर)

शरीर रूपी इमारत की ईंट: कोशिका

अशोक सेन और कुमकुम

अण्डे को फोड़ कर मुर्गी का बच्चा निकलते हुए शायद आपने देखा होगा, उसका आकार अपनी मां से कहीं छोटा होता है। यहां तक कि उसके शरीर पर बाल भी नहीं होते। परन्तु धीरे-धीरे वह वृद्धि करता है, बड़ा होता है, उसके पर निकल आते हैं और वह अपनी मां के सदृश्य दिखने लगता है। ऐसी अवस्था में उस को अपनी मां से पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। एक समय ऐसा भी आता है जब वह भी प्रजनन करने लगता है और अपने वंश की वृद्धि करता है। यह सब जानकर हम को भी अपने बचपन की बातें याद आ जाती हैं।

अन्य जीवों की भांति हमारा भी जन्म एक निषेचित डिम्ब से हुआ है। उस समय हमारा भार केवल कुछ मिली ग्राम ही था और आज वह 50 किलो से कम नहीं। इतना ही नहीं यदि आज हम अपने शरीर में उपस्थित कोशिकाओं को गिनें तो शायद वह सम्भव ही न हो।

कोशिका विभाजन असमान

क्या आप जानते हैं कि ये असंख्य कोशिकाएं एक-कोशीय निषेचित डिम्ब से कैसे बन गईं? उत्तर सरल है — कोशिका विभाजन द्वारा, प्रत्येक कोशिका विभाजित होकर दो पुत्री कोशिकाओं को जन्म देती है। दोनों पुत्री कोशिकाएं फिर विभाजित होती हैं। जिससे चार कोशिकाएं बन जाती हैं। विभाजन का यही क्रम चलता रहता है। फलस्वरूप असंख्य कोशिकाएं बन जाती हैं। धीरे-धीरे ये कोशिकाएं अलग-अलग समूहों में बंट जाती हैं और भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का निर्माण होता है परन्तु आपने देखा होगा कि बच्चे के सारे अंगों की वृद्धि समान दर से नहीं होती। उस के पांव व हाथ अधिक तेजी से बढ़ते हैं जबकि उसके कान व नाक बहुत धीरे बढ़ते हैं। ऐसा क्यों? वास्तव में भिन्न-भिन्न अंगों की कोशिकाओं के विभाजन की दर समान नहीं होती है। कोई अधिक तेजी से विभाजित होती है तो कोई बिल्कुल धीरे। कोशिका-विभाजन की यह क्रिया सारे जीवों में उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती रहती है। कोशिका विभाजन द्वारा बनी कोशिकाएं मनुष्य की वृद्धि में सहायक होती हैं। परन्तु एक निश्चित समय आ जाने पर शरीर के कुछ अंगों की वृद्धि रुक जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमारा शरीर बिलकुल निष्क्रिय हो जाता है।

अनवरत विभाजन

एक प्रश्न अनायास ही मन में उठता है कि मनुष्य का शरीर जब पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है अथवा पौधा बढ़ कर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है तो क्या फिर भी उसमें कोशिका-विभाजन चलता रहता है? यदि हां तो कैसे?

मनुष्य ही नहीं सारे जीव अपना जीवन-निर्वाह करने के लिये सदा कार्य करते रहते हैं। दूसरे, वातावरण भी उन के शरीर को प्रभावित करता रहता है। आपने देखा होगा कि पानी में अधिक देर हाथ डालने से हाथ की त्वचा मुलायम पड़ जाती है और उतरने लगती है। सर्दियों में हमारे हाथ-पांव फट जाते हैं। कभी-कभी हमारे शरीर में घाव हो जाते हैं। इन सारी क्रियाओं में शरीर की कोशिकाएं नष्ट होती रहती हैं। ऐसा अनुमान है कि प्रति दिन हमारे शरीर की 1 से लेकर 2 प्रतिशत कोशिकाओं का विनाश होता रहता है। यदि इन कोशिकाओं का विनाश न हो तो शरीर का भार कोशिकाओं की वृद्धि के कारण बढ़ता ही जाये। विभाजन के फलस्वरूप बनी कोशिकाओं से इन नष्ट होने वाली कोशिकाओं की पूर्ति होती है।



रार्बट हुक का सूक्ष्मदर्शी : इसमें उन्होंने कार्क की एक पतली फांक में कोशिकाओं की संरचना देखी थी।

शरीर की सारी कोशिकाओं का विनाश भी एक सी दर से नहीं होता और जिन कोशिकाओं का नाश होता है उनकी पूर्ति करने के लिए नई कोशिकाओं का निर्माण भी समान दर से नहीं होता। सिकिल-सैल-एनीमिया जैसी कुछ बीमारियों के फलस्वरूप मनुष्य का जीवन-काल घट जाता है क्योंकि उसमें नष्ट हुई कोशिकाओं की पूर्ति ठीक दर से नहीं हो पाती।

प्रत्येक जीव के शरीर की कोशिकाओं का विभाजन भिन्न-भिन्न रीतियों से होता है। कोशिका-विभाजन को समझने से पहले हमें कोशिका की संरचना का ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक हैं।

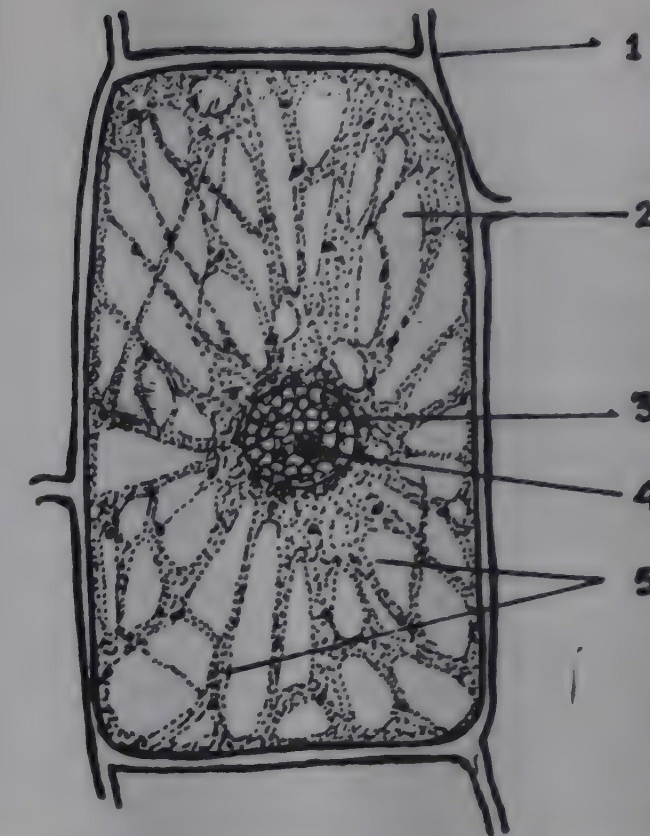
कोशिका संरचना

जीवन की इकाई कोशिका है। प्रत्येक जीव का शरीर छोटी-छोटी कोशिकाओं से ही बना होता है जिन्हें हम केवल सूक्ष्मदर्शी की सहायता से ही देख सकते हैं। कुछ जीव तो एक-कोशीय ही होते हैं जैसे अमीबा आदि। सबसे पहले सन् 1665 में राबर्ट हुक ने कोशिका का अध्ययन किया था। उन्होंने कार्क की पतली फांक की आन्तरिक रचना का सूक्ष्मदर्शी की सहायता से अध्ययन करने पर पाया कि वह मधुमक्खी के छत्ते सदृश दिखती है। उन्होंने उसके प्रत्येक खोखले विवर का नाम 'सैल'(कोशिका) रखा। इस खोज के काफी समय पश्चात, सन् 1838 में, दो जर्मन वैज्ञानिकों, श्लाइडेन और श्वान ने, यह साबित कर दिया कि पेड़-पौधों और जन्तुओं दोनों की आन्तरिक बनावट कोशीय होती है। उन्होंने यह भी बताया कि जीवित ऊतक की हर कोशिका में एक अर्ध-तरल, दानेदार पदार्थ भरा होता है। कोशिका के अन्दर भरे हुए इस दाने दार पदार्थ का नाम फान मोल ने सन् 1846 में **प्रोटोप्लाज्म** रखा। प्रत्येक कोशिका के अन्दर एक केन्द्रक होता है, इस बात का पता सबसे पहले सन् 1831 में राबर्ट ब्राउन ने लगाया और संतोषजनक विवरण सब से पहले सन् 1880 में स्ट्रासबर्गर ने दिया।

जीवित प्रयोगशाला

पेड़-पौधों और जीवों का शरीर बहुत से छोटे-छोटे स्वतन्त्र 'कमरों' या इकाइयों का बना होता है। प्रत्येक कमरा एक दीवार द्वारा घिरा होता है जिसे कोशिका-भित्ति कहते हैं तथा इसमें एक सूक्ष्म दानेदार अर्ध-तरल, पारभासक पदार्थ भरा रहता है जिसे प्रोटोप्लाज्म कहते हैं। प्रोटोप्लाज्म ही वास्तविक जीवित पदार्थ है और यह निरंतर परिवर्तन की स्थिति में रहता है। वास्तव में कोशिका ही जीवित पदार्थों की संरचनात्मक इकाई है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कोशिका जीवों की एक छोटी सी प्रयोगशाला है जहां जीवन-सम्बन्धी तमाम क्रियाएं होती रहती हैं। अतः हम कोशिका को जीवों की रचनात्मक और कार्यात्मक इकाई कह सकते हैं।

इस प्रयोगशाला के तमाम कार्यों का नियंत्रक होता है केन्द्रक, जो प्रोटोप्लाज्म में उपस्थित रहता है। इसकी आकृति प्रायः गोल होती है। पूर्ण विकसित कोशिका का आकार चाहे गोल हो या बहुभुजीय औसतन, वह कम से कम 1/100 मिलीमीटर बड़ी और अधिक से अधिक 1/10 मिलीमीटर तक होती है। इसके अतिरिक्त बहुत सी कोशिकाओं का, जैसे मुर्गी व दूसरी चिड़ियों के अण्डों का आकार 200 मिलीमीटर तक पाया गया है। फिर भी जैसे-जैसे उनमें वृद्धि होती जाती है उन की आकृति तथा आकार भी बदलता जाता है।



पादप कोशिका की संरचना : 1 सेल्यूलोज की बनी कोशिका भित्ती, 2 रसधानी, 3 केन्द्रक, 4 अणु केन्द्रक, 5 साइटोप्लाज्मिक तंतु। जन्तुओं की कोशिकाओं में कोशिका भित्ती नहीं होती। उसके स्थान पर एक पतली झिल्ली होती है। कोशिका के अन्दर गाल्जी बॉडी व सेन्ट्रोसोम आदि भी पाये जाते हैं।

प्रोटोप्लाज्म वास्तव में अनेक कार्बनिक और अकार्बनिक यौगिकों का समूह होता है। ये सारे यौगिक प्रोटोप्लाज्म में एक निश्चित अनुपात में पाये जाते हैं। प्रोटोप्लाज्म के द्वारा ही जीवन सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होते हैं, जैसे वृद्धि, शरीर का विकास, भोजन का पचना, श्वसन, प्रजनन इत्यादि। जब प्रोटोप्लाज्म 'मर' जाता है तो कोशिका जीवन सम्बन्धी कोई कार्य करने में असमर्थ हो जाती है।

कोशिका के अन्दर का पदार्थ साइटोप्लाज्म होता है। इसी में केन्द्रक होता है। साइटोप्लाज्म में अनेकों रिक्त स्थान पाये जाते हैं। जिन्हें रसधानियां कहते हैं। ये एक प्रकार के तरल पदार्थ से भरे रहते हैं। इस के अतिरिक्त साइटोप्लाज्म में और बहुत सी वस्तुएं पाई जाती हैं जैसे माइटोकांड्रिया और प्लास्टिड आदि। माइटोकांड्रिया शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करने में सहायता करते हैं। इसी ऊर्जा के द्वारा कोशिका अपने कार्य सम्पन्न करने योग्य होती है। प्लास्टिड की आकृति गोल होती है व इनमें रंग द्रव्य होता है। इनके अतिरिक्त जन्तु की कोशिका में सेन्ट्रोसोम और गाल्जीबाडी आदि भी पाये जाते हैं।

कोशिका के कार्यों का नियंत्रक—केन्द्रक

केन्द्रक की आकृति कोशिका की आकृति पर निर्भर करती है। यदि एक कोशिका गोल है तो उसका केन्द्रक भी गोल ही होगा जब कि लम्बी कोशिका का केन्द्रक लम्बा होगा। बड़े पेड़-पौधों और जीवों की कोशिकाओं में केवल एक ही केन्द्रक पाया जाता है। परन्तु छोटे पौधे की कोशिकाओं में वास्तविक केन्द्रक होता ही नहीं है। उनके स्थान पर 'केन्द्रीय' पदार्थ होते हैं। केन्द्रक के आकार में काफी भिन्नता पाई जाती है। वह कम से कम 1/40 मिलीमीटर और अधिक से अधिक 1/10 मिलीमीटर तक बड़ा होता है।

केन्द्रक के अन्दर रस भरा होता है। केन्द्रक अपने आप से 'नया उत्पन्न' नहीं होता वरन पहले से उपस्थित केन्द्रक के विभाजन द्वारा ही बनता है और अपनी संख्या में वृद्धि करता है। केन्द्रक में लटके हुए नाजुक तारों का (क्रोमेटिन पदार्थ का बना) एक जाल सा

●

माइटोटिक विभाजन की अवस्थाएं :

प्रोफेज : (1-3) कोशिका जैसे ही विभाजन की स्थिति में आती है उसके केन्द्रक में क्रोमोसोम 'प्रत्यक्ष' हो जाते हैं और साथ ही प्रत्येक क्रोमोसोम लम्बाई में दो भागों में बंट जाता है। प्रत्येक भागों को क्रोमेटिड कहते हैं। मेटाफेज : (4-5) इस अवस्था में केन्द्रक में स्पिण्डिल बन जाता है और क्रोमोसोम स्पिण्डिल के मध्य प्रदेश में एकत्रित हो जाते हैं। एनाफेज : (6-7) प्रत्येक क्रोमोसोम की दोनों क्रोमैटिड विपरीत ध्रुवों की ओर आकर्षित होती है। टीलोफेज : (8-9) जैसे ही क्रोमेटिड विपरीत ध्रुवों की ओर जाते हैं कोशिका के बीच एक झिल्ली बनने लगती है जो कोशिका को दो पुत्री कोशिकाओं में विभाजित कर देती है। इस प्रकार बनी दोनों पुत्री कोशिकाओं में क्रोमोसोम की संख्या वही रहती है जो मातृ कोशिका में होती है।

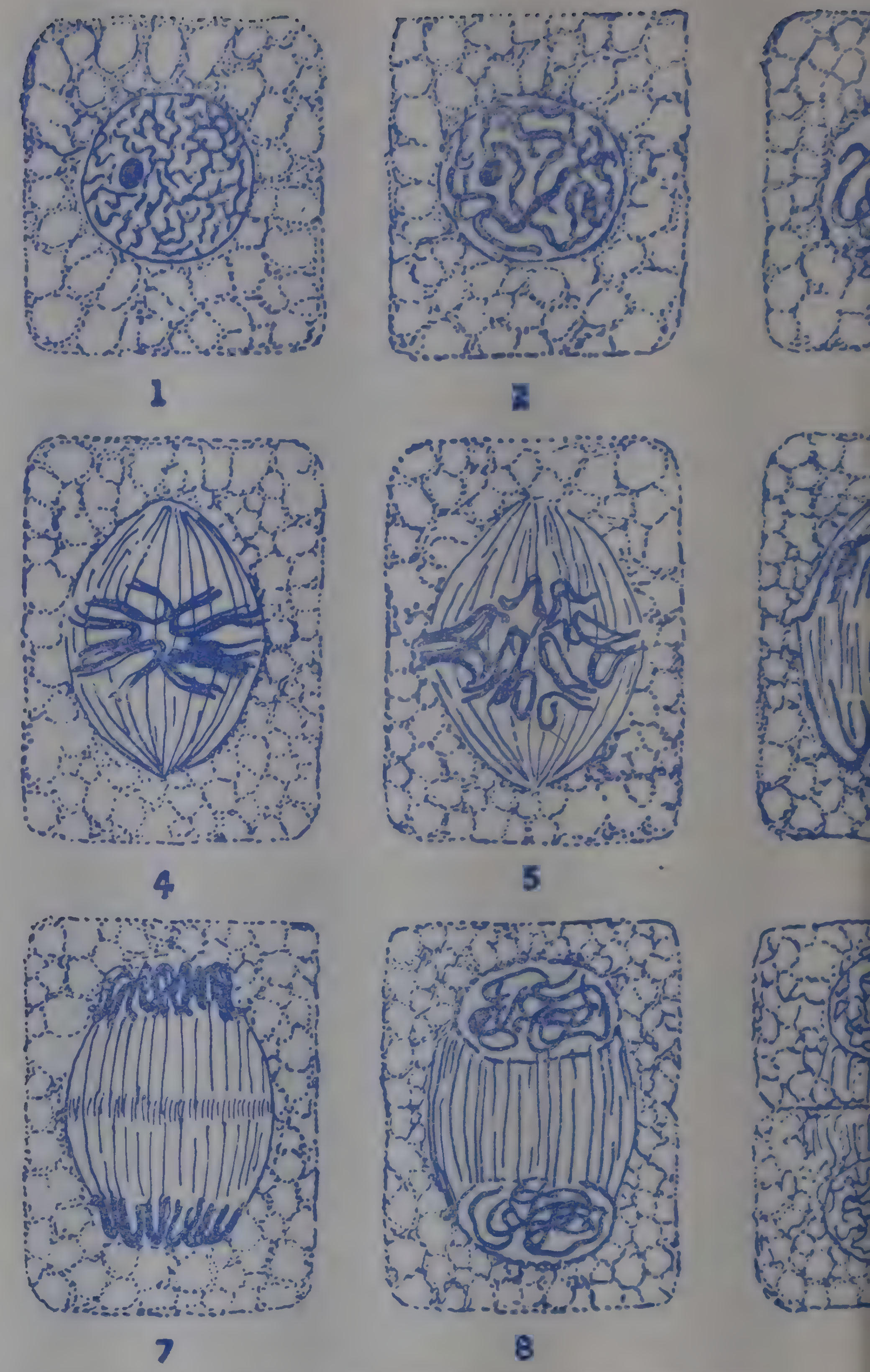
●

बिछा रहता है जो 'क्रोमेटिन जाल' कहलाता है। यही केन्द्रक का अनिवार्य (जीवित)-पदार्थ है। इसे ही वंशानुक्रम का भौतिक आधार मानते हैं अर्थात् माता-पिता के लक्षणों का उस के बच्चों में पहुँचना इसी पर निर्भर होता है।

जीवों में कोशिका विभाजन प्रायः दो विधियों से होता है : माइटोटिक और मिओसिस। केन्द्रक का विभाजन पहले होता है, अन्य अंगों का बाद में।

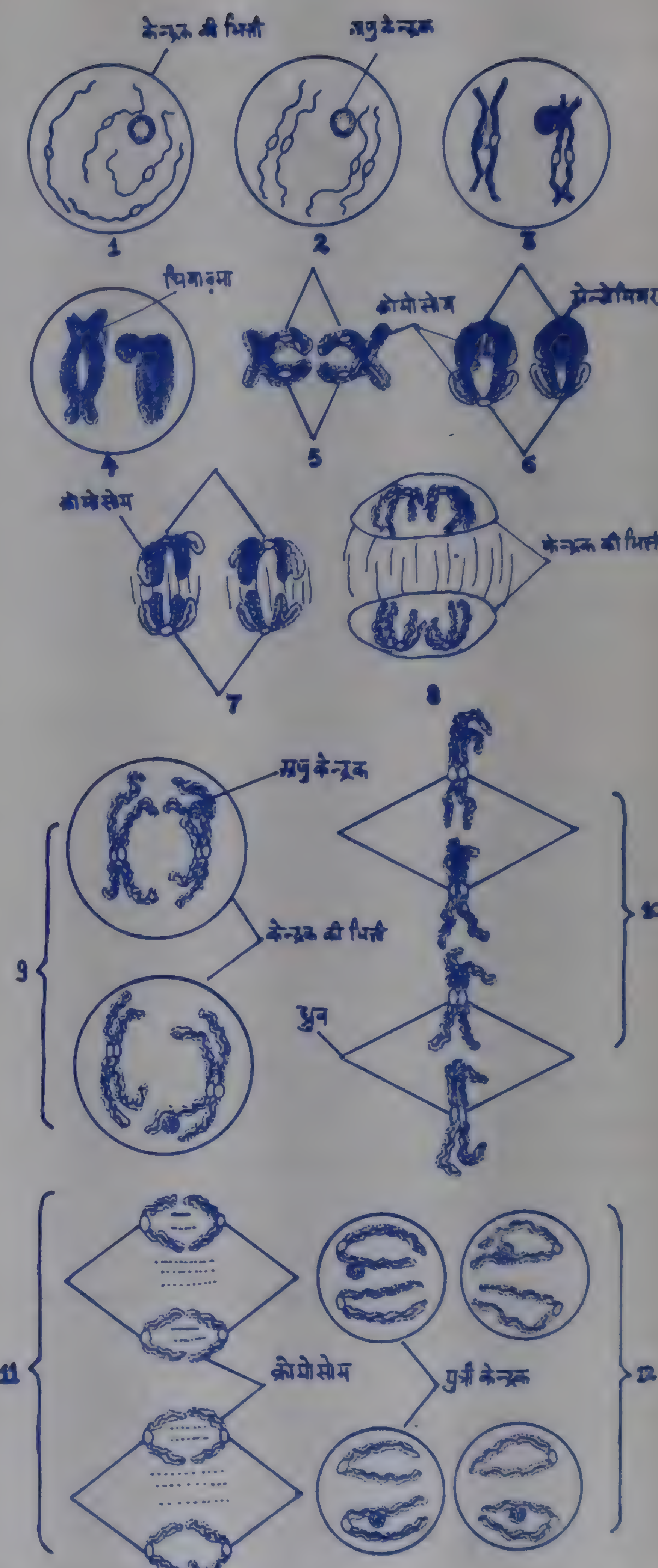
माइटोटिक विभाजन

इस प्रकार का विभाजन केवल वर्धी अंगों में ही होता है और बढ़ने वाले अंगों की कोशिकाओं—जैसे, जड़ और तने के शीर्ष—में अच्छी तरह देखा जाता है। इस प्रकार के विभाजन में पहले केन्द्रक का विभाजन दो केन्द्रकों में होता है। इस विभाजन के पूर्व ही केन्द्रक कई जटिल दशाओं में से होकर गुजरता है। 'केन्द्रक विभाजन' की संपूर्ण विधि



'माइटोसिस' कहलाती है। फिर कोशिका रस का विभाजन दोनों कोशिकाओं में हो जाता है। इस क्रिया को 'साइटोकाइनेसिस' कहते हैं। विभाजन की इस जटिल विधि में क्रोमेटिन के तमाम भाग पुत्री कोशिकाओं में बराबर बंट जाते हैं। माइटोसिस में क्रमानुसार निम्नलिखित स्थितियां आती हैं।

प्रोफेजः विश्राम अवस्था में केन्द्रक आकार में बड़ा होता है और इस का केन्द्रीय जाल धीरे-धीरे मोटा होने लगता है और एक लम्बे व काफी लिपटे हुए धागे का रूप धारण कर लेता है। इस के पश्चात यह पतले अनियमित धागों में बंट जाता है। इन धागों की संख्या प्रत्येक जीव में निश्चित होती है इन्हें 'क्रोमोसोम' कहते हैं। मनुष्य में क्रोमोसोम की संख्या 46, चूहों में 40 व मक्का में 20 होती है। इन्हीं क्रोमोसोम के ऊपर कुछ छोटे-छोटे दाने होते हैं जिन्हें 'जीन' कहते हैं। वास्तव में इन्हीं जीनों के ऊपर किसी प्राणी के लक्षणों की छाप लगी रहती है। हम कहते हैं कि गेहूं के बीज से गेहूं ही पैदा होगा चना नहीं। यह सत्य है और यह सत्यता इन्हीं जीनों के कारण है।



क्रोमोसोम लम्बाई में विभाजित होते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम ऐसी अवस्था में दो पुत्री-सूत्रों से मिलकर बना हुआ प्रतीत होता है, जो एक-दूसरे से चिपके होते हैं, कभी-कभी ये एक-दूसरे के ऊपर ऐंठे हुए भी होते हैं। क्रोमोसोम के इन दोनों भागों में से प्रत्येक को क्रोमैटिड कहते हैं। विभाजन के दौरान क्रोमोसोम सिकुड़ते हैं और अधिक दृढ़ हो जाते हैं अथवा अजीब-अजीब आकृतियां धारण कर लेते हैं। इसी समय केन्द्रक के दोनों ओर टोपी के रूप में अनेकानेक कोशिका रसीय तन्तु बनने लगते हैं। ये तन्तु दो केन्द्रों की ओर एक-दूसरे से अभिसृत हो जाते हैं। इन केन्द्रों को ध्रुव कहते हैं। इसी बीच क्रोमोसोम फिर सिकुड़ते हैं और मोटे हो जाते हैं तथा अपने विशिष्ठ रूप धारण कर लेते हैं। इसी समय केन्द्रक के अन्दर अणु-केन्द्रक गायब हो जाता है और तन्तु एक स्पिण्डिल की आकृति बनाते हैं। क्रोमोसोम अब स्पिण्डिल के मध्य रेखा की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं।

●

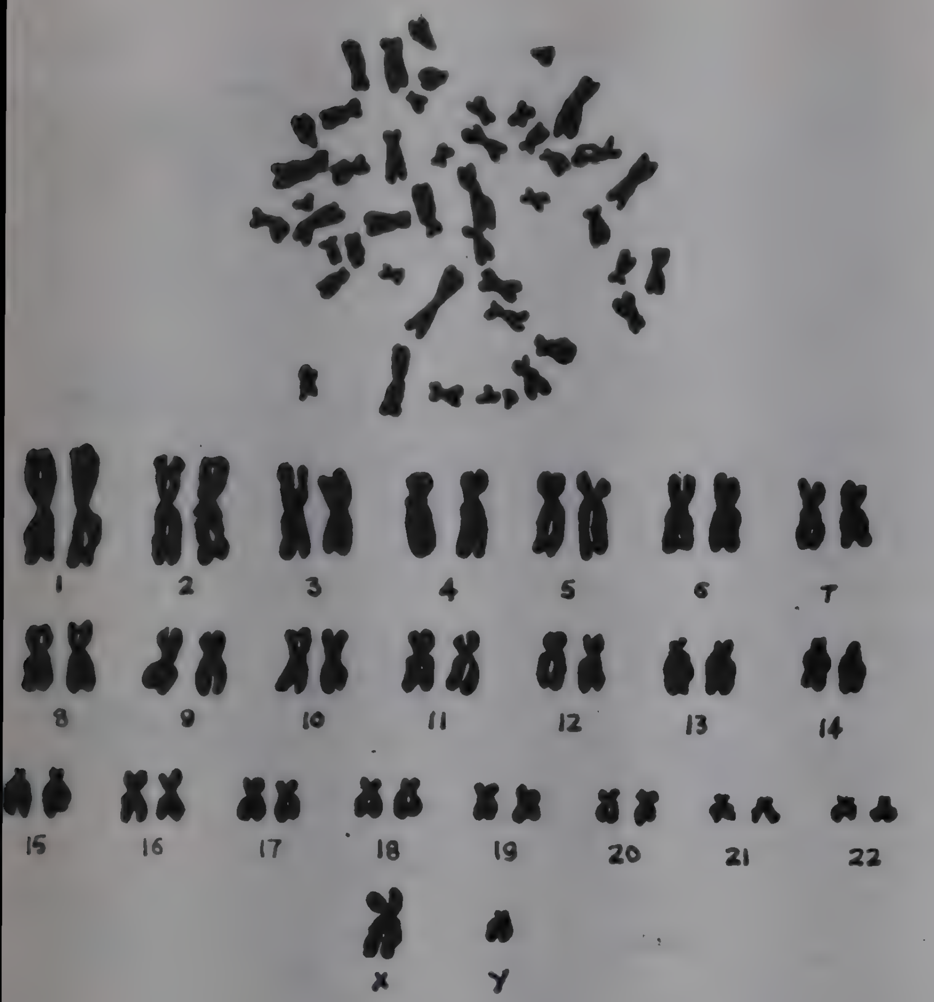
मिओसिस विभाजन की अवस्थाएं: मिओटिक विभाजन : (1-4) प्रोफेज अवस्थाएं। एक केन्द्रक जिस में 2 जोड़े क्रोमोसोम है, एक सम क्रोमोसोम से युग्मित हो गये हैं। (5-6) मेटाफेज अवस्था : जुड़े हुए क्रोमोसोम मध्य रेखीय प्रदेश पर हैं और चार जोड़ों में उनका विभाजन हो रहा है। (7-8) एनाफेज अवस्था : जुड़े हुए क्रोमोसोम एक दूसरे के साथ गुड़मुड़ हो जाते हैं व दो केन्द्रक और दो कोशिकाओं का निर्माण होता है। इस विधि के साथ प्रथम विभाजन समाप्त हो जाता है और दूसरा विभाजन आरम्भ होता है। दूसरा विभाजन माइटोटिक विभाजन की ही तरह होता है (बायें पृष्ठ के चित्र में देखें)। प्रथम विभाजन द्वारा दोनों केन्द्रक, जिन में प्रत्येक में आधे क्रोमोसोम हैं अब द्वितीय प्रोफेज (9), द्वितीय मेटाफेज (10) द्वितीय एनाफेज (11) और द्वितीय टीलाफेज (12), अवस्थाओं से गुजरते हैं और इस प्रकार आधे क्रोमोसोमों वाली चार कोशिकाएं बन जाती हैं।

●

मेटाफेज : इस स्थिति में स्पिण्डिल पूर्ण रूप से 'विकसित' हो जाता है और क्रोमोसोम पुनः ध्रुवों की ओर जाने की तैयारी करने के पूर्व मध्य रेखीय प्रदेश में विन्यस्त हो जाते हैं। इस स्थिति में क्रोसोसोम का खण्डन लम्बाई में पूर्ण हो जाता है। इस स्पिण्डिल के कुछ तन्तु 'खिचाव वाले तन्तु' कहलाते हैं। वास्तव में यह खिचाव वाले तन्तु क्रोमोसोम के एक बहुत छोटे संकुचित भाग पर जुड़े रहते हैं। इस भाग को 'सेन्टोमियर' कहते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम के धागे (क्रोमैटिड) ऐसे तन्तुओं से जुड़े रहते हैं जो विपरीत ध्रुवों की ओर आकर्षित होते हैं।

एनाफेज: इस अवस्था में यह खींचने वाले तन्तु सिकुड़ते हैं और इस विधि के साथ-साथ पुत्री क्रोमोसोम (क्रोमेटिड) भी विपरीत ध्रुवों की ओर आकर्षित होते हैं और फलस्वरूप क्रोमोसोम के दोनों पुत्री-क्रोमोसोम एक-दूसरे से अलग-अलग हो जाती हैं और अन्त में आधे पुत्री क्रोमोसोम एक ध्रुव पर और बाकी आधे पुत्री क्रोमोसोम दूसरे पर एकत्रित हो जाते हैं।

टीलोफेज : ध्रुव पर पहुंचने के बाद ये पुत्री क्रोमोसोम एक दूसरे से खूब गुड़मुड़ हो जाते हैं और केन्द्रकीय जाल बनाते हैं। साथ ही साथ स्पिण्डिल अदृश्य हो जाता है और केन्द्रकीय भित्ति फिर दुबारा कोशिका रस में प्रकट होती है। अणुकेन्द्रक और केन्द्रकीय रस भी दुबारा प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार दो पुत्री केन्द्रक बन जाते हैं।



मनुष्य की प्रत्येक कोशिका में पाये जाने वाले 46 क्रोमोसोम : ये क्रोमोसोम 23 जोड़ों में होते हैं । मिओसिस विभाजन के समय 23 जोड़ों के एक-एक क्रोमोसोम-पुत्री कोशिकाओं में चले जाते हैं । इस प्रकार के विभाजन में मनुष्य के डिम्ब और शुक्राणु में क्रोमोसोम की संख्या 46 से घटकर 23 रह जाती है ।

साइटोकाइनेसिस: जैसे ही केन्द्रक का विभाजन समाप्त होने लगता है वैसे ही कोशीय रस का भी विभाजन होने लगता है। कोशीय रस का विभाजन प्रायः दो रीतियों से होता है : पहली रीति बहुधा टीलोफेज में ही शुरू हो जाती है। इस में मध्यरेखीय प्रदेश में सेलुलोज के नये-नये कण जमा हो जाते हैं और शीघ्र ही एक झिल्ली बना लेते हैं। यह झिल्ली कोशिका रस को दो भागों में बांट देती है। दूसरी रीति में कोशीय रस के बाहर कुछ संकुचन प्रकट होता है जो धीरे-धीरे भीतर की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में दोनों ओर का संकुचन एक दूसरे से मिलकर रस को दो भागों में बांट देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोशिका और कोशीय रस के विभाजन से एक कोशिका से दो पुत्री कोशिकाएं बन जाती हैं और उन में वही गुण और विशेषताएं आ जाती हैं जो मूल मातृ-कोशिका में होती हैं।

मिओसिस विभाजन

मिओसिस को ह्रास विभाजन भी कहते हैं क्योंकि इसमें क्रोमोसोम की संख्या वर्धी कोशिकाओं में पायी जाने वाली संख्या से घट कर आधी रह जाती है। मिओसिस रीति से विभाजन केवल पौधों और जीव-जन्तुओं की जनन सम्बन्धी कोशिकओं में ही होता है। इसमें भी पहले केन्द्रक का फिर कोशीय रस का विभाजन होता है। फूलों में पराग-कणों तथा भ्रूण में डिम्ब के बनते समय इन की मातृ-कोशिकाओं का विभाजन मिओसिस रीति द्वारा ही होता है। इस क्रिया में मातृ-कोशिका दो बार विभाजित होती है। जिसके फलस्वरूप एक समूह में चार पुत्री कोशिकायें बन जाती हैं। इन दो विभाजनों में जो एक के बाद दूसरा होता है; पहला मिओटिक और दूसरा माइटोटिक होता है। अतः प्रत्येक पुत्री कोशिका में क्रोमोसोम की संख्या मूल मातृ-कोशिका की आधी होती है। उदाहरणतः यदि मातृ-कोशिका में 16 क्रोमोसोम हों तो चारों कोशिकाओं में से प्रत्येक में 8 ही क्रोमोसोम रह जाते हैं। निषेचन के दौरान युग्मक (गैमीट) क्रोमोसोम की संख्या पुनः उतनी ही हो जाती है जितनी मातृ-कोशिका में होती है। मिओसिस में दूसरा विभाजन माइटोटिक विभाजन की भांति ही होता है। मिओसिस विभाजन की सारी अवस्थाओं का वर्णन साथ के चित्र में किया गया है।

एक्सपोजर मीटर

(पृष्ठ 96 का शेषांश)

इस ट्रांजिस्टर को व्हीटस्टोन ब्रिज की एक भुजा में लगाया जाता है। पूरे सरकिट को एक टीन, लकड़ी या प्लास्टिक के डिब्बे में बन्द कर देते हैं। फोटो ट्रांजिस्टर के छेद के सामने डिब्बे में भी एक खिड़की बनाई जाती है ताकि इस से होकर प्रकाश एमीटर पर पड़ सके। एमीटर पर जितनी कम रोशनी पड़ेगी उतनी ही कम विद्युत धारा ट्रांजिस्टर से प्रवाहित होगी। एमीटर पर पहुंचने वाली रोशनी की तीव्रता पर नियंत्रण रखने के लिये कई तरह के अल्प पारदर्शक कांच की प्लेटें काम में लायी जाती हैं। इन प्लेटों की सहायता से मीटर पर डिफ्लेक्शन देखते हैं। पारदर्शक प्लेट लगाने पर मीटर की सुई पूरी घूम जानी चाहिये।

अब बक्स को बन्द कर कांच पर हाथ या काला कागज रख कर व्हीटस्टोन के पोटेन्सियो-मीटर की सहायता से संतुलित करते हैं। संतुलित अवस्था में मीटर में से कोई विद्युत धारा नहीं बहती। लेकिन जब हाथ या कागज उठाने से एमीटर पर रोशनी पड़ती है तो सेतु असंतुलित हो जाता है और विद्युत धारा बहने लगती है। इस विद्युत धारा की मात्रा, प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। इस प्रकार से कैमरे के लैंस तक पहुंचने वाले प्रकाश को नियंत्रित किया जा सकता है।

वनस्पतिशास्त्री की दृष्टि में —

वायुमंडल

राजाराम मिश्र

हमारी पृथ्वी चारों ओर से एक विशेष संरचना वाली वायु द्वारा घिरी हुई है । जीवधारियों के लिये वायु की आवश्यकता भोजन एवं जल से भी अधिक है । सम्भवतः भोजन एवं जल के अभाव में हम घंटों क्या दिनों तक अपना जीवन-क्रम चला सकते हैं परन्तु वायु का अभाव हमें कुछ मिनटों तक ही जीना दूभर कर देता है ।

वायु न केवल जन्तुओं के लिये, वरन् जीवधारियों की दूसरी श्रेणी–वनस्पतियों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है । वायु से ही कार्बन-डाई-आक्साइड लेकर पौधे प्रकाश एवं जल की उपस्थिति में अपनी कोशिकाओं के पर्णहरिम (क्लोरोफिल) में प्रकाश-संश्लेषण (फोटो-सिन्थेसिस) की क्रिया सम्पन्न करते हैं । वे इस प्रकार न केवल अपने लिए बल्कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समस्त जीवधारी वर्ग के लिए खाद्य सामग्री का निर्माण करते हैं ।

प्रश्न उठता है कि वायु वस्तुतः है क्या ? प्राचीन काल से मानव इस तथ्य से परिचित है कि वायु विभिन्न गैसों का एक जटिल मिश्रण है । प्रारम्भ में इसके चार मुख्य अवयव 'आक्सीजन', कार्बन-डाई-आक्साइड', 'नाइट्रोजन' एवं 'हाइड्रोजन' ही ज्ञात थे । विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ धीरे-धीरे वायुमण्डल के अन्य अवयवों का ज्ञान हुआ । अब यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि 'वायु' न केवल उपर्युक्त चार गैसों का मिश्रण है अपितु उसमें और गैसें भी विद्यमान हैं । यद्यपि अन्य गैसें काफी कम मात्रा में पाई जाती हैं और उनका महत्व जीव-धारियों के लिये कम है ।

वायुमण्डल का अध्ययन करने की दिशा में अब न केवल भौतिकी-विद् अथवा रसायनज्ञ रुचि लेते हैं वरन् जीव वैज्ञानिक भी इस कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं । प्रारम्भ में चिकित्सकों की इस ओर विशेष रुचि रही क्योंकि बीमारियां विशेषतः उन स्थानों पर अधिक फैलती हैं जहां का वातावरण गन्दा एवं वायुमंडल दूषित हो । इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए काफी अनुसंधान कार्य हुआ एवं बहुत-सी बीमारियों के कारणों आदि की जानकारी प्राप्त हुई । फिर जीव वैज्ञानिक भी इस ओर झुके । अब यह सिद्धप्रायः है कि वायुमण्डल में विभिन्न गैसों के साथ ही बहुत से सूक्ष्म जीवाणु भी वायुसागर में तैरते रहते हैं । इन जीवधारियों को केवल आंख द्वारा ही नहीं देखा जा सकता क्योंकि आकार में ये अति सूक्ष्म होते हैं । वायु का अध्ययन एक सूक्ष्मदर्शी से करने पर ये सूक्ष्म जीव सरलता से दीख जाते हैं । इन जीवधारियों में अधिकतर उस वर्ग के प्राणी आते हैं जो या तो एक कोशीय हैं या बहुकोशी भी हैं तो उनकी कोशिकाएं काफी छोटी एवं हल्की होती हैं जिससे वे वायुमण्डल में सरलतापूर्वक उड़कर अपने को संभाले रखें । दूसरी श्रेणी उन बीजों एवं पराग कणों की है जो बड़े समुदाय के पौधों से बनते हैं और इधर-उधर फैलने के लिए वायु को माध्यम बनाते हैं । वायुमंडल में विद्यमान इन जीवों का अध्ययन करने व उनके विषय में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिकों ने अनेकानेक विधियां खोज निकाली हैं । प्रस्तुत लेख में वायुमंडल में विद्यमान कवक के अध्ययन की कुछ विधियों पर प्रकाश डाला गया है ।

अध्ययन विधि

विश्व के विभिन्न भागों में वायुमंडल के कवक अथवा फफूंद समुदाय का अध्ययन पिछले 50 वर्ष से भी अधिक काल से हो रहा है । इस अध्ययन के लिये वनस्पतिज्ञों ने अनेक तरीकों का आश्रय लिया है । इनमें से विशेषतया दो उपाय काफी अरसे से उपयोग में लाये जा रहे हैं : शीशे के छोटे चौकोर टुकड़े, जिन्हें 'स्लाइड' कहते हैं, पर कोई चिपचिपा पदार्थ लगाकर खुली जगह में अपेक्षित समय तक रख दिया जाय तो वायु में उपस्थित जीव 'स्लाइड' पर चिपक जाते हैं । तत्पश्चात् उसका अध्ययन सूक्ष्मदर्शी द्वारा किया जाता है । दूसरी विधि में शीशे की छोटी-छोटी तश्तरियों (पेट्रीडिश) में फफूंदी के उपयुक्त भोज्य पदार्थ डालकर 'स्पोर' पकड़े जाते हैं । पेट्रीडिश को खोलकर कहीं भी खुले में रख दिया जाता है । इस में रखे भोजन पदार्थ पर हवा में उपस्थित फफूंदी के 'स्पोर' आकर गिर पड़ते हैं । तत्पश्चात पेट्रीडिश का ढक्कन बन्द कर 5-6 दिन तक उसे 25° सेंटीग्रेड ताप पर रखा जाता है । इस प्रकार 'स्पोर' उग जाते हैं और फफूंदी को आसानी से पहचाना जा सकता है । डा. ग्रेगरी एवं उनके सहयोगी डा. हर्स्ट ने वायुमंडलीय जीवों के अध्ययन हेतु आधुनिक यंत्रों का आविष्कार किया । इन वैज्ञानिकों द्वारा विकसित विद्युत चालित उपकरण जिसे 'स्पोरट्रैप' कहते हैं, द्वारा वायु में उपस्थित जीवों का अध्ययन अधिक उपयुक्त एवं सरलता से किया जा सकता है ।

वायु में कवक की मुख्य किस्में

वायुमंडल में कवक की कई किस्में पाई जाती हैं । ये किस्में प्रायः वायुमंडलीय परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं । विशेषतया भारत जैसे देश में जहां वर्ष तीन मुख्य मौसम—बरसात, जाड़ा और गर्मी में विभाजित है, यह वायुमंडलीय कवक परिवर्तन विशेष उल्लेख-नीय है । यह कवक परिवर्तन वातावरण की आर्द्रता, तापक्रम एवं स्थान विशेष की वनस्पति किस्मों पर काफी निर्भर करता है । इन

किसी में भी परिवर्तन होने से फफूंदी की किस्में बदल जाती हैं । सर्वाधिक फफूंदी वायु में प्रायः अक्तूबर से दिसम्बर तक पाई जाती हैं । गर्मी के मौसम में वायु की आर्द्रता की कमी एवं ताप की अधिकता होने के कारण फफूंदी की मात्रा में काफी कमी हो जाती है । बरसात में फिर जैसे ही परिस्थितियां अनुकूल होती हैं फफूंदी की अधिकता हो जाती है । यही कारण है कि नम स्थान पर दो-तीन दिन बाद ही वस्तु सड़ने लगती है । वस्तुतः फफूंदी वर्ग के पौधे ही इस क्रिया के लिये अधिक उत्तरदायी हैं ।

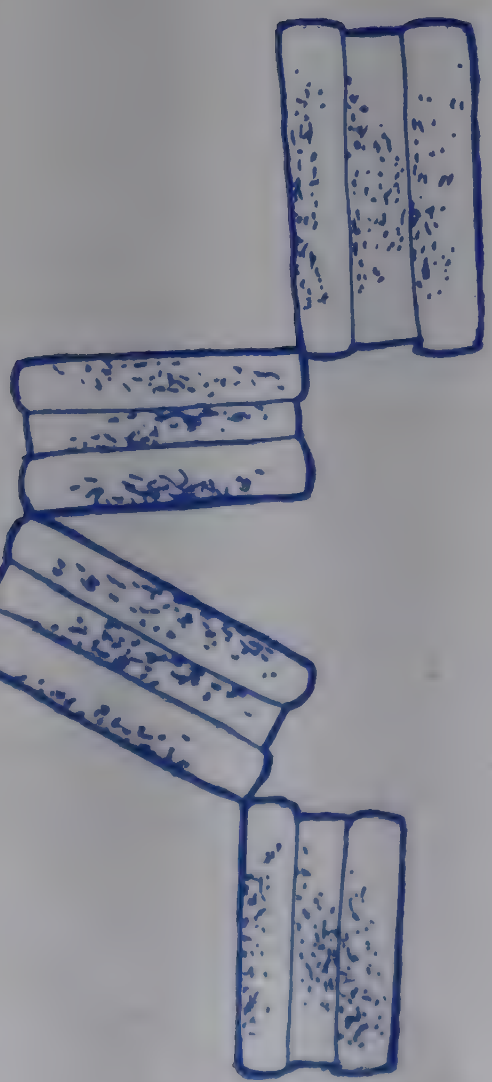
फफूंदी की कुछ जातियां जो वायुमंडल में पाई जाती हैं वे हैं **क्लेडोस्पोरियम, आल्टरनेरिया, वर्बुलेरिया, अस्परजिल्स, पेनिसिलियम म्यूकर और राइजोपस** । यूं तो फफूंदी की सैकड़ों जातियां वायुमंडल में रहती हैं लेकिन उपर्युक्त किस्में ही अधिक मात्रा में रहती हैं ।

अध्ययन का महत्त्व

इस प्रकार के अध्ययन द्वारा हम वायुमंडल के फफूंदी सम्प्रदाय की जानकारी प्राप्त कर यह पता चला सकते हैं कि अमुक फसल के ऊपर वायु में कौन-कौन से स्पोर्स मौजूद हैं । किसी भी फसल में बीमारी लगने के पहले उसके रोगाणु कुछ दिनों पूर्व ही वायुमंडल में (अगर रोग हवा द्वारा फैलने वाला होता है तब) उपस्थित रहते हैं । अगर बीमारी शुरू होने के पूर्व ही किसानों को यह सूचना दी जा सके कि अमुक फसल के अमुक रोगों के 'स्पोर्स' वायुमंडल में आ चुके हैं एवं उनकी रोकथाम के उपाय भी बतलाये जा सकें तो किसान उन उपायों द्वारा अपनी फसल की रक्षा सरलतापूर्वक कर सकते हैं ।

समुद्र का सुन्दरतम पौधा . . .

(पृष्ठ 97 का शेषांश)



एक अन्य एक-कोशीय डायएटम]

डायएटमों को मिलने वाले लवणों और खनिजों की मात्रा में कमी हो जाती है । जिसके कारण इनका विस्फोट रुक जाता है और संख्या धीरे-धीरे कम होती चली जाती है ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, डायएटम एक-कोशीय पौधा होता है किन्तु फिर भी वे एक लड़ी के समान एक दूसरे से जुड़े रहते हैं । डायएटम की कोशिका-भित्ति दो समान हिस्सों में बंटी रहती है और इसका एक आधा भाग, दूसरे आधे भाग पर डिब्बे पर ढक्कन के समान बंद रहता है । कोशिका-भित्ति सिलिकान डायाक्साइड और पेक्टिक यौगिकों से मिलकर बनी रहती है । कोशिकाओं पर विविध आकार प्रकार के चिह्न बने रहते हैं और इन्हीं आकृतियों के कारण उनके वर्ग को पहचाना जाता है ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है डायएटम की कोशिकाओं की दीवारों में सिलिका भरी रहने के कारण वे मरने पर भी नष्ट नहीं होती और जल-तल में जमती चली जाती है । इस प्रकार उनकी इस निरंतर जमावट के फलस्वरूप विशाल डायएटम-थल बन जाते हैं । इन जीवांश डायएटम जमावटों को **डायएटमी भूमि** के नाम से जाना जाता है । इस प्रकार की डायएटमी भूमि अमेरिका, जापान, स्पेन, न्यूजीलैंड आदि अनेक देशों के आस-पास के जल में पाई गई है ।

डायएटमी भूमि से अनेक उपयोगी खनिज प्राप्त होते हैं । इन खनिजों का उपयोग विस्फोट में अवशोषक के रूप में, खांडसारी उद्योग में चीनी साफ करने में, ऊष्मारोधी पदार्थों के रूप में, पालिशों, दंत मंजनों आदि में किया जाता है । कंक्रीट में डायएटमी खनिज मिलाने से उसकी मजबूती बढ़ जाती है ।

कुम्भकरण के रिश्तेदार

रचना वर्मा

कहा जाता है कि कुम्भकरण छः महीने तक लगातार सोता रहता था। वह कैसे इतनी देर तक सोता था यह एक रहस्य है! वास्तव में वह इतनी देर तक सोता भी था या नहीं यह भी विवाद का विषय है। परन्तु यह विवादास्पद नहीं है कि सांप, मेंढक, छिपकली, कछुए, सफेद रीछ जैसे अनेक जीव दो-तीन महीने तक लगातार सोते रहते हैं।

वंश वृद्धि और अपनी सुरक्षा प्राणी मात्र के दो अनिवार्य कार्य हैं तथा मनुष्य को छोड़कर कदाचित सब प्राणी जीवन पर्यन्त इन्हीं कार्यों में रत रहते हैं। पृथ्वी पर जीव अधिक हैं और खाद्य कम तथा एक जीव दूसरे का खाद्य है इसलिये जीवों के पदार्पण काल से ही उनमें अनवरत रूप से पारस्परिक संघर्ष चलता आ रहा है। वैज्ञानिक इसे **जीवन संघर्ष** कहते हैं। जीवन संघर्ष में वे ही प्राणी विजेता होते हैं जो शत्रुओं से अपनी रक्षा भलीभांति कर सकते हैं और स्वयं को प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुकूल बना लेते हैं। प्राणियों का इतिहास इसका साक्षी है कि प्राणियों की अनेक जातियां स्वयं को प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल न ढाल पा सकने के फलस्वरूप समूल नष्ट हो गई। इसका कदाचित सबसे ज्वलन्त उदाहरण है डायनोसौर। लगभग 10 करोड़ वर्ष से भी अधिक काल तक पृथ्वी पर विचरण करने के बाद कालान्तर में उनकी सब जातियां ही समूल नष्ट हो गई। इसके विपरीत तिलचट्टे जैसे कीड़े स्वयं को प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुकूल ढाल लेने के कारण करोड़ों वर्ष से पृथ्वी पर वर्तमान हैं।

आत्म रक्षा की विविध विधियां

प्राकृतिक शक्तियों से अपनी रक्षा करने के प्राणियों के तरीके बहुत विचित्र हैं। बहुत से ऐसे रीढ़धारी जीव हैं जिनके शरीर का तापमान अस्थिर होता है। जैसे-जैसे बाहरी ताप गिरता है, वैसे-वैसे ये शीत से संघर्ष करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। इस कारण वे बिल खोद कर नीचे, जमीन के अन्दर चले जाते हैं। मेंढक इस वर्ग का बहुत ही रोचक उदाहरण है। छिपकलियां व सांप सारी शीत ऋतु अपने बिलों में ही व्यतीत कर देते हैं व एकदम सुषुप्त पड़े रहते हैं। एक छिपकली को शीत निद्रा की अवस्था में उसके बिल से निकाल कर उसके साथ कितनी भी छेड़-छाड़ क्यों न की जाये वह तनिक भी नहीं हिलती। बहुत-सी मछलियां झील या नदी की सतह में या किनारे की मिट्टी के अन्दर जाकर सो जाती हैं और ग्रीष्म ऋतु के आने की प्रतीक्षा करती रहती हैं।

यद्यपि शीत ऋतु में दो-तीन महीने तक लगातार लम्बी नींद सोने वाले प्राणी आमतौर पर शीत रक्त वाले प्राणी होते हैं पर सफेद रीछ तथा चमगादड़ सदृश गर्म रक्त वाले कुछ स्तनपायी भी शीत निद्रा के शौकीन होते हैं। शीत निद्रा लेने वाले प्राणियों के शरीर पर आमतौर से बाल नहीं होते पर सफेद रीछ के तो बहुत बाल होते हैं।

ग्रीष्म स्वपन

जीव केवल अत्यधिक ठंड में ही नहीं सोते। अत्यधिक गर्मी और सूखा पड़ने पर भी कुछ प्राणी सो जाते हैं। इस अवस्था को हम 'ग्रीष्म स्वप्न' कह सकते हैं। गर्मी में तालाबों के सूख जाने पर कछुए और मगरमच्छ कहां जाते हैं? वे प्राकृतिक अनुभूति के वशीभूत तली की मिट्टी के अन्दर, जहां नमी अपेक्षाकृत अधिक होती है, घुस जाते हैं और उस समय तक घुसे रहते हैं जब तक तालाब पानी से फिर नहीं भर जाय।

इसी प्रकार सूखे तालाबों के पास की मिट्टी को खोदने पर उस में दबे हुए मेंढकों को देखा जा सकता है। प्रोटोरेरस जाति के जीव जैसे सूखा पड़ने लगता है, वैसे ही नीचे सतह की ओर जाने लगते हैं। सतह की मिट्टी में ये एक सुरंग बनाते हैं और उसमें जाकर कुंडलित मुद्रा में विश्राम करते हैं। जीवित रहने के लिये हवा बराबर सुरंग से आती-जाती रहती है।

महीनों तक प्रगाढ़ निद्रा लेने वाले ये जीव कुम्भकरण के 'आधुनिक रिश्तेदार' हैं। इनमें ठंड में सोने वाले जीवों की संख्या अधिक है इस लिये हम पहले उनकी ही चर्चा करेंगे।

खाद्य संरक्षण का अनोखा उपाय

प्रकृति के अपने नियम हैं। ऊपरी तौर पर अदृश्य परन्तु विलक्षण और अटूट। साथ ही कभी असफल न होने वाले। शीत निद्रा एक ऐसा ही नियम है। इससे प्राणी न केवल अपनी रक्षा कर लेते हैं वरन् इससे प्रकृति खाद्य संरक्षण भी करती है। प्राणी उन्हीं इलाकों और उन्हीं परिस्थितियों में इतनी लम्बी नींद लेते हैं जहां भोजन की बहुत कमी हो जाती है। ध्रुव प्रदेशों तथा अन्य ठंडे प्रदेशों में, ठंड के मौसम में पेड़ों के पत्ते झड़ जाते हैं, कीड़े-मकोड़े और पक्षी गर्म प्रदेशों को उड़ जाते हैं और जन्तुओं के लिये भोजन की अत्यधिक कमी हो जाती है। इसलिये वे 'सो' जाते है और लगभग उस समय तक सोये रहते हैं जब तक उन्हें फिर से पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलने लगता। इस संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि लम्बी नींद के आदी प्राणी को जब भी

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टेक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है । प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है ।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं ।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिये जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके ।

लेखों की शब्द संख्या 2000 से अधिक नहीं होनी चाहियें ।

लेख कागज की एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिये । हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी ।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं । चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहिये । फोटो ग्लौसी कागज पर होने चाहिये ।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति' भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, के पते पर आनी चाहिये ।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिए । इस में लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हाबी होनी चाहिए ।

'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है ।

मासिक पत्रिका 'विज्ञान प्रगति' का स्वामित्व संबंधी विवरण

प्रपत्र–4

(नियम 8 देखिए)

1. प्रकाशन का स्थान	नई दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि	मासिक
3. मुद्रक का नाम	कृष्णमुरारी अग्रवाल
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, सी. एस. आई. आर., पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12
4. प्रकाशक का नाम	कृष्णमुरारी अग्रवाल
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	भारतीय भाषा यूनिट, सी. एस. आई. आर., पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12
5. सम्पादक का नाम	श्यामसुन्दर शर्मा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	भारतीय भाषा यूनिट, सी. एस. आई. आर., पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12
6. व्यक्ति विशेष का नाम व पता जो पत्रिका का स्वामी और साझेदार और शेयर - होल्डर हो और जो कुल पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक का हिस्सेदार हो ।	वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी. एस. आई. आर.)

मैं, कृष्णमुरारी अग्रवाल, घोषित करता हूं कि उक्त विवरण मेरी जानकारी तथा विश्वास में पूर्णतया सत्य है ।

हस्ताक्षर

(कृष्णमुरारी अग्रवाल)

प्रकाशक

नींद के अनुकूल परिस्थितियां मिल जाती हैं, सो जाते हैं। इसी प्रकार ध्रुव प्रदेशों के प्राणी निचले अक्षांशों में रहने वाले प्राणियों की अपेक्षा जल्दी सोते और देर से जगते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि शीत निद्रा का संबंध अन्तःस्रावी ग्रंथियों से है परन्तु जन्तु के शरीर से इन ग्रथियां को निकाल देने पर भी उनकी शीत निद्रा की प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता।

पूर्वाभास

प्रकृति के विलक्षण नियम के अनुसार शीत निद्रा लेने वाले प्राणियों को सर्दी के आगमन का पूर्वाभास हो जाता है। वे लम्बी निद्रा की तैयारी में लग जाते हैं। यह तैयारी इसलिये आवश्यक होती है क्योंकि शीत निद्रा के दौरान जीव चलते-फिरते नहीं, यहां तक कि आंख भी नहीं खोलते वरन् एक प्रकार की बेहोशी में रहते हैं। तो फिर उनके भोजन का प्रश्न ही नहीं उठता और जब वे भोजन नहीं करते तो उनको शरीर संचालन के लिये आवश्यक ऊर्जा कहां से प्राप्त हो?

इसलिये ही शीत निद्रा प्रेमी जन्तु सोने से पहले पर्याप्त मात्रा में चर्बी इकट्ठी कर लेते हैं। शीत ऋतु के आगमन से पहले सफेद रीछ बहुत भयानक हो जाता है और जो भी शिकार उसे दिखायी दे जाता है, उसे छोड़ता नहीं। उस समय वह बहुत 'पेटू' हो जाता है। सांप, छिपकली, मेंढक आदि की भी यही हालत होती है। इस प्रकार ये अपने शरीर में भोजन भंडारित कर लेते हैं। इस भंडार से वे शीत निद्रा के दौरान ऊर्जा प्राप्त करते रहते हैं।

इस दौरान एक अन्य महत्वपूर्ण बात और होती है। जीवों की भूख बहुत कम हो जाती है और श्वसन तथा चयापचयी क्रियायें अत्यन्त मंद पड़ जाती हैं। हृदय के धड़कने की गति कम हो जाती है। शरीर का ताप घट जाता है, भूख लगनी लगभग बंद हो जाती है और श्वसन तथा चयापचयी क्रियायें अत्यन्त मंद पड़ जाती हैं। शीत निद्रा में लीन वुड चुके के शरीर का ताप 4°से 7° सें. हो जाता है और हृदय के धड़कने की गति केवल 4-5 धड़कन प्रति मिनट रह जाती है। सोये हुये कछुए की भूख 95 प्रतिशत कम हो जाती है। मेंढक, सालमेंडर और कछुओं के शरीर का ताप घटकर 0° सें. से भी कम हो जाता है। इन सब क्रियाओं से भंडारित भोजन के इस्तेमाल करने की गति बहुत कम हो जाती है।

जागना

शीतस्वापी जीवों में किसी भी समय जागने की योग्यता होती है। इनके जागने की क्रिया बड़ी जटिल होती है। जिसके फलस्वरूप कम-से-कम तीन घंटे में शरीर का ताप सामान्य हो पाता है।

जैसे ही जीव जगने का प्रयास करते हैं, हृदय की गति तीव्र हो जाती है व आक्सीजन का उपयोग अधिक हो जाता है। परिणामस्वरूप शरीर का तापमान बढ़ जाता है। शरीर का अगला भाग जल्दी गर्म होता है फिर पिछला भाग।

सूर्य, हरा पौधा और जीवन

(शेषांश पृष्ठ 88 का)

ऊर्जा का उपयोग करते हैं। यही हरा पौधा सहस्रों वर्ष पहले भूमि के अन्दर दबे रहने के कारण कड़ा पत्थर का कोयला बन गया था। सड़-गल कर व रिस-रिस कर जमा होता गया, पेड़ों का रस कालान्तर में चट्टानों में सुरक्षित मिट्टी का तेल व पैट्रोलियम में परिवर्तित हो गया, जिसका उपयोग आज मनुष्य अनेक कार्यों में करता है। यदि यह हरा पौधा न होता तो सूर्य की इस भीषण गर्मी का सदुपयोग भला किस प्रकार हो पाता? सूर्य-ऊष्मा का दो-तिहाई भाग पौधों द्वारा प्रकाश संश्लेषण व अन्य क्रियाओं में खर्च होता है। इस क्रिया द्वारा प्रत्येक वर्ष वायुमण्डल की 3,96,00,00,00,000 टन कार्बन-डाई-आक्साइड 27,00,00,00,000 टन शर्करा में परिवर्तित हो जाती है।

प्रकाश संश्लेषण में दो प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं। सर्वप्रथम कार्बन-डाई-आक्साइड गैस कार्बोहाइड्रेट में परिवर्तित हो जाती है फिर इसके साथ-साथ ही सूर्य की प्रकाश ऊर्जा रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है। अमेरिका के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एम. केलविन महोदय ने प्रकाश संश्लेषण पर कई वर्ष तक अनेक अभूतपूर्व अनुसंधान किये हैं। उनको इस कार्य के लिए सन् 1961 में नोबल पुरस्कार भी मिला था। उन्होंने तथा उनके सहयोगियों ने यह बताया था कि कार्बन-डाई-आक्साइड गैस कार्बोहाईड्रेट में परिवर्तित होने से पूर्व किन-किन पदार्थों में परिवर्तित होती है।

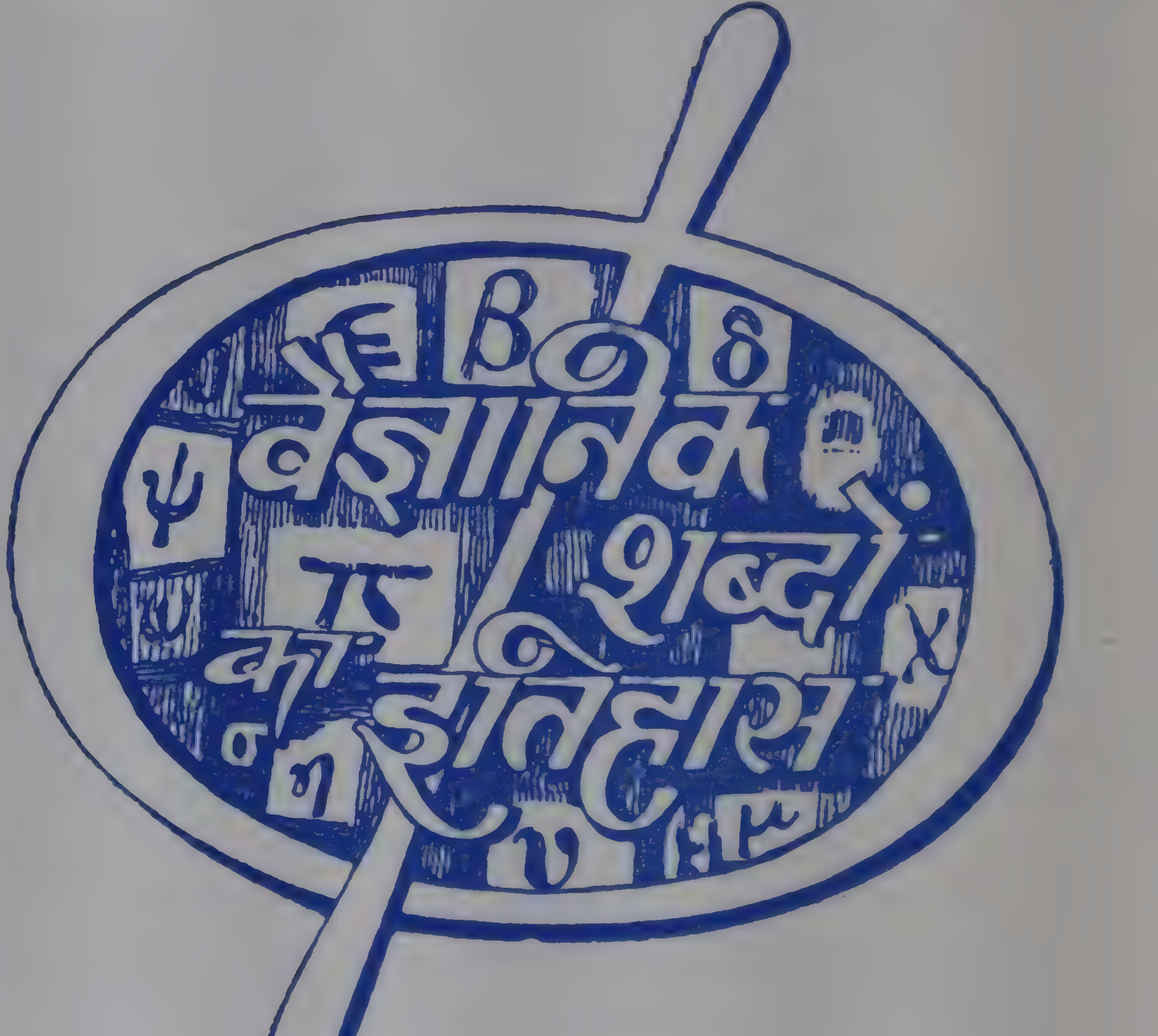
गत वर्ष 5 जनवरी, 1968 को वाराणसी में हुए भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 55वें अधिवेशन में प्रो. एन. आर. धर ने प्रकाश की सहायता से भोजन निर्माण करने की विधि पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि यदि वृक्षों की जड़ों में फास्फोरस पेंटाआक्साइड तथा कुछ पत्तियां डाल दी जायें तो लगभग 100 पौंड नाइट्रोजन स्थिरीभूत हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वह अपने आक्साइड में परिवर्तित होकर अंत में नाइट्रेटों के रूप में पौधों को भोजन प्रदान करती है। स्थिरी भवन की इस क्रिया के लिए ऊर्जा इन पदार्थों के आक्सीकरण से प्राप्त होती है। वास्तव में हम लोग बड़े असाधारण समय में रह रहे हैं। इस संसार की जनसंख्या 3.25 अरब के लगभग है तथा यह प्रतिवर्ष लगभग 2 प्रतिशत की तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। इस हिसाब से इस पृथ्वी पर प्रति वर्ष 600 लाख अतिरिक्त उपभोक्ता बढ़ते जा रहे हैं। भारत की जनसंख्या भी लगभग 52 करोड़ है। इस शताब्दी के अंत तक विश्व की आबादी लगभग दुगुनी हो जायेगी। इस सब के लिए सबसे बड़ी समस्या भोजन है। इसका हल सूर्य का प्रकाश और हरा पौधा ही कर सकते हैं। अधिक-से-अधिक मात्रा में हमको नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करना होगा ताकि हमको बहुत अधिक मात्रा में सुलभ भोजन प्रोटीन के रूप में प्राप्त हो सके।

इन्फ्रा रेड

प्रकाश द्रव्याणुओं की भांति भी व्यवहार करता है और तरंगों की भांति भी। काश की एक किरण विशेष की तरंगे हर रंगण में एक निश्चित दूरी तय करती हैं। ह दूरी उस प्रकाश की तरंग-लम्बाई कहलाती है। प्रकाश की तरंग लम्बाई नापने की काई 'एंग्स्ट्राम' है। एक एंग्स्ट्राम 10^{-8} से.मी. थवा एक से. मी. के दस करोड़वें अंश के राबर होता है। प्रकाश की तरंग लम्बाई ी इकाई का यह नाम वर्णक्रममापन में ग्रणी स्वीडिश भौतिकीविद् एन्डर्स योनास एंग्स्ट्राम के सम्मान में रखा गया।

वह प्रकाश, जिसकी तरंग लम्बाई 7000 एंग्स्ट्राम हो, हमें लाल दिखाई देता है, 6500 एंग्स्ट्राम तरंग लम्बाई वाला प्रकाश नारंगी, 5900 एंग्स्ट्राम वाला पीला, 5400 एंग्स्ट्राम वाला हरा, 4800 एंग्स्ट्राम वाला नीला और 4200 एंग्स्ट्राम तरंग लम्बाई वाला प्रकाश बैंगनी दिखाई देता है। इस प्रकार 7200 से 4000 एंग्स्ट्राम के बीच सभी दृश्य रंग वर्णक्रम में आ जाते हैं।

लेकिन दृश्य प्रकाश ही तो विकिरण का एक मात्र रूप नहीं है। वर्णक्रम में बैंगनी सिरे से भी आगे के क्षेत्र में जहां कुछ भी नहीं दिखाई देता, फोटोग्राफिक प्लेट प्रभावित हो जाती है। इसका अर्थ है वहां भी कुछ विकिरण उपस्थित हैं। इसे कभी 'काला' प्रकाश (ब्लैक लाइट) कहा जाता है, लेकिन इसका वैज्ञानिक नाम अल्ट्रावायलेट लाइट है। 'अल्ट्रा' लैटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ दूर अथवा परे होता है। अल्ट्रा-वायलेट (पराबैंगनी) प्रकाश की तरंग लम्बाई 100 एंग्स्ट्राम से लेकर 4000 एंग्स्ट्राम तक होती है। एक्स-किरणों तथा गामा किरणों की तरंग लम्बाई और भी कम होती है। वर्णक्रम के दूसरे किनारे पर भी (लाल रंग के प्रकाश से आगे) अदृश्य प्रकाश हो सकता है। खगोलविद् विलियम हरशेल को सन 1800 में यह पता लगा कि वर्णक्रम के लाल से परे भी एक तापमापी रख दिया जाए तो उसमें पारा चढ़ जाता है और वहां ताप की वृद्धि दर्शाता है। इसका अर्थ है कि वहां भी विकिरण उपस्थित होते हैं। ये विकिरण इस ऊष्मन प्रभाव के कारण कभी-कभी ऊष्मा-किरणें (हीट रेज़) कहलाते हैं। लेकिन इनका वैज्ञानिक नाम इन्फ्रा रेड लाइट है। 'इन्फ्रा' लैटिन शब्द है जिसका अर्थ 'नीचे' होता है। हिन्दी में इन्फ्रा रेड के लिए अवरक्त शब्द है। इन्फ्रा रेड प्रकाश की तरंग लम्बाई 7200 एंग्स्ट्राम से 30,00,000 एंग्स्ट्राम तक होती है। इससे अधिक तरंग लम्बाई रेडियो-तरंगों की होती है।



हीलियम

लगभग 100 वर्ष पूर्व भारत में पूर्ण सूर्य ग्रहण दिखाई दिया। इससे लगभग नौ वर्ष पूर्व ही पदार्थों के अध्ययन के लिए वर्णक्रमीय विश्लेषण तकनीक विकसित हुई थी। अतः यह प्रथम अवसर था जबकि सूर्य के वातावरण का नई तकनीक द्वारा अध्ययन किया जा सकता था। इस नई तकनीक के अन्तर्गत श्वेत तप्त वस्तु से निकलने वाले प्रकाश विकिरणों को एक त्रिपार्श्व से गुजारा जाता था और इस प्रकार प्रकाश विकिरण विभिन्न रंगों की 'रेखाओं' में विभक्त हो जाते हैं।

फ्रांसीसी खगोलविद् पियरे जे. सी. जेनसन ने ग्रहण की अवस्था में सूर्य के वातावरण से प्राप्त प्रकाश को एक त्रिपार्श्व में से गुजारा तो देखा कि पृथ्वी पर प्राप्त पदार्थों के वर्णक्रमीय विश्लेषण से प्राप्त होने वाली रंगीन रेखाओं के बीच एक पीली रेखा ऐसी थी जो उसने पहले किसी भी पदार्थ के वर्णक्रम में नहीं देखी थी। अतः उसने यह निष्कर्ष निकाला कि निश्चय ही यह रेखा किसी ऐसे तत्व का अस्तित्व बतलाती है जो सूर्य में तो है परन्तु पृथ्वी पर नहीं पाया जाता। इसी आधार पर उसने उस तत्व का नाम हीलियम रखा। ग्रीक भाषा में सूर्य को ही 'हीलिअस' कहते हैं।

इसके बाद कई दशाब्दों तक हीलियम के संबंध में कोई कार्य नहीं हुआ। सन् 1888 में अमेरिकी रसायनज्ञ विलियम एफ. हिलेब्रांड ने जब यूरेनियम के खनिज यूरेनिनाइट को

एक तेज अम्ल से उपचारित किया तो उससे गैस के बुलबुले निकले। उसने उस गैस का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि बुलबुले नाइट्रोजन गैस के थे। वस्तुतः उस गैस में नाइट्रोजन विद्यमान तो थी परन्तु वह समस्त गैस नाइट्रोजन न थी। हिलेब्रांड ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि गर्म किये जाने पर उस गैस से प्राप्त वर्णक्रम में कुछ ऐसी रेखाएं दिखीं जो कि नाइट्रोजन की नहीं थीं।

स्काटिश रसायनज्ञ सर विलियम रेमज़े ने जब हिलेब्रांड द्वारा किए गए उक्त प्रयोग के विषय में पढ़ा तो उसे हिलेब्रांड के निष्कर्ष कुछ सही नहीं जंचे। अतः 1895 में उसने अपने एक सहयोगी लाकयर के साथ हिलेब्रांड के प्रयोग को दोहराया। अन्तर केवल यह था कि रेमज़े ने यूरेनिनाइट के स्थान पर यूरेनियम का ही एक अन्य खनिज क्लीवाइट प्रयुक्त किया। प्रयोग से प्राप्त गैस के वर्णक्रम का अध्ययन उन्होंने किया तो वे दोनों तुरन्त ही जान गए कि वह गैस क्या है। इस प्रकार सूर्य में हीलियम की खोज के 27 वर्ष बाद पृथ्वी पर हीलियम पाई गई।

गैलियम

जब कोई वैज्ञानिक किसी नए तत्व की खोज कर लेता है तो वह अक्सर स्वदेश भक्ति के कारण उसका नाम अपने देश के नाम पर ही रखता है। इसके कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं। सन् 1944 में अमरीकी वैज्ञानिकों की एक टोली ने ग्लेन टी. सीबर्ग के निदेशन में एक नए तत्व (95) की खोज की तो उसका नाम उन्होंने 'अमेरिसियम' रख दिया।

इससे पूर्व 1939 में फ्रांसीसी रसायनज्ञ मारगेराइत पेरी ने स्वयं द्वारा खोजे गए तत्व (87) का नाम (1946 में) फ्रांसियम रखा। इससे पूर्व 1898 में पियरे और मेरी क्यूरी ने यूरेनियम खनिज से जब एक नया तत्व (84) प्राप्त किया तो उसका नाम पोलोनियम रखा गया, क्योंकि मेरी क्यूरी का जन्म पोलैंड में हुआ था। 1886 में एक जर्मन रसायनज्ञ क्लीमेन्स अलेक्जेंडर विंकलर द्वारा खोजे गये तत्व (32) का नाम जर्मेनियम रखा गया था।

सर्वाधिकरोचक इतिहास गैलियम तत्व के नामकरण का है। कुछ तत्वों के नाम विशिष्ट वैज्ञानिकों के सम्मान में भी रखे गये हैं। परन्तु यह एक परम्परा सी बन गई है कि किसी भी तत्व का नाम केवल स्वर्गवासी वैज्ञानिक के नाम पर ही रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए तत्व 99 और तत्व 100 के नाम क्रमशः आइन्सटीनियम और फेर्मियम रखे गए। इन तत्वों की खोज 1955 में हुई थी। आइन्सटीन और फेर्मी दोनों ही इससे पूर्व स्वर्गवासी हो चुके थे।

तत्व 31 की खोज 1875 में फ्रांसीसी रसायनज्ञ लेकाक द बायबोद्रान ने की थी और उसने उसका नाम गैलियम रख दिया। उसने उस तत्व का नाम गैलियम ही क्यों रखा? इस बात का साधारण-सा उत्तर यूं दिया जा सकता है कि 'गैलिया' उसकी मातृभूमि (फ्रांस) का लैटिन नाम है। इसीलिए उसने तत्व 31 का नाम गैलियम रखा। लेकिन वैज्ञानिकों ने शंका व्यक्त की है कि क्या लेकाक द बायबोद्रान ने वास्तव में गैलियम नाम स्वदेश भक्ति के कारण ही रखा था? कुछ व्यक्तियों का कहना है कि उसने यह नाम स्वयं अपने नाम पर रखा था। लेकाक का लैटिन समानार्थी शब्द 'गैलस' है और उसने गैलस से ही 'गैलियम' शब्द बनाया। इस प्रकार उसने न केवल एक जीवित व्यक्ति के बल्कि स्वयं अपने नाम पर तत्व 31 का नाम रखकर सफलतापूर्वक वैज्ञानिक परम्परा का उल्लंघन किया।

नियासिन

निकोटीन के अणु में परमाणुओं के दो वलय होते हैं। सन् 1867 में यह पाया गया कि इनमें से एक वलय को किसी तेज अम्ल द्वारा नष्ट किया जा सकता है और इस प्रकार जो यौगिक बना उसके गुण अम्लीय थे। इसलिए उसका नाम निकोटिनिक एसिड रख दिया गया। इन दोनों के नामों में साम्य अवश्य है परन्तु गुण एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत होते हैं। निकोटीन काफी जहरीला होता है जब कि निकोटिनिक एसिड जहरीला नहीं होता।

स्पेन, इटली तथा अमेरिका के दक्षिणी भागों में एक बीमारी (पैलाग्रा) काफी पाई जाती थी। इसके रोगी के आमाशय तथा आंतों की क्रियाएं बिगड़ जाती हैं, कुछ अंगों की त्वचा में थोड़ी सूजन आ जाती है तथा उसे कुछ मानसिक कठिनाइयां घेर लेती हैं। सन् 1915 में अमेरिका के स्वास्थ्य विभाग में काम करने वाले जे. गोल्डबर्जर नामक एक चिकित्सक ने कुछ कैदियों पर प्रयोग करके यह घोषणा की कि वह स्वस्थ व्यक्तियों के भोजन की खूराक को सीमित करके उन्हें पैलाग्रा का रोगी बना सकता है और उनके भोजन में दूध आदि पदार्थों को मिलाकर वह उस रोग से उन्हें मुक्ति दिला सकता है। पैलाग्रा, स्कर्वी के तरह विशेष विटामिन की कमी के कारण होने वाला एक रोग था, न कि कीटाणुजन्य रोग। इसलिए उस विटामिन को जो इस रोग की रोकथाम करता था 'पी. पी. फैक्टर' (पैलाग्रा प्रिवेंटिंग फैक्टर) कहा जाने लगा।

फिर, 1937 में अमरीकी जैव रसायनज्ञ सी. ए. एल्वेजेम ने यह दर्शाया कि निकोटिनेमाइड नामक यौगिक पैलाग्रा को रोक सकता है। कुछ मास उपरान्त उसने यह बताया कि निकोटिनिक एसिड भी यह काम कर सकता है क्योंकि शरीर में पहुंचकर वह निकोटिनेमाइड में बदल जाता है।

इससे चिकित्सकों के समक्ष एक समस्या उठ खड़ी हुई। निकोटिनिक अम्ल से जनसाधारण को निकोटीन का भ्रम हो सकता था और वह ऐसा सोच सकते थे कि इस विटामिन की क्षतिपूर्ति सिगरेट पीकर की जा सकती है। साथ ही कुछ व्यक्तियों के मन में यह बात भी आ सकती थी कि निकोटीन की तरह निकोटिनिक एसिड भी जहर ही होगा और वे उस खाद्य पदार्थ को नहीं इस्तेमाल करेंगे जिसमें निकोटिनिक एसिड विद्यमान होगा।

उक्त सब बातों को ध्यान में रखकर यह निश्चय किया गया कि Nicotinic के प्रथम दो अक्षर और Acid के प्रथम दो ही अक्षर लेकर उनमें in प्रत्यय लगा दिया जाय। इस प्रकार निकोटिनिक एसिड का नाम नियासिन (Niacin) हो गया। इसी आधार पर निकोटिनेमाइड नियासिनेमाइड कहलाने लगा।

हैजा : आयुर्वेद की दृष्टि में

रमेश चन्द्र गर्ग

आयुर्वेद के ग्रंथों में 'विसूची' नाम से जिस रोग का वर्णन किया गया है उसके लक्षण आधुनिक हैजे के लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। प्राचीन आचार्यों ने विसूची रोग को अजीर्ण की ही बढ़ी हुई अवस्था माना है।

अजीर्णमाम विष्टब्धं विदग्ध च यदीरितम् ।
विसूच्यलसको तस्मोद्वेच्चपि विलम्बिका ।।

(सु. उ. अ. 56)

अर्थात् आम, विष्टब्ध तथा विदग्धाजीर्ण से विसूची, अलसक, तथा विलम्बिका की उत्पत्ति होती है। 'कार्तिक कुण्ड' का कहना है कि आम, विदग्ध और विष्टब्धाजीर्ण से विसूचिका, अलसक और विलम्बिका इन में से कोई भी हो सकता है।

विसूचिका का कारण

आयुर्वेदाचार्यों ने विसूचिका का कारण अजीर्ण माना है। उन के अनुसार जिस रोग में अजीर्ण से प्रकुपित हुआ वायु अंगों में सुई जैसी चुभन पैदा करता हुआ स्थिर होता है उसको विसूची कहते हैं। उनके अनुसार जो व्यक्ति भोजन का लोभी तथा असंयमी होता है वही इस रोग से पीड़ित होता है।

रोग के लक्षण : इस रोग में मूर्छा, अतिसार (दस्त लगना), वमन (कै) प्यास, शूल, ऐंठन, जम्हाई, जलन, विवर्णता, कंपकंपी, हृदय में वेदना तथा सिर में दर्द आदि पाये जाते हैं। इस बीमारी में कै तथा दस्त दोनों ही लक्षण एक साथ होना जरूरी है क्योंकि **सुश्रुत संहिता** ने 'अधोगा' (विरेचनमात्र युक्त) को आमातिसार और ऊर्ध्वगा को छर्दि रोग माना है। परन्तु चरक संहिता ने ऊर्ध्वमार्ग से तथा उभयमार्ग से भी आम प्रवृत्ति होने पर भी विसूची माना है।

वास्तव में हैजा तथा विसूचिका दोनों के वर्णित लक्षणों में भी बहुत समानता है। प्राचीन आचार्यों ने विसूचिका को अजीर्ण की बढ़ी हुई अवस्था माना है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन समय में इस बीमारी का इतना भयंकर रूप नहीं था जैसा कि आजकल महामारी रूप में देखने को मिलता है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने 'विसूची' रोग के महामारी रूप का वर्णन नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि महामारी के रूप में हैजा पिछले तीन-चार सौ वर्षों से फैलना आरम्भ हुआ है। अब यह तीव्र संक्रामक रोगों की श्रेणी में आ गया है। इस का कारण 'कॉमा विब्रियो' नामक जीवाणु है। इस जीवाणु से संक्रमित भोज्य पदार्थ अथवा पानी के सेवन से यह शरीर में पहुंच जाता है। यद्यपि यह रोग जीवाणुजन्य और संक्रामक है फिर भी अजीर्णावस्था इसकी उत्पत्ति में बहुत सहायक होती है। इसलिए अजीर्ण को इस रोग का एक कारण कहना अनुचित न होगा।

अनेक बार यह देखा गया है कि मेलों या सम्मेलनों में यह रोग शुरू होता है और मेलों से लौटने वाले व्यक्ति गांवों तथा शहरों में जब पहुंचते हैं तो वे वहां इस रोग को फैलाने में सहायक होते हैं।

आचार्यों के अनुसार 'विसूची' रोग प्राणों के लिये भयंकर नहीं होता। आधुनिक चिकित्सकों ने अन्य लक्षणों के अलावा मूत्राघात (पेशाब का आना बिल्कुल बंद हो जाना) को भी इस रोग का एक लक्षण माना है परन्तु प्राचीन आचार्यों ने मूत्राघात को 'उपद्रव' माना है।

आयुर्वेद के अनुसार विसूचिका में निम्न लक्षण पाये जाते हैं।

अतिसार (दस्त लगना) : इन दस्तों में पानी की मात्रा अधिक रहती है और रंग चावल के धोवन के समान होता है।

वमन (कै): दस्तों के कुछ समय बाद रोगी को कै आने लगती है। इस का रंग भी चावल के धोवन के समान होता है। दस्त और कै लगातार होने से शरीर का अधिकांश 'जलीय भाग' शरीर से बाहर निकल जाता है जिसके कारण रोगी में और दूसरे लक्षण दीखने लगते हैं।

अन्य लक्षण : नाड़ी तेज तथा कमजोर हो जाती है और नाड़ी में कमजोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। रुधिर-दाब (ब्लड प्रैशर) कम हो जाता है। शरीर के अंगों में वेदना (पीड़ा) तथा ऐंठन होती है। शरीर शिथिल पड़ जाता है। चेहरे की हड्डियां उभरी हुई नजर आती हैं तथा रोगी के गाल बैठ जाते हैं। आंखें भी अन्दर को धंस जाती हैं। शरीर पर पसीना आता है परन्तु ताप नहीं बढ़ता। चेहरा नीला पड़ जाता है। पेशाब आना बिल्कुल बंद हो जाता है और प्यास अधिक लगती है। यह ही उसके मुख्य लक्षण हैं।

ये सभी लक्षण रोगी के रक्त में पानी तथा लवण (नमक) की कमी के कारण उत्पन्न होते हैं। आजकल शरीर में पानी की कमी (डीहाइड्रेशन) हैजे का एक मुख्य प्रभाव माना जाता है। बिल्कुल यही विचार आचार्य सुश्रुत ने दिए और उन्होंने इस अवस्था का नामकरण भी 'विसूचिका शोष' किया है।

विसूचिका और हैजे में साम्यता

हैजे नाम से प्रसिद्ध आधुनिक रोग और प्राचीन विसूचिका के वर्णन में अन्तर केवल इतना ही है कि विसूची रोग में पेशाब बन्द हो जाने को आचार्य लक्षण न मानकर 'उपद्रव' मानते थे जबकि आधुनिक चिकित्सकमूत्राघात (पेशाब बन्द हो जाने) को हैजे का एक मुख्य लक्षण मानते हैं, उपद्रव नहीं।

'कालरा सिक्का': आयुर्वेद में वर्णित 'अलसक' तथा 'विलम्बिका' जैसी अवस्था एक विशेष प्रकार के हैजे में आजकल भी मिलती है। इसको 'कालरा सिक्का' कहते हैं। कभी-कभी विष की अत्यन्त तीव्रता के कारण दस्त एवं कै हुए बिना ही हृदपात (हार्ट फेलियर) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

'आम' शब्द की निरुक्ति: आयुर्वेदाचार्यों के अनुसार अपरिपक्व (अच्छी प्रकार नहीं पचा हुआ) अन्न रस ही 'आम' है। यह शरीर में जिस स्थान पर स्थिर हो जाता है वही वेदना (पीड़ा) उत्पन्न करता है। उस अवस्था में शरीर जिस दोष से युक्त होता है (त्रिदोषानुसार विकारों की उत्पत्ति) उस दोष के लक्षण भी इसके साथ होते हैं। वाताधिक्य होने पर वेदना, पित्ताधिक्य होने पर जलन और सुई जैसी चुभन आदि तथा कफाधिक्य होने पर भारीपन आदि लक्षण होते हैं।

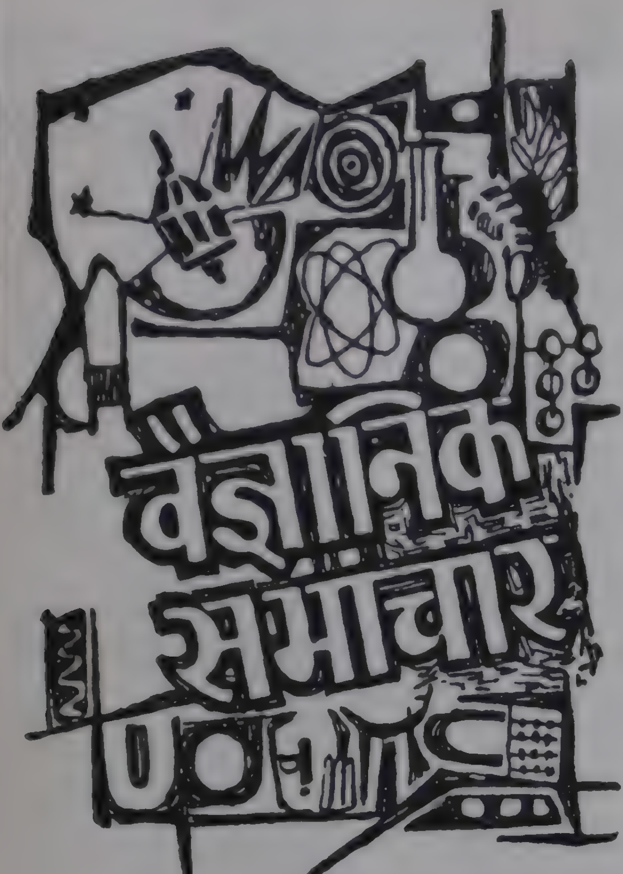
रोगी की साध्य-असाध्यता: आयुर्वेद में वर्णित है कि 'विसूची' से पीड़ित जिस रोगी के दांत, होंठ तथा नाखून नीले पड़ जावें, जिसे बेहोशी हो जाये, जिसे वमन (कै) बराबर हो रहे हों तथा जिसकी आंखें धंस गई हों, स्वर क्षीण हो गया हो तथा जिसके सब जोड़ शिथिल पड़ गये हों, ऐसे रोगी को मरणासन्न समझना चाहिये।

चिकित्सा

प्राचीन आचार्यों ने विसूचिका की रोकथाम तथा उसके उत्पन्न हो जाने पर उस के शमनार्थ नीबू के रस, इमली के मन्थ आदि का प्रयोग करने का सुझाव दिया है।

आजकल रक्त में जल और लवण की कमी होने के कारण, उन की शरीर में पूर्ति के लिए, शिरा द्वारा लवणजल (सलाइन वाटर) प्रविष्ट कराया जाता है। ऐसा करने से अधिकतर रोगी के प्राण बच जाते हैं।

अजीर्ण का मूल अग्निमांद्य है। अग्निमांद्य होने से भोजन पूरी तरह हजम नहीं हो पाता। मतलब यह कि भोजन की अपरिपक्वावस्था का ही दूसरा नाम अजीर्ण है। विसूचिका भी अजीर्ण से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार आंतों की अधिकतर बीमारियों का मूल अजीर्ण ही है। साधारण तौर पर अजीर्ण को 'अपच' कह सकते हैं। अजीर्ण स्वयं कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है परन्तु यह अनेक रोगों का प्रमुख कारण है। चरक, सुश्रुत एवं बागभट्ट कृत आयुर्वेद ग्रंथों में अजीर्ण का वर्णन पृथक रोग के रूप में नहीं किया गया है।



जल-शोधन हेतु नए अवक्षेपक पदार्थ

बस्तियों के लिये शुद्ध जल उपलब्ध करना जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से काफी आवश्यक है इसीलिए इस पर काफी धन भी व्यय करना पड़ता है। पानी की शुद्धता बढ़ाने के लिये फिटकरी के साथ-साथ कई प्राकृतिक अथवा संश्लिष्ट पदार्थों का उपयोग किया जाता है। इन पदार्थों को अवक्षेपक पदार्थ (कोआग्यूलैंट एड्स) कहा जाता है, क्योंकि पानी के उपचार के समय यह अशुद्धियों का अवक्षेपन कर देते हैं जिन्हें फिर बिलगा लिया जाता है। नागपुर स्थित केन्द्रीय जन-स्वास्थ्य इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान ने हाल में देश में ही उपलब्ध कच्चे माल से कुछ नए प्रकार के अवक्षेपक पदार्थ विकसित किये हैं। इनका कूट नाम सी.-ए. 3, सी.-ए. 4, सी.-ए. 5, सी.-ए. 6 और सी.-ए. 7 रखा गया है। विशेष बात यह है कि इनके निर्माण में जिस-जिस कच्चे माल का भी इस्तेमाल होता है वह विषैला नहीं है।

प्रायोगिक संयंत्रों में किये गए परीक्षणों में यह पाया गया है कि प्रति लिटर 5-10 मिली ग्राम नए अवक्षेपक पदार्थ के उपयोग से फिटकरी की खपत में 40-52 प्रतिशत की बचत होती है। न केवल यह बल्कि इन अवक्षेपकों की दक्षता विदेशों से आयात किये गए ऐसे पदार्थों से किसी प्रकार कम नहीं है।

इनमें से एक अवक्षेपक पदार्थ से अनेक क्षेत्र-परीक्षण भी किये गए जिनमें इसकी दक्षता भली भांति सिद्ध हो गई है क्योंकि पचास लाख गैलन प्रतिदिन की क्षमता वाले नगरपालिका के एक जल संयंत्र में इस के उपयोग से फिटकरी की खपत में औसत रूप से 55 प्र. श. की बचत हुई। इस दर से एक लाख की आबादी वाले नगर के लोगों को प्रति व्यक्ति, प्रतिदिन 30 गैलन सप्लाई करने वाले जल-शोधन-संयंत्र के खर्च में प्रति वर्ष 36 हजार रुपये की बचत की जा सकती है। इन नए अवक्षेपकों की कार्यक्षमता में इनके पुराने पड़ जाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

एक बात अवश्य है कि गंदलापन कम करने में अकेले इनके इस्तेमाल करने से वैसे अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं होते जितने कि इनके साथ फिटकरी के उपयोग करने से प्राप्त होते हैं।

संस्थान के निदेशक, प्रो. एस. जे. आरसीवाला ने यह आशा प्रकट की है कि इन नए पदार्थों के उपयोग के कारण नगरपालिकाएं अधिक स्वच्छ जल सप्लाई कर सकेंगी और साथ ही फिटकरी की खपत में कमी करके विदेशी मुद्रा की भी बचत होगी, क्योंकि फिटकरी के निर्माण में विदेश से आयात किया गया गंधक इस्तेमाल होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्योगों से प्राप्त व्यर्थ पदार्थों के रासायनिक उपचार में भी—जिसमें कि ठोस द्रव को बिलगाने की जरूरत पड़ती है—ये अवक्षेपक कारगर सिद्ध हो सकेंगे।

कृष्णन स्मृति भाषण : 1969

गत 10 जनवरी, 1969 को राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में प्रयोगशाला के भूतपूर्व निदेशक, स्वर्गीय कार्यमणिक्कम श्रीनिवास कृष्णन की पुण्य स्मृति में एक भाषण का आयोजन किया गया। भाषणकर्त्री थीं यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन की प्रोफेसर डेम कैथलीन लांसडेन और विषय था 'मणिभ रचनात्मक अनुसंधान की कुछ वर्तमान समस्याएं।'

प्रो. कैथलीन ने मणिभ विज्ञान के क्षेत्र में काफी कार्य किया है। स्व. डा. कृष्णन 'ठोस अवस्था में पदार्थों के गुण व रचना' में बहुत रुचि लेते थे। इसी कारण प्रो. कैथलीन ने भाषण के लिए उक्त विषय को चुना।

मणिभ (क्रिस्टल) को हम अक्सर हीरा, सीमेंट, अभ्रक, लवण अथवा शर्करा जैसा ठोस पदार्थ समझते हैं जो कि कठोर तथा अपरिवर्तनीय है, जब तक कि उसे क्षत न किया जाए अथवा पिघलाया या घोला न जाए। परन्तु अनेक ठोस ऐसे हैं जिनको उचित उपचार द्वारा पूर्णतया परिवर्तित किया जा सकता है और इनमें से कुछ परिवर्तन उद्योग, विज्ञान अथवा चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण हैं। उच्च



दाब व उच्च ताप उपचार द्वारा ग्रेफाइट से हीरे का संश्लेषण किया जा सकता है। एक्स-किरणों द्वारा किरणीयन, पराबैंगनी प्रकाश अथवा न्यूट्रानों द्वारा कुछ ठोस यौगिकों को अन्य यौगिकों में बदला जा सकता है। इनमें से कुछ परिवर्तन प्रतिवर्त्ती हैं और कुछ अप्रतिवर्त्ती। ऊष्मा अथवा यांत्रिक झटके से विस्फोट हो सकता है जो कि एक अति तीव्र रासायनिक परिवर्तन है। मणिभ-वैज्ञानिक परमाणुओं की गति के सापेक्ष तरीकों का तथा उस ज्यामितीय प्रक्रम का अध्ययन करता है जिससे ठोस पदार्थों में उक्त प्रकार के परिवर्तन होते हैं। उक्त परिवर्तनों के स्पष्टीकरण के लिए प्रो. कैथलीन ने कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए।



छोटे जंतुओं की आंखें मानव की आखों से अनुपात में बड़ी क्यों होती हैं ?

बाह्य संसार का प्रतिबिम्ब आंख के जिस भाग पर फोकस होता है उसे दृष्टिपटल (रेटिना) कहते हैं। दृष्टिपटल आंख के पिछले भाग में स्थित होता है और यह शलाकाओं और शंकुओं (रॉड्स एण्ड कोन्स) का एक सुन्दर जाल सा होता है। ये शलाकाएं और शंकु प्रकाश के प्रति संवेदनशील होते हैं और इन में से प्रत्येक का व्यास प्रकाश की तरंग-लम्बाई के लगभग बराबर होता है। मानव की आंख में इन शलाका और शंकु रूपी अवयवों की संख्या लगभग पांच लाख होती है। आंख किन्हीं दो बिम्बों (वस्तुओं) में तभी भेद कर सकती है जब कि उनका प्रतिबिम्ब दो भिन्न अवयवों पर पड़ता है। अतः शलाकाओं और शंकुओं की संख्या कम होने पर हम अपेक्षाकृत स्पष्ट नहीं देख पाएंगे। वैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि यदि इनका आकार और छोटा होगा तो ये दृश्य-प्रकाश के प्रति संवेदनशील नहीं रहेंगे। अतः यह स्पष्ट ही है कि छोटे जंतु भी तभी देख पाएंगे जबकि उन की आंखों के शलाका और शंकु मनुष्य की आंख के इन अवयवों से अधिक छोटे न हों। फिर आंख में इन की संख्या का संबंध आंख के आकार से होना स्पष्ट ही है। अतः छोटे जंतुओं में आंख तभी कुछ काम की हो सकती हैं जब कि जंतु के शरीर व उस की आंख का अनुपात, मानव शरीर व मानव की आंख के अनुपात से अधिक हो। परीक्षणों के दौरान यह पाया गया है कि अपेक्षतया बड़ी आंख होने पर भी चूहे तीन फुट की दूरी पर रखी हुई दो बेसबाल की गेंदों में भेद करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। दूसरी ओर, बड़े आकार वाले जंतुओं को अपेक्षाकृत छोटी आंखों की जरूरत होती है, जैसे कि हाथी की आंखें मानव की आंखों से कुछ ही बड़ी होती हैं।

क्या नदियों के अपने विशिष्ट रंग होते हैं ?

संसार में अनेक ऐसी नदियां भी हैं जिन के पानी का अपना विशिष्ट रंग है। कुछ 'श्वेत' नदियां हैं जैसे कि श्वेत नील नदी; कुछ का रंग लाल है जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका की नदियों का; चीन की पीली नदी मशहूर ही है। इसी प्रकार यूरोप की डैन्यूब 'नीली' नदी है। वास्तव में ऐसी अधिकांश नदियों के पानी में विशिष्ट रंग के पदार्थ निलम्बित रहते हैं जिन से उनका पानी उस रंग का दिखलाई देने लगता है। जिस क्षेत्र विशेष में से हो कर कोई नदी बहती है उसमें पाए जाने वाले पदार्थ ही उसमें निलम्बित हो जाते हैं और चूंकि ये नदियां अलग-अलग क्षेत्रों में से गुजरती हैं, इसलिए इनका रंग भी अलग-अलग होता है। कुछ नदियों का रंग उस मिट्टी में पाए जाने वाले रसायनों के कारण होता है जिनमें से होकर वे गुजरती हैं। ये रसायन पानी में घुल जाते हैं और बड़े चमत्कारी प्रभाव पैदा करते हैं। अल्जीरिया देश की कुछ रंगीन नदियां इस का उदाहरण हैं। वहां एक बड़ी नदी है जिसकी दो सहायक नदियां हैं। एक सहायक नदी के पानी में लोहा मौजूद है और दूसरी के पानी में गैलिक अम्ल। (गैलिक अम्ल उस पीट पंक से अर्थात् ऐसी पंकिल भूमि पर से गुजरने के दौरान प्राप्त होता है जिसमें सड़े-गले वनस्पति पदार्थ होते हैं।) जब इन दोनों सहायक नदियों का संगम होता है तो दोनों रचक मिलकर पानी को स्याही जैसा काला बना देते हैं। वास्तव में स्याही बनाने के लिये वैसे भी लोहे और गैलिक अम्ल का उपयोग किया जाता है।

रंगीन नदियों में भी सब से आकर्षक संभवतः स्पेन के दक्षिणी प्रदेश में बहने वाली 'रिओ टिंटो' नामक नदी है। 'रिओ टिंटो' का शब्दार्थ ही 'रंगीन नदी' है। इसका उद्गम बादशाह सालोमन के जमाने की मशहूर तार्राशश प्रदेश की खानों की निकटवर्ती ऊंची पहाड़ियों से होता है। इस छोटी सी सरिता का ही नहीं अपितु इस प्रदेश की अन्य सरिताओं का रंग भी मरकत अर्थात् पन्ने जैसा हरा होता है। इस का कारण यह है कि ये जिस प्रदेश में से हो कर बहती हैं वहां लोह पाइराइट की उपरोक्त खानें हैं। न केवल इतना बल्कि ये लोह पाइराइट गहराई में न हो कर बाहर निकले हुए हैं।

इस खनिज में फेरस सल्फेट होता है जबकि चटकीले हरे रंग का घोल बनाता है। फिर जब पर्वतीय घाटियों में से, जहां कि जंगली रूप में उगने वाले लैवेंडर पौधों की भरमार है, यह नदी आगे बढ़ती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस का रंग बदलकर जामनी-भूरा (पर्पिल-ब्राउन) हो गया है। आगे चलकर जब यह पानी रेतीले क्षेत्र में से गुजरता है और जब रेतीली मेंडों के बीच 'जमा-सा' हो जाता है तो लगता है उसका रंग लाल हो गया है। बाद में जब यह नदी समुद्र के निकट पहुंचती है तो इसका पानी बिल्कुल खून की तरह लाल हो जाता है। इस का कारण भी एक रासायनिक परिवर्तन है जिसमें फेरस सल्फेट विलेय, जो कि हरा होता है, फेरिक आक्साइड में बदल जाता है जिसका रंग लाल होता है। अतः हम देखते हैं कि अपने प्रवाह के दौरान रिओ टिंटो चटकीले हरे रंग से ले कर गहरे लाल रंग तक सभी छटाएं दिखलाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोगों ने इसका नामकरण 'रंगीन नदी' बहुत सही किया है।

'मोव दशाब्द (मोव डीकेड)' किसे कहा जाता है ?

विलियम पर्किन नामक स्कूल में पढ़ने वाले एक सत्रह वर्षीय अंग्रेज लड़के को सन् 1856 में एक बार क्विनीन (जिसे बोल-चाल में कुनैन कहते हैं) बनाने के लिये कहा गया। जब वह यह रासायनिक प्रयोग कर रहा था तो उस ने देखा कि एक ऐसा रंगीन पदार्थ बन गया है जिसके बनने की कोई संभावना ही नहीं थी। अपने अध्यापक की सहायता से अधिक खोजबीन करने पर उसे यह पता चला कि यह रंगीन पदार्थ एनिलीन में पाए जाने वाले अपद्रव्यों के कारण बन गया था। पर्किन ने अपना प्रयोग एनिलीन नामक रसायन को लेकर ही प्रारंभ किया था। पर्किन सोचने लगा कि क्या इस रंगीन पदार्थ को रंग के तौर पर काम में लाया जा सकता है ? यदि किया जा सकता है तब तो कारगर संश्लिष्ट रंजक बनाने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति होने का श्रेय वह प्राप्त कर सकता है। बाद में उसने यह सिद्ध कर दिया कि उसके द्वारा तैयार किया गया वह नया यौगिक जिसे 'मोव' (Mauve) कहा जाने लगा था, बहुत ही बढ़िया रंजक था। न केवल इतना बल्कि ऐसे अन्य रंजक पदार्थ भी इस प्रकार संश्लेषण करके बनाए जा सकते हैं। पर्किन की खोज ने सस्ते संश्लिष्ट रंग बनाने के रहस्यमय तरीके का द्वार खोल दिया और विविध प्रकार के नयनाभिराम रंग जन-साधारण को पहली बार उपलब्ध होने लगे। उसकी इस खोज का उसके युग के जीवन पर इतना भरपूर प्रभाव पड़ा कि आगामी वर्षों का नामकरण कुछ लेखकों ने 'मोव दशाब्द' (डीकेड) कर दिया।

पर्किन की खोज को प्रभावित करने वाला पदार्थ–एनिलीन–बेंजीन से बनाया जाता है और बेंजीन स्वयं कोलटार से प्राप्त होता है। अतः इस प्रकार से बनाए गए रंजक 'कोलटार रंजक (डाईज)' कहे जाते हैं। आधुनिक रसायन उद्योग के लिये यद्यपि कोलटार अत्यधिक उपयोगी पदार्थ है तो भी कोई जमाना था जब कि दैनंदिन उपयोग के लिये गैस बनाने वालों के लिये यह हमेशा सिरदर्द बना रहता था। गैस बनाने के लिये कोयले को गर्म किया जाता है जिस के फलस्वरूप चार उत्पाद प्राप्त होते हैं। ये हैं कोल-गैस, कोक, अमोनिया और कोलटार। लेकिन पुराने गैस बनाने वालों को कोलटार का कोई भी उपयोग सुझाई नहीं देता था। उन दिनों सड़कें पक्की करने के लिये भी इस का इस्तेमाल नहीं होता था; कोलटार रंजकों का नामोनिशान तक नहीं था और कोलटार के अन्य संजातों (डेरिवेटिव्ज) की अभी खोज ही नहीं हुई थी। अतः कोलटार को निकटवर्ती नदी-नालों में बहा दिया जाता था। इससे एक तो नदी-नालों की मछलियां मर जाया करती थीं और दूसरे अपनी विशेष प्रकार की गंध के कारण गैस बनाने वाले कारखाने बदनाम थे। सौभाग्य से रसायन शास्त्र ने इस असुखद समस्या को सुलझा दिया। आज कोल-टार से दो लाख से भी ऊपर यौगिक तैयार किये जाते हैं। इन में से कई हजार नियमित तौर पर रंजकों, औषधियों, विस्फोटकों, प्लास्टिक्स और अन्य रसायनों के रूप में तैयार किये जाते हैं।

क्या महाद्वीप अपनी स्थिति बदलते जा रहे हैं ?

बात सन् 1910 की है। आल्फ्रेड वगनर नामक एक जर्मन वैज्ञानिक विभिन्न देशों के नक्शों का अध्ययन कर रहा था कि एकाएक उसके मस्तिष्क में एक विचित्र बात कौंधी। अफ्रीका और दक्षिण-अमेरिका की तट-रेखा के नक्शों को देख कर उसे लगा कि हो न हो किसी जमाने में ये दोनों महाद्वीप एक थे जोकि बाद में टूटकर अलग हो गए हैं। "जो कोई भी दक्षिण अटलांटिक महासागर के दोनों ओर की तट-रेखाओं का अध्ययन करेगा, ब्राजील और अफ्रीका की तट-रेखाओं के आकार की समानता देख कर अवश्य कुछ चकित होगा। ब्राजील की ओर से बाहर को निकली हुई तट-रेखा, अफ्रीका की ओर की अंदर को धंसी हुई तट-रेखा के अनुरूप और उसी आकार की है", उसने लिखा। ये ऐसी हैं मानों किसी चित्रखंड (जिग-सॉ) पहेली के दो भाग हों जो एक-दूसरे से अलग हो गए हों। ये तट-रेखायें एक-दूसरे की संपूरक हैं और जोड़ने पर एक संपूर्ण इकाई बन जाती हैं।

इसके अतिरिक्त, प्रो. वगनर को ज्ञात हुआ कि उन्हीं दिनों प्रकृति-विद् दक्षिण-अमेरिका और अफ्रीका में पाए जाने वाले जंतुओं और वनस्पतियों की समानता पर भी विचार-विमर्श कर रहे हैं। वगनर को लगा कि इस से उसके विचारों की पुष्टि हुई है और तब उसने 'महाद्वीपों के विस्थापन का सिद्धांत' प्रतिपादित किया। संक्षेप में यह सिद्धांत यह है कि पृथ्वी के वर्तमान धरती पिंड किसी जमाने में एक ही अविच्छिन्न, संयुक्त महाद्वीप थे। और जिस प्रकार अब धरती पर नदियां, झीलें और धरती से घिरे हुए समुद्र मौजूद हैं, उसी प्रकार तब भी थे जब कि धरती एक ही पिंड थी। परन्तु बाद में किसी अज्ञात कारण से, यह महान धरती–पिंड टूटने लगा। दक्षिण-अमेरिका, अफ्रीका से अलग हो कर बह कर पश्चिम की ओर चला गया। इसी प्रकार उत्तर अमेरिका, पश्चिमी यूरोप से विच्छिन्न हो गया। कई वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उत्तर और दक्षिण अमेरिका, यूरोप और अफ्रीका से एक-एक इंच कर के दूर हटते जा रहे हैं। उनका कहना है कि जितने

भी महाद्वीपीय धरती-पिंड इस समय हैं, वे इसी विस्थापन प्रक्रिया के फलस्वरूप बने हैं ।

लेकिन महाद्वीपों के विस्थापन सिद्धांत की अभी तक पुष्टि नहीं हो पाई है जिसका एक मुख्य कारण यह है कि रेडियो और राडार-तरंग पर आधारित प्रचलित मापक यंत्र इतने उन्नत नहीं हैं कि इस विस्थापन का शुद्ध मापन कर पाएं । अतः अब वैज्ञानिकों ने इसका सही मापन करने के लिये लैसर प्रकाश पुंज का उपयोग करना प्रारंभ किया है । दूसरी बात यह है कि लैसर-प्रकाश-पुंज का उपयोग धरती पर से नहीं अपितु भू-उपग्रहों से किया जाना है । ये प्रयोग अमेरिकन 'एक्सप्लोरर' किस्म के भू-उपग्रहों और फ्रेंच डी-वन-डी व डी-वन-ई भू-उपग्रहों से किये जा रहे हैं ।

उड़ते हुए विमानों के कारण टेलीविजन के चित्र क्यों 'फड़फड़ाने' लगते हैं ?

रेडियो-तरंगें आम तौर पर प्रसारण-केन्द्र से टेलीविज़न संग्राही (रिसीवर) तक सीधी रेखा में यात्रा करती हैं । किंतु टेलीविजन प्रसारण में इस्तेमाल की जाने वाली तरंग-लंबाइयों की प्रकृति ऐसी है कि वे हवाई जहाज़ों जैसी धातु की बनी वस्तुओं से परावर्तित हो जाती हैं । जब कोई हवाई जहाज उड़ रहा होता है तो टेलीविजन प्रसारण केन्द्र से निकलने वाली रेडियो ऊर्जा परावर्तित होकर टी. वी. संग्राही के ऐंटेना में प्रवेश करती है । इस प्रकार उस संग्राही में दो प्रकार के संकेत (सिगनल) प्रवेश करते हैं ; एक वह वांछित संकेत जोकि सीधा प्रसारण-केन्द्र से आता है और दूसरा आपाती संकेत (इंसिडेन्टल सिगनल) जोकि हवाई जहाज से टकराकर आता है । किंतु यह भी कोई विशेष परेशानी की बात न होती, यदि इसमें समय की समस्या न होती । रेडियो-तरंगें बहुत ही तीव्र गति से, वस्तुतः प्रकाश की गति से, चलती हैं । इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें प्रसारण केन्द्र से टी. वी. संग्राही तक पहुंचने में बहुत कम सही लेकिन एक निश्चित समय तो लगता ही है । अतः यह स्पष्ट है कि जो संकेत सीधे रास्ते से आयेगा वह वहां पहले पहुंचेगा और आपाती संकेत जो कि हवाई जहाज से परावर्तित होकर लम्बा रास्ता पकड़कर आता है, वह सेकंड के अंश भर ही क्यों न सही बाद में पहुंचेगा । ये दोनों संकेत या तो एक दूसरे को प्रबल बना सकते हैं या फिर एक-दूसरे को निरस्त कर सकते हैं—यह बात उन दोनों के टी. वी. संग्राही में पहुंचने के अंतराल पर निर्भर करती है । परंतु हवाई जहाज गति में है और निरंतर अपनी स्थिति बदल रहा है । इसका अभिप्राय यह है कि परावर्तित तरंग के पथ की दूरी क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रसारण केन्द्र से हवाई जहाज और वहां से टी. वी. संग्राही के बीच का फासला हवाई जहाज की स्थिति के अनुसार सतत बदलता रहता है । इसका परिणाम यह होता है कि सीधे आने वाले संकेत और परावर्तित संकेत के पहुंचने के समयों का अन्तराल सतत बदलता रहता है । समय का यह अन्तराल जब लाभकर होता है तो दोनों संकेत संयुक्त होकर चित्र को गहरा कर देते हैं ; जब समय का अन्तराल अलाभकर होता है तो एक संकेत दूसरे को घटा देता है और परिणामस्वरूप बननेवाला चित्र फीका होता है । चूंकि ये संकेत लगातार परस्पर एक बार समर्थन और दूसरी बार निरसन करते रहते हैं, इसलिये अंततः जो चित्र बनते हैं वे 'फड़फड़ाते' दिखलाई देते हैं ।

पृथ्वी के सबसे अधिक गर्म और ठंडे स्थल कौन से हैं ?

संसार में सब से अधिक तापमान 13 सितम्बर, 1922 को उत्तरी अफ्रीका में ट्रिपोली के निकट अज़ाज़िया में रिकार्ड किया गया था। (अज़ाज़िया उत्तरी अक्षांश के 25 वें समान्तर के निकट स्थित है।) उस दिन वहां का अधिकतम तापमान 136.4° फा. तक पहुंच गया था। । उधर पश्चिमी गोलार्ध में सब से अधिक तापमान, जुलाई 1913 में कैलिफोर्निया की डैथ वैली (शब्दार्थ 'मौत की घाटी') में अंकित हुआ जो कि 134° फा. था । डैथ वैली 36° उत्तरी अक्षांश पर अर्थात् भूमध्य रेखा से उत्तर ध्रुव के रास्ते पर एक तिहाई से कुछ ही अधिक दूरी पर स्थित है । किन्तु यह समुद्र की सतह से 264 फुट नीचे स्थित है और सभी ओर पहाड़ों से घिरी हुई है । गर्मियों में यह बहुत ही गर्म हो जाया करती है ।

संभवतः दक्षिणी ध्रुव प्रदेश के पर्वत-शिखरों को छोड़ कर, पृथ्वी का सर्वाधिक ठंडा स्थान वर्खोयांस्क है जो कि पूर्वी साइबेरिया में उत्तरी ध्रुव-वृत्त (आर्कटिक सर्किल) से जरा ही बाहर स्थित है। फरवरी 1892 में इस स्थल पर न्यूनतम तापमान – 94° फा. पाया गया। अभी कुछ साल पहले तक न्यूनतम ध्रुवीय तापमान–76° फा. रिकार्ड किया गया है। जनवरी के महीने में वर्खोयांस्क में औसत तापमान – 56°फा. हुआ करता है और इसी मास में अधिकतम तापमान बढ़ कर 13° फा. हो जाता है। जब पहले-पहल लोग इस स्थान पर जाकर आबाद हुए हो तो यह देख कर हैरान रह गये कि उन के घरों की दीवारें एकाएक गिर पड़ा करती हैं। इस का कारण यह था कि उन की अंगीठियों की गर्मी से घरों के फर्श के नीचे की सतत जमी रहने वाली बर्फ पिघलने लगती थी। आजकल वहां घरों के फर्श को जमीन से काफी ऊंचा रखा जाता है और इस प्रकार 'जमी हुई धरती' का घरों की गर्मी से विसंवाहन (इन्सूलेशन) कर दिया जाता है।

यह भी बहुत संभव है कि दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश के पर्वत शिखर अधिक ऊंचे होने के कारण वर्खोयांस्क से भी अधिक ठंडे हो जाते हों। समग्रतया दक्षिणी ध्रुव प्रदेश, उत्तरी ध्रुव प्रदेश की अपेक्षा 20° फा. अधिक ठंडा है। इस का कारण भी आसानी से समझ में आ सकता है। उत्तरी ध्रुव तो समुद्र से आच्छादित है जब कि दक्षिणी ध्रुव महाप्रदेश दक्षिणी ध्रुव के स्थल पर समुद्र की सतह से हजारों फुट ऊंची बर्फ से आच्छादित सतह के रूप में उभरा हुआ है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश में तो जहां तक भी खुला पानी पाया जाता है वहां-वहां तक पक्षी, स्तनपायी जंतु व समुद्री प्राणी पाए जाते हैं । उधर दक्षिणी ध्रुव महाप्रदेश के अन्दरूनी भाग में जीव बहुत कम हैं। पर कठोर शैवाकों (लाइकेन्ज) को छोड़ बाकी जीवधारियों का भी दक्षिणी-ध्रुव प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में ही अस्तित्व बना रह सकता है। यहां पेंग्विन, सील और व्हेल बहुतायत से पाए जाते हैं।

साहित्य परिचय

संसार के अनोखे पुल

लेखक: वेद मित्र ; प्रकाशक: नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली; प्रथम संस्करण; मूल्य: चार रुपये ।

सदा से ही मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील रहा है । फलत: आज उसने अनेक असम्भव कार्यों को सहज में ही सम्भव कर दिखलाया है । वह नित नये-नये निर्माण का सृजन कर रहा है । मानवोपयोगी कृतियों को प्रस्तुत करने में आज उस की सृजनात्मक कृतियां मूर्त हो उठी हैं । अपने इन्हीं प्रयत्नों के स्वरूप जो निर्माण मनुष्य कर सका, वे न केवल सौंदर्य तथा भव्यता के नमूनें हैं, बल्कि निर्माताओं की मानव सेवा की श्रेष्ठ यादगार भी हैं । अनथक प्रयत्न और कौशल के साथ अनोखे पुलों का निर्माण कर पुल-निर्माताओं ने यातायात समस्या को हल करने की चेष्ठा की है यद्यपि अनेक बार इन्हें अपनी ही बलि देनी पड़ी है ।

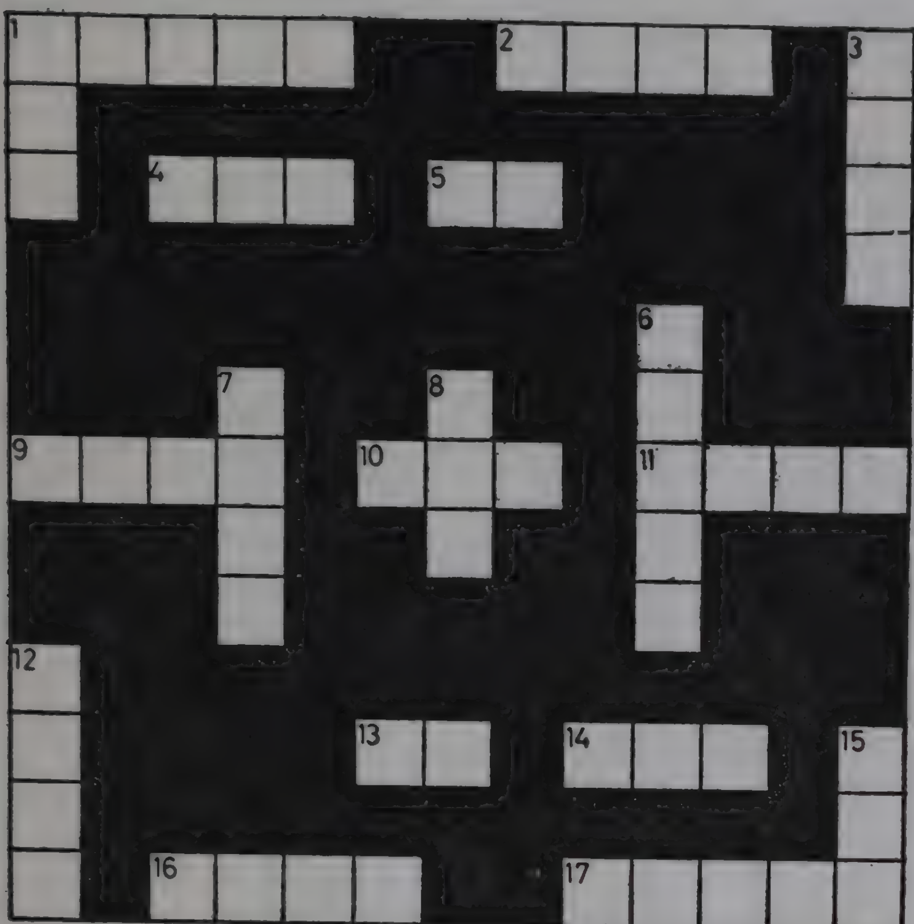
इस पुस्तक में लेखक ने सभ्यता के उदय से लेकर आज तक के पुल निर्माण के इतिहास को बड़े प्रभाव पूर्ण और लोकप्रिय शैली में बच्चों, किशोरों और प्रौढों के लिये प्रस्तुत किया है । इस पुस्तक में पाठकों को आदि युग के लट्ठा तथा रस्सा पुलों से लेकर आज के बड़े विशाल छज्जा पुलों तथा विलक्षण झूला पुलों तक का संक्षिप्त विवरण मिलता है । पुल निर्माण विज्ञान में पुल इंजीनियरों ने अपने ज्ञान का उपयोग किस प्रकार शिल्प संबंधी समस्याओं को सुलझाने तथा भव्य पुलों का निर्माण करने में किया है, इसकी एक झांकी मिलती है । इसमें लेखक ने न केवल विश्व के अनेक प्रमुख पुलों का वर्णन तथा उनके रेखा चित्र ही दिये हैं, बल्कि भारतीय पुलों का भी उल्लेख किया है, जिससे निश्चय ही यह पुस्तक आकर्षक और उपयोगी बन गयी है ।

जनकनन्दन प्रसाद सिन्हा

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 8

प्रस्तुतकर्ता : सुरेन्द एस. वर्मा



बायें से दायें

1. आयनिक सिद्धान्त का जन्मदाता ।
2. अठारहवीं शती का अमेरिकी लेखक - राजनीतिज्ञ - वैज्ञानिक; विज्ञान के क्षेत्र अपने आकाशीय विद्युत् संबंधी प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध ।
4. टेलीविजन का आविष्कारक ।
5. गालेन (130-200) के बाद सत्रहवीं शती के इस अंग्रेजी चिकित्सक ने ही सिद्ध किया था कि रक्त सारे शरीर में घूमता है ।
9. आक्सीजन गैस का अन्वेषक ।
10. हमारे सौर मंडल का एक ग्रह । यह ग्रह लाल रंग का है ।
11. प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये जाने वाले सुप्रसिद्ध बर्नर का आविष्कारक ।
13. टेलीग्राफ का आविष्कारक ।
14. रेडियो तरंगों की खोज करने वाला वैज्ञानिक ।
16. तीन आयाम की फोटोग्राफी ।
17. परमाणु का ऋण आवेश वाला कण ।

ऊपर से नीचे

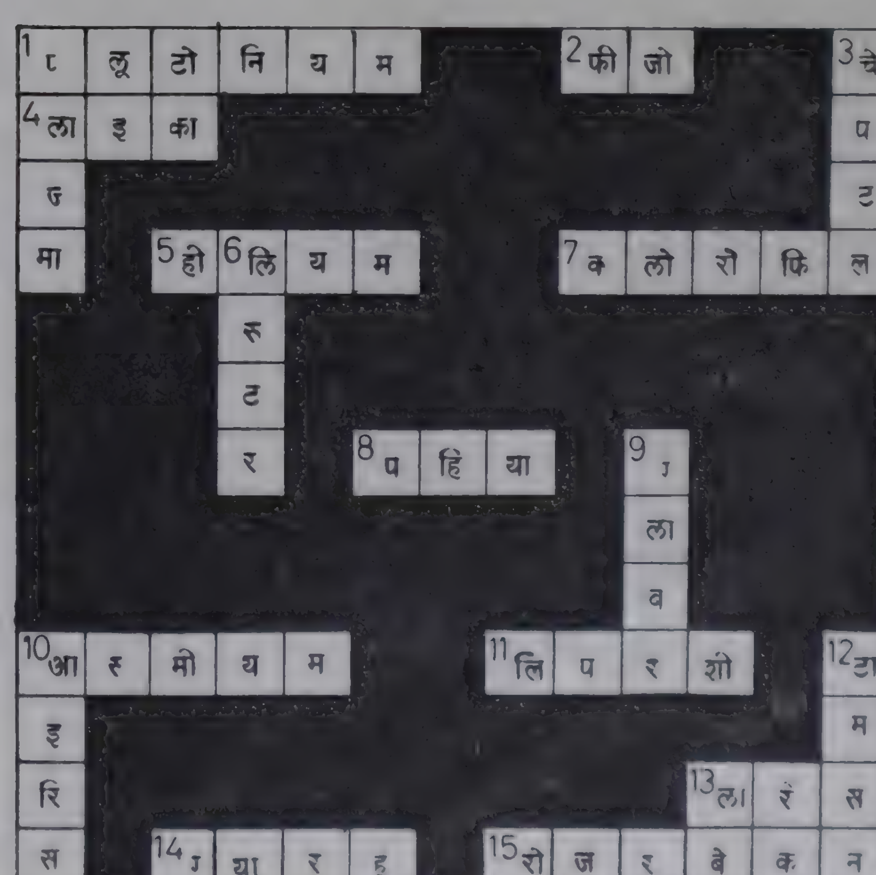
1. विद्युत आवेशित परमाणु ।
3. समान ताप व दाब पर गैसों के समान आयतन में अणुओं की संख्या बराबर होती है । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला वैज्ञानिक ।
6. पौधों तथा जन्तुओं की कोशिकाओं में पाए जाने वाले, जल में अविलेय तथा लवण घोल में विलेय प्रोटीन । इनमें, पौधों के बीजों के प्रोटीन तथा प्रतिपिण्ड मुख्य हैं ।
7. रीढ़धारी जीवों के अग्र मस्तिष्क का एक भाग तथा मस्तिष्क का प्रमुख संवेदन समन्वयकारी भाग ।
8. एस्कीमो द्वारा बनाए जाने वाले घर का अंग्रेजी नाम ।
12. इस वैज्ञानिक ने ही ऊष्मा-विज्ञान की नींव रखी थी ।
15. यह हीरे में भी है और कोयले में भी ।

निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा । अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी । आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायगा ।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 7 का हल





अंतरिक्ष में वैल्डिंग : अंतरिक्ष प्लैटफार्म बनाने के लिये अंतरिक्ष में ही वैल्डिंग करना आवश्यक होता है ।

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए यूनाइटेड इंडिया प्रैस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

वैशाख 1891 : अप्रेल 1969



भारतीय भाषा यूनिट, कौंसिल आफ़ साइण्टिफ़िक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च



चन्द्रयान—बाहरी दृश्य

(विशेष लेख पृष्ठ 124-125)



भारतीय भाषाओं की विज्ञान-पत्रिकाओं के सम्पादकों का सम्मेलन वज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद द्वारा गत 19 मार्च को नई दिल्ली में हुआ । ऊपर—सम्मेलन का अभिभाषण प्रस्तुत करते हुये परिषद के अध्यक्ष डा. वी. के. आर. वी. राव । नीचे—उपस्थित सदस्यगण



सोवियत संघ के वैज्ञानिक संभवतः शुक्रग्रह पर आक्सीजन पैदा करने वाले जीवाणु भेजने का प्रयास कर रहे हैं। अनुमान है कि तीन शताब्दियों में इस प्रकार शुक्रग्रह के आस-पास इतनी आक्सीजन एकत्रित हो सकती है कि उसके वायुमण्डल में मनुष्य रह सके।

पूना के भारतीय ऋतु विभाग ने दो महत्वपूर्ण ऋतु सम्बन्धी उपकरण तैयार किये हैं जिन्हें देश के चार अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों पर लगाया जायगा। इनमें से एक उपकरण वैमानिक ऋतु ज्ञान के लिये और दूसरा बाढ़ की भविष्यवाणी के लिये है।

स्वीडन के एक अस्पताल में हुये सर्वेक्षण से पता चलता है कि हृदय रोग में शल्य क्रिया प्राप्त रोगियों के लिये यदि विशेषतया अलग एकान्त कक्ष अस्पतालों में दिया जाये, तो मरने वालों का अनुपात 15 प्रतिशत भी नहीं रहता।

मास्को के प्रो. डा. ए. तुलीनोव ने 'छाया प्रभाव' नामक ऐसी खोज की है जिसके आधार पर पारमाण्विक प्रक्रियाओं का समय नापने की विधि का विकास करते हुये स्फटिकों के गठन का अध्ययन किया जा सकता है।

सूक्ष्म प्रकाशी उपकरणों की एक फैक्टरी ने अम्बाला में कार्य करना आरम्भ कर दिया है। यह फैक्टरी केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन, चंडीगढ़ के अधीन कार्य करेगी।

अमरीकी विमान कम्पनियों ने बोइंग-707 किस्म के 96 यात्रियोंवाले विमान में ऐसी व्यवस्था की है कि सीटों और रेकों को मोड़कर विमान को माल ढोने के लिये रूपान्तरित किया जा सकता है।

चेकोस्लोवाकिया के एक घड़ी निर्माता ने एक घड़ी इतनी छोटी बनायी है कि उसे अंगूठी में नग की जगह जड़ा जा सकता है।

रूस के कृषि विशेषज्ञों ने ऐसे खेत पर ककड़ियां उगा कर अधिक वृद्धि प्राप्त की है जिसमें पहले कद्दू लगा हुआ था और कद्दू की जड़ें मौजूद थीं।

नीदरलैण्ड्स में एक डूबे हुये जहाज को पुनः वापस ऊपर लाने के लिये पोलिथरीन के गोले जहाज में भर दिये गए जिससे उनके आयतन का पानी बाहर निकल गया और जहाज हल्का होकर ऊपर आ गया।

लन्दन इन्सटीट्यूट आफ आफ्थैल्मोलोजी के विशेषज्ञ अध्ययन कर रहे हैं कि वृद्धावस्था के साथ साथ आंखों की गतिविधि मन्द पड़ जाने के क्या कारण हैं और उन पर कैसे विजय पायी जा सकती है।

नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में कैथोड किरण ट्यूबों के विकास एवं निर्माण हेतु जो वर्कशाप स्थापित की गयी थी, उसने अपना कार्य आरम्भ कर दिया है।

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल

•

स॰ सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

•

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

•

चित्रकार
दलवीर वर्मा

•

विशेष सूचनाएं

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 वैशाख 1891 अप्रेल 1969 अंक 4 पूर्णांक 199

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

शतरंज का खेल भारत के एक प्राचीन सम्राट शिरहाम के मंत्री शिसा बेन दहिर ने आरम्भ किया था। शतरंज जब पेश की गयी, सम्राट बहुत प्रसन्न हुए। अनुसन्धाता को मुंहमांगा पुरस्कार दिये जाने की घोषणा हुयी।

बेन दहिर ने कहा—'महाराज, यह शतरंज जो आप देख रहे हैं, इसके पहले कोष्ठक में एक, दूसरे में दो, तीसरे में चार, चौथे में आठ, पांचवें में सोलह और इसी प्रकार चौसठवें कोष्ठक तक संख्या दुगुनी करते हुए...'

'इतनी स्वर्ण मुद्राएं तुम्हें चाहिए—मिल जायंगी।' सम्राट ने कहा।

'स्वर्ण मुद्राएं नहीं महाराज, गेंहूं के दाने।'

'गेंहूं के दाने' सुनकर राजदरबार में सभी चौंक पड़े और महाराज ने अट्टहास किया।

सामन्तों ने पूछा—'जब महाराज स्वर्ण मुद्राएं दे रहे हैं तो तुम गेंहूं के दाने क्यों मांग रहे हो।'

'ईश्वर महाराज को इतने गेंहूं के दाने दे सकने की सामर्थ्य दे।'

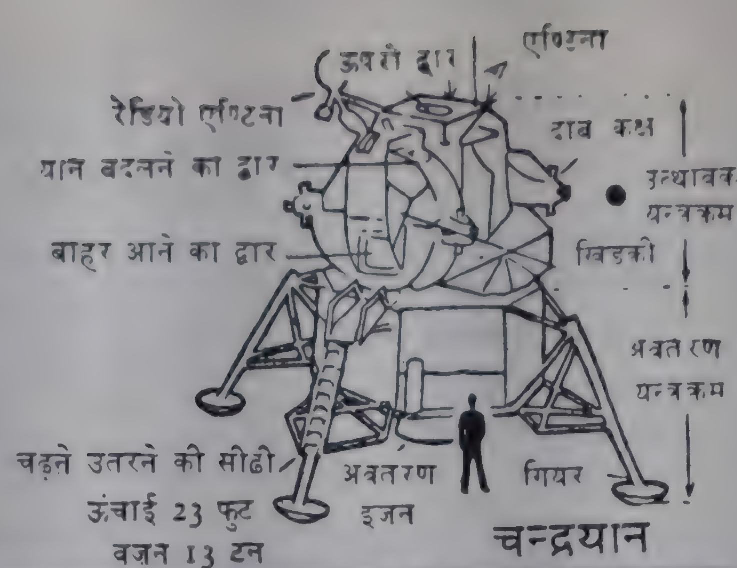
गेंहूं दिए जाने की राजाज्ञा हुई। दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस की संख्या बहुत छोटी मालूम हो रही थी। देखते ही देखते पूरा राजकोष खाली हो गया। गणना की गयी कि बेन दहिर को कुल मिलाकर केवल 18,446,744,073,709,551,615 गेंहूं के दाने चाहिये।

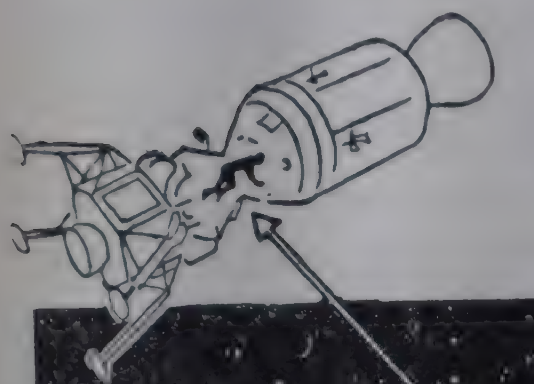
प्रथम कोष्ठक		=1
द्वितीय कोष्ठक	1×2	=2
तृतीय कोष्ठक	2×2	=4
चतुर्थ कोष्ठक	4×2	=8
———	–×–	=–
———	....	.....
———	....	.....
चौंसठवां कोष्ठक	–×2	—

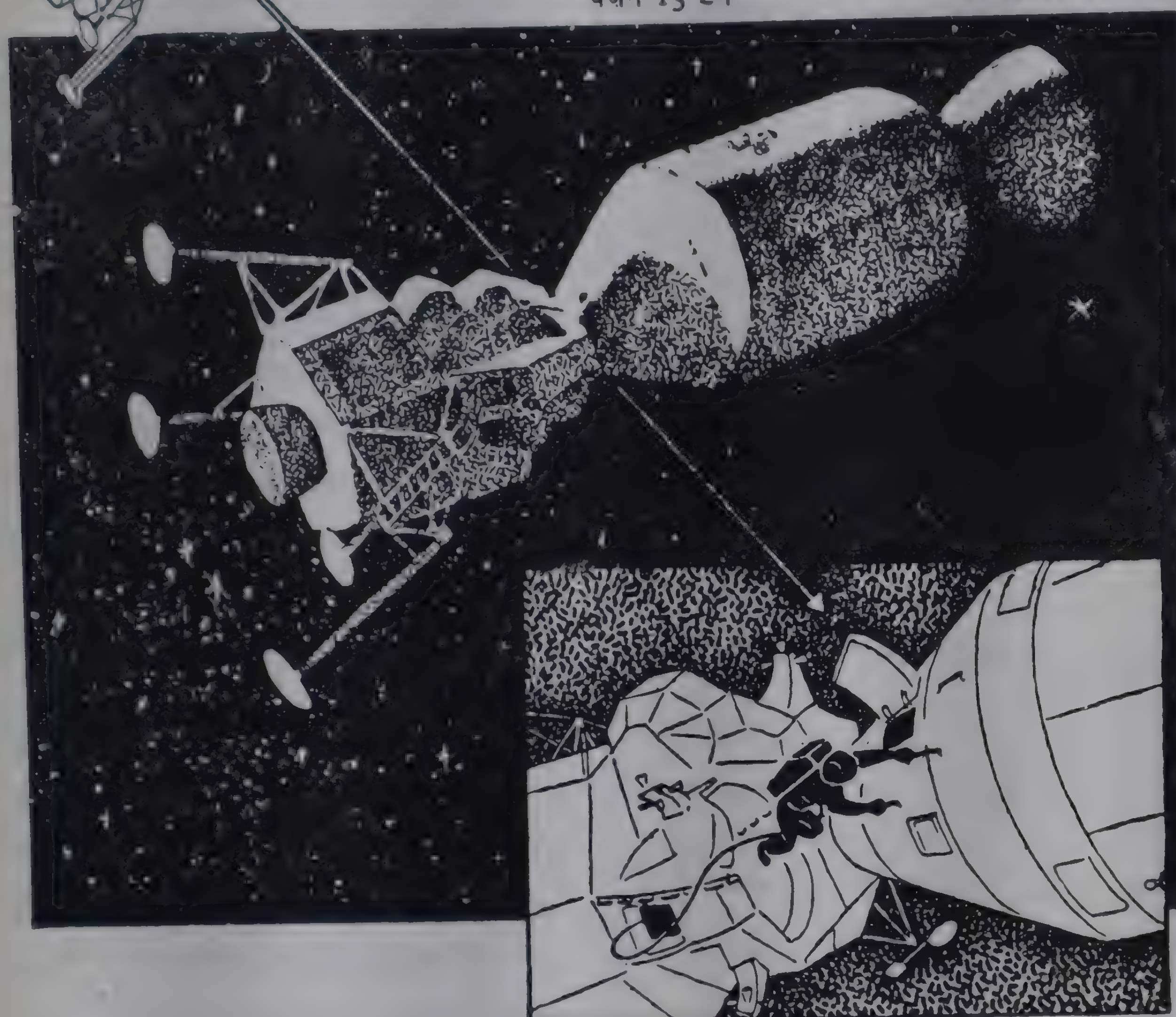
कुल योग—18,446,744,073,709,551,615

अनुमान लगाया गया कि इसके लिए उस युग की विश्व की गेंहूं की पैदावार के आधार पर समस्त विश्व को लगभग दो सहस्र वर्षों तक बेन दहिर के लिए खेती करनी पड़ेगी।

अपोलो 9
चन्द्रयान का परीक्षण







चन्द्रमा

अपोलो-9 उड़ान में जेम्स मैकडिविट, डेविड स्काट और रसेल श्वेकार्ट ने दस दिनों तक चन्द्रयात्रा का प्रथम पूर्वाभ्यास किया। परीक्षण के दौरान चन्द्रयान को मूलयान से अलग किया गया और पुनः जोड़ा गया।

दूसरी महत्वपूर्ण बात थी यात्रियों का एक यान से दूसरे यान में प्रवेश। चन्द्रयान के सभी उपांगों की परीक्षा से संतुष्ट हो चुकने पर उसे स्वतन्त्र रूप से उड़ाया गया और मूलयान से 110 मील दूर दो यात्री—मैकडिविट और श्वेकार्ट चन्द्रयान में बैठकर चले गए। श्वेकार्ट ने इसी दौरान चन्द्रयान से बाहर निकलकर दो घंटे तक अंतरिक्ष में विचरण किया। संकट की अवस्था में हो सकता है कि चन्द्रयात्री को दो यानों के भीतर से न होकर सीधे विचरण द्वारा यान बदलना पड़ जाय। अपनी उस पोशाक का भी परीक्षण यात्रियों ने किया जिसे वे चन्द्रमा पर उतरते समय पहने रहेंगे। श्वेकार्ट विचरण के दौरान इसी पोशाक को पहनकर, अपनी पीठ पर आक्सीजन-सम्पन्न जीवन रक्षक यन्त्रक्रम लिए हुए चन्द्रयान की सीढ़ियों पर बैठा था। उसके हाथों में एक मूवी कैमरा था। 'आह, यह भी क्या दृश्य है'—सितारों को देखकर उसने कहा।

चन्द्रयान के अवशेष अंतरिक्ष में ही छोड़ दिये गये और वे वहीं विचरण कर रहे होंगे। पृथ्वी पर वापस आया केवल अपोलो-9।

आइये, अब हम प्रतीक्षा करें आगामी 17 मई से आरम्भ होने-वाली अपोलो-10 उड़ान की जिसमें चन्द्रयान पर सवार यात्री चन्द्रतल से केवल 16 किलोमीटर दूर रह जायेंगे।

चन्द्रमा के चारों ओर मनुष्य परिक्रमा कर चुका है। अपोलो-8 की उड़ान के बाद चन्द्रमा हमसे केवल 70 मील दूर रह गया था। अपोलो-9 की दस दिवसीय यात्रा गत मास सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई जिसका प्रमुख उद्देश्य चन्द्रयान का परीक्षण करना था। इसी चन्द्रयान का उपयोग अंतरिक्षयान से मनुष्य को चन्द्रमा तक ले जाने और वहां से वापस लाने में किया जायेगा।

सौर परिवार में चन्द्रमा पृथ्वी का निकटतम मित्र है और उसके यहां हमें ले जानेवाले चन्द्रयान की वही भूमिका होगी जो रेलवे स्टेशन तक ट्रेन द्वारा पहुंच जाने के बाद नगर के विशिष्ट स्थान तक ले जाते समय एक टैक्सी या स्कूटर की होती है। चन्द्रयान की भीतरी रचना ऐसी है कि उसमें यात्रा करनेवाले दोनों मनुष्यों को अपने स्थानों पर लगातार खड़े रहना होगा—केवल हाथ टेकने के लिए गुंजाइश है। बाहर से पंखहीन मकोड़े जैसे इस यान के मुख्यतः दो हिस्से हैं—नीचे का अवतरण इंजन और ऊपर का उत्थावक इंजन।

केवल एक कदम और

चन्द्रमा की सतह से ऊपर उठने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले किसी भी यंत्रक्रम का अंतरिक्ष में यह प्रथम परीक्षण था।

गत 13 मार्च को समाप्त इस अपोलो उड़ान के पांचवें दिन अर्थात् 7 मार्च को चन्द्र कक्ष और मूलयानों को एक दूसरे से अलग करने और फिर उन्हें दुबारा जोड़ने का सफल परीक्षण हुआ। इस परीक्षण के साथ ही इस उड़ान का मुख्य लक्ष्य पूरा हो गया। इस परीक्षण में कुल छः घण्टे का समय लगा। चन्द्रमा पर उतरने से पहले यही अन्तिम परीक्षण उड़ान थी। इसके पश्चात् अपोलो-10 के अन्तरिक्ष यात्री जो उड़ान करेंगे, वह केवल एक पूर्वाभ्यास होगा।

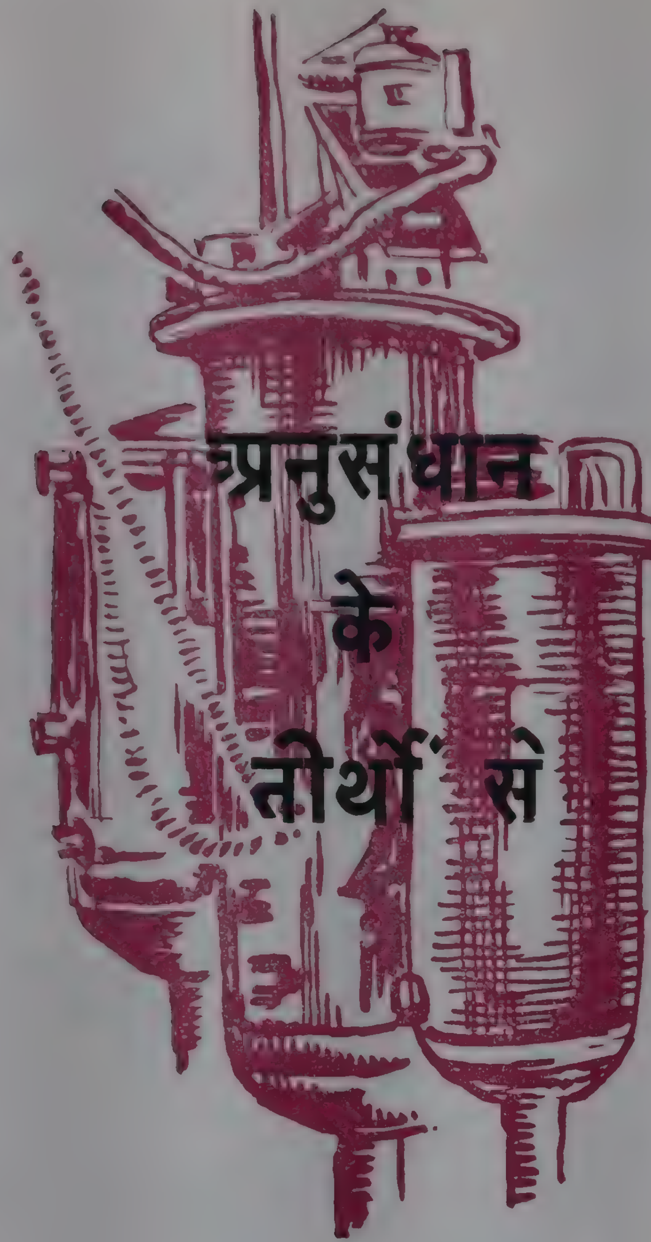
चन्द्र कक्ष के दोनों चालकों ने अपने यान को मूलयान से अलग करने का कार्य कई चरणों में किया। पहले वे उसे 16 किलोमीटर की दूरी पर ले गये, फिर 45 कि. मी. की दूरी पर और फिर चन्द्रमा पर उतरने के लिए काम में लाये जाने वाले इंजन को चला कर यान से 180 कि. मी. की दूरी पर ले गये। इतनी ही दूरी इस चन्द्रयान को वास्तविक चन्द्रयात्रा के समय तय करनी पड़ेगी। साथ ही यह सावधानी भी बरती गयी कि यदि इंजन अपना कार्य करना छोड़ दें तो दोनों यान परिक्रमा करते हुए अपने आप एक दूसरे के निकट पहुंच जाएं। जिस समय चन्द्र कक्ष से कुछ ऊंची कक्षा पर मूलयान चल रहा था, तब मूलयान का पीछा चन्द्र कक्ष द्वारा किया गया। चन्द्र कक्ष को ऊपर उठाने वाले शक्तिशाली इंजन ने उसे कमाण्ड-यान से कुछ ही नीचे पहुंचा दिया। दो घंटों में ये नकली चन्द्रयात्री मूलयान के निकट पहुंच गये और उन्होंने अपने छोटे-छोटे जेटों को चालू करके नीचे से उससे संगमन किया।

अमरीकी राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन के समानव अंतरिक्ष उड़ान सम्बन्धी प्रमुख अधिकारी डा. जार्ज म्युलर ने तो यहां तक कह दिया था कि अपोलो-9 को जो शानदार सफलता मिली है, उसे देखते हुए अब यह संभव है कि अपोलो-10 यान का कार्यक्रम रद्द कर दिया जाए और जून में सीधे अपोलो-11 को ही चन्द्र-यात्रा के लिए भेजा जाए। किन्तु बाद में 'नासा' ने यह निर्णय लिया है कि अपोलो-10 की उड़ान को पूर्ववत् क्रियान्वित किया जायेगा और उसके बाद ही अगला चरण उठाया जाएगा।

(वि. स. से.)



अनुसंधान के तीर्थों से



'कांच-धातु का' विद्युतीय उपयोग

कलकत्ता स्थित केन्द्रीय कांच एवं सिरामिक अनुसन्धान संस्थान ने कांच और धातु के विभिन्न मिश्रित रूप निकाले हैं जिनका उपयोग विद्युतीय व्यवस्थाओं में सुविधापूर्वक और अपेक्षाकृत कम खर्च के साथ किया जा सकता है। इस कार्य के लिए आम तौर पर सिरामिकों का उपयोग प्रचलित है। उक्त पदार्थ के निर्माण की प्रक्रिया जो संस्थान ने विकसित की है, बहुत ही सरल है और उसको आरम्भ करने के लिए बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। डिस्चार्ज ट्यूब ट्रांजिस्टर, रिले उपकरण, कम्प्रेसर आदि में यह बहुत ही काम का है। इससे बने तेलीय कैपेसिटर के निर्माण में लागत बिल्कुल आधी रह जाती है। प्रक्रिया से सम्बन्धित विस्तृत विवरण राष्ट्रीय अनुसन्धान विकास निगम, मंडी हाउस, लिटन रोड, नई दिल्ली-1 से प्राप्त किये जा सकते हैं।

फसल संक्रमण का बचाव-संश्लेषी हारमोन

अपने देश के काफी बड़े हिस्से में नींबू जाति की एक घास पायी जाती है जिसे कहते हैं 'लेमनग्रास'। इसी घास से केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान, मैसूर के दो विज्ञान कर्मियों, क्रमशः डा. जोसेफ टामस और प्रेमलता टामस ने एक संश्लेषी हारमोन बनाया है जिसका उपयोग फसलों के संक्रमण को रोकने में बहुत ही सफल सिद्ध हुआ है। यह हारमोन फसलों पर कोई दुष्प्रभाव नहीं डालता और साथ ही अत्यन्त कुशल कीटनाशक है। इसके सम्पर्क में आते ही कीटों की जननशीलता भंग हो जाती है। सीधे अनाज में ही इस हारमोन पदार्थ को मिला देने से अनाज दीर्घावधि तक सुरक्षित बना रहता है। मसालों और दालों के लिए तो यह बहुत ही उपयुक्त है। इसकी विशेषता यह है कि यदि कीट कम मात्रा में भी इस्तेमाल करने से बच जाते हैं तो उनकी अगली 'सन्तानें' जनन शक्ति विहीन होती हैं।

कार्बनिक पदार्थों का आर्द्रतामापी

कार्बनिक पदार्थों में नमी का अंश मापन के लिये चंडीगढ़ स्थित केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन ने एक फर्म के लिये आर्द्रतामापी यन्त्र तैयार किया है। इस यन्त्र को सरलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है और विशेषतः खाद्यान्नों में नमी का अंश मापने की दृष्टि से यह बहुत ही उपयुक्त रहेगा। अनाज की बिक्री और खरीद के समय उसकी पहचान के लिए और साथ ही अनाज को संरक्षित ढंग से संग्रहीत करते समय इसका उपयोग लाभकारी रहेगा। साथ ही चावल मिलों के लिए यह बेहद उपयोगी रहेगा क्योंकि अनुकूलतम आर्द्रता में चावल के दाने टूटने से बच जाते हैं। इस उपकरण का निर्माण आरम्भ हो गया है।

बढ़िया नमक का उत्पादन

नमक उत्पादन में सबसे बड़ी समस्या आती है नमक की गंदगियों को दूर करना और जहां तक संभव हो शुद्धतम नमक प्राप्त करना। भावनगर के केन्द्रीय नमक एवं समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान ने इसके लिए भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अनुकूल विधियां विकसित की हैं।

इस उन्नत तकनीकी जानकारी का लाभ अधिक से अधिक वर्ग को प्राप्त हो, इस दृष्टि से अब उक्त संस्थान ने प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी बनाया है। इसी मास के मध्य से जामनगर में दो सप्ताह के पाठ्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं जिनमें इस ओर ध्यान दिया जाएगा कि इससे कम समय में प्रशिक्षणार्थियों को शुद्धतम नमक के उत्पादन की

अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त हो सके। इस कार्यक्रम में भाषणों के साथ-साथ प्रयोगात्मक प्रशिक्षण भी है।

भूमि-झुकाव मापी

भूकम्प क्षेत्रों की भूमि में भूकम्प के कारण जो फेरबदल होते हैं, उनके फलस्वरूप समतल भूमि में पर्याप्त झुकाव आते हुए देखे जाते हैं। इनका ज्ञान होना आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना पूर्व प्रायोजित कार्यों में बाधा पड़ सकती है। इसके लिए हम टिल्टमीटर अर्थात् भूमि-झुकाव मापी यन्त्रों का उपयोग करते हैं। इन यन्त्रों को अभी हम विदेशों से आयात कर रहे हैं। केवल देश में उपलब्ध सामग्री से भूकम्प इंजीनियरी अनुसंधान एवं प्रशिक्षण विद्यालय, रुड़की ने भूमि-झुकाव मापी यन्त्र विकसित किया है जो बैटरी से चलता है। इसमें जल के इस गुण को काम में लाया गया है कि उसका तल सदैव क्षैतिजिक रहता है। उसके तल और भूमि के तह में जो अन्तर होता है, वही भूमि का झुकाव होता है। देहरादून की यमुना जलविद्युत परियोजना तथा कोयना क्षेत्र परियोजना में इसका उपयोग किया जाएगा।

कुसुंभ के बीजों के विविध प्रयोग

हैदराबाद की क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला में अनुसंधान का एक पंचवर्षीय कार्यक्रम चालू है जिसमें कुसुंभ के बीजों से प्राप्त होने वाले तेल की विविध उपयोग संभावनाओं पर दृष्टिपात किया जा रहा है। कुसुंभ भारत में काफी मात्रा में पैदा होता है। इसके फूल संतरे जैसे लाल रंग के होते हैं और उसके बीजों में तेल का बहुत अंश होता है। इस तेल को वार्निश और पेण्ट तैयार करने के काम में लाया जा सकता है। साथ ही, सलाद और खाना पकाने में काफी इसका उपयोग संभव है। उक्त प्रयोगशाला में इस तेल पर विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जा रहा है। आशा की गई है कि इसके फलस्वरूप कुसुंभ के तेल से प्राप्य कई नवीन उत्पादों का ज्ञान होगा जिनका व्यापारिक महत्व हो सकता है।

छतों की मरम्मत का नया पदार्थ

रुड़की के केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान ने छतों की मरम्मत के लिए कांच से एक नए किस्म का ऐसा पदार्थ तैयार किया है जो भवन निर्माण सामग्री के साथ बड़ी आसानी से चिपक और सट जाता है और साथ ही इससे की हुई मरम्मत अधिक टिकाऊ भी रहती है। प्रत्येक मौसम में इसे इस्तेमाल में लाया जा सकता है। इस पदार्थ से संस्थान ने कुछ चौकोर पट्टे भी तैयार किए हैं जिनको छतों की निचली सतह पर लगाया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार के पदार्थ भवन निर्माण की दृष्टि से बहुत नए नहीं हैं, फिर भी खूबसूरती और टिकाऊपन दोनों दृष्टियों से यह दूसरी उपलब्ध सामग्री की अपेक्षा अधिक अच्छा है।

इसके साथ ही इस संस्थान ने इधर रिहायशी भवनों की व्यवस्थित निर्माण पद्धतियों के विकास की ओर भी प्रयास आरम्भ किए हैं।

नया तरल ऊर्जा यंत्र

भुवनेश्वर की क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रयोगशाला ने एक नये तरल ऊर्जा यन्त्र अर्थात् फ्लुइड इनर्जी मिल का डिजाइन विकसित किया है जिसे पेटेण्ट किया जा चुका है। इसका उपयोग अनेक रसायन, दवाइयों तथा खाद्य एवं खनिजों के निर्माण में होता है। अभी तक देश में इन यन्त्रों का उत्पादन नहीं होता और इन्हें विदेशी मुद्रा खर्च करके आयात द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। प्रयोगशाला द्वारा तैयार डिजाइन बहुत ही सरल और किसी भी दशा में कम से कम 2000 रु० में तैयार हो सकता है। इससे सम्बन्धित अन्य विस्तृत विवरण राष्ट्रीय अनुसन्धान विकास निगम से प्राप्त किए जा सकते हैं।

गोश्त की चटनी

बकरी-भेड़ के गोश्त की चटनियों का चलन मांसाहारी भोजन में बढ़ता जा रहा है। ऐसी किस्म की चटनी की मांग बहुत बढ़ गयी है जिसे शीशियों में बन्द करके रखा जा सके और काफी दिनों तक वह उपयोग योग्य भी बनी रहे। मैसूर के केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान ने जो चटनी इसके लिए तैयार की है वह पोषक भी है और स्वादिष्ट भी। इसमें उत्तम किस्म के मसाले और खुशबूदार खाद्य सामग्री उपयोग में लायी गयी हैं। गोश्त की इस चटनी को इत्मीनान के साथ एक सप्ताह तक ज्यों का त्यों रखे रह सकते हैं। यह चटनियां पहले से ही छौंकी हुई होती हैं और इस्तेमाल के समय इन्हें केवल थोड़ा सा गर्म करने की जरूरत पड़ती है। इच्छानुसार मात्रा में चिकनाई इनमें मिलायी जा सकती है।

ईंधन-वायु मिश्रण संशोधक

पहाड़ी और तराई के क्षेत्रों में थोड़ी सी दूरियों पर ही स्थान की ऊंचाई में अन्तर आ जाता है। अतः चिनगारी पैदा करके अग्नि प्रज्वलित करने वाले साधारण इंजनों में कार्यक्षमता निराशापूर्ण हो जाती है क्योंकि वायुमण्डलीय दबाव और मिश्रण के अनुपात में परिवर्तन आते रहते हैं। ऐसे इंजनों को अधिक ऊंचाई पर भी यथावत क्रियान्वित करने के लिए देहरादून स्थित भारतीय



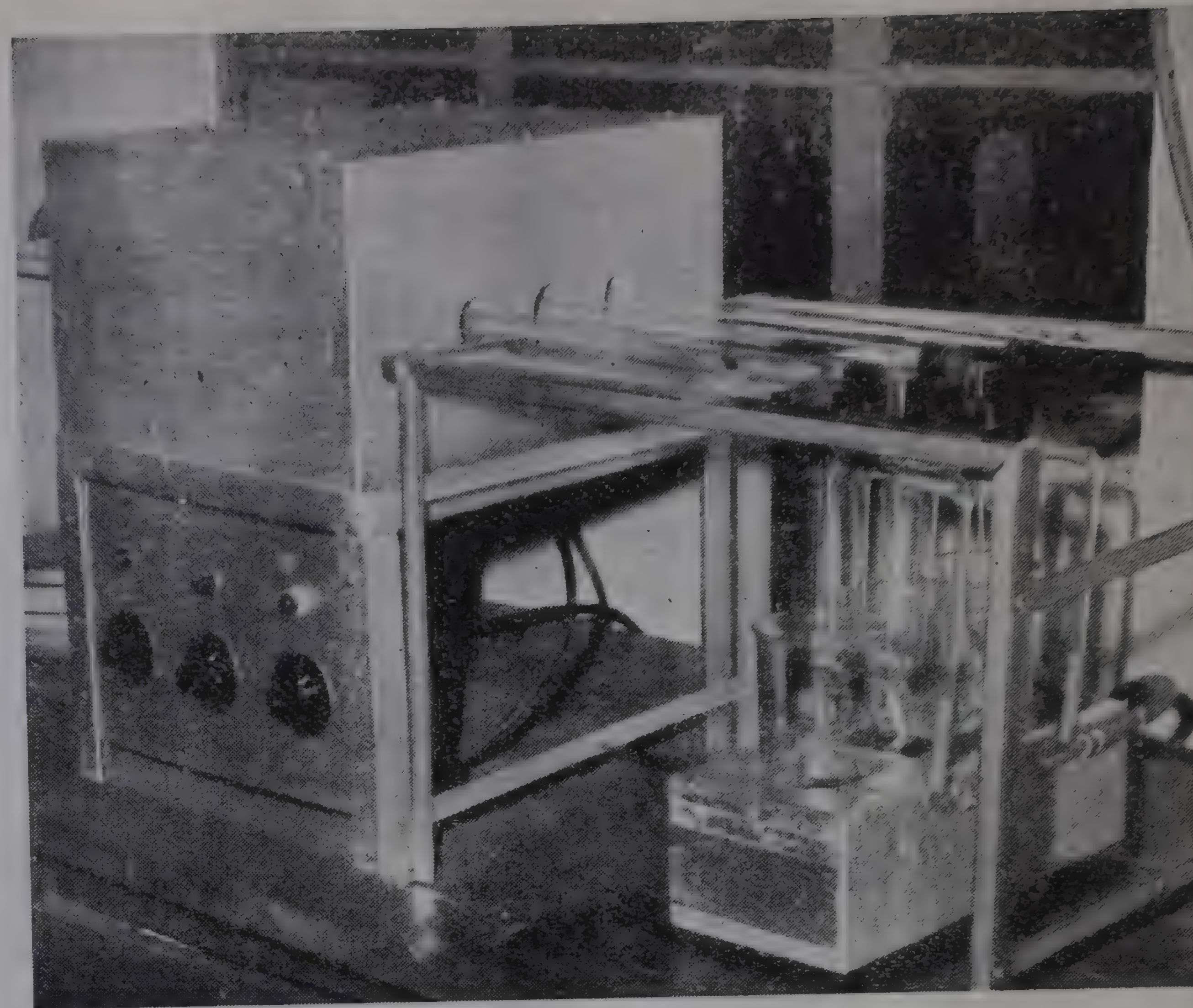
पेट्रोलियम संस्थान में प्रतिरक्षा मंत्रालय के कहने पर एक यन्त्रक्रम विकसित किया है जो स्वचालित रूप से वायु और ईंधन तेल के मिश्रण की अनुपात एवं दबाव सम्बन्धी परिस्थितियों का यथापेक्षित संशोधन करता रहता है। यह यन्त्र मुख्यतः पीतल धातु और संश्लेषी रबर से बनाया गया है। प्रायोगिक परीक्षणों में यह पद्धति पूर्णतः संतोषजनक पाई गयी है।

उन्नत वेल्डिंग

राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमशेदपुर ने दबाव नालों अर्थात् प्रेशर वेसेल्स तथा ब्वायलरों की वेल्डिंग के लिए नये किस्म का पदार्थ तैयार किया है जिसे फलक्स कहते हैं। यह पदार्थ धातुकर्मीय उत्पादन में बहुत ही आवश्यक होता है और इसे हम अभी तक विदेशों से आयात कर रहे हैं। कई प्राइवेट उद्योग प्रतिष्ठानों ने भी प्रयोगशाला द्वारा विकसित उक्त फलक्स में रुचि दिखायी है। इसमें आवश्यक सभी सामग्री देश में उपलब्ध है। भारी इंजीनियरिंग कारखानों के लिए फलक्स का देश में निर्माण बहुत ही लाभदायक होगा। देश की पूरी मांग पूरी करने के लिए लगभग 1000 टन मात्रा का अनुमान लगाया गया है। इसके निर्माण को औद्योगिक स्तर पर अपनाने के लिए दो फर्मों को लाइसेंस दिया जा चुका है।

ग्रे किंग भट्टी

रांची में स्थित केन्द्रीय ईंधन अनुसन्धान संस्थान द्वारा संचालित कोयला सर्वेक्षण उद्योगशाला ने घटिया किस्म के कोयले से कार्बनीकरण हेतु एक ग्रे किंग नामक भट्टी तैयार की है। इस भट्टी में कोयले को संघनित करने के लिए अलग व्यवस्था है। प्रयोगशाला ने इस भट्टी से अब तक लगभग नौ किस्म के कोकयुक्त कोयले तैयार किये हैं जिनका आवश्यकतानुसार यथास्थान उपयोग किया जा सकता है। संभावना है कि इस भट्टी से निर्मित कोकयुक्त कोयले को धातु निर्माण में इस्तेमाल किया जा सकेगा



ग्रे किंग भट्टी

और इस प्रकार तैयार धातु की लागत में काफी कटौती की जा सकेगी। प्रस्तावित उपभोक्ता प्रतिष्ठानों द्वारा इस भट्टी के परीक्षण किए जा चुके हैं और इसे पूर्णतः संतोषजनक पाया गया है।

स्कूली इमारतें

अध्ययन अध्यापन हेतु प्राथमिक स्कूलों में आवश्यक स्थान कितना हो और किस प्रकार कम से कम स्थान का अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है—आदि बातों पर रुड़की के केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान ने एक अध्ययन कार्यक्रम गत कुछ वर्षों से संचालित किया है। अभी हाल ही में महाराष्ट्र की स्कूली इमारतों के लिए उक्त संस्थान ने कई मानक भवन डिज़ाइन तैयार करके राज्य सरकार को दिए हैं। केरल राज्य के लिए भी व्यवस्थित भवन प्रणाली विकसित करने की दिशा में विस्तृत विवरण एकत्रित किए जा चुके हैं। उपयुक्त भवन डिज़ाइन, निर्माण-विधि, निर्माण लागत आदि पूर्णतया निर्धारित किए जा चुके हैं। इसी प्रकार का कार्य संस्थान द्वारा कुछ अन्य राज्यों में किया जा चुका है और कुछ में हो रहा है।

पोर्टेबल ताप-सूचक यंत्र

पोर्टेबल तापसूचक यन्त्रों का प्रयोगशालाओं और औद्योगिक कार्यों में विशेष महत्व है क्योंकि अनेक प्राविधिक संचालनों में उपयुक्त तापक्रमीय परिस्थितियों का होना अतीव आवश्यक होता है। ऐसे स्थानों पर इस प्रकार के उपकरण की आवश्यकता है जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सके और सरलतापूर्वक तापक्रम की सूचना दे सके। चंडीगढ़ स्थित केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन ने 14 ओहम् प्रतिरोध क्षमता का एक विद्युतीय उपकरण इसके लिए विकसित किया है जिसे मल्टी प्वाइण्ट टेम्परेचर इण्डिकेटर कहते हैं। इस उपकरण में सभी पुर्जे देश में उपलब्ध सामग्री से ही तैयार किए गए हैं। अभी तक बहुधा इस प्रकार के उपकरण विदेशों से आयात किए जाते हैं।

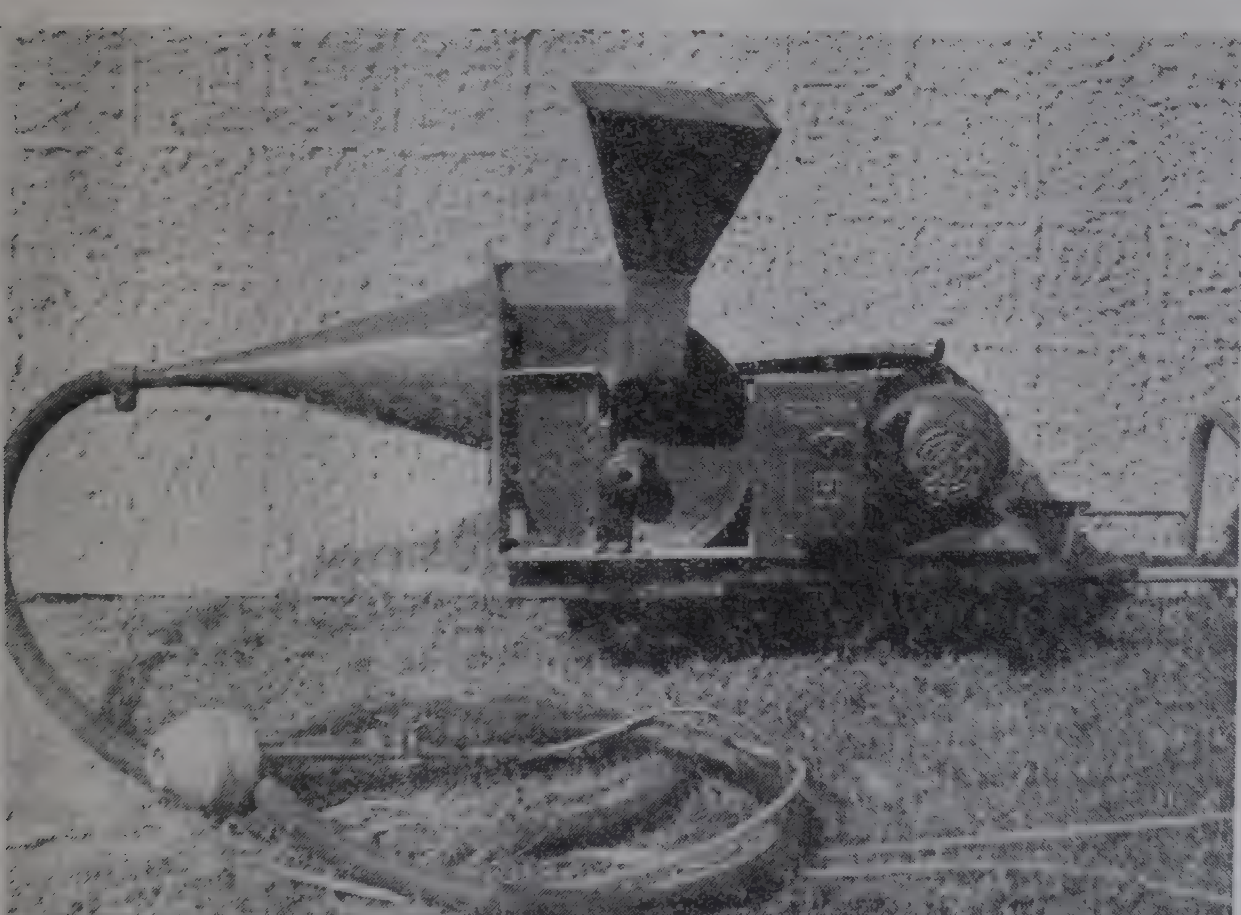
एस्बेस्टस की फुहार

दीवारें ऐसी होनी चाहिए कि बाहर की ठंड या गर्मी भीतर न आए। इसके लिए हम एस्बेस्टस की पट्टियों का भवन निर्माण में उपयोग करते हैं। लेकिन इस तरह बहुत बड़ी मात्रा में एस्बेस्टस चाहिए जबकि ताप पृथक्करण के लिए तो उसकी थोड़ी सी मात्रा ही पर्याप्त होती है। रुड़की के केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान ने इसके लिए जो विधि निकाली है उसमें एस्बेस्टस के घोल रूप का एक मशीन की सहायता से दीवारों पर छिड़काव किया जाता है। फुहार-क्रिया के फलस्वरूप एस्बेस्टस की कणिकाओं की पर्त जम जाती है जिनकी मोटाई इतनी पर्याप्त होती है कि ताप पृथक्करण की समस्या हल हो जाती है। इस कार्य के लिए उक्त संस्थान ने एक फुहार यन्त्र विशेष रूप से विकसित किया जिसके बड़े पैमाने पर उत्पादन हेतु आवश्यक विवरण राष्ट्रीय अनुसन्धान विकास निगम से प्राप्त किए जा सकते हैं।

हृदय की धड़कन नापने का यंत्र

केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन, चंडीगढ़ ने दिल की धड़कनें नापने का एक नया यन्त्र विकसित किया है जिसे पल्स मानीटर कहते हैं। इसका उपयोग हृदयदर्शी अर्थात् कार्डियोस्कोप जैसे अन्य चिकित्सा उपकरणों की सहायतार्थ भी किया जा सकता है। लगभग सभी हृदय रोगों में निदान हेतु हृदय के धड़कन की गति जानना आवश्यक हो जाता है और तभी रोग की गंभीरता का अनुमान कर सकना सम्भव हो पाता है। हृदय रोगों में बाहर से ही निदान में सहायक अन्य कई उपकरण उक्त संस्थान में पहले ही विकसित किये जा चुके हैं। इस यन्त्र में ऐसी व्यवस्था है कि जिस गति से हृदय धड़कता है उसकी सूचना एक घूमती हुई सूचक सुई द्वारा प्राप्त हो जाती है जो एक पैमाने के सहारे घूमती रहती है। धड़कनों को सुना भी जा सकता है।

एस्बेस्टस फुहार यन्त्र



विरंजक मिट्टियां

वनस्पति तेलों और वसाम्लों के रंग उड़ाने के लिए विरंजक मिट्टियों का सहारा लिया जाता है। भारत में अभी तक दो फर्में इनका उत्पादन कर रही हैं किन्तु आवश्यकता से बहुत कम। हैदराबाद की क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रयोगशाला इस समय सक्रिय मृत्तिकाओं का विकास कर रही है। उनकी विकसित विधि से सफलतापूर्वक नियन्त्रित अवस्था में प्राकृतिक मृत्तिका को शोधित एवं सक्रियान्वित किया जा सकता है। अपने गुणों में ये मृत्तिकाएं आयातित किस्मों के मुकाबले की हैं। आयात की हुई किस्मों से इनका मूल्य भी बहुत ही कम है।

लोहे और इस्पात का एल्यूमिनीकरण

लोहे और इस्पात को जंग से बचाने के लिए जस्ते का लेपन किया जाता है, जिसे हमें आयात करना होता है। राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमशेदपुर में विकसित विधि से जस्ते के स्थान पर एल्यूमीनियम का उपयोग संभव हो गया है जिसका देश में ही निर्माण हो रहा है। विकसित विधि का पेटेण्ट लिया जा चुका है। आंध्र प्रदेश में इस विधि से एल्यूमिनीकरण हेतु एक कारखाना भी स्थापित हो गया है। लम्बी अवधि तक जंग से बचा रहने वाला यह लोहा प्रचलित जस्ता-लेपित लोहे के मुकाबले दस गुना अधिक टिकाऊ होता है। राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों में तो इसकी दीर्घजीविता उससे भी अधिक होगी। डाक-तार विभाग ने संचार व्यवस्था में उपयोग हेतु इस एल्यूमीनियम लेपित इस्पात के तारों में रुचि दिखायी है।

(विज्ञान समाचार सेवा के सौजन्य से)

बैटरी एलीमिनेटर

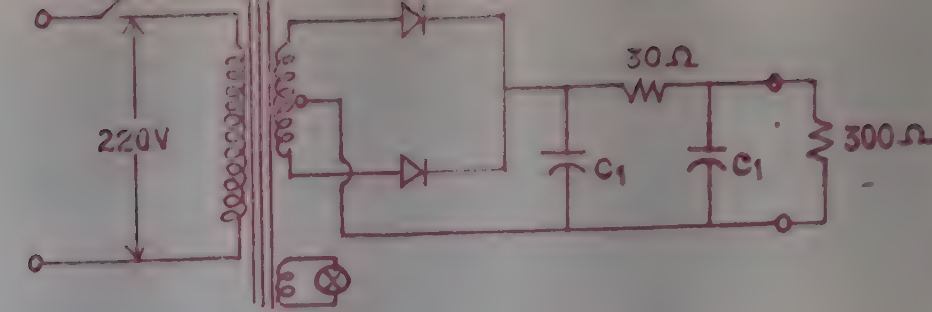
धुरेन्द्रकुमार गर्ग

आजकल ड्राई सेलों की परेशानी हर ट्रांज़िस्टर, रेडियो बैटरी से चलने वाले रिकार्ड प्लेयर, टेपरिकार्डर आदि रखने वाले को होती है। इसके अलावा उसका खर्चा भी काफी आता है। यहां एक सरकिट बैटरी एलीमिनेटर का दिया गया है जिससे यह परेशानी बहुत ही आसानी से दूर हो जाती है। बाजार में 4.5, 6 व 9 वोल्ट पर चलने वाले ट्रांज़िस्टर मिलते हैं। इस सरकिट में तीनों वोल्ट के ट्रांज़िस्टरों के लिए सुविधा दी गई है (चित्र 2)। इसके बनाने में ज्यादा परेशानी नहीं आती और कीमत लगभग 15 रु. आती है। इससे 500 घंटों तक ट्रांज़िस्टर चलाने से केवल 1 यूनिट बिजली खर्च होती है। ट्रांज़िस्टर आदि चलाने के अलावा इसका उपयोग रात में नाइट बल्ब के लिए भी हो सकता है।

चित्र 2 में एक ही वोल्टेज़ का बैटरी एलीमिनेटर दिया गया है। इसमें 4.5, 6 व 9 वोल्ट में से एक का ही इन्तजाम हो सकता है।



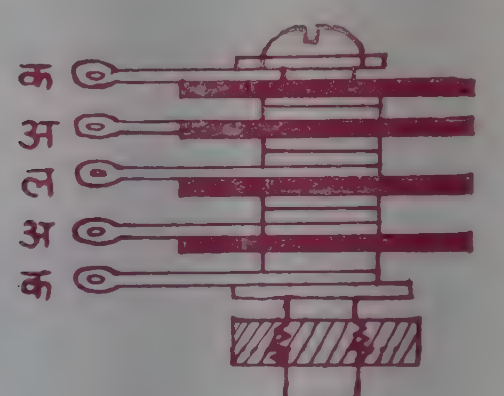
चित्र 1



चित्र 2

बाजार में सब सामान खरीद कर ऊपर बताए गए सरकिट के अनुसार लगा लिया जाता है। ट्रांसफारमर 220 वोल्ट पर बिना आवाज काम करने वाला व कई घंटों तक काम में लाने पर भी गरम न होने वाला होना चाहिए। ट्रांसफारमर की सेकेन्डरी में 4.5, 6 व 9 वोल्ट के लिए चार तार निकले होते हैं। इन चार तारों में एक-एक तार तीनों वोल्टों के लिए होता है और एक स.र को जोड़ने के लिये। बिजली के आने या न आने को देखने के लिये एक बल्ब व वही बल्ब नाइट बल्ब की तरह काम करने के लिए लगाया जाता है। इसके लिए भी अगर ट्रांसफारमर की सेकेन्डरी से 1.5 वोल्ट के तार निकले हों तो बहुत अच्छा रहता है। अगर बाजार में इस तरह का ट्रांसफारमर मिलना सम्भव न हो तो 6 वोल्ट पर चलने वाला बल्ब 4.5 वोल्ट पर लगाया जा सकता है।

सिलिनियम ब्रिज रेक्ट्रोफायर ट्रांज़िस्टर रेडियो के लिए 200 मिली एम्पीयर का व टेपरिकार्डर आदि के लिए 500 मि. एम्पीयर का बाजार में बिना दिक्कत मिल जाता है। इसमें 5 तार लगाने की जगह निकली होती हैं। जिनमें से दो (अ–स) पर पीला, दो (क–क)

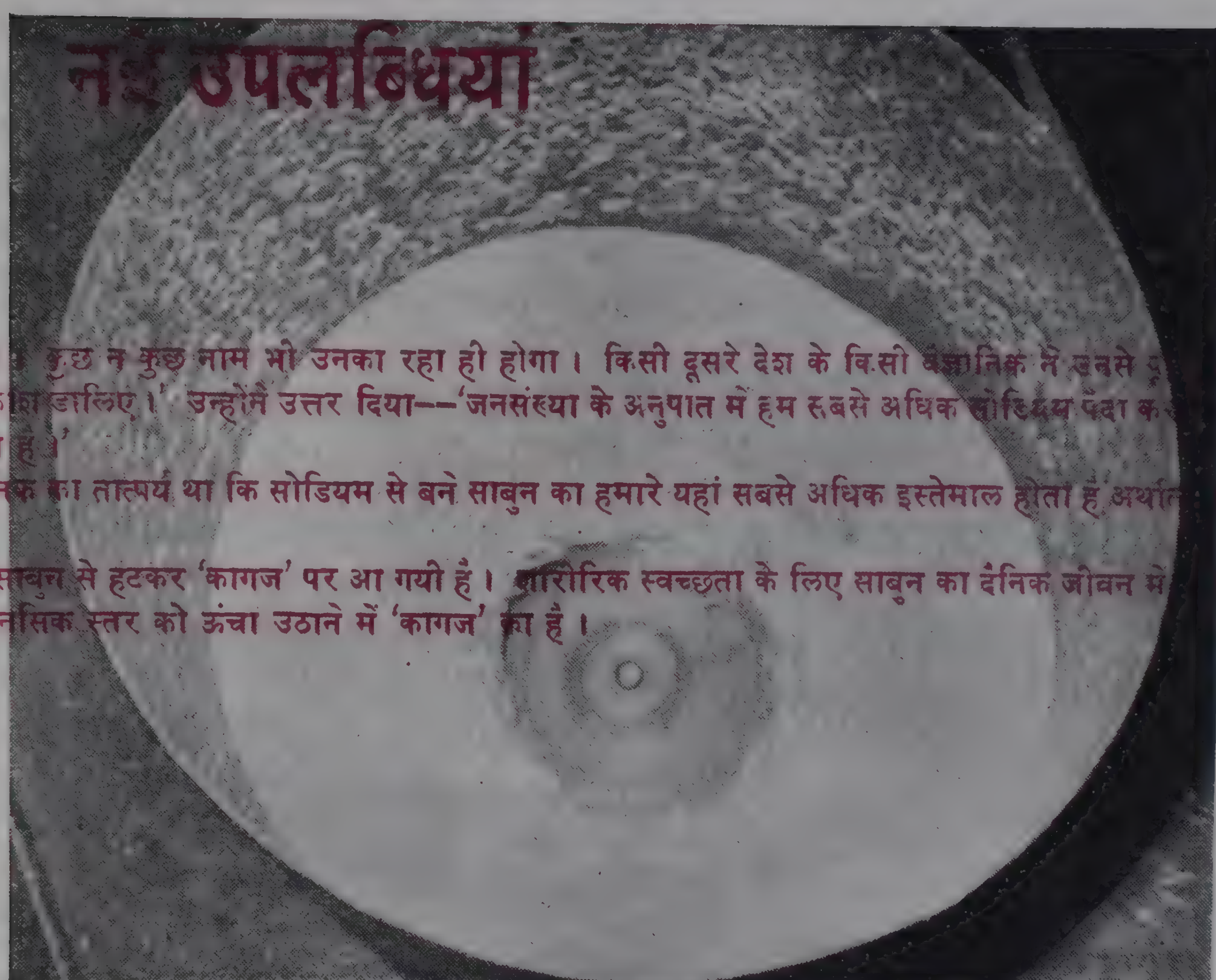


चित्र 3

पर काला व एक (ल) पर लाल रंग लगा होता है। क–क को एक तार द्वारा जोड़ दिया जाता है। दोनों पीले रंग वालों को चित्र के अनुसार च व छ से जोड़ दिया जाता है। जब दोनों पीलों पर ट्रांसफ.रमर की सेकेन्डरी से प्रत्यावर्ती धारा लगाई जाती है तो एक दिश धारा का ऋणात्मक वोल्ट 'क' पर व धनात्मक वोल्ट 'ल' पर आता है। इस एक दिश धारा में कुछ प्रत्यावर्ती धारा की भी मात्रा होती है। इसको कम करने के लिए हम दो कन्डेंसर व एक रेज़िस्टेन्स या चोक लगाते हैं। ट्रांज़िस्टर रेडियो के लिए 500 माइक्रोफेरेड के कन्डेन्सर व चोक की जगह 300 ओम रेज़िस्टेन्स लगा सकते हैं। टेपरिकार्डर या रिकार्ड प्लेयर के लिए चोक लगाना अच्छा है। अगर चोक मिलना मुश्किल हो तो 10 ओम का रेज़िस्टेन्स भी लगाया जा सकता है। कीमत का

(शेष पृष्ठ 137 पर)

कागज और लुगदी उद्योग : नई उपलब्धियां



एक थे वैज्ञानिक। कुछ न कुछ नाम भी उनका रहा ही होगा। किसी दूसरे देश के किसी वैज्ञानिक ने उनसे पूछा—'अपने यहां के रहन-सहन के स्तर पर कुछ प्रकाश डालिए।' उन्होंने उत्तर दिया—'जनसंख्या के अनुपात में हम सबसे अधिक सोडियम पैदा करते हैं।' दूसरे वैज्ञानिक ने कहा—'आपका देश महान है।'

वास्तव में वैज्ञानिक का तात्पर्य था कि सोडियम से बने साबुन का हमारे यहां सबसे अधिक इस्तेमाल होता है अर्थात् हम सबसे अधिक साफ-सुथरे रहते हैं।

आज यही बात साबुन से हटकर 'कागज' पर आ गयी है। शारीरिक स्वच्छता के लिए साबुन का दैनिक जीवन में जो महत्व है, वही महत्व किसी भी समुदाय के मानसिक स्तर को ऊंचा उठाने में 'कागज' का है।

धर्मेन्द्र श्रीवास्तव

मुखचित्र परिचय

लुगदी बनाने की मशीन

सेन्ट्रीफ़्यूज़ पल्पर

आधुनिक युग में जबकि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध होता जा रहा है, कागज का महत्व और भी बढ़ता जा रहा है। कागज उद्योग संसार के प्रत्येक देश के लिए लगभग आवश्यक गतिविधि है क्योंकि ज्ञान के प्रचार, प्रसार और पारस्परिक सम्पर्क से कोई भी देश अपने को अलग नहीं कर सकता। यही कारण है कि भारत के तकनीकी विशेषज्ञों ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किये हैं। जोरहाट स्थित क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रयोगशाला तथा देश के अन्य कई अनुसंधानिक एवं कागज उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले औद्योगिक प्रतिष्ठानों ने इस ओर विशेष रुचि ली है। यहां हम विगत कुछ वर्षों

में देश में कागज अनुसन्धान में हुई प्रमुख उपलब्धियों का उल्लेख करेंगे।

कागज उद्योग एक प्रमुख उद्योग है, इसमें सन्देह नहीं। कागज के साथ ही लुगदी से बनने वाली भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन भी देश के रहन-सहन और अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लुगदी की वस्तुओं का उत्पादन एक सह-उद्योग है जिसके कारण कागज उद्योग का महत्व और भी बढ़ जाता है।

लुगदी से बनने वाली अनेक वस्तुओं का उपयोग भवन निर्माण एवं साज-सज्जा में किया जाता है। जल-रक्षित पट्टियां, सजावटी खिड़कियां, खूबसूरत छतों के पट्टे लुगदी से ही बनते हैं। कुछ सेल्यूलोज़ पदार्थों का निर्माण भी इसी से होता है।

हमारे यहां इस दिशा में उन्नति के लिए जो अनुसन्धान प्रयोगशालाओं ने किया है उसका मुख्य उद्देश्य कागज और लुगदी उद्योग में उपयोगी ऐसी प्रविधियों को विकसित करना है जिनके द्वारा (1) देश में ही उपलब्ध साज-सामान से उत्तम उत्पाद प्राप्त हो सकें और आयात से जहां तक संभव हो, बचा जाये। (2) विदेशी मुद्रा की बचत के साथ-साथ उत्पाद की लागत में कमी हो, (3) बेकार फेंक दिए जाने वाले कबाड़ का उचित उपयोग हो और (4) उत्पाद का स्तर उन्नत हो।

अखबारी कागज की स्याही उड़ाने की विधि

एक विधि विकसित की गई है जिसके द्वारा बेकार बचा हुआ कागज, जैसे कि लेटरहेड्स, रिकार्ड बुकों, किताबों और पुराने समाचार पत्रों की लुगदी को बढ़िया किस्म की लुगदी में परिवर्तित किया जा सकता है और इससे अधिक अच्छे स्तर का कागज बनाया जा सकता है। इस विधि में पुराने कागज की लुगदी तैयार करके उसे पहले हाइड्रोपल्पर में डाला जाता है। यह एक मशीन होती है जिसमें कागज के टुकड़े तीव्र गति से पानी में मिलाकर घुमाए जाते हैं। इस प्रकार तैयार लुगदी को पानी की सतह पर तैराया जाता है। तत्पश्चात् छपाई की स्याही के अंश को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा अलग कर दिया जाता है। प्रक्रिया द्वारा जो कार्बन कागज से निकलता है वह झाग के रूप में ऊपर उठ आता है और तरल ऐसा रह जाता है जैसे मलाई के बिना दूध। स्याही से मुक्त इस लुगदी को प्रचलित कागज संयंत्रों द्वारा एक सफेद कागज में बदल दिया जाता है। झाग उत्पन्न करने वाले सेलों का निर्माण भी पूर्णतः देश में उपलब्ध सामग्री से ही किया गया है। इस विधि को औद्योगिक स्तर पर अखबारी कागज से स्याही हटाने के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है। कई प्रचलित किस्म के कागजों की अपेक्षा इस स्याही छुड़ाए गए अखबारी कागज से तैयार कागज पर छपाई सन्तोषजनक हुई है।

मोमरहित कार्बन कागज

आजकल देश में जो कार्बन कागज बनाया जा रहा है उसके बनाने में विदेशी लुगदी और कागज, सूक्ष्म-मणिभीय मोम, रंगाई पदार्थ और काले कार्बन आदि का इस्तेमाल होता है। इसमें विदेशी मुद्रा का वार्षिक परिव्यय लगभग 50 लाख रुपये है। अपने ही देशी कागज के द्वारा कोटिंग की एक नई विधि विकसित की गयी है। कोटिंग प्रणाली पानी से संचालित होती है और इसमें आवश्यक बुरादा, बंधक पदार्थ तथा रंगाई पदार्थ सभी देशी हैं। कार्बन रहित कागज का उत्पादन विविध रंगों में करते हुए पीछे की ओर मिश्रण की पर्त चढ़ायी जा सकती है।

ग्रीज़ रक्षित कागज

यह कागज सबसे अधिक खाद्य पदार्थों को पैक करने के काम आता है। यह विदेशी लुगदी मंगाकर अपने ही देश में बनाया जाता है। ग्रीज प्रूफ़ कागज की सतह पर हम जिस पदार्थ का लेप चढ़ाते हैं उसे जोरहाट प्रयोगशाला के विशेषज्ञों ने जिलेटिन, स्टियरिक अम्ल से बने अमोनियम अथवा सोडियम साबुन, फ़ार्मेल्डीहाइड तथा फिटकरी के मिश्रण से तैयार किया है। इसका उपयोग कई तरह से लिखाई तथा छपाई के कागजों के निर्माण में भी किया जा सकता है।

अखबारी कागज का सूक्ष्मदर्शीय रूप

स्याही उड़ाने से पूर्व



स्याही उड़ाने के बाद





जलरक्षित गत्ता



माइक्रोक्रिस्टेलाइन सेल्यूलोज

चिमड़ा कागज (पार्चमेण्ट पेपर)

यह कागज द्विश्लेषण प्रक्रियाओं और पैकेजिंग वगैरह में इस्तेमाल होता है। हम इसका उत्पादन बिल्कुल नहीं करते। इस कागज के उत्पादन हेतु मशीनरी का डिजाइन और उसकी तकनीकी जानकारी में काफी सुधार किया गया है। प्रस्तावित प्रविधि में ऐसे अनुपचारित कागज से काम लिया गया है जो उच्च अल्फ़ा-सेल्यूलोज़ युक्त लुगदी से बना होता है। इस पर पहले नियन्त्रित अम्लीय प्रतिक्रिया कराई जाती है और फिर पानी तथा अमोनिया के सहारे उस अम्ल को निष्कासित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् इस कागज को किसी प्लास्टिकारक पदार्थ के घोल से उपचारित किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त कागज को सुखाया जाता है और उसकी शिकनों को बैठाकर सतह सम की जाती है। यही पार्चमेण्ट पेपर है।

तहदार कागज

सजावट में इस्तेमाल किए जाने वाले ऊष्मा-रक्षित तहदार कागज के निर्माण हेतु भी एक उत्तम पद्धति निकाली गयी है। प्रचलित तरीके के मुकाबले इस विधि में यह विशेषता है कि इसमें मेल-अमीन-फ़ार्मेल्डीहाइड तथा फ़िनोल-फ़ार्मेल्डीहाइड जैसे रेज़िनों को आयात नहीं करना पड़ता क्योंकि इनके बिना ही तहदार कागज बनाना अब संभव है। हम यूरिआ-फ़ार्मेल्डीहाइड का उपयोग कर सकते हैं जो आसानी से उपलब्ध है। इस रेजिन का अंतर्भेदन पहले एक कागज में किया जाता है और फिर उष्मीय स्थिरीकरण पद्धति (थर्मोसेटिंग) द्वारा दूसरे सजावटी कागज को उसके ऊपर बैठाया जाता है। परीक्षणों से स्पष्ट हो चुका है कि प्रयोगशाला में तैयार किए गए इस प्रकार के कागज का किसी भी आयातित किस्म के कागज से मुकाबला किया जा सकता है।

लुगदी विलय

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कागज उद्योग के साथ ही साथ लुगदी से बनने वाली वस्तुएं भी अनेक हैं और अब सभ्यता के दिनों-दिन विकास के साथ लुगदी का महत्व बढ़ता जा रहा है। लुगदी विलय से हम सेल्यूलोज़ श्रेणी के बहुत से यौगिक, जैसे सेल्यूलोज़ एसीटेट, एथाइल सेल्यूलोज़ तथा मिथाइल सेल्यूलोज़ आदि प्राप्त कर सकते हैं। विलयन योग्य लुगदी का रेयन के निर्माण में बड़ा महत्व है। इसके निर्माण हेतु प्रस्तुत नवीन प्रक्रिया में जल एवं अम्ल के मिश्रण से पहले लुगदी का जलच्छेदन किया जाता है और उसके बाद विरंजन-क्रिया होती है। जोरहाट प्रयोगशाला ने बांस से तैयार की जाने वाली लुगदी के नाइट्रेटीकरण की भी एक पद्धति निकाली है जिसके द्वारा उत्तम कोटि के लुगदी विलय तैयार किए जा सकते हैं। इसके द्वारा लगभग 30 प्रतिशत लुगदी का अंश प्राप्त होता है। इस लुगदी में सेल्यूलोज़ अवयव बहुत अधिक होते हैं। इसकी प्रविधि की दो विशेषताएं हैं। एक तो यह कि प्रचलित विधियों की इसमें किसी भी गंधक यौगिक की आवश्यकता नहीं पड़ती और दूसरे यह कि क्षारीयकरण भी बिल्कुल हटा दिया गया है। जिसके फलस्वरूप लुगदी की निर्माण लागत और अपेक्षित विदेशी मुद्रा में कटौती हो गई है। साथ ही यह प्रचलित सभी विलयन लुगदियों के मुकाबले की है।

जल-रक्षित गत्ता

कृषि उद्योग के व्यर्थ पदार्थों जैसे कि—धान की भूसी—लकड़ी का बुरादा, मूंगफली की भूसी, घास तथा जली तृण-पौधों जैसे बेकार पदार्थों से जल-रक्षित गत्ते बनाने की विधि विकसित की है। इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक तो किसी गन्धक पदार्थ की आवश्यकता नहीं है और दूसरे यह यूरिआ फार्मेल्डीहाइड रेजिन से भी मुक्त है। प्रतिदिन 10 टन क्षमता के एक संयन्त्र का डिज़ाइन तैयार हो चुका है।

छतों के लिए सीमेण्टयुक्त पट्टियां

छतों की चादर के लिए एस्बेस्टस सीमेंट से बनी पट्टियों का प्रयोग प्रचलित है। इसके स्थान पर लुगदी और सीमेण्ट के मिश्रण से पट्टियां



लुगदी निक्षेपण यन्त्रक्रम

तैयार की गयी हैं। यह पट्टियां हर प्रकार से एस्बेस्टस पट्टियों से अधिक अच्छी हैं। एस्बेस्टस अभी हमारे देश में अपेक्षित मात्रा में निर्मित नहीं हो पाता और उसका स्थान बहुत मात्रा में प्राप्य बास की लुगदी ने ले लिया है। हमारी देशी लुगदी से बनाई गई चादर कीमत में भी आधी है। अपेक्षित संयन्त्र तैयार हो चुका है।

सेल्यूलोज़ उत्पादन

प्रयोगशाला ने माइक्रोक्रिस्टेलाइन सेल्यूलोज के लिए एक विधि विकसित की है जिसे अभी तक यह विदेशों से आयात किया जाता है। माइक्रोक्रिस्टेलाइन सेल्यूलोज़ का उपयोग खाद्य, सौन्दर्य प्रसाधनों और औषधि निर्माता उद्योगों में होता है। इसके उत्पादन हेतु पहले बांस, जलीय पौधों और अन्य उच्च अल्फ़ा-सेल्यूलोज पदार्थों से बनी लुगदी को नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार जलच्छेदित पदार्थ को उत्तेजक यान्त्रिक पद्धतियों द्वारा उपचारित किया जाता है। प्लास्टिक और पेंट उद्योग में बेन्जाइल सेल्यूलोज इस्तेमाल किया जाता है। अतः प्रयोगशाला ने बेन्जाइल सेल्यूलोज की एक और विधि ढूंढ़ निकाली है। उच्च अल्फ़ा-सेल्यूलोज़ युक्त बांस की लुगदी को पहले क्षार से उपचारित करके बेन्जाइल क्लोराइड से प्रतिक्रिया कराई जाती है।

इस प्रकार कागज और लुगदी उद्योग को उन्नत करने के लिए जो अनुसन्धान हमारे विशेषज्ञों ने प्रस्तुत किए हैं उनसे लाभान्वित होकर हम राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं, रहन-सहन को नई सज्जा प्रदान कर सकते हैं और ज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु आवश्यक इस सर्वप्रधान सामग्री 'कागज' को नया रूप दे सकते हैं।

बालू चूने की ईंटें

जनकनन्दन प्रसाद सिन्हा

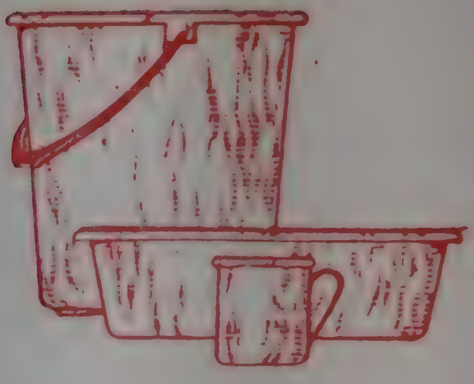
भवन निर्माण हेतु क्ले-ईंट बनाने के लिये ऐसी मिट्टी उपयोग में लायी जाती है जिसकी आवश्यकता सघन खेती के लिये अधिक है। भारत के राजस्थान जैसे प्रदेश में केवल बालू मिश्रित क्ले है। राजस्थान मरुस्थल में एक नहर निर्माण की योजना है और उसके किनारे नये-नये नगर बसाये जाने की संभावना है। इन क्षेत्रों में भवन निर्माण के लिये किसी भी प्रकार की क्ले-ईंट का निर्माण संभव नहीं है। क्ले-ईंट की इस कमी की पूर्ति अति आवश्यक है। अतः इस समस्या पर विजय पाने हेतु रुड़की स्थित केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान ने कैलशियम सिलिकेट की ईंटों का निर्माण किया है। इस कैलशियम-सिलिकेट की ईंट को ही बालू-चूने की ईंट कहते हैं। ऐसी ईंट बनाने के लिये आवश्यक साधन और सामग्रियां राजस्थान, मद्रास, उड़ीसा, गुजरात, केरल और महाराष्ट्र में भरपूर पायी जाती हैं।

निर्माण विधि

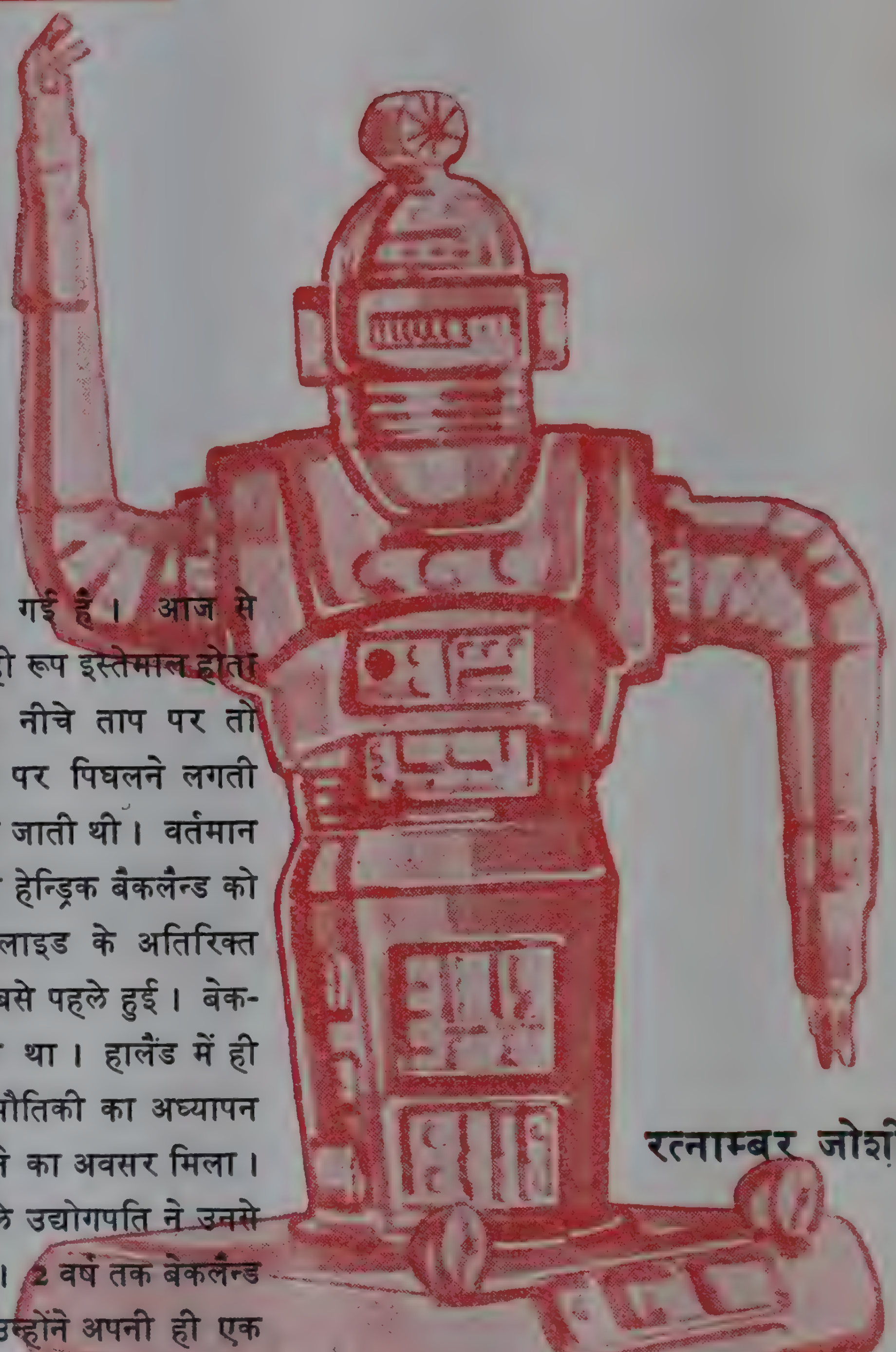
बालू-चूने की ईंट तैयार करने के लिये बालू और चूने को एक साथ मिलाया जाता है। बालू से कंकड़ और अन्य कार्बनिक पदार्थ अलग कर लिये जाते हैं। ईंट बनाने के लिये बलुआ टिब्बा और मोटा बालू-दोनों किस्में काम में लायी जाती हैं। अधिक सिलिका युक्त बलुआ-टिब्बा जिसकी माड्यूलस सूक्ष्मता 0.22 हो और जिसमें 0.1 प्रतिशत घुलनशील लवण हो, अथवा मोटा बालू जिसकी माड्यूलस सूक्ष्मता 2.32 हो, काम में लायी जाती है। 80 से 82 प्रतिशत (कैल्शियम हाइड्राक्साइड के अनुपात में) शुद्ध चूना उपयोग में लाया जाता है। इस सक्रिय चूने को पहले प्लेटफार्म जलयोजन पद्धति से यांत्रिक मिश्रक में जलयोजित करते हैं। फिर इसको 'बालू मील' में पीस लिया जाता है। इसके पश्चात बालू और चूने की उचित मात्रा लेकर विभेदी मिश्रक में डालकर पानी के साथ इस मिश्रण को भलीभांति मिलाया जाता है। इस सने हुए मिश्रण के लोंदे को सांचे में डालकर उस पर 40 किलोग्राम प्रतिवर्ग सेंटीमीटर दबाव डाला जाता है। इसी दबाव पर ईंटें ढाली जाती हैं।

रंग-बिरंगी ईंटें

ऐसी ईंटें प्रायः श्वेत रंग की होती हैं। रंगीन ईंटें बनाने के लिये इच्छानुकूल इसमें थोड़ा सा रंग मिलाया जाता है। बालू-चूने से बनी ईंटें क्ले-ईंट से कहीं अधिक अच्छी और मजबूत होती हैं। आकार और आकृति में समरूप, विमितीय-स्थायी, बुदबुदन-मुक्त और अन्य दोषों से मुक्त होती हैं। इन ईंटों से बनी दिवारों पर प्लास्टरिंग की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। आशा है, ऐसी ईंटों के निर्माण से क्ले-ईंट और सीमेंट की समस्या देश में दूर हो जायेगी तथा सुन्दर, मजबूत और टिकाऊ तथा बिना प्लास्टर के भवनों का निर्माण संभव हो सकेगा।



बैकेलाइट



रत्नाम्बर जोशी

आज बैकेलाइट दैनिक उपयोग की वस्तु बन गई है। आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व बैकेलाइट का दूसरा ही रूप इस्तेमाल होता था। उस समय जो प्लास्टिक प्रचलित थी वह नीचे ताप पर तो कठोर रहती थी, लेकिन 100° सें. पर गरम होने पर पिघलने लगती थी और अधिक गरम करने पर बहुत घुलनशील हो जाती थी। वर्तमान बैकेलाइट इस दोष से मुक्त है। इसका श्रेय लियो हेन्ड्रिक बैकलैंड को है। उन्होंने इसकी खोज 1907 में की थी। सेलुलाइड के अतिरिक्त यह दूसरा संश्लेषित प्लास्टिक है जिसकी खोज सबसे पहले हुई। बेकलैन्ड का जन्म 1863 में हालैंड (बर्गस) में हुआ था। हालैंड में ही प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त कर आप रसायन और भौतिकी का अध्यापन कार्य करने लगे। आपको 1889 में अमेरिका जाने का अवसर मिला। वहां एक फोटोग्राफ फिल्म और कागज बनाने वाले उद्योगपति ने उनसे अपनी प्रयोगशाला में कार्य करने का आग्रह किया। 2 वर्ष तक बेकलैन्ड ने वहां कार्य किया और उसके पश्चात 1891 में उन्होंने अपनी ही एक प्रयोगशाला शुरू की और सलाहकार फर्म के रूप में कार्य करने लगे। यहां पर 1899 में उन्होंने 'वेलोक्स'–एक विशेष प्रकार का कागज, जिस पर सीधा फोटो छप सकता है, की खोज की। एक उद्योगपति के सहयोग से उन्होंने यह कार्य बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया। अपनी इस खोज को बेकलैन्ड ने बहुत समय तक किसी को नहीं बताया और न ही इसको पेटेन्ट कराया। बेकलैन्ड ने उस कम्पनी को कुछ समय बाद ईस्टमैन कोडाक कम्पनी के बहुत आग्रह पर ही 1000,000 डालर में बेचा।

इसके पश्चात अपने न्यूयार्क के निवास स्थान पर बेकलैन्ड ने बड़े पमाने पर अन्य प्रयोग प्रारंभ किये। सन् 1904 में अचानक कपूर की अत्यधिक कीमत बढ़ जाने के कारण बेकलैन्ड ने प्रतिस्थापित कपूर के स्थान पर इस्तेमाल हो सकने वाले दूसरे पदार्थों की खोज शुरू की। लेकिन वे असफल रहे। उसके बाद उन्होंने फार्मेल्डिहाइड और फिनौलिक पदार्थों की क्रिया से संश्लेषित चमड़ा बनाने का प्रयास किया। उस समय यह आम धारणा थी कि प्रयोग विधि और उपरोक्त दोनों पदार्थों के मिलाए जाने की मात्रा के अनुसार इन दोनों पदार्थों में क्रियास्वरूप विभिन्न उत्पाद बनते हैं। इस समय कीलबर्ग, स्मिथ तथा स्टोरे आदि उनके दूसरे सहयोगियों ने भी प्लास्टिक बना तो लिया था लेकिन वह प्रायोगिक रूप में इस्तेमाल नहीं हो सकता था। बेकलैन्ड ही प्रचलित सही प्लास्टिक बनाने में सफल रहे। वैज्ञानिकों का विचार था कि अच्छा प्लास्टिक 100° सें. ताप पर ही बनाया जा सकता है। बेकलैन्ड



ने साबित किया कि उत्तम किस्म का प्लास्टिक बनाने में बहुत ऊंचे ताप की आवश्यकता होती है ।

उसने फार्मेल्डिहाइड और फिनौलिक पदार्थों को गरम कक्ष में रखा । इस गरमी से वह पदार्थ मुलायम होने लगा और अधिक दाब पर वह पदार्थ तरल रूप में बहने लगा । इससे उसको सांचे की शक्ल में ढालने में सहायता मिल गई । लेकिन और अधिक गरम करने पर उस पदार्थ में ही कुछ और रासायनिक क्रिया होने लगी जो पहिले कभी नहीं हुई थी । अब वह पदार्थ कठोर हो गया था । यह आक्सी-बेंजाइल-मेथलीन-ग्लाइको-एनहाइड्राइड एक संश्लेषित रेज़िन अथवा बैकेलाइट बन चुका था ।

गरम मोल्ड को ही खोल दिया गया और उससे उन टुकड़ों को अलग कर दिया गया । अब कितना ही गरम करने पर भी उस कठोर पदार्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुए ।

बेकलैन्ड की ही खोज के परिणामस्वरूप यह पता चला कि संघनक की किस्म और मात्रा का उत्पाद पर बहुत असर पड़ता है । साथ ही, संघनक के रूप में अम्ल के स्थान पर समाक्षार बहुत ही उपयुक्त होते हैं ।

सन् 1909 में बेकलैन्ड ने अपनी विधि को पेटेन्ट कराया और 1910 में अपने तथा अन्य साथियों के संचित धन से उन्होंने बैकेलाइट कार्पोरेशन की शुरुआत की । कालान्तर में उन्होंने बैकेलाइट और उसकी निर्माण विधि में बहुत सुधार किए जिसके फलस्वरूप हमें बैकेलाइट का वर्तमान स्वरूप मिला ।

आज बैकेलाइट का प्रयोग बच्चों के खिलौने, घरेलू इस्तेमाल के खाने पीने के बरतन तथा सजावट आदि और मोटर, रेल और घर की खिड़कियों में विविध रूप में हो रहा है ।

(शेष पृष्ठ 130 से आगे)

ध्यान रखते हुए 500 माइक्रोफेरेड के स्थान पर 100 माइक्रोफेरेड के कन्डेन्सर भी लगाए जा सकते हैं ।

प्रतिरोधक 'र' को ब्लीडर रेज़िस्टेन्स कहते हैं । यह कन्डेन्सरों को ज्यादा वोल्टेज तक चार्ज होकर खराब होने से रोकता है । एक बैन्ड स्विच '1 पोल 3 वे' (चित्र के अनुसार इन्हें 4.5, 6 व 9 वोल्ट के लिए) लगाते हैं। अगर यह स्विच '1 पोल 4 वे' का हो तो अच्छा है । रात को इसे बल्ब की तरह उपयोग करते समय स्विच को खाली स्थान पर रखते हैं जिससे बिजली सिर्फ बल्ब के लिए ही खर्च होती है ।

सिलीनियम रेक्टीफायर की जगह डायोड भी लगाए जा सकते हैं पर यह ट्रांज़िस्टरों के लिए ही सम्भव है । चूंकि इनका ज्यादा से ज्यादा करेन्ट 150 मि. ए. है ।

आवश्यक वस्तुएं

ट्रांसफारमर	प्राइमरी — 220 वोल्ट सेकेन्डरी, 4.5, 6 वोल्ट व 1.5 वोल्ट
बैन्ड स्विच	1 पोल 4 वे.
डायोड	सिलीनियम ब्रिज रेक्टीफायर
कन्डेन्सर	दो 100 या 500 माइक्रोफेरेड के
रेज़िस्टेंस	30 ओम (एक) 300 ओम (एक)
बल्ब	2.5 वोल्ट 250 मि. ए.
आन-आफ स्विच	
मिश्रित वस्तुएं	तार, प्लग, आदि

(शेष पृष्ठ 139 से आगे)

वाइए तथा यह ज्ञात करने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसे कोई मानसिक या शारीरिक व्याधि तो नहीं है, यदि हो तो उसका सही उपचार करिए ।

औषधि उपयोग

यदि उपरोक्त सावधानियां बरतने पर भी नींद भली-भांति न आवे तो आप एक आध चम्मच ब्राण्डी ले सकते हैं । जहां तक नींद लाने की गोलियों का प्रश्न है एक भी गोली ऐसी नहीं है जो आपको प्रातःकाल प्रसन्नचित्त रख सके । इसके अतिरिक्त इनको बिना डाक्टर की सलाह के मत लीजिए क्योंकि यह औषधि बहुधा रोगी को जीवन से छुटकारा दिला देती है ।

एक नवीन औषधि

यद्यपि यह औषधि प्रभावकारी है फिर भी इस दिशा में अनुसंधान चल रहा है । अब तक की गई खोजों से ज्ञात हुआ है कि निद्रा को शरीर में स्थित एक रसायन 'सेरोटोनिन' नियंत्रित करता है और इसकी कमी होने पर निद्रा नहीं आती है । इस तथ्य को ज्ञात करने वाले डा. वरनर पी. कोयेल्ला का कथन है कि शीघ्र ही एक रसायन युक्त औषधि बनायी जा सकेगी जो प्राकृतिक तथा गाढ़ी निद्रा लाने में सहायक होगी ।

अनिद्रा

चन्द्रकुमार मिश्र

कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध सिने तारिका मर्लिन मुनरो का देहांत निद्रा लाने की गोलियों को अधिक संख्या में खा लेने के कारण हुआ था। अभी हाल में ही प्रसिद्ध हिन्दी गीतकार शैलेन्द्र की मृत्यु भी इसी कारण हुई थी। इसके अतिरिक्त हम नित्य प्रति ऐसे समाचार, समाचार-पत्रों में पढ़ते रहते हैं तथापि इस क्लिष्ट समस्या का कोई निदान अभी तक औषधि विज्ञान नहीं ढूंढ़ पाया है।

अनिद्रा : परिभाषा

अनिद्रा आज के युग की कटु देन है। नींद को ठीक प्रकार से तथा पूर्णतया प्राप्त न कर पाने को अनिद्रा कहते हैं। इसके लक्षण व्यक्ति से व्यक्ति बदलते रहते हैं तथापि यह मुख्य तीन प्रकार के होते हैं।–– (1) बिछौने पर लेटने के पश्चात् काफी समय तक नींद न आना, (2) नींद का बार-बार टूटना तथा कुछ काल के लिए निद्रा मग्न रहना और (3) नींद का असमय से टूटना और फिर नींद का न आना।

निद्रा : एक अन्य परिभाषा

आस पास के वातावरण के प्रति जागरूकता तथा प्रतिचार में क्रमशः तथा मंद मंद कमी होने को निद्रा कहते हैं। अचेतनता तथा निद्रा में यह अंतर है कि निद्रा आसानी से टूट सकती है किन्तु अचेतनता को नहीं तोड़ा जा सकता है।

सामान्यतः लोग क्षैतिज लेट कर नींद लेते हैं जिससे मांस पेशियों के तनाव में क्रमशः कमी आती जाती है। हृदय की आवृत्ति 75 से घट कर 60 प्रति सेकेण्ड हो जाती है, तापक्रम घट जाता है तथा सांस लेने की गति 16 प्रति मिनट से घट कर 12 प्रति मिनट हो जाती है तथापि कुछ क्रियाएं तेजी से होने लगती हैं जैसे मस्तिष्क में अधिक रक्त बहने लगता है तथा स्वेद ग्रंथि अधिक क्रियाशील हो जाती है। एक नवीन खोज के अनुसार शरीर में एक रसायन 'सेरोटोनिन' होता है जो निद्रा को नियंत्रित करता है।

निद्रा घंटो की, माइक्रो सेकण्डों की या वर्षों की

सामान्यतः यह माना जाता है कि स्वस्थ पुरुष को आठ घंटों की नींद चाहिए तथा इसे एक बार में पूरा होना चाहिए। किन्तु इसके लिए कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है वरन् इसके विपरीत डा. नेथेनियल क्लीटमान का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यक निद्रा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ को यदि दस घंटों की नींद चाहिए तो कुछ 4 घंटों से ही काम चला लेते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि स्व. श्री जवाहरलाल नेहरू अपने प्रधान मंत्रित्व काल में 4 घंटों से अधिक न सोये थे। इसके अतिरिक्त यदि हम अधिक थके होते हैं तो कुछ मिनटों की नींद से ही थकावट चली जाती है, और कभी-कभी तो आंखें खुली रहती है, किन्तु कुछ सेकण्डों की निद्रावस्था (अचेतनता) आ जाती है जिससे मस्तिष्क की थकावट दूर हो जाती है।

आपने ऐसे भी अनेक उदाहरण सुने होंगे जिसमें व्यक्ति कुछ वर्षों से सोये ही न होंगे। एक ऐसा ही उदाहरण सान डामीआनो द अस्ती (इटली) निवासी श्री ल्यूगी मारियो वालसानिया का है। श्री वालसानिया गत 21 वर्षों से सोये ही नहीं हैं तथापि वे स्वस्थ और परिश्रमी हैं। श्री वालसानिया के अनुसार उनको अनेक डाक्टरों ने देखा है किन्तु किसी के भी उपचार से लाभ नहीं हुआ है। किन्तु ये उदाहरण सर्वथा असाधारण प्रकृति के हैं तथा इनका मूल समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है।

निद्रा : आवश्यक काल

निद्रा के लिए आवश्यक समय के बारे में डा. क्लीटमान का कथन है कि यह अनेक बातों पर निर्भर करता है जैसे कार्य के लिए आवश्यक समय, स्वास्थ्य तथा सामाजिक स्थिति। बाल्यावस्था में बालक 24 घंटों में केवल 8 घंटे जगता है और वह शेष समय सोने में व्यतीत करता है। किन्तु उसकी निद्रा कभी एक बार में पूरी नहीं होती है। लगभग 40 मिनट सोने के पश्चात् वह 10 से 15 मिनट तक जगता है तथा रोता हंसता है तथापि जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है तथा सामाजिक परिस्थितियों और अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करता है वह शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करके आठ घंटे (एक बार में) सोने का प्रयत्न करता है। किन्तु इसे भी आवश्यकतानुसार घटा सकता है तथा बढ़ा सकता है।

जहां तक निद्रा का एक बार में पूरा होने का प्रश्न है यह आवश्यक नहीं है कि निद्रा एक बार में पूरी की जाए, वरन् आवश्यकतानुसार टुकड़ों में भी पूरा कर सकते हैं जैसा कि बालक करते हैं तथापि यह व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है, क्योंकि कार्यालयों, व्यापारिक संस्थान एक निश्चित समय में ही कार्य करते हैं। वैसे विद्यार्थी इसका उपयोग कर अधिक काल तक बिना थकावट के पढ़ सकते हैं यदि वे आठ घंटे की नींद को दो तीन बार में पूरा करें। इससे वे चैतन्य तथा प्रसन्न चित्त बने रहेंगे।

अनिद्रा रोगः यदि आपको ठीक प्रकार से निद्रा आती है तो आप भाग्यशाली हैं और आप अनेक कठिनाइयों तथा कष्टों से बचे हुए हैं। अनिद्रा रोग अत्यन्त कष्टदायी होता है तथा इसका प्रभाव केवल आप तक ही न रह कर आपके सामाजिक व्यवहारों तथा क्रिया कलापों पर भी

पड़ता है। यदि आपको रात्रि में नींद न आयेगी तो निश्चित रूप से आप प्रातःकाल में प्रसन्न चित्त न होंगी : मन भारी होगा, कार्य करने में रुचि न होगी तथा बहुत सम्भव है कि स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाय और आप सामान्य कार्य में भी गलती करने लगें। यदि यह स्थिति अधिक समय तक चलती रहे तो अन्य शारीरिक तथा मानसिक रोग भी हो सकते हैं जैसे मतिभ्रम इत्यादि। गुण अवस्था में निद्रा कुछ कम आती है किन्तु यदि ठीक प्रकार से आवे तो रोगी को स्वस्थ होने में सहायक होती है।

कुछ सम्भावित कारण : इसके कारण दो प्रकार के हैं—(1) मानसिक (2) शारीरिक। मानसिक कारण प्रमुख कारण है तथा इसके दो मुख्य कारण हैं मानसिक अशांति तथा तनाव। मानसिक अशांति तथा तनाव के पीछे व्यापारिक, व्यावसायिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएं हैं। इसी भांति सर्वमान्य सामाजिक नियमों के विरुद्ध कार्य करने वालों को अंततोगत्वा मानसिक ग्लानि होती है जो अनिद्रा का कारण बन जाती है।

आज के इस भौतिकवादी युग में जब कि पुरातन मान्यताएं टूट रही हैं तथा प्रत्येक कार्य, वस्तु और व्यवहार का मूल्य धन से आंका जाता है यह समस्या अधिक भीषण होती जा रही है। चूंकि कोई भी व्यक्ति चाहे कितना अपने 'हीन कार्य' को बाहरी रूप से ठीक सिद्ध करने का प्रयत्न करे तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति 'उदार' बनने का प्रयत्न करे, एक समय उसके जीवन में ऐसा अवश्य आवेगा जबकि उसे अपने कृत्यों पर क्षोभ होगा और मानसिक अशांति होगी किन्तु तब तक वह अपने कार्यों में इस प्रकार जकड़ गया होगा कि उससे छुटकारा सम्भव न होगा। यही अनिद्रा तथा अन्य मानसिक रोग का आरम्भ है।

उपचार

इसका उपचार केवल मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ ही कर सकता है। जो समस्या को समझ कर उसका साइको-थेरापी से उपचार करेगा। इसके अतिरिक्त दृढ़ इच्छावान रोगी स्वयं भी चिकित्सा कर सकते हैं यदि वे कारण खोज कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करें।

स्वप्न भी

स्वप्नों का अनिद्रा से गहरा सम्बंध है। यदि स्वप्न भय पूर्ण तथा दुख पूर्ण हो तो नींद नहीं आती है क्योंकि स्वप्न तो केवल मानसिक विचारों का प्रतिबिंब होता है। रोमांच पूर्ण, रहस्यमय तथा डरावने सिने चित्र, उपन्यास तथा घटनाओं से भी ऐसा हो सकता है अतः इनका पढ़ना या देखना भी बंद कर देना चाहिए तथा ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिसमें मानसिक उत्तेजना हो और अनिद्रा रोग हो जाय।

अनिद्रा : कृत्रिम रोग

यद्यपि यह सही है कि इससे अनेक व्यक्ति पीड़ित होते हैं किन्तु इन अनेकों में से अधिक व्यक्तियों का रोग काल्पनिक होता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार यद्यपि रोगी का विचार है कि उसे लेटने के एक घंटे पश्चात् नींद आती है किन्तु वास्तव में वह केवल 15 मिनट पश्चात् ही निद्रा मग्न हो जाता है। इसी भांति वह निद्रा के सात घंटों में पौने 6 घंटे वह गहरी नींद ले सकता है जबकि सामान्य व्यक्ति साढ़े छै घंटे सोता है। अनिद्रा रोगी की नाड़ी गति तथा तापक्रम अन्य सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक होता है तथा वह सामान्य व्यक्ति के स्वप्न देखने के (निद्रा काल के) 25% समय के विरुद्ध केवल 17% समय में ही स्वप्न देखता है। इनके अतिरिक्त वह सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा दूनी बार निद्रा काल में मूत्र त्याग करता है।

कुछ अन्य शारीरिक कारण

कुछ शारीरिक व्याधियों के कारण भी नींद नहीं आती है जैसे—(1) शरीर में दर्द, (2) सांस लेने में कठिनाई, खांसी की तीव्रता, (3) बहुमूत्र, खाज, रक्तचाप की अधिकता, हृदय का तेजी से धड़कना, मदहोशी तथा तीव्र ज्वर। अतः इन कारणों में से कोई कारण हो तो उसका ठीक उपचार कराने से अनिद्रा रोग नष्ट किया जा सकता है।

अनिद्रा : कुछ सामान्य सावधानियां

(1) गाढ़ी निद्रा के लिए शारीरिक तथा मानसिक रोग के उपचार के अतिरिक्त साफ सुथरा शयन स्थल, मुलायम बिछौने, मंद प्रकाश तथा शांत वातावरण आवश्यक है।

(2) सोने से पूर्व गर्मी के दिनों में शीतल जल तथा सर्दी के दिनों में गर्म पानी से स्नान अनिद्रा रोग के उपचार में सहायक है।

(3) सोने से पूर्व गरिष्ठ भोजन न करके गर्म पेय जैसे दूध इत्यादि लेना चाहिए।

(4) ऐसी दशा में लेटना चाहिए कि शरीर के किसी भी भाग पर अनावश्यक दबाव न पड़े तथा मांस पेशियां अपना तनाव कम कर सकें।

(5) जहां तक हो सके निश्चित समय पर ही निद्रा लेनी चाहिए।

(6) रेडियो तथा उत्तेजक पुस्तकों को सोने से पूर्व नहीं सुनना, पढ़ना चाहिए।

(7) इस बात का प्रयत्न कीजिए कि प्रातःकाल जिस दशा में सोकर उठें उसी भांति रात्रि में लेटें।

(8) निद्रा के पूर्व सिगरेट, सिगार, तम्बाकू का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसे स्नायविक उत्तेजना होती है और निद्रा नहीं आती है।

(9) सायंकाल भोजन के पश्चात् घूमने से भी मंद-मंद थकावट आ जाती है इससे भी निद्रा अच्छी आती है।

(10) बच्चों को इस रोग से बचाने की जिम्मेदारी आपकी है तथा उन्हें बचपन से ही ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे जीवन भर सुख की नींद सो सकें जैसे बिछौने पर लेटने के पश्चात् उन्हें केवल सोना है और कुछ नहीं करना है। यदि उसे समय से नींद न आवे तो समय में परिवर्तन करिये तथा जिस समय वह ठीक से सो सके उसी समय उससे सोने के लिए कहिए। यदि उसे नींद न आवे तो भलीभांति उसकी डाक्टरी जांच कर-

(शेष पृष्ठ 137 पर)

मशीनों को ठंडा पानी चाहिए

जाय? हमारे देश के बहुत से उद्योगों के लिए संयन्त्र संचालन में यह एक मौलिक समस्या है। इस समस्या का व्यापक महत्व है क्योंकि वाष्पीय टर्बाइन संघनक, प्रज्वलक इंजन प्रणाली, डीजल पद्धति, बिजली घरों, वातानुकूलन व्यवस्थाओं तथा बहुत से रसायनों एवं उर्वरकों आदि के निर्माण में इसकी अपनी विशिष्ट भूमिका है। एक ओर उद्योग और दूसरी ओर कृषि पर इसका प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विस्तृत राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था से इसका सीधा सम्बन्ध है। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये हमारे उद्योग प्रतिष्ठानों को केवल इसी कार्य में व्यय करना पड़ता है।

कब कहां पानी की कितनी मात्रा को किस सीमा तक ठंडा करने में कैसी प्राविधिक सुविधाएं चाहिए, यह संयन्त्र विशेष की तापक्रम एवं उपकरण प्रणाली पर आधारित होता है।

बहुत से उद्योगों के लिए ठंडा पानी एक महत्वपूर्ण कच्चे माल की भूमिका निभाता है, जिसके बिना कोई भी गतिविधि एक कदम आगे नहीं बढ़ सकती? भाप से चलने वाले इंजनों के लिए तो यह अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यदि इंजन को केवल भाप से ही उपचारित होते रहने दिया जाए तो चाहे कितना ही मजबूत इंजन क्यों न हो, एक न एक स्थिति ऐसी आ जायगी कि उच्च ताप से उसके धातु निर्मित अवयव दुष्प्रभावित हो जायें। इस स्थिति से सम्पूर्ण मशीनरी की रक्षा करने के लिए उसे उतनी ही मात्रा में शीतलता चाहिए जितनी गर्मी उसे मिल रही है। यही कारण है कि हर इच्छित स्थान पर हम बिजलीघर या कोई भी इंजन संयन्त्र स्थापित नहीं कर सकते क्योंकि इसके पूर्व यह सर्वेक्षण आवश्यक हो जाता है कि अमुक स्थान के आसपास कितनी मात्रा में पानी उपलब्ध है और वह कितनी दूर है। कोयला वगैरह तो दूर से भी लाया जा सकता है, पानी नहीं।

यन्त्र प्रणाली को शीतल जल की जितनी मात्रा चाहिए, भार के अनुसार उस की 250-300 गुना पानी की मात्रा की

कि जल-शीतन के लिए जो संघनक हमें चाहिए, वे स्वयं भी जल-चालित होते हैं। इसका उपाय यही हो सकता है कि हम जल-चालित संघनकों के स्थान पर वायु चालित संघनक अर्थात् कण्डेन्सरों को उपयोग में लायें।

समुद्र के किनारे जो संयन्त्र लगे होते हैं, उनमें ऐसी व्यवस्था होती है कि समस्त प्रणाली में एक ओर से जल प्रविष्ट होता है और यन्त्रों को शीतल करता हुआ दूसरी ओर से निकल जाता है। इसमें कोई विशेष कठिनाई इंजीनियरों को नहीं होती, सिवाय इसके कि जल का क्लोरिणीकरण करना आवश्यक हो जाता है जिससे उसमें ऐसी गंदगियां न रह जायें जो अपने साथ काइयों और अन्य जीवाणुओं को लिए हुए इंजनों के भीतर पहुंच सकती हैं।

वास्तविक समस्या वहां उपस्थित हो रही है जहां बड़ी बड़ी बिजली से चलने वाली मशीनें छोटीछोटी नदियों या गहरे कुओं के किनारे चल रही हैं। यहां हमें ऐसी व्यवस्था अपनानी आवश्यक हो जाती है, कि जो पानी इंजन को ठंडा करने के बाद वापस बाहर निकलता है, उसी का उपयोग दुबारा किया जाय। इसके लिए जल का आरम्भ से ही इस सीमा तक शुद्धीकरण आवश्यक हो जाता है कि दूसरी या तीसरी बार उसे इस्तेमाल करते समय और किसी भी दूसरी समस्या का सामना न करना पड़े, सिवाय इसके कि उसके तापक्रम को कम किया जाय। भिन्न भिन्न स्थानों पर पाये जाने वाले जल में हाइड्रोजन और आक्सीजन के अतिरिक्त कौन कौन से तत्व मौजूद हैं, इस पर आधारित होता है वहां के जल का गुप्त ताप अर्थात् लेटेण्ट हीट। इस गुप्त ताप पर आधारित होता है कि किस स्तर की शीतायन व्यवस्था उसे चाहिए। अनुमानतः ग्रीष्म के दिनों में भी पुनर्प्रवाह प्रणाली के लिए जल का तापक्रम 50° सें. तो अवश्य ही होना चाहिए।

पुनर्प्रवाह प्रणाली में पानी को काफी ऊंचे एक कूलिंग टावर तक पहुंचाया जाता है और उसकी अधिकांश मात्रा वाष्प द्वारा नष्ट हो जाती है। अतः आयोजकों को उपयोगी

जल और नष्ट होने वाले जल दोनों की गणना करनी होती है। खारी पानी में वाष्पन की समस्या यह हो जाती है कि नमक का अंश धीरे-धीरे जमकर नीचे बैठने लगता है और उसकी सफाई करनी पड़ती है।

पानी में घुले हुए ठोस पदार्थों की सान्द्रता और उनके द्वारा नष्ट होने वाले जल के बदले आवश्यक जल के अनुपात को इंजीनियर सान्द्रण संख्या कह कर पुकारते हैं। इस संख्या का अनुमान क्लोराइड तथा कार्बोनेट अवयवों से ही हो सकता है। जलहानि सदैव सान्द्रण संख्या की विलोम अनुपाती होती है। कार्बोनेट परीक्षण द्वारा प्राप्त सान्द्रता संख्या यदि क्लोराइड परीक्षण द्वारा प्राप्त सान्द्रता संख्या से कम हो तो इसका अर्थ है कि संघनक में कार्बोनेट का जमाव होने लगा है। अन्यथा यह संख्या दोनों परिस्थितियों में समान होनी चाहिए।

हमारे देश में 1950-60 के दौरान जितने ताप विद्युत केन्द्र स्थापित किए गए उनमें जलशीतन समस्या की ओर ध्यान इसलिए नहीं दिया गया था कि उस समय पानी की समस्या इतनी विकट नहीं थी और उद्योगों में कच्चे माल के रूप में पानी का जो महत्व हैं, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि यह समस्या विश्व के हर कोने में आती जा रही है। विषयान्तर न समझा जाय तो जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने हाल में यहां तक कहा है कि हमें समुद्रों में हाइड्रोजन बम फेंकने चाहिए ताकि उससे पानी वाष्पीकृत हो और अधिक से अधिक बादल बनें और बरसें।

जलीय शीतन की व्यवस्था बड़ी खर्चीली बैठती है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसके सुगठित न होने से संघनक अपना कार्य एक दो सप्ताह के बाद बन्द कर देते हैं और उनकी सफाई करनी पड़ती है। इस अवधि में उत्पादन बन्द रहता है। यह अप्रत्यक्ष हानि और भी बड़ी होती है। न केवल मुख्य जलीय शीतन उपकरण, अपितु सम्पूर्ण यन्त्र प्रणाली की ऐसी हर सतह जिसे छूते हुए पानी गुजरता है, हमें तांबे से तैयार करनी पड़ेगी। ऐसा न करने पर धातु क्षरण की समस्या आ जाती है। यह सावधानी और भी खर्चीली बैठेगी।

विशेषतः भारतीय नदियों और कुओं के पानी में एक अच्छाई यह है कि उनमें सल्फेट अवयव की मात्रा या तो होती ही नहीं या नगण्य होती है। विश्व के अन्य स्थानों पर कार्बोनेट और क्लोराइड के साथ साथ सल्फेट से भी जल को मुक्त करना पड़ता है। बहुधा हमारे यहां के जल में कैल्शियम कार्बोनेट का अंश भी नगण्य ही होता है। गर्म देश में तापमान अधिक होने से कार्बन डाइ आक्साइड को घोलने की क्षमता भी पानी में बहुत कम होती है। बावजूद इसके कैल्शियम की तह संघनकों में जम ही जाती है।

हमारे देश की विभिन्न राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में चल रहा अनुसन्धान कार्य इस दिशा में पर्याप्त सहायक हो सकता है। वस्तुतः यह समस्या ऐसी है कि कई प्रयोगशालाओं को मिलकर इसके लिए कार्य करना पड़ सकता है। दुर्गापुर स्थित यान्त्रिकी अनुसन्धान संस्थान ने धातुओं के ऐसे उपचार में सिद्धहस्तता दिखाई है जिसके द्वारा जल-संपर्क में भी धातुयें क्षरण से बची रहती हैं। संरचना इंजीनियरी अनुसन्धान केन्द्र, रुड़की और राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमशेदपुर ने भी इस समस्या में विशेष रुचि ली है। जलीय वाष्पन और सान्द्रण द्वारा जल में घुले हुए ठोस पदार्थों के जमाव को रोकने की समस्या से सम्बन्धित अनुसन्धान भावनगर के केन्द्रीय नमक एवं समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान में काफी आगे बढ़ चुका है। इसी प्रकार अन्य प्रयोगशालाओं एवं प्रायोजित अनुसन्धान कार्यक्रमों के अन्तर्गत अन्य अनुसन्धान प्रतिष्ठानों द्वारा भी इस समस्या के विभिन्न पक्षों पर पहले से विस्तृत अनुसन्धान किया जा चुका है।

मशीनों को ठंडा पानी चाहिए। इसके लिए अलग से कोई विस्तृत अनुसन्धान कार्य करने की आवश्यकता लेशमात्र भी नहीं रह गई है। केवल इतना ही हमें करना है कि मशीनों के जलीय शीतन के जिन जिन पक्षों में जो समस्यायें हैं, उनसे सम्बन्धित प्रयोगशाला के विशेषज्ञों से हम इस विषय में ज्ञान प्राप्त करें और मशीनीकरण-मूलक राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की इस मूलभूत समस्या को शीघ्र हल करें।

(वि. स. से.)

पद्मभूषण से सम्मानित



प्रो. नीहार रंजन रे
इन्सडाक और प्रकाशन एवं सूचना
निदेशालय की कार्यकारिणी के अध्यक्ष



डा. आदि नाथ लहरी
निदेशक, केन्द्रीय ईंधन
अनुसन्धान संस्थान, धनबाद



श्री कस्तूरिस्वामि श्रीनिवासन
निदेशक, दक्षिण भारत कपड़ा
अनुसन्धान संस्था, कोयम्बत्तूर

न्यूक्लीय विखंडन के जन्मदाता

आटोहान

डा. जगदीश लूथरा

सन 1939 के प्रारम्भ में, जर्मनी की जगप्रसिद्ध कैसर इन्स्टीट्यूट में दो रसायनशास्त्री जी-जान से अनुसंधान कार्य में जुटे थे। शोध का विषय था, 'उत्तरयूरेनियम तत्वों की खोज'। उस समय तक आवर्तन सारणी का अन्तिम तत्व यूरेनियम था और संसार की प्रमुख प्रयोग-शालाओं में संभावित उत्तरयूरेनियम तत्वों पर अनुसंधान कार्य हो रहा था। मुख्यतः यूरेनियम पर न्यूट्रानों का प्रकीर्णन करके नये तत्वों को बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था।

विलियम कैसर इन्स्टीट्यूट में काम करते हुए वैज्ञानिकों में से एक का नाम आटोहान था जिनका स्वर्गवास थोड़ी-सी अस्वस्थता के बाद इसी 28 जुलाई को हुआ है। दूसरे वैज्ञानिक थे श्री स्ट्रास मैन।

आप दोनों ने यूरेनियम धातु पर मन्द गति वाले न्यूट्रानों के प्रभाव के अध्ययन में रासायनिक विधियों का प्रयोग किया था। एक बार, प्रतिक्रियात्मक उत्पादों को जांचते समय बेरियम की कुछ मात्रा प्राप्त हुई। यह एक अकल्पनीय परिणाम था। यूरेनियम किस प्रकार बेरियम में परिणित हो गया?

इस घटना का उल्लेख करते हुए आटोहान और स्ट्रासमैन ने अपने शोध-पत्र में लिखा, "रसायनशास्त्री होने के नाते हमें निश्चयपूर्वक, किन्तु विवशता से यह कहना पड़ रहा है कि यह नया उत्पाद (जो यूरे-नियम द्वारा न्यूट्रान परिग्रहण के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, रेडियम की तरह आचरण नहीं करता किन्तु उसके गुणधर्म बेरियम सदृश है।"

नये तत्वों की खोज का यह एक बड़ा ही विचित्र परिणाम था। इसमें एक अधिक परमाणुभार वाला परमाणु ज्ञात परमाणुओं में विखंडित हो गया था।

उस समय की विचारधारा के अनुसार ऐसे प्रयोग में यूरेनियम के आसपास वाले किसी न किसी तत्व की अपेक्षा की जाती थी। लेकिन बेरियम की उपस्थिति ने उस समय के वैज्ञानिकों को चकित कर दिया था।

इन प्रयोगों का वास्तविक महत्व मीटनर ने समझा। हुआ यह कि मीटनर उन दिनों जर्मनी से विस्थापित हो कर, स्टाक होम रहा करती थी। उनका भतीजा फ्रिश, अपना सप्ताहांत बिताने चाची के पास आया। बातों बातों में उसने इन परिणामों की भी चर्चा की। ली मीटनर इससे पूर्व आटोहान के साथ काम कर चुकी थीं। उन्होंने फ्रिश से कहा, "जहां तक रासायनिक विश्लेषण का सम्बन्ध है, आटोहान का कार्य असंदिग्ध है। यदि उसने उत्पादों में बेरियम का अंश पाया है तो यह मानना ही पड़ेगा। मुझे आटोहान पर पूर्ण विश्वास है।" तत्-पश्चात मीटनर ने आटोहान के परिणामों का आधार लेकर न्यूक्लीय

विखंडन की परिकल्पना की। मीटनर ने समझाया कि इस प्रक्रिया में यूरेनियम, न्यूट्रान का परिग्रहण कर लेता होगा और फिर उत्तेजित हो कर दो बराबर भागों, बेरियम और लेन्थनम में विखंडित हो जाता होगा।

यह, बड़ा ही क्रान्तिकारी हल था क्योंकि इससे पूर्व किसी भी रीति से तत्वों को बनाना संभव नहीं हुआ था।

ज्यों ही न्यूक्लीय विखंडन की यह परिकल्पना प्रकाशित हुई, समस्त संसार की भौतिकी प्रयोगशालाओं में खलबली मच गई। कई जगह काफी तेजी से इस विषय पर कार्य होने लगा।

लगभग एक वर्ष में ही 100 शोध पत्र न्यूक्लीय विखंडन पर प्रकाशित हुए।

आज हम न्यूक्लीय ऊर्जा से विद्युत शक्ति प्राप्त करने जा रहे हैं, वह इस विखंडन का ही चमत्कार है। मानव कल्याण में न्यूक्लीय ऊर्जा के प्रयोग की यह एक रीति है।

किन्तु वह व्यक्ति हमारे मध्य अब नहीं है जिसने न्यूक्लीय विखंडन प्रक्रिया के रूप में ऊर्जा का अनंत भण्डार मानवजाति को दिया है। संसार के इस प्रमुख रसायनशास्त्री का जन्म फ्रैंकफर्ट, जर्मनी में हुआ था। मान्ट्रीयल में आपको जगप्रसिद्ध प्रो. रुदरफोर्ड से शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शीघ्र ही, 26 वर्ष की अल्पायु में आपने एक नए आइसोटोप थोर को खोज निकाला।

आप न्यूक्लीय विखंडन के आधार पर परमाणु बम बनाना चाहते थे लेकिन तत्कालीन सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। स्वयं आर्थिक दशा इतनी अच्छी नहीं थी कि इस तरह का खर्चीला कार्य कर सकें।

इन्हीं कारणों से आपने परमाणु बम बनाने की योजना को विलंबित कर दिया और उत्तरयूरेनियम तत्वों के रासायनिक गुणधर्मों के अध्ययन की ओर मुड़ गए।

प्रो. आटोहान के कार्य की महत्ता को देखते हुए उन्हें वर्ष 1944 का नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

प्रो. आटोहान एक शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। सन 1957 में संसार के 17 मुख्य न्यूक्लीय वैज्ञानिकों के साथ मिलकर परमाणु अस्त्रों के निषेध के लिए आपने एक अपील की थी।

प्रो. आटोहान ने 1926 में, ट्रेसर वाहक कोलाइड पर भी काफी अनुसंधान किया था जिसके फलस्वरूप 'ट्रेसर वाहक प्रक्रिया' को समझने में काफी सहायता मिली है।

आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें 'व्यावहारिक रेडियधर्मिता' और 'नये तत्व' काफी उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

अपने अन्तिम समय में आप गोटोनजन, जर्मनी में थे। जुलाई मास की 28 तरीख को निमोनिया के कारण आपका निधन हो गया। आपकी आयु 89 वर्ष की थी।

आज प्रो. आटोहान हमारे बीच नहीं हैं परन्तु वह अपना नाम शीर्षस्थ परमाणु वैज्ञानिकों में अमर कर गए हैं।

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टैक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है। प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिये जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके।

लेखों की शब्द संख्या 2000 से अधिक नहीं होनी चाहिये।

लेख कागज की एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिये। हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं। चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहिये। फोटो ग्लौसी कागज पर होने चाहिये।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति' भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, के पते पर आनी चाहिये।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिए। इसमें लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हाबी होनी चाहिए।

'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धत किया जा सकता है।

मछलियों से

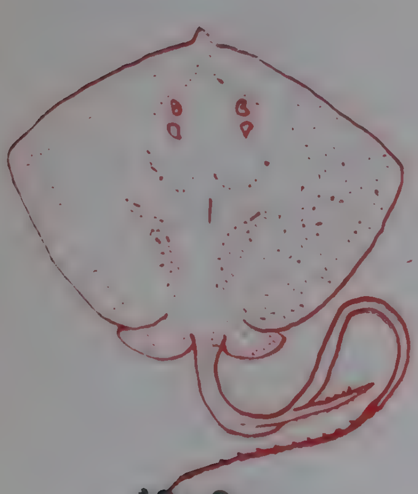
मछलियां मनुष्य जाति के लिए अति प्राचीन काल से आर्थिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुई हैं क्योंकि हम इनसे खाद्य, तेल एवं अन्य उपयोगी प्रकरण उपलब्ध करते रहे हैं। रंगबिरंगी मछलियां अपने चंचल स्वभाव द्वारा प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं और सब प्रकृति की इन सुन्दर कृतियों को मंत्र-मुग्ध देखते रह जाते हैं। परन्तु प्रकृति का यह एक पहला रूप है, दूसरी तरफ मछलियों की अनेक ऐसी जातियां हैं, जिन्हें यदि आप छेड़ें तो वह बिच्छू की तरह आपके लिए विषैली हो सकती हैं। कुछ ऐसी भी हैं, जिन्हें खाना मृत्यु को न्योता देना ही समझिए। उन मछलियों की संख्या भी कम नहीं, जो नर-भक्षी हैं। और तो और, ऐसी भी मछलियां हैं, जिनके शरीर में विद्युत संचार होता रहता है। इनके स्पर्श-मात्र से बड़े-बड़े जीव धराशायी हो सकते हैं।

उपास्थि-मीन (सेलैकियन) में विष-अंग स्क्वालस, हीट्रोडांट्स, डेसिएटिस, माइलोबेटिस, काईमीरा एवं ट्राइगन जातियों में पाई जाती है। ट्राइगन मछली अपनी पूंछ के डंक के लिए दुर्नाम है, जो कि 5' लम्बी होती है। कहा जाता है कि यदि यह किसी बड़े वृक्ष की जड़ में डाल दी जाय तो पूरा वृक्ष ही सूख जाता है। यद्यपि आक्रमण करने में पहल इस मछली की नहीं होती, परन्तु उकसाने पर अपने शत्रु को बुरी तरह घायल करने में ये ज़रा भी नहीं हिचकतीं। आये दिन दैनिक-पत्रों में रिपोर्ट मिलती है कि अमुक व्यक्ति ट्राइगन मछली के डंक-प्रहार से मारा गया। ये मछली उष्ण कटिबंधी सागरों में तथा दक्षिणी अमरीका के अलवण-जल में पाई जाती है। ट्राइगन की समुद्री जातियां कभी-कभी 14 फुट लम्बी होती हैं।

अस्थिल (टिलियोस्ट) मछलियों में भी विष-ग्रंथि और इनसे सम्बन्धित कोषिकायें पाई जाती हैं। करीब इस तरह की 40 विषैली जातियां हैं। अशल्य मीन (कैट-फिश) वीवर, स्कार्पियन, टोड तथा साइगेनिड मछलियां, अपने विष-ग्रंथि के संदर्भ में बहुचर्चित हैं। इनके अंस-पख के डंक से एक तीव्र विष निकलता है, जिसकी तुलना केवल नाग और रैटल सर्प के विष से ही की जा सकती है। वीवर मछली (ट्रेकिनस) का विष तो बिल्कुल वाइपर सांप के काटे जाने जैसे लक्षण पैदा करता है, जिसका विषैला प्रभाव तंत्रकीय एवं रुधिर संवहन पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त तेज़ बुखार, बेहोशी, कै-आना और यहां तक कि हृदय-गति रुक जाने से मृत्यु तक सम्भव है। इस मछली के विषैले डंक गिल-छद और पृष्ठ-पंख पर पाये जाते हैं।

स्यानसिया मछली जो उष्ण कटिबंधी सागरों और हिन्द महा-सागर में रहती है देखने में बदसूरत और उतनी ही खतरनाक भी होती है। ये कोरल रीफ (प्रवाल-भित्ति) में छद्मावरण वेष में बैठी रहती है। बस आपका पैर इसके ऊपर पड़ने की देर है कि इसने अपने पृष्ठ-पंख के शूल से आपको डंक मारा। सिंघी और मांगुर मछली के डंक की मार तो शायद प्रत्येक मछली खाने वाले परिवार का कोई न कोई सदस्य अनुभव कर ही चुका होगा। इनके अंस-पख के शूल से केवल घाव ही नहीं, वरन् अत्यन्त पीड़ा और पीड़ित अंग में सूजन भी आ जाती है।

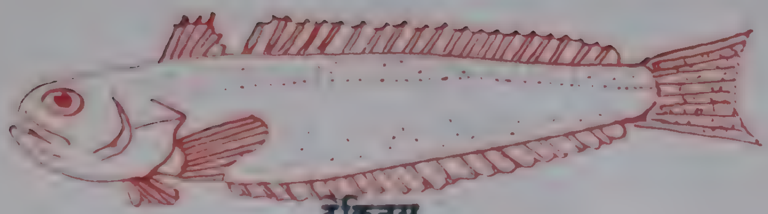
पफ़र, ग्लोब एवं फ़ाइल जाति की मछलियों का मांस विषैला होता है। मुकी-मुकी नामक मछली का मांस खाना मृत्यु का आवाहन करना है। इन मछलियों में जो विष होता है वह एक प्रकार का 'ऐल-केलॉइड' है, जिसे 'ल्यूकामेन' कहते हैं। जापान की फूगो मछली का मांस भी अत्यन्त विषैला होता है।



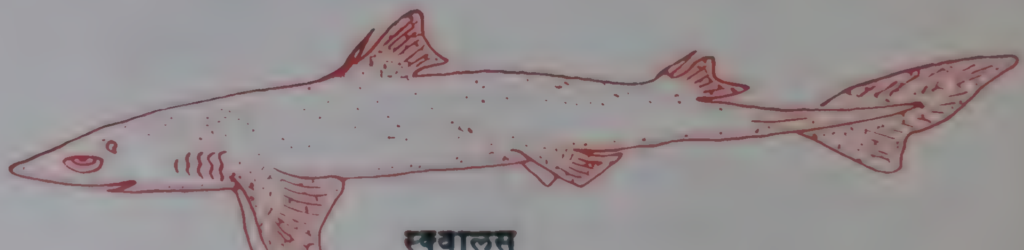
डैसिएटिस



माइलोबेटिस



ट्रेकिनस



स्क्वालस

सतर्क रहिये

अनिल कुमार श्रीवास्तव

राजा, टारपीडो, हिप्नास, (शार्क्स तथा रे जाति) जिम्नोटस (इलैक्ट्रिक ईल) इलेक्ट्रोफ़ोरस, मेलाप्टोरूरस (कैटजाति की मछली) मारमाइरस तथा स्टार-गेज़र मछलियां चलती-फिरती पावर हाउस हैं। दक्षिणी अमरीका के अलवण जल में रहने वाली इलेक्ट्रोफ़ोरस तो अपने उच्च वोल्टता से एक हृष्ट-पुष्ट घोड़े तक को धराशायी कर सकती है। अरब देश के लोग मेलाप्टोरूरस को इसके विद्युत पैदा करने के शक्ति के कारण इसे 'राड' कहते हैं, जिसका हिन्दी रूपान्तर मेघ-गर्जन होता है। इन मछलियों की विद्युत उत्पादन करने की शक्ति निम्नलिखित नामावली में अंकित है :—

राजा —4 वोल्ट
टारयडो —40 वोल्ट
इलैक्ट्रिक ईल —370–550 वोल्ट
इलैक्ट्रिक कैटजाति की मछली —350–450 वोल्ट

अधिकांशतः इन मछलियों में विद्युत-अंग कायांतरित पेशी तंतुओं से बनता है, जिन्हें इलेक्ट्रोप्लेक्सस कहते हैं और जो अनेक पट्टिका में व्यवस्थित रहती हैं।

इन मछलियों के अतिरिक्त और भी जंगली और रक्त-पिपासी मछलियां हैं। पिरान्हा या कैरिबे तो रक्त-गन्ध पाते ही भूखे भेड़िये की भांति अपने शिकार पर टूट पड़ती हैं। अधिकतर इनका आक्रमण गिरोह में होता है और मिनटों में शिकार का नामोनिशान मिटा देती हैं। बहुत से मछुए इनके गिरफ्त में आकर अपने अंग गंवा चुके हैं। उष्ण कटिबंधी सागरों में रहने वाली बैराकुडा (स्फाईरीना), लार्ज, ग्रुपर्स तथा बास मछलियों ने बहुत से मछुओं को जीवन-पर्यन्त के लिए अपाहिज बना दिया है। बैराकुडा तो अपने शिकार की प्रतीक्षा में घात लगाकर बैठी रहती है। बास मछली तो मनुष्यों को एक ही ग्रास में निगल जाने के लिए कुख्यात है।

स्वोर्ड और सेल मछली, जो लम्बे और नुकीले शूल से लैस रहती है, नौकाओं को बेध देती है और मनुष्यों का शरीर फाड़ देती है। नीडल मछली तो मनुष्य का उदर फाड़ सकती है। इनका आक्रमण वैसे संयोग-वश ही होता है।

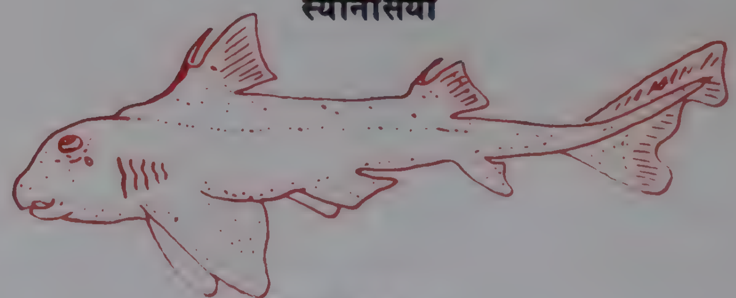
कभी कभी मछुए छोटी-छोटी मछलियों को मारने के लिए उन्हें अपने दांत से काट देते हैं। ऐसा करना उनके लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है। बहुधा ये मछलियां मछुओं के गले में सरक जाती हैं, फिर तो सांस रुक जाने से मृत्यु की आशंका रहती है।

छोटी-छोटी पेस्की और कैनडीरू मछलियां स्नान करने वालों के लिए अत्यन्त भयानक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। ये स्नान करने वालों के लिंग अंग के छिद्रों में पैठ जाती हैं। इनके सिर और गिल-छद पर असंख्य सूक्ष्म और नुकीले कांटे होते हैं, जो लिंग-वाहिनी में फंस जाते हैं, जिससे अत्यन्त पीड़ा होती है। इन मछलियों को केवल तात्कालिक आपरेशन द्वारा ही निकाला जा सकता है, अन्यथा मृत्यु निश्चित ही समझिए। कैनडीरू मछली, चूंकि किसी भी जल-प्रवाह की तरफ आकर्षित होती है, अतएव स्नान करते समय जल में मूत्र करना झंझट मोल लेना है।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ मछलियां कितनी खतरनाक होती हैं। अतएव, नदी आदि में स्नान अथवा तैरते समय विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिये।



स्यानसिया



हीटरोडाट्स



स्कार्पिन



काईमीरा

पानी का बेढंगापन

प्रमोद जोशी

पानी। देखने सुनने में कितना साधारण सा लगता है यह पदार्थ 'रंगहीन गंधहीन और स्वाद हीन। फिर बेढंगा-सा है ही क्या इसमें ?

सबसे बेढंगी बात तो यही है इसमें कि सामान्य परिस्थितियों में यह द्रव है जबकि होना इसे चाहिए था गैसीय अवस्था में।

हाइड्रोजन और आक्सीजन नामक जिन दो तत्वों के रसायनिक संयोग से पानी बनता है वे दोनों गैसें ही हैं। इन दोनों समेत सारे के सारे तत्व अपने परमाणु अंक के आधार पर एक निश्चित क्रम में 'पीरियोडिक' तालिका में संयोजित रहते हैं और इस क्रम में सबसे पहला साथ है हाइड्रोजन का, जो सबसे हल्का तत्व है। इसी क्रम में आक्सीजन से एक स्थान पहले नाइट्रोजन और एक स्थान आगे फ्लोरीन नामक तत्व स्थित रहते हैं। अब नाइट्रोजन व फ्लोरीन के साथ मिल कर तो हाइड्रोजन गैसीय पदार्थ बना और आक्सीजन के साथ मिलकर एक द्रव—पानी, तो हुई न बेढंगी बात !

भौतिक शास्त्र का एक सिद्धान्त है कि पदार्थ गर्म करने पर फैलते और ठंडा करने पर सिकुड़ते हैं। मगर पानी यहां भी अपने बेढंगेपन से बाज नहीं आता। 0° सेन्टीग्रेड तापक्रम वाले पानी को गर्म करने पर 4° सेन्टीग्रेड तक तापमान बढ़ने के साथ साथ पानी सिकुड़ता है यानी उसका आयतन कम हो जाता है। पर 4° सेन्टीग्रेड से और अधिक गर्म करने पर पानी फैलना आरम्भ करता है तथा उसका आयतन भी बढ़ने लगता है।

कुछ भी हो, पानी का उक्त बेढंगापन पृथ्वी के अनेक जीवनों के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध होता है। तापक्रम गिरने की अवस्था में भी 4° सेन्टीग्रेड तक तो पानी का आयतन कम रहता है तथा इससे अधिक ठंडा करने पर ही उसके आयतन में वृद्धि होती है। 0° सेन्टीग्रेड से अधिक ठंडा होने पर पानी के रूप में भी परिवर्तन आता है यानी वह तरल पानी से ठोस बर्फ में बदल जाता है। बर्फ पानी से कम घना होता है जिसके कारण वह पानी में तैरता है। ठंडे प्रदेशों में, जहां जाड़ों में तापमान अत्यधिक गिर जाने के कारण भील व नदी आदि जम जाती है, इसी सिद्धान्त की वजह से जल का जीवन सुरक्षित रह पाता है। तापक्रम गिरने पर पहले भील आदि की ऊपरी सतह का ही पानी बर्फ में परिवर्तित होता है तथा हल्का होने के कारण यह बर्फ भील की ऊपरी सतह पर एक सुरक्षात्मक कवच-सा बना देती है। इसी कवच के कारण वातावरण के तापक्रम का प्रभाव भील की निचली सतह के जल पर नहीं पड़ता जिसमें जल का जीवन सुरक्षित रहता है।

विश्व में जीवन का प्रारम्भ ही जल से हुआ था अतः पानी यदि ताप द्वारा फैलने-सिकुड़ने के इस सिद्धान्त में बेढंगा न होता तो कदाचित धरा पर आज जीवन ही न होता।

ताप शक्ति है और पानी इसकी चोरी करता है ! मतलब यह कि चाहे इसे थोड़ा सा ही क्यों न गरम किया जाय जितने ताप की आवश्यकता इसे निश्चित तापक्रम तक पहुंचने के लिए होती है, यह उससे कुछ अधिक ही ताप ग्रहण करके अपने भीतर छुपा लेता है। मगर जो कुछ भी अतिरिक्त ताप यह गर्म किये जाने पर अपने अन्दर छुपा लेता है, ठंडा किये जाने पर उसे तत्काल बाहर भी निकाल देता है। चोरी तो करता है बेचारा, परन्तु पचा नहीं पाता!

अन्य सभी तरल पदार्थों की तुलना में पानी में छुपाई गई अतिरिक्त ऊष्मा की मात्रा सबसे अधिक होती है। या, वैज्ञानिक शब्दों में, पानी की 'विशिष्ट ऊष्मा' अन्य सभी द्रवों से अधिक होती है। अब इसी कारण समुद्र का पानी जमीन की अपेक्षा अधिक धीमी गति से गरम व ठंडा होता है, तथा समुद्रतटों का तापक्रम, थलीय व समुद्री हवायें चलने के कारण, वर्ष भर लगभग एक समान ही बना रहता है। न सर्दियों में अधिक ठंडा, न गर्मियों में अधिक गरम।

आइए, अब देखें कि पानी आखिर बेढंगा क्यों है ? पानी के अणु का आकार चार लघु-भुजाओं वाले एक ऐसे गुच्छे का सा बताया गया है जिसकी चारों भुजाएं चार दिशाओं में बाहर की ओर निकली रहती हैं। इनमें से दो भुजाओं में हल्का धनावेश व अन्य दो में हल्का ऋणावेश पाया जाता है, अर्थात पानी के अणुओं के ध्रुव विद्युतीय होते हैं। विपरीत विद्युतीय प्रभाव वाले ध्रुवों में चूंकि एक दूसरे के प्रति आकर्षण

होता है अतः पानी के कई अणु-गुच्छ अपने सिरों से एक दूसरे से चिपक जाते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप पानी के बड़े-बड़े त्रिविमितीय-(3-डायमेन्शनल) समुदायों का निर्माण होता है और अणु-गुच्छों के आपस में जुड़ कर त्रिविमितीय समुदायों के निर्माण की प्रक्रिया को वैज्ञानिक शब्दों में "हाईड्रोजन बौन्डिग' कहा जाता है। अणुओं की इसी त्रिविमितीय स्थिति तथा हाइड्रोजन बौन्ड को ही पानी के द्रव-अवस्था में पाए जाने एवं अन्य कई असामान्य गुणों के लिए उत्तरदायी बताया गया है।

गरम करने पर द्रव-पदार्थों के अणुओं की भ्रमण-गति तीव्र हो जाती है। तापमान इस गति-सम्बन्धी ऊर्जा (काइनेटिक इनर्जी) को नापने का साधन है। पानी के बारे में यह बात भी पूरी नहीं उतरती क्योंकि पानी में अन्य सभी द्रवों की अपेक्षा हाइड्रोजन बौन्डों की संख्या कहीं अधिक होती है। परिणामतः गर्म किए जाने पर ताप का उपयोग न केवल अणुओं के भ्रमण की गति बढ़ाने में ही होता है वरन् उसका काफी बड़ा भाग इन हाइड्रोजन बौन्डों को तोड़ने में भी खर्च होता है। इन बौन्डों का टूटना आवश्यक है क्योंकि ऐसा हुए बगैर पानी के रूप में जो परिवर्तन (उसका वाष्पीय स्थिति में आना) होता है वह सम्भव नहीं है।

त्रिविमितीय अणु-समुदायों की उपस्थिति के कारण ही पानी के उबलने व जमने का तापक्रम भी हाइड्रोजन द्वारा निर्मित सभी द्रवों की अपेक्षा सर्वाधिक (क्रमशः 100° व 0° सेन्टीग्रेड) होता है। यानी इतनी बड़ी तापक्रम-सीमा (0°-से 100° तक) के बीच कोई भी अन्य द्रव तरलावस्था में नहीं रहता। संसार की सभी जीवित वस्तुओं में जीवनदायी तरल प्रोटो प्लाज्म का अधिकांश भाग पानी होता है तथा पानी का इतनी अधिक ताप-सीमा में द्रव-अवस्था में ही बने रहने के फलस्वरूप जीव व वनस्पतियां ठंडक व गरमी के इतने अधिक अंतर को झेल सकने में समर्थ होती हैं।

जीवों की कोशिका जैसे नाजुक भाग में भी आवश्यक रूप से पाए जाने वाला मृदु तरल पानी संसार का सबसे अधिक संक्षारक (जंग लगाने वाला) द्रव है, यह बात भी कुछ बेढंगी लगती है। मगर यह है बिल्कुल सच। सोना व लोहा समेत अनेक कठोर धातुओं को यह घोल सकने अथवा गला डालने में समर्थ है।

पानी संसार का सबसे अच्छा विलायक भी है। मगर पदार्थ घोलने के परिणामस्वरूप कभी कभी इसके गुणों में बड़े विचित्र परिवर्तन भी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि पानी में साधारण नमक घोल दिया जाय तो उसका हिमांक (बर्फ में परिवर्तित होने का तापक्रम) काफी कम हो जाता है। भारी हिमपात के कारण बन्द हो गई सड़कों पर यातायात फिर से खोलने के लिए इस गुण का लाभ उठाया जाता है: नमक का घोल छिड़कने से जमी हुई बर्फ गल जाती है। विलयन के फलस्वरूप उत्पन्न पानी का एक गुण है उसका स्वयमेव ऊपर की ओर चढ़ जाना! लन्दन के युनिवर्सिटी कालेज के डा. व्हाइट ने जल में पोलीईथेलीन आक्साइड नामक पदार्थ घोल कर हाल ही में यह दिखाया है कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को धोखा देकर पानी अब बर्तन में ऊपर की ओर भी चढ़ जाता है। मगर क्यों, यह अभी पता नहीं है।

समय पूर्व जन्मे शिशुओं के लिए नया डिम्ब पोषक

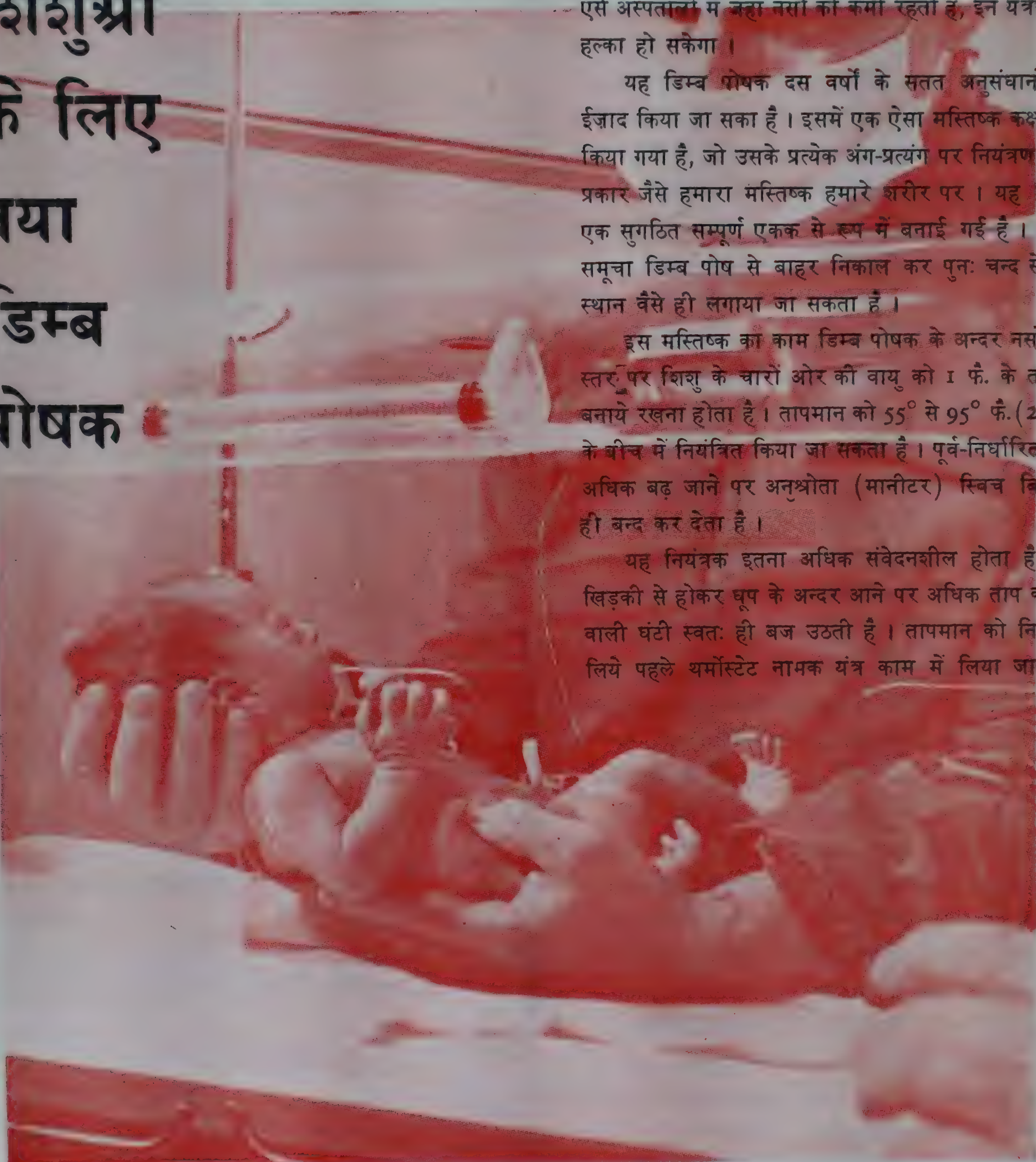
समय पूर्व जन्मे शिशु प्रायः जीवित नहीं बचते और जो बचते हैं, वे साधारण शिशु की तुलना में निम्न रहते हैं। ऐसे शिशुओं को बड़ी सावधानी से रखा जाता है और उन्हें बचाने के पूरे प्रयत्न किये जाते हैं किन्तु फिर भी वे ही बच पाते हैं जो जीवन लेकर आते हैं, ऐसा आम विश्वास है।

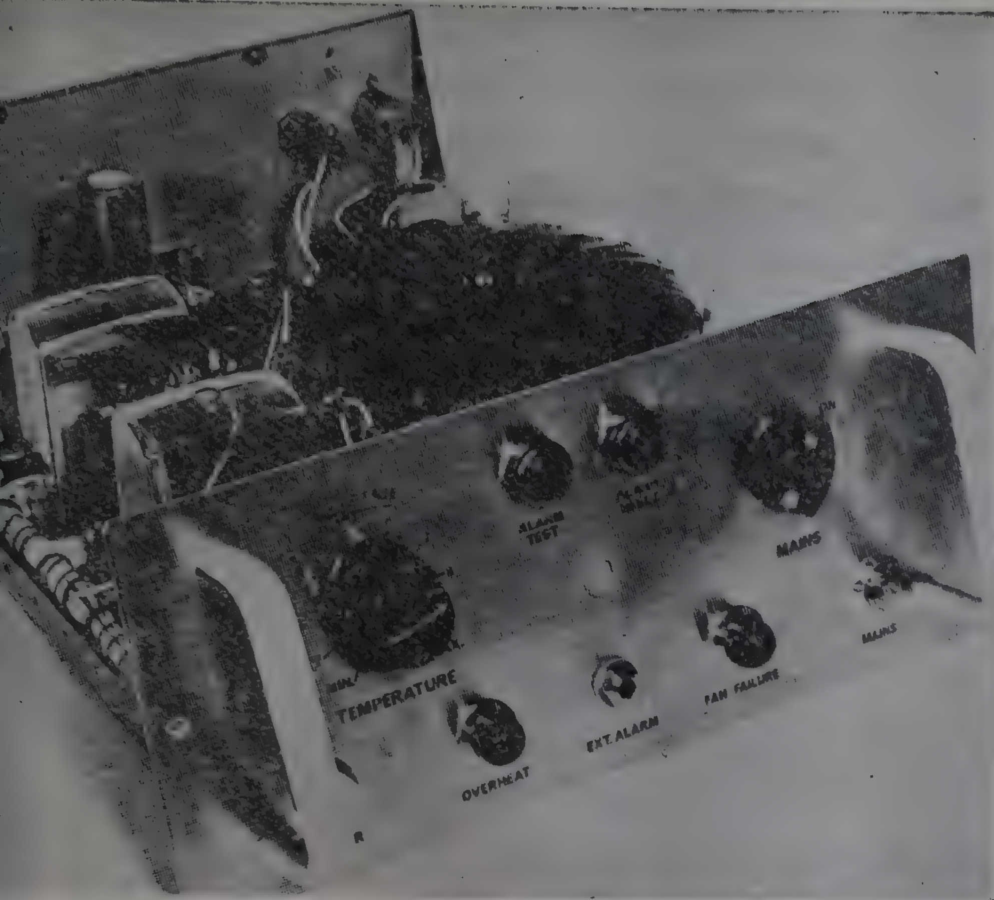
ब्रिटेन में अब एक ऐसा डिम्ब पोषक तैयार कर लिया गया है जिससे भविष्य में ऐसे शिशुओं की निधन संख्या में कमी होने की आशा है। नवजात शिशुओं के लिये यह स्वचालित डिम्ब पोषक ऐसा वातावरण उत्पन्न करता है जो उनके लिये सुखद और पोषक होता है। ऐसे अस्पतालों में जहां नर्सों की कमी रहती है, इन यंत्रों से उनका भार हल्का हो सकेगा।

यह डिम्ब पोषक दस वर्षों के सतत अनुसंधानों के फलस्वरूप ईज़ाद किया जा सका है। इसमें एक ऐसा मस्तिष्क कक्ष का समायोजन किया गया है, जो उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग पर नियंत्रण रखता है, उसी प्रकार जैसे हमारा मस्तिष्क हमारे शरीर पर। यह नियंत्रण प्रणाली एक सुगठित सम्पूर्ण एकक से रूप में बनाई गई है। इसे समूचा का समूचा डिम्ब पोष से बाहर निकाल कर पुनः चन्द सेकन्डों में यथा-स्थान वैसे ही लगाया जा सकता है।

इस मस्तिष्क का काम डिम्ब पोषक के अन्दर नर्सों द्वारा निश्चित स्तर पर शिशु के चारों ओर की वायु को 1 फै. के ताप के आसपास बनाये रखना होता है। तापमान को 55° से 95° फै. (25° से 35° सें.) के बीच में नियंत्रित किया जा सकता है। पूर्व-निर्धारित सीमा पर ताप अधिक बढ़ जाने पर अनुश्रोता (मानीटर) स्विच बिजली को स्वतः ही बन्द कर देता है।

यह नियंत्रक इतना अधिक संवेदनशील होता है कि कमरे की खिड़की से होकर धूप के अन्दर आने पर अधिक ताप की चेतावनी देने वाली घंटी स्वतः ही बज उठती है। तापमान को नियंत्रित करने के लिये पहले थर्मोस्टेट नामक यंत्र काम में लिया जाता था। किन्तु





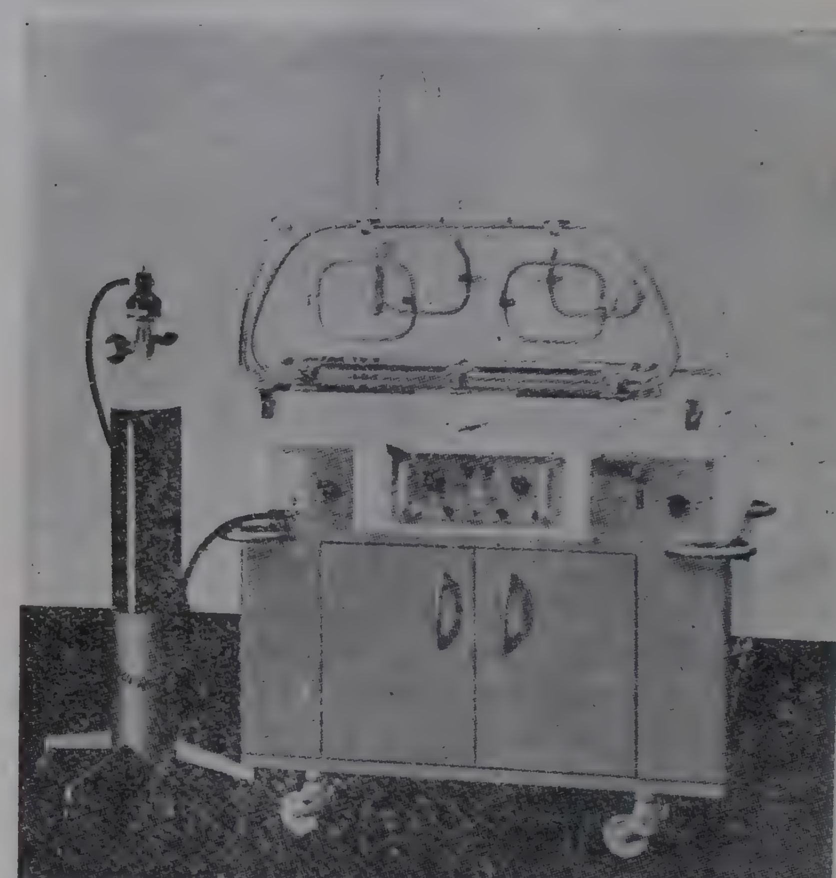
डिम्ब पोषक यन्त्र

यह यंत्र इस कार्य के लिये पर्याप्त सूक्ष्म और सही नहीं होता, इसलिये इसके स्थान पर अब थर्मिस्टर का प्रयोग आरंभ कर दिया गया है। इस प्रणाली में सिलिकोन ट्रांजिस्टर और 'थाइरिस्टर' नामक एक विशेष युक्ति अवयव के रूप में इस्तेमाल की जाती है। 'थाइरिस्टर' चीनी को चाय, काफी में इस्तेमाल करते हैं। इसमें ऊष्मा को नियंत्रित करने की इतनी अधिक क्षमता होती है कि उसे कम करके उससे बेट्री का बल्ब जला लो या जरूरत होने पर बिजली की अंगीठी।

डिम्ब पोषक में चेतावनी के कई संकेत होते हैं। पहला संकेत मैन से आने वाली बिजली के रुक जाने पर ध्यान आकर्षित करने के लिये ऊंची और तेज आवाज होती है। यह संकेत बेट्री से मिलने वाली शक्ति से चलने वाला यन्त्र होता है। डिम्ब पोषक के अधिक गरम हो जाने पर दूसरा संकेत स्वतः ही चीख उठता है और लाल बत्ती जल जाती है। पंखा बंद हो जाने का संकेत हरी बत्ती के जलने पर मिलता है।

जोगेन्द्र सक्सेना

डिम्ब पोषक का रूपांकन करते समय बिजली से बचाव का ध्यान सबसे अधिक रखा गया है। ऐसे अवयवों तक, जिनमें 30 वोल्ट से अधिक बिजली काम आती है, केवल औजारों द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। सुरक्षा कवचों को अलग हटाने से पहले बिजली का मैन बन्द कर देना पड़ता है। बाहर से अधिक बिजली आने के खतरे को दूर करने के लिये उसमें एक ऐसी युक्ति लगाई गई है, जो यन्त्र को अधिक बिजली पहुंचाने पर होने वाली हानि से बचाता है। यंत्र को क्षणिक शार्ट सर्किट होने पर भी कोई हानि नहीं पहुंचती।



ब्रिटेन के चिकित्सा अधिकारियों ने इस यंत्र की भली प्रकार परीक्षा कर ली है और अब इस प्रकार के 1100 डिम्ब पोषक यंत्र देश और विदेश के अस्पतालों में उपयोग के लिये तैयार किये जा रहे हैं। डिम्ब पोषक का भार केवल 40 पोंड है। इसे सुगमतापूर्वक इधर-उधर लाया-ले जाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस यंत्र को बिजली या बेट्री दोनों से ही चलाया जा सकता है।

यह नवीन डिम्ब पोषक समय से पूर्व जन्मे शिशुओं के नये जीवन की आशा लेकर आया है। इससे जहां उनकी जीवन बेला बढ़ेगी, उनकी जन्मजात कमियों को भी, कुछ सीमा तक, कम करने में सहायता मिलेगी।



आधुनिक काल में सबसे बड़ा धमाका कब हुआ था?

कम से कम आधुनिक काल में सबसे अधिक जोरदार आवाज सन् 1883 में सुनाई दी जबकि ईस्ट इंडीज का क्राकातोआ नामक ज्वालामुखी द्वीप एकाएक फट पड़ा। यह आज तक हुए किसी भी अणु अथवा हाइड्रोजन बम के धमाके से अधिक प्रबल था। लगभग दो सौ साल तक प्रसुप्त रहने के बाद यह ज्वालामुखी इतनी जोर से फूटा कि इसका घोर रव दो हजार मील दूर आस्ट्रेलिया में भी सुनाई पड़ा। ये जोरदार धमाके छत्तीस घंटे तक होते रहे और इसमें आधा द्वीप बिलकुल उड़ गया। अन्तिम सर्वाधिक प्रबल रव 27 अगस्त, 1883 को सुनाई पड़ा। इसमें इतनी अधिक ध्वनि-ऊर्जा थी कि समाप्त होने से पहले इसने पृथ्वी के एक-दो नहीं बल्कि सात चक्कर काटे। संसार के सभी स्वलेखी वायु दाबमापियों में इस ध्वनि तरंग के गुजरने का अंकन हुआ और इस धमाके से आकाश में बीस मील तक राख और अवस्कर (सिंडर) छा गए जिनसे चारों ओर एक सौ मील तक दोपहर में भी अंधेरा छाया रहा।

लेकिन इस विस्फोट से भी अधिक खतरनाक विस्फोटजन्य समुद्री तरंगें थीं जिन्हें जापानी भाषा में त्सुनामि कहा जाता है। सात सौ मील प्रति घंटा की गति से आगे बढ़ने वाली, सौ-सौ फुट ऊंची इन भीमकाय तरंगों ने सैकड़ों गांवों को मटियामेट कर उनका नामो-निशान तक मिटा दिया। इन तरंगों का अन्त आखिरकार हजारों मील दूर स्थित आस्ट्रेलिया और संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया राज्य के तट पर हुआ।

रेगिस्तानी जंतु अत्यधिक गर्मी में कैसे जीवित रह सकते हैं?

मरुभूमि के अधिकांश जंतु वैसे वहां दोपहर के तपते सूर्य की गर्मी को अधिक दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर पाते और मर जाते हैं। लेकिन उन्होंने गर्मी की इस कठिन समस्या का एक और ही ढंग से समाधान किया है। वे बिल बनाना सीख गए हैं और दोपहर का समय उन बिलों में रहकर गुजारते हैं और रात के समय ही बाहर निकलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये रेगिस्तानी चूहे आदि अधिक से अधिक 95° फा. तक के तापमान को ही सहन कर पाते हैं। आम तौर पर उनके बिलों का तापमान काफी गर्मी वाले दिन में भी 90° फा. से ऊपर नहीं जाता। रेगिस्तानी धरती पर और धरती के कुछ ही इंच भीतर इन बिलों की वायु के तापमानों में 55° फा. तक का अन्तर देखा गया है और जब मौसम ठंडा हो जाता है तो भी बिलों में इस प्रकार के संतुलनकारी प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। रात्रि के समय इन बिलों का तापमान बाहर की भूमि के तापमान की अपेक्षा 25-30° फा. अधिक होता है। बिलों में तापमान की इस स्थिरता के अतिरिक्त एक बात और देखी गयी है और वह यह कि जंतु के शरीर से निर्सर्जित होने वाली जल-वाष्प के कारण बिलों की सापेक्ष आर्द्रता बढ़ जाया करती है। इस प्रकार इन जंतुओं के भूमिगत आवास उन्हें उच्च तापमान और निर्जलीकरण (डीहाइड्रेशन) दोनों के दुष्प्रभावों से बचाते हैं।

हमें भोजन के स्वाद का बोध कैसे होता है?

किसी पदार्थ के स्वाद का बोध हमें जिन अवयवों के कारण होता है उन्हें स्वाद-कलिकाएं (टेस्ट बड्स) कहते हैं जो कि मुख्यतया जिह्वा में स्थित होती हैं। प्रत्येक स्वाद-कलिका में दस से सोलह तक स्वाद-कोशिकाएं (टेस्ट सेल्स) होती ह जिनका संबंध तंत्रिका-तंत्र (नर्वस सिस्टम) से होता है। जिह्वा में स्थित इन स्वाद-कलिकाओं को चार वर्गों में बांटा जा सकता है क्योंकि ये खट्टे, मीठे, कड़ुए और नमकीन पदार्थों में से किसी एक के प्रति संवेदनशील होते हैं। हमें तथाकथित षटरस व्यंजन भी बस इन चारों प्रकार की आधारभूत स्वाद-कलिकाओं के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही स्वादिष्ट लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी स्वाद-संबंधी पसंद और नापसंदी का आधार शारीरिक की अपेक्षा मानसिक मनोवैज्ञानिक अधिक है।

फिर जिह्वा में इन स्वाद-कलिकाओं के क्षेत्र भी लगभग निर्धारित हैं। मीठे स्वाद को पहचानने का क्षेत्र पिछले भाग में स्थित है जब कि खट्टे स्वाद की पहचान के क्षेत्र जिह्वा के पार्श्वों में और नमकीन की पहचान करने वाली कलिकाएं जिह्वा की पूरी सतह पर समान रूप से फैली हुई हैं। हमें वस्तुतः इन चार प्रकार के स्वादों का ज्ञान ही हो सकता है। एक विचित्र बात यह है कि हमारे स्वाद बोध और गंध के बीच में घनिष्ठ संबंध है। कई स्वादहीन वस्तुएं भी हमें अपनी विशिष्ट

गंध के कारण स्वादपूर्ण प्रतीत होती हैं जैसे कि बदनाम प्याज बेचारा स्वयं सर्वथा स्वादहीन है, उसके तथाकथित स्वाद का ज्ञान हमें सूंघकर होता है। ऐसे अन्य अनेक खाद्य पदार्थ हैं जो जुकाम आदि के कारण नाक बंद हो जाने पर हमें बेस्वाद मालूम होते हैं। स्वाद और गंध बोध के इस घनिष्ठ संबंध के कारण इन्हें साझीदार संवेदना (पार्टनर सेंसिज) कहा जाता है। ये दोनों मिलकर हमारे अनजाने ही बहुत खूबी से काम करते हैं और विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों के प्रति हम में विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करते हैं।

आधुनिक विमानों को दाबानुकूलित क्यों किया जाता है ?

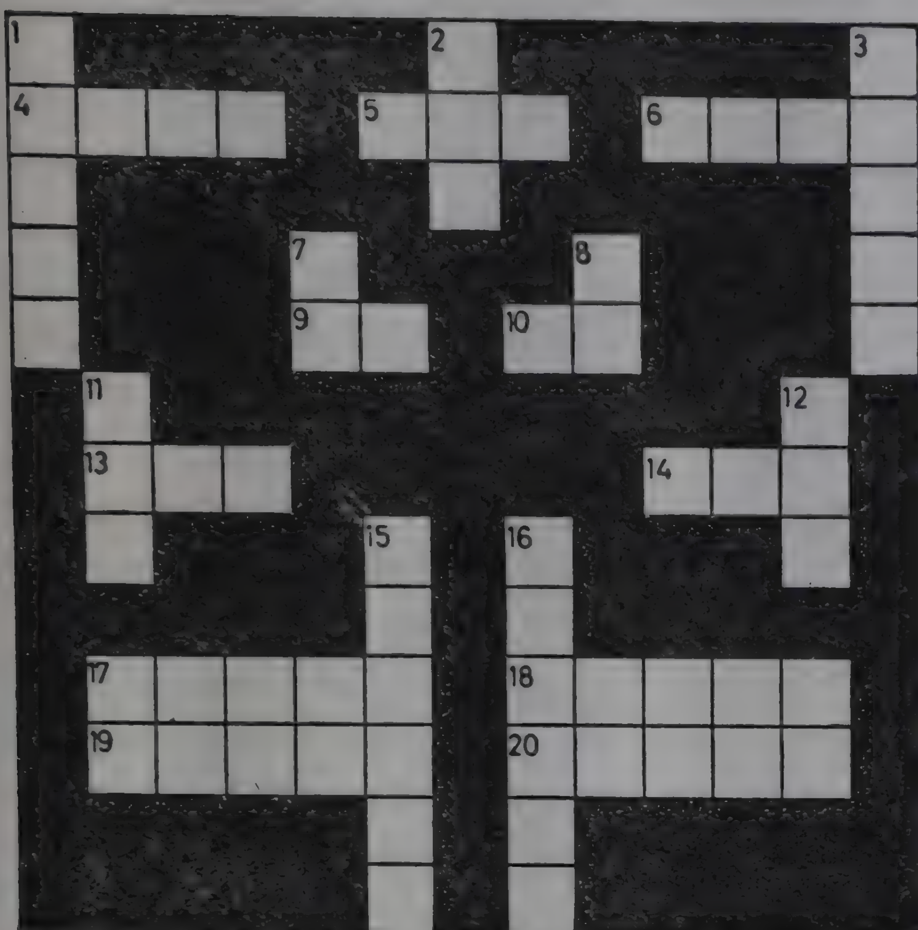
जैसे-जैसे हम अधिक ऊंचाई पर जाएंगे, वैसे-वैसे ही हम वातावरण का दाब धीरे-धीरे कम होता पाएंगे। इसका अभिप्राय यह है कि अधिक ऊंचा जाने पर हमें श्वसन के लिए आक्सीजन के कम परमाणु मिलने लगेंगे। उदाहरण के लिए, 18,000 फुट की ऊंचाई पर वायु के एक घन इंच में, समुद्र की सतह की तुलना में, आधे ही आक्सीजन अणु होते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे हम और ऊंचा जायेंगे, रुधिर को मिलने वाली आक्सीजन की मात्रा कम होती जाएगी। 25,000 फुट ऊंचाई पर रुधिर के हीमोग्लोबिन को इसकी कुल धारिता की केवल आधी मात्रा में ही आक्सीजन उपलब्ध होगी। इस ऊंचाई पर पहुंच कर मनुष्य बेहोश हो सकता है और कइयों की तो मृत्यु भी हो सकती है।

लेकिन इस अवस्था में पहुंचने से पहले ही मनुष्य को आक्सीजन की कमी के दुष्प्रभाव मालूम होने लगते हैं। 5,000 फुट की ऊंचाई पर श्वसन की गति तेज हो जाती है, 12,000 फुट की ऊंचाई पर समुद्र-सतह की तुलना में सांस लेने की गति दुगनी हो जाती है; 18,000 फुट पर पहुंचने पर देखने, सुनने और सोचने की क्षमता बुरी तरह से प्रभावित हो चुकी होती है। लेकिन यहां तक मनुष्य की जान को कोई खतरा नहीं होता। यात्रियों को इन सब परेशानियों और असुविधाओं से बचाने के लिए सभी आधुनिक विमानों को दाबानुकूलित किया जाता है अर्थात उसमें सामान्य वातावरण की सृष्टि की जाती है। दाबानुकूलित विमान का डिजाइन और निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि वह लगभग वायु-रुद्ध हो जाता है। यान के इस अन्दरूनी वायुरुद्ध भाग में फिर वातावरण से विरलित (रेयरीफाईड) वायु का प्रवेश कराया जाता है और वहां इतना दाब बनाए रखा जाता है कि निम्न दाब के उपरोक्त संकटों से यात्रियों और कर्मियों को बचाया जा सके।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 9

प्रस्तुत कर्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बायें से दायें

1 सर्वप्रथम मंगल ग्रह के क्लोजअप फोटोग्राफ इस राकेट द्वारा लिए गए थे।

2 इस वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम प्रयोग द्वारा सिद्ध किया था कि पेड़ पौधों के तनों में जाइलम द्वारा पानी ऊपर चढ़ता है।

6 पेनसीलिन का आविष्कारक।

9 रंगों से अन्धे व्यक्तियों को यह रंग पहचानने में सबसे अधिक कठिनाई होती है।

10 शोरगुल की तीव्रता मापने की इकाई।

13 रसायन के क्षेत्र में अपनी खोजों पर दो बार नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाली अकेली महिला वैज्ञानिक।

14 प्रेशर कुकर का आविष्कारक।

17 इलेक्ट्रोमैगनेटिक तरंगों का सिद्धांत इसी वैज्ञानिक की देन है।

18 ये पदार्थ प्राणियों में आनुवांशिक परिवर्तन करते हैं।

19 मानव शरीर रचना विज्ञान के क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी के इस फ्रांसीसी वैज्ञानिक की देन बहुत महत्वपूर्ण है।

20 प्रकृति में मिलने वाला रेडियोसक्रिय परमाणु।

निर्देश

प्रत्येक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा। अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी। आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा।

ऊपर से नीचे

1 ये इलेक्ट्रोमैगनेटिक तरंगें रेडियोसक्रिय पदार्थों से निकलती हैं।

2 रिवाल्वर का आविष्कारक।

3 विद्युत बल्बों के फिलामेंट इस धातु से बनते हैं।

7 रंगों से अन्धे व्यक्ति इस रंग को सबसे आसानी से पहचान सकते हैं।

8 कागज और गन पाउडर का आविष्कार इस देश में हुआ था।

11 इस वैज्ञानिक द्वारा निर्मित उच्चतम न्यूनतम तापमापी बहुत प्रसिद्ध है।

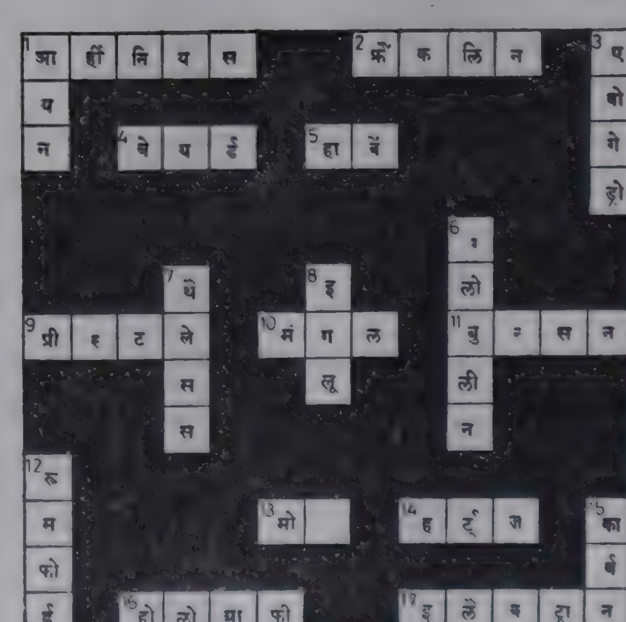
12 विद्युत चुम्बक का आविष्कारक।

15 इस जर्मन इंजीनियर ने सन् 1872 में गैस इंजन का आविष्कार किया था।

16 कठोर जल को मृदु जल में परिवर्तित करने वाली सुप्रसिद्ध विधि।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 8 का हल



हरिकृष्ण देवसरे

स्याही



बच्चो, जिस स्याही से हम रोज लिखते हैं, जिस से रोज हजारों पुस्तकें, अखबार आदि छपते हैं--उस स्याही के बारे में क्या तुम ने कभी सोचा है। यह स्याही कैसे बनी होगी, किन पदार्थों से मिल कर बनी होगी?

अगर तुम्हारे पेन की स्याही ठीक से निकल कर कागज पर अक्षर लिखती है, अक्षर लिखते ही वह सूख जाती है, कागज पर फैलती नहीं है तो समझना चाहिए कि वह संभवतः एक पेड़ की उस गांठ से बनी है जो उस के तने पर बुलबुले की तरह निकल आता है। जानते हो यह पेड़ कौन सा है? इस पेड़ का नाम 'ओक' है। एक बहुत छोटी मक्खी इस बुलबुले में घुस जाती है और उस में अंडे दिया करती है। किंतु बुलबुला मक्खी द्वारा बनाए गए छेद को बंद करने की कोशिश करता रहता है और धीरेधीरे वहां एक गांठ बन जाती है। मक्खी की सहायता से इस गांठ में एक ऐसा पदार्थ बन जाता है जो स्याही बनाने में काम आता है।

इस प्रकार रंग का रासायनिक द्रव्य, बुलबुले वाला पदार्थ, लौह-नमक तथा हरा थोथा मिला कर स्याही बनाते हैं। जब हम स्याही से लिखते हैं तो नीले रंग के रासायनिक द्रव्य से लिखे गए अक्षर तो दिखाई देते हैं, लेकिन यह नीला रंग अपनी स्वाभाविक अवस्था में धूप और हवा से उड़ भी सकता है। धूप और हवा का स्पर्श पाकर लौह-नमक कागज पर एक पक्का रंग बनाता है, जिसे हम नीला या काला 'ब्लू-ब्लैक' रंग कहते हैं। रसायन का रंग पक्का रहे, इसके लिए एक प्रकार का गोंद जैसा तरल पदार्थ भी स्याही में मिलाया जाता है।

कई बार हमें घटिया किस्म की स्याही मिल जाती है। ये घटिया स्याहियां गहरे रंग के बबूले से लिए गए तरल पदार्थ में हरा थोथा (तूतिया) मिला कर बनाई जाती हैं। ऐसी स्याहियां लिखते समय तो अच्छी लगती हैं, किंतु बाद में उनका रंग उड़ जाता है। इसलिए पहले तरीके से बनाई गई स्याही अधिक अच्छी और ज्यादा टिकाऊ होती है। इस प्रकार की स्याही से लिखे गए अनेक ऐतिहासिक दस्तावेज आज भी इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें देखकर लगता है मानो आज ही लिखे गए हों।

अगर तुम पेन की बढ़िया स्याही इस्तेमाल करते हो तो वह रंगने के काले तरल पदार्थ को मिला कर बनाई गई होगी। यह स्याही सूखती या जमती नहीं है। पेन में स्याही का बहाव ठीक रहता है। इसलिए पेन के लिए ही यह इस्तेमाल होती है।

लाल स्याही अधिकतर कैक्टस के पौधे में पाए जाने वाले एक प्रकार के छोटे लाल कीड़े को मिला कर बनाई जाती है। इसके अलावा स्याही दक्षिणी अमरीका के ब्राजील क्षेत्र में पाए जाने वाले एक विशेष प्रकार के पेड़ की लकड़ी से भी बनाई जाती है। यह स्याही कुछ हल्की पड़ती है और लाल कीड़े से बनी स्याही की तरह चमकदार रंग भी नहीं देती। इसका रंग भी जल्दी उड़ जाता है।

चित्रों के लिए कलाकार जिस स्याही का उपयोग करते हैं, वह इन स्याहियों से बिलकुल भिन्न होती है। यह 'चीनी' स्याही कहलाती है क्योंकि इस स्याही का आविष्कार चीन में ईसा से दो या तीन हजार वर्ष पहले हुआ था। तिल के तेल से बनाए गए काजल तथा चर्बी से बने तरल पदार्थ को मिला कर यह स्याही बनाई जाती है।

सबसे मजेदार स्याही बनती है 'सेपिया'। सेपिया स्याही कुछ भूरे रंग की होती है। समुद्र में एक मछली होती है जिसे 'कटलफिश' कहते हैं। यह बड़ी अद्भुत होती है। बच्चों, इसके पेट में रंग की एक थैली होती है। जब इस

पर खतरा आता है तो यह अपने पेट से पानी में रंग उगल कर, अपने आप को बचा लेती है। पहले सेपिया स्याही इसी थैली के रंग से बनती थी। किंतु अब यह अखरोट के रस से बनाई जाती है। इसका उपयोग मुख्यतः चित्र बनाने के लिए चित्रकारों द्वारा किया जाता है।

छपाई की स्याहियों में गोंद की मात्रा अधिक होती है, जिससे यह चिपचिपी सी बन जाती है। अच्छी 'छपाई स्याही' में कई गुणों की आवश्यकता होती है। जहां एक ओर यह चिपचिपी होनी चाहिए, वहीं दूसरी ओर रोलर अर्थात छपाई मशीन के स्याही-बेलन पर अच्छी तरह फैलनी भी चाहिए, छपाई के 'टाइपों' पर अच्छी तरह लगनी चाहिए तथा उनसे कागज पर आसानी से उभरनी चाहिए। छपाई की बढ़िया स्याही में कोयला या गैस का काजल, अण्डी या रेंडी का तेल तथा साबुन मिलाया जाता है। कुल मिला कर ये स्याही एक प्रकार से तेल के रंग की तरह ही बन जाती है।

हमारे प्रयोग में आनेवाली इन स्याहियों के अलावा कुछ जादुई स्याहियां भी हैं। इन्हें 'गुप्त स्याहियां' भी कहा जा सकता है। ये स्याहियां कागज पर लिखने के बाद भी दिखाई नहीं पड़तीं। पुराने जमाने में अनेक गुप्त संदेशों को भेजने के लिए इन स्याहियों का उपयोग किया जाता था। ये स्याहियां कई स्थानों पर रांगे के तेजाब से बने तरल-पदार्थ को लेकर तैयार की जाती थीं। कागज पर इससे लिखने पर कोई निशान नहीं पड़ता था, किंतु यदि सल्फयुरेटेड हाइड्रोजन के पास कागज लाया जाता तो सारे अक्षर स्पष्ट हो जाते थे। भारत में नींबू और प्याज के रस से ऐसी गुप्त स्याहियां बनाने के काम होते रहे हैं। जब कागज को आंच के पास ले जाते तो सारे अक्षर उभर आते थे।

इस प्रकार स्याही अनेक रासायनिक तत्वों के मिश्रण का परिणाम है। हजारों वर्षों से लोग इसका उपयोग कर रहे हैं। भारत में पुराने जमाने में कत्थे को पकाकर एक विशेष प्रकार की स्याही बनाते थे और उस से लिखे गए लेख को 'कैथी' में लिखा गया कहते थे।

आज विज्ञान की प्रगति ने इस दिशा में बहुत उन्नति की है। आज हर रंग की स्याही लिखने, चित्र बनाने तथा छापने के लिए उपलब्ध है। ये स्याहियां न केवल उपयोगी हैं बल्कि स्थाई भी होती हैं।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में माह.......... 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या............है। मैं..........रु.

का चेक/पोस्टल/मनी आर्डर संख्या...............दिनांक...........भेज रहा हूं।

पूरा नाम...

पता...

डाकघर........................ जिला............. राज्य...........

हस्ताक्षर.................................

ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा, हिन्दी, में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इसमें विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा डाक-व्यय सहित, केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। विज्ञान प्रगति का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धनराशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा **सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् रफी मार्ग, नई दिल्ली-1** को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार **व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी.आई.डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12** से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी **ग्राहक संख्या** का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

समाचार

बिना बांध बनाए नदी से बिजली

लास एंजिल्स में हुयी एक संवाद-गोष्ठी में वैज्ञानिकों ने मत व्यक्त किया है कि वेग से बहती हुई नदियों पर बिना बांध बनायें हुये भी उनकी धार से बिजली पैदा की जा सकती है । यदि यह संभव हो गया तो बड़ी बड़ी प्रायोजनाओं में ऊंचे पैमाने पर चलाये जाने वाले निर्माण कार्यों की आवश्यकता ही न रह जायगी । उक्त विधि में टर्बाइन पद्धति तथा विद्युत संचार की सर्वथा नई प्रणालियां प्रस्तुत की गयी हैं । नदी के भीतर जो यंत्रक्रम स्थापित किये जायेंगे, उनसे नदी के स्वाभाविक प्रवाह में रंचमात्र भी अन्तर नहीं पड़ेगा । अनेक टर्बाइन इंजन थोड़ी थोड़ी मात्रा में नदी के भीतर अलग अलग बिजली पैदा करेंगे जिसे नदी के बाहर एक यन्त्र द्वारा एकनिष्ठ करके उपभोक्ताओं को वितरित किया जा सकता है । प्रस्तावित पद्धति सस्ती भी होगी और साथ ही छोटे या बड़े किसी भी पैमाने पर विद्युत निर्माण के लिये ठीक रहेगी ।

आवाज़ कम करने वाली धातु

मिलफोर्ड की हुइक मेटल कम्पनी ने जो नया धातु मिश्रण तैयार किया है, उससे जेट विमान की आवाज को कम किया जा सकता है । इस धातु का गुण यह है कि यह ध्वनि का शोषण कर लेती है । विमान के भीतरी पंखे जहां से चलते हैं, उस स्थान पर चारों ओर फेन्ड-मेटल नामक इस धातु की चादर चढ़ा दी जाती है । यह धातु प्रचलित स्टेनलेस स्टील से ही बनायी गयी है और इस प्रकार विमानों के निर्माण की दृष्टि से बहुत महंगी नहीं बैठेगी । उपलब्ध स्टेनलेस स्टील के मुकाबले इसका वजन बहुत ही कम होता है । अनुमान है कि न केवल विमानों, बल्कि कल-कारखानों की भारी मशीनों के शोरगुल को बन्द करने में भी इसका इस्तेमाल प्रचलित सामग्री की अपेक्षा अधिक अच्छा रहेगा ।

चावल की भूसी का तेल

भारत में चावल की भूसी के तेल का निर्माण बिल्कुल नया है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारी चावल मिलों में चावल की भूसी अपार मात्रा में होती है । हम पहले से ही लगभग 15,000 टन तेल का उत्पादन प्रतिवर्ष कर रहे हैं । यदि सभी भूसी को तेल-उत्पादन में प्रयुक्त किया जाए तो यही मात्रा अनुमानतः तीन लाख टन हो सकती है । यह तेल खाने में काम आता है । इसी दृष्टि से अनन्तपुर स्थित तेल प्रोद्योगिक अनुसन्धान संस्थान ने प्रचलित उत्पादन प्रणाली में एक और सुधार प्रस्तुत किया है । प्रचलित प्रणाली में जो तेल हमें मिलता है, वह साफ नहीं होता । इसके लिए संस्थान ने एक ब्लीचिंग अर्थात् रंग उड़ाने की विधि विकसित की है जिसमें तेल पर पहले कई रसायनों के जलीय घोलों की प्रतिक्रिया करायी जाती है और फिर विरंजक मृत्तिका तथा सक्रिय कार्बन का सहारा लिया जाता है । इस प्रकार तैयार तेल के नमूनों को उपभोक्ताओं द्वारा बहुत ही पसन्द किया गया है ।

शोरगुल कानून में सहायक यंत्र

ब्रिटेन में ऐसी गाड़ियां चलाने पर रोक लगाने का विचार बहुत दिनों से चल रहा है जो सड़कों पर चलते समय बेहद शोर करती है । इसके लिए वहां की संसद एक निर्धारित कानून भी बनाने के पक्ष में है किन्तु इस दिशा में बहुत दिनों से कोई कदम सिर्फ इसलिए नहीं उठाया जा सका कि आखिर किस तरह से इस बात का फैसला होगा कि अमुक गाड़ी का शोरगुल दण्डनीय नहीं है, और यदि दण्डनीय है तो कितना दण्डनीय है और यह भी कि शोरगुल को नापा कैसे जायेगा । संसद की इस समस्या को हल करने के लिए डाव इन्स्ट्रूमेण्ट्स लि. नामक फर्म ने एक उपकरण विकसित किया है जिसके द्वारा गाड़ियों से होने वाले शोर को तत्काल सही-सही नापा जा सकता है । इस यन्त्र में एक माइक्रो-फोन होता है और एक ध्वनिमापी जिस पर शोर के मुताबिक एक सुई घूमती रहती है ।

खिड़कियां कोहरे से बची हुयी

विमान जिस समय ठंडे मौसम में उड़ते हैं तो उनकी खिड़कियों पर कोहरा जम जाता है और इस प्रकार विमान चालक को बाहर देखने में कठिनाई होती है । एक अमरीकी फर्म ने एक नये किस्म का पदार्थ विकसित किया है जिससे पारदर्शी खिड़कियां तैयार की जा सकती हैं । इससे बनी खिड़कियों में बिजली प्रवाहित की जा सकती है क्योंकि यह सुचालक होता है । विद्युत के प्रवाह से ताप उत्पन्न होता रहता है और इस प्रकार कोहरा खिड़कियों पर नहीं जमने पाता । गुडईयम स्पेस नामक फर्म द्वारा बनायी गयी यह खिड़कियां जिस पदार्थ से बनी हैं, उनमें मुख्यतः स्वर्ण धातु फिल्म उपयोग में लायी गयी है और इसलिये यह बहुत ही खर्चीली है ।

रमण की नई खोज-फूलों का रंग

भारतीय नोबेल पुरस्कार विजेता डा. सी. वी. रमण ने फूलों के रंग पर नई खोज की है। हाल में भारतीय विज्ञान अकादमी की सभा में बोलते हुये डा. रमण ने मत व्यक्त किया कि फूलों के रंगीन होने का सीधा सम्बन्ध उनकी प्रकाश शोषण क्षमता में है। नीले से लेकर बैंगनी रंगोंवाले फूलों में क्रमशः लाल, पीले और हरे वर्णपटों के अनुकूल प्रकाश शोषण क्षमता देखी गयी है। इसी प्रकार गुलाबी से लेकर गहरे लाल रंगों वाले फूलों में यही क्रम विद्यमान है। बहुत से फूलों में पुष्प-वर्णीय अंश को सरलता पूर्वक अलग निकाला जा सकता है। इसके लिये केवल एसिटोन की प्रतिक्रिया करा देना ही पर्याप्त होता है। इसका वर्णक्रम भी वैसा का वैसा ही मिलता है जैसा कि प्राकृतिक अवस्था में फूलों का वर्णक्रम होता है और काफी अवधि तक यह रंग यथावत् बना रहता है।

स्पेस शटल

किसी भी यन्त्रपुंज को पृथ्वी की कक्षा में भेजने में भारी खर्च बैठता है। आज वह तकनीकी विद्या मनुष्य का पहुंच के भीतर आ गयी है जिसके द्वारा अंतरिक्ष वाहनों का पुनः उपयोग करना सम्भव हो जायेगा। अंतरिक्ष अनुसन्धान हेतु ऐसे कम खर्चीले अंतरिक्ष-वाहनों का आविष्कार आवश्यक है जो कक्षा गत अंतरिक्ष स्टेशनों और पृथ्वी के मध्य शटल-सर्विस का काम करेगा। अमरीकी राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन ने इसके लिए एक 'स्पेस शटल' अर्थात् अंतरिक्षवाहन विकसित करने की योजना बनायी है। यह 'स्पेस शटल' एक विशाल हवाई सर्विस के ढंग पर कार्य करेगी और प्रमुख हवाई अड्डों से काम कर सकेगी। 'स्पेस शटल' किसी प्रमुख हवाई अड्डे अथवा हवाई पट्टी पर स्थित एक छोटे से मंच से लम्ब रूप में उड़ान करेगी और इसे चलाने के लिए संभवतः उतने ही चालकों की जरूरत पड़ेगी जितने आज किसी भी अन्तर-महाद्वीपीय जेट हवाई जहाज पर चलते हैं। कक्षा गत उड़ान से वापस लौटने पर 'स्पेस शटल' वायुमण्डल में पुनः प्रवेश करेगी और समानान्तर उड़ती हुई हवाई अड्डे पर निःशब्द उतर आयेगी।

जीवनयुक्त भूमि का परीक्षण

इज़रायल के वीज़मान इन्सटीट्यूट आफ साइन्स ने मिट्टी परीक्षण द्वारा यह पता लगाने की विधि निकाली है कि अमुक भूमि में जीव विकास हुआ है अथवा नहीं। इस विधि से प्रभावित होकर अमरीका के अंतरिक्ष प्रशासन ने निश्चय किया है कि आगामी अपोलो-11 उड़ान के बाद अंतरिक्ष यात्री चन्द्रमा की मिट्टी का जो नमूना पृथ्वी पर लायेंगे, उसका एक अंश उक्त वैज्ञानिकों को परीक्षणार्थ दिया जायगा। इस नवीन विधि से शुद्धतम परिणाम प्राप्त होते हैं और अमीनो अम्लों तथा अन्य जीव निर्माता पदार्थों का सही सही अनुमान होता है।

देश की सबसे बड़ी ताप भट्टी

कलकत्ता की एसोशियेटेड इलेक्ट्रिकल इण्डस्ट्रीज द्वारा देश में उपलब्ध सामग्री से कन्वेयर किस्म की भट्टियों का निर्माण किया जा रहा है। ये भट्टियां प्रति वर्ष 14,4000 टन इस्पात को उच्च ताप पर गर्म करने में समर्थ है। देश में उपलब्ध यह सबसे बड़ी विद्युत ताप भट्टी होगी। यह भट्टी 220 फुट लम्बी, 8 फुट चौड़ी और 6 फुट ऊंची है और मुख्यतः भारतीय साज-सामान के निर्माण में सहायक होगी। 60 फुट तक की इस्पात नालों का निर्माण इससे किया जा सकेगा। सबसे पहले इस किस्म की भट्टी मद्रास स्थित ट्यूब प्रोडक्ट्स आफ इण्डिया कम्पनी में स्थापित की जायेगी।

नींद न आये तो

केम्ब्रिज स्थित व्यावहारिक मनोविज्ञान अनुसन्धान यूनिट में चल रहे अनुसंधान कार्यक्रम में यह जानने का प्रयत्न किया जा रहा है कि साधारणतया कितनी नींद की आवश्यकता मनुष्य को पड़ती है और कहां तक हम नींद के बिना भी बिना किसी समस्या के साधारण तौर से जीवित रह सकते हैं। यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग कोई नया नहीं है इस विषय में युगों से सोचा जाता रहा है किन्तु फिर भी बदलते हुए युग में जबकि साधारण जीवन में अपेक्षित मानवीय परिश्रम की मात्रा बदलती जा रही है–इसका पुनरध्ययन आवश्यक है।

आकाश गंगा क्षेत्र में अमोनिया

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने बताया है कि आकाश गंगा क्षेत्र में जो हाइड्रोजन बादल हैं, उनमें अमोनिया के अणु भी विद्यमान हैं। यह जानकारी एक रेडियो टेलिस्कोप की सहायता से प्राप्त की गयी है। अमोनिया पृथ्वी पर भी किन्हीं परिस्थितियों में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन से बनती है। अंतर-तारामंडलीय अंतरिक्ष के अपेक्षतया जटिल रासायनिक पदार्थों के सम्बन्ध में यह पहली और सर्वथा नवीन खोज है।

नई शीतसह भेड़ें

अधिक ऊंचाई के पहाड़ी इलाकों पर भेड़ें जहां एक ओर ऊन और गोश्त देती है, वहीं दूसरी ओर शीत से उनके मर जाने का भी खतरा बना रहता है। ब्रिटेन के रोजलिन स्थित जन्तु प्रजनन अनुसन्धान संगठन ने गत कई वर्षों के कार्य के फलस्वरूप ऐसे परिणाम प्राप्त किये हैं जिनसे अब नई किस्म की शीत सह भेड़ें पैदा करने की बात आसान होती दिखाई दे रही है। निश्चित ही, यदि यह प्रयोग सफल हो गया तो विश्व के ऊन उद्योग को इससे बहुत लाभ पहुंच सकेगा।

टेस्ट ट्यूब बेबी

औरतों के बांझ होने अथवा पुरुषों में किसी प्रकार की कमी होने से अथवा दोनों का सम्मिलन अनुकूल न होने से गर्भ-धारण की जो बाधा आ जाती है, उस पर विज्ञान विजय पाने के लिए प्रयत्नशील है। इंगलैण्ड में नारी अंडाणु एवं पुरुष वीर्याणु का परीक्षण-नलिका के भीतर सम्मिलन कराने के प्रयोगों में धीरे धीरे सफलता मिल रही है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के शरीर क्रिया वैज्ञानिक डा. राबर्ट बडवार्डस तथा उनके सहयोगियों ने 'टेस्ट ट्यूब बेबी' तक पहुंचने में यहां तक सफलता प्राप्त कर ली है कि परख नली में जननाणुओं का संगमन कराकर उसे गर्भाशय में स्थापित कर दिया जाय। गर्भावस्था में इसके पश्चात सन्तान के स्वाभाविक विकास में आनेवाली कठिनाइयों की ओर शनैःशनैः वैज्ञानिक बढ़ रहे हैं।

मिट्टी में छिपा पानी

खेत की मिट्टी में कितना पानी है, कितना लवण, कितने खनिज और कितनी है उसकी उर्वरता—इन प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिक ढंग से पाना आवश्यक है क्योंकि खेतों की फसलों से हमें ज्यादा पैदावार पानी है। इसके लिए हम खेत की मिट्टी लेकर भूमि परीक्षण विशेषज्ञों के पास जाते हैं और वे उसे प्रयोगशाला के परीक्षणों द्वारा जांचने परखने में बहुत समय लगा देते हैं। नई दिल्ली स्थित भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान ने इस कार्य के लिए एक परीक्षण पेटी तैयार की है। इस परीक्षण पेटी को आसानी से विशेषज्ञ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं और अत्यन्त अल्प समय में एक साथ कई किस्म की मिट्टियों का परीक्षण करके तकनीकी परामर्श प्रदान कर किसानों को लाभ पहुंचा सकते हैं। खान जैसे उन सभी उद्योगों के लिए भी यह पेटी सहायक होगी जिनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार मिट्टी अथवा भूमि से है।

अंडी के तेल से प्लास्टिक

भारत में प्लास्टिक उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। तेलीय पदार्थों की इसमें बड़ी भूमिका है। दिल्ली स्थित श्रीराम उद्योग अनुसन्धान-संस्थान ने अंडी के तेल से कई उपजात प्राप्त किये हैं। इसमें संश्लेषण की पद्धति अपनायी गयी है और इसके लिए आवश्यक सामग्री देश में ही उपलब्ध है। अभी तक इसके लिए किसी विशिष्ट प्राद्योगिक संयन्त्र को तैयार नहीं किया गया है किन्तु उनकी ओर अनुसन्धान चल रहा है। इस प्रविधि के सफलता पूर्वक विकसित हो जाने से प्लास्टिक की लागत में भारी कमी किये जा सकने की संभावना है।

दूरदर्शी दर्पण

समुद्र के किनारे से दूर के जहाजों को हम टेलिस्कोप से देखते हैं। साधारण टेलिस्कोप से भी अधिक सहायक इस कार्य के लिए हो सकता है 'टेलिस्कोप मिरर' अर्थात् दूरदर्शी दर्पण। इसकी विशेषता यह है कि हमें दूर के दृश्य को टेलिस्कोप में झांककर देखने की जरूरत नहीं रह जाती। जो दृश्य टेलिस्कोप के सामने होता है, उस का प्रतिबिम्ब एक गोल दर्पण पर पड़ता है और हमें ऐसा मालूम होता है कि हम अपने निकट रखी हुई किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब आइने में देख रहे हैं। लन्दन की पी. डब्ल्यू. एलेन एण्ड कम्पनी ने इधर एक ऐसी दर्पण दूरबीन तैयार की है जिसका उपयोग केवल रक्षा कार्यों अथवा बन्दरगाहों तक ही सीमित नहीं है। कर्मशालाओं, प्रयोगशालाओं, अस्पतालों तथा बड़े औद्योगिक गृहों में भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

नदी, तुम कैसे बहती हो?

ब्रिटेन के रीडिंग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा. केनेथ मान के नेतृत्व में एक अनुसन्धान दल ने अपने अध्ययन के लिए एक रोचक विषय चुना है। नदी में बहुत से वैज्ञानिक तथ्य छिपे रहते हैं। नदी का बहाव ही अपने आप में जल-अभियान्त्रिकी विज्ञान के लिए बड़े-बड़े प्रश्न उपस्थित करता है जिन्हें ठीक प्रकार जान लेने पर बहुत सी तकनीकी समस्याओं का हल पाया जा सकता है। अध्ययन दल उक्त अनुसन्धान को गत तीन वर्षों से टेम्स नदी के किनारे पर कर रहा है। यद्यपि नदी को हम सभी देखते हैं किन्तु उसकी कार्यप्रणाली पर वैज्ञानिक रूप से विस्तृत अध्ययन का यह पहला ही प्रयास है।

(विज्ञान समाचार सेवा के सौजन्य से)

(लगभग सभी पुस्तकें आई. टी. आई. व अन्य टैक्निकल इंस्टिट्यूशनों के स्वीकृत सिलेबस के अनुसार लिखी गई हैं)

●ट्रांजिस्टर

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	22.50
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजायन	12.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	10.50
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सर्किट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

●रेडियो

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	6.00
सर्किट डायग्राम्ज आफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	4.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	3.00
बिन बिजली का रेडियो	1.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स (दो भाग प्रत्येक)	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

●इलैक्ट्रिकल

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15.00
इलैक्ट्रिक गाइड	10.50
इलैक्ट्रिक वायरिंग	4.50
इलैक्ट्रिक लाइटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स आल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वैल्डिंग	6.00
आल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
*भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल आरमेचर वाइंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए.सी. मोटर वाइंडिंग सचित्र	12.00
आरमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
आई.टी.आई.इलै. सौल्वड पेपर्स	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00

●वर्कशाप खराद सम्बन्धी

मशीनिस्ट गाइड आई.टी.आई. के सिलेबस के अनुसार (पृ. 664)	16.50
कास्ट आयरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
खराद आपरेटर गाइड (उर्दू में)	8.25
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज और उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिंग और सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिंग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25

●आटोमोबाइल व मोटर

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुअल (तीन भाग)	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर	6.00
मोटर ड्राइविंग	4.50
मोटरकार ओवरहालिंग	6.00
मोटर मैकेनिक टीचर गुरुमुखी	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
आधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूल व आटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
ऑटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटरकार प्राइमर	1.50
खेती और ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00

●फर्नीचर

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटलॉग	25.50
न्यू फर्नीचर कैटलाग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
आधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुअल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6.75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्प्लीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

●सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी आर्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजायन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (अंग्रेजी)	5.25
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिन्दी)	5.25

●गेट ग्रिल जाली

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
आयरन फर्नीचर	12.00

●लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (अंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक आफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

●विविध

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजायन	3.75
आयल व गैस इंजन गाइड	15.00
आयल इंजन गाइड	6.00
सिनेमा मशीन आपरेटर्स गाइड	8.25

●एअर कन्डीशनिंग

रैफ्रीजरेटर गाइड	8.25
आइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एअर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देख लें। डाक खर्च ग्राहक को देना होगा।

1969

देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

फोन नं. 261030, 264191, 265403

पांच हजार पुस्तकों की विस्तृत जानकारी के लिए डेढ़ रुपये का मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर भेजकर 608 पृष्ठों की ज्ञान की कुंजी मंगाइए।

हमारे भारत के सोल एजेन्ट : हिन्द पुस्तक भवन, खारी बावली, दिल्ली-6 फोन 269314

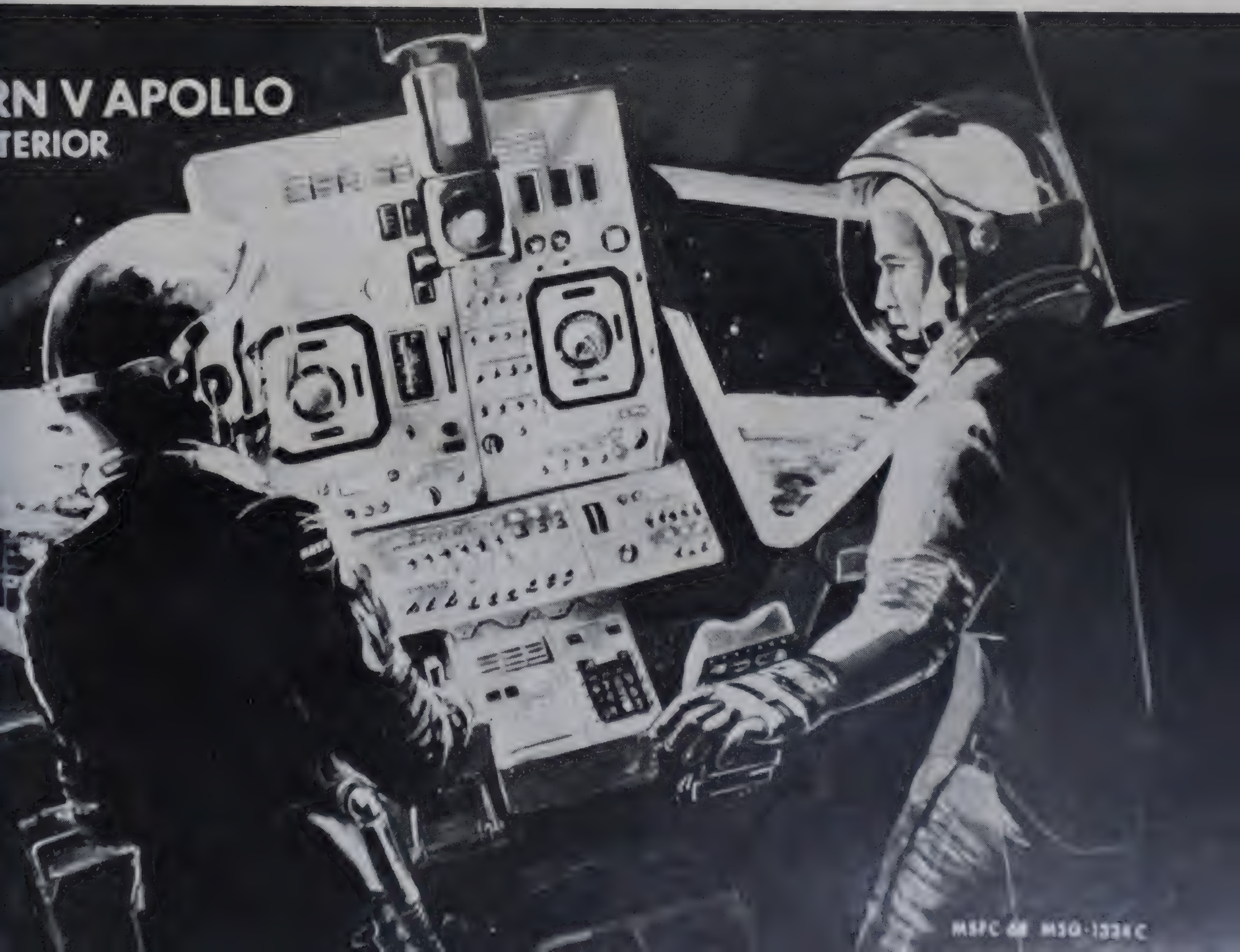
सम्मति

"विज्ञान प्रगति" के जो अंक मुझे देखने को मिले थे, उन्हें मैंने ध्यानपूर्वक देखा। विज्ञान के विभिन्न विषयों में इतनी उत्तम सामग्री इतने रोचक ढंग से यह पत्रिका उपस्थित कर रही है इसका मुझे पहले अनुमान नहीं था। यह भी मालूम हुआ कि इसकी बहुत बड़ी संख्या में प्रतियां छप रही हैं और वे विभिन्न राज्यों में शिक्षा संस्थाओं आदि में राज्य सरकारों द्वारा वितरित होती हैं। निश्चय ही यह ठीक कदम है, अपने देश की परम्परारूढ़ संस्कृति को विज्ञान-सम्मान प्रेरणा देने में आपकी पत्रिका अवश्य ही बहुमूल्य सिद्ध होगी। राष्ट्रीय स्तर के इस पुण्य कार्य में आपकी सेवायें प्रशंसनीय हैं।

बाबूराम सक्सेना

अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी
शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय
नई दिल्ली

यान—भीतरी दृश्य



वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्
के प्रतिनिधि लोक वैज्ञानिक मासिक

विज्ञान प्रगति

का

मई 1969 अंक

'आनुवंशिकी विशेषांक'

के रूप में प्रकाशित हो रहा है

इसमें पढ़िये

★ आनुवंशिकी का महत्व
★ जीवन की दोहरी सीढ़ी और सांकेतिक भाषा
(डी. एन. ए. की रासायनिक संरचना और जैनेटिक कोड)
★ खाद्य वैज्ञानिकों की सेवा में आनुवंशिकी
★ प्रकृति में विविधता का रहस्य—उत्परिवर्तन
★ रोग और आनुवंशिकी
★ डा. खुराना और उनका कार्य
★ आनुवंशिकी का गणित और हैल्डेन
★ आनुवंशिकी के क्षेत्र में भारत का योगदान
★ प्रसिद्ध आनुवंशिकीविदों की चित्रमय झांकी
आदि, आदि

संग्रहणीय अंक, बहुरंगी आवरण, दुरंगी छपाई

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित कराइये

विज्ञापनदाताओं के लिए अपूर्व अवसर

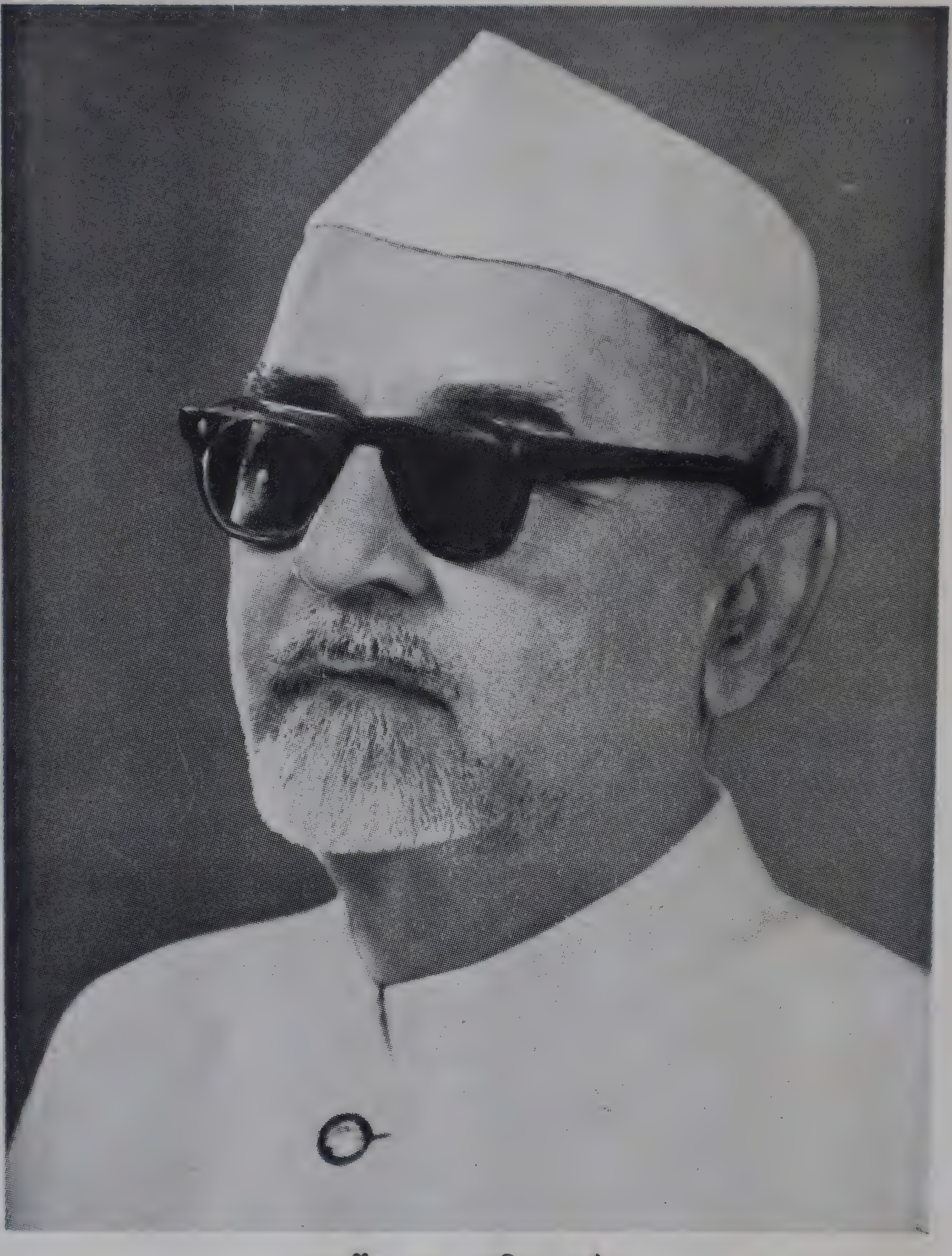
विशेष विवरण के लिए सम्पर्क स्थापित करें।

व्यवस्थापक

भारतीय भाषा यूनिट (सी. एस. आई. आर.)
पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड
नई दिल्ली-12

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित तथा प्रकाशित

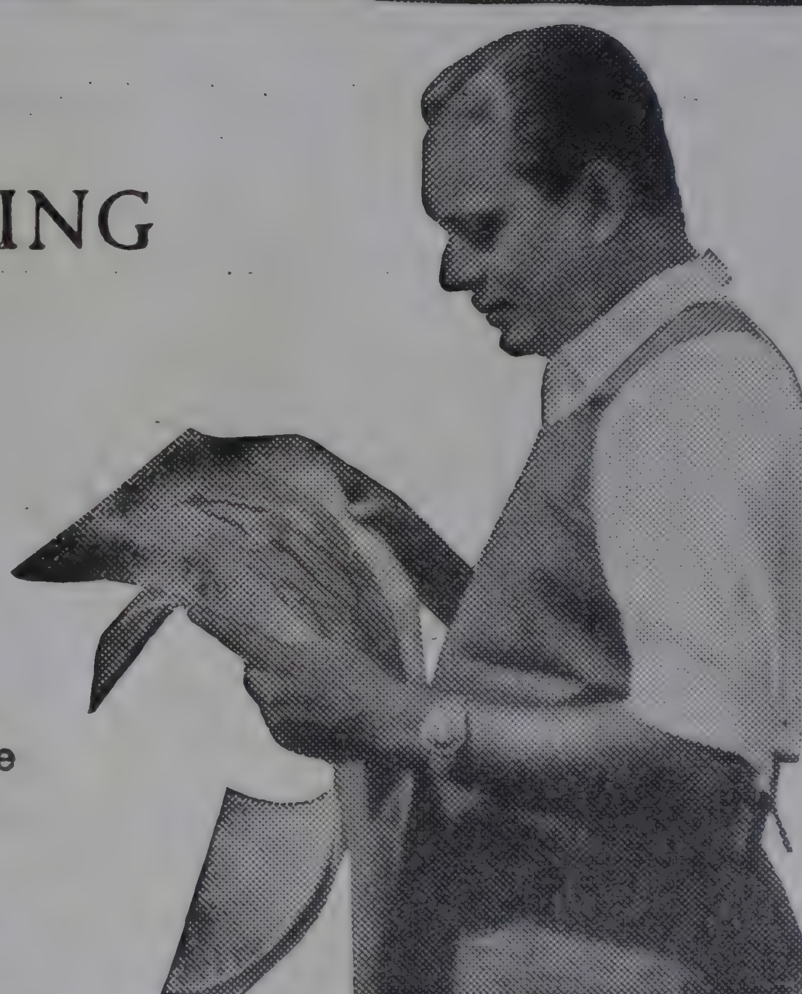

आनुवंशिकी विशेषांक
विज्ञान प्रगति
ज्येष्ठ 1891 : मई 1969.



स्वर्गीय डा. जाकिर हुसैन

फरवरी 8, 1897—मई 3, 1969

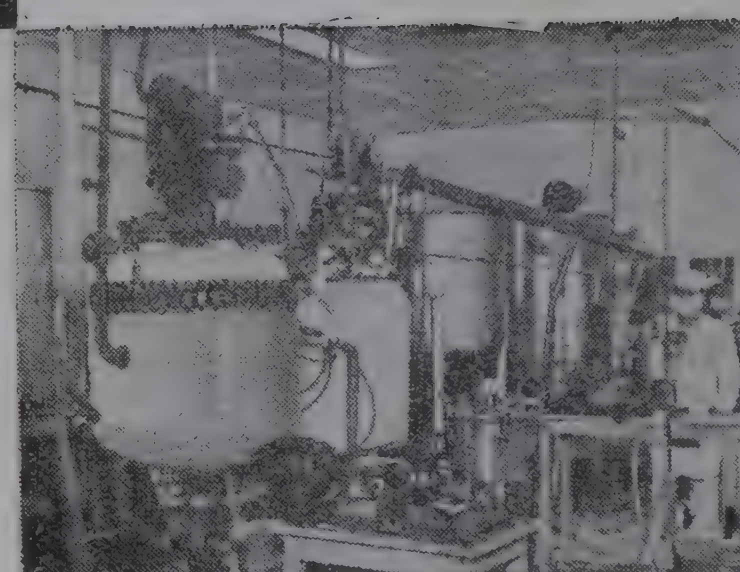








a study
in
self-reliance



Pioneer in the manufacture of sera, vaccines and other immunologicals in India, BENGAL IMMUNITY has diversified its activities into

- Basic production of a number of pharmaceutical chemicals which include, amongst others, substances used in the management of tuberculosis, leprosy, bacillary dysentery, amoebiasis, malaria, diabetes, hyperacidity and other gastro-intestinal disorders, local and systemic bacterial infections and also a radio-opaque diagnostic agent.
- Manufacture of various biochemical products like protein hydrolysates, peptones, liver extracts, and enzyme preparations as well as adrenaline and other hormonal preparations.
- Preparation of a large variety of formulated products.
- Presentation of a large number of injectable preparations—known as B.I. Injectules.

Based purely on indigenous know-how provided by a team of highly qualified personnel. following quality control at every stage of manufacture and striving relentlessly for improvement, ensuring the higher standard of excellence, utilising the advantages of a well-equipped scientific and technical research centre with Therapeutic Wards at R. G. Kar and North Suburban Hospitals for the purpose of clinical evalution, Bengal Immunity is a growing picture of national effort and self-reliance, achieved through harmonious co-operation between science and technology, research and industry.



BENGAL IMMUNITY CO., LTD.

Ethical pharmaceuticals since 1919.

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद की भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार और राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी हैं।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये हैं। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। विज्ञान प्रगति का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से प्राप्त करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में .... 196 से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या ....है। मैं................ रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर संख्या................................दिनांक............................ भेज रहा हूं।

पूरा नाम..

पता..

डाकघर..................................जिला.....................राज्य...........

हस्ताक्षर...



परिषद् अध्यक्ष
इन्दिरा गांधी

परिषद् उपाध्यक्ष
वि.के. आर.वि. राव

परिषद् महानिदेशक
आत्माराम

परिषद् सचिव
के. जी. कृष्णमूर्ति

विज्ञान प्रगति

आनुवंशिकी विशेषांक

वर्ष 18, ज्येष्ठ 1891, मई 1969, अंक 5, पूर्णांक 200

व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट
कृष्ण मुरारी अग्रवाल

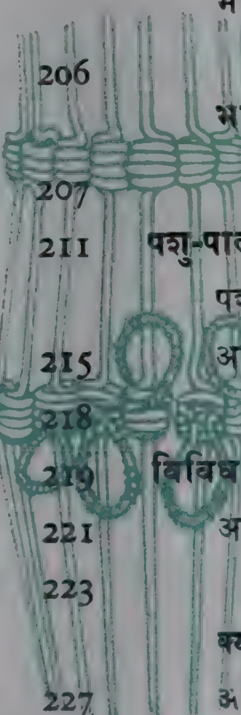
स. सम्पादक
श्याम सुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र
हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

भारतीय भाषा यूनिट,
वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्,
नई दिल्ली

विषय-सूची

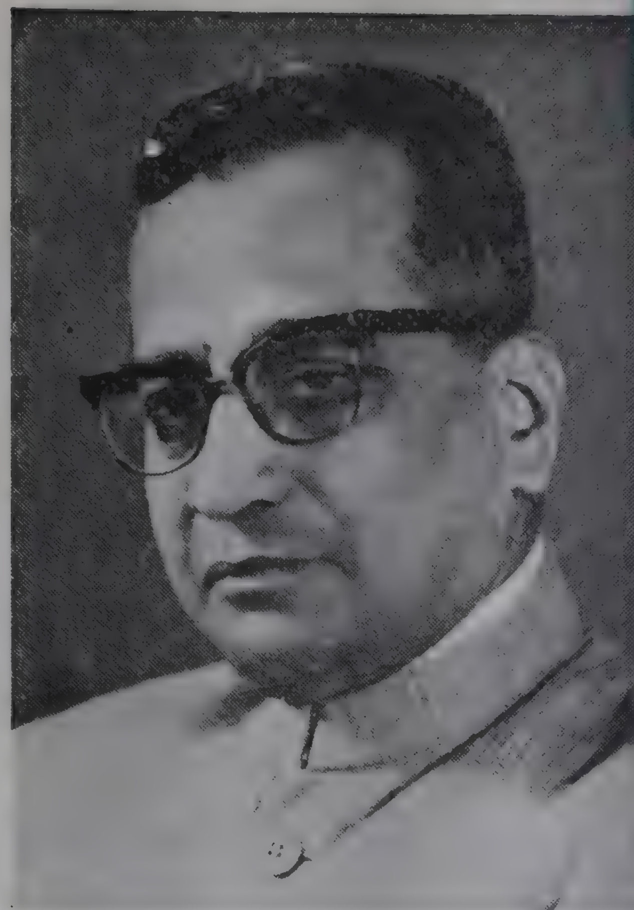


मुखचित्र परिचय

अपनी प्रतिकृति तैयार करता हुआ डी. एन. ए. अणु। पृष्ठभूमि में हैं, कोशिकायें, क्रोमोसोम और फलमक्खी (ड्रोसोफिला मिलैनोगैस्टर)

प्रमुख आकर्षण

आनुवंशिकी की विभूतियां : चित्रमय झांकी (पृष्ठ 228 के सामने)



शिक्षा मंत्री, भारत
EDUCATION MINISTER
INDIA

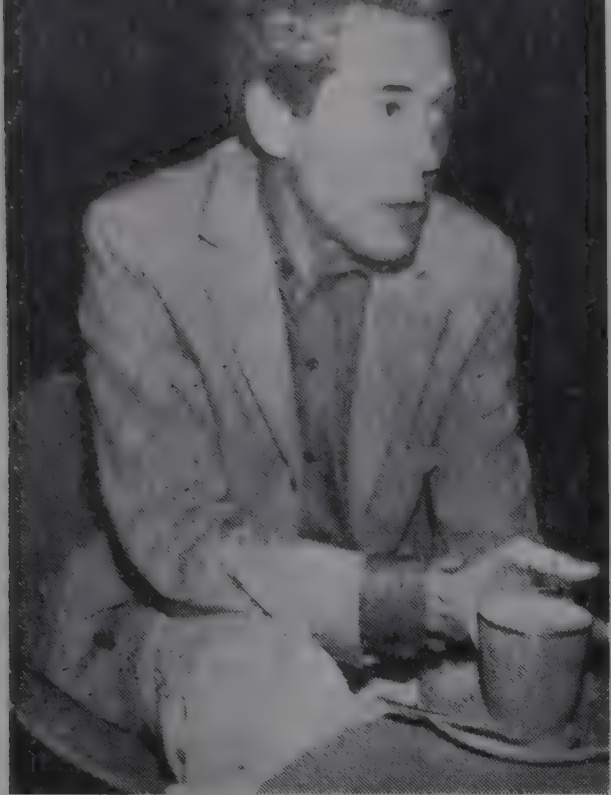
परमाणु विज्ञान के बाद कदाचित् सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य आनुवंशिकी के क्षेत्र में हुआ है। इस क्षेत्र की युग-परिवर्तनकारी खोजों के परिणामों का सही उपयोग करके मनुष्य निश्चय ही अनेक दुःसाध्य रोगों पर काबू पा सकता है और स्वयं को अधिक खुशहाल बना सकता है। इन अनुसंधानों से तथा डा० हरगोविन्द खुराना को नोबल पुरस्कार मिलने से जन साधारण में आनुवंशिकी के बारे में अधिकाधिक जानने की उत्सुकता जागृत होना स्वाभाविक ही है। आज हर एक व्यक्ति यह जानने को उत्सुक है कि वह अपने माता-पिता से किस प्रकार पैतृक गुण प्राप्त करता है। मुझे यह जानकर अत्यंत हर्ष हुआ कि उनकी इस ज्ञान-पिपासा को शांत करने के लिये वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् का प्रतिनिधि लोक वैज्ञानिक मासिक 'विज्ञान प्रगति' एक विशेषांक, 'आनुवंशिकी विशेषांक' प्रकाशित कर रहा है।

विद्वानों की बातों को सहज बोधगम्य बना कर साधारण जन तक पहुंचाने का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण वास्तविक लोक शिक्षण का कार्य है और 'विज्ञान प्रगति' यह कार्य खूब सुचारू रूप से कर रही है।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पत्रिका के अन्य विशेषांकों की भाँति प्रस्तुत विशेषांक भी 'आनुवंशिकी' जैसे दुरूह विषय पर सरल व सुबोध भाषा में सामग्री प्रस्तुत करके अपने सदुद्देश्य में सफल होगा।

वि.के.आर.वि.राव

(वि.के.आर.वि.राव)



नोबल पुरस्कार विजेता जैक मोनो के साथ भेंट-वार्ता

प्रो. जैक मोनो जगत प्रसिद्ध आनुवंशिकीविद् हैं। उन्होंने कोशिका नियंत्रक व्यवस्था के बारे में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा युग-परिवर्तनकारी अन्वेषण किये हैं। इन अन्वेषणों पर उन्हें 1965 में डा. फ्रेंकॉय जैकब और डा. आन्द्रे लोफ के साथ शरीर-क्रिया-शास्त्र और भेषज विज्ञान का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया था। प्रो. मोनो, पास्चुर संस्थान, पेरिस, में अनुसंधान कार्य कर रहे हैं।

पिछले दिनों एक अंतरराष्ट्रीय गोष्ठी, 'बहुकोशीय जीवों में नियंत्रक व्यवस्था' (कन्ट्रोल मैकेनिज्म इन मल्टी सैल्यूलर आर्गेनिज्म्स) के सिलसिले में वे नई दिल्ली आये थे। यह गोष्ठी सीबा फाउंडेशन के तत्वावधान में इंडिया इंटरनेशनल सैन्टर, नई दिल्ली, में 17 से 21 मार्च, 1969 तक आयोजित की गई थी।

जब हम इंडिया इंटरनेशनल सैन्टर में उनसे मिलने गये उस समय वे मीटिंग में व्यस्त थे। कुछ मिनिट बाद वे बाहर आये तो उनके चेहरे पर व्यस्तता के चिन्ह बिलकुल नहीं थे। महान दार्शनिकों की भांति वे अपने वेशभूषा के प्रति उदासीन थे। सैन्टर के लॉन में उनसे वार्तालाप प्रारम्भ हुआ दिल्ली के सुखद मौसम से और शीघ्र ही 'सुपरमैन के निर्माण' आदि से होता हुआ विज्ञान के प्रसार के लिये सर्वोत्तम माध्यम (भाषा) पर पहुंच गया। वार्तालाप लगभग 50 मिनिट तक हुआ जिसमें एक बार भी प्रोफेसर साहब ने 'समय की कमी', 'अत्यधिक व्यस्तता' आदि की ओर संकेत नहीं किया। आगे प्रस्तुत हैं इंटरव्यू के कुछ प्रमुख प्रश्न और उत्तर।

प्रश्न: आपके विचार में आनुवंशिकी का भविष्य कैसा है?

उत्तर: **आनुवंशिकी का भविष्य ही बहुत उज्ज्वल नहीं है वरन् उसका इतिहास भी वृहत और सुन्दर है। आनुवंशिक अध्ययनों का सबसे स्पष्ट प्रभाव पड़ा है फसलों पर। आनुवंशिकी के क्षेत्र में रुचि लेने के कारण ही अमरीकी वैज्ञानिक अधिक फसल देने वाली मक्का तथा गेहूं आदि विकसित कर सके हैं। रूस में डा. लायसेन्को के प्रभाव के फलस्वरूप सही दिशा में आनुवंशिक अध्ययन नहीं हो सके, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मक्का की पैदावार के सिलसिले में काफी पिछड़ गया।**

प्रश्न: प्रो. क्या आप सोचते हैं कि आज स्वयं मनुष्य को अपने माता-पिता से विरासत में मिलने वाले गुणों को उसी प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है जैसे कि फसलों, और कुछ हद तक जन्तुओं की, आनुवंशिकी को नियंत्रित करना सम्भव है? क्या इस नियंत्रण द्वारा एक 'बेहतर' मानव जाति तैयार की जा सकती है?

उत्तर: **नहीं। यद्यपि कुछ गैर-जिम्मेदार व्यक्ति, जिन्हें आनुवंशिकी विषय के बारे में बहुत कम ज्ञान है, समय-समय पर ऐसी बातें करते रहते हैं परन्तु तथ्य यह है कि आनुवंशिकी के क्षेत्र में कितना भी अनुसंधान करने के बाद हम 'सुपरमैन' का निर्माण नहीं कर सकते।**

यदि यह सम्भव होता तो नेहरू और अन्य असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपने 'ट्विन' तैयार करा लिये होते। ('ट्विन' ऐसा प्रतिरूप है जिसके गुण हूबहू स्वयं वस्तु/मनुष्य के सदृश होते हैं।)

आधुनिक अनुसंधानों की मदद

से अब एक हद तक कुछ आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। इस बारे में पशुओं, खासतौर से गाय के ऊपर कुछ प्रयोग किये गये हैं। गाय के अनिषेचित डिम्ब में वांछित गुणयुक्त केन्द्रक प्रविष्ट कराके अधिक दूध देने वाली 'ट्विन' गायें पैदा की जा सकती हैं।

बच्चों को मां-बाप से विरासत में मिलने वाली बीमारियों के बारे में बोलते हुए उन्होंने कहा, "आम धारणा के विपरीत इन रोगों से ग्रसित व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है और परिवार-नियोजन कार्यक्रम इस प्रकार पुनर्गठित किया जाना चाहिये जिससे 'मंगोलीय' (मंगोलॉयड) बच्चे पैदा न हों। अनुसंधानों से यह पता चला है कि स्त्री की उम्र के साथ-साथ मंगोलीय बच्चों के पैदा होने की संभावना भी बढ़ती है। स्त्री के 35 वर्ष की आयु के बाद उत्पन्न होने वाली संतानों में, हर 20 में से एक संतान के मंगोलीय होने की संभावना रहती है। इसलिये लोगों को यह सलाह दी जानी चाहिये कि पत्नी के 35 वर्ष की आयु तक पहुंचने के पहले ही संतानोत्पत्ति समाप्त कर दें। भारत सरकार अपने परिवार नियोजन कार्यक्रम में इस तथ्य का उपयोग कर सकती है।

(मंगोलिज्म के बारे में इस अंक में अन्यत्र पढ़िये)

प्रश्न: क्या आप सोचते हैं कि यदि मनुष्य में क्रोमोसोमों की संख्या असामान्य होती है तो उसमें अपराध वृत्ति बलवती हो जाती है।

उत्तर: हां। अनेक बार मनुष्य की अपराध वृत्ति के लिये उसका एक अतिरिक्त क्रोमोसोम उत्तरदायी होता है। इस बारे में जो खोज-बीन की गई है उससे पता चला है कि साधारण कानून-प्रेमी नागरिकों की तुलना में अपराध वृत्ति के पुरुषों में एक अतिरिक्त क्रोमोसोम उपस्थित होने की संभावना 20-30 प्रतिशत अधिक होती है।

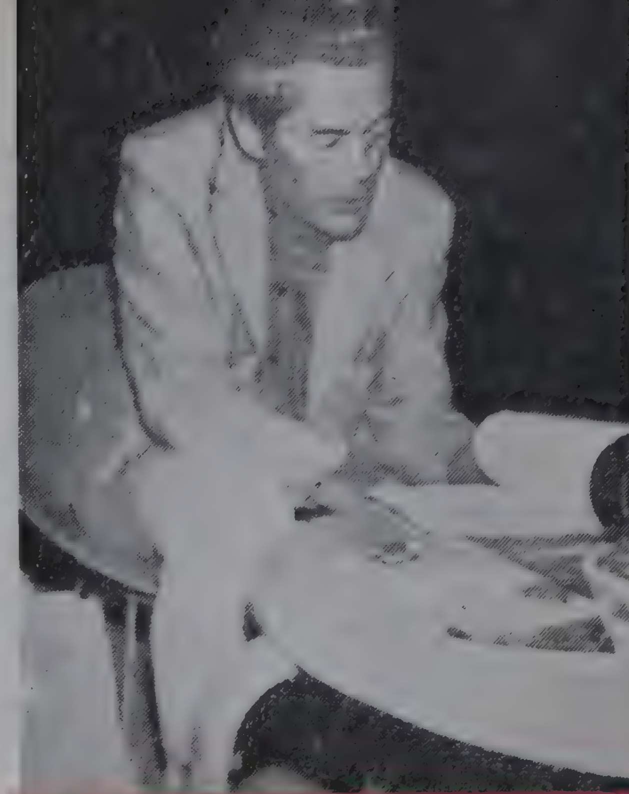
हंसते हुए उन्होंने यह भी कहा मुमकिन है इस अतिरिक्त क्रोमोसोम के कारण भविष्य में जासूस अपराधियों को पकड़ने में आसानी से सफल हो सकें।

प्रश्न: भारत की वैज्ञानिक, विशेष रूप से आनुवंशिकी के क्षेत्र में, प्रगति के संबंध में आपकी क्या राय है?

उत्तर: प्रगति बहुत अच्छी है। भारत ने वैज्ञानिक क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। आनुवंशिकी के क्षेत्र में भी भारत में काफी कार्य हुआ है। मैं पहली बार, 1961 में, जब भारत आया था तो प्रो. हाल्डेन से मिला था। उस समय वे भी इस क्षेत्र में अनुसंधान कर रहे थे। किन्तु मैं नहीं जानता कि अब भारत में कोई वैज्ञानिक आनुवंशिकी, विशेषरूप से मानव आनुवंशिकी, पर अनुसंधान कर रहा है या नहीं। यद्यपि इसकी बहुत आवश्यकता है।

भारत में इस समय मात्र आनुवंशिकी पर ही अनुसंधान करने वाला कोई संस्थान नहीं है। यदि भारत सरकार मुझ से सलाह ले तो मैं कहूंगा कि अपने परिवार नियोजन कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये एक आनुवंशिकी अनुसंधान संस्थान स्थापित करना बहुत उपयोगी होगा।

आज भारतीय विज्ञान एक अत्यंत गंभीर व्याधि से पीड़ित है। उच्च अध्ययन के लिये विदेशों को जाने वाले भारतीय वैज्ञानिक वहीं बस जाते हैं। वे भारत नहीं लौटते और भारतीय विज्ञान को इससे अत्यंत हानि होती है। भारत सरकार को उन्हें



प्रो. मोनो 'विज्ञान प्रगति' देखते हुए

भारतीय भाषा यूनिट के व्यवस्थापक श्री अग्रवाल (दाईं ओर) तथा 'विज्ञान प्रगति' के सम्पादक श्री शर्मा प्रो. जैक मोनो के साथ बातचीत करते हुए



चित्र—श्री धुरेन्द्रकुमार गर्ग के सौजन्य

वापिस बुलाने के लिये कदम उठाने चाहिये ।

प्रश्न : यह ठीक, है कि भारत तथा अन्य विकासशील देश 'वैज्ञानिक प्रतिभा के पलायन' (ब्रेन-ड्रेन) से पीड़ित हैं । इससे उन्हें निश्चय ही हानि पहुंचती है परन्तु क्या आप मानते हैं कि स्वयं विज्ञान को भी इससे हानि पहुंचती है ?

उत्तर : नहीं । यदि एक देश के वैज्ञानिक दूसरे देश में अनुसंधान करते हैं तो विज्ञान को कोई हानि नहीं पहुंचती । बल्कि मैं अपने विद्यार्थियों को सलाह देता रहता हूं कि वे पी-एच डी. करने के बाद अपने देश से कुछ समय के लिए बाहर निकलें और अन्य देशों में होने वाले अनुसंधानों का अध्ययन करें ।

विज्ञान सार्वभौमिक है । परन्तु भारत जैसे देश में जहां प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों की कमी है वैज्ञानिकों के पलायन का प्रभाव वैज्ञानिक प्रगति पर अवश्य पड़ता है ।

प्रश्न : क्या फ्रांस प्रतिभा के पलायन से पीड़ित नहीं है ?

उत्तर : नहीं । बल्कि फ्रांस की प्रयोगशालाओं में ब्रिटेन और जर्मनी के वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हैं ।

प्रश्न : आपके विचार में बच्चों को विज्ञान की शिक्षा देने के लिये सर्वोत्तम भाषा कौन सी है ।

उत्तर : मातृ भाषा । बच्चे के लिये विज्ञान की शिक्षा का आरम्भ मातृ-भाषा से ही होना चाहिये ।

●　●　●

न्यूक्लिओटाइड—प्लग-सॉकेट

न्यूक्लिओटाइडों की तुलना दीवार में लगे बिजली के सॉकेट तथा उसमें लगने वाले पिनों वाले प्लग से की जा सकती है । अन्तर केवल यह है कि न्यूक्लिओटाइड इतने कठोर और दृढ़ नहीं होते और दूसरे यह कि ये माइक्रोस्कोप से भी नहीं दिखाई देते । न्यूक्लिओटाइड रूपी प्लग के 'पिन' हाइड्रोजन परमाणु हैं । ये न्यूक्लिओटाइड रूपी प्लग और न्यूक्लिओटाइड रूपी सॉकेट को वहां जोड़ते हैं जहां आक्सीजन और नाइट्रोजन परमाणु अथवा दो आक्सीजन परमाणु एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं ।

●　●　●

जीवन के तीन लक्षण

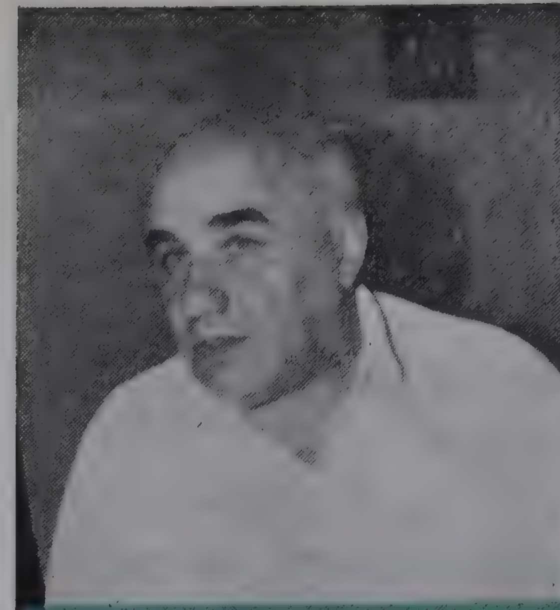
जीवन के तीन लक्षण हैं जिनसे इसका विकास सम्भव हुआ है । प्रथम तो जीवन का सार ही है अर्थात इसकी प्रजनन क्षमता । दूसरा लक्षण वह वर्धनशील बल है जो जीवन के रूपों में नए-नए परिवर्तन लाता है, इसे उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) कहा जाता है और इसका अर्थ परिवर्तन ही है । तीसरा लक्षण वह संरक्षी प्रवृति है जो उत्परिवर्तन-जन्य परिवर्तनों का संरक्षण करती है, इसे आनुवंशिकता कहते हैं । बिना प्रजनन के जीवन सर्वथा समाप्त हो जाता । बिना आनुवंशिकता के पीढ़ियों के बीच कोई सातत्य न होता । बिना उत्परिवर्तन के विविधता न होती और जीवन अपने आदि रूप से आगे विकसित ही न हुआ होता ।

रूसी आनुवंशिकीविद्

प्रोफेसर निकोलॉय दुबिनिन

के साथ

भेंट-वार्ता



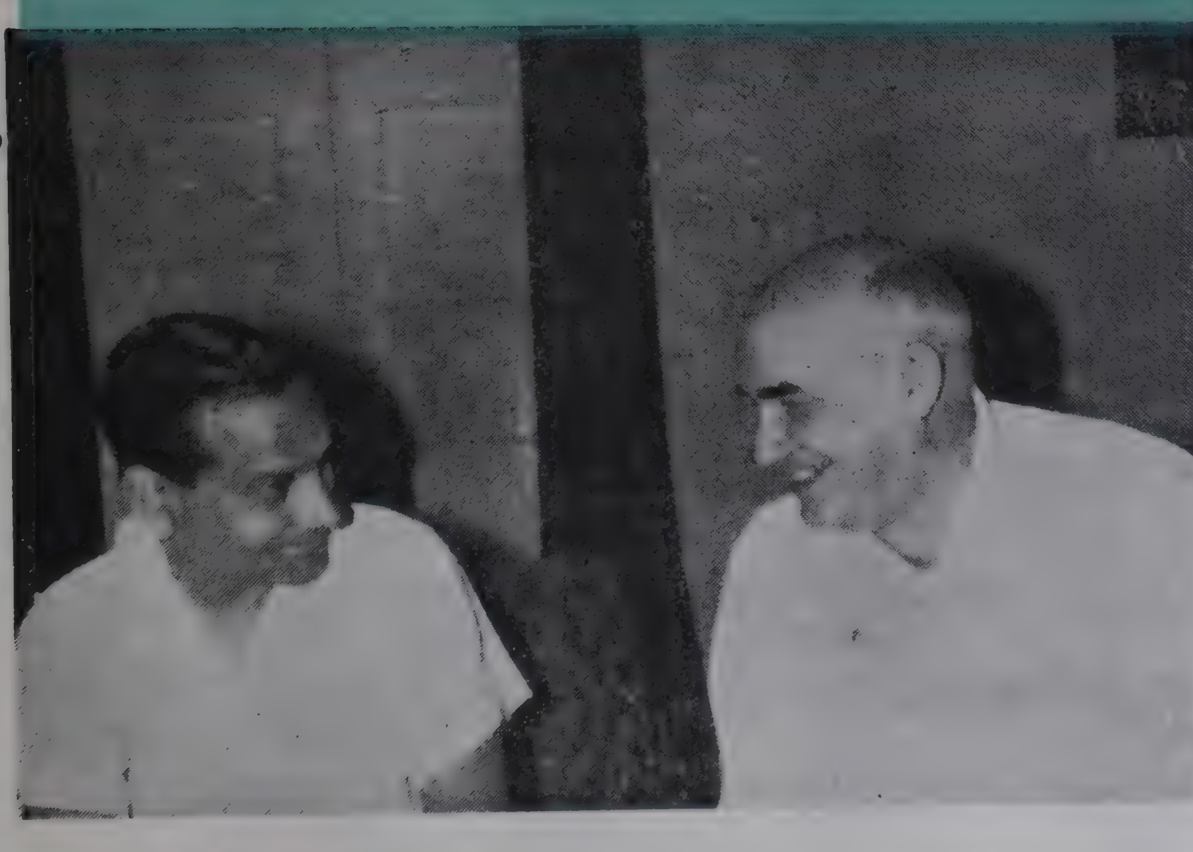
प्रो. निकोलॉय दुबिनिन

डा. निकोलॉय दुबिनिन रूसी आनुवंशिकीविद हैं, जो पिछले दिनों यूनेस्को सलाहकार की हैसियत से भारत आये हुए थे। वे एक जगत प्रसिद्ध आनुवंशिक संस्थान के निदेशक हैं। उन्होंने भारत के अनेक वैज्ञानिक संस्थानों का दौरा किया। उन्हें भारत की वैज्ञानिक प्रगति देखकर बहुत संतोष हुआ और उन्हें विश्वास है कि भारत शीघ्र ही आनुवंशिकी पर अनुसंधान हेतु एक स्वतंत्र प्रयोगशाला की स्थापना करेगा।

उनसे नई दिल्ली के जनपथ होटल में जो भेंट हुई उसके दौरान पूछे गए कुछ प्रमुख प्रश्न और उनके उत्तर नीचे दिये जा रहे हैं।

• • •

वार्तामग्न श्री अग्रवाल और प्रो. दुबिनिन
(चित्र श्री धर्मेन्द्र कुमार गर्ग के सौजन्य से)



प्रश्न : आनुवंशिकी के क्षेत्र में भारत में किये जा रहे अनुसंधानों के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : बहुत अच्छा। भारत के अनेक वैज्ञानिक उदाहरणार्थ टाटा सैद्धान्तिक अनुसंधान संस्थान के प्रो. सिद्दीकी, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के डा. गोपालआयंगर, केरल विश्वविद्यालय के डा. अब्राहम, ओसमानिया विश्वविद्यालय के डा. रेड्डी आदि इस विषय में बहुत महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य कर रहे हैं।

प्रश्न : क्या आपने भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था का दौरा किया ?

उत्तर : हां। वहां मैं डा. स्वामिनाथन, डा. जैन तथा अन्य अनेक वैज्ञानिकों से मिला। उन्होंने आनुवंशिकी पर, विशेषरूप से संकर मक्का और बौने गेहूं विकसित करने में, बहुत महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य किये हैं।

प्रश्न : आमतौर पर यह समझा जाता है कि प्रो. लायसेंको के प्रभाव के फलस्वरूप रूसी वैज्ञानिक आनुवंशिकी में इतने महत्वपूर्ण अनुसंधान नहीं कर पाये जितने कि उनसे अपेक्षा थी ?

उत्तर : यह सही है कि प्रो. लायसेंको डार्विन, मैंडल, मार्गन आदि के सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे और कुछ दिनों तक रूसी वैज्ञानिकों पर उनका अत्यधिक प्रभाव भी रहा, पर यह प्रभाव अस्थायी था और अब परिस्थिति पूर्ण रूप से बदल चुकी है। रूस में भी अब आनुवंशिकी पर महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुसंधान हो रहे हैं। वास्तव में लायसेंको आनुवंशिकीविद् नहीं थे। वे शस्य-वैज्ञानिक (एग्रोनोमिस्ट) थे।

प्रश्न : आपके विचार से मानव आनुवंशिकी का क्या भविष्य है?

उत्तर : आनुवंशिकी की यह शाखा अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण। रूस में तो इस ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है और इस विषय पर अनुसंधान करने के लिये एक संस्थान भी स्थापित किया गया है।

प्रश्न : सुना जाता है कि पिछले महायुद्ध में हिटलर ने विज्ञान की मदद से 'सुपरमैन' तैयार करने की योजना बनायी थी। वह सफल नहीं हुई। आनुवंशिकी के क्षेत्र में हुए असाधारण अन्वेषणों की मदद से क्या आज इस प्रकार का 'सुपरमैन' तैयार किया जा सकता है?

उत्तर : नहीं। मनुष्य अन्ततः मनुष्य है, संसार का सबसे विचित्र और जटिल प्राणी। वह गेहूं का पौधा नहीं है और न ही गिनी पिग। उसमें वांछित गुणों का समावेश करना संभावना की परिधि में चाहे हो पर व्यावहारिकता की परिधि में अवश्य नहीं है। 'सुपरमैन' का निर्माण अभी एक कल्पना मात्र है।

प्रश्न : पिछले दिनों समाचार पत्रों में समाचार पढ़ने को मिले थे कि उन व्यक्तियों का झुकाव अपराध वृत्ति की ओर अधिक रहता है जिनकी कोशिकाओं में एक अतिरिक्त क्रोमोसोम होता है। वैज्ञानिक तथ्यों की कसौटी पर यह कहां तक सत्य है?

उत्तर : यह ठीक है। उन व्यक्तियों की, जिनकी कोशिकाओं में एक अतिरिक्त 'वाई' या 'एक्स' क्रोमोसोम रहता है, सहज प्रवृत्ति अपराधों की ओर होती है। वास्तव में कुछ हद तक उनका मस्तिष्क असंतुलित होता है। पर उनके अपराधी बनने के पीछे कहां तक अतिरिक्त क्रोमोसोम का और कहां तक सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का हाथ है, यह कहना कठिन है।

प्रश्न : क्या इस प्रकार के व्यक्तियों की 'चिकित्सा' करके उनकी अपराधी वृत्ति छुड़ाई जा सकती है?

उत्तर : अभी तक यह सम्भव नहीं है।

प्रश्न : कहा जाता है कि देर में (35 वर्ष की आयु के बाद) संतानोत्पत्ति करने के चाहे जितने आर्थिक अथवा सामाजिक लाभ हों उससे मंगोलीय (मंगोलॉयड) संतानों के उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ जाती है। क्या यह ठीक है ?

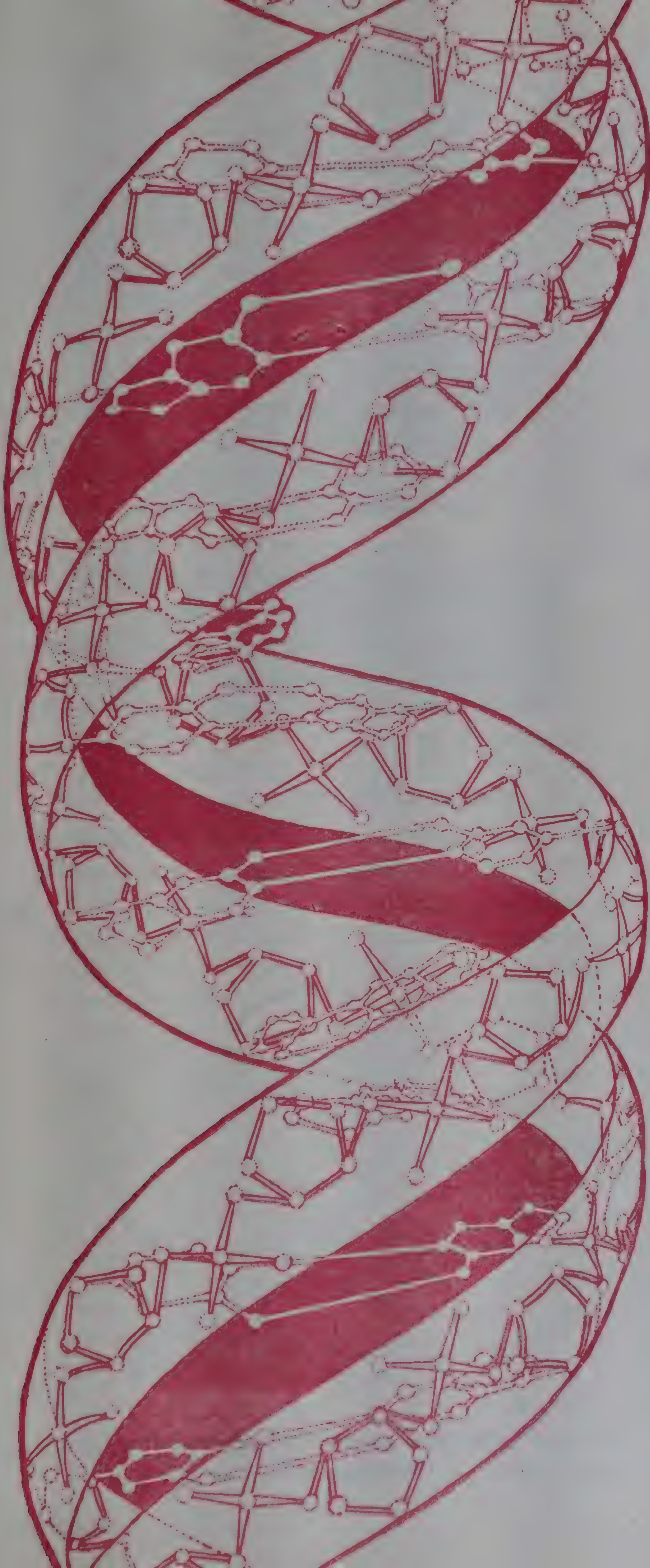
उत्तर : हां। स्त्री को 30 वर्ष की आयु के बाद संतान उत्पन्न नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके बाद मंगोलीय संतान उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। जीवशास्त्रियों के अनुसार होमो सेपियन्स (मानव) के लिये प्रकृति ने संतान उत्पन्न करने की आयु 30 वर्ष तक ही 'निश्चित' की है। परन्तु व्यवहार में इस नियम का पालन असम्भव है।

बच्चों में मंगोलिज्म भी क्रोमोसोमों की अनियमितता के कारण होता है। उनकी कोशिकाओं में आटोसोमों के 21 जोड़े और एक 'त्रिक' (ट्रिपलेट) होता है।

प्रश्न : क्या आनुवंशिकी के क्षेत्र में हुए महत्वपूर्ण अनुसंधानों से अर्जित नये ज्ञान के आधार पर कैंसर की रामबाण दवा खोजी जा सकती है?

उत्तर : कैंसर एक अत्यन्त जटिल रोग है। इसके उपचार के लिये रामबाण औषधि मालूम करना उससे भी दुरूह है। अभी तक जितनी औषधियां ढूंढी गई हैं वे एक हद तक ही सफल हुई हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वैज्ञानिकों को कैंसर की सही प्रकृति के संबंध में समुचित जानकारी नहीं है।

डा. निकोलॉय दुबिनिन के साथ एक बहुत बड़ी कठिनाई थी; वे अंग्रेजी अच्छी तरह नहीं बोल पा रहे थे। हिन्दी वे जानते ही नहीं। इसलिये यह भेंट-वार्ता अधिक नहीं चल सकी। उन्होंने उसके बदले में हमें अत्यन्त सारगर्भित जानकारियों से ओतप्रोत एक विशेष लेख दिया। **यह लेख विज्ञान प्रगति के लिये विशेष रूप से दिया गया** और इस अंक में अन्यत्र दिया जा रहा है।



आनुवंशिकी के मूल तत्व

कोशिका, क्रोमोसोम और जीन

रामचरण मेहरोत्रा

बात सन् 1663 की है। लन्दन में रॉबर्ट हुक नामक वैज्ञानिक ने जब कार्क की एक बहुत पतली सी फांक को अपने सूक्ष्मदर्शी से देखा तो उसे फौरन ही मधुमक्खी के छत्ते की याद आ गई। वास्तव में, सूक्ष्मदर्शी से कार्क में उसे ऐसे ही कोष्ठ-जैसे दिखाई दिए जैसे कि मधुमक्खी के छत्ते में होते हैं। उसने इन गुहाओं अथवा कोष्ठों को 'सैल' (कोशिका) नाम दिया।

हुक द्वारा कोशिका की खोज के उपरान्त 150 वर्ष तक कोशिकाओं को मात्र बक्सों के समान समझा जाता रहा—ऐसे बक्से जिनमें जीवन-पदार्थ भरा हो। आज हम जानते हैं कि कोशिका जीवन-पदार्थ का पात्र मात्र नहीं है। यह एक अत्यन्त जटिल संरचना है और इसका हर भाग जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य है, वह जिन जीवन-क्रियाओं में योग देता है वे अनिवार्य हैं। इस प्रकार कोशिका जीवन का 'पात्र' नहीं 'ढांचा' है।

जहां कोशिका तहां जीवन

बिना कोशिका के जीवन का अस्तित्व असम्भव है और जिस प्रकार जीवन के अनेक रूप हैं उसी प्रकार कोशिकाओं के भी रूप अनेक हैं, तथा कार्य भी अनक हैं। कुछ कोशिकाएं मुक्त विचरण करते हुए जीवों के रूप में अकेली ही रहती हैं; कुछ, कम संगठित जातियों से संबद्ध कोशिकाएं एक स्थान से दूसरे स्थान को विचरण करती रहती हैं; तथा कुछ अन्य बिल्कुल निश्चल रहती हैं और किसी बड़े जीव के ऊतक का अंश बन कर रही आती हैं। चाहे कोई भी इसका रूप हो और किसी प्रकार यह कार्य करती हो कोशिका हर जीवित पदार्थ की आधार-इकाई है। इस सतत् परिवर्तनशील संसार में जीवन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए प्रकृति ने कोशिका रूपी अति सूक्ष्म पैकेट में सभी आवश्यक भागों और प्रक्रमों का समावेश कर दिया है।

यद्यपि कोशिका का नामकरण 1663 में ही हो चुका था, परन्तु आधुनिक कोशिकावाद—कि हर जन्तु और वनस्पति कोशिका समूहों से बना है—की आधारशिला 19वीं शती के प्रारम्भ तक भी नहीं रखी गई थी। 1838 में एक जर्मन वनस्पतिविद् श्लाइडेन ने यह बताया कि समस्त वनस्पतियों की आधारभूत संरचनात्मक इकाई कोशिका है। एक वर्ष पश्चात एक अन्य जर्मन वैज्ञानिक थियोडोर श्वान ने कोशिका तथा जीवों के संबंध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'कोशिका जीव हैं और समस्त जन्तु व पौधे निश्चित नियमों के अनुसार व्यवस्थित इन्हीं जीवों के समूह मात्र हैं'। तदुपरान्त कोशिका के कार्य सम्बन्धी सारे अनुसंधान कार्य श्लाइडन और श्वान के मतों को ही आधार मान कर हुए हैं। वे दोनों अपने-अपने मतों को प्रयोगों द्वारा सिद्ध भी कर चुके थे।

कोशिका की विविधता

आधुनिक सूक्ष्मदर्शी ने वैज्ञानिकों को कोशिका की संरचना और उसके कार्यों की विविधता के दर्शन करा दिए हैं। कोशिकाएं दंड, कुंडली, जूते के बक्से, आयताकार, गोले, बर्फ के गोले आदि के आकार की होती हैं।



रॉबर्ट हुक का सूक्ष्मदर्शी : इसमें उन्होंने कार्क की एक पतली परत की कोशिकाओं की संरचना देखी थी।



मानव कोशिका के भीतरी भाग :
1. कोशिका-झिल्ली, 2. एंडोप्लाज्मिक रेटिक्युलम,
3. राइबोसोम, 4. माइटोकोन्ड्रिया,
5. सेन्ट्रोसोम, 6. केन्द्रक, 7. न्यूक्लिओलस

कोशिका आत्मनिर्भर होकर स्वच्छंदतापूर्वक अपना जीवन अकेले भी बिता सकती है। एककोशीय जन्तु अमीबा तथा पैरामीसियम मुक्त विचरण करने वाली जीवन-इकाइयों के उदाहरण हैं। कोशिकाएं किसी एक कार्य विशेष को करने में विशेषज्ञ ही हो सकती हैं। ये विशेषज्ञ कोशिकाएं (उच्चतर प्राणियों का निर्माण करने वाली अधिकांश कोशिकाओं सहित) अन्य कोशिकाओं के सहयोग से तथा उनसे संगठित रह कर अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं। ऐसी कोशिकाएं ही समूह बना कर उस सारे जीव-संसार का निर्माण करती हैं जो हमें दिखाई देता है।

कोशिका आकार में एक इंच के ढाई-लाखवें अंश के बराबर (व्यास में) जितनी छोटी भी हो सकती है जैसे कि प्लूरोन्यूमोनिया माइक्रोब, और नारंगी जितनी बड़ी भी हो सकती है उदाहरणार्थ शुतुरमुर्ग के अण्डे के बीच की जर्दी। कोशिकाओं के समूह से बना जीव मच्छर भी है, और 110 टन वजन की व्हेल मछली भी। दोनों के आकार में कितना अन्तर है।

अनुमान है कि एक वयस्क मनुष्य के शरीर में लगभग 60 खरब कोशिकाएं होती हैं। इनमें से हर सेकंड लगभग 5 करोड़ कोशिकाओं का नाश होता रहता है तथा इन मृत कोशिकाओं का स्थान लेने के लिए इतनी ही कोशिकाओं का जन्म होता रहता है।

कोशिका के भीतर

प्रकृति में इतनी विविधता होते हुए भी सभी कोशिकाएं ऐसे डिजाइन से बनी होती हैं कि प्रत्यक्षरूप से जीवन के लिए आवश्यक कुछ बातें उन सभी में समान होती हैं। हर कोशिका की एक बाहरी भित्ति होती है जो कि इसे 'कक्ष' (लैटिन भाषा में 'सैल' का अर्थ कक्ष अथवा कमरा ही होता है) बनाती है। इस बाहरी झिल्ली के बीच एक अर्द्ध-तरल पदार्थ भरा होता है जिसे कोशिका द्रव्य (साइटोप्लाज्म) कहते हैं। इसी अर्द्ध-तरल पदार्थ में कोशिका की सभी क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। कोशिका के मध्य में एक केन्द्रक होता है। कोशिका की क्रियाओं का नियंत्रण केन्द्र यह केन्द्रक ही होता है। इसी में कोशिका का आनुवंशिक पदार्थ होता है।

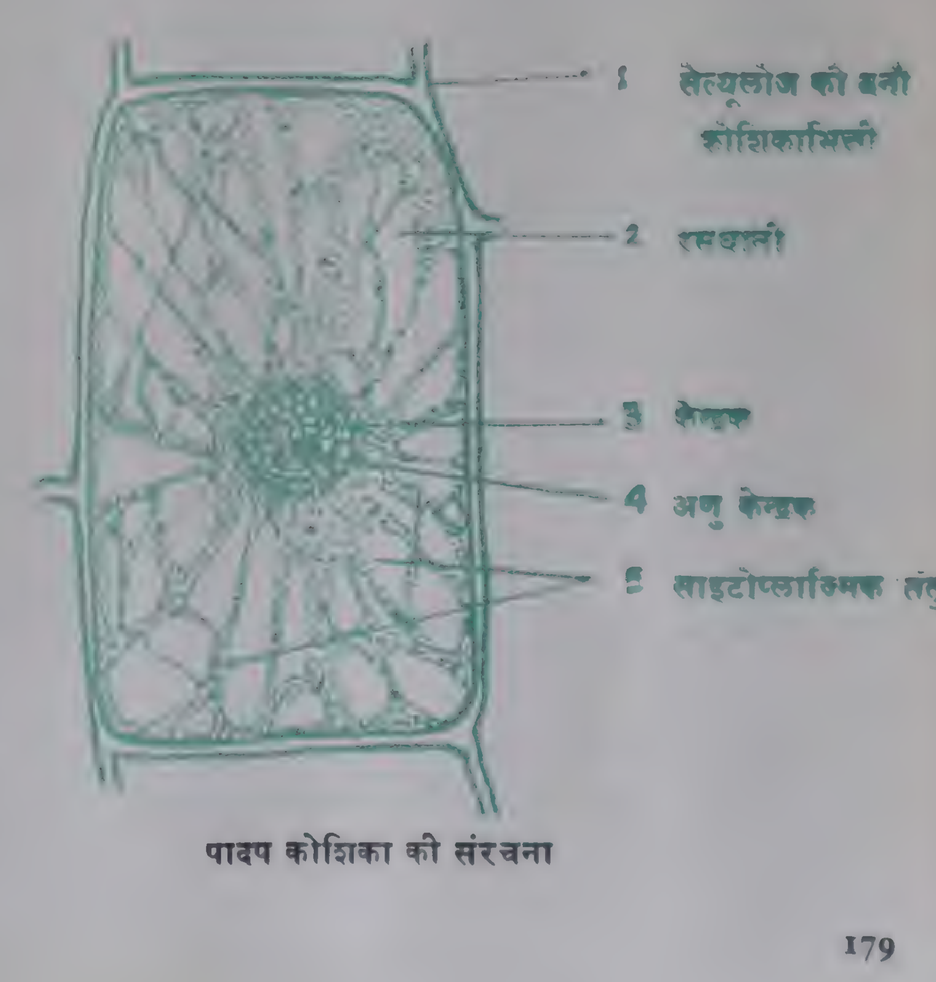
प्रत्येक कोशिका में 'कारखाने' होते हैं जो कि राइबोसोम कहलाते हैं। इन कारखानों के द्वारा ही प्रोटीन का निर्माण होता है। किसी भी जीव का अधिकांश भाग प्रोटीन ही होते हैं। राइबोसोम आकार में गोल होते हैं और इनका व्यास एक इंच के दस लाखवें अंश से भी कम होता है।

कोशिका में 'बिजली घर' भी होते हैं जिन्हें माइटोकोंड्रिया कहा जाता है। ये कोशिका को वृद्धि, प्रजनन तथा अन्य कार्यों के लिए ऊर्जा प्रदान करते हैं। बनावट में ये ऐसे लगते हैं मानो कोशिका के भीतर कोशिकाएं हों, ऐसा लगता है मानो किसी बहुत सारे कक्षों वाले पानी के जहाज के माडल को बीच से काट दिया गया हो।

कोशिका अपने में इतनी सूक्ष्म होते हुए भी संरचना की दृष्टि से अति जटिल होती है। कोशिका में ही वे सब सूचनाएं तथा आदेश संकेतबद्ध होते हैं जिनके अनुसार कोशिका जीव के गुणों का निर्धारण करती है। आज से कुछ शती पूर्व तक यह माना जाता था कि माता-पिता के रक्त सम्मिश्रण के कारण ही संतान में उनके कुछ गुण आ जाते हैं। परन्तु यह धारणा बाद में गलत सिद्ध हुई। वास्तव में माता-पिता के गुण संतान में आ जाना एक कोशीय-क्रिया है।

जीवन के धागे

गर्भाधान दो कोशिकाओं—माता के अण्डाणु और पिता के शुक्राणु के संलयन (फ्यूजन) का ही परिणाम है। इन्हीं दो कोशिकाओं

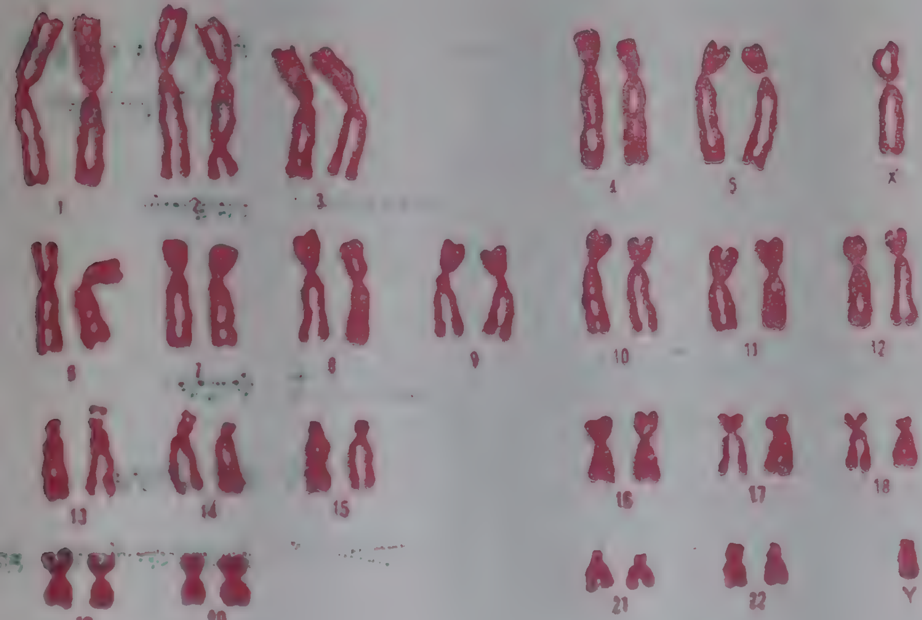


पादप कोशिका की संरचना

ारा माता-पिता के गुण संतान में पहुंचते हैं। इससे पूर्व वैज्ञानिकों ने कोशिका का अध्ययन जब सूक्ष्मदर्शी द्वारा किया तो उन्हें बड़ी आश्चर्य-जनक बातों का पता लगा। जब कोशिका विश्रामावस्था में होती थी, अर्थात् जब यह दो भागों में विभक्त होने की क्रिया में नहीं होती थी, तो उसका केन्द्रक एक धूमिल जाल सदृश दिखाई देता था। इन कोशिका आदि से तैयार की गई स्लाइडों को रंगीन बनाने के लिए वैज्ञानिक किसी रसायन का उपयोग करते थे। रंगीन होने से स्लाइड सूक्ष्मदर्शी से अति स्पष्ट दिखाई देती थी। उक्त जाल सदृश पदार्थ में रंजक द्रव्य को सोखने की क्षमता थी। अतः उस 'जाल' को बनाने वाले पदार्थ का नाम 'क्रोमेटिन' रख दिया गया। ग्रीक भाषा में 'क्रोमा' का अर्थ रंग होता है।

कोशिका विभाजन का अध्ययन करने पर वैज्ञानिकों ने देखा कि 'माइटोसिस' द्वारा कोशिका विभाजन की क्रिया में क्रोमेटिन पदार्थ में अकस्मात परिवर्तन आ गया। जाल-सदृश उक्त पदार्थ 'क्रोमेटिन' सिमट कर ऐसा हो गया मानो धागों का गुच्छा हो। वैज्ञानिकों ने इस गुच्छे के धागों का नाम 'क्रोमोसोम' (रंगीन पिण्ड) रख दिया। विभाजन की क्रिया में प्रत्येक क्रोमोसोम के लम्बाई में दो-दो भाग हो गए, किसी अदृश्य शक्ति द्वारा दोनों भाग एक दूसरे से अलग हो गए, और दो नई कोशिकाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार माइटोसिस द्वारा विभाजित हुई कोशिका जन्य दोनों नयी कोशिकाओं में से प्रत्येक में उतने ही क्रोमोसोम आ गए जितने कि मातृ कोशिका में थे। दोनों नयी कोशिकाएं जब एक दूसरे से पूर्णतया अलग हो गयीं तो उनके क्रोमोसोम विलय हो गए, उनके केन्द्रक पुनः स्पष्ट हो गए और फिर वही क्रोमेटिन का धुंधला जाल दिखाई देने लगा।

अब वैज्ञानिकों को इस बात का ज्ञान हो चुका था कि अर्द्धसूत्री विभाजन (मियोसिस) के परिणामस्वरूप ही प्रत्येक शिशु को क्रोमोसोमों का एक सैट माता से और एक सैट पिता से प्राप्त होता है। जीव की विभिन्न जातियों आदि में क्रोमोसोमों की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। मनुष्य में 46 क्रोमोसोम होते हैं, सफेद चूहे में 42, मटर के पौधे में 14 आदि, आदि। सबसे अधिक क्रोमोसोम राइजोपोड नामक एक-कोशीय जन्तु में होते हैं। इसमें इनकी संख्या 1500 पाई गई है।



मानव कोशिका में पाए जाने वाले 46 क्रोमोसोम। x और y लिंग क्रोमोसोम हैं। स्त्रियों में दोनों x क्रोमोसोम ही होते हैं, y नहीं होता।

क्रोमोसोम : माला; जीन : मोती

क्रोमोसोमों की खोज के बाद भी आनुवंशिकी की बहुत सी समस्याओं का निदान न हो सका क्योंकि प्रत्येक जीव, चाहे पौधा हो अथवा जन्तु—हजारों पैतृक गुणों से युक्त होता है। मनुष्य के चेहरे में ही हजारों ऐसे लक्षण देखने को मिलते हैं। मानव शरीर में सन्निहित आनुवंशिक पदार्थ को यदि केवल 46 क्रोमोसोम ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुंचाते हैं तो प्रत्येक क्रोमोसोम बहुत से पैतृक गुणों को अगली पीढ़ी में पहुंचाने का जिम्मेवार होना चाहिए। 1915 के लगभग वैज्ञानिक अपने अनुसंधानों के परिणामस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि क्रोमोसोम का आकार ठोस धागे जैसा नहीं है, बल्कि गले में पहने जाने वाले मोतियों के हार की तरह होता है। एक क्रोमोसोम रूपी माला में इन मोतियों की संख्या अनुमानतः 1250 तक हो सकती है और यही मोती वास्तव में जीवों में पाए जाने वाले पैतृक गुणों के लिए उत्तरदायी हैं।

विगत 6-8 वर्षों में इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप द्वारा अपरोक्ष रूप से देखने के अतिरिक्त जीन को अभी तक नहीं देखा जा सका है। जीन आकार में इतने छोटे होते हैं कि यदि मानव शरीर की समस्त कोशिकाओं में उपस्थित सभी जीनों को एक जगह समेटकर रख दिया जाए तो वह एक साधारण आलपिन की नोक के एक प्रतिशत क्षेत्र का भी आधा स्थान ही घेरेंगे जबकि शरीर में जीनों की संख्या अनुमानतः 4×10^{17} (अर्थात 4 के आगे 17 शून्य) होती है।

जीवों के कुछ ही गुण ऐसे हैं जो केवल एक जीन द्वारा नियंत्रित होते हैं, अन्यथा बहुत से जीनों का ही एक गुण पर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य की त्वचा के रंग मात्र को ही आठ विभिन्न जीन प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि मनुष्यों की त्वचा के अनेक रंग देखने को मिलते हैं। प्रज्ञा, शरीर की बनावट तथा मुखाकृति आदि जैसे जटिल पैतृक गुण तो सैकड़ों जीनों पर निर्भर करते हैं।

दो व्यक्तियों के हर तरह से समान होने की सम्भावना अत्यल्प होती है। जुड़वां भाई-बहनों को छोड़ कर, जिनका विकास एक ही निषेचित डिम्ब से हुआ है गणित की दृष्टि से, 23 क्रोमोसोम माता के और 23 क्रोमोसोम पिता के परस्पर 80 लाख से भी अधिक प्रकार से मिल सकते हैं। एक ही माता-पिता के दो बच्चों में क्रोमोसोमों की समान व्यवस्था होने की सम्भाविता 70 अरब में से एक होती है, और जब प्रत्येक क्रोमोसोम में 1250 जीन हो सकते हैं तब तो यह सम्भाविता बहुत ही कम—10^{9031} (एक के आगे 9031 शून्य रखने से यह संख्या प्राप्त होगी) में से एक।



जीवन की कुंडली— डी. एन. ए. और आनुवंशिक कूट

हमारे देश में एक पुराना रिवाज है कि शादी-विवाह अपनी ही जाति के लोगों में किया जाये। अपनी जाति, अपने 'रक्त' और अपने परम्परागत गुणों को अक्षुण्य रखने के लिये पूर्वजों ने यह तरीका ढूंढ निकाला था। वे मानते थे कि 'वीर का बेटा वीर होगा और चोर का चोर'। मां-बाप के बहुत से शारीरिक और मानसिक गुण संतान में आ जाते हैं। जो बात मनुष्य के लिये सच है वह दूसरे जन्तुओं के लिये भी ठीक है। बबूल के बीज से बबूल उगता है, आम नहीं। घोड़े का बच्चा घोड़ा ही होता है, हाथी नहीं।

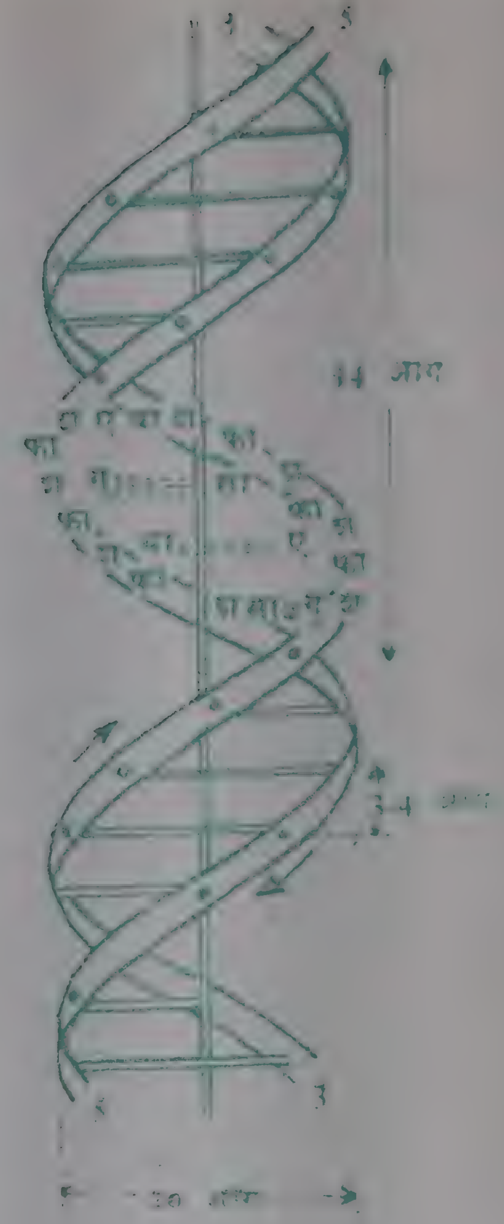
माता-पिता के गुण बच्चों में किस प्रकार आते हैं, इस बारे में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक लोगों में बड़ी विचित्र मान्यतायें थीं। उनका विश्वास था कि बच्चे को मां-बाप से 'रक्त' मिलता है। शायद इसीलिये लोग कहा करते थे कि उनकी रगों में 'क्षत्रियों अथवा ब्राह्मणों का रक्त दौड़ रहा है'। कुलीन और 'श्रेष्ठ रक्त' (हाई ब्लड) अभी भी पर्यायवाची शब्द हैं। सत्रहवीं शताब्दी तक बहुत से वैज्ञानिक भी यह मानते थे कि पुरुष के शुक्राणुओं में एक पूरा किन्तु 'सूक्ष्म आदमी बैठा रहता है' और वही आदमी गर्भाशय में जाकर भ्रूण का रूप धारण कर लेता है। सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार के बाद यह निश्चित हो गया कि न तो जन्तुओं के शुक्राणुओं में स्वयं जन्तुओं का सूक्ष्म रूप रहता है और न ही पेड़-पौधों के पराग में पेड़ का। वैज्ञानिक प्रयत्नशील थे, यह मालूम करने में कि इतने सूक्ष्म शुक्राणुओं और मादा के डिम्बों में मनुष्य, हाथी, बरगद अथवा अन्य जटिल जीव-जन्तुओं के लक्षण निर्धारित करने की क्षमता किस प्रकार निहित होती है। ग्रेगर (योहान)

मेंडल ने 1866 में पहली बार उन 'इकाइयों' (ट्रेट) का विचार वैज्ञानिकों के समक्ष रखा जो जनकों से संतानों को मिलती हैं। ये 'इकाई' कालांतर में 'जीन' कहलाने लगे। जिस समय मेंडल की युगपरिवर्तनकारी खोज पर धूल जम रही थी, उसी दौरान क्रोमोसोम-सिद्धांत का विकास हुआ। बाद में क्रोमोसोम सिद्धांत और जीन में सामंजस्य स्थापित किया गया। और यह ज्ञात हुआ कि जीन क्रोमोसोम के ही महत्वपूर्ण अंग हैं और नये-जीव आधे क्रोमोसोम पिता से प्राप्त करता है और आधे माता से।

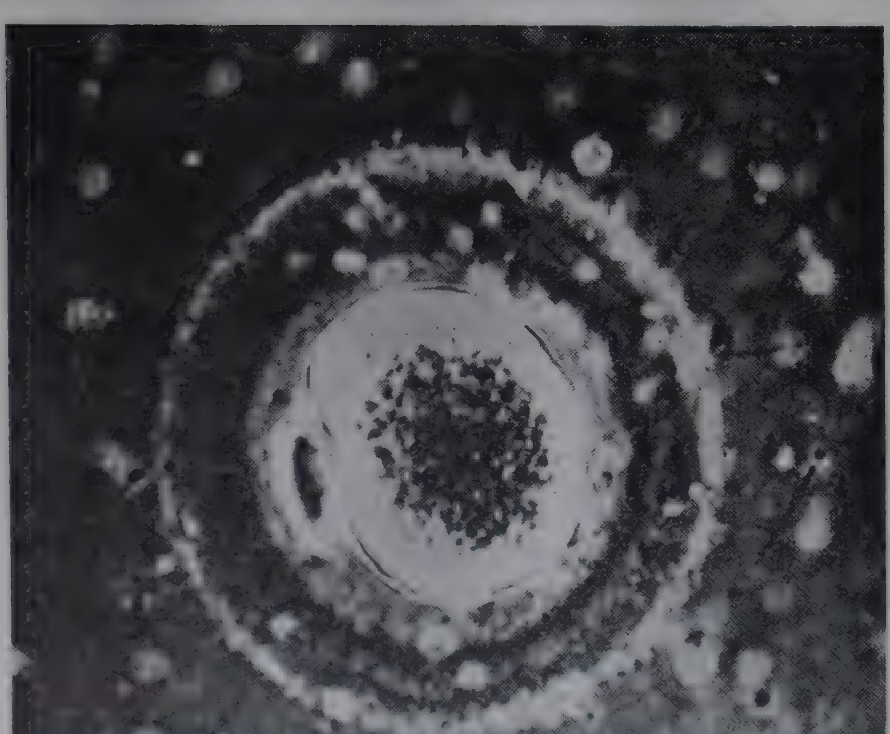
जीन के कार्य

जीनों के मुख्य कार्य हैं अपना प्रतिरूप स्वयं तैयार करना साथ ही विभिन्न शारीरिक क्रियाओं का नियंत्रण और नियमन करना। रसायन-शास्त्रियों के अनुसार उनमें अवश्य ही ऐसे रासायनिक पदार्थ उपस्थित होने चाहिए जिनमें ये क्षमताएं हों। ऐसे एक पदार्थ की खोज की फ्रिड्रिक मीशेर ने 1869 में। उसने उसे कोशिका के केन्द्रक (न्यूक्लिअस) से प्राप्त किया था, इसलिए उसका नाम पड़ा 'न्यूक्लिन'। कालांतर में यह न्यूक्लिन अशोधित डीआक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड पाया गया। हमारी, और दरअसल प्रत्येक जीवधारी की, कोशिकाओं के केन्द्रक में उपस्थित यह पदार्थ संसार का सबसे विलक्षण गुणों वाला रासायनिक पदार्थ है। इसमें स्वयं अपने अणु बनाने (प्रतिलिपि तैयार करने) की क्षमता है।

यद्यपि डी. एन. ए. सब जीवों में (कुछ पादप वायरसों के अतिरिक्त) मौजूद होता है पर हाथी की कोशिका का डी. एन. ए. हाथी को जन्म देता है, बरगद का बरगद बनाता है,



जेम्स ड्युई वाटसन और फ्रांसिस क्रिक द्वारा प्रस्तावित डी. एन. ए. के अणु की संरचना



[illegible] द्वारा लिया गया स्त्री के अंडाणु का चित्र

चींटी का डी. एन. ए. चींटी उत्पन्न करता है और मनुष्य का मनुष्य। इसके गुणों का वर्णन करने से पहले अच्छा होगा कि इसकी रासायनिक संरचना पर एक दृष्टि डालें।

डी. एन. ए. के चार 'मोती'

डी. एन. ए. एक बहुत बड़ा अणु है। लेम्ब्डा (λ) नामक एक बैक्टीरिया-भक्षी के डी. एन. ए. का अणु-भार 3 करोड़ (अणु-लम्बाई–17 माइक्रोन) और एस्चेरीशिया कोली वायरस के डी. एन. ए. का अणुभार 250 करोड़ (अणु-लम्बाई–1400 माइक्रोन) है। जरा इस 'दैत्याकार' अणु की तुलना कीजिए हाइड्रोजन के परमाणु से, जिसका भार 1 है, या पानी के एक अणु से, जिसका भार 18 है। पर डी. एन. ए. छोटे-छोटे रासायनिक अणुओं से बनता है—उसी प्रकार जैसे मोतियों को पिरो देने से हार। डी. एन. ए. के रासायनिक मोतियों को न्यूक्लिओटाइड कहते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं। प्रत्येक न्यूक्लिओटाइड तीन रसायनों के संयोग से बनता है—(1) डीऑक्सी-राइबोज (2) फास्फेट और (3) नाइट्रोजन-युक्त छल्लेदार रासायनिक यूनिट 'बेस'। डीऑक्सीराइबोज एक विशेष प्रकार की शर्करा

है जिसमें कार्बन के 5 परमाणु होते हैं (ग्लूकोज और चीनी में क्रमश: 6 और 12 कार्बन परमाणु होते हैं।) डीऑक्सीराइबोज के एक सिरे पर (पांचवे कार्बन परमाणु पर) फास्फेट का एक समूह जुड़ा होता है और दूसरे सिरे पर (पहले कार्बन परमाणु पर) नाइट्रोजन-बेस। प्रत्येक न्यूक्लिओटाइड में डीऑक्सीराइबोज और फास्फेट विद्यमान होते हैं। बेस चार—एडीनीन, गुआनीन, साइटोसीन और थाइमीन होते हैं और प्रत्येक की संरचना अलग-अलग होती है। प्रत्येक न्यूक्लिओ-टाइड में एक बेस होता है और इनके अनुसार न्यूक्लिओटाइडों के नाम हैं—एडिनिलिक अम्ल, गुआनिलिक अम्ल, साइटीडिलिक अम्ल और थाइमीडिलिक अम्ल।

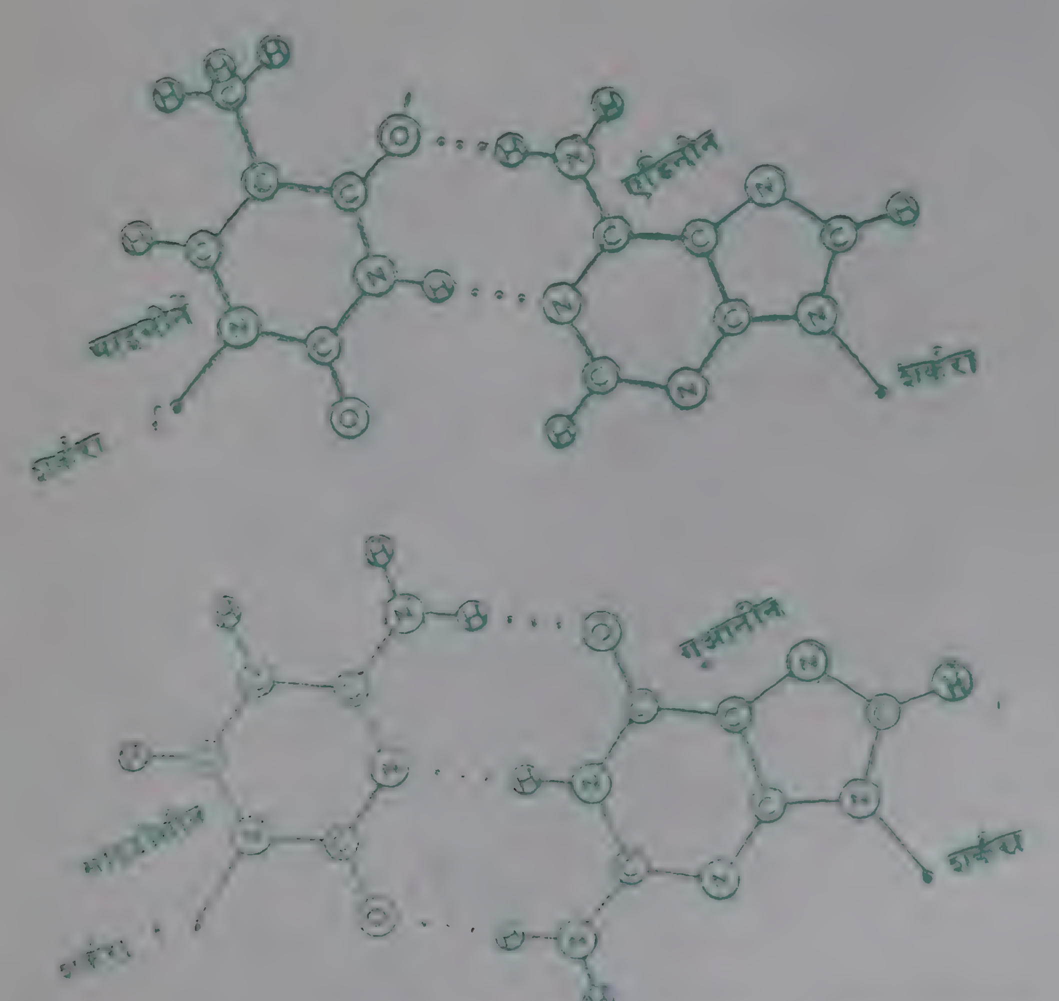
दो जुड़वां संकेत और उनकी पहचान

डी. एन. ए. के रहस्यमय कार्यों के संचालन के लिए यह आवश्यक है कि उसके इन चारों बेसों को प्रोटीन-संश्लेषण व्यवस्था अलग-अलग 'पहचान' सके क्योंकि ये पदार्थ ही जीवन की रहस्यमयी आनुवंशिक भाषा के 'अक्षर' (या संकेत) हैं। इन चारों संकेतों की पहचान उतनी ही स्पष्टता और सरलता से हो जानी चाहिए जैसे शुद्ध भाषा के लिए 'प' और 'ष' अक्षरों की पहचान। प्रकृति की अटूट व्यवस्था के अनुसार इन रासायनिक संकेतों के आकार में दो ऐसे गुण हैं जिनके बल पर इन्हें सहज ही पहचाना जा सकता है। एडीनीन और गुआनीन में साथ-साथ दो छल्ले लगे होते हैं—एक बड़ा और एक छोटा। इसके कारण ये प्यूरीन वर्ग के सदस्य माने जाते हैं। इनकी तुलना में साइटोसीन और थाइमीन में केवल एक 'छल्ला' होता है और इसीलिए इनको पिरीमिडीन वर्ग का सदस्य समझा जाता है। इनकी पहचान का दूसरा आधार है हाइड्रोजन बन्ध प्रदान करने अथवा स्वीकार करने की क्षमता। प्यूरीन सदा पिरीमिडीन से हाइड्रोजन बन्धों द्वारा जोड़े बना सकता है क्योंकि इसी प्रकार के जोड़ों में सक्रिय समूह एक दूसरे के निकट आ पाते हैं। (प्यूरीन-प्यूरीन या पिरीमिडीन-पिरीमिडीन जोड़े संभव नहीं हैं।) डी. एन. ए. की संरचना का एक आधारभूत नियम है— एडीनीन सदा थाइमीन से और गुआनीन सदा साइटोसीन से जोड़े बनाता है। ये एक दूसरे को उसी प्रकार 'पहचान' लेते हैं जैसे दो अंतरंग साथी।

ये चारों न्यूक्लिओटाइड लम्बी कतार में एक के बाद एक, विशेष क्रमों में, जुड़े होते हैं: एक न्यूक्लिओटाइड की डीऑक्सीराइबोज के पांचवे कार्बन परमाणु पर स्थित फास्फेट समूह पड़ोसी न्यूक्लिओटाइड की डीऑक्सीराइबोज के तीसरे कार्बन परमाणु से जुड़ा होता है। बस इसी नियम के अनुसार एक न्यूक्लिओटाइड की शर्करा के पांचवे कार्बन परमाणु को दूसरे न्यूक्लिओटाइड की शर्करा के तीसरे कार्बन परमाणु से, फास्फेट बन्धों द्वारा जोड़ते चले जाने से एडीनीन, गुआनीन, साइटोसीन और थाइमीन का कोई भी क्रम बन सकता है।

चक्करदार सीढ़ी

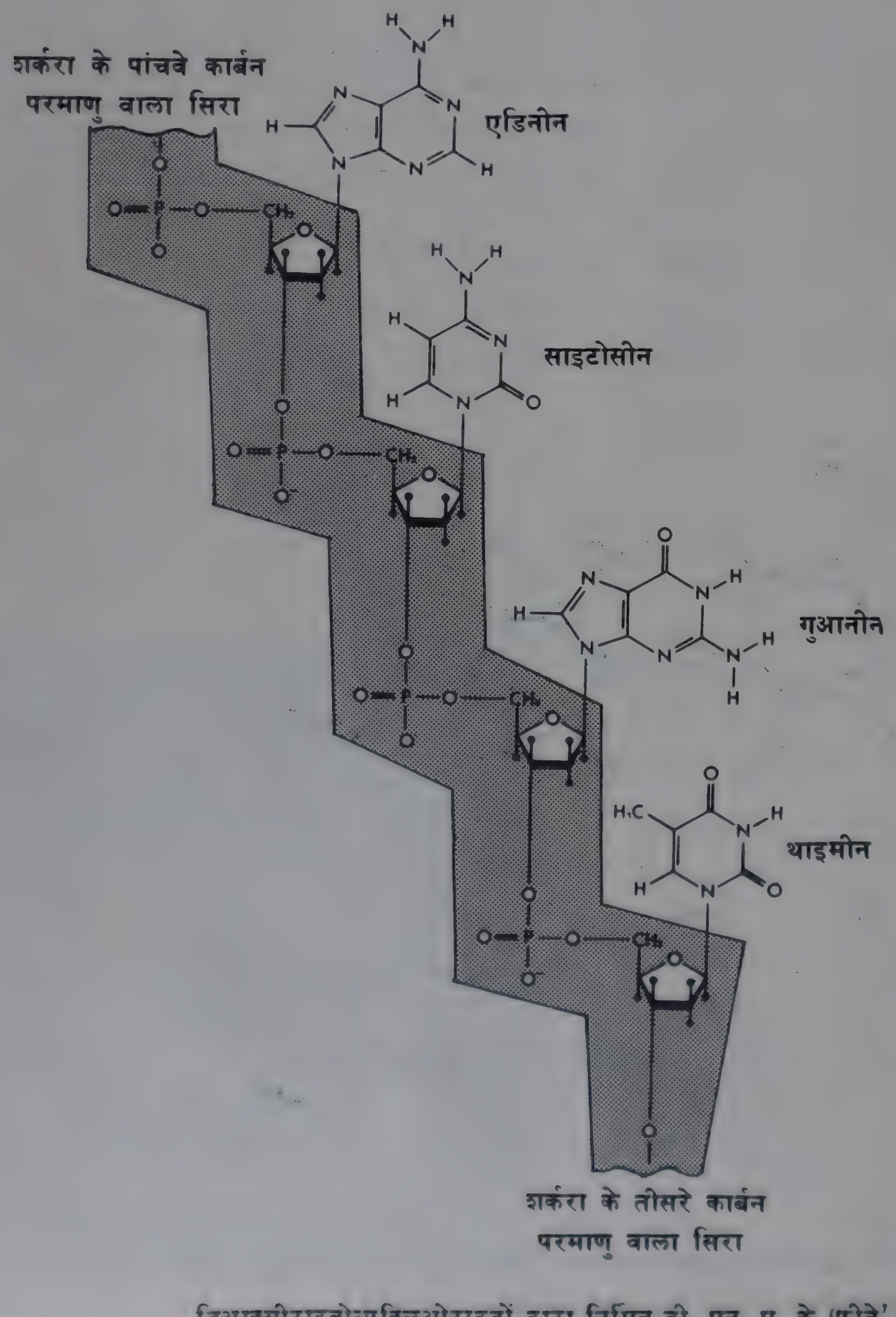
सन् 1953 में कैम्ब्रिज (इंगलैंड) के फ्रांसिस एच. क्रिक और जेम्स ड्युई वाट्सन ने डी. एन. ए. के सम्पूर्ण आकार को प्रस्तुत



ऊपर : एडीनीन-थाइमीन का जोड़ा दो हाइड्रोजन बंधों से बनता है। नीचे : गुआनीन और साइटोसीन का जोड़ा तीन हाइड्रोजन बंधों से बनता है।

करके आनुवंशिक विज्ञान को नया मोड़ दिया । उनके 'साहसिक' और 'कल्पनाशील' प्रस्ताव के अनुसार डी. एन. ए. में न्यूक्लिओटाइड के दो लम्बे फीते एक दूसरे के चारों ओर 'चक्करदार' सीढ़ी (हेलिक्स) की आकृति में लिपटे रहते हैं। डी. एन. ए. के प्रत्येक 'फीते की रीढ़' तो शर्करा और फास्फेट समूहों की कतार से बनती है परन्तु प्यूरीन व पिरीमिडीन इकाइयां एक के ऊपर एक डी. एन. ए. की चक्करदार सीढ़ी की धुरी से 90° कोण पर स्थित होती हैं। दो पड़ोसी न्यूक्लिओटाइडों के बीच की दूरी 3.4 आंग. होती है और डी. एन. ए. फीते के प्रत्येक चक्कर में 10 न्यूक्लिओटाइड होते हैं। अतः हर 34 आंग. की दूरी पर डी. एन. ए. के परस्पर लिपटे फीते एक चक्कर पूरा कर लेते हैं। डी. एन. ए. अणु का व्यास 20 आंग. होता है। एक फीते की प्यूरीन दूसरे फीते की पिरीमिडीन से हाइड्रोजन बन्धों द्वारा ऊपर लिखित नियमों के अनुसार जुड़ी रहती है, इस प्रकार कि एक फीते में एडीनीन है तो उसके ठीक सामने दूसरे फीते में थाइमीन होगी और गुआनीन के सामने दूसरे फीते में साइटोसीन होगी। अतः डी. एन. ए. के एक फीते के न्यूक्लिओटाइड-क्रम की 'नेगेटिव' प्रतिलिपि उसके 'साथी' फीते में पायी जाएगी। दूसरे शब्दों में दो साथी फीतों में एक दूसरे के पूरक न्यूक्लिओटाइड-क्रम पाए जाते हैं।

क्रिक और वाट्सन द्वारा प्रस्तुत डी. एन. ए. की संरचना ने दो मूलभूत समस्याओं प्रोटीन का संश्लेषण और जीन-प्रतिलिपियां बनाना—एकदम समाधान कर दिया। कुछ ही दिनों में यह संरचना इतनी प्रसिद्ध हो गई कि वैज्ञानिक डी. एन. ए. के दो फीतों को 'क्रिक' और 'वाट्सन' के नाम से पुकारने लगे।



डिआक्सीराइबोन्यूक्लिओटाइडों द्वारा निर्मित डी. एन. ए. के 'फीते' का एक भाग

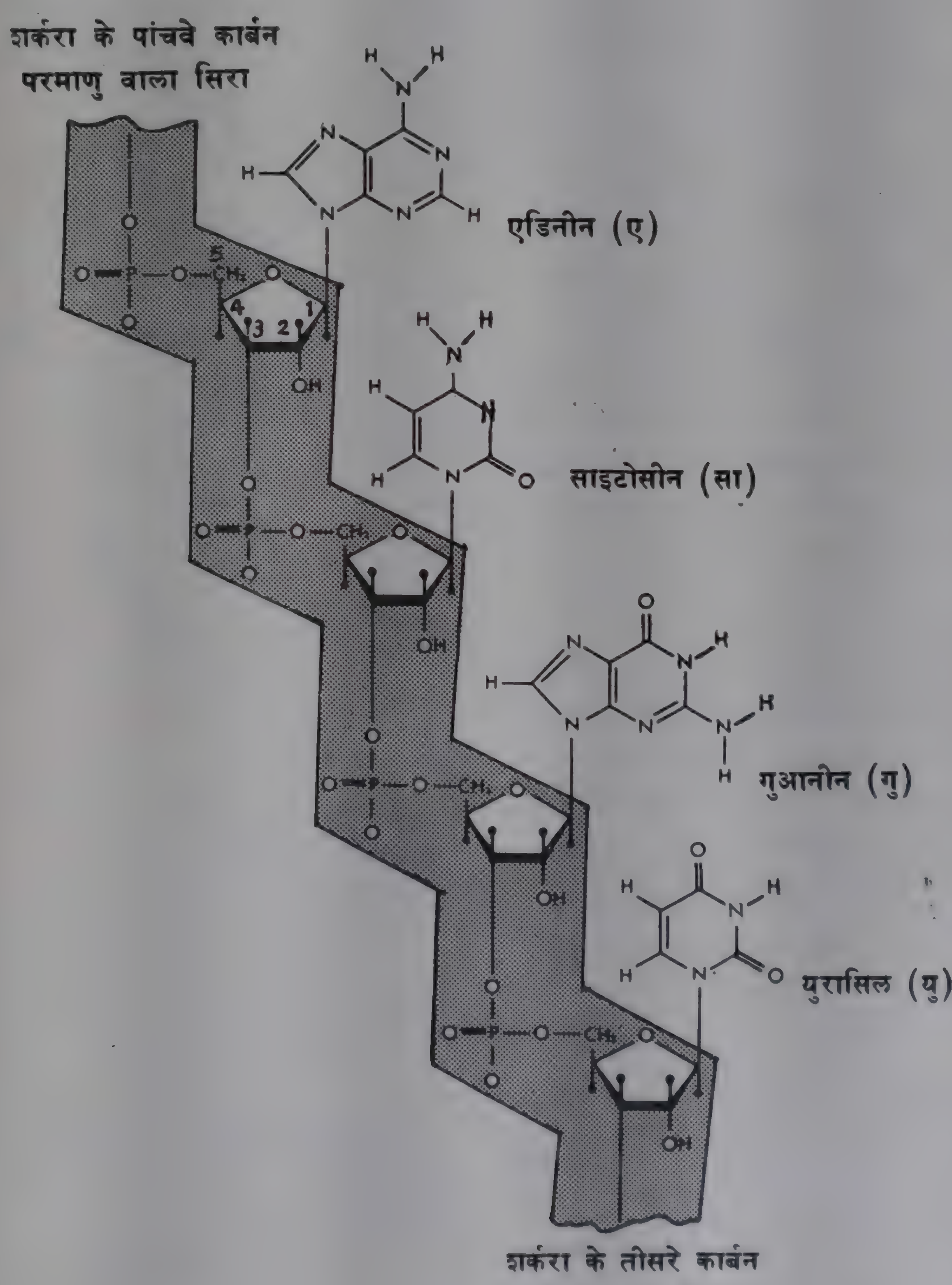
जीन अपनी प्रतिलिपियां कैसे बनाते हैं ?

डी. एन. ए. के अणु की उपयुक्त आकृति से एकदम समझ में आ जाता है कि यह किस प्रकार प्रजनन और कोशिका-विभाजन के दौरान अपनी प्रतिलिपि बना सकेगा। डी. एन. ए. अपने फीतों के चक्करों को एक-एक करके 'खोलता' है और स्वतंत्र हुए फीतों के समानांतर नए न्यूक्लिओटाइड क्रमबद्ध होते चले जाते हैं। जैसे-जैसे न्यूक्लिओटाइड का नया फीता बनता जाता है वैसे-वैसे पुराने और नए फीते परस्पर सीढ़ीनुमा आकृति में लिपटते जाते हैं। इस प्रकार एक 'पुराने' डी. एन. ए. के अणु से दो 'नए' अणु बन जाते हैं। दोनों नवनिर्मित फीतों में वही न्यूक्लिओटाइड-क्रम होता है जो पुराने फीतों में।

चार और बीस का खेल

जीन प्रोटीनों के एमीनोअम्ल-क्रम को निर्धारित करते हैं। निस्संदेह डी.एन.ए. में उपस्थित बेस अनगिनत प्रकार के क्रमों में बद्ध हो सकते हैं और इस तरह किसी भी एमीनोअम्ल-क्रम को निर्धारित कर सकते हैं। इस प्रकार न्यूक्लिओटाइडों का क्रम ही हमारी कोशिकाओं की वह रहस्यमयी भाषा–आनुवंशिक कूट–(जैनेटिक कोड) है जिसमें केवल चार अक्षर हैं—ए, सा, गु, था।

अब जरा गौर कीजिये एक और समस्या पर। प्रोटीनों को संश्लेषित करने वाले एमीनो अम्ल हैं बीस, पर न्यूक्लिओटाइड हैं चार। तो ये चार न्यूक्लिओटाइड किस पद्धति से बीस एमीनो अम्लों के संकेत बना सकते हैं? यदि हम यह मान लें कि डी.एन.ए. की 'सांकेतिक भाषा' ऐसी है कि एक एमीनो अम्ल का संकेत एक न्यूक्लिओटाइड है तो डी.एन. ए. में केवल चार एमीनो अम्लों के संकेत हो सकेंगे। शेष 16 एमीनो अम्ल बिना संकेतों के रह जायेंगे। इसके स्थान पर यदि 4 न्यूक्लिओटाइडों से दो-दो के जोड़ों में संकेत-शब्द (कोडोन) बनाये जायें तो हम क्रमचय



राइबोन्यूक्लिओटाइडों द्वारा निर्मित आर. एन. ए. के 'फीते' का एक भाग

(पर्म्यूटेशन) द्वारा 4^2 या 16 जुड़वां शब्द लिख सकते हैं (उदाहरणतः एउ, एगु, गुए, तथा थाए आदि)। तब भी 4 एमिनो अम्ल बिना संकेत-शब्दों के रह जाएंगे। परन्तु अब यदि हम तीन-तीन न्यूक्लिओटाइडों को इकट्ठा लेकर संकेत-शब्द बनायें तो हम क्रमचय द्वारा 4^3 या 64 संकेत-शब्द बना सकते हैं (उदाहरणतः सा-गु-सा, सा-सा-गु, गु-सा-सा आदि)। स्पष्ट है कि तीन-तीन अक्षरों के संकेत-शब्दों की सांकेतिक भाषा में 20 एमिनो अम्लों को क्रम में लगाने की सूचना पर्याप्त ही नहीं बल्कि जरूरत से अधिक है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि एक एमिनो अम्ल के लिये एक से अधिक संकेत-शब्द हो सकते हैं।

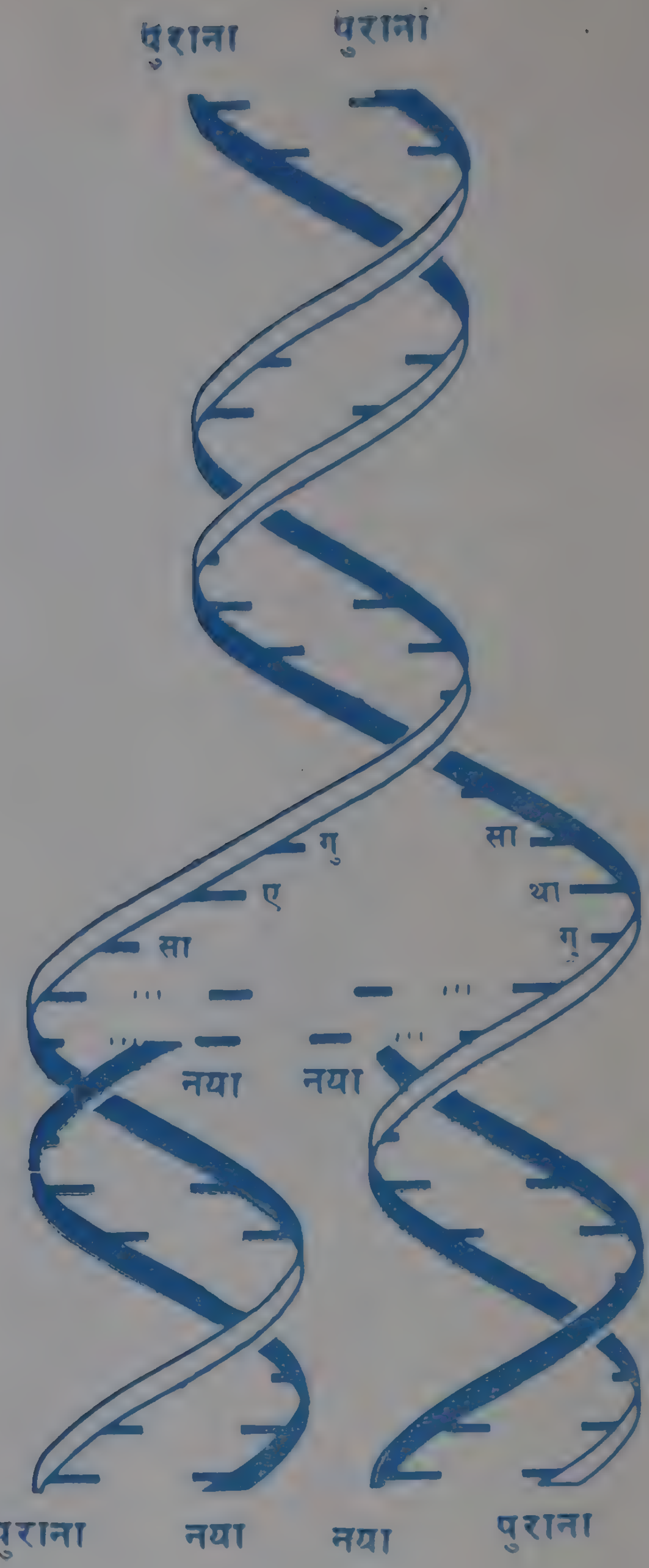
आर. एन. ए.

एक विचित्र बात यह है कि हमारी कोशिकाओं में अधिकतर प्रोटीनों का संश्लेषण केन्द्रक के बाहर, साइटोप्लाज्म में होता है, जबकि डी. एन. ए. केन्द्रक में स्थित क्रोमोसोमों में पाया जाता है। यह कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर वास्तव में बड़ा सरल है—प्रोटीन संश्लेषण का नियंत्रण डी. एन. ए. अपने ही समरूप एक और रसायन, राइबोन्यूक्लिक एसिड (आर. एन. ए.), के माध्यम से करता है। यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण प्रोटीन संश्लेषण आर. एन. ए. द्वारा ही होता है।

रासायनिक संरचना में आर. एन. ए. बहुत कुछ डी. एन. ए. जैसा ही होता है। उनमें तीन मुख्य अन्तर हैं, (1) डी. एन. ए. में डीआक्सीराइबोज शर्करा होती है और आर. एन. ए. में राइबोज है। (2) आर. एन. ए. में थाइमीन न्यूक्लिओटाइड (थाइमीडिलिक अम्ल) नहीं होता। उसके स्थान पर युरासिल न्यूक्लिओटाइड (युरिडिलिक अम्ल) होता है। (3) आर. एन. ए. में सामान्यतः न्यूक्लिओटाइडों का एक ही फीता होता है, डी. एन. ए. के समान दो लिपटे हुए फीते नहीं।

आर. एन. ए. संश्लेषण के समय डी. एन. ए. के दोनों फीते उसी प्रकार खुल जाते हैं जैसे वंशवृद्धि करने (प्रतिलिपिकरण) के दौरान खुलते हैं। डी. एन. ए. के फीतों के खुल जाने पर उनके समानान्तर आर. एन. ए. के राइबोन्यूक्लिओटाइड व्यवस्थित हो जाते हैं और, जुड़वां न्यूक्लिओटाइडों के प्रसिद्ध नियमानुसार, क्रमबद्ध होना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार डी. एन. ए. के एक फीते के नेगेटिव रूप (प्रतिरूप) आर. एन. ए. के न्यूक्लिओटाइड-क्रम में पाया जायेगा। हां, इस संश्लेषण में एक विशेष एंजाइम, 'आर. एन. ए. पॉलीमरेज' की आवश्यकता पड़ती है।

संदेशवाहक आर. एन. ए. और राइबोसोम — जीन द्वारा बने आर. एन. ए. के अणु को 'संदेशवाहक (मैसिंजर) आर. एन. ए.' कहा जाता है क्योंकि यह प्रोटीन संश्लेषित करने का संदेश जीन से साइटोप्लाज्म में ले जाता है। संदेशवाहक आर. एन. ए. का फीता साइटोप्लाज्म में जाकर विशेष प्रकार के, गेंद सदृश कणों—राइबोसोमों—के साथ संलग्न हो जाता है। राइबोसोम (व्यास—250 आंग.) स्वयं विशेष प्रकार के प्रोटीनों और आर. एन. ए. के संयोग से बनते हैं।



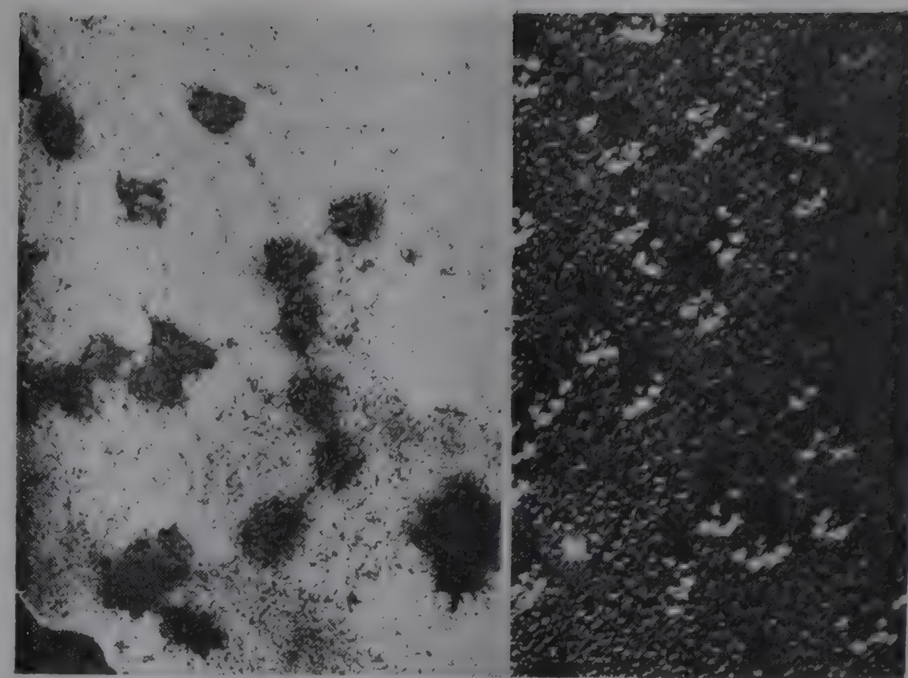
डी. एन. ए. अणु अपनी प्रतिलिपि बनाते हुए। प्रतिलिपि बनाने के दौरान डी. एन. ए. अणु की चक्करदार सीढ़ी 'खुलती' है और उसके दोनों सिरों पर नए फीते बनने लगते हैं। ये सिरे इस क्रिया में स्ट्रैंड का कार्य करते हैं। अंत में दो समरूप में अणु बन जाते हैं। नये अणुओं में बेस-क्रम वही होता है जो 'पुराने' अणु में।

●

ये राइबोसोम संदेशवाहक—आर. एन. ए. पर एक-एक संकेत-शब्द (या तीन-तीन न्यूक्लिओटाइड) 'आगे खिसकते हुए यात्रा करते हैं'। प्रत्येक संदेशवाहक आर. एन. ए. अणु पर एक ही समय में कई राइबोसोम यात्रा कर सकते हैं।

डी. एन. ए. में निहित आनुवंशिक सूचनाओं को प्रोटीन में रूपांतरित करने के लिये एक अन्य रसायन की भी आवश्यकता होती है। यह रसायन आर. एन. ए. का ही एक रूप होता है और इसे कहते हैं 'ट्रांसफर-आर. एन. ए.'।

प्रत्येक एमिनो अम्ल के 'निर्माण' के लिये कोशिका में एक विशेष प्रकार का (ट्रांसफर) आर. एन. ए. होता है। इस प्रकार कोशिका में कम से कम 20 प्रकार के ट्रांसफर-आर. एन. ए. होने चाहिये। पर वास्तव में वे 20 से कहीं अधिक होते हैं। इस एंजाइम की क्रिया के फलस्वरूप प्रत्येक एमिनो अम्ल अपने ट्रांसफर-आर. एन. ए. के एक सिरे से संयुक्त हो जाता है।



पॉलीराइबोसोम का इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप चित्र : (बाएं) राइबोसोम अपने वास्तविक आकार से चार लाख गुने बड़े। (दाहिने) पॉलीराइबोसोमों में आर. एन. ए. फीतों से जुड़े राइबोसोम, वास्तविक आकार से एक लाख गुने बड़े।

प्रतिसंकेत-शब्द और प्रोटीन संश्लेषण

प्रत्येक ट्रांसफर-आर. एन. ए. में 80 न्यूक्लिओटाइडों का एक निश्चित क्रम होता है। यह क्रम किसी दूसरे ट्रांसफर-आर. एन. ए. के न्यूक्लिओटाइड-क्रम से भिन्न होता है। अनवरत प्रयास के बाद कॉर्नेल विश्वविद्यालय में राबर्ट हॉले पहली बार एक ट्रांसफर-आर. एन. ए. का न्यूक्लिओटाइड-क्रम पता करने में सफल हुए।

प्रोटीन संश्लेषण के दौरान एमिनो अम्ल से युक्त ट्रांसफर-आर. एन. ए. संदेशवाहक-आर. एन. ए. राइबोसोम जोड़े के पास पहुंचते हैं। यहां ट्रांसफर-आर. एन. ए. का काम होता है संदेशवाहक–आर. एन. ए. के न्यूक्लिओटाइड-क्रम में तीन न्यूक्लिओटाइडों के उस क्रम को ढूंढ निकालना जो उसके साथ संयुक्त एमिनो अम्ल का संकेत-शब्द बनाते हैं। इसके लिये ट्रांसफर–आर. एन. ए. में बड़ा सुन्दर उपाय होता है। प्रत्येक ट्रांसफर आर. एन. ए. में युग्मित एमिनो अम्ल के संकेत-शब्द का प्रतिक्रम (नेगेटिव क्रम) एक विशेष स्थान पर उपस्थित होता है। ट्रांसफर-आर. एन. ए. में विद्यमान तीन न्यूक्लिओटाइडों के इस प्रतिक्रम को 'प्रतिसंकेत-शब्द' कहा जाता है।

इसी प्रतिसंकेत-शब्द के बल पर एक ट्रांसफर-आर. एन. ए. एक विशेष संकेत-शब्द को संदेशवाहक-आर. एन. ए. में ढूंढ कर उसके साथ हाइड्रोजन बंधों द्वारा संबंध स्थापित कर लेता है। इस संबंध को स्थापित करने के लिये राइबोसोम की उपस्थिति आवश्यक है। इसके बाद एक और ट्रांसफर-आर. एन. ए. अणु आकर अगले संकेत-शब्द के साथ जुड़ जाता है। फिर इस प्रकार पास आये दोनों एमिनो अम्लों में संयोग स्थापित हो जाता है। तदनन्तर राइबोसोम संदेशवाहक–आर. एन. ए. पर एक संकेत-शब्द और आगे बढ़ जाता है।



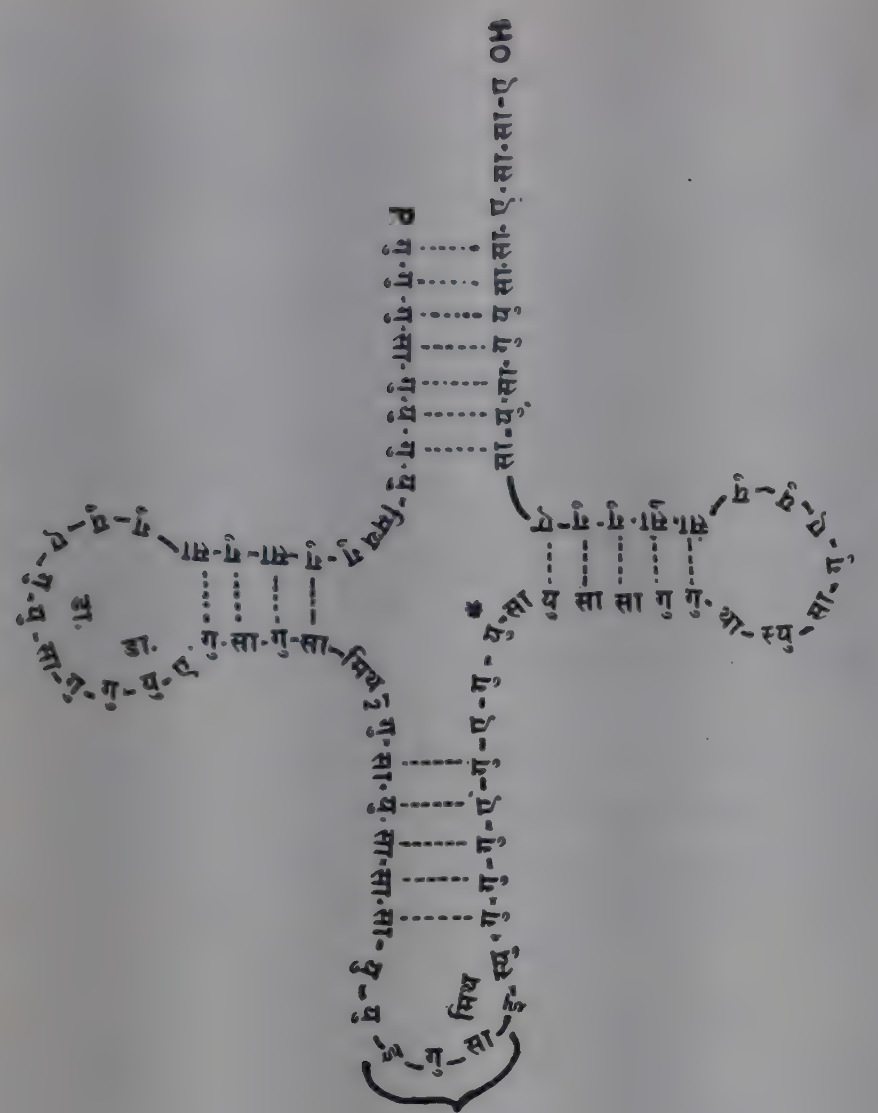
संदेशवाहक-आर. एन. ए. द्वारा राइबोसोम पर प्रोटीन संश्लेषण

इस क्रिया में पहले एमिनो अम्ल का ट्रांसफर-आर. एन. ए. मुक्त होकर राइबोसोम से अलग हो जाता है। संकेत-शब्द द्वारा 'संकेतित' एमिनो अम्ल से संयुक्त ट्रांसफर-आर. एन. ए. अपने प्रतिसंकेत-शब्द की सहायता से संदेशवाहक के साथ हाइड्रोजन बंधों द्वारा संबंध स्थापित कर लेता है। फिर तीसरा एमिनो अम्ल पिछले एमिनो अम्ल के साथ संयुक्त होता है। बस अब पूर्ववत राइबोसोम पिछले ट्रांसफर-आर. एन. ए. को 'स्वतंत्र' करता हुआ एक-एक संकेत-शब्द आगे बढ़ता जाता है और हर नये संकेत-शब्द के अनुरूप नये-नये एमिनो अम्लों को संदेशवाहक के समानान्तर क्रमबद्ध करता चलता है।

परखनली में प्रोटीन संश्लेषण

कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिकों ने प्रोटीन संश्लेषण में सफलता प्राप्त की। इसके लिये उन्होंने ऐसा वायरस चुना जिसमें डी. एन. ए. के स्थान पर आर. एन. ए. होता है और जिसके चारों ओर आर. एन. ए. द्वारा संश्लेषित रक्षक (प्रोटीन) की दीवार होती है।

उन्होंने इस जीवाणु में से आर. एन. ए. बिलगा कर परखनली में डाला। साथ में उन्होंने राइबोसोम, बीसों प्रकार के एमिनो अम्ल-वाहक–आर. एन. .–संयोजक–एंजाइम, कुछ अन्य आवश्यक एंजाइम,



←

नोबल पुरस्कार विजेता राबर्ट हॉली, द्वारा प्रस्तावित ऐलीनीन वाहक आर. एन. ए. का न्यूक्लिओटाइड-क्रम। 'प्रति-संकेत-शब्द' कोष्ठक से चिन्हित है।

→

डी एन. ए. अणु का विभाजन एक अणु 'टूटकर' दो अणु 'बना लेता है' : 1 विभाजन स्थल; 2 बेस; 3 नये अणु

सब प्रकार के ट्रांसफर–आर. एन. ए., बीसों एमिनो अम्ल और कुछ 'शक्ति स्रोत' मिलाये। बस फिर क्या था। एफ-2 के आर. एन. ए. ने परखनली में एक ऐसी प्रोटीन का 'निर्देशन' किया जिसका एमिनो अम्ल क्रम प्राकृतिक प्रोटीन के बिल्कुल समान था।

इसी प्रकार हमारे रक्त के लाल कणों में से हीमोग्लोबिन को बनाने वाले संदेशवाहक-आर. एन. ए. को बिलगा कर परखनली में 'पाला' गया। फिर पूर्ववत जब प्रोटीन-संश्लेषण में आवश्यक सारे पदार्थ डाले तो परखनली में हीमोग्लोबिन की प्रोटीन संश्लेषित हो गई।

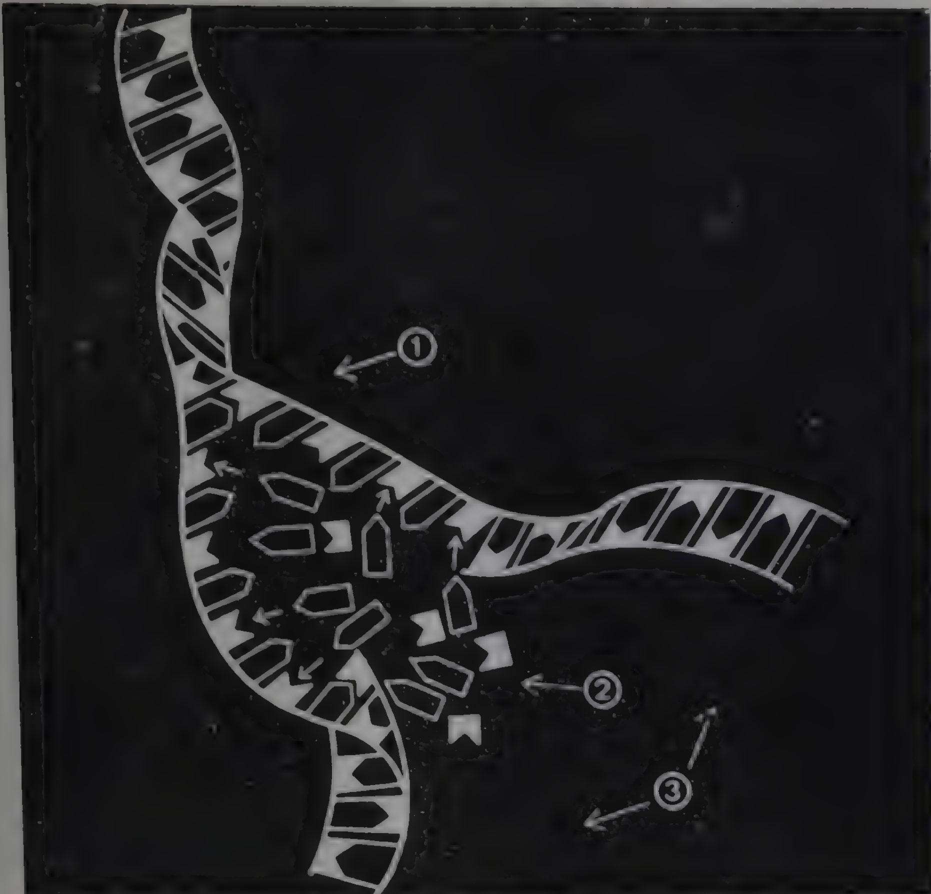
आनुवंशिक संकेतों का रहस्योद्घाटन

अब आप जीवन की इस रहस्यमयी भाषा के बारे में बहुत कुछ समझ गये हैं। एक आखिरी समस्या का समाधान बाकी है। वह यह कि चार न्यूक्लिओटाइडों द्वारा बन सकने वाले 64 संकेत-शब्दों में से कौन सा संकेत-शब्द किस एमिनो अम्ल का संकेत-शब्द है। 1961 तक तो ऐसा लगता था कि इस समस्या का समाधान कभी न हो पायेगा। पर मानव ने प्रकृति के सामने हार कब मानी है ? उस साल वाशिंगटन के पास स्थित नेशनल इंस्टीट्यूट आफ हेल्थ के मार्शल निरेनबर्ग ने अपना एक मौलिक प्रयोग किया। जब उन्होंने मास्को में 1961 में आयोजित अंतरराष्ट्रीय जैवरसायन सम्मेलन में इस प्रयोग के परिणाम प्रस्तुत किये तो लोगों ने दांतों तले उंगली दबा ली।

निरेनबर्ग और उनके सहयोगी जान मथाई ने एंजाइमों की सहायता से कृत्रिम आर.एन.ए. बनाया जिसमें केवल यरासिल के न्यूक्लिओटाइडों का क्रम था –अर्थात यु यु यु यु यु यु यु यु यु––––––––। फिर उन्होंने इस कृत्रिम आर. एन. ए. (जिसको पॉली युरासिल कहा जा सकता है) को परखनली में प्रोटीन संश्लेषण में आवश्यक सब पदार्थों के साथ डाला। ऐसा करने पर उन्होंने देखा कि जो प्रोटीन बनती है उसमें केवल फेनिलएलनीन का लम्बा क्रम, पॉली-फेनिलएलनीन है, चाहे परखनली में अन्य 19 एमिनो अम्ल भी उपस्थित थे।

इसी प्रकार जब पॉली-एडीनीन (ए ए ए ए ए ए ए ए ए ए––) और पॉली-साइटोसीन (सा, सा, सा, सा, सा, सा, सा, सा, सा, सा––) संदेशवाहक के रूप में प्रयुक्त किए गए तो क्रमशः लाइसीन-क्रम (पॉली-लाइसीन) और प्रोलीन-क्रम (पॉली-प्रोलीन) बने। इस विधि से एक प्रकार के न्यूक्लिओटाइड वाले संकेत-शब्दों द्वारा संकेतित एमिनो अम्लों का तो पता चलना सम्भव था पर एक से अधिक प्रकार के न्यूक्लिओटाइड वाले सकेत-शब्दों की समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। उसके लिये हमें ऐसे डी. एन. ए. और आर. एन. ए. की आवश्यकता थी जिनमें न्यूक्लिओटाइड क्रम पूर्णतः ज्ञात हो।

1964 में निरेनबर्ग और उनके सहयोगी लैडर ने एक और विधि का आविष्कार किया जिसमें पूर्वनिश्चित क्रम के तीन-तीन न्यूक्लिओटाइडों वाले आर.एन.ए. के 'टुकड़ों' का उपयोग होता है। एक प्रकार से ये टुकड़े आर. एन. ए. के संकेत-शब्दों के समरूप थे। एक तरफ निरेनबर्ग ने और दूसरी ओर विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के एंजाइम इंस्टीट्यूट के विश्वविख्यात रसायनज्ञ हरगोबिन्द खुराना ने चौंसठ



प्रकार के क्रमों वाले तीन-तीन न्यूक्लिओटाइडों के टुकड़े बनाये। फिर इन संकेत-शब्दों को एक-एक करके राइबोसोम और ट्रांसफर-आर. एन. ए. के साथ संयुक्त बीसों एमिनो अम्लों के घोल में डाला। ऐसा करने से वह एमिनो अम्ल अपने उस ट्रांसफर-आर. एन. ए. राइबोसोम में 'फंस' जाता था जिसका संकेत-शब्द 'घोल' में डाला गया था। इस प्रकार निरेनबर्ग और खुराना ने प्रोटीन संश्लेषण के एक चरण की नकल करके प्रत्येक संकेत-शब्द द्वारा संकेतित एमिनो अम्ल का पता लगा लिया (डा. खुराना और उनके अनुसंधान कार्य के बारे में प्रकाशित लेख इस अंक में अन्यत्र पढ़िये)।

जो बात 1961 में केवल सोची जा सकती थी वह 1968 में इतिहास बन चुकी थी। निस्संदेह आनुवंशिक संकेत समस्या का रहस्योद्घाटन मार्शल निरेनबर्ग और हरगोबिन्द खुराना के विलक्षण शोधकार्य का परिणाम है। साथ-साथ इस कार्य में राबर्ट हॉले द्वारा पता लगाई गई ट्रांसफर-आर. एन. ए. की संरचना भी बहुत उपयोगी रही। इसी लिये निरेनबर्ग, खुराना और हॉले को पिछले वर्ष नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया।

अब आगे क्या होने वाला है ?

आनुवंशिकीविद् के हाथों में एक अद्भुत शक्ति आ गई है। वे अब अपनी इच्छानुसार न्यूक्लिओटाइडों को किसी भी निश्चित क्रम में जोड़ कर किसी भी प्रोटीन का 'जीन निर्माता' बना सकते हैं। वे अब परखनली में ही जीनों का निर्माण कर सकेंगे। आजकल वे एक विशेष जीन का संश्लेषण कर रहे हैं—यह जीन होगा ट्रांसफर-आर.एन.ए. को बनाने वाला। समझा जाता है कि इस वर्ष वैज्ञानिक परखनली में प्रथम कृत्रिम जीन का निर्माण करने में सफल हो जायेंगे। फिर परखनली में हर प्रकार के जीन बनाना सम्भव हो सकेगा। वह दिन दूर नहीं है जब इन्सुलिन बनाने का जीन परखनली में बनाकर वैज्ञानिक उसे मधुमेह (डायबिटीज) के मरीजों के शरीरों में प्रविष्ट करा सकेंगे। उस दिन मधुमेह के मरीजों को रोज इन्सुलिन की सुईयां लगवाने से छुट्टी मिल जायेगी क्योंकि उनके शरीर में ये कृत्रिम जीन इन्सुलिन का संश्लेषण कर सकेंगे।

डी. एन. ए. मैनेजर : एंजाइम फोरमैन

जीव कोशिकाओं में होने वाली क्रियाएं एंजाइमों द्वारा होती हैं। डी. एन. ए. संयंत्र व्यवस्थापक (प्लान्ट मैनेजर) की तरह है। एंजाइम उसके विभिन्न-अनुभागों के फोरमैन हैं। कोशिका का कोशिका-द्रव्य (साइटोप्लाज्म, अनिर्मित सामग्री से भरपूर भंडार है जिसमें उच्च ऊर्जा वाले फास्फेट भी हैं जो परमाणु समूहों को जोड़कर अणु बनाने के लिए 'धक्का' लगाते हैं। जब भी मैनेजर (डी.एन.ए.) कोई आदेश देता है, एंजाइम यह देखता है कि जो भी सामग्री एकत्रित की जानी है वह एकत्रित होती है और जितनी भी ऊर्जा प्रदान की जानी है वह प्रदान की जाती है।



प्रकृति में विविधता का रहस्य : उत्परिवर्तन

अशोक सेन

कुछ लोगों के सिर के बाल घुंघराले होते ह, तो कुछ के बालों की बनावट इतनी खराब होती है कि उनको संवारना भी उनके लिये दूमर हो जाता है। यही नहीं, कोई मनुष्य काला होता है और कोई गोरा। जन्तुओं में ही नहीं यह विविधता पौधों में भी पाई जाती है। प्रकृति में नाना प्रकार के फूलों का खिलना, कोई नई बात नहीं। गुलाब को ही देखिये, न जाने कितनी किस्में और कितने रंग होते है इसके। दूसरी ओर मक्का के दानों को देखें तो पता चलता है कि कुछ दाने तो इतने मुलायम और मीठे होते हैं कि उन्हें खाते ही बनता है, परन्तु कुछ इतने कठोर और फीके होते हैं कि उन को चबाना भी मुश्किल हो जाता है। आखिर प्रकृति में सदा से पाये जाने वाले इस वैविध्य का रहस्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पा लेना यद्यपि अधिक सरल तो नहीं, फिर भी इन सब बातों का रहस्य एक शब्द में छिपा हुआ है, और वह है, उत्परिवर्तन (म्यूटेशन)।

प्रकृति में सदा से उत्परिवर्तन होते रहे हैं। इन्हीं का परिणाम है कि आज हमें जीव-जन्तुओं और पेड़ पौधों में इतनी भिन्नता दिखाई देती है। त्वचा का भिन्न-भिन्न प्रकार का रंग होना, त्वचा चित्तीदार होना, शरीर पर बालों का कम या बिल्कुल न होना, मनुष्य का चंदला होना आदि सब उत्परिवर्तन के ही परिणाम हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य जाति और इसकी वंश-परम्परा लाखों वर्षों से चली आई है। आज का जटिल जीवन लाखों वर्ष पहले के सरल जीवन का ही एक परिवर्तित रूप है और यह परिवर्तन उसके जीवन की परिस्थितियों में कभी न कभी हुए उत्परिवर्तनों का ही परिणाम है।

आखिर यह उत्परिवर्तन क्या है और प्रकृति में पाई जाने वाली इस विविधता का क्या रहस्य है?

हम जानते हैं कि जीवन की इकाई कोशिका है। प्रत्येक कोशिका में एक केन्द्रक होता है और केन्द्रक में धागे सदृश अनेक क्रोमोसोम होते हैं, जिन्हें केवल कोशिका विभाजन की कुछ विशेष परिस्थितियों में ही आसानी से देखा जा सकता है।

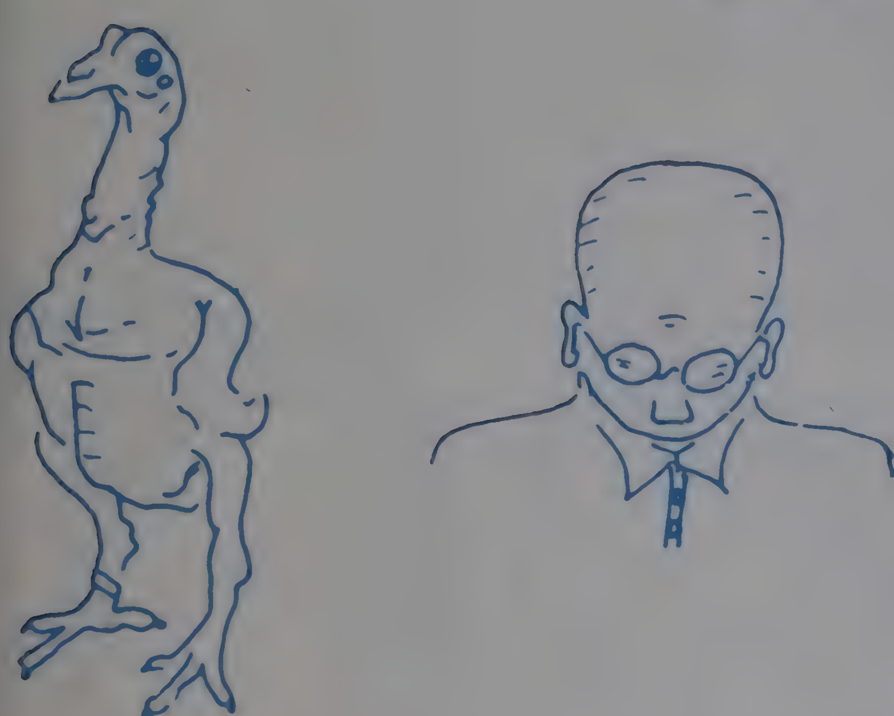
क्रोमोसोमों के ऊपर असंख्य 'जीन' पाये जाते हैं। ये जीन क्रोमोसोम पर इस प्रकार लगे रहते हैं मानो किसी मोती की माला में मोती जड़ित हों। किन्हीं-किन्हीं जीवों के क्रोमोसोम एक पट्टी की तरह भी होते हैं। क्रोमोसोम की संख्या भिन्न प्रकार के जन्तुओं में भिन्न होती है, परन्तु एक ही प्रजाति के पेड़-पौधों या जंतुओं में इन की संख्या सदा निश्चित होती है। जैसे मक्का के पौधे की कोशिकाओं में 20, सेम में 12, चूहे में 40 और मनुष्य में इनकी संख्या 46 होती है। मनुष्य के एक क्रोमोसोम में अनुमानतः 1250 जीन तक पाये जाते हैं। जीन की अपनी अनोखी ही विशेषता है। मनुष्य का रक्त 'ए' समूह का है या 'बी' समूह का, किसी नवजात शिशु की दृष्टि साधारण है या वह जन्म से ही अन्धा है, उसकी आंखों की पुतलियां काली हैं अथवा भूरी, वह बहुत लम्बा है या बौना, यह सारे गुण इन्हीं जीनों पर निर्भर करते हैं। वास्तव में हर जीन के ऊपर एक गुण विशेष की छाप लगी होती है।

अनवरत प्रक्रिया

कोशिका विभाजन के समय प्रत्येक क्रोमोसोम विभाजन की

अवस्था में अपने समरूपी एक अन्य क्रोमोसोम का निर्माण करता है। इसे समरूपी इसलिये कहते हैं कि विभाजन के फलस्वरूप बने दोनों क्रोमोसोमों में एक जैसे ही जीन होते हैं तथा उनमें जीनों का क्रम भी एक जैसा ही होता है। विभाजन के उपरान्त जब समरूपी क्रोमोसोम एक दूसरे से अलग होते हैं तो दोनों पुत्री कोशिकाएं एक जैसे क्रोमोसोम और उन पर लगे एक जैसे ही जीन ग्रहण कर लेती हैं।

मनुष्य का जीवन एक संसेचित डिम्ब से (जिसमें 46 क्रोमोसोम होते हैं) आरम्भ होता है। यह विभाजित हो कर दो, चार और आठ पुत्री कोशिकाएं बनाता है और विभाजन का यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। फलस्वरूप लाखों कोशिकाएं बन जाती हैं। ये कोशिकाएं अपने-अपने कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती हैं और शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण करती हैं। विभाजन के इस जटिल



मुर्गी के शरीर के ही नहीं, मनुष्य के सिर के भी बाल गिर जाना या बिल्कुल न निकलना उत्परिवर्तन का ही परिणाम है।

क्रम के पश्चात भी शरीर में पाये जाने वाली असंख्य कोशिकाओं में से प्रत्येक में केवल 46 क्रोमोसोम ही पाये जाते हैं, न कम न अधिक, और इन पर पाये जाने वाले जीन और उनका क्रम भी समान ही होता है। साधारणतया प्रकृति में यह क्रिया निरन्तर निर्बाध रूप से सम्पन्न होती रहती है, इसमें कोई त्रुटि नहीं आने पाती। परन्तु भाग्यवश कभी-कभी विभाजन के इस कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन आ जाते हैं। ये परिवर्तन तभी आते हैं जब कोशिका या तो किसी रासायनिक पदार्थ के सम्पर्क में आ जाती है या फिर कभी अंतरिक्ष किरणों या रेडियधर्मी तत्वों से प्रभावित हो जाती है। कभी-कभी अधिक ऊंचे या अत्यधिक निम्न तापों से भी ऐसे परिणाम देखने को मिले हैं। इन परिवर्तनों का परिणाम यह होता है कि विभाजन के समय क्रोमोसोम अपने समरूपी क्रोमोसोमों का निर्माण नहीं करते, जिससे कि उनके ऊपर जड़ित जीन परिवर्तित हो जाते हैं। यह क्रिया जिससे किसी क्रोमोसोम या उसके

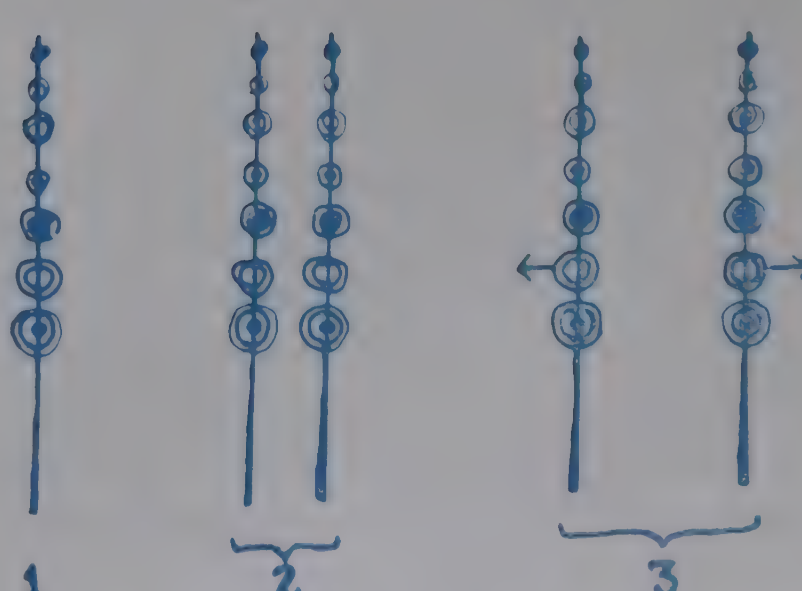


उत्परिवर्तन के परिणामस्वरूप फूलों के रंगों के साथ-साथ उनका आकार भी बदल गया है : 1. साधारण फूल, 2. उत्परिवर्ती फूल।

जीनों में परिवर्तन आ जाता है, उत्परिवर्तन कहलाती है और वह प्राणी जिसमें उस उत्परिवर्तन के परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं, उत्परिवर्ती कहलाते हैं।

विशाल अणु

ऊपर बताया जा चुका है कि उत्परिवर्तन जीन में होता है। जीन दो प्रकार की न्यूक्लिक एसिड—'राइबो न्यूक्लिक एसिड' (आर. एन. ए) और 'डीआक्सीराइबो न्यूक्लिक एसिड' (डी. एन. ए.) से मिलकर बने होते हैं। डी. एन. ए. का अणु बहुत बड़ा होता है जिसमें शर्करा



कोशिका विभाजन के समय प्रत्येक क्रोमोसोम विभाजित होकर अपने समरूपी क्रोमोसोम का निर्माण करता है। दोनों समरूपी क्रोमोसोमों में जीनों का क्रम समान होता है।

और फास्फेट की दो लम्बी-लम्बी श्रृंखलाएं होती हैं, जो आपस में एक दूसरे से दो प्यूरीन बेसों (एडीनीन और गुआनीन) और दो पिरीमिडीन बेसों (थाइमीन और साइटोसीन) से जुड़ी होती हैं। ये चारों बेस एक दूसरे से कुछ निश्चित नियमों के अनुसार जुड़े होते हैं। ये सभी बेस एक दूसरे के पूरक होते हैं; जैसे एडीनीन सदा थाइमीन से जुड़ा होता है और गुआनीन सदा साइटोसीन से। इन बेसों का आपस में संयोग और शर्करा और फास्फेट श्रृंखलाओं के ऊपर इनका क्रम भी एक जीन में निश्चित होता है। उत्परिवर्तन से यह संयोग टूट जाता है या फिर इनका क्रम ही बदल जाता है। परिणाम यह होता है कि एक नये जीन की सृष्टि हो जाती है जिसके गुण पहले वाले जीन से काफी भिन्न होते हैं। इसी भिन्नता का प्रभाव जीवों पर दृष्टिगोचर होता है।

उत्परिवर्तन प्रकृति में अकस्मात ही हो जाया करते हैं। अनुमान है कि करीब एक लाख से एक करोड़ बैक्टीरिया की कोशिकाओं में से केवल एक ही कोशिका में उत्परिवर्तन होता है।

प्रश्न उठता है कि आखिर यह उत्परिवर्तन की क्रिया कोशिका में किस प्रकार होती है। यह उत्परिवर्तन स्थायी होता है अथवा अस्थायी और यदि स्थायी होता है तो उसका प्रभाव एक वंश से दूसरे वंश तक किस प्रकार पहुंचता है?

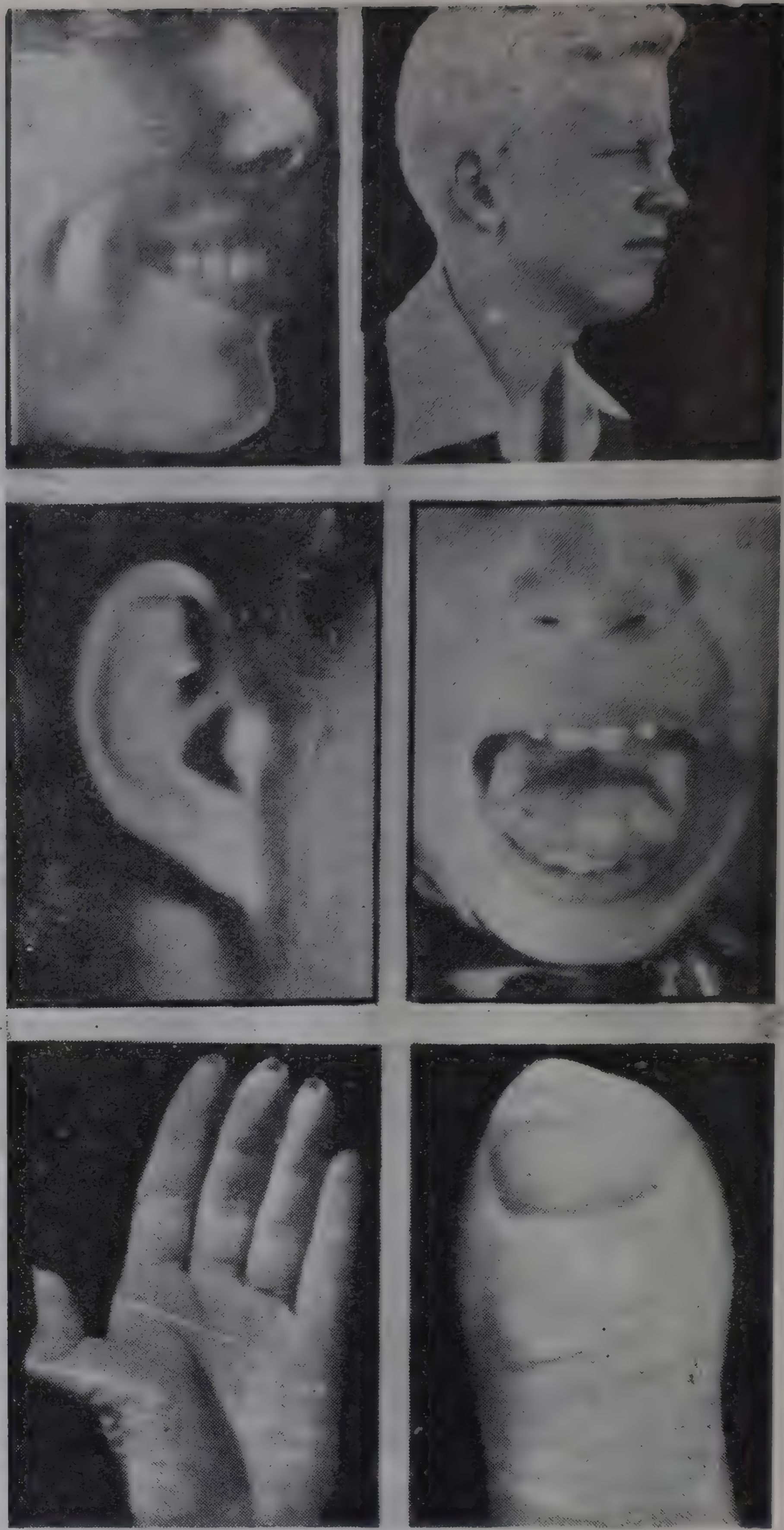
संख्या व क्रम समान

हम जानते हैं कि प्रत्येक प्राणी दो गैमीटों (जनन कोशिकाओं) के संयोग से बनता है। नर के गैमीट को शुक्राणु और मादा के गैमीट को डिम्ब अथवा अण्डाणु कहते हैं। निषेचन अथवा गर्भाधान के समय शुक्राणु डिम्ब के अन्दर प्रवेश करता है। दोनों के केन्द्रकों के मिलने से एक संसेचित केन्द्रक बन जाता है। बस, यहीं से जीवन का आरम्भ होता है। यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सैक्स क्रोमोसोमों के अतिरिक्त जितने प्रकार के क्रोमोसोम शुक्राणु में होते हैं उतने ही प्रकार के तथा समान संख्या में क्रोमोसोम डिम्ब में होते हैं। अतः निषेचन के बाद ये क्रोमोसोम जोड़े बना लेते हैं। जोड़े के दोनों क्रोमोसोमों में जीनों की संख्या समान होती है और उनका क्रम भी समान ही होता है।

यदि यह मान लिया जाए कि मनुष्य के डिम्ब के एक क्रोमोसोम में 600 जीन होते हैं तो शुक्राणु के क्रोमोसोम में भी 600 जीन ही होंगे। और यदि डिम्ब का दूसरे नम्बर पर पाया जाने वाला जीन आंखों की पुतलियों के रंग को, 200वां जीन कान की बनावट को और 400वां जीन हाथ के अस्थिपंजर की बनावट को नियंत्रित करता है तो शुक्राणु में भी दूसरा, 200वां और 400वां जीन क्रमशः पुतलियों के रंग, कान की बनावट और हाथ के अस्थिपंजर को ही नियंत्रित करने वाला होगा। इस प्रकार क्रोमोसोमों की तरह जीन भी जोड़ों में ही पाए जाते हैं।

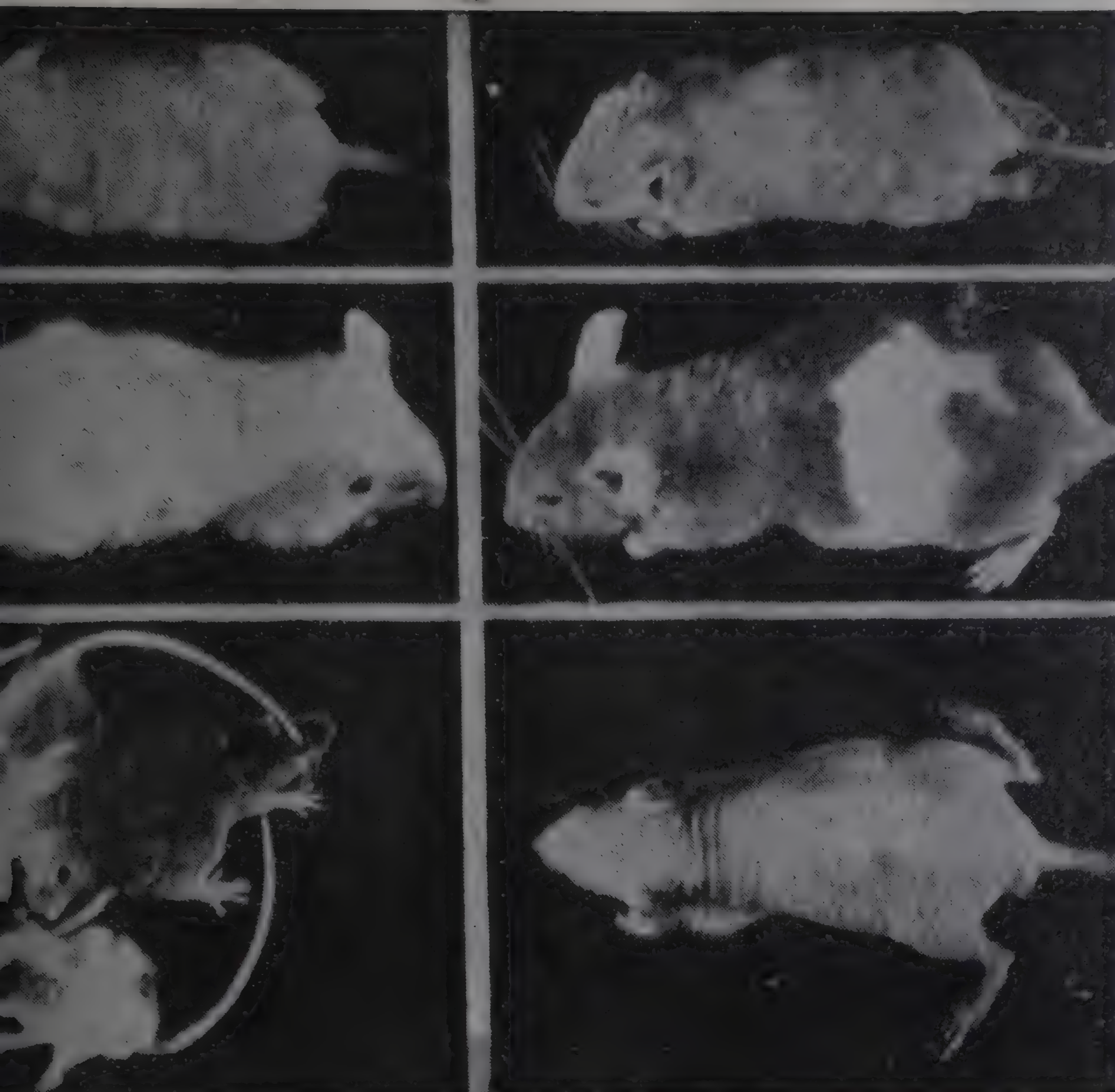
जीन : गुण नियंत्रक

ये जीन ही जीव के विभिन्न अंगों, गुणों आदि का नियंत्रण-निदेशन करते हैं। ज्योंही किसी जीन में उत्परिवर्तन होता है उसकी नियंत्रण-

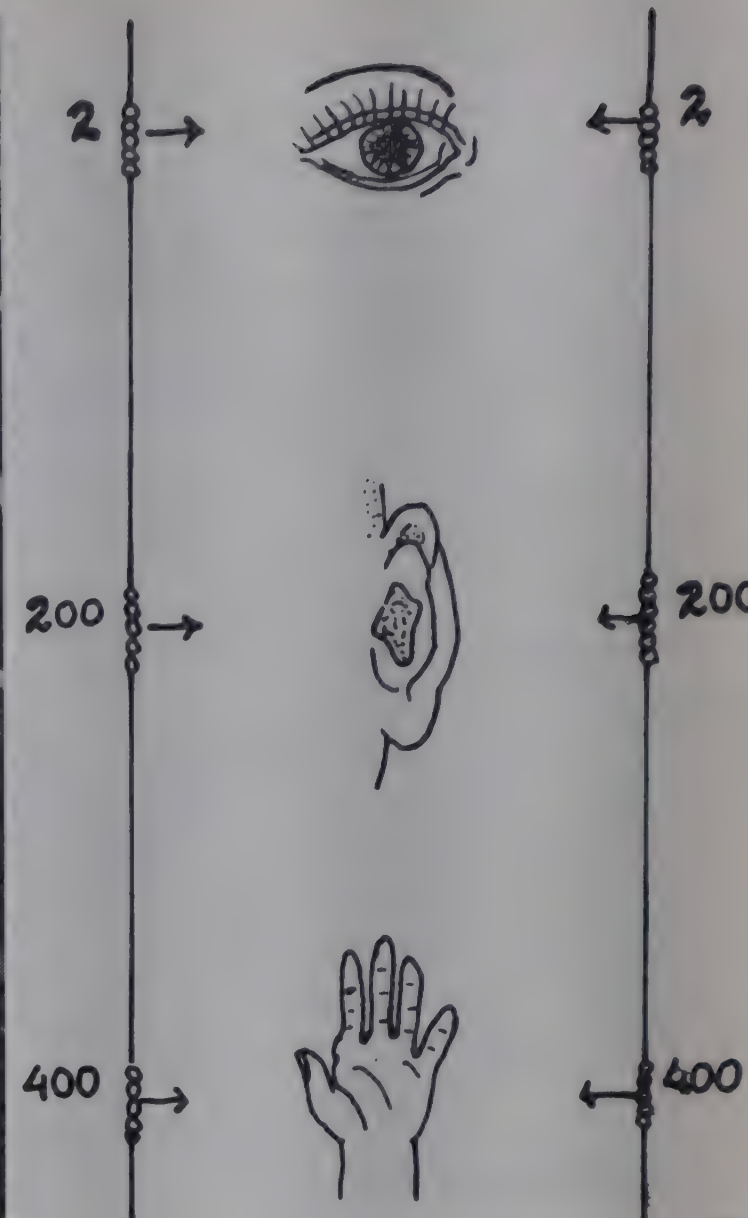


मनुष्य के पूर्वजों के सैक्स क्रोमोसोम में हुए कई उत्परिवर्तन उनकी पीढ़ियों में चले आते हैं। इन उत्परिवर्तनों के कुछ उदाहरण चित्र में दिखाये गये हैं। (ऊपर दायें से बायें) गालों में गढ्ढे पड़ना, मनुष्य का सूरजमुखी होना अर्थात् एल्बिनिज्म; (बीच में) कानों की पालियों का जुड़ा होना, जीभ को पीछे की ओर मोड़ लेने की क्षमता। (नीचे) अंगूठा काफी लचीला हो जाना और अंगूठा आगे चपटा और चौड़ा हो जाना।

निदेशन क्षमता में व उसके गुणों में परिवर्तन आ जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई जीन किसी पशु में त्वचा के रंग को काला बनाता है और उसमें उत्परिवर्तन हो जाता है तो वह तब भी त्वचा के रंग का ही नियंत्रण करेगा। अन्तर यह होगा कि अब वह, हो सकता है, काली त्वचा को भूरा



चूहों में उत्परिवर्तन : जीनों में आकस्मिक परिवर्तन (उत्परिवर्तन) आ जाने से चूहों में नाना प्रकार के विशेष गुण दृष्टिगोचर होते हैं। उत्परिवर्ती चूहों में से किसी की पूंछ बिल्कुल छोटी हो जाती है, तो किसी की लम्बी। किसी के शरीर पर अधिक बाल हैं तो किसी के बिल्कुल नहीं। किसी की त्वचा चित्तीदार है तो कुछ चूहों की मानसिक स्थिति ही बिगड़ गई है।

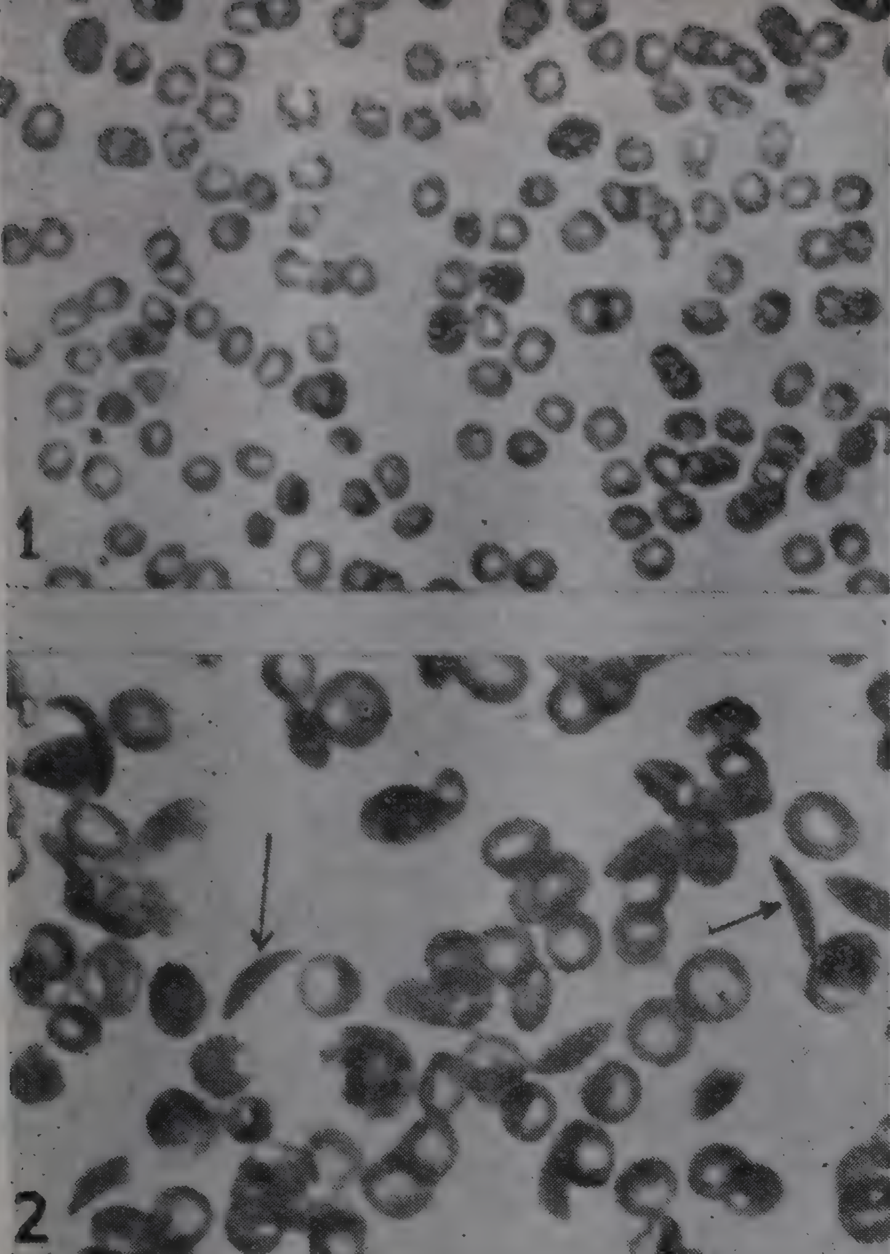


क्रोमोसोम की तरह जीन भी जोड़ों में पाये जाते हैं। माता-पिता से प्राप्त हुए क्रोमोसोम आपस में जोड़े बना लेते हैं। डिम्ब और शुक्राणु दोनों के क्रोमोसोमों का दूसरा, 200वां और 400वां जीन आँखों की पुतलियों के रंग, कान की बनावट और हाथ के अस्थिपंजर की बनावट को ही नियंत्रित करेंगे। (ये संख्याएं स्वेच्छा से चुनी गई हैं)।

बना दे। आपने सफेद, काली, लाल, भूरी और चितकबरी गाएं देखी होंगी। उनकी त्वचा के ये रंग उत्परिवर्तन के ही परिणाम हैं।

यदि किसी लम्बे व्यक्ति के लम्बाई नियंत्रण करने वाले जीन में उत्परिवर्तन हो जाता है तो वह जीन उसके शुक्राणु के माध्यम से उसकी संतान में पहुंच कर संतान को बौना बना सकता है। पौधों में भी उत्परिवर्तन के बड़े-बड़े विचित्र प्रभाव देखे गये हैं। उत्परिवर्त्तन के कारण कभी-कभी लम्बी पूंछ वाले चूहों के वंश में अनायास ही एक छोटी पूंछ वाले चूहे का जन्म हो जाता है।

यदि हमें निषेचन के समय जीन की उपस्थिति और उनके गुणों का भास हो जाय तो हम बता सकते हैं कि आने वाली पीढ़ी के क्या गुण होंगे। मान लीजिये कि मनुष्य के डिम्ब में दो जीन ऐसे हैं जिनके गुण हैं कि वे सदा सीधे ही बालों का उत्पादन करेंगे। इसी प्रकार घुंघराले बाल वाले जीन सदा घुंघराले बालों का ही उत्पादन करेंगे। परन्तु उस बालक के बाल कैसे होंगे जिसके माता और पिता में एक का जीन सीधे और दूसरे का घुंघराले बालों वाला है। इसका उत्तर यही है कि जो भी जीन अधिक शक्तिशाली होगा उसका ही प्रभाव बच्चे पर प्रकट हो जायेगा। प्रयोगों से यह पता चला है कि प्रायः घुंघराले बाल वाले जीन अधिक शक्तिशाली होते हैं। इसीलिये उस बालक के बाल भी घुंघराले ही होंगे जिसमें दोनों प्रकार के जीन उपस्थित होते हैं। ऐसे शक्तिशाली जीन जो अपना प्रभाव अपने आने वाली पीढ़ियों में दर्शाते हैं, चाहे वे माता से आए हों अथवा पिता से, प्रबल (डारमेंट) जीन कहलाते हैं। यदि ऐसे जीन में उत्परिवर्तन हो जाता है तो उसे डारमेंट



उत्परिवर्तन का घातक परिणाम 'सिकिल सैल एनीमिया' । लाल रुधिर कणिकाओं के उत्पादन को नियंत्रित करने वाला जीन उत्परिवर्तित होकर साधारण आकार की लाल रुधिर कणिकाओं के स्थान पर अर्द्ध चन्द्राकार लाल रुधिर कणिकाएं बनाना प्रारम्भ कर देता है । 1. साधारण मनुष्य की लाल रुधिर कणिकाएं 2. रोगी की अर्द्धचन्द्राकार लाल रुधिर कणिकाएं ।

उत्परिवर्तन कहते हैं । दूसरी ओर ऐसे जीन जो अपना प्रभाव केवल उसी समय दिखाते हैं जब वह माता और पिता दोनों से प्राप्त हो कर बालक में आ जाते हैं अप्रबल (रिसेसिव) जीन कहलाते हैं और उनमें हुए उत्परिवर्तन को अप्रबल उत्परिवर्तन कहते हैं ।

आकस्मिक क्रिया के परिणाम

उत्परिवर्तन शरीर की किसी भी कोशिका में, किसी भी समय हो सकता है । यदि यह उत्परिवर्तन हमारे शरीर के उन जीनों में होता है जो हृदय, फेफड़े व अन्य आंतरिक अंगों की रचना को नियंत्रित करते हैं तो उत्परिवर्तन के परिणाम हमें दिखाई नहीं देते । क्योंकि वे शरीर के अन्दर होते हैं ।

हमारे शरीर में दो प्रकार की कोशिकाएं पाई जाती हैं : जनन कोशिकाएं और वर्धी कोशिकाएं । उत्परिवर्तन यदि जनन संबंधी कोशिकाओं में होता है तो उसके परिणाम हमें केवल आने वाली पीढ़ियों में ही दृष्टिगोचर होते हैं । परन्तु यही उत्परिवर्त्तन यदि वर्धी कोशिकाओं में होता है तो उसके परिणाम हमें उसी के जीवन काल में देखने को मिल जाते हैं । परन्तु ऐसे उत्परिवर्तनों का एक वंश से दूसरे वंश तक जाना कठिन होता है । उदाहरण के लिये मान लीजिए किसी पौधे की एक शाखा के अग्रिम सिरे पर स्थित कोशिका में उत्परिवर्त्तन हो जाता है तो शाखा की वह कोशिका विभाजित होकर नयी कोशिकाओं को जन्म देगी और शाखा में वृद्धि होगी । परन्तु परिणाम यह होगा कि उस कोशिका से बनने वाली सभी कोशिकाओं में और अन्त में उस शाखा में दो भिन्न गुण दिखाई देने लगेंगे । हो सकता है कि इस शाखा पर लगने वाले फूलों का रंग बदल जाय, यह भी मुमकिन है कि उस पर लगने वाले फल बहुत रस वाले और आकार में बड़े हों । कभी-कभी हमें एक ही वृक्ष पर दो रंग के फूल दिखायी देते हैं उसका कारण पौधे की एक शाखा में किसी समय हुआ उत्परिवर्तन ही है ।

प्रकृति में ये उत्परिवर्तन सदा से होते चले आये हैं । मनुष्य प्रकृति में से सदा से अच्छे गुण वाले पेड़-पौधे और जानवरों को छांटता रहा है । यह आवश्यक नहीं कि उत्परिवर्तन के परिणाम लाभदायक ही हों, अक्सर वे जीवन के लिए हानिकर सिद्ध हो जाते हैं । जैसे गठिया का रोग हो जाना, मनुष्य को हीमोफीलिया का रोग हो जाना । हीमोफीलिया रोग में वे जीन, जिनमें मनुष्य के रुधिर को जमाने का गुण होता है, उत्परिवर्तित हो जाते हैं और उनका यह गुण समाप्त हो जाता है । परिणाम यह होता है कि यदि उत्परिवर्तित जीन वाले मनुष्य के शरीर में कभी घाव हो जाये तो उसका रुधिर-स्राव रुक नहीं पाता । कभी-कभी उत्परिवर्तन के परिणामस्वरूप पेड़ पौधे में ही नहीं, वरन् मनुष्य में भी नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है और मनुष्य सन्तानोत्पति के योग्य नहीं रहता ।



(डा. योगराज आहूजा के सौजन्य से)

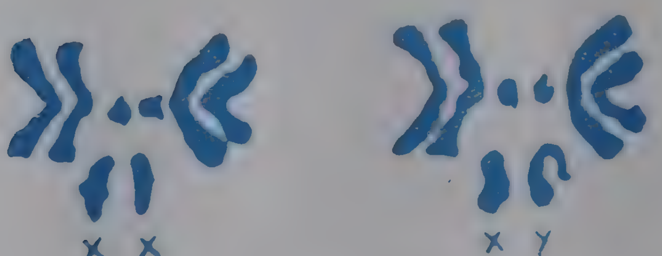
इसकी आँखें तुम्हारी जैसी हैं, विलियम, लेकिन इसके बाल अपने पिता जैसे हैं ।

उत्परिवर्तन—प्रकृति का कार्य मनुष्य द्वारा

कुमकुम

क्रोमोसोम पर जड़ित 'जीन' के गुणों के परिवर्तन को उत्परिवर्तन कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि डी. एन. ए. अणु की रासायनिक संरचना में परिवर्तन आ जाता है। फलस्वरूप डी. एन. ए. अणु में उपस्थित बेसों का क्रम बदल सकता है। डी. एन. ए. अणु का कुछ भाग भी लुप्त हो सकता है। इस प्रकार डी. एन. ए. अणु के बेसों के क्रम का कुछ भाग जो किसी एक जीन को व्यक्त करता है, नष्ट हो जाता है। किसी 'जीन' के गुण बदलने का प्रभाव उसकी आने वाली पीढ़ियों में दृष्टिगोचर होता है।

जीवों के क्रोमोसोमों में उपस्थित डी. एन. ए. अणु में इस प्रकार की त्रुटि अकस्मात ही आ जाती है जिसके कारण जीवों में अपने माता-पिता से भिन्न गुण प्रकट होते हैं। प्रकृति में ऐसी ही कुछ विभिन्नता सन् 1886 में एक डच वैज्ञानिक ह्यूगो डी व्रीज ने एक निर्जन स्थान पर उग रहे *आइनोथेरा लेमारकिएना* के कुछ पौधों में देखी। उन पौधों में से कुछ पौधे उन्होंने ऐसे पाए जिनकी पत्तियां साधारण पौधों की पत्तियों से बहुत अधिक चौड़ी थीं और साथ ही उन पौधों की ऊंचाई सामान्य पौधों से कम थी। ह्यूगो डी व्रीज के मन में इस भिन्नता का रहस्य जान लेने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने उस निर्जन स्थान पर एक छोटा सा घर भी ले लिया जिससे वह आसानी से उन पौधों को परख सकें। डी व्रीज ने स्वयं निषेचन द्वारा उन पौधों की कई पीढ़ियों का अध्ययन किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि प्रयोगाधीन पौधों की भिन्नता का कारण उनके जनक पौधों में हुए उत्परिवर्तन ही हैं।



मादा फल मक्खी (बाईं ओर) और नर फल मक्खी (दाईं ओर) के क्रोमोसोम। दोनों में क्रोमोसोमों के चार-चार जोड़े होते हैं।

जीन के गुणों के इन परिवर्तनों के परिणाम मनुष्य सदा से देखता और अनुभव करता रहा है। मनुष्य जब कभी भी प्रकृति की इस विविधता को देखता तो वह एक अचरज में डूब जाता। धीरे-धीरे मनुष्य में यह उत्कंठा जागृत हुई कि क्या वह स्वयं जीवों में उत्परिवर्तन





बायें (ऊपर) : फल मक्खी (*ड्रोसोफिला मिलैनोगेस्टर*) जिस पर डा. मार्गन और उनके शिष्य डा. मुलर ने उत्परिवर्तन सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये।

←

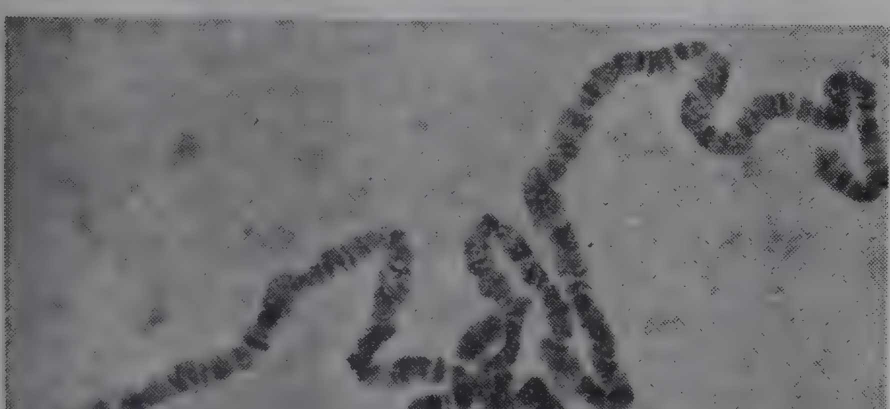
साधारण फल मक्खी तीन जीनों में उत्परिवर्तन के पश्चात। उत्परिवर्तन के परिणामस्वरूप 'पर' ऊपर की ओर मुड़ गए हैं, आंखों की पुतलियों का रंग और आकार बदल गया है और शरीर पर छोटे-छोटे बाल निकल आए हैं।

नहीं उत्पन्न कर सकता ? उसने इस दिशा में कार्य किया और सफलता भी प्राप्त की।

अमरीका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. टी. एच. मार्गन भी संसार के उन वैज्ञानिकों में से एक थे जिन्होंने इस दिशा में पग बढ़ाया। परन्तु समस्या उनके सामने यह आई कि उत्परिवर्तन का अध्ययन किस जीव पर किया जाय। मनुष्य के ऊपर तो इसके कोई प्रयोग कर सकना संभव ही न था क्योंकि एक तो उसके शरीर की रचना अति जटिल है और दूसरे उत्परिवर्तन के परिणाम यदि घातक सिद्ध हुए तो ? उत्परिवर्तन के परिणाम बुरे होने की ही सम्भावना अधिक रहती है।

ड्रोसोफिला और डा. मार्गन

अतः डा. मार्गन ने अन्य जीव जैसे चूहे, कबूतर और बहुत से कीट-पतंगों आदि के ऊपर प्रयोग आरम्भ किए। इसी बीच उन्होंने फल-मक्खी (*ड्रोसोफिला मिलैनोगैस्टर*) का नाम सुना। उन्होंने उस का अध्ययन किया और उसे अपने प्रयोगों के लिए अत्युपयुक्त पाया, क्योंकि ड्रोसोफिला का प्रजनन काफी शीघ्र होता है। अण्डे से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होने में उसे केवल 12 दिन का ही समय लगता है। इतना ही नहीं उसका भोजन भी काफी सरल होता है। केला इसका प्रिय भोजन है। परन्तु सबसे मुख्य गुण तो इसका यह है कि इसकी लार ग्रंथियों के क्रोमोसोम मनुष्य के क्रोमोसोम से 100 गुना अधिक बड़े होते हैं। इस कारण इन्हें आसानी से सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखा जा सकता था।



फल मक्खी की लार ग्रन्थियों के क्रोमोसोम, जो मनुष्य के क्रोमोसोम से 100 गुने बड़े होते हैं।



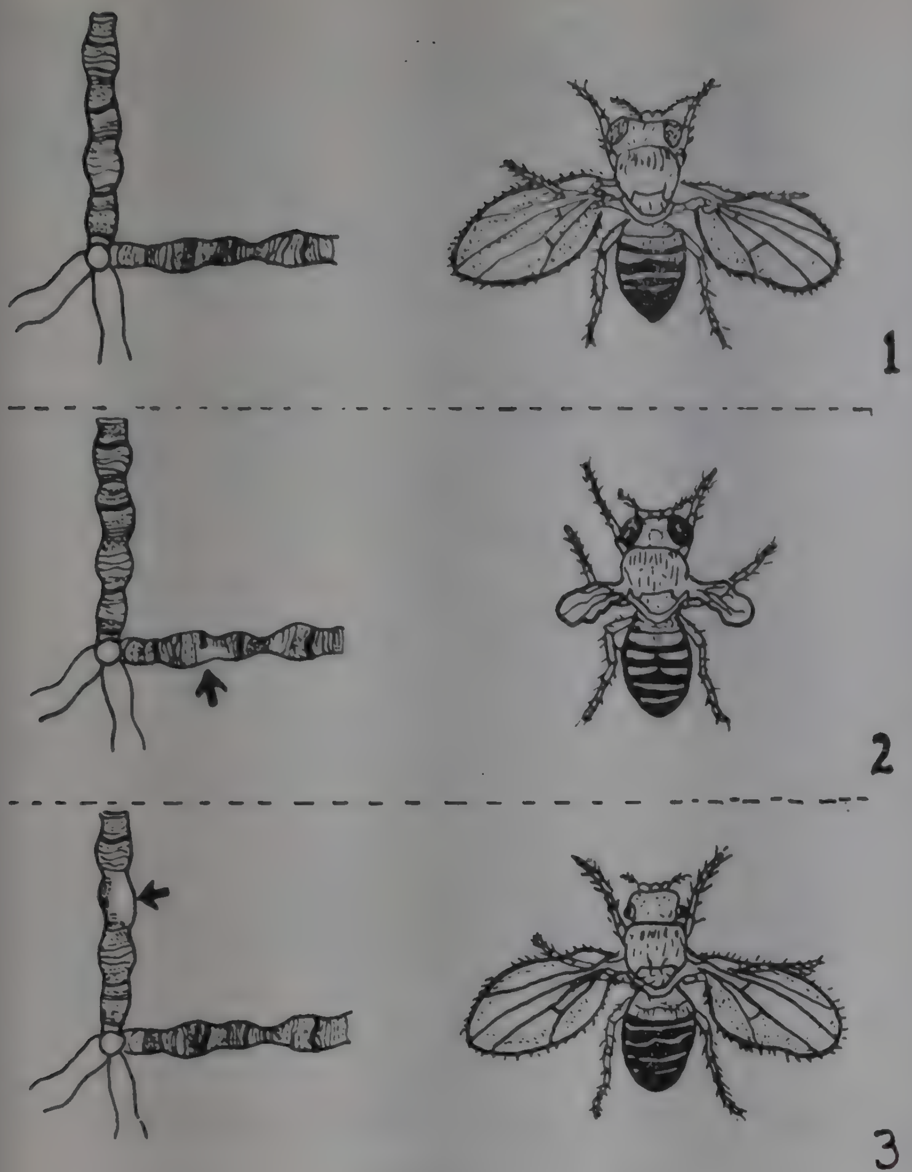


फलमक्खी और उसका एक क्रोमोसोम : क्रोमोसोम के ऊपर असंख्य जीन होते हैं। यही जीन फलमक्खी के आनुवंशिक गुणों के वाहक हैं। तीरों द्वारा दर्शाया गया है कि क्रोमोसोम का कौन सा भाग फलमक्खी के शरीर के किस अंग की बनावट को नियंत्रित करता है। मार्गन को अपने प्रयोगों द्वारा प्राप्त फल-मक्खी के कुछ उत्परिवर्ती भी दर्शाये गए हैं।

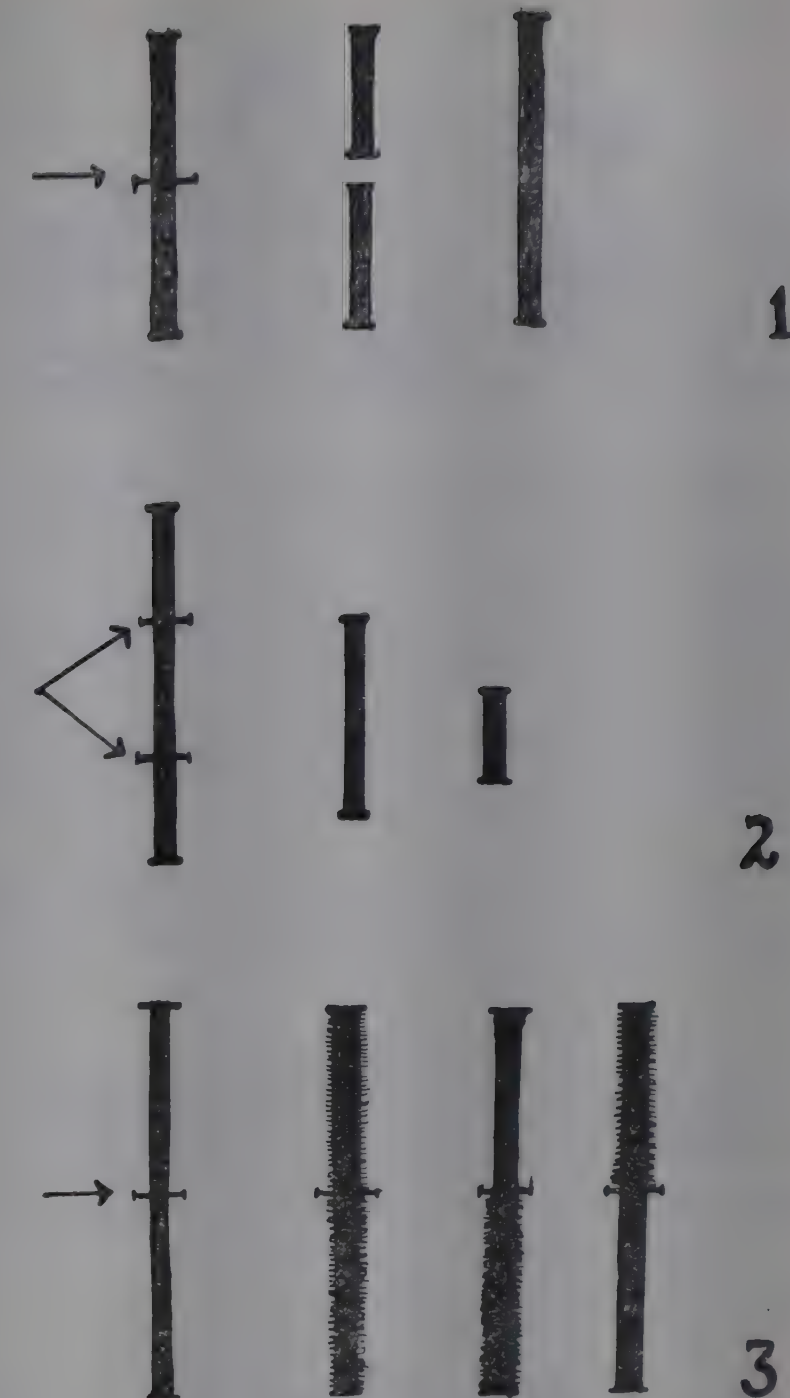
इनके बड़े आकार के कारण इन पर जड़ित 'जीन' का अध्ययन भी आसानी से किया जा सकता था।

मक्खी भरी दूध की बोतलें

कुछ ही दिनों में डा. मार्गन की प्रयोगशाला में फल-मक्खियों से भरी अनेक दूध की बोतलें चुनी पाई गयीं। प्रतिदिन डा. मार्गन कुछ मक्खियों के ऊपर ऊंचे ताप, निम्न ताप, अम्ल, क्षार तथा असाधारण भोजन आदि का प्रभाव देखा करते और उत्परिवर्तन प्राप्त हो जाने की आशा करते। एक वर्ष की निराशा के बाद उन लाल आंखों वाली फल-मक्खियों के बीच उन्होंने एक सफेद आंख वाली मक्खी को देखा। खुशी से डा. मार्गन फूले न समाए। उसी वर्ष डा. मार्गन को ऐसे ही अन्य गुणों में परिवर्तन वाले करीब चालीस उत्परिवर्ती (म्यूटैंट) प्राप्त हो गए जिनमें से कुछ के तो पर ही नहीं थे, किसी के बाल नहीं थे, कुछ



क्रोमोसोम पर जड़ित जीनों में तनिक भी परिवर्तन का परिणाम उत्परिवर्तन होता है। 1. साधारण फलमक्खी और उसका क्रोमोसोम, 2. क्रोमोसोम में परिवर्तन आ जाने से फलमक्खी के पर बहुत ही छोटे रह गए हैं। 3. उत्परिवर्तन से फलमक्खी अंधी भी हो जाती है। क्रोमोसोम के ऊपर परिवर्तन तीरों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।



विकिरण ओर उनके शिकार क्रोमोसोम। 1. विकिरण के प्रभाव से क्रोमोसोम टूट भी जाता है, टूटे हुए भाग दुबारा जुड़ जाते हैं और पहले जैसा रूप प्रदान करते हैं। 2. क्रोमोसोम के कुछ टूटे हुए भाग तो जुड़ जाते हैं पर कुछ बिना जुड़े ही रह जाते हैं। 3. क्रोमोसोमों के टूटे हुए भागों में जुड़ते समय अदला-बदली भी हो जाती है।

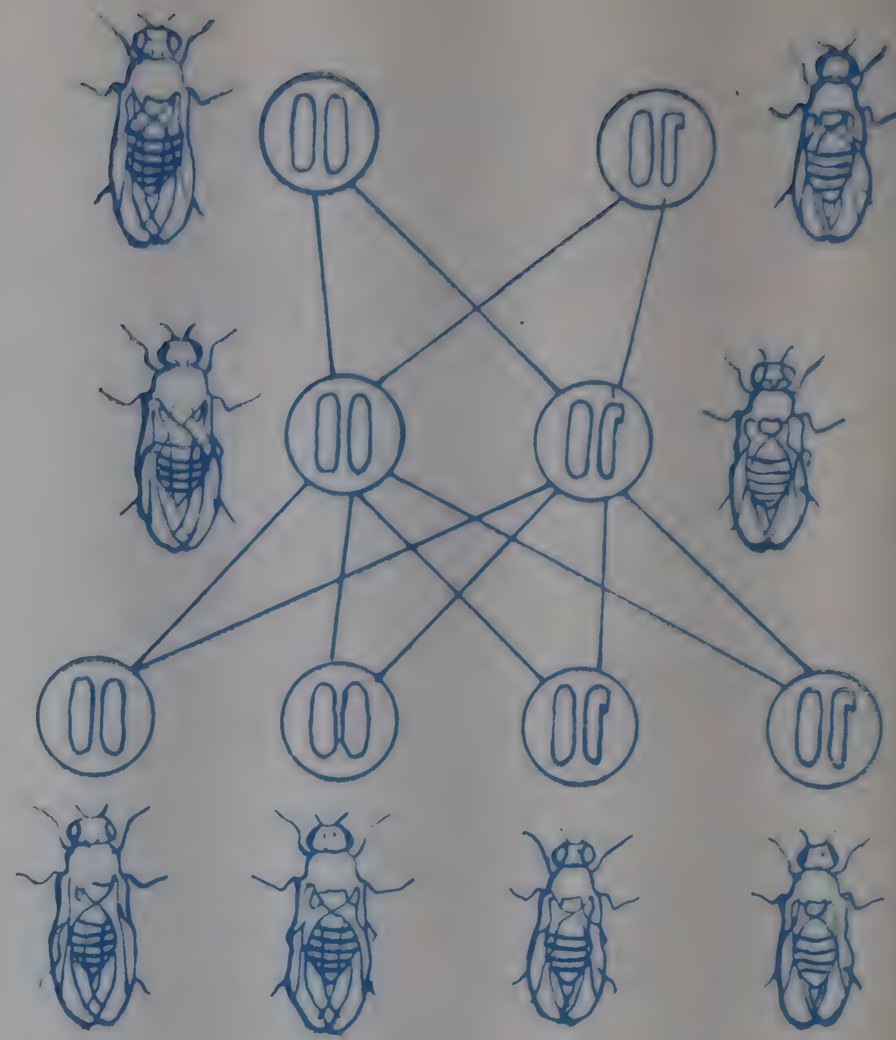
मक्खियां अंधी थीं तो कुछ के शरीर का रंग ही विचित्र प्रकार का हो गया था।

गुरु और शिष्य : मार्गन और मुलर

डा. मार्गन के शिष्य डा. एच. जे. मुलर अपने गुरु के प्रयोगों से पूरी तरह सहमत नहीं थे। यद्यपि डा. मार्गन को काफी उत्परिवर्ती प्राप्त हो गए थे परन्तु फिर भी उनके विचार से यह विधि बहुत धीमी थी। उत्परिवर्तन के परिणामों को देखने के लिए उन्हें काफी समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। उन्होंने सोचा कि क्यों न कुछ ऐसे साधनों का प्रयोग किया जाए जिससे उत्परिवर्तन कम समय में ही सम्पन्न हो जाय और साथ ही उत्परिवर्ती काफी संख्या में प्राप्त हों। अपने उतावलेपन के कारण मुलर ने फल-मक्खियों को किसी घातक पदार्थ से प्रभावित करने का विचार किया। उन्होंने कुछ फल-मक्खियों के शरीर पर एक्स-किरणें डाली। बस 10 दिन में ही डा. मुलर को उत्परिवर्तन के अनेक परिणाम दृष्टिगोचर हो गए। मुलर इस दिशा में आगे बढ़ते ही गए और अन्त में उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि एक्स-किरणों के प्रभाव से फल-मक्खी में उत्परिवर्तन पैदा किया जा सकता है। उन्होंने यह भी बताया कि यदि एक्स-किरण की मात्रा अधिक होगी तो उत्परिवर्तन की दर भी बढ़ जायेगी, परन्तु बहुत अधिक मात्रा से जीव की मृत्यु भी हो सकती है। उनके इस अनुसंधान कार्य के फलस्वरूप 1946 में डा. मुलर को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

विकिरण और जीवों पर उसका प्रभाव

एक्स किरण की जितनी मात्रा से चूहा मर जाता है उससे फल-मक्खी नहीं मरती? इसका कारण यह है कि एक्स-किरण या अंतरिक्ष किरणों का प्रभाव विभाजित हो रही कोशिकाओं पर सबसे अधिक होता है। फल-मक्खी को मारने के लिए एक्स-किरण की अधिक मात्रा की इसलिए आवश्यकता होती है कि मक्खी अपने जीवन चक्र की विभिन्न



ड्रोसोफिला मिलैनोगेस्टर पर किया गया उत्परिवर्तन संबंधी एक प्रयोग

परिस्थितियों से गुजर चुकी होती है। उसकी वृद्धि और विकास लगभग पूर्ण हो चुका होता है । इसलिए उसके शरीर में विभाजित हो रही कोशिकाओं की संख्या बहुत कम होती है । इसके विपरीत चूहे के शरीर में जैसे उसकी त्वचा, रक्त निर्माण करने वाले अंग और आंतों के अस्तर आदि में अनेक कोशिकाएं विभाजन की स्थिति में होती हैं फलस्वरूप वे एक्स-किरण का शिकार हो जाती हैं । चूहे की तरह मनुष्य के शरीर में भी असंख्य कोशिकाएं विभाजन की स्थिति में होती हैं और इसलिए मनुष्य भी विकिरण की अधिक मात्रा सहन नहीं कर सकता । यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध में जापान के प्रमुख नगर हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराए जाने से हजारों मनुष्य आयनकारी विकिरणों (आयनाइजिंग रेडियेशन) का शिकार हो गए। आज भी उन लोगों की संतानों में उत्परिवर्तन के घातक परिणाम देखने को मिलते हैं ।

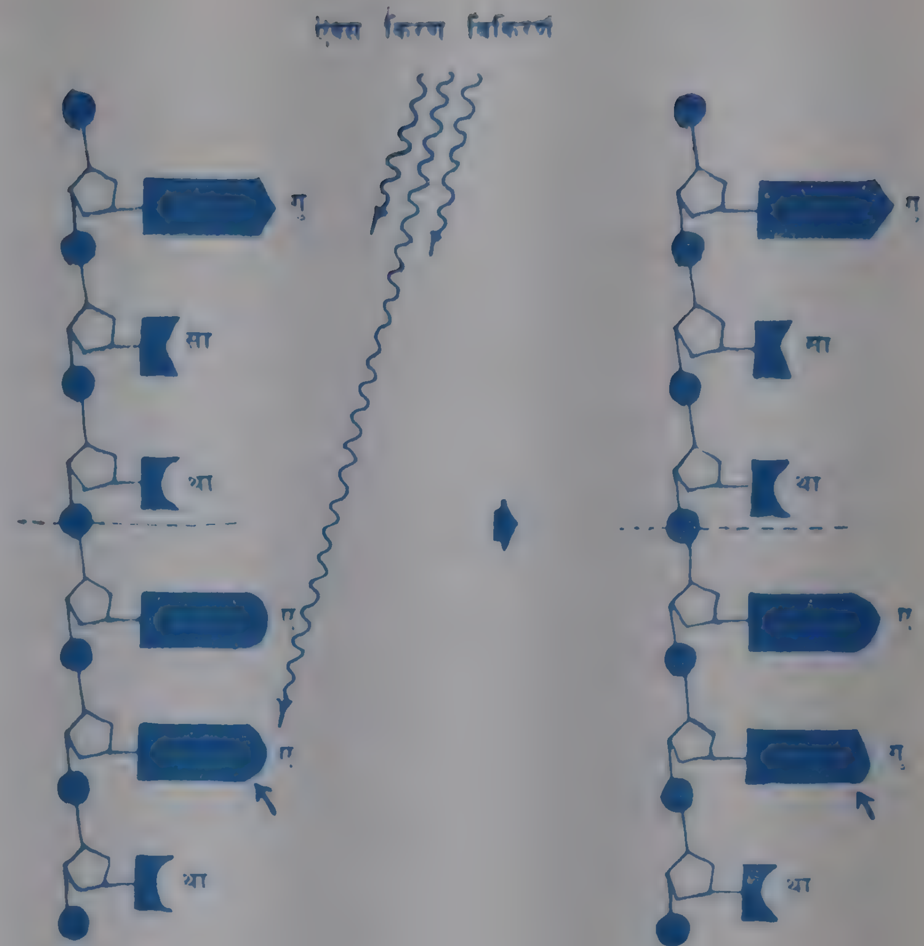
थोड़ी मात्रा भी हानिकर

इसका अर्थ यह नहीं कि एक्स-किरण की केवल अधिक मात्रा ही जीवों के लिए घातक है । थोड़ी मात्रा में एक्स-किरण जीव को मृत्यु का ग्रास तो नहीं बना सकतीं पर उसके शरीर को अनेक प्रकार की हानियां पहुंचा सकती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य के शरीर के बाल उड़ जाते हैं अथवा त्वचा झुलस सकती है। कैंसर के कई उदाहरण हमें आज उन

लोगों में देखने को मिलते हैं जो एक्स-किरणों के घातक परिणामों से परिचित न थे और जिन्होंने एक्स किरणों से प्रयोग करते समय अपने शरीर की रक्षा नहीं की थी।

हमारे शरीर की जनन कोशिकाओं पर विकिरणों का प्रभाव बहुत जल्दी होता है और वे नष्ट तक हो जाती हैं। फलस्वरूप मनुष्य नपुंसक भी हो सकता है। यदि विकिरण का प्रभाव जनन कोशिकाओं पर अधिक प्रबल नहीं होता तो यह नपुंसकता कुछ समय तक ही रहती है और फिर स्वयं दूर हो जाती है। आज एक्स-किरणों के प्रभाव से कुछ जन्तुओं में अल्पकालिक नपुंसकता पैदा की जा सकती है।

अंतरिक्ष किरणें, एक्स-किरणें, गामा किरणें, प्रोटोन और अल्फा कण जब किसी जीव के शरीर पर पड़ते हैं तो वह शरीर में एक विद्युत आवेशित कण (आयन) उत्पन्न कर देते हैं। कुछ आयनकारी विकिरण तो इतने प्रभावशाली होते हैं कि वह शरीर में काफी गहराई तक प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार के विकिरणों से शरीर में कुछ असामान्य पदार्थ, जैसे कि हाइड्रोजन पराक्साइड, उत्पन्न हो जाते हैं। ये पदार्थ डी.एन.ए. अणु को प्रभावित करते हैं और डी.एन.ए. अणु की रचना बदल जाती है। प्रायः इसके ऊपर लगे बेसों का क्रम बदल जाता है। इस प्रकार जीन, जो इस परिवर्तित डी. एन. ए. के बेसों के कुछ क्रमों से मिलकर बनता है, के गुण भी बदल जाते हैं। कभी-कभी तो एक नया जीन ही बन जाता है जिसके गुण पहले वाले जीन से पूर्णतः भिन्न होते हैं। इस परिवर्तित जीन का परिणाम दृष्टिगोचर होता है उत्परिवर्ती में। जब कभी उत्परिवर्तन जनन कोशिकाओं में होता है तो वह एक वंश से दूसरे वंश तक चला जाता है।



एक्स किरणों द्वारा डी. एन. ए. के बेसों का क्रम बदल जाता है। चित्र में एडीनीन बेस (बाईं ओर) विकिरण के प्रभाव से गुआनीन (दाईं ओर) में बदल गया है। बेसों के इस प्रकार क्रम परिवर्तन का परिणाम घातक भी हो सकता है और लाभकर भी।

विकिरण और उनका शिकार क्रोमोसोम

जीन उत्परिवर्तन के साथ ही साथ एक्स-किरणें जीवों की कोशिकाओं के क्रोमोसोमों में टूट-फूट पैदा कर देती हैं। क्रोमोसोम के टूटे हुए भागों के सिरे कुछ चिपचिपे से होते हैं अतः ये दुबारा आपस में जुड़ने की क्षमता रखते हैं। प्रायः टूटे हुए भाग आपस में तीन प्रकार से जुड़ सकते हैं।

प्रथम प्रकार में, ये टूटे हुए भाग ठीक पहले की तरह ही जुड़ जाते हैं और क्रोमोसोम को पहले जैसा रूप प्रदान करते हैं।

दूसरे प्रकार से जुड़ने पर टूटे हुए भाग जुड़ तो अवश्य जाते हैं परंतु जुड़ कर बने क्रोमोसोम का आकार व रूप बिल्कुल ही बदल जाता है और एक नये क्रोमोसोम की रचना हो जाती है। इस प्रकार क्रोमोसोमों के टूटे अंगों के जुड़ने की क्रिया को क्रोमोसोम पुनर्व्यवस्था (रिअरेंजमेन्ट) कहते हैं। क्रोमोसोम के टूटे हुए अंश एक अन्य प्रकार से भी जुड़ते हैं। इस क्रिया में जुड़ने के समय दो क्रोमोसोमों के टूटे हुए भाग आपस में बदल जाते हैं। इस क्रिया को स्थानान्तरण (ट्रान्सलोकेशन) कहते हैं।

कभी-कभी टूटे हुए भाग बिल्कुल जुड़ते ही नहीं। ऐसी स्थिति में केन्द्रक में क्रोमोसोमों के अनेक टूटे हुए भाग दिखाई देते हैं। टूटे हुए क्रोमोसोमों के अंश किसी भी प्रकार से जुड़ें, इतना निश्चित है कि टूटकर जुड़ने पर क्रोमोसोम की लम्बाई में अन्तर अवश्य आ जाता है।

क्रोमोसोमों की टूट-फूट का जीवों पर प्रभाव

प्रश्न उठता है कि क्रोमोसोम की इन अवस्थाओं का जीवों पर क्या प्रभाव पड़ता है और यदि ऐसे क्रोमोसोम गैमीट में चले जाते हैं तो विकासशील भ्रूण पर इनका क्या प्रभाव होगा।

स्पष्ट है कि टूट-फूट और दुबारा जुड़ने से क्रोमोसोम के ऊपर जड़ित जीनों के क्रमों में परिवर्तन आना अवश्यंभावी है। कभी-कभी कुछ जीनों की क्षति भी हो जाती है। यद्यपि ऐसा कम ही होता है और यदि हो जाता है तो उससे जीव को स्थाई क्षति पहुंचती है।

किरणीयन से जब क्रोमोसोम टूट जाते हैं तो उनके टूटे हुए भाग कोशिका विभाजन के समय अपने समरूपी क्रोमोसोम का उत्पादन करते हैं। परन्तु टूट-फूट के कारण उनके विभाजन का सारा कार्यक्रम खंडित हो जाता है और कभी-कभी तो ऐसी कोशिका जिसमें टूटे हुए क्रोमोसोम के भाग मौजूद होते हैं, यदि विभाजन का प्रयत्न करे भी तो उसका यह प्रयत्न निष्फल हो जाता है और कोशिका मृत्यु को प्राप्त होती है। यदि किसी प्रकार विभाजन में वह सफल हो जाए तो आगे चल कर उसका कोई न कोई भाग लुप्त हो जाता है और कोशिका को जीवित रहने के लिए जीनों की अपेक्षित मात्रा प्राप्त नहीं हो पाती। यही कारण है कि विभाजन की स्थिति में कोशिका विकिरण से शीघ्र प्रभावित हो जाती है।

हिन्दू समाज में यह कथन सदा से प्रचलित है कि गर्भवती स्त्री को सूर्य ग्रहण के समय घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। ऊपर बताए गए कारणों से यह बात सत्य प्रतीत होती है। सूर्य ग्रहण के समय वायुमंडल में अंतरिक्ष किरणों की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे कोई भी विभाजनशील कोशिका आसानी से प्रभावित हो सकती है। गर्भवती स्त्री के गर्भ में शिशु केवल विभाजनशील कोशिकाओं का एक समूह ही तो होता है। यदि कहीं यह गर्भ इन किरणों से प्रभावित हो जाए तो यह निश्चय ही है कि उसकी कोशिकाओं के क्रोमोसोम में टूट-फूट हो जाएगी, जिससे या तो कुछ जीनों की क्षति हो सकती है या जीन के गुणों में परिवर्तन आ सकता है अर्थात उत्परिवर्तन हो सकता है, जो कि अक्सर क्षतिजनक होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उत्परिवर्तन के लाभ नहीं हैं।

यदि प्रकृति में समय-समय पर उत्परिवर्तन न हुए होते तो आज पेड़-पौधों और जीवों की इतनी किस्में न होतीं। आज मनुष्य प्रकृति के इस कार्य को अपने हाथों द्वारा करने में सक्षम है। एक्स-किरणों के अतिरिक्त वैज्ञानिकों ने अन्य अनेक पदार्थ खोज निकाले हैं जो काफी अच्छे उत्परिवर्तक सिद्ध हुए हैं। इनमें मस्टर्ड गैस, ऐथिल-मेथिल सल्फोनेट, नाइट्रोमेथिल यूरिया, कोल्चीसीन आदि उल्लेखनीय हैं।

इतना सब कुछ जान लेने पर भी उत्परिवर्तन, वैज्ञानिकों के लिए एक रहस्य का विषय बना हुआ है। आज भी यह बता सकना अति कठिन है कि किसी मनुष्य के अमुक गुण में परिवर्तन किस जीन में उत्परिवर्तन के द्वारा आया है? लेकिन भविष्य में जब इस प्रश्न का उत्तर पा लिया जाएगा तो उस उत्परिवर्ती जीन को जिसके परिणाम अच्छे न होंगे, शायद ठीक भी किया जा सकेगा और तभी समस्त आनुवंशिक रोगों को समूल नष्ट किया जा सकेगा।

........या नोबल पुरस्कार लौटा दो!

बात सन् 1958 की है। जब जार्ज डब्लू. बीडल को नोबल पुरस्कार प्रदान किए जाने की घोषणा की गई तो उनके पास हजारों बधाई संदेश पहुंचे। परन्तु एक बधाई का तारअतिविचित्र था। तार भेजने वाले थे सुप्रसिद्ध वायरस वैज्ञानिक मैक्स डेलब्रूक। डेलब्रूक ने अंग्रेजी के चार अक्षरों--ए,बी,सी, और डी के 41 त्रिक (तीन-तीन अक्षरों के समूह) बनाकर तार में लिख भेजे थे। तार इस प्रकार था :

ADB	ACB	BDB	ADA	CDC	BBA	BCB	CDA
CDB	BCA	BBA	ADC	ACA	BDA	BDB	BBA
ACA	ACB	BBA	BDC	CDB	CCB	BDB	BBA
ADE	ADA	ADC	CDC	BBA	DDC	ACA	ADB
BDB	BDA	BBA	CCA	ACB	CDB	ADC	BDB
BBA							

तार को पढ़कर बीडल एकाएक उसका अर्थ न समझ सके। तभी उनके एक वनस्पतिशास्त्री मित्र डेविड स्मिथ ने उस तार का अध्ययन करके बताया कि इसमें BBA एक ऐसा 'अक्षर-त्रिक' है जोकि एक शब्द के अंत को दर्शाता है। इस प्रकार इस बधाई संदेश का प्रथम शब्द पांच अक्षरों का, दूसरा शब्द चार अक्षरों का, तीसरा भी चार का, चौथा दो का, पांचवा चार का, छटा चार का, सातवां पांच का और आठवां शब्द भी पांच अक्षरों का बना होना चाहिए। बहुत माथापच्ची के बाद बीडल ने इसका अर्थ इस प्रकार निकाला
"BREAK THIS CODE OR GIVE BACK NOBEL PRIZE."
अर्थात् "इस कूट का भेद पाओ या नोबल पुरस्कार लौटा दो"।

बीडल ने भी स्वनिर्मित एक अन्य कूट भाषा में ही डेलब्रूक को इस संदेश का उत्तर दिया जिसे समझने के लिए डेलब्रक को भी अन्य व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ी। इसके कुछ दिन पश्चात स्टाकहोम में बीडल के भाषण का आयोजन किया गया तो डेलब्रूक ने घुमावदार दुहरी सीढ़ी अर्थात डी. एन. ए. अणु का 10" का एक माडल बनाकर भाषण के आयोजक के पास भेजा। बीच में लगी एक सींक (अर्थात न्यूक्लिओटाइड) का सिरा किसी एक रंग में रंगा था तो दूसरी सींक का सिरा दूसरे रंग में। इस प्रकार ये सिरे चार रंगों में रंगे थे। इस माडल में भी डेलब्रूक ने एक संदेश संकेतबद्ध किया था। कूट-भेद खोलने पर संदेश इस प्रकार था :
"I AM THE RIDDLE OF LIFE. KNOW ME AND YOU WILL KNOW YOURSELF"
अर्थात "मैं जीवन की पहेली हूं। मुझे समझो और तुम स्वयं को समझ लोगे"।

आनुवंशिक रहस्यों का उद्घाटन

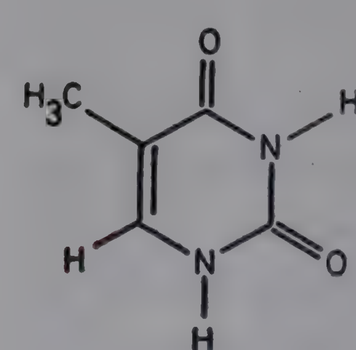
एम. एल. धर

जीवित कोशिका वास्तव में एक ऐसा छोटा सा कारखाना है जिसमें असंख्य जैव रासायनिक क्रियायें अत्यंत तीव्र गति से तथा अचूक पद्धति से चलती रहती हैं। इस कोशिका में अन्य अंगों के साथ-साथ केन्द्रक, राइबोसोम तथा माइटोकोंड्रिया भी होते हैं।

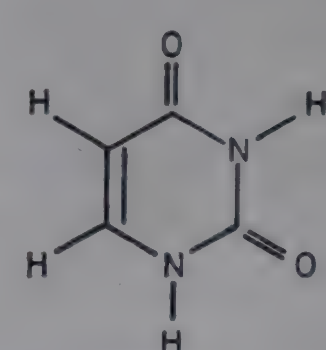
आजकल हम प्रोटीन के महत्व के संबंध में सुनते रहते हैं। स्वय जीवन के लिए प्रोटीन की उपस्थिति अनिवार्य है। ये विभिन्न प्रकार के जैव रसायन हैं और इन्हीं के कारण भ्रूण का विकास शिशु के रूप में होता है। प्रत्येक जीव का अपना गुण-पृथकत्व अपने में समाए हुए प्रोटीनों के समुच्चय विशेष के कारण है। प्रोटीनों में कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण हैं, एंजाइम जो जीव-उत्प्रेरक होते हैं। जीवित कोशिका के ये औजार हैं तथा इन्हीं चक्रों पर कोशिका के समूचे यंत्र घूमते हैं।

प्रोटीन में विविध प्रकार के बीस अम्ल होते हैं। इन सभी अम्लों का मूलभूत आधार एक ही होता है।

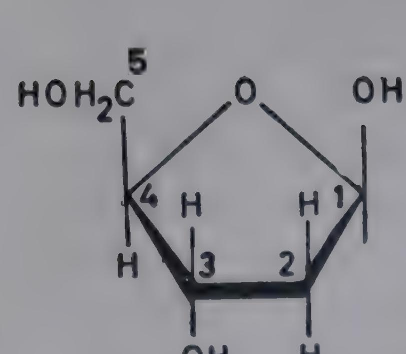
ये एमिनो अम्ल एक दूसरे के साथ भिन्न-भिन्न क्रमों में संयुक्त होकर अनेक विशाल अणु बनाते हैं जिनके आकार विभिन्न प्रकार के होते हैं। वास्तव में अम्लों का क्रम-विशेष तथा उनसे बने प्रोटीन अणुओं के आकार जीव में उस प्रोटीन के कार्य विशेष का निर्धारण करते हैं।



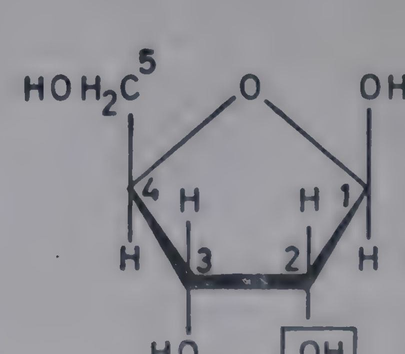
थाइमीन



युरासिल



डिऑक्सीराइबोज



राइबोज

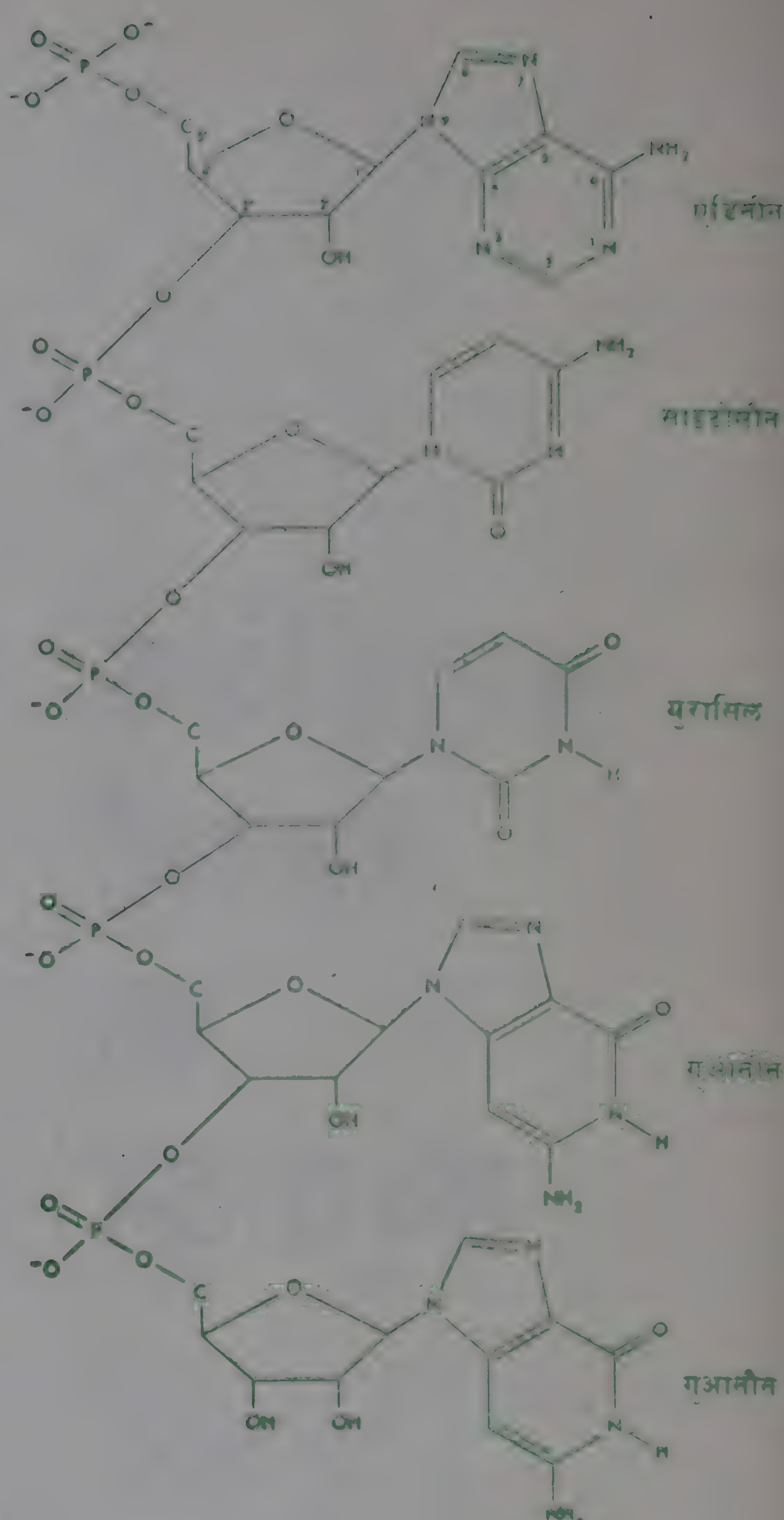
विशेष प्रोटीन अणु के समुच्चय का निर्माण करने का क्षेत्र राइबोसोम है। राइबोसोम मुख्यतः राइबो न्यूक्लिक अम्ल (आर. एन. ए.) का बना होता है और वास्तव में वह एक अत्यंत कुशल 'कर्मचारी' की भांति कार्य करता है जो 'डी.एन.ए. के आदेशानुसार' प्रोटीन के संश्लेषण का कार्य करता है। यह काफी समय पूर्व ही ज्ञात हो गया था कि आर. एन. ए. की अनुपस्थिति में जीव में प्रोटीन का संश्लेषण नहीं हो सकता। वैसे ही आर. एन. ए. न्यूक्लिओटाइड की एक लंबी श्रृंखला होती है। प्रत्येक न्यूक्लिओटाइड में फास्फोरिक अम्ल का एक अणु, राइबोज शर्करा और बेस होते हैं। इस श्रृंखला का आधार एक समान ही होता है और इसमें राइबोज तथा फास्फोरिक अम्ल एकान्तर क्रम में जुड़े होते हैं। परन्तु प्रत्येक शर्करा में सदैव एक बेस नहीं होता। आर. एन. ए. में चार विभिन्न बेस होते हैं। आर. एन. ए. की संरचना बेतरतीब वलित, सतत परिवर्तनशील, तथा पूर्णतः लचीली श्रृंखला से लेकर अपेक्षतया दृढ़ तथा सूत्र-सदृश अणु तक के रूप में हो सकती है। ये श्रृंखलायें आपस में मुड़ी हुई सर्पिल सीढ़ी बनाती हैं।

प्रोटीन के संश्लेषण में आर.एन.ए. की भूमिका

विस्तृत विवेचन करने के पूर्व हम इसके प्रजनक डी-आक्सी राइबोन्यूक्लिक अम्ल (डी. एन. ए.) के संबंध में कुछ चर्चा करेंगे। इस रसायन को वास्तव में 'जीवन का रसायन' कहना उचित होगा। डी. एन. ए. अणु का निवास तथा पुनरावृत्ति क्षेत्र कोशिका ही होता है।

डी. एन. ए. अणु की संरचना आर. एन. ए. अणु के समान ही होती है। उसका आधार आर. एन. ए. के आधार जैसा ही होता है। इस आधार में फास्फोरिक अम्ल तथा शर्करा एकान्तर क्रम से व्यवस्थित होती हैं लेकिन उनमें राइबोज की अपेक्षा आक्सीजन का एक अणु कम होता है। अतः इसका नामकरण डीआक्सी राइबोज किया गया है। इसमें चार विभिन्न बेस होते हैं। इनमें से तीन बेस आर. एन. ए. के बेस के जैसे ही होते हैं। उनके नाम क्रमशः एडीनीन, गुआनीन और साइटोसीन हैं और चतुर्थ बेस आर. एन. ए. में युरासिल होता है।

डी. एन. ए. अणु की संरचना में दो सूत्र आपस में एक दूसरे से लिपटकर दोहरी सर्पिल सीढ़ी बनाते हैं। बेसों के विशेष गुणों के कारण इसकी विशिष्ट संरचना बनती है। इनमें से दो-दो बेस परस्पर संयुक्त होकर दो युग्म बना लेते हैं। एडीनीन सदैव थाइमीन के साथ युग्म बनाता है। गुआनीन साइटोसीन के साथ युग्म बनाता है। डी. एन. ए. के सूत्र में यदि एडीनीन एक विशेष स्थान पर विद्यमान हो तो उसके अनुरूपी स्थान पर केवल थाइमीन ही हो सकता है। इसी प्रकार गुआनीन के लिए साइटोसीन ही केवल हो सकता है। ये बेस युग्म एक दूसरे के साथ क्रिया करके डी. एन. ए. को दोहरी सर्पिल सीढ़ी सदृश अणु का निर्माण करते हैं। इस सर्पिल सीढ़ी में प्रत्येक डंडा अनुरूपी बेस युग्मों से दर्शाया जाता है। ये बेस आपस में एक दूसरे के साथ हाइड्रोजन के बांड के कारण बंधे हुए होते हैं। डी.एन.ए. स्वयं अपनी प्रतिकृति तैयार करता है। इस कार्य में एंजाइम उसकी सहायता करता है। आर. एन. ए. चार प्रकार के होते हैं और इन्हें संदेशवाहक आर.एन.ए., राइबोसोमल



राइबोन्यूक्लिक एसिड के अणु का एक भाग

आर. एन. ए., ट्रान्सफर आर. एन. ए. तथा 5-एस आर. एन. ए. कहते हैं। क्रोमोसोम में आर. एन. ए. का जैवसंश्लेषण डी. एन. ए. वलय के साथ होता है। ट्रान्सफर आर. एन. ए. के द्वारा एमिनो अम्ल इस स्थान पर लाये जाते हैं। एमिनो अम्ल के संश्लेषण के लिये जो 'कूट' (कोड) होता है वह संदेशवाहक आर. एन. ए. में निहित होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि आर. एन. ए. में चार बेस होते हैं तथा उनका क्रम प्रोटीन के संश्लेषण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। स्पष्ट है कि यदि प्रोटीन संश्लेषण में रूपद (टेम्पलेट) पर रखने के लिए प्रत्येक बेस केवल एक ही एमिनो अम्ल का चयन करे तो

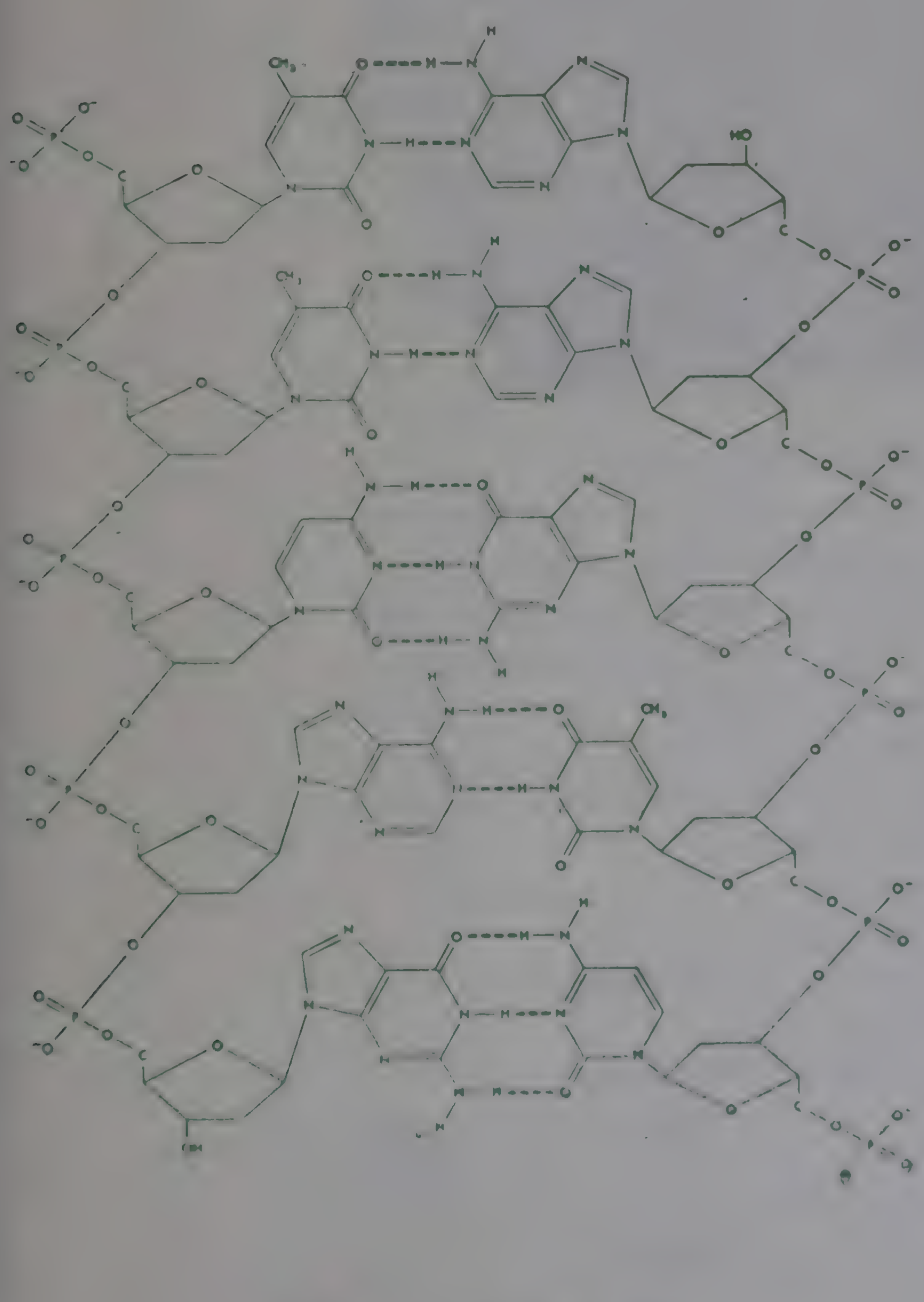
केवल चार एमिनो अम्ल ही संश्लेषित हो सकेंगे। लेकिन यह सर्वविदित है कि प्रोटीन में विभिन्न प्रकार के एमिनो अम्लों की संख्या 20 है। यदि दो बेसों के एक युग्म को आर. एन. ए. के शर्करा अवशेष से संयुक्त किया जाये तो हमें कुल 16 एमिनो अम्ल प्राप्त होते हैं। लेकिन यदि हम तीन बेसों के एक एकक को आर. एन. ए. के संलग्न शर्करा अवशेष से उपचारित करें तो 64 विभिन्न त्रिकों के संश्लेषण की संभावना हो जाती है। इसमें से प्रत्येक त्रिक में एक विशेष एमिनो अम्ल के लिये आनुवंशिक सूत्र निहित होगा।

त्रिकों की उपपत्ति की पुष्टि की गई है। अब इसका भी प्रमाण प्राप्त हो गया है कि प्रोटीन का संश्लेषण पेप्टाइड शृंखला के एक सिरे से आरंभ होकर क्रमानुसार होता है। इसके पश्चात राइबोसोम संदेश-वाहक आर. एन. ए. पर 'लुढ़कते' हुए संदेश को 'पढ़ता है तथा उसे अनूदित करता है'। इस विशेष भूमिका के लिये एमिनो अम्ल का चयन हो जाता है और यह अम्ल राइबोसोम में उचित स्थान पर स्थित होता है।

सन् 1953 में क्रिक और वाटसन ने डी. एन. ए. की संरचना की अभिधारणा की और 1960 में क्रिक तथा ब्रेनर ने यह सिद्ध किया कि एमिनो अम्ल की शृंखला में प्रत्येक एमिनो अम्ल में डी. एन. ए. अणु



अपनी 'प्रतिकृति तैयार करते' समय डी. एन. ए. का एक अणु दो अणुओं में विभाजित हो जाता है।



डी. एन. ए. अणु का एक भाग

के आधार पर तीन संलग्न बेसों में रेखीय क्रम में कूट 'संदेश' निहित होता है।

इन सभी अंतर क्रियाओं के लिए एडीनोसीन ट्राइ फास्फेट नामक रासायनिक कारक से ऊर्जा प्राप्त होती है। यह पदार्थ माइटोकोंड्रिया में विद्यमान होता है।

प्रोटीन के सदृश पदार्थ अब कोशिका रहित स्थिति में संश्लेषित किये जा सकते हैं। इसके लिये राइबोसोम, एमिनो अम्ल, ट्रान्सफर आर. एन. ए. तथा संदेशवाहक आर. एन. ए. इत्यादि आवश्यक घटकों का होना जरूरी है।

एस्चेरिया कोली जैसे वायरस में यह आनुवंशिक कूट पूर्णतया विभेदित किया गया है और यह भी दिखाया गया है कि संभाव्य 64 में से एमिनो अम्ल के 61 त्रिक कूट का निश्चय करते हैं तथा तीन त्रिक पूर्णविराम का कार्य करते हैं।

इस क्षेत्र में होने वाले महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय क्रिक, वाटसन, ओकोआ निरेनबर्ग, हरगोबिंद खुराना, हॉले तथा उनके सहयोगियों को है। खुराना ने प्रागुक्त आर. एन. ए. बनाने के लिये जिसके बेसों का क्रम ज्ञात हो, ऐसे डी. एन. ए. का संश्लेषण किया ताकि इस डी. एन. ए. को यदि कोशिका विहीन व्यवस्था में डाल दिया जाये तो पूर्वोक्त आर. एन. ए. का निर्माण किया जा सके। अपने इस कार्य से खुराना ने इस क्षेत्र में एक कदम आगे बढ़ाया है।



मानव आनुवंशिकी

चिकित्सा और आनुवंशिकी

एन. पी. दुबिनिन

कायचिकित्सा के क्षेत्र में आनुवंशिकी का महत्व दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि, आनुवंशिकी एक ऐसा विषय है जो शरीर-क्रिया विज्ञान तथा प्राणिशास्त्र के हरेक पहलू से अति गहन रूप से सम्बद्ध है। आज अनेक ऐसे रोग हैं जिनकी शत प्रतिशत सफल चिकित्सा अभी तक भी सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ कैंसर एक ऐसा ही रोग है। कैंसर की चिकित्सा आनुवंशिकी के अध्ययन-अनुसंधान द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी रोग हैं जोकि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलते रहते हैं जैसे हीमोफीलिया, फेनिल-कीटोन्यूरिया आदि।

संक्रामक रोग

आज संक्रामक रोगों की रोकथाम सफलता पूर्वक की जा सकती है। यह चिकित्सा के क्षेत्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण व सार्थक उपलब्धि है। तो भी प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति संक्रमणों के कारण ही मृत्यु के ग्रास बनते हैं। इन अति प्राचीन काल से चली आ रही समस्याओं के समाधान के लिए आनुवंशिकी ने नई दिशा प्रदान की है। जीव-वैक्सीनों का उत्पादन इसका एक उदाहरण है।

पोलियो रोग के लिए वैक्सीन अल्बर्ट सेबिन नामक वैज्ञानिक ने तनूकृत वायरस विभेद से तैयार की थी। इसका मुख्य गुण यह है कि यह रोग उत्पन्न न करके मनुष्य को रोग के प्रति निरापदता प्रदान करती है। वायरस विज्ञानी अभी भी इस बात का उत्तर नहीं खोज पाए हैं कि एक रोगकारक वायरस निरापदता प्रदान करने वाला कैसे बन जाता है? स्पष्टतः इसकी व्याख्या केवल आनुवंशिकी के द्वारा ही की जा सकती है। लेकिन इस प्रकार रूपान्तरण (रोगकारक के निरापदता जनक बन जाने की क्रिया) में वास्तव में परिवर्तन वायरस मेम्ब्रेन की प्रोटीन संरचना में आता है अथवा न्यूक्लिक अम्लों में, अभी तक ज्ञात नहीं है, और यदि इस प्रश्न का समाधान हो जाए तो तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करने वाले वायरस जन्य रोगों के लिये जीव-वैक्सीनों का उत्पादन प्रारम्भ हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

सूक्ष्म जीव कोशिकाओं के रासायनिक नियंत्रण द्वारा आनुवंशिकी ने संक्रामक रोगों के उन्मूलन के लिए मानव प्रयत्नों को नई दिशा प्रदान की है। इस संदर्भ में एन्टीबायोटिक औषधों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। एन्टीबायोटिक औषधियां प्रदान करने वाले फफूंद के उपभेद सर्वप्रथम फ्लेमिंग ने प्राप्त किये थे। परन्तु उनसे बहुत ही कम मात्रा में एन्टीबायोटिक औषधि प्राप्त होती थी। आनुवंशिकीविदों ने फफूंद कोशिका के रूपान्तरण के लिए रासायनिक तथा विकिरण विधियों का उपयोग करके एन्टीबायोटिक औषधों के उत्पादन में क्रान्ति ला दी है और उसी क्रान्ति का परिणाम है कि आज ये औषधियां जन-जन को उपलब्ध हैं। इन औषधियों के उपयोग से विभिन्न रोगों के कारण मरने वाले व्यक्तियों की संख्याओं का अनुपात बहुत बदल गया है। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने तक रोगाणुओं के कारण उत्पन्न रोगों से मरने वाले रोगियों की संख्या सबसे अधिक थी। आज ऐन्टीबायोटिक चिकित्सा के फलस्वरूप रोगाणु जन्य रोगों के कारण मरने वालों की संख्या हृदय रोग, कैंसर तथा विभिन्न प्रकार के आनुवंशिक रोगों के कारण मरने वालों की संख्या से कम है।

ऊतक असंगति

प्रो. क्रिश्चियन बर्नार्ड द्वारा हृदय प्रतिरोपण सफलतापूर्वक किया जा चुका है। परन्तु प्रतिरोपित हृदय वाले अनेक व्यक्तियों में से केवल एक ब्लेबर्ग ही जीवित हैं। अन्य व्यक्ति क्यों जीवित न रह पाए?

वास्तव में हृदय प्रतिरोपण की शल्य क्रिया कठिन नहीं है। समस्या तो ऊतक-असंगति की है। अर्थात हृदय प्राप्त करने वाले व्यक्ति के शरीर के ऊतक प्रतिरोपित हृदय के ऊतकों के संगत नहीं होते। इसीलिए वह उस प्रतिरोपित हृदय को स्वीकार नहीं करता और फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त होता है। ऊतक असंगति की समस्या ही हृदय प्रतिरोपण की असली समस्या है। इसका समाधान केवल आनुवंशिकी के अध्ययन-अनुसंधान द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। आनुवंशिकी के शब्दों में ऊतक-असंगति की समस्या प्रतिपिंड निर्माण की एक सामान्य समस्या का ही अंश है। आनुवंशिकी का यही क्षेत्र अगले बीस वर्षों में मानव जाति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस दिशा में अनुसंधान कार्य आरम्भ हुये अभी 5-7 वर्ष ही हुए हैं परन्तु प्रगति उल्लेखनीय है।

असाध्य रोग

कैंसर एक ऐसा रोग है जिसकी सफल चिकित्सा अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है, क्योंकि अभी स्पष्टतया यह ही ज्ञात नहीं हो पाया है कि कैंसर का कारण क्या है? फिर भी इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि 'आनुवंशिक उपस्कर' ही कैंसर का कारण हैं। कोई नहीं जानता कि दुर्दम्य रसौली क्यों होती है और उसकी वृद्धि कैसे होती है?

आजकल फेनिलकीटोन्यूरिया, मधुमेह आदि अनेक आनुवंशिक व्याधियों का चिकित्सा में बोलबाला हो गया है। वह दिन भी शीघ्र ही आएगा जब हम सभी मानव जीनों की संरचना ज्ञात कर लेंगे और तब वंशागत रोगों की अणुजीनी (मालीक्यूलर-जेनेटिक) पृष्ठभूमि का पता लगेगा।

जीनों का संश्लेषण होने पर रोगोत्पादक-जीनों के स्थान पर संश्लेषित जीनों को प्रतिरोपित किया जा सकेगा और इस प्रकार आनुवंशिक रोगों का इलाज हो सकेगा।

आनुवंशिकी: समस्याएं और समाधान

एस. पी. गुप्त
एस. डी. सेठ
और
आर. बी. अरोरा



(ऊपर बाईं ओर) मंगोलता ग्रस्त बच्चे का विशिष्ट चेहरा और (दाईं ओर ऊपर) आंख की पुतली में धब्बे। (नीचे बाईं ओर) मंगोलीय शिशु का चौड़ा तथा मोटा हाथ और अंदर को झुकी हुई कनिष्ठा अंगुली। (नीचे दाईं ओर) मंगोलीय शिशु की हस्त रेखाएं जिनमें करतल (पामर) ट्राईरेडियस स्पष्ट दिखाया गया है और केंद्र में सिमियन क्रीज (भंजरेखा) दिखाई दे रही है।

कुछ रोग ऐसे होते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते हैं और रोगग्रस्त परिवार के लिये अभिशाप बन जाते हैं। यदि पति-पत्नी दोनों एक ही आनुवंशिक रोग से ग्रस्त हों तब तो सन्तान में उस रोग के होने की सम्भावना और भी बढ़ जाती है। यूं तो लगभग हर व्यक्ति में, अति स्वस्थ दिखने वाले व्यक्तियों में भी कुछ ऐसे सुप्त विकार मौजूद होते हैं जिनका पता नहीं चल सकता। ये सुप्त विकार दरअसल उस व्यक्ति में, स्वयं में प्रकट हों न हों, उसकी संतान में प्रकट हो सकते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी स्वस्थ पति-पत्नी की संतान में कोई विकार आ जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि ये विकार संतान में जन्म से ही हों। दस-बीस वर्ष बाद भी सामने आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में आधुनिक चिकित्सक से परामर्श लेना उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

साधारणतया जिन 'अवस्थाओं' के विषय में चिकित्सक से सलाह ली जानी चाहिए वे हैं: 1-मंगोलता (मंगोलिज्म); 2-समोद्भवता (कंसेंग्विनिटी); 3-रीसस असंगति और एरिथ्रोब्लास्टोसिस; 4-मधुमेह; 5-मुद्गरपाद (क्लबफुट); 6-खण्डोष्ठ और खण्डतालु; तथा 7-मस्तिष्क मंदता।

मंगोलता

मंगोलीय शिशु मंद बुद्धि होता है, उसका सिर कुछ अण्डाकार तथा छोटा होता है, नाक बैठी हुई होती है, मस्तक साधारणतया बड़ा तथा बेडौल होता है, कान छोटे तथा बेढंगे होते हैं, जीभ ओंठों से बाहर निकली हुई, बड़ी तथा विदीर्ण होती है, तथा हस्तरेखाएं बहुत असामान्य होती

हैं। अधिकतर मंगोलीय व्यक्ति बौने होते हैं, उनके हृदय गंभीर रूप से विकृत होते हैं, संक्रमणों के प्रति अति संवेदी होते हैं अर्थात संक्रमणों का उन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और पुरुष, तथा कुछ स्त्रियां भी, लैंगिक दृष्टि से अल्प विकसित होते हैं। हर मंगोलीय व्यक्ति में उक्त सभी गुणों का होना आवश्यक नहीं है और न ही यह आवश्यक है कि इनमें से जितने अधिक गुण किसी मंगोलीय में पाए जाएंगे वह उतना ही अधिक मंदबुद्धि होगा ।

मंगोलता को डाउन संलक्षण (डाउन्स सिन्ड्रोम) भी कहते हैं। इस संलक्षण का सही-सही कारण तो अभी ज्ञात नहीं है। समझा जाता है कि यह विकार गर्भावस्था के दूसरे माह के अन्त में अथवा तीसरे माह के प्रारम्भ में चयापचय क्रिया में कुछ असामान्यता आ जाने के कारण उत्पन्न होता है। स्त्री की आयु अधिक होने के साथ मंगोलीय शिशु को जन्म देने की उसकी सम्भावना बढ़ जाती है। मंगोलीय शिशु को जन्म देने वाली मां की औसत आयु शिशु जन्म के समय 37 वर्ष पाई गई है।

एक अनुमान के अनुसार बीस वर्ष से कम आयु की माताओं द्वारा जन्मे 435 शिशुओं में से औसतन एक शिशु मंगोलीय होता है। 45 वर्ष से अधिक की आयु में उत्पन्न शिशुओं में से 2.6 प्रतिशत शिशुओं में यह संलक्षण पाया गया है। अतः स्त्री की आयु 40 वर्ष से अधिक होने पर यदि संतान न उत्पन्न हो तो अच्छा है। यदि किसी स्त्री ने एक मंगोलीय शिशु को जन्म दिया है तो उसके बाद जन्म लेने वाले शिशुओं के मंगोलीय होने की सम्भावना 14 प्रतिशत रहती है।

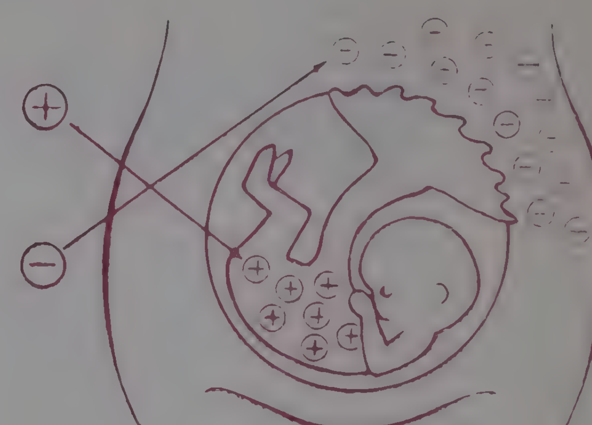
समोद्भवता

मनुष्य जाति के कुछ वर्ग ऐसे हैं जिनमें शादी-विवाह संबंधियों में ही हो जाते हैं। आनुवंशिकी की दृष्टि से इस प्रथा में एक खराबी यह है कि पूर्वजों से चले आ रहे सुप्त गुण संतान में आ जाते हैं। ये सुप्त गुण और कुछ नहीं रिसेसिव जीन ही होते हैं जिनका प्रभाव जीवन में कभी भी दृष्टिगोचर हो सकता है। ये सुप्त गुण लाभदायक भी हो सकते हैं और हानिकारक भी। लेकिन लाभदायक होने की अपेक्षा ये हानिकर ही अधिक सिद्ध होते हैं। इसीलिए संबंधियों में (एक ही कुटुम्ब के सदस्यों के) आपस में विवाह नहीं होने चाहिये। उनसे उत्पन्न शिशु मंदबुद्धि हो सकते हैं अथवा किसी गम्भीर शारीरिक अक्षमता से ग्रस्त भी हो सकते हैं। चचेरे, ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई-बहनों से उत्पन्न संतान में अ-संबंधियों से उत्पन्न संतान की अपेक्षा असामान्यता आने की सम्भावना दुगनी रहती है।

गर्भस्थ शिशु को आर-एच रोग कैसे होता है ?

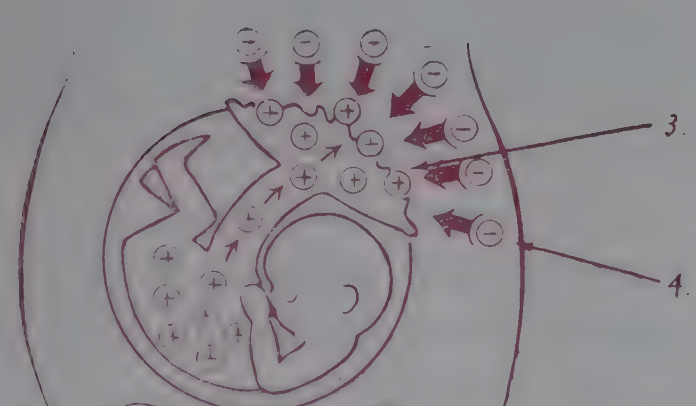
1—शिशु पिता से आर-एच 'धन' जीन प्राप्त करके आर-एच धन रक्त बनाना प्रारम्भ कर देता है।

2—माता का रक्त आर-एच ऋण है।

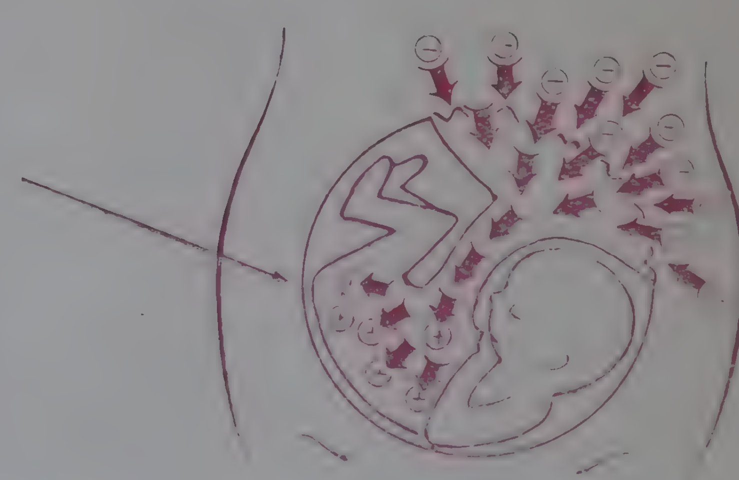


3—शिशु का कुछ आर-एच धन रक्त पदार्थ गर्भनाल (प्लेसेंटा) द्वारा माता में पहुंच जाता है।

4—शिशु से आए आक्रामक पदार्थों से अपनी रक्षा करने के लिए माता का रक्त प्रतिपिण्ड बनाने प्रारम्भ कर देता है।



5—प्रतिपिण्ड माता से शिशु के शरीर में पहुंचते हैं और उसकी रक्त कोशिकाओं को नष्ट करना प्रारम्भ कर देते हैं।



यदि आर-एच ऋण माता को पहले भी आर-एच धन गर्भ रह चुके हों अथवा आर-एच धन रक्त दिया जा चुका हो तो उस में प्रतिपिण्ड पहले से ही मौजूद होते हैं।



मंगोलता ग्रस्त एक शिशु के क्रोमोसोम। 21 नम्बर पर दो के स्थान पर तीन क्रोमोसोम हैं।

रीसस असंगति और एरिथ्रोब्लास्टोसिस

लैण्डस्टाइनर और वाइनर द्वारा 1939 में रक्त के आर-एच फैक्टर की खोज के पश्चात् यह ज्ञात हो चुका है कि एरिथ्रोब्लास्टोसिस



चार मास का एक खण्डोष्ठ शिशु

फीटलिस (गर्भलोहित कोशिका प्रसूमयता) नामक रोग आर-एच असंगति के कारण उत्पन्न होता है। यदि आर-एच ऋण रक्त वाली स्त्री का पति आर-एच धन रक्त वाला हो तो उसकी संतान को एरिथ्रोब्लास्टोसिस रोग होने का भय बना रहता है। ऐसा तब होता है जब गर्भ की आर-एच धन रक्त कोशिकाएं आर-एच ऋण माता के रक्त में मिल जाती हैं। इनके विरुद्ध वहां प्रतिपिण्ड बन जाते हैं। साधारणतया प्रारम्भ में ये प्रतिपिण्ड अधिक नहीं होते इसलिए प्रथम संतान को इनसे कोई खतरा नहीं रहता। लेकिन दूसरी बार गर्भधारण करने पर प्रतिपिण्ड बनने की क्रिया तीव्र हो जाती है और गर्भ की लाल रक्त कणिकाओं का विनाश प्रारम्भ हो जाता है। जब काफी कणिकाएं नष्ट हो जाती हैं तो 'ऐरिथ्रोब्लास्टोसिस' हो जाता है। यदि एक बार ऐरिथ्रोब्लास्टोसिस हो जाए तो आगे की संतान में इस रोग के होने की सम्भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। अतः गर्भावस्था के प्रारम्भ में ही माता-पिता के रक्त के आर-एच तत्व का पता लगा लेना चाहिए और यदि पिता आर-एच धन और माता आर-एच ऋण हो तो उचित सावधानियां बरती जानी चाहिये।

खण्डोष्ठ तथा खण्डतालु

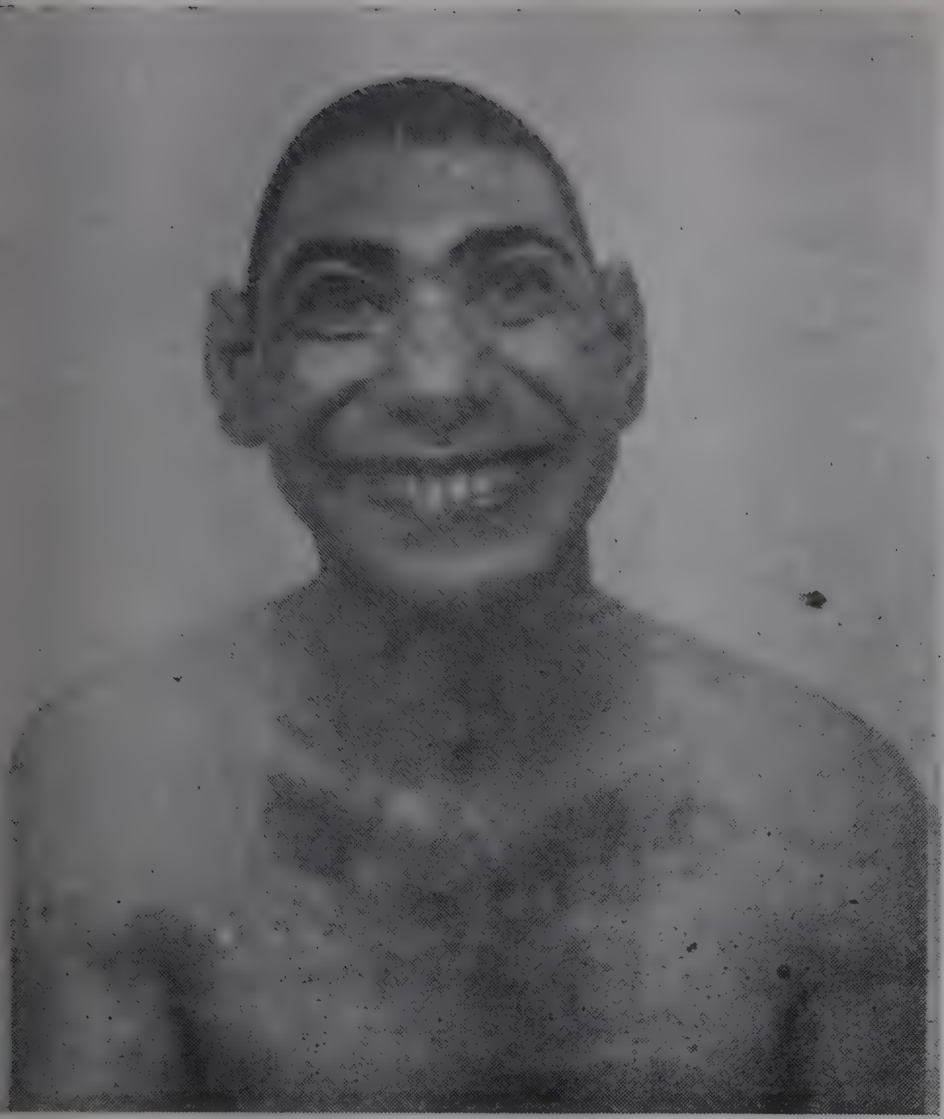
खण्डोष्ठ तथा खण्डतालु वाले बच्चे अक्सर देखने में आते हैं। अनुमान है कि 770 शिशुओं में से एक खण्डोष्ठ तथा खण्डतालु के साथ जन्म लेता है। यह पाया गया है कि कम आयु की माताओं की संतान खंडोष्ठ अधिक होती हैं। अधिक आयु की माताओं की संतान के भी खंडोष्ठ होने की सम्भावना काफी अधिक होती है। खंडोष्ठता भी एक आनुवंशिक रोग है और इसके लिए भी रिसेसिव जीन या कम वेधन क्षमता वाले डामिनेन्ट जीन ही उत्तरदायी होते हैं।

मंदबुद्धिता

मंदबुद्धिता एक सामान्य समस्या है। मंदबुद्धिता के तीन वर्ग हो सकते हैं। जड़बुद्धिता, जिसमें बुद्धिलब्धि 1-19 होती है, मूढ़ता जिसमें बुद्धिलब्धि 20-49 होती है और तीसरी, बुद्धि दौर्बल्य जिसमें बुद्धिलब्धि 50-69 होती है। मंदबुद्धिता के लिए उत्तरदायी रिसेसिव जीन विरल प्रकार का होता है। एक ही प्रकार के विषमयुग्मजी जीनों वाले माता-पिता की संतान गम्भीर रूप से असामान्य होने की संभावना अत्यधिक रहती है। सगे चचेरे, ममेरे, मौसेरे, फुफेरे, (फर्स्ट कजिन्स) भाई-बहनों से उत्पन्न संतान के मंदबुद्धि होने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है।

मधुमेह

यह निश्चित रूप से ज्ञात हो चुका है कि मधुमेह रोग एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुंच जाता है। ऐसा अनुमान है कि इस रोग के पीढ़ी दर-पीढ़ी चलने के लिए एक अप्रभावी (रिसेसिव) जीन उत्तरदायी होता है और सभी मधुमेह रोगी इस जीन के लिए समयुग्मजी (होमोजाइगस) होते हैं।



अप्रबल लघुशिरस्कता (रिसेसिव माइक्रोसिफेली) से ग्रस्त 32 वर्षीय जड़बुद्धि मनुष्य। इस रोग से ग्रस्त मनुष्य के मस्तिष्क और खोपड़ी का विकास रुद्ध हो जाता है।

यदि पति-पत्नी में एक मधुमेह का रोगी हो तो उनकी संतान के मधुमेह ग्रस्त होने की सम्भावना 10-15 प्रतिशत रहती है और यदि दोनों ही मधुमेह के रोगी हों तो संतान के मधुमेह रोगी होने की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है। अतः जहां तक सम्भव हो दो मधुमेह रोगियों की परस्पर शादी नहीं होनी चाहिए।

मुद्गर पाद

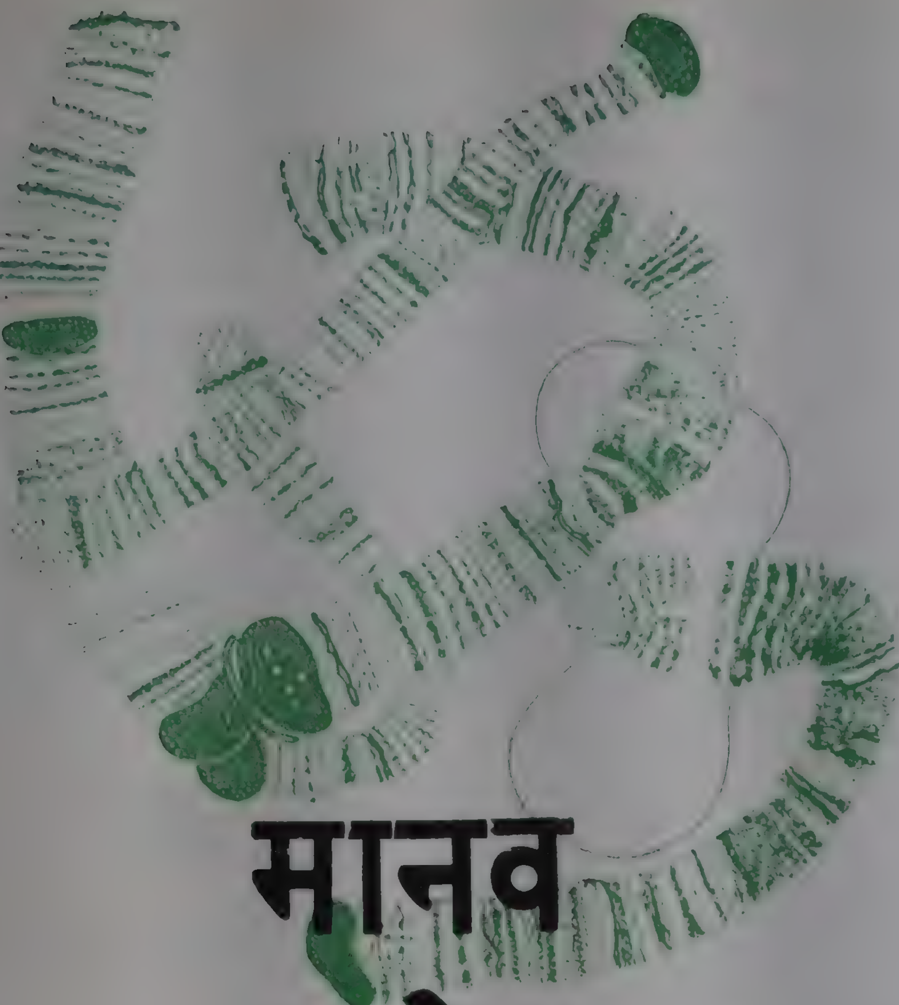
पैरों की यह विरूपता आनुवंशिक है और बहुत देखने को मिलता है। 1000 में से एक नवजात शिशु इस विरूपता के साथ ही जन्म लेता है। नवजात शिशुओं में लड़कियों की अपेक्षा लड़के इस विरूपता के शिकार अधिक होते हैं और यह अनुपात 2:1 होता है। यद्यपि इस बात के साक्ष्य प्राप्त हो चुके हैं कि मुद्गरपाद एक आनुवंशिक रोग है, परन्तु भ्रूण के आन्तरिक वातावरण का भी इस पर काफी प्रभाव पड़ता है। यदि पति-पत्नी दोनों ही मुद्गर पाद के रोगी हों तो उनकी संतान में इस रोग के होने की काफी सम्भावना रहती है। यदि दोनों में से किसी का भी मुद्गर पाद नहीं है और उनकी एक संतान मुदगरपाद होती है तो उसके बाद की दूसरी संतान के मुद्गरपाद होने की सम्भावना 3–8 प्रतिशत रहती है। स्वस्थ माता-पिता की संतान मुद्गरपाद होने का कारण उनमें से किसी एक में या दोनों में ही उपस्थित रिसेसिव जीन ही हैं।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख विरूपताओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे रोग हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते हैं परन्तु वे इतने विरल हैं कि बहुत कम देखने में आते हैं और उनके बारे में अभी भी बहुत अनुसंधान कार्य होना शेष है।

घड़ी की टिक-टिक और जीवन

घड़ी टिक-टिक क्यों करती है? इसकी चाबी खत्म क्यों हो जाती है? फिर यह बंद क्यों हो जाती है? इन प्रश्नों के उत्तर जानना कोई कठिन नहीं हैं। कोई भी व्यक्ति घड़ी को खोल कर देख सकता है, और खोज सकता है उक्त प्रश्नों के उत्तर। क्योंकि चलती घड़ी को देखकर वह जान सकता है कि वह कैसे चलती है, या फिर आवश्यकता पड़ने पर वह उसके पुर्जों को अलगअलग कर के भी अध्ययन कर सकता है।

लेकिन एक प्रश्न है जिसका उत्तर इतनी आसानी से नहीं दिया जा सकता, और वह यह कि जीव की वृद्धि किस कारण से होती है? यदि इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए आप उसे खोल डालें अर्थात् चीर-फाड़ डालें और घड़ी के पुर्जों की तरह उसके भी अंग-अंग अलग कर डालें तो उसका वृद्धि-क्रम न केवल रुक जाएगा, बल्कि वह फिर कभी चालू ही न होगा। यह समस्या है जीवों के अध्ययन की।



मानव रोग और क्रोमोसोम

आर. ए. पाई

सभ्यता के आदि से ही, जानबूझकर अथवा अनजाने में, मनुष्य इस बात में रुचि लेता रहा है कि संतान में माता-पिता के गुण (भौतिक और मानसिक) किस प्रकार आ जाते हैं। मैंडल से पूर्व भी, जबकि आनुवंशिकी के सिद्धान्तों का ज्ञान बहुत कम था, अनेक अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान वर्णान्धिता, बधिर-मूकता, हीमोफीलिया तथा तंत्रिका-रोग जैसे आनुवंशिक गुणों की ओर आकर्षित हुआ। फ्रांसिस गाल्टन ने 1869 में ही आनुवंशिक प्रतिभा तथा प्रज्ञा और शरीर-गठन गुण के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाने का क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया। उसने सुप्रसिद्ध बरनौली-गणितज्ञ-परिवार, बाश-संगीतज्ञ-परिवार तथा कुछ चित्रकार परिवारों को इस अध्ययन के लिए चुना था। इसके अतिरिक्त उसने अन्य कई प्रकार के कौशलों के प्रति पारिवारिक प्रवृत्ति का भी अध्ययन किया था।

मैंडल द्वारा आनुवंशिकी के नियमों के प्रतिपादन से पौधों तथा निम्न जंतुओं की आनुवंशिकी के साथ-साथ मानव आनुवंशिकी को भी वैज्ञानिक आधार मिला और मनुष्य पर कुछ आनुवंशिक अध्ययन किए गए। 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में क्रोमोसोम की खोज हुई और यह सिद्ध हुआ कि क्रोमोसोमों पर स्थित 'जीन' आनुवंशिक गुणों के वाहक हैं। सट्टन और बोवेरी की इस खोज से आनुवंशिकी की एक नई शाखा कोशिकानुवंशिकी (साइटोजेनेटिक्स) को जन्म मिला।

कुछ समय तक तो कोशिकानुवंशिक अध्ययन केवल पौधों तक ही सीमित रहे क्योंकि कुछ पौधे ऐसे थे जो कि क्रोमोसोम अध्ययन की दृष्टि से अत्युत्तम थे। उनका अध्ययन सरलता से किया जा सकता था, जबकि स्तनधारी जन्तुओं के क्रोमोसोमों के अध्ययन में अनेक कठिनाइयां थीं। मानव-क्रोमोसोम-सामग्री तैयार करने के लिए आवश्यक उपयुक्त तकनीक के अभाव में यह भी सही-सही ज्ञात न किया जा सका कि मनुष्य में कितने क्रोमोसोम होते हैं। 1956 तक भी यह समझा जाता था कि

मनुष्य में द्विगुणित क्रोमोसोम संख्या 48 होती है। गोरिल्ला, चिम्पैंजी तथा ओरेन्गउटैन में वास्तव में 48 क्रोमोसोम होते हैं। 1956 में त्जिओ तथा लीवन ने अति परिशुद्ध तथा उन्नत तकनीकों द्वारा मानव क्रोमोसोमों का अध्ययन करके यह निश्चित किया कि मनुष्य में 48 नहीं 46 क्रोमोसोम होते हैं। इसके बाद अन्य वैज्ञानिकों ने भी इसकी पुष्टि की।

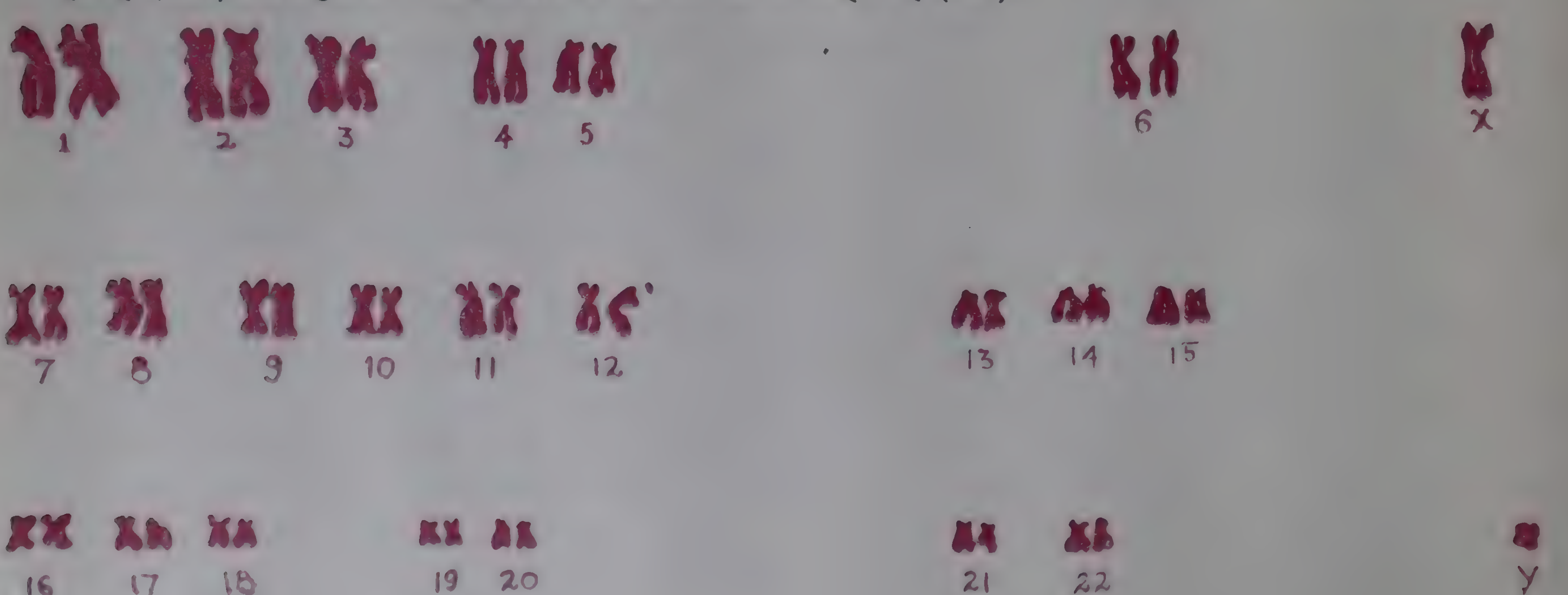
सामान्य क्रोमोसोम

क्रोमोसोम अध्ययन की उन्नत तकनीकों से न केवल मनुष्य में क्रोमोसोमों की सही संख्या का पता चला है बल्कि एक-एक क्रोमोसोम की पहचान करना भी सम्भव हो गया है। आजकल क्रोमोसोमों की भुज-लम्बाई और कुल लम्बाई-अनुपात तथा गुणसूत्र बिन्दु स्थिति (सेन्ट्रोमियरिक पोजीशन) के आधार पर क्रोमोसोमों को सात समूहों में बांटा जाता है। इन सात समूहों में अलिंग-सूत्रों (आटोसोमों) के 22 जोड़े तथा दो लिंग निर्धारक क्रोमोसोम जिन्हें लिंग क्रोमोसोम कहते हैं, होते हैं। सामान्य स्त्री में 22 जोड़े आटोसोमों के अतिरिक्त दो एक जैसे लिंग क्रोमोसोम होते हैं जिन्हें 'एक्स' क्रोमोसोम कहा जाता है। इसके विपरीत सामान्य पुरुष में एक एक्स क्रोमोसोम तथा एक वाई क्रोमोसोम होता है।

मनुष्य में क्रोमोसोम संबंधी अपसामान्यताओं से आनुवंशिकी क्षेत्र में अनुसंधाताओं को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। मनुष्य में क्रोमोसोमों की सही संख्या ज्ञात होने से पूर्व ही हाल्डेन, पीटरसन, बोनियर तथा गावेन आदि सुविख्यात आनुवंशिकीविदों ने मानव लिंग विभेदीकरण की समस्या में क्रोमोसोम विपथन द्वारा लिए जाने वाले भाग की प्रागुक्ति



स्त्री और पुरुष दोनों में ही 46 क्रोमोसोम होते हैं। अन्तर उन के सैक्स क्रोमोसोमों में होता है। स्त्री में दोनों सैक्स क्रोमोसोम X होते हैं (ऊपर) और पुरुष में एक X और एक Y सैक्स क्रोमोसोम होता है (नीचे)।



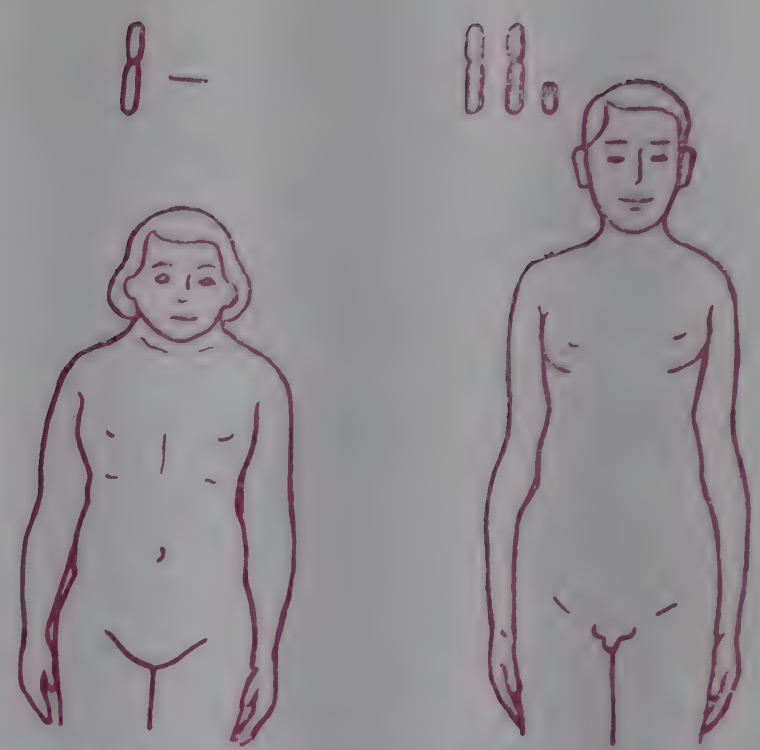
(भविष्यवाणी) की थी। इसी प्रकार वारडेनबर्ग ने मंगोलता में क्रोमोसोमों की क्रिया के बारे में बताया था। लेकिन रुग्णावस्था में क्रोमोसोम-विपथन के योगदान के संबंध में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो तब आया, जब जैकब और स्ट्रोंग ने यह पता लगाया कि क्लाइनफेल्टर संलक्षण (सिन्ड्रोम) से ग्रस्त पुरुष में 46 के स्थान पर 47 क्रोमोसोम होते हैं तथा उसके लिंग क्रोमोसोम एक्स वाई न होकर एक्स एक्स वाई होते हैं। लेज़ूने तथा उसके सहअनुसंधाताओं ने मंगोलीय व्यक्तियों में एक अतिरिक्त क्रोमोसोम की उपस्थिति दर्शायी, जिसकी प्रागुक्ति वारडेनबर्ग ने की थी। ये नवीन खोजें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि लिंग लक्षण समष्टि की अपसामान्यता, जन्मजात शारीरिक विकृति तथा मंदबुद्धिता का संबंध बहुत से व्यक्तियों में क्रोमोसोम पूरक के सकल असंतुलन से हो सकता है। इन खोजों के फलस्वरूप अब मानव रोगों में क्रोमोसोमों के योगदान को मान्यता प्राप्त होने लगी है और चिकित्सा के एक नए क्षेत्र क्लिनिकल साइटोजेनेटिक्स का उद्‌भव हुआ है।

मनुष्य में क्रोमोसोम अपसामान्यताएं

क्रोमोसोम संबंधी अनेक रोगों का अब पता लगा लिया गया है। इन रोगों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक तो वे जो सैक्स क्रोमोसोम को प्रभावित करते हैं और दूसरे वे जो आटोसोम (अलिंग सूत्रों) को प्रभावित करते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग में क्लाइनफेल्टर सिन्ड्रोम आदि रोग आते हैं। क्लाइनफेल्टर सिन्ड्रोम से ग्रस्त व्यक्ति के बाह्य जननांग पुरुष के समान होते हैं परन्तु उसके वृषण (टेस्टीज) बहुत छोटे होते हैं तथा शरीर पर बाल भी बहुत कम होते हैं। इन पुंस्त्व दर्शाने वाले गुणों के विपरीत इन व्यक्तियों के स्तन स्त्रियों की भांति विकसित होते हैं। इन व्यक्तियों में साधारणतया 47 क्रोमोसोम होते हैं। इनके लिंग क्रोमोसोम एक्स वाई न होकर एक्स एक्स वाई होते हैं।

एक अन्य लिंग क्रोमोसोम असंगति 'टर्नर सिन्ड्रोम' है। टर्नर सिन्ड्रोम के रोगी में एक क्रोमोसोम कम होता है अर्थात उसमें केवल 45 क्रोमोसोम होते हैं। उसमें लिंग क्रोमोसोमों का जोड़ा, एक्स एक्स न होकर, केवल एक एक्स क्रोमोसोम होता है। इन व्यक्तियों के बाह्य जननांग स्त्रियों की भांति होते हैं, कद छोटा होता है, गर्दन बहुत मोटी (वैब्ड) तथा छाती चौड़ी होती है और चूचुकों के बीच का अन्तर बहुत अधिक होता है तथा स्तन अविकसित होते हैं। इसके अतिरिक्त इनका गर्भाशय बहुत छोटा होता है और डिम्बग्रंथि एक तन्तुमय रेखा सदृश होती है।

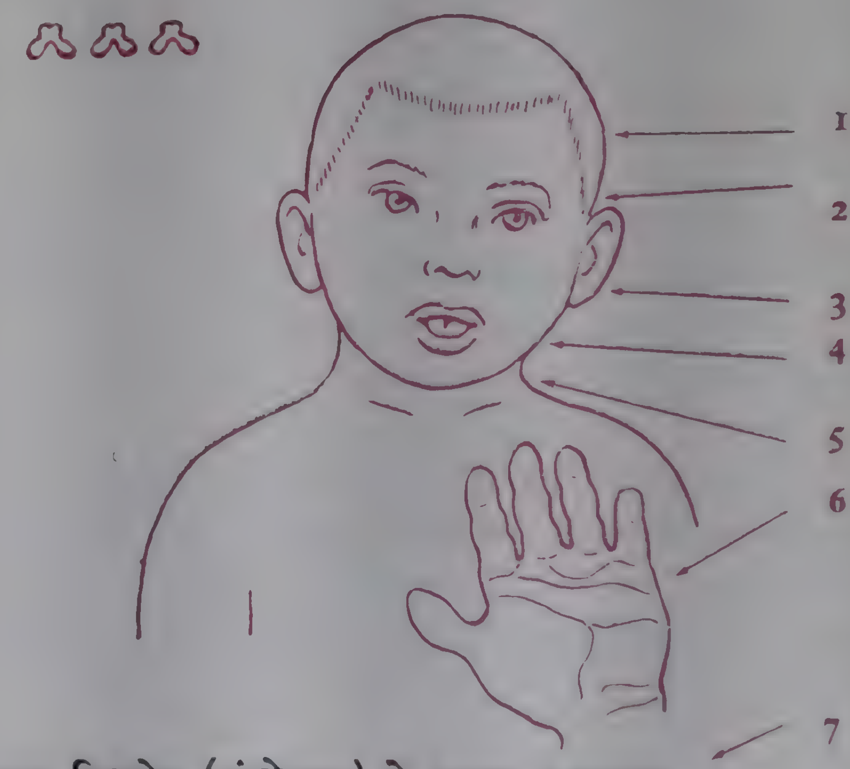
टर्नर सिन्ड्रोम के अतिरिक्त स्त्रियों में एक अन्य प्रकार की भी लिंग क्रोमोसोम असंगति हो सकती है। कुछ स्त्रियों में तीन एक्स क्रोमोसोम पाए जाते हैं। वे देखने में पूर्णतया सामान्य स्त्रियों (अर्थात दो एक्स क्रोमोसोम वाली) की भांति ही होती हैं परन्तु उनकी प्रजनन शक्ति कम होती है तथा वे कुछ मंदबुद्धि भी होती हैं। ऐसी स्त्री 750 में से एक पाई जाती है। एक्स एक्स वाई पुरुष भी लगभग इसी अनुपात में पाए जाते हैं। एक एक्स क्रोमोसोम वाली स्त्रियां बहुत कम पाई जाती हैं। 3000 में से एक स्त्री केवल एक एक्स क्रोमोसोम वाली होती है अर्थात



क्रोमोसोम जन्य यौन अपसामान्यताएं :

(बाएं) टर्नर्स सिन्ड्रोम (अपसामान्यतः विकसित स्त्री) के लक्षण : रुद्ध विकास, मानसिक विकार (प्रायः), ठोड़ी अन्दर धंसी हुई, वैब्ड गर्दन, अल्पविकसित छातियां, अण्डाशय (ओवरी) अविकसित अथवा अनुपस्थित, जघन रोम (प्यूबिक हेयर) अति विरल अथवा अनुपस्थित, ऋतुस्राव का अभाव, वंध्यता (प्रायः), जन्मजात श्रवण विकार। कारण : दो के स्थान पर केवल एक X क्रोमोसोम का होना।

(दाएं) क्लाइनफेल्टर सिन्ड्रोम (अपसामान्यतः विकसित पुरुष) के लक्षण : षंडाभ अंग (बहुधा), मानसिक विकृति, स्तन अति विकसित (पुरुष के लिये), अल्पविकसित जननांग और साधारणतया शुक्राणुओं का अभाव। कारण : एक X क्रोमोसोम के बजाए दो या अधिक X क्रोमोसोमों की उपस्थिति।

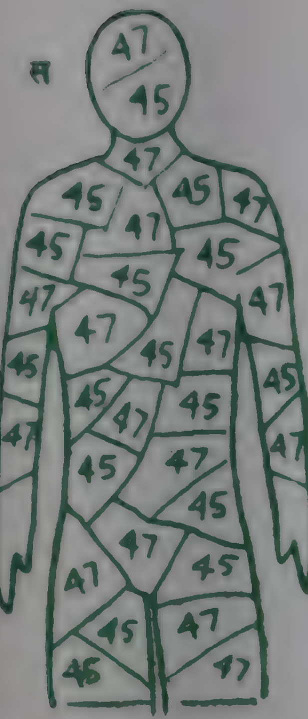


डाउन्स सिन्ड्रोम (मंगोलता) के प्रभाव व कारण

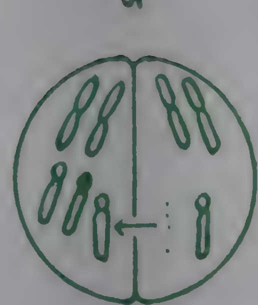
शारीरिक लक्षण : रुद्ध विकास, 1. छोटा या गोल सिर, 2. आंखों के बाहरी कोये भीतरी कोयों की अपेक्षा ऊंचे तथा आंखों के बीच अपेक्षतया अधिक फासला 3. छोटी व बैठी हुई नासिका, 4. विदीर्ण-जीभ तथा निचला ओठ आगे को बढ़ा हुआ, 5. छोटी गर्दन, 6. हाथ चौड़े और मोटे, अपसामान्य हस्तरेखाएं, कनिष्ठा अंगुली बहुत छोटी, 7. अल्पविकसित जननांग। मंगोलता का कारण 21 वें नम्बर पर दो के बजाय तीन क्रोमोसोमों की उपस्थिति भी हो सकता है।

मोजेइक मानव

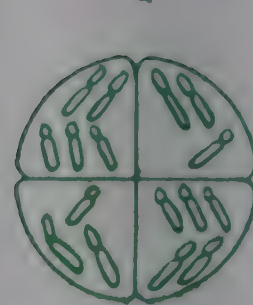
स



अ



ब



अलिंग सूत्री (आटोसोमल) मोजेइक

(अ) 46 क्रोमोसोमों (द्विगुणित) से युक्त निषेचित डिम्ब के विभाजन में यदि 'त्रुटि' आ जाए तो विभाजन जन्य कोशिका में एक क्रोमोसोम कम रह सकता है परन्तु इस क्षति की पूर्ति दूसरी कोशिका में हो सकती है।

(ब) इस प्रकार आगे विभाजन से बनने वाली कोशिकाओं में से कुछ में 45 क्रोमोसोम रह जाएंगे और कुछ में 47 हो जाएंगे।

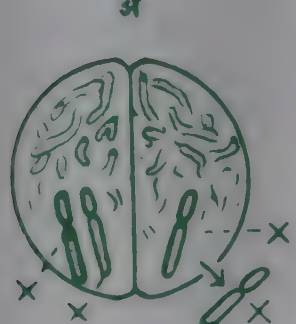
(स) इसका परिणाम एक 'मोजेइक' मानव का निर्माण होगा।

लिंगसूत्री (सेक्स क्रोमसोम) मोजेइक

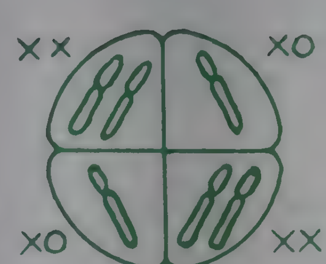
नीचे बाईं ओर (अ) XX अंडाणु के प्रथम विभाजन में एक कोशिका एक X क्रोमोसोम खो देती है (ब) जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति XX (सामान्य स्त्री) कोशिकाओं और XO (अपसामान्य स्त्री, टर्नर सिन्ड्रोम) कोशिकाओं का मोजेइक बन जाता है। यदि मूल कोशिका का एक X क्रोमोसोम दूसरी में चला जाय तो XXX-XO मोजेइक भी बन सकता है।

नीचे दाईं ओर (अ) XY क्रोमोसोम वाले निषेचित डिम्ब के प्रथम विभाजन में एक कोशिका अपना Y क्रोसोसोम खो देती है, (ब) जिसके परिणामस्वरुप व्यक्ति XY (पुरुष के क्रोमोसोम) कोशिकाओं ओर XO (अपसामान्य स्त्री, टर्नर सिन्ड्रोम) कोशिकाओं का मोजेइक बन जाता है। यदि निषेचित डिम्ब XXY क्रोमोसोम वाला हो तो XXY-XO मोजेइक (अंशतः क्लाइनफेल्टर पुरुष और अंशत टर्नर स्त्री) भी बन सकता है।

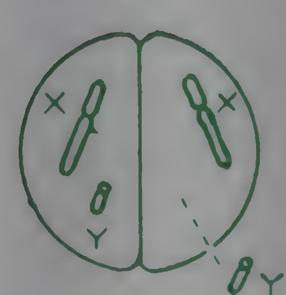
अ



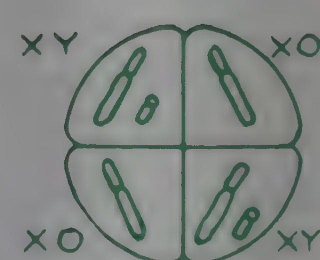
ब



अ



ब



3000 में से औसतन एक स्त्री टर्नर सिन्ड्रोम से ग्रस्त पाई जाती है। उपरिवर्णित क्रोमोसोम अपसामान्यताएं तो अतिसाधारण हैं, कुछ ऐसे व्यक्ति भी पाए गए हैं जिनमें एक्स क्रोमोसोम अंश से लेकर 5 क्रोमोसोम तक एक वाई क्रोमोसोम के साथ होते हैं।

जिस पुरुष में एक वाई क्रोमोसोम अतिरिक्त होता है अर्थात उसके लिंग क्रोमोसोम एक्स वाई न होकर एक्स वाई वाई होते हैं वह आक्रामक स्वभाव वाला होता है। क्रोमोसोमों के अध्ययन से अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि 'वाई' क्रोमोसोम ही लिंग निर्धारक होता है।

आटोसोमों (अलिंग क्रोमोसोम) की अपसामान्यताओं में से सबसे अधिक पाई जाने वाली डाउन सिन्ड्रोम (मंगोलता) है। इस रोग के लक्षण हैं: मंदबुद्धिता, पलकों में विशेष प्रकार की तहें होना, कद छोटा होना तथा जन्मजात विरूपताएं, विशेष रूप से हृदय की विरूपता होना। इन अपसामान्य व्यक्तियों के क्रोमोसोमों के अध्ययन से पता चला है कि इनमें एक अतिरिक्त क्रोमोसोम, जिसे क्रोमोसोम 21 कहा जाता है, होना है। ट्राइसोमिक अवस्था (दो के स्थान पर तीन क्रोमोसोम होना) में इस क्रोमोसोम की उपस्थिति या फिर किसी अन्य क्रोमोसोम पर इसका स्थानान्तरण ही डाउन सिन्ड्रोम के कारण हैं। पहली दशा में (ट्राइसोमिक अवस्था) क्रोमोसोमों की संख्या 47 हो जाती है जबकि स्थानान्तरण से वह संख्या 46 ही रहती है। मंगोलता अति साधारण प्रकार की आटोसोम-अपसामान्यता है। ट्राइसोमिक अवस्था में क्रोमोसोम 13-15 तथा क्रोमोसोम 16-18 भी पाये जाते हैं।

एक अन्य प्रकार का क्रोमोसोम विपथन भी होता है। यह लिंग क्रोमोसोम तथा अलिंग क्रोमोसोम दोनों में ही हो सकता है तथा मोज़इसिज्म कहलाता है। मोजइक व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं एक तो वे जिनमें आटोसोम मोजेइसिज्म होता है और दूसरे वे जिनमें लिंग क्रोमोसोम मोजेइसिज्म होता है।

युग्मकजनन (गैमीटोजेनेसिस) के समय अथवा गर्भ-विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कोशिका विभाजन में कोई त्रुटि, जिसे नान-डिसजंक्शन कहते हैं, के परिणामस्वरूप क्रोमोसोमों का अ-समान वितरण हो जाता है और इसी कारण कुछ व्यक्ति मोजेइक हो जाते हैं।

समुदायों का आनुवंशिक अध्ययन

ए. अब्राहम और पी. एम. मैथ्यू



मैंडल द्वारा प्रतिपादित आनुवंशिकी के नियमों की पुनः खोज के बाद आनुवंशिक सिद्धान्तों के आधार पर समुदायों (जन, पादप तथा जन्तु समुदायों) का अध्ययन (पापुलेशन स्टडीज़) करने की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और वर्तमान शती के प्रारम्भ के दशकों में इस क्षेत्र में कैसल, पीयरसन, हार्डी, वीनबर्ग, फिशर, हाल्डेन व राइट आदि सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने काफी सैद्धांतिक अनुसंधान कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अध्ययनों के सैद्धान्तिक पहलू पर ही बल दिया जाता रहा और प्रयोगात्मक पहलू तिरस्कृत रहा। 1930 के वर्षों में भी सैद्धान्तिक और प्रायोगिक अनुसंधानों के बीच एक बहुत बड़ी दरार बनी रही। इसी दशक में वास्तव में उक्त जीवों के प्राकृतिक समुदायों (नेचुरल पापुलेशन) के आनुवंशिक अध्ययन की दिशा में प्रयोगात्मक कार्य का श्रीगणेश हुआ। इन अध्ययनों में न केवल जनसमुदायों का बल्कि पादप तथा जन्तु समुदायों का अध्ययन भी किया गया और आज इस संबंध में काफी वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध भी है। विगत कुछ वर्षों में सर्वाधिक कार्य जन-समुदाय की आनुवंशिकी के संबंध में हुआ है।

समुदाय की जीनी संरचना

समुदाय आनुवंशिकी परिवारों या व्यक्तियों के समूह में मेंडलवाद के सांख्यिकीय परिणामों से सम्बद्ध एक विषय है और इसके अन्तर्गत आनुवंशिक घटनाओं का सामुदायिक (पापुलेशनल) स्तर पर अध्ययन किया जाता है। किसी समुदाय की जीनी संरचना दर्शाने के लिए जीन आवृत्ति एक अति महत्त्वपूर्ण प्राचल (पैरामीटर) है। द्वि-ऐलील व्यवस्था में यदि 'क' प्रभावी ऐलील (डामिनेन्ट ऐलील) का अनुपात है और 'ख' अप्रभावी (रिसेसिव) ऐलील का, जबकि क+ख=1; तो यादृच्छिक (इच्छानुसार) सहवास करने वाले समुदाय में सम्भव तीन समजीनियों का अनुपात $क^2$, 2कख, और $ख^2$ होगा। जीन आवृत्ति व समजीनी आवृत्ति का यह सम्बन्ध स्थिर है और चयन, उत्परिवर्त्तन प्रवास तथा अन्तः प्रजनन आदि की अनुपस्थिति में अपरिवर्त्तित ही रहता है।

मनुष्य एक अ-प्रयोगात्मक जीव है और इसके नियंत्रित सहवास की सम्भावना बहुत कम है। जनसमुदायों में पूर्णतया यादृच्छिक सहवास नहीं होता। और अ-यादृच्छिक सहवास इतना कम होता है कि उस पर विभिन्न प्रकार के आनुवंशिक अनुमानों, विभिन्न जनसमुदायों की जीनी संरचनाओं की तुलना, विरल अप्रभावियों (रेयर रिसेसिव्ज़) की विषमयुग्मजी (हेटेरोजाइगस) वाहक आवृत्तियों के आकलन के परीक्षण के लिए हार्डी-वीनबर्ग नियम का भलीभांति उपयोग नहीं किया जा सकता।

प्राकृतिक वरण एक मात्र ऐसा उपादान है जो कि जनसमुदायों के जीनी संतुलन को बिगाड़ देता है। हानिकर जीनों के लिए समयुग्मजी-व्यक्ति (होमोजाइगस) की आयु बहुधा अल्प होती है। परिणामस्वरूप ऐसे जीनों की आवृत्ति कम हो जाती है यदि इस ह्रास की पूर्ति उत्परिवर्तनों द्वारा न हो। मध्यवर्ती जीन आवृत्तियों के साथ जीन आवृत्ति का ह्रास काफी होता है और इसलिए जनसमुदायों में ऋणात्मक वरण सर्वनिष्ठ गुणों के लिए सर्वाधिक प्रभावी तथा विरल हानिकर जीनों लिए अपेक्षतया अप्रभावी होता है।

मनुष्य में प्राकृतिक वरण के प्रभाव के प्रेक्षण पहले आर-एच ऐलीलों पर किए गए और पाया गया कि माता तथा गर्भ की आर-एच असंगति के कारण विषमयुग्मजी गर्भों की उत्तरजीविता दर कम होती है। आर-एच धन और आर-एच ऋण जीनों की असमान आवृत्तियों वाले जनसमुदायों में और अधिक असमानता आ जाती है जिसके कारण उन जनसमुदायों से विरल जीन विलुप्त ो जाते हैं।

जीनों का भौगोलिक वितरण

यह पाया गया है कि मलेरिया तथा अन्य ऊष्णकटिबंधीय संक्रामक रोग आर-एच ऋण जीनों के विरुद्ध अपरोक्ष रूप से वरणात्मक उपादानों का कार्य करते हैं जिससे जीन का परिवर्तनशील भौगोलिक वितरण होता है। अत्यधिक मलेरियाई वातावरण में रहने वाले जनसमुदायों में प्रतिपिण्ड निर्माण की क्षमता अधिक होती है। आर-एच असंगति के कारण अच्छे प्रतिपिण्ड निर्माता जनसमुदायों में नवजात शिशु में हीमोलिटिक रोग पाए जाने की सम्भावना बहुत रहती है जिससे उन जनसमुदायों में आर-एच ऋण जीन का बड़ी तेजी से ह्रास होता है।

मानव विषमयुग्मजियों के पक्ष में वरण का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण कुछ अनुसंधाताओं द्वारा अफ्रीकी जनसमुदायों में सिकिल सैल जीन के वितरण का अध्ययन करने पर सामने आया है। विभिन्न जनसमुदायों में सिकिल सैल जीन की आवृत्ति मलेरिया के आपतन से धन-सहसंबद्ध है। बम्बई, मध्यभारत सहित संसार के अन्य अनेक भागों से भी यह पता चलता है कि सिकिल सैल जीन की आवृत्ति वहीं अधिक है जहां मलेरिया हमेशा फैला रहता है या हाल तक फैला रहा है।

विकिरण और जनसमुदाय

स्वतः ही होने वाले उत्परिवर्तन जो विभिन्न संस्थितियों (लोसाई) में जमा हो जाते हैं, वह आधार प्रदान करते हैं जिस पर वरण (सिलैक्शन) क्रिया कर सकता है और जनसमुदाय की जीनी संरचना में थोड़ा अन्तर ला सकता है। मनुष्य में उत्परिवर्तन उत्पन्न करने वाले मुख्य कारक हैं—आयनकारी विकिरण, सम्भावित रासायनिक उत्परिवर्तक और प्राकृतिक रूप से मिलने वाले रेडियधर्मी तत्व। एक्स किरणों, रेडियधर्मी पदार्थों के उपयोग तथा परमाणु परीक्षण जन्य विकिरणों के कारण होने वाले उत्परिवर्तनों की संख्या पहले से बहुत अधिक हो गई है।

सगे चचेरे, ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई-बहन **संतान**



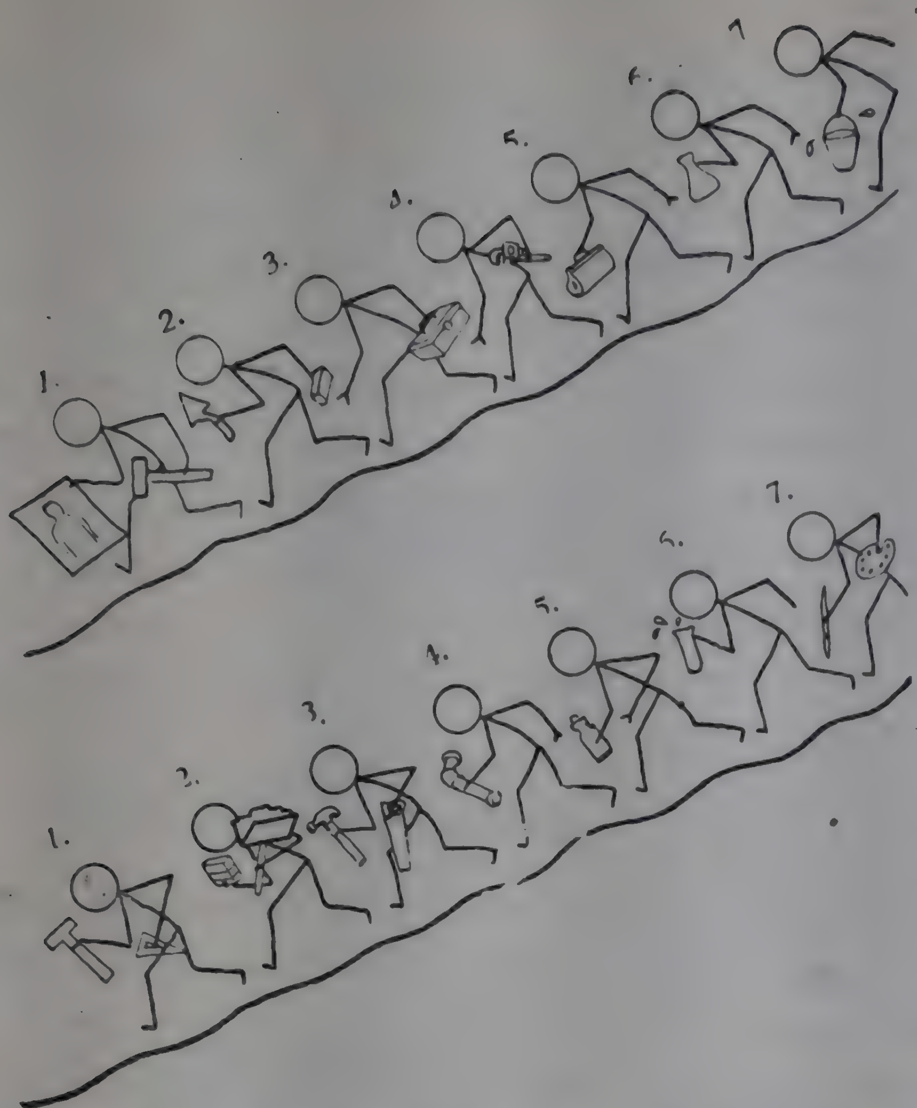
सगे चचेरे, ममेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई-बहनों में कुल जीनों के 1/8 जीन समान होते हैं। यदि इनमें से कोई किसी एक रिसेसिव जीन का वाहक है तो दूसरे में वैसे ही जीन के होने की सम्भावना आठ में से एक है। यदि उक्त व्यक्तियों के परस्पर विवाह हो जाएं तो संतान में एक ही प्रकार के दो रिसेसिव जीनों के आ जाने की और परिणामस्वरूप उसमें विकार आ जाने की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है।

जापान तथा अन्य कुछ स्थानों में परमाणु विस्फोट जन्य रेडियधर्मी विकिरणों के आनुवंशिक प्रभावों का अध्ययन किया गया है। परन्तु शक्तिशाली प्राकृतिक विकिरणों का जन समूहों पर क्या प्रभाव होता है इस दिशा में अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। ऐसे अध्ययनों के न किए जाने का एक कारण यह भी है कि ऐसे स्थानों का अभाव है जहां प्राकृतिक रूप से प्राप्त होने वाले रेडियधर्मी तत्व का विकिरण शक्तिशाली हो और उस विकिरण का प्रभाव विशाल जनसमुदाय पर पड़ता हो। परमाण्विक विकिरणों के प्रभावों पर संयुक्त राष्ट्र वैज्ञानिक समिति 1958 के सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार दक्षिण भारत के मोनाजाइट क्षेत्र, जहां कि खनिजों से निकलने वाले विकिरणों की मात्रा अधिक है, और आबादी भी घनी है, इस प्रकार के अध्ययनों के लिए आदर्श स्थान है। इस दिशा में कुछ कार्य ट्राम्बे में जीव-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष गोपाल आयंगर ने किया है। उन्होंने मोनाजाइट क्षेत्र वासियों को अध्ययन का विषय बनाया था। इस अध्ययन के महत्व को जान कर केरल विश्व-विद्यालय ने भी इस दिशा में कार्य आरम्भ किया है।

सजातीय विवाह

जब हम किसी प्राकृतिक जनसमुदाय पर विचार करते हैं तो वह स्वतंत्र रूप से मात्र एक प्रजनन इकाई (ब्रीडिंग यूनिट) कदाचित् ही सिद्ध होती है। विशाल जनसमुदाय में प्रजनन सम्बन्धी अनेक ऐसे रोध हैं जो उसे छोटे-छोटे समूहों में बांट देते हैं और प्रत्येक छोटा समूह स्वयं में एक 'प्रजनन इकाई' बन जाता है। सजातीय विवाह करने वाले पूर्णतया विलग उपसमूह आनुवंशिक दृष्टि से स्थिर होते हैं और उनकी अपनी स्थिर जीन आवृत्ति होती है जो कि नजदीक के उपसमूहों की जीन आवृत्ति से भिन्न होती है। किन्तु इन उपसमूहों की जीनी संरचना अन्य समूहों से नए जीनों का प्रवास कराके तथा इनमें उनका समावेश कराके बदली जा सकती है। हाल ही में संसार के अनेक भागों में इन तथाकथित स्थिर जनसमूहों में जीन प्रवाह की दर के परिणामस्वरूप सामाजिक रीति-रिवाजों, कर्षण-क्रियाओं, धार्मिक व भाषा-सम्बन्धी प्राथमिकताओं द्वारा लगाए गए बहुत से परम्परागत रोधों के भंजन की प्रवृत्ति के कारण जीन-निधि में काफी परिवर्तन हुए हैं। संसार के बहुत से सुसंस्कृत देशों में सजातीय विवाह करने वाले जनसमुदाय अब तीव्रता से विलुप्त होते जा रहे हैं।

विलग रहने वाले जनसमूहों के बीच विनिमय द्वारा जीन-निधि के निर्माण की प्रक्रिया अति धीमी होती है। ऐसे जनसमुदाय भी हैं जो कई शतियों तक साथ-साथ रहे हैं फिर भी उनमें आनुवंशिक अनेकरूपता आज भी मौजूद है। हिन्दुओं में जाति प्रथा अनेक शतियों से चली आ रही है। इससे विभिन्न जातियों में परस्पर जीन प्रवाह में बाधा पड़ती है। बम्बई में सजातीय विवाह करने वाले जनसमूहों में कुछ रक्त समूह उपादानों, वर्णांधता आदि का अध्ययन करने पर पाया गया है कि उनमें आनुवंशिक अनेकरूपता बनाए रखने की प्रवृत्ति बहुत है।



क्रोमोसोम 'जीन रूपी कर्मियों की श्रृंखला' के समान समझे जा सकते हैं। शिशु निर्माण के लिए इसी प्रकार के जीन रूपी कर्मियों से युक्त 23 क्रोमोसोम पिता से आते हैं और 23 माता से। चित्र में पिता (ऊपर) तथा माता (नीचे) के दो क्रोमोसोमों के थोड़े से अंशों को अर्थात थोड़े से जीनों को 1. डिजाइनर, 2. राज (मैसन) 3. मरम्मतकर्ता, 4. प्लम्बर, 5. चिकित्सक, 6. रसायनज्ञ, 7. रंगसाज, के चित्रों से प्रतीक रूप में दिखाया गया है।

चित्र में स्पष्ट है कि दोनों ही क्रोमोसोमों में एक विशेष स्थान पर नियुक्त जीन रूपी कर्मी एक ही काम के लिए हैं।

यही जीन संतान में पहुंचकर माता-पिता के गुण उसमें पहुंचाते हैं। यदि माता-पिता किसी आनुवंशिक रोग से ग्रस्त हों अथवा उनके जीनों में उत्परिवर्तन हो गया हो तो संतान के रोगी होने की सम्भावना अधिक रहती है। विकिरणों का प्रभाव जीनों पर बहुत जल्दी पड़ता है, उनमें उत्परिवर्तन हो जाता है। उत्परिवर्तन होने के बाद भी जीन के काम में परिवर्तन नहीं आता, अन्तर उसके कार्य के परिणाम में आता है। अर्थात् यदि कोई जीन आंखों की पुतलियों के रंग को प्रभावित करता है और यदि उत्परिवर्तन से पूर्व वह काली पुतलियां बनाता था, तो सम्भव है कि अब भूरी पुतलियों का निर्माण करे। कुछ जीन अप्रभावी होते हैं और कुछ प्रभावी। अप्रभावी जीन अपना असर तब तक नहीं दिखाता जब तक उसे अपना जैसा साथी न मिल जाए। यही कारण है कि एक ही परिवार के सदस्यों में अर्थात् सगे चचेरे-ममेरे-फुफेरे-मौसेरे भाई बहिनों में परस्पर विवाह होने से उनकी संतान के रोगी होने की सम्भावना अधिक रहती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में अप्रभावी जीन को अपने जैसा साथी अवसर मिल ही जाता है।

केरल में लगभग एक दर्जन सजातीय विवाह करने वाली जनजातियां हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी ऊंची व नीची जातियां हैं जो कि अन्तराप्रजनन प्रवृत्ति से मुक्त हैं। शिक्षा के प्रसार तथा आर्थिक सामाजिक परिवर्तनों से, पूरी सम्भावना है कि ये सब जाति बंधन निकट भविष्य में समाप्त हो जाएंगे। इसलिए इनका अध्ययन तुरन्त किया जाना चाहिए। इससे भारत में जाति निर्माण के बारे में तथा मानव के विकास के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

संकर जन-समूह

आनुवंशिक रूप से भिन्न जनसमूहों के संमिश्रण से द्विजातीय तथा बहुजातीय विलग जनसमूह बनते हैं। अमेरिका के उत्तर-पूर्वी केरोलिना राज्य में रहने वाला संकर जन-समूह त्रिजातीय समूह का एक विशिष्ट उदाहरण है। दैहिक, सीरमीय (सीरोलाजिक) तथा लाक्षणिक गुणों की कसौटी पर इस जनसमूह के पूर्वज नीग्रो-भारतीय-श्वेत प्रतीत होते हैं।

गोआ, पांडिचेरी और क्विलन आदि समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में मिश्रित जाति समूह मिलते हैं। ये मिश्रित जातियां कई शती पूर्व अंग्रेज व्यापारियों और स्थानीय भारतीय जातियों के संमिश्रण से उत्पन्न हुईं। इन जनसमूहों के आनुवंशिक अध्ययनों से संमिश्रण के स्वरूप तथा विस्तार का पता चल सकेगा।

समोद्भवता

समोद्भवता अर्थात 'रक्त संबंधियों में परस्पर विवाह' जीनी संतुलन को बिगाड़ने वाला एक प्रमुख कारक है। समोद्भव विवाहों की प्रतिशत संख्या आधुनिक पाश्चात्य देशों में 0.5 प्रतिशत और भारत जैसे जाति प्रथा वाले देशों में 2.5 प्रतिशत तक हैं। आंध्र प्रदेश में तो समोद्भव विवाहों की प्रतिशत संख्या 39 प्रतिशत है।

समोद्भवता का आनुवंशिक परिणाम यह होता है कि समयुग्मजियों की संख्या बढ़ जाती है और फलस्वरूप उन व्यक्तियों में जिनमें रिसेसिव जीनों के कारण होने वाले आनुवंशिक रोग बहुत कम पाए जाते हैं, समोद्भवी विवाहों के कारण उन रोगों का बाहुल्य हो जाता है। यदि संबंधियों में विवाह न हों तो इन रोगों की संख्या बहुत कम रहती है। आन्ध्र प्रदेश में समोद्भवी व्यक्तियों के परस्पर विवाह से उत्पन्न सन्तान फुफ्फुस यक्ष्मा की ग्राही पाई गई है। इसके अतिरिक्त समोद्भवता के कारण गर्भपात, जन्मजात विकृतियां तथा स्त्रियों का बंध्या होना भी पाया गया है।

भारत के अन्य अनेक भागों में भी सजातीय तथा पारिवारिक विवाह होते हैं तथा ऐसी जातियां तथा वर्ग हैं जिनमें कुछ सामाजिक व सांस्कृतिक कारणों से सगे चचेरे-ममेरे-फुफेरे-मौसेरे भाई-बहिनों में, मामा-भानजी तथा मौसी-भानजे और बुआ-भतीजे की शादियां होती हैं। इसके परिणामस्वरूप समोद्भवता काफी बढ़ी है और विशेषरूप से अशिक्षित समुदायों में। इन जनसमूहों का आनुवंशिक अध्ययन, समोद्भवता के हानिकर परिणामों के संबंध में जनसाधारण को आनुवंशिक परामर्श देने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

क्रोमोसोम तथा अपराधी वृत्ति

सामान्यतः पुरुष की यौन कोशिकाओं में एक एक्स तथा एक वाई क्रोमोसोम और स्त्री की यौन कोशिकाओं में दो एक्स क्रोमोसोम होते हैं। कभी-कभी प्रकृति सामान्य नियम का 'उल्लंघन' कर जाती है जिसके फलस्वरूप पुरुषों की कोशिकाओं में दो एक्स और एक वाई अथवा एक एक्स और दो वाई क्रोमोसोम पाये जाते हैं। सर्वेक्षण में पाया गया है कि औसतन प्रति दस हजार लड़कों में 13 लड़के ऐसे होते हैं जिन की कोशिकाओं में एक फालतू एक्स क्रोमोसोम होता है। इसी प्रकार औसतन प्रति दस हजार लड़कों में 10 लड़कों में एक अतिरिक्त वाई क्रोमोसोम होता है। यद्यपि क्रोमोसोम की इन अनियमितताओं के अतिरिक्त मनुष्य की कोशिकाओं में क्रोमोसोम संबंधी और भी अनियमिततायें पाई जाती हैं परन्तु दो एक्स और एक वाई तथा एक एक्स और दो वाई क्रोमोसोम जिनकी कोशिकाओं में होते हैं उनका अपराध और समाजविरोधी बातों की ओर झुकाव अधिक देखा गया है। इसलिये इस अनियमितता का अध्ययन एक विशेष महत्व रखता है।

जिन शिशुओं की कोशिकाओं में दो एक्स तथा एक वाई क्रोमोसोम हों उनके चेहरे पर युवावस्था में बालों का अभाव होता है तथा उनके वक्ष पर स्तनों जैसा कुछ उभार सा आ जाता है। वैसे उनके सिर के बाल भी स्त्रियों के बालों से काफी मिलते-जुलते होते हैं। आमतौर पर अतिरिक्त एक्स क्रोमोसोम वाले बच्चे मंद बुद्धि होते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्तियों का झुकाव अपराधों की ओर अधिक होता है परन्तु अभी तक उनके अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार के बारे में समुचित छानबीन नहीं की गई है। अब भी मनोचिकित्सकों को यह पूर्णरूप से ज्ञात नहीं है कि उनका असामान्य व्यवहार जीन संबंधी अनियमितताओं के कारण होता है अथवा पर्यावरण के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होने के कारण।

आश्चर्यजनक बात

एक अतिरिक्त वाई क्रोमोसोम वाले पुरुषों के व्यवहार के बारे में यद्यपि पहली रिपोर्ट 1961 में प्रकाशित हुई थी परन्तु इस विषय में वैज्ञानिकों ने वास्तविक रुचि 1965 में लेना आरम्भ किया जब स्काटिश स्टेट सिक्योरिटी हास्पिटल में किये गये एक सर्वेक्षण में 3 प्रतिशत व्यक्तियों की कोशिकाओं में एक अतिरिक्त वाई क्रोमोसोम पाया गया। इस बारे में एक आश्चर्यजनक बात यह है कि 6 फुट से ऊंचे प्रत्येक 4 पुरुषों में एक पुरुष की कोशिका में एक अतिरिक्त वाई क्रोमोसोम उपस्थित होता है। 1966 में किये गये एक अन्य सर्वेक्षण में 50 छः-फुटे व्यक्तियों में से 12 व्यक्ति एक्स-वाई-वाई क्रोमोसोम वाले थे।

एक अतिरिक्त एक्स या वाई क्रोमोसोम वाले व्यक्तियों की समाज विरोधी प्रवृति के बारे में लोगों की जानकारी बढ़ रही है। हाल में ही मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) की एक अदालत में एक जूरी ने एक अपराधी को मृत्यु दंड से इसलिये मुक्त कर दिया कि अपराधी की कोशिकाओं में एक अतिरिक्त वाई क्रोमोसोम था। जूरी के विचार से, शारीरिक रूप से ही 'उसका झुकाव अपराध की ओर था'। वह जान-बूझ कर आपराध नहीं करता था। उनका यह विचार वैज्ञानिकों के अनुसार ठीक है।

अल्पायु में अपराध

एक्स-वाई-वाई क्रोमोसोम वाले व्यक्ति आमतौर से अपेक्षाकृत अल्पायु में ही अपनी अपराधीवृत्ति के कारण दंडित होते हैं। आमतौर से वे 13 वर्ष की आयु में ही किसी न किसी अपराध में फंस जाते हैं। उनकी प्रवृति सम्पत्ति को हानि पहुंचाने की अधिक होती है, व्यक्ति को हानि पहुंचाने की कम।

एक अतिरिक्त एक्स अथवा वाई क्रोमोसोम वाले व्यक्तियों की अपराध प्रवृत्ति में उनकी पारिवारिक परिस्थितियों का कितना हाथ है इस बारे में किये गये अध्ययनों से पता लगा है कि एक्स-वाई-वाई क्रोमोसोम वाले व्यक्तियों के परिवार में अपराध करने की प्रवृत्ति मौजूद नहीं होती। इस प्रकार का व्यक्ति-विशेष ही अपराधी होता है उसका परिवार नहीं। वह परिवार की 'गंदी मछली' होता है।

●

डा. एस. एस. अय्यर, डा. पी. जी. नायर, डा. एस. एन. लकटके, डा. डी. पी. मुखर्जी आदि कतिपय महानुभावों के लेख देर से मिलने के कारण इस अंक में सम्मिलित नहीं किए जा सके। उन्हें आगामी अंकों में प्रकाशित किया जाएगा।

—सम्पादक

क्या सुपरमैन बनाना संभव है?

जनकनंदन प्रसाद सिन्हा

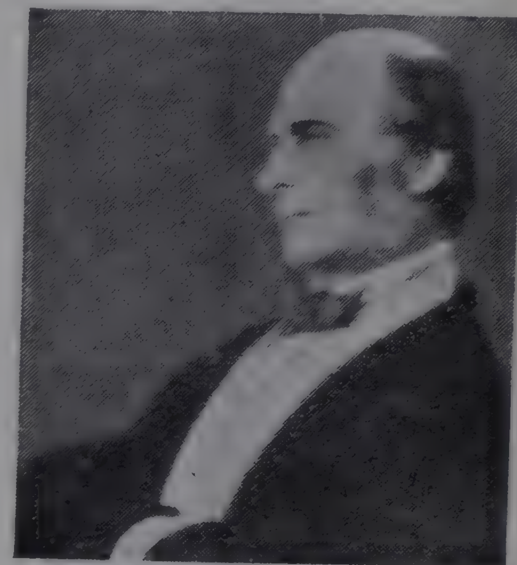
व्यक्ति, समाज व संस्कृति में अन्योन्याश्रित संबंध है। व्यक्ति ही समाज का मूल तत्व है, वही संस्कृति का निर्माता भी है। बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना कोरी है। समाज अच्छा है अथवा बुरा यह उसकी निर्माण-इकाई (व्यक्ति) पर निर्भर है। बुद्धिमान, सच्चरित्र, स्वस्थ, निरोग तथा अन्य सुलक्षणों से युक्त मनुष्यों का समाज ही श्रेष्ठ है—इसमें संदेह नहीं। परन्तु ऐसे श्रेष्ठ समाज की रचना कैसे हो? क्या यह सम्भव है कि पृथ्वी का हर व्यक्ति श्रेष्ठ हो? क्या हर मनुष्य सर्वगुण सम्पन्न हो सकता है? वास्तव में ऐसे समाज की कल्पना सदैव से होती रही है जिसमें हर व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न हो। हर माता-पिता अपनी संतान को सर्वगुण सम्पन्न देखना चाहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि में वही व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न है जिसमें सभी आनुवंशिक सुतत्व विद्यमान हैं। अथवा यूं कहें कि जिसमें विद्यमान सभी जीन श्रेष्ठ और सत्कर्त्ता हैं।

मनुष्य को सर्वगुण सम्पन्न बनाने की कल्पना को साकार रूप देने की दिशा में प्रथम प्रयास विकासवाद के प्रणेता राबर्ट चार्ल्स डारविन के चचेरे भाई फ्रांसिस गाल्टन ने किया।

सुजननिकी

डार्विन के विकासवाद से उसे ऐसा लगा कि मानव का भविष्य का विकास स्वयं मनुष्य के हाथ में है। यदि मनुष्य चाहे तो अपनी आने वाली पीढ़ियों को हर प्रकार से अपने से अच्छा बना सकता है। और 1883 में उसने एक आन्दोलन छेड़ ही दिया जिसका उद्देश्य था वंशप्रदत्त विभिन्न गुणों का सुधार। वंशप्रदत्त गुणों को सुधारने के विज्ञान को उसने **यूजेनिक्स** नाम दिया जिसे हिन्दी में **सुजननिकी** कहा जाता है। सुजननिकी से संबद्ध गाल्टन की प्रथम पुस्तक 'हैरिडिटरी जीनियस' (आनुवंशिक प्रतिभा) 1869 में प्रकाशित हुई। एक दूसरा ग्रंथ "इंक्वायरीज इन्टु ह्यूमन बॉडी" 1883 में प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ में गाल्टन ने 'यूजेनिक्स' शब्द गढ़ा था। सुजननिकी जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, वह व्यावहारिक जीव विज्ञान है जिसके अन्तर्गत आने वाली पीढ़ियों के आनुवंशिक गुणों को प्रभावित करनेवाले उपादानों का अध्ययन किया जाता है। इसे विज्ञान भी कहा जा सकता है और एक सामाजिक आन्दोलन भी। सामाजिक आन्दोलन इसलिए कि इसका उद्देश्य (एक परिभाषानुसार) उत्तम व्यक्तियों को अधिक संतान उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करना तथा शारीरिक तथा मानसिक रूप से हीन माता-पिताओं को संतान न उत्पन्न करने देना है।

गाल्टन ने एक अन्य पुस्तक भी लिखी थी "नेचुरल इनहेरिटेन्स" (प्राकृतिक वंशागति) जो 1889 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उसने 286 न्यायाधीशों, अनेक उच्च कोटि के चित्रकारों तथा विभिन्न क्षेत्रों के अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के वंशों के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों का समावेश किया था।



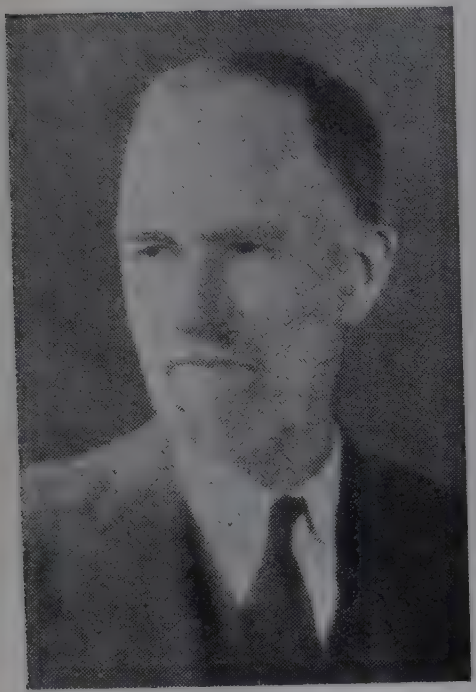
फ्रांसिस गाल्टन

बंध्यीकरण कानून

गाल्टन द्वारा प्रारम्भ किए गए सुजननिकी आन्दोलन को साकार रूप देने की दिशा में सबसे पहला कदम अमेरिका ने उठाया। वहां 27 राज्यों में 1931 में ही विकृत व जन्मजात रोगियों के बंध्यीकरण के लिए कानून बना दिया गया था। और 1935 तक तो डेनमार्क, स्विट्जरलैंड, जर्मनी, नारवे तथा स्वीडन में भी ऐसा ही कानून बना दिया गया था। इस कानून के अन्तर्गत पागल, वज्रमूर्ख, शक्तिहीन, मंदबुद्धि तथा मिरगी के रोगी, स्वभाव से ही अपराधी, कामविकृतिग्रस्त व्यक्तियों का बंध्यीकरण अनिवार्य कर दिया गया था। लेकिन अधिकांश राज्यों में उक्त कानून को पूरी तरह से लागू नहीं किया गया।

आनुवंशिकी की प्रगति के साथ बंध्यीकरण कानून का भी संशोधन आवश्यक हो गया और इस संबंध में कुछ विशेषज्ञ वैज्ञानिकों की सलाह ली गई। उन्होंने बताया कि बंध्यीकरण अनिवार्य नहीं होना चाहिए। यदि

रोगी न चाहे तो उसका बंध्यीकरण नहीं किया जाना चाहिए । बंध्यीकरण केवल निम्न स्थितियों में ही किया जाना चाहिए : हंटिंगटन्स कोरिया, आनुवंशिक दृष्टि तंत्रिका शोष (आप्टिक एट्राफी) तथा कुछ अन्य आनुवंशिक विकृतियां; पारिवारिक क्षीण बुद्धिता, विखंडितमनस्कता (स्काइजोफ्रेनिया); उन्माद अवसादी विक्षिप्ति; तथा मिरगी ।



मुर्गी पर यूजेनिक्स संबंधी प्रयोग करने वाले सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक चार्ल्स डेवनपोर्ट जो इंजीनियर से जीव वैज्ञानिक बने ।

लेकिन इन सलाहों पर 1945 तक विचार नहीं किया गया और बंध्यीकरण कानून ज्यों का त्यों चलता रहा । सन् 1945 में परमाणु अस्त्रों के विकास से, वैज्ञानिक तथा जनसाधारण दोनों ही नाभिकीय विस्फोट जन्य विकिरणों से होने वाले जीनिक उत्परिवर्तनों के सम्बन्ध में चिंतित हुए । चिकित्सा में प्रयुक्त एक्स किरणों का पुनर्मूल्यांकन किया गया तथा मधुमेह तथा अन्य अनेक रोगों के आनुवंशिक उपादानों के अध्ययन से नवीन जानकारी प्राप्त हुई । आनुवंशिकी संबंधी अनुसंधान कार्य में तीव्रता आई और 1960 के लगभग तो आनुवंशिकी के बारे में अनेक पूर्वधारणाएं वैज्ञानिकों द्वारा खण्डित की जा चुकी थीं । आनुवंशिकी अब जीन से कोशिका के केन्द्रक के न्यूक्लीक अम्ल की आनुवंशिक कूट भाषा तक पहुंच चुकी थी । और जीन व्यवहार तथा जीन संरचना संबंधी जैव रसायन के एक नये क्षेत्र का जन्म हो चुका था । अतः अमेरिका में नेशनल इंस्टीट्यूट आफ हैल्थ में तथा यूरोप के अनेक सरकारी संस्थानों में आनुवंशिक विकृतियों के सम्बन्ध में और अधिक गहन अध्ययन कार्य हुआ । साथ ही आधुनिक सुजननिकी की आधारशिला रखी गई ।

जीन जन्य रोग

इन अध्ययनों में वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया कि समस्त आनुवंशिक रोग चाहे वे दैहिक हों, मानसिक हों अथवा मनोवैज्ञानिक हों, वास्तव में जीन जन्य ही होते हैं । उन्होंने बहुत से रोगों के उत्तरदायी जीनों का भी पता लगाया । ये विकृति जनक जीन उत्परिवर्तनों द्वारा बनते हैं तथा जीन मानव कोशिका में सदैव जोड़ों में रहते हैं । सामान्यतया प्रत्येक उत्परिवर्तित जीन अप्रभावी होता है अर्थात् इसका प्रभाव तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता जब तक कि समान लक्षणों वाला एक अन्य जीन उसके साथ जोड़ा नहीं बनाता ।

अधिकांश वैज्ञानिकों का विश्वास है कि हानिकर जीनों के वाहक व्यक्तियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है । यद्यपि रोगों में वृद्धि अनेक पीढ़ियों तक दृष्टिगोचर न होगी । इसका कारण यह है कि एक्स किरणों तथा अन्य विकिरणों के कारण उत्परिवर्तन की दर में वृद्धि हो रही है । इसके अतिरिक्त चिकित्सा के उन्नत तरीकों के कारण भी हानिकर जीन वाहकों की संख्या बढ़ रही है । उदाहरण के लिए मधुमेह रोगी पहले अल्पायु में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते थे और मधुमेह के जीन भी उनके साथ समाप्त हो जाते थे, परन्तु आज वे इन्सुलिन के सहारे काफी समय तक जीवित रहते हैं तथा मधुमेह से पीड़ित संतान भी उत्पन्न करते हैं ।

प्रभावी (डामिनेन्ट) जीनों से उत्पन्न आनुवंशिक दोषों को तो अल्प समय में ही बहुत कम किया जा सकता है । परन्तु समस्या तो अप्रभावी जीन खड़ी करते हैं । क्योंकि यह पता लगाना भी अति कठिन है कि कौन व्यक्ति अप्रभावी जीन का वाहक है ।

अतः ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना अति कठिन है कि किन व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिए अथवा किन व्यक्तियों का बंध्यीकरण अनिवार्य रूप से हो जाना चाहिए । सुजननिकीविदों में इस प्रश्न को लेकर काफी मतभेद है । किन व्यक्तियों को आदर्श माता-पिता माना जाए ? किनको संतान उत्पन्न करने से रोका जाए? इंग्लिश यूजेनिक्स सोसायटी ने हर वर्ग के श्रेष्ठ परिवारों का पता लगाने के लिए कुछ अध्ययन किए । ताकि श्रेष्ठ व्यक्तियों को अधिक संतान उत्पन्न करने के लिए विशेष प्रलोभन दिए जाएं ।

कृत्रिम गर्भाधान

अमेरिका में नोबल पुरस्कार विजेता एच. जे. मुलर ने यह प्रस्ताव किया कि सामाजिक रूप से तथा बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठतम स्त्रियों और पुरुषों को चुनकर कृत्रिम गर्भाधान द्वारा उनकी संतानों की संख्या बढ़ाई जाए । यह एक ऐसा प्रस्ताव था जिसके विरुद्ध सामाजिक, कानूनी तथा धार्मिक आवाजें उठना स्वाभाविक ही था । इस संदर्भ में मुलर ने उदाहरण के तौर पर अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन का नाम लिया था । इसलिए आनुवंशिकीविदों के सामने समस्या आ खड़ी हुई । क्योंकि लिंकन के चार पुत्र थे जिनमें से एक तो अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हुआ । शेष तीन का जीवन भी कोई असाधारण नहीं रहा । इसलिए मुलर का सुझाव भी कारगर नहीं समझा गया ।

हां, बंध्यीकरण कानून की बात विचारणीय है । परन्तु इस संबंध में स्वर्गीय आनुवंशिकीविद् जे. बी. एस. हाल्डेन का मत उल्लेखनीय है कि विकृत व रोगी व्यक्तियों के बंध्यीकरण का प्रभाव समस्त आबादी में फैले हुए हानिकर जीनों के अनुपात को कम करने की दिशा में बहुत कम होगा । इसी प्रकार अत्यल्प संख्या में विद्यमान असाधारण अथवा श्रेष्ठ जीनों की वृद्धि का परिणाम भी समस्त जनसंख्या पर बहुत ही कम दृष्टिगोचर होगा । अन्ततः एक समस्या और भी है और वह यह कि मनुष्य के जो गुण आज श्रेष्ठ माने जाते हैं वही भविष्य में उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक हों न हों । कौन जानता है? ●

ऐलर्जी और आनुवंशिकी

महेन्द्रकुमार अग्रवाल

साधारण भाषा में ऐलर्जी किसी व्यक्ति में किसी पदार्थ विशेष से 'अत्यधिक अनुभूति' उत्पन्न होने को कहते हैं। यह पदार्थ बाद में उस व्यक्ति के लिये हानिकारक होता है। इस पदार्थ को कहते हैं 'ऐलर्जिन'। इस अनुभूति के उत्पन्न होने के बाद जब भी वह व्यक्ति इस पदार्थ के सम्पर्क में आयेगा, उसको अधिक प्रतिक्रिया होगी। प्रतिक्रिया कितनी थोड़ी या अधिक होगी, यह उसकी अनुभूति पर निर्भर करता है। यह प्रतिक्रिया ही ऐलर्जीजन्य बीमारियों की जन्मदात्री है।

साधारणतया ऐलर्जिन स्वस्थ व्यक्तियों के लिये हानिरहित होते हैं। पुष्प पराग, कवक बीजाणु, कीट-पतंगे, भोजन (जैसे दूध, अंडा, उड़द की दाल आदि), पक्षियों के पंख एवं धूल आदि कुछ सामान्य ऐलर्जिन हैं। ऐन्टीजन भी ऐलर्जिन ही होते हैं परन्तु ये अक्सर प्रोटीन या प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेटों के मिश्रण होते हैं। सभी ऐन्टीजन ऐलर्जिन होते हैं परन्तु सभी ऐलर्जिन ऐन्टीजन नहीं होते। उदाहरण के तौर पर धोबी वाली स्याही, टैरीलीन और नाइलोन के कपड़े, पाउडर, लिपस्टिक, फेस क्रीम तथा पेनिसिलिन, सल्फा आदि जैसी बहुत सी दवाइयां ऐलर्जिन हो सकती हैं परन्तु ऐन्टीजन नहीं।

प्रतिपिण्ड (ऐन्टीबाडी)

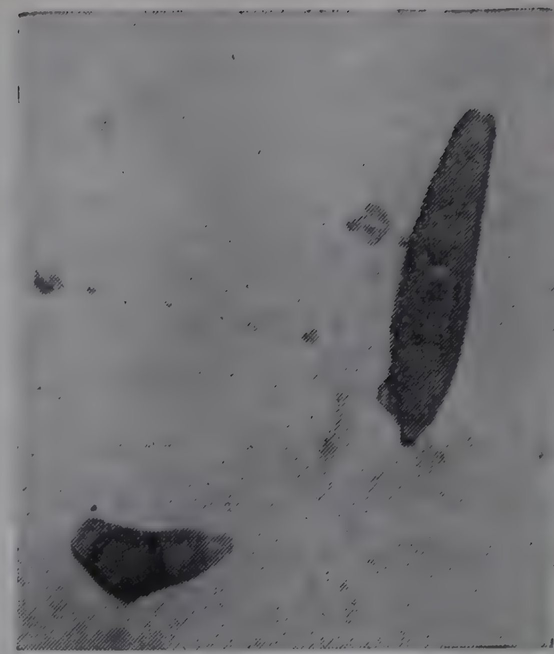
अब प्रश्न उठता है कि एक स्वस्थ मनुष्य को जब किसी पदार्थ से कोई हानि नहीं होती तो फिर दूसरे को उसी पदार्थ से ऐलर्जी क्यों हो जाती है? आइये इसके लिये थोड़ा सा प्रतिपिण्डों के बारे में जानें।

जब ऐन्टीजन स्वस्थ शरीर में किसी रूप में पहुंचता है तो उसके विरुद्ध शरीर अपनी रक्षा के लिये प्रतिपिंड बना देता है। अतः जब वह व्यक्ति फिर इस ऐन्टीजन के सम्पर्क में आता है तो ये विशेष प्रतिपिण्ड फौरन इस ऐन्टीजन से 'जुड़' जाते हैं और इस तरह ये ऐन्टीजन से शरीर को कोई हानि नहीं पहुंचने देते। प्रतिपिण्ड शरीर रक्षा का कार्य करते हैं अतः इन्हें 'रक्षाकारी तत्व' कहते हैं। प्रतिपिण्ड विभिन्न प्रकार के होते हैं। विशेष ऐन्टीजनों के लिये विशेष प्रतिपिण्ड उत्पन्न होते हैं।

दुर्भाग्यवश कुछ प्रतिपिण्ड संवेदनशील होते हैं। इन संवेदनशील प्रतिपिंडों को **रिएगिन** कहते हैं। रिएगिन केवल उन व्यक्तियों में उत्पन्न होते हैं जिनकी प्रतिपिण्ड बनाने वाली कोशिकाओं में कोई शारीरिक या रचनात्मक दोष होता है। जब कोई व्यक्ति ऐसे ऐलर्जिन के सम्पर्क में जिसके लिये उसके शरीर में रिएगिन ऐन्टीबाडी बन चुकी है, आता है तो इस से उसको ऐलर्जिक बीमारी के दौरे आने लगते हैं।

भारत में अनुसंधान

हमारे देश में ऐलर्जी पर अनुसंधान दो स्थानों पर हो रहे हैं: वल्लभभाई पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट, दिल्ली विश्वविद्यालय, और जयपुर में। विगत 13 वर्षों से पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट के ऐलर्जी विभाग में डा. द्वारकानाथ शिवपुरी के निर्देशन में बहुत अनुसंधान कार्य हुआ है। इन्होंने अपने सहयोगियों के साथ

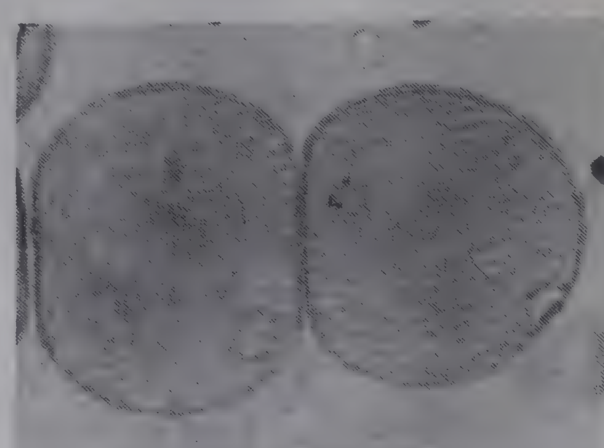


वायु से पकड़े गए दो कवक बीजाणु: करवुलेरिया और हैल्मिन्थोस्पोरियम

ऐलर्जी के विभिन्न क्षेत्रों जैसे पराग कण-ऐलर्जी, कवक बीजाणु-ऐलर्जी, कीट-ऐलर्जी, भोजन, पक्षियों के पंख आदि की ऐलर्जी पर विस्तृत कार्य किया है। अब तक कुल लगभग 200 विभिन्न ऐन्टीजन बनाये जा चुके हैं और अधिक संभावित ऐन्टीजनों पर अनुसंधान हो रहा है।

आनुवंशिकी का प्रभाव

अब प्रश्न उठता है कि कोशिकाओं का वह कौन सा रचनात्मक दोष है जिसके कारण रक्षात्मक प्रतिपिण्डों के बजाय रिएगिन प्रतिपिण्ड बनने लगते हैं। क्या यह दोष वंशागत होता है या स्वतः प्राप्त (एक्वायर्ड)। यह एक विवाद का विषय है और इस बारे में वैज्ञानिकों ने काफी रोचक परिणाम निकाले हैं।



इम्पैरेटा घास के पराग कण

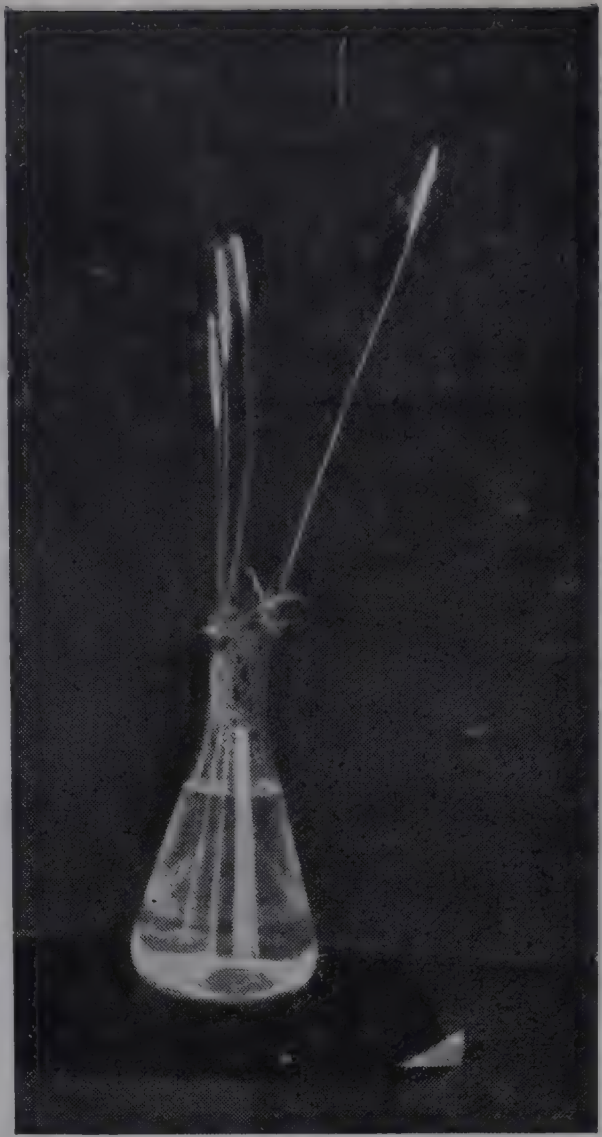
सन 1916 में कुक और वान्डर वीयर ने 504 रोगियों और 139 स्वस्थ व्यक्तियों के पारिवारिक इतिहास का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि उनमें से 244 में यानी 48 प्रतिशत रोगियों में ऐलर्जी का पारिवारिक इतिहास पाया गया जबकि 139 स्वस्थ व्यक्तियों में से केवल 12 प्रतिशत में ऐलर्जी का पारिवारिक इतिहास था। विश्लेषण से पता चला कि जिन व्यक्तियों में ऐलर्जी का इतिहास उभय-पार्श्व (बाइलेटरल फैमिली हिस्ट्री) होता है उनमें बहुधा 10 वर्ष की आयु से पहले ही ऐलर्जी की बीमारियां होने की सम्भावना रहती है। जिनमें एक-पार्श्व (यूनीलेटरल) पारिवारिक इतिहास होता है उनमें 10 और 20 वर्ष की आयु के बीच तथा जिनमें ऐलर्जी का पारिवारिक इतिहास नहीं होता है उनमें 20 वर्ष की आयु के बाद ऐलर्जीजन्य बीमारियां होने की सम्भावना होती है। उन व्यक्तियों में जिनमें ऐलर्जी का उभयपार्श्व इतिहास होता है 67.5 प्रतिशत में; जिनमें ऐलर्जी का एक पार्श्व इतिहास होता है, 60 प्रतिशत में और जिनमें ऐलर्जी का पारिवारिक इतिहास नहीं होता है, 38.6 प्रतिशत में ऐलर्जी की बीमारियां होने की सम्भावना होती है।

माता से या पिता से

यह मानकर कि ऐलर्जी वंशागत होती है, प्रश्न उठता है कि वह विरासत में माता से मिलती है या पिता से। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि यह माता से ही जरायुज संचरण द्वारा मिलती है। पर कुछ वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। ऐलर्जी माता और पिता दोनों से ही विरासत में मिल सकती है। हां, अगर ऐलर्जी सिर्फ माता या केवल पिता में ही हो तो इसके वंशागत होने की सम्भावना कम होती है। अगर ऐलर्जी का इतिहास उभयपार्श्व हो तो इसके वंशागत होने की सम्भावना अधिक होती है।

जुड़वां बच्चों में ऐलर्जी

प्रायः देखा गया है कि जुड़वां बच्चों में अगर एक को ऐलर्जी हो तो दूसरे को भी उसी तरह की ऐलर्जी होती है। वैसे एक जैसे



(श्री करतारसिंह के सौजन्य से)
इम्पैरेटा घास की कुछ बालें

'मातृक जुड़वां' (आइडैन्टिकल ट्विन्स) बच्चों में यह प्रवृत्ति ज्यादा पाई जाती है जब कि भ्रात्रीय जुड़वां (फैटरनल ट्विन्स) बच्चों में यह प्रवृत्ति कम पाई जाती है।

स्पाइक तथा औस्टरटाग ने 1936 में बताया कि उन्होंने 59 जोड़े जुड़वां बच्चों का जिनमें हर जोड़े में से एक बच्चे को ऐलर्जी थी अध्ययन किया। इनमें 34 जोड़े मातृक जुड़वां तथा 25 जोड़े भ्रात्रीय जुड़वां बच्चे थे। उन्होंने पाया कि 34 जोड़े में से 20 जोड़े बच्चों में दूसरे बच्चे को उसी तरह की ऐलर्जी थी जैसी पहले को। बाकी 14 जोड़ों में से 10 जोड़े बच्चों में से दूसरे जुड़वां बच्चे में भी ऐलर्जी की बीमारियां थीं तो सही पर पहले बच्चे से अलग प्रकार की।

दूसरी तरफ 25 जोड़े भ्रात्रीय जुड़वां बच्चों में कुल 6 जोड़े बच्चों में दोनों बच्चों को एक ही तरह की ऐलर्जी थी और बाकी उन्नीस जोड़े बच्चों में से चौदह जोड़ों में दूसरे बच्चे को पहले बच्चे से भिन्न प्रकार की ऐलर्जी की बीमारियां थीं। वैसे मातृक और भ्रात्रीय जुड़वां बच्चों में ऐलर्जी की बीमारियां देखते हुये भी पारिवारिक इतिहास का विशेष स्थान आ जाता है।

इन सभी परिणामों से एक निष्कर्ष निकलता है कि ऐलर्जी की बीमारियों के बहुत से कारकों में आनुवंशिकी एक महत्वपूर्ण कारक है।

आनुवंशिक क्रियाविधि

कुछ वैज्ञानिकों के विचार में ऐलर्जी कारक प्रबल (डॉमिनेन्ट) फैक्टर हैं पर यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि तब सभी उन व्यक्तियों को जिनकी ऐलर्जी का द्विपार्श्व पारिवारिक इतिहास होता है ऐलर्जी होनी चाहिये जब कि लगभग 50 प्रतिशत व्यक्तियों में द्विपार्श्व पारिवारिक इतिहास होने के बाद भी ऐलर्जी नहीं होती। अतः इस विचार की पुष्टि नहीं होती।

वाईनर (1936) के अनुसार ऐलर्जी की वंशागति एक जोड़े जीन से निश्चित होती है तथा ऐलर्जी फैक्टर अप्रबल (रिसेसिव) होता है। साधारण जीन के समयुक्तीय (होमोजाइगस) व्यक्ति स्वस्थ होते हैं तथा वे ऐलर्जी को अगली पीढ़ियों में नहीं फैलाते। ऐलर्जिक जीन के समयुक्तीय व्यक्तियों में अर्थात जिनमें दोनों जीन ऐलर्जी कारक हों, ऐलर्जी प्रायः 10 वर्ष की आयु से पहले ही हो जाने की सम्भावना रहती है। विषम-युक्तीय व्यक्तियों में एक जीन साधारण और एक एलर्जी फैक्टर वाला होता है इसमें से 18 प्रतिशत व्यक्तियों में एलर्जी होती है। पर बाकी व्यक्ति भी अगली पीढ़ियों में ऐलर्जिक बीमारियां फैला सकते हैं।

एक अन्य मत के अनुसार ऐलर्जी की वंशागति एक नहीं कई जोड़े जीन निश्चित करते हैं। अभी तक प्राप्त आंकड़ों से निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐलर्जीजन्य रोगों के पैदा होने के बहुत से कारकों में आनुवंशिकी एक महत्वपूर्ण कारक है। ●

क्या मृत्यु अनिवार्य है ?

बलराम शर्मा

नूतन का संस्करण करने के लिए पुरातन का अन्त अनिवार्य है और मृत्यु के अभाव में जीवन का महत्व नहीं है : इस प्रकार की दार्शनिक व्यवस्थाओं को दोहराने वाला आज के वैज्ञानिक युग में पुराणपंथी ही कहलाएगा । परन्तु आनुवंशिक अनुसंधान 'दुर्भाग्यवश' कदाचित मृत्यु की अनिवार्यता की ओर इंगित करता है ।

प्रायः यह समझा जाता है कि आधुनिक युग में चिकित्सा संबंधी सुविधाओं के कारण मानव की जीवन-क्षमता में वृद्धि हुई है । वस्तु-स्थिति यह है कि चिकित्सा व स्वास्थ्य सेवा में सुधार के फलस्वरूप प्लेग, चेचक, मलेरिया, हैजा, क्षय आदि जैसी कुछ भयंकर बीमारियों के उन्मूलन के कारण अकाल-मृत्यु से मरने वालों की संख्या घटी है, परिणामतः औसत आयु की वृद्धि हुई है । इस विषय में भारत एक ज्वलन्त उदाहरण है । यहां स्वतंत्रता से पहले बड़ी संख्या में बाल-मृत्यु होने के कारण औसत आयु लगभग 27 वर्ष थी । अब औसत आयु बढ़कर 50 वर्ष से ऊपर हो गई है, क्योंकि मृत्युदर, विशेष रूप से बच्चों की मृत्युदर, घट गई है। इसका अथ यह कदापि नहीं कि सारी बीमारियों को समाप्त करने के बाद मानव अमर हो जाएगा । उम्र बढ़ने के साथ-साथ मृत्यु की सम्भावना बड़ी तेजी से बढ़ती जाती है और तीस वर्ष की आयु पार करने के बाद मृत्यु की सम्भावना प्रति आठ वर्ष पर दुगुनी हो जाती है । अनुमान है कि उन्नत देशों में औसत आयु-अवधि 70 वर्ष है । लेकिन वहां भी अगर मृत्यु के कुछ प्रमुख कारणों जैसे कैंसर, हृदय रोग, रक्तस्राव आदि को निकाल दिया जाए तो भी औसत आयु में 10 वर्ष से अधिक वृद्धि नहीं होगी ।

यहां प्रश्न यही उठता है कि क्या आयु-काल का अन्तिम लक्ष्य और प्राणि-जीवन की अनिवार्य सीमा ही मृत्यु है । कुछ वैज्ञानिकों का मत था कि आयु-क्षय के सभी कारणों का पता लगने पर उनका उपचार किया जा सकता है, और यही कारण है कि इस प्रश्न ने वर्तमान जीव-विज्ञान व आनुवंशिक अनुसंधान की एक प्रमुख समस्या का रूप धारण कर लिया है ।

जीर्णता—कोशिकीय स्तर पर

यह मानना अनुचित न होगा कि 'कोशिकीय स्तर पर आयु-क्षय' ही 'जीव स्तर पर आयु-क्षय' का कारण होता है। आयु-क्षय के कई कारण तथा प्रक्रम हो सकते हैं। इनमें से प्रमुख हैं : कुछ विशिष्ट ऊतकों, जैसे स्नायु तन्तु, मांस-पेशी आदि का शिथिल पड़ जाना तथा धीरे-धीरे कोशिका-विभाजन का पूर्ण रूप से रुक जाना। इस परिस्थिति में शरीर के विभिन्न अंगों पर से नियंत्रण हट जाता है।

मानव शरीर में तथा अन्य जंतुओं में भी एक प्रोटीन अधिकतम मात्रा में पाई जाती है, जिसे कोलेजन कहते हैं। कोलेजन की मात्रा शरीर की कुल प्रोटीन की लगभग एक तिहाई होती है। यह चमड़ी, मांस-पेशी तथा संवहन ऊतकों को बांधे रखने का काम करती है। आयु के साथ-साथ कोलेजन कठोर होती जाती है, इसकी लोच कम हो जाती है और फलस्वरूप ऊतक क्षीण होते चले जाते हैं।

प्रयोगशाला में किए गए परीक्षणों से आयु-प्रक्रम के एक और पहलू का स्पष्टीकरण हुआ है। पिछले कुछ दशकों में हुए परीक्षणों से यह निष्कर्ष निकाला गया था कि सिद्धांत रूप में अगर शरीर के जैविक नियंत्रण से ऊतक निकाल कर कोशिकाओं का कृत्रिम रूप से संवर्धन किया जाय तो वे अनन्त काल तक विभाजित होती रहेंगी और आवश्यक खाद्य पदार्थों की समुचित मात्रा मिलते रहने पर इनकी वृद्धि अनन्त काल तक होती रह सकती है। दूसरे शब्दों में मृत्यु की अनिवार्यता का नियम कोशिकाओं पर उसी समय तक लागू रहता है जब तक वे किसी शरीर के अन्दर रहती हैं। हाल में किए गए प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि व्यवहार में कृत्रिम संवर्धन में भी कोशिकाओं के विभाजन की एक निश्चित और कठोर सीमा होती है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि कुछ कोशिकाओं में कृत्रिम संवर्धन के समय कुछ विशिष्ट परिवर्तन होते हैं और ये कोशिकाएं असाधारण रूप धारण कर लेती हैं। इस असाधारण रूप में इनका कृत्रिम विभाजन और प्रजनन असीमित रूप से होता जाता है और कैंसर-ऊतक की भांति प्रयोगशाला में तथा किसी जन्तु के शरीर में प्रविष्ट कराने पर इनकी वृद्धि लगातार होती रहती है।

साधारण व स्वस्थ कोशिकाओं की वृद्धि असाधारण कोशिकाओं के विपरीत एक निश्चित नियम के अनुसार होती है। डा. लियोनार्ड हेफ्लिक तथा उनके सहयोगियों के प्रयोगों से पता चला है कि अगर चार महीने के मानव भ्रूण से प्राप्त फाइब्रोब्लास्ट कोशिकाओं को कृत्रिम परिस्थितियों में संवर्धन का मौका दिया जाय तो वे लगभग 50 विभाजनों के बाद (40 व 60 के बीच में) स्वतः ही विभाजन बन्द कर देती हैं और क्षीण होते-होते मृत्यु को प्राप्त होती हैं।

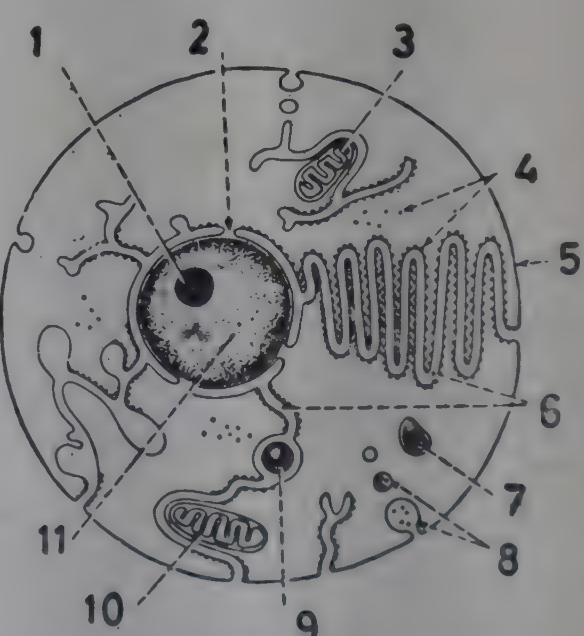
महत्वपूर्ण बात यह है कि इन कोशिकाओं को ठंडे वातावरण में रखकर किसी भी विभाजन-स्तर पर विभाजित करने से रोका जा सकता है और शायद असीमित समय तक वे इस सुषुप्तावस्था में रह सकती हैं। लेकिन इस अवस्था में भी कोशिकाएं यह 'याद' रखती हैं कि वे कितने विभाजन पार कर चुकी हैं और अपनी चरम सीमा तक पहुंचने के लिए उन्हें कितने विभाजन और करने का अधिकार है। अतः अगर उन्हें 20 विभाजनों के बाद शीतबद्ध कर दिया जाय और कई वर्षों के बाद फिर संवर्धन का मौका दिया जाए तो वे लगभग 30 ही विभाजन और कर सकेंगी, इससे अधिक नहीं।

यहां कोशिका-विभाजन की कुल संख्या इस बात पर भी निर्भर करती है कि वे किस उम्र के व्यक्ति से प्राप्त की गई हैं। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि चार महीने के भ्रूण से प्राप्त कोशिकाएं 50±10 (अर्थात् 40 और 60 के बीच) विभाजन से अधिक की क्षमता नहीं रखती हैं। बीस वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों की फाइब्रोब्लास्ट कोशिकाओं की अधिकतम आयु 30±10 विभाजन तथा बीस वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों की कोशिकाएं 20±10 विभाजनों तक ही जीवित रह सकती हैं।

इसी प्रकार विभिन्न जानवरों की तुलना करने पर ज्ञात हुआ है कि अधिक वर्षों तक जीवित रहने वाले पशुओं की कोशिकाओं की विभाजन संख्या उन जानवरों से ज्यादा पाई जाती है जो कम समय में ही अपनी जीवन लीला की समाप्ति कर देते हैं।

निश्चित जीवन काल

इन प्रयोगों से यह भी पता चलता है कि कोशिकाओं की वृद्धि रुकने का कारण उनके अन्दर संचित किसी पदार्थ विशेष का स्खलन अथवा किसी बाहरी तत्व का हानिकारी प्रभाव नहीं है। यहां यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि कोशिकाओं की जीवन-शक्ति का ह्रास जो कृत्रिम प्रयोगों में देखने को मिलता है वह शरीर के अन्दर कोशिकाओं



एक सामान्य जन्तु-कोशिका :

1. न्यूक्लिओलस; 2. रंध्र; 3. माइटोकान्ड्रिया; 4. राइबोसोम; 5. कोशिका भित्ति; 6. अंतःप्रद्रव्यी जालिका; 7. लायसोसोम; 8. पुटिका; 9. स्रावीकण; 10. माइटोकान्ड्रिया; 11. केन्द्रक।

की अपनी प्राकृतिक स्थिति में भी बना रहता है या नहीं। इस संबंध में यह ज्ञात हो चुका है कि मध्यायु के बाद शरीर के विभिन्न अंगों में, विशेषकर मस्तिष्क, वृक्क, जीभ की स्वाद कोशिकाओं आदि की मात्रा घट जाती है और इन अवयवों का भार कम हो जाता है।

अतः हम देखते हैं कि किन्हीं कारणों के अधीन कोशिकाओं की जीवन क्रिया की अवधि सीमित होती है। जिस प्रकार मशीनों की एक औसत कार्य-अवधि होती है, उसी भांति प्रत्येक कोशिका और अन्ततः हर जीव का एक निश्चित जीवन-काल होता है। अच्छी देखभाल तथा पुर्जों के यथासमय परिवर्तन के सहारे मशीनों का कार्य काल बढ़ाया जा सकता है परन्तु उन्हें अनन्त अवधि तक चलाये नहीं रखा जा सकता है। इसी प्रकार शरीर को भी हर समय अपने अन्दर कोशिकाओं में बढ़ते हुए उन परिवर्तनों के साथ लेकर चलना पड़ता है जो उसे बाल्यकाल से मध्यायु के बीच गुजरते हुए बुढ़ापे की ओर ले जाते हैं और जिनकी अन्तिम परिधि है मृत्यु।

आनुवंशिक भूलें

आनुवंशिक अनुसंधानों से हमें ज्ञात होता है कि सारी जीवन क्रियाओं का संचालन कोशिकाओं के अन्दर छिपे हुए गुण सूत्र में भरे डी. एन. ए. (डीआक्सी रिबोन्यूक्लीक एसिड) के द्वारा होता है। सम्भव है कि आयु के साथ-साथ इस अम्ल की क्रिया में ज्यादा से ज्यादा गलतियों का समावेश हो जाता है, जिससे अन्ततः बनने वाले प्रोटीनों और दूसरे पदार्थों की मात्रा व गुणों में परिवर्तन होता है। जिस प्रकार कोलेजन प्रोटीन में मूलभूत परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार उन एंजाइमों में भी परिवर्तन हो सकते हैं जिनकी आवश्यकता कोशिका-विभाजन अथवा डी. एन. ए. द्वारा प्रोटीन निर्माण के समय होती है। एक दिलचस्प बात यह है कि कृत्रिम कोशिका-संवर्धन में जैसे-जैसे कोशिकाओं का विभाजन क्रम आगे बढ़ता है, उनके गुण सूत्रों में विखंडन की दर बढ़ती जाती है। अतः संभव है कि उम्र के साथ-साथ डी. एन. ए. में आमूल परिवर्तन होते हों, जिसका परिणाम कोशिका के अन्दर दूसरी प्रक्रियाओं को भोगना पड़ता है और क्रिया-क्षमता का ह्रास होते-होते जीव परम गति को प्राप्त हो जाता है।

यदि यह धारणा सही है तो इन भूलों की संख्या में वृद्धि उन जीवों में ज्यादा तेजी से होती है जिनकी प्राकृतिक जीवन-अवधि कम होती है और मानव आदि दूसरे प्राणी अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं क्योंकि उनमें इन भूलों की गति धीमी होती है। जिन परिवर्तनों को यहां 'गलती' के नाम से पुकारा गया है वे प्रकृति का एक आवश्यक नियम हैं और तब प्राचीन दार्शनिक सूक्ति में कोई अनौचित्य नहीं रहता कि 'जीवन का लक्ष्य मृत्यु है'। ये गलतियां जीव जैसी क्लिष्ट मशीन में बहुत ही सूक्ष्म आण्विक स्तर पर होती हैं और बुढ़ापा तथा मृत्यु इसी मूलभूत परिवर्तन के दो रूप हैं। इन तथाकथित गलतियों को पूरी तरह समझ लेने के बाद ही यह कहना सम्भव हो सकेगा कि मानव आयु-प्रवाह तथा मृत्यु जैसी क्रियाओं को नियंत्रण करने की क्षमता रखता है या नहीं।

एक करोड़ पृष्ठ : टाइपिस्ट 'जीन'

ब्रिटिश रसायनज्ञ फ्रांसिस एच. सी. क्रिक के अनुमान के अनुसार यदि मनुष्य के समस्त जीनों में सन्निहित निर्देशों को लिख सकें तो पांच सौ पृष्ठों वाली लगभग एक हजार पुस्तकों की आवश्यकता होगी।

मान लीजिए कि इस प्रकार का कार्य आरम्भ भी किया जाये तो सोचिए कि हमें इन खंडों के 5,00,000 पृष्ठों को—एक नहीं बीस-बीस बार केवल टाइप करने के लिए कितनी बड़ी संख्या में योग्य टाइपिस्ट चाहिए। कुल मिलाकर 1,00 00,000 पृष्ठ टाइप करने हैं। अब सोचिए कि टाइप की कितनी गलतियां बेचारे ये 'कल्पित' टाइपिस्ट करेंगे। ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु मोटे तौर पर यह मानना गलत न होगा कि प्रत्येक 20 पृष्ठ के दौरान कम से कम एक गलती अवश्य होगी। दूसरी ओर हमारे शरीर को देखिए। इस इतने बड़े कार्य 'आदेश-निदेशों को नकल करने का काम को, शरीर में विद्यमान जीन कितने सुचारु रूप से करते हैं। शुक्राणुओं और अण्डकोशिकाओं को जन्म देनेवाला एक ही कोश बीस-तीस बार विभाजित होकर लाखों कोशिकाओं को जन्म देता है। हर विभाजन की प्रक्रिया में क्रोमोसोम अपनी प्रतिकृति बनाते हैं और इस प्रकार ये उन कल्पित टाइपिस्टों को टाइप करने के लिए दिए गए 1,00,00,000 पृष्ठों को टाइप करने में प्रति 10,000,000 पृष्ठ पर केवल एक गलती करते हैं।

—धर्मेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

संचारी रोगों का नियंत्रण और आनुवंशिकी

एन. जी. एस. राघवन

गत कई वर्षों में कीट जननशास्त्रियों ने आनुवंशिकी के अध्ययन में विशेष रुचि ली है। कीटों का अध्ययन करते समय दो ही प्रमुख बातें हमारे सामने आती हैं— एक तो कीटों द्वारा होने वाली आर्थिक क्षति और दूसरे उनके द्वारा फैलने वाले रोग।

संचारी रोगों का अध्ययन वस्तुतः भूमध्यसागरीय क्षेत्र में पायी जाने वाली फल-मक्खी **ड्रोसोफिला मिलेनोगेस्टर** से आरम्भ किये गये थे और तब से अब तक हम यह जानने में सफल हुए हैं कि किस प्रकार मलेरिया, फाइलेरिया, प्लेग जैसी बीमारियां इनसे फैलती हैं।

अतः समस्त मानवता के हित में इन रोगों के उपचार की अपेक्षा वे उपाय खोजने आवश्यक हो गये जिनसे इन कीटों का विनाश सम्मव हो सके। हमारे देश में संचालित राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन की अनेक योजनायें इसका उदाहरण हैं।

हमारे वास्तविक शत्रु हैं रोगवाही कीट और उनसे बड़े शत्रु हैं कीटवाही बड़े-बड़े कीट जैसे मच्छर और मक्खियां। गत दो दशाब्दियों के प्रयासों के बावजूद हम मच्छरों के कुप्रभाव से अछूते नहीं हैं। समस्या यह है कि कीटनाशी दवाइयां जितना प्रभाव करती हैं उससे भी अधिक उनकी जनन-गति है। थोड़े भी रोगवाही कीट यदि बच रहें, तो शीघ्र ही उनकी संख्या पुनः बढ़ने लगती है। इतना ही नहीं, कीटनाशी दवाइयों के अधिकाधिक प्रयोग के साथ-साथ रोगवाही कीटों की सहन और प्रतिरोध क्षमता भी बढ़ती जाती है।

आनुवंशिकी ने इस समस्या को एक नया समाधान दिया है। रोगशास्त्रियों ने सोचा कि क्यों न रोगवाही कीटों की एक प्रजाति के साथ ऐसी दूसरी प्रजाति को संलयित कर दिया जाये जिससे कि उनकी उत्पादन क्षमता न्यूनतम हो जाये। इस प्रकार समूल विनाश न सही, किन्तु कम से कम उनकी रोकथाम तो हो ही सकती है।

आनुवंशिक कीट नियन्त्रण पद्धति

इस पद्धति के अन्तर्गत कीटों के उन गुणों का लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है जिनसे उनकी प्रजातियों में प्रजनन क्षमता बहुत घट जाये।

उदाहरणार्थ नर मच्छरों में रक्त पीने की आदत नहीं होती। अतः कुछ नर मच्छरों की प्रजनन शक्ति नष्ट करके उन्हें छोड़ दिया जाय तो उनके साथ मिल कर मादा मच्छरों द्वारा दिये गये अंडों से बच्चे नहीं पैदा होते। इस विषय में भारत में अनुसन्धान निम्न दो दिशाओं में चल रहा है।

नर बंध्यीकरण पद्धति : नर मच्छरों के बंध्यीकरण हेतु विकिरण अथवा रासायनिक विधियां अपनायी गयी हैं। विकिरण की भांति ही कुछ रसायनों से भी प्रजनन शक्ति नष्ट की जा सकती है। एजिरिडीन जैसे अल्कलीकारक रसायनों के प्रभाव से देखा गया है कि यदि शुक्राणु और अंडाणु समुचित दशा में हैं तो भी संलग्न के पश्चात अंड-विकास पूर्णतः नहीं हो सकता।

कोशिका-द्रव विसंगति पद्धति : भौतिक एवं रासायनिक विधियों के अतिरिक्त **क्यूलेक्स पिपियेन्स** तथा **ईडीज स्कुटेलरिस** जैसी मच्छरों की जातियों में कोशिका-द्रव की विशिष्ट संरचना के कारण एक प्रजनन विभेदी प्रवृति का पता चला है जबकि **एनाफिलीज गैम्बी** में यह प्रवृति क्रोमोसोमीय विभाजन में आने वाली प्राकृतिक त्रुटियों के कारण होती है।

इन दोनों विधियों में बंध्य मच्छरों को प्रजनन के लिये छोड़ दिया जाता है और फिर उनके प्रभाव की आगे चल कर प्रतीक्षा की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति पर्याप्त प्रभावकारी होती है। किन्तु इसके लिये आवश्यक यह है कि बंध्य नर मच्छर इतनी संख्या में छोड़े जायें कि मादाओं के उनके साथ संलयन का संयोग सामान्य नर मच्छरों की अपेक्षा अधिक हो, साथ ही नियमित रूप से बन्ध्य मच्छरों को छोड़ते रहना भी जरूरी है।

आनुवंशिक नियन्त्रण के तरीके केवल उन्हीं कीटों के साथ इस्तेमाल किये जा सकते हैं जो बड़ी संख्या में सामूहिक रूप से एक ही स्थान पर फैलते हैं और लगभग हर मौसम में पैदा होते हैं।

क्यूलेक्स पिपियेन्स फैटीगन्स मच्छर

ईसापूर्व छठी शताब्दी के भारतीय औषधशास्त्री सुश्रुत ने अपनी **सुश्रुत संहिता** में फाइलेरिया रोग के लक्षणों का उल्लेख किया है और उसके एक हजार वर्ष बाद सातवीं शताब्दी में माधवाकर ने अपने **माधव निदान** में इस रोग का वर्णन किया। इस प्राचीन रोग की इतनी लम्बी परम्परा का श्रेय हमारे घर-घर में पाये जाने वाले **क्यूलेक्स पिपियेन्स फैटीगन्स** किस्म के मच्छर को है जो आज भी देश की लगभग दो करोड़ दस लाख जनसंख्या के लिये सिरदर्द बना हुआ है। इसको जन्म देने वाली हैं गांवों और शहरों में जगह-जगह भरे हुए पानी में मिली गंदगियां।

दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान में इस मच्छर के आनुवंशिक नियन्त्रण पर हुए अनुसन्धान की कुछ उपलब्धियां इस प्रकार हैं:—

रासायनिक बन्ध्यीकरण

इस क्यूलेक्स के लार्वाओं को एफोलेट नामक रसायन से उपचारित करने पर देखा गया कि नर और मादा दोनों प्रकार के मच्छरों का बन्ध्यीकरण इसके द्वारा संभव है। इसके लिये मच्छरों को एफोलेट धूलि धूसरित कर देना पर्याप्त होता है और इससे दो लाभ रहते हैं—एक तो यह कि केवल आधे मिनट में बड़ी संख्या में मच्छरों का बन्ध्यीकरण हो जाता है और दूसरे बचे हुए एफोलेट को दुबारा इस्तेमाल में भी लाया जा सकता है। प्यूपा बन जाने पर भी उचित रसायनों—यथा टेपा तथा हेम्पा से क्रमशः तीन घंटे और आधे घंटे उपचार करने पर मच्छरों की जीवनावधि को कम कर सकना संभव है। एफोलेट से बंध्य नर मच्छर साधारण मच्छरों की अपेक्षा मादा मच्छरों से मिलने में अधिक सक्रियता दिखाते हैं। साथ ही मादा मच्छरों पर भी इस चूर्ण का बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है। साधारण मादा मच्छरों की अपेक्षा एफोलेट से उपचारित मादाओं पर परजीवाणुओं का दुष्प्रभाव अपेक्षाकृत बहुत कम पड़ता है।

कोशिकाद्रवीय विसंगति

क्यूलेक्स पिपियेन्स प्रजाति की कई उप-प्रजातियां हैं—पिपियेन्स, फैटीगन्स, मालेस्टस, पैलेन्स, आस्ट्रेलिकस, ग्लोबोकाक्सिटस आदि। देखा गया है कि कभी-कभी इन विभिन्न 34 प्रजातियों के परस्पर संयोग से सन्तानोत्पति नहीं होती। कभी ऐसा एक ही दशा में होता है और कभी-कभी दोनों दशाओं में। उदाहरणार्थ 'क' वर्ग के नर को 'ख' वर्ग की मादाओं के साथ करने पर संतानोत्पति स्वाभाविक रूप से होती रहती है किन्तु 'ख' वर्ग के नर से 'क' वर्ग की मादायें सन्तान उत्पन्न नहीं करतीं। इसे एकदिश विसंगति कहते हैं।

जब दोनों दशाओं में सन्तान नहीं होती तो उसे द्विदिश विसंगति कहा जाता है। समझा जाता है कि यह विसंगति कोशिका-द्रव की विशिष्ट संरचनाओं के कारण होती है। ऐसी दशा में शुक्राणु के न्यूक्लियस के चारों ओर अंडाणु से मिलने के पूर्व ही जनित्र कोश द्रव की एक पतली तह जम जाती है। इन परिणामों के आधार पर पिपियेन्स की सामान्यतः उपलब्ध बीस उप-प्रजातियों में से ऐसे 'युगल' प्रस्तुत किये जाने की संभावना है जिससे कि संतानोत्पति पर आनुवंशिक पद्धति से नियन्त्रण किया जा सके।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसका क्षेत्रीय परीक्षण रंगून के निकट एक गांव में किया था। दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान में भी इस विषय पर अनुसन्धान किया जा रहा है कि क्या भारत में विद्यमान मच्छरों की किस्मों में इस प्रकार के किसी संयोग की संभावना है। देश की विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों से कुल मिला कर 30 किस्म की उपप्रजातियां अब तक एकत्रित की जा चुकी हैं और उनके 400 युग्मों पर अब तक परीक्षण हो चुका है। थुरावूर, केरल, की मादाओं और दिल्ली के नर मच्छरों में विसंगति का संकेत मिलता है। इनसे बने अंडे भ्रूणयुक्त तो होते हैं किन्तु उनसे लार्वा तैयार नहीं होता। इनकी विसंगति एकदिश है।

नियन्त्रण की संभावनायें

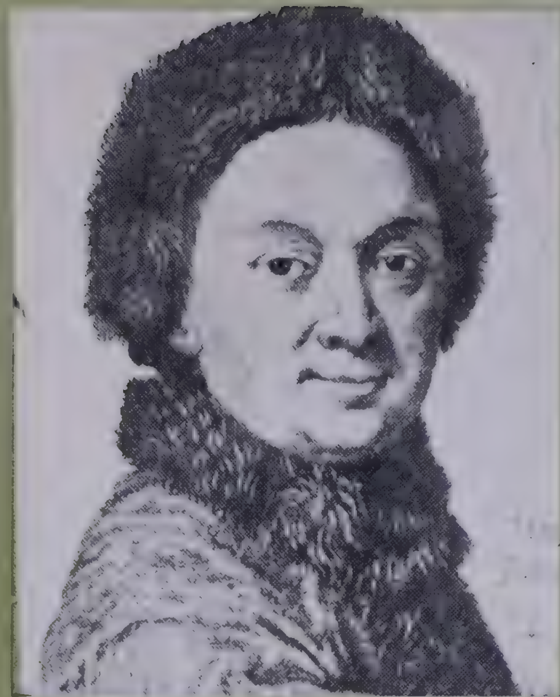
जीव-परिस्थितिकीय गुणों वाली उपप्रजातियों में आनुवंशिक नियन्त्रण की विधि अन्य प्रचलित विधियों की अपेक्षा अधिक अच्छी है। इस दिशा में अनुसन्धान कार्य चल रहा है। प्राप्त परिणामों के आधार पर क्षेत्रीय परीक्षण अभी किये जाने हैं। अनेक मौलिक तकनीकी तथा परिस्थितिकीय तथ्यों के विषय में जानकारी अभी प्राप्त करनी है।

अनुसन्धान कार्यों के स्पष्ट परिणाम प्राप्त होने पर यह अनुमान लगाना संभव हो सकेगा कि इन रोगवाही कीटाणुओं के समूल विनाश में आनुवंशिक नियन्त्रण की योजना कहां तक अपनी भूमिका निभा सकती है।

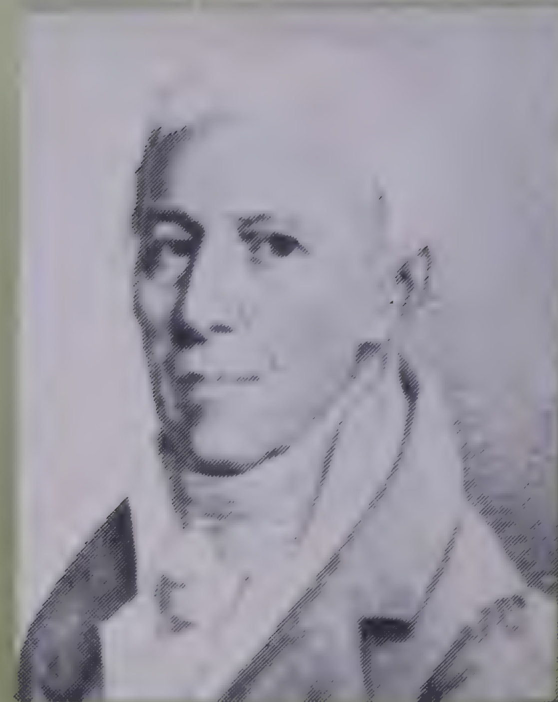
'मुझे विश्वास है कि न्यूक्लिक अम्ल की रचना पर प्रकाश डालना हमारे सामने सबसे महत्वपूर्ण वैज्ञानिक समस्या है। परमाणु की रचना से संबंधित किसी भी समस्या की अपेक्षा यह कहीं अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि न्यूक्लिक अम्ल का सीधा संबंध हमारे जीवन से है।'

—वैन्डेल स्टेनले

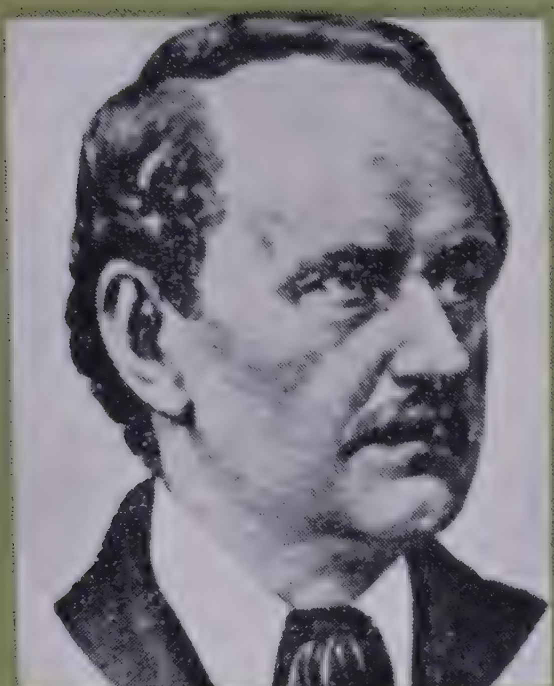
आनुवंशिकी की विभूतियां



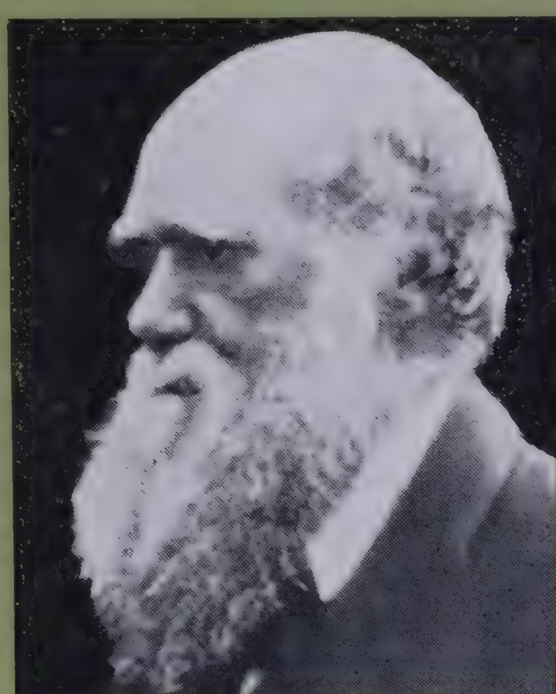
पियरे लुई मौपेरट्युई
(17.7.1698—27.7.1759)



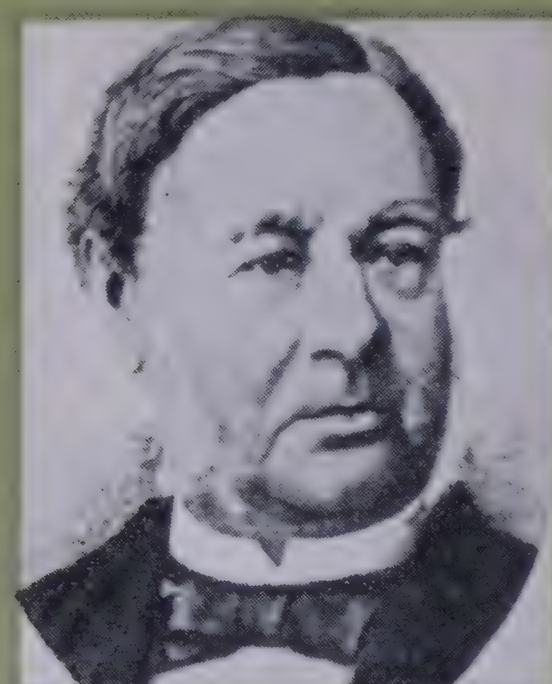
ज्यां बैप्तिस्ते पियरे लैमार्क
(1.8.1744—18.12.1829)



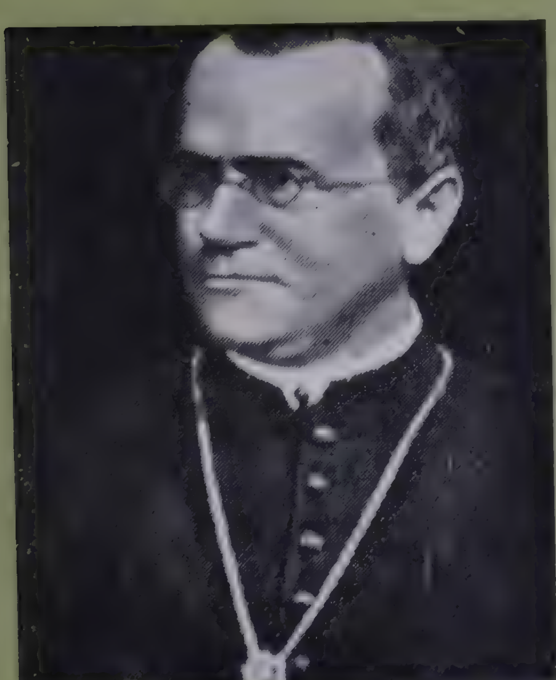
मेथिआज जैकब श्लाइडेन
(5.4.1804—23.6.1881)



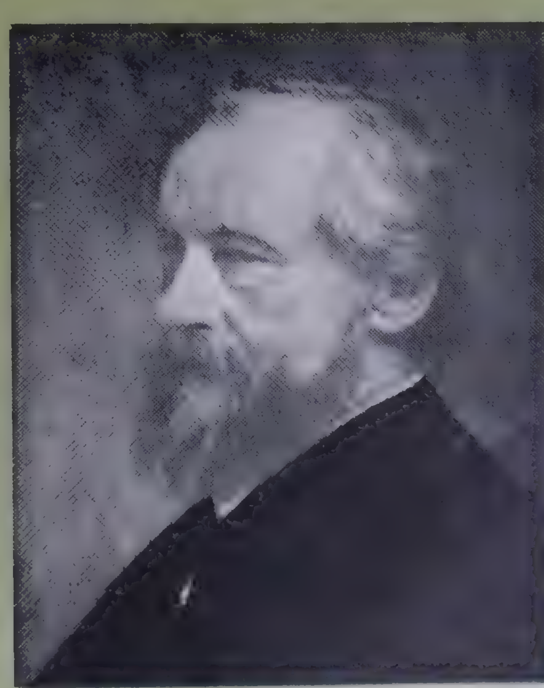
चार्ल्स राबर्ट डार्विन
(12.2.1809—19.4.1882)



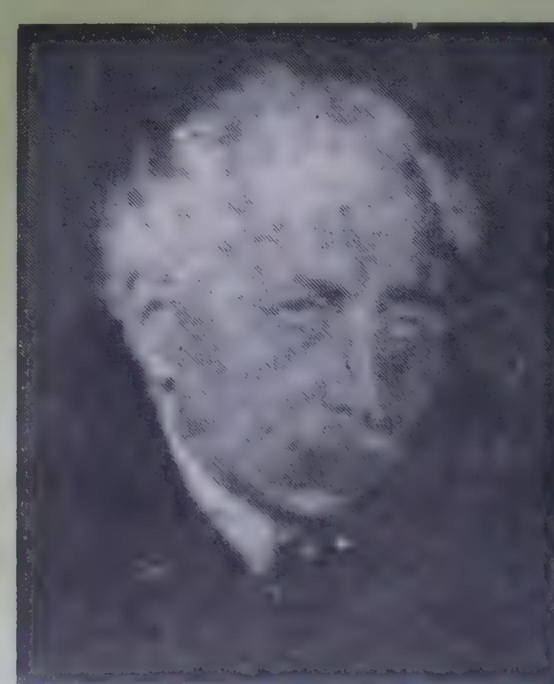
थियोडोर श्वान
(7.12.1810—11.1.1882)



ग्रेगर योहान मेंडल



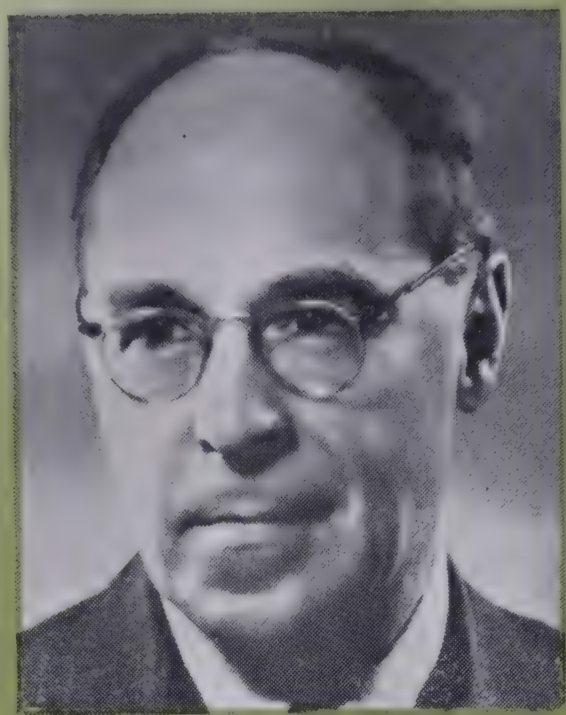
ह्यूगो डी व्रीज



विलियम बेटसन



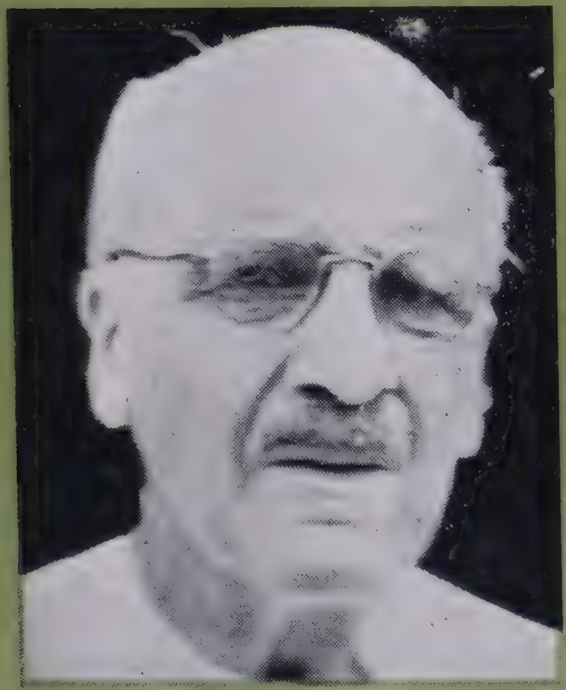
थामस हन्ट मॉर्गन
(25.9. 1866––4. 12. 1945)



हरमैन जोसेफ मुलर
(21. 12. 1890––)



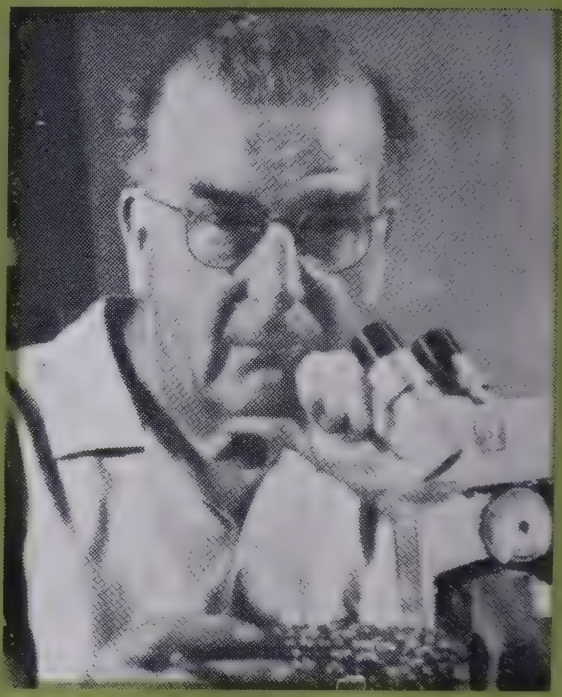
अल्फ्रेड हैनरी स्टर्टेवान्ट
(21. 11. 1891––)



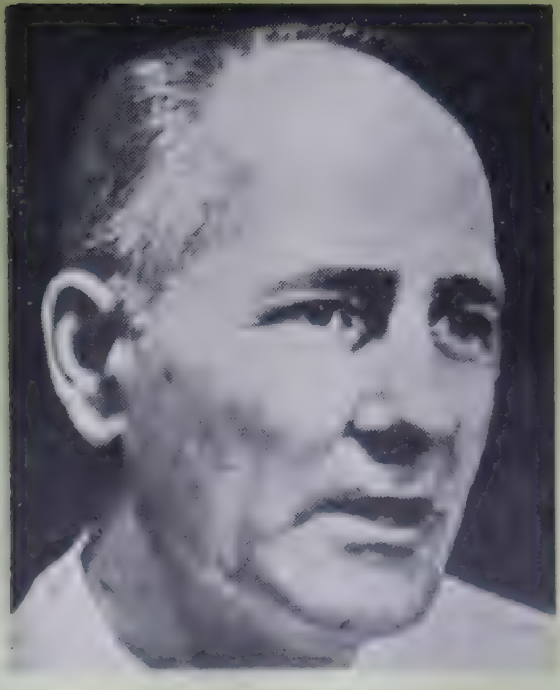
जॉन बर्दन सैन्डरसन हाल्डेन
(8.8. 1892––8. 2. 1964)



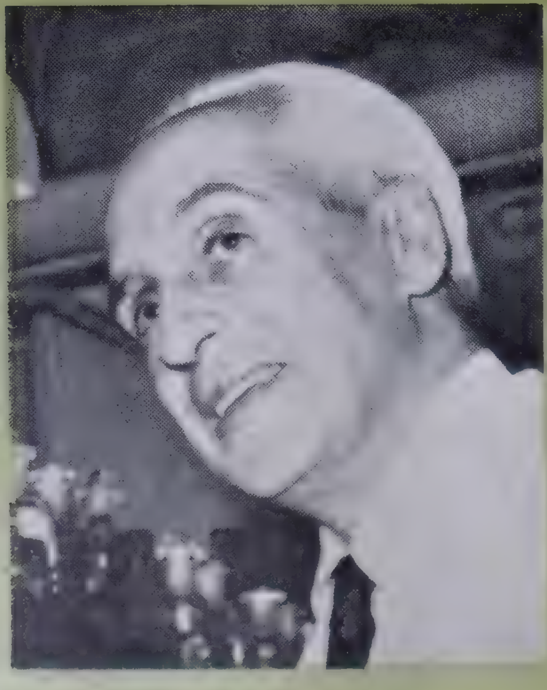
लेविस जान स्टैडलर
(1896–1954)



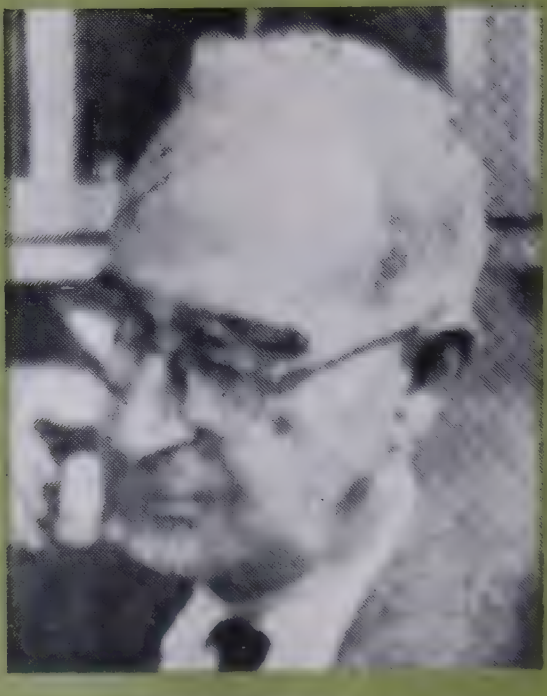
रॉयल अलैक्जेन्डर बिंक्र
(16. 9. 1897––)



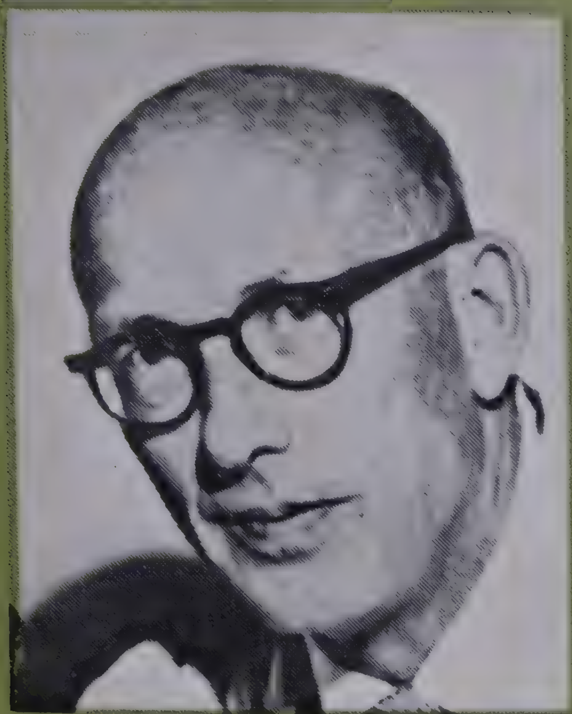
जार्ज वैल्स बीडल



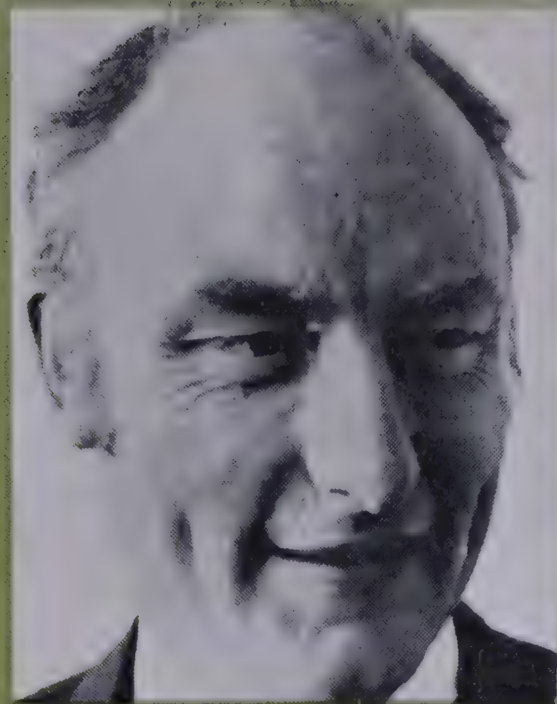
मेवेरो आंकोआ



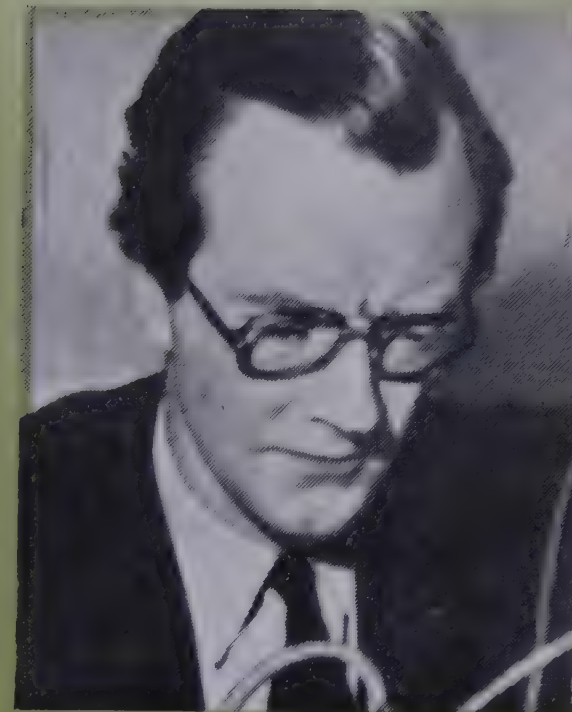
ट्रेसी मार्टन सोनबोर्न



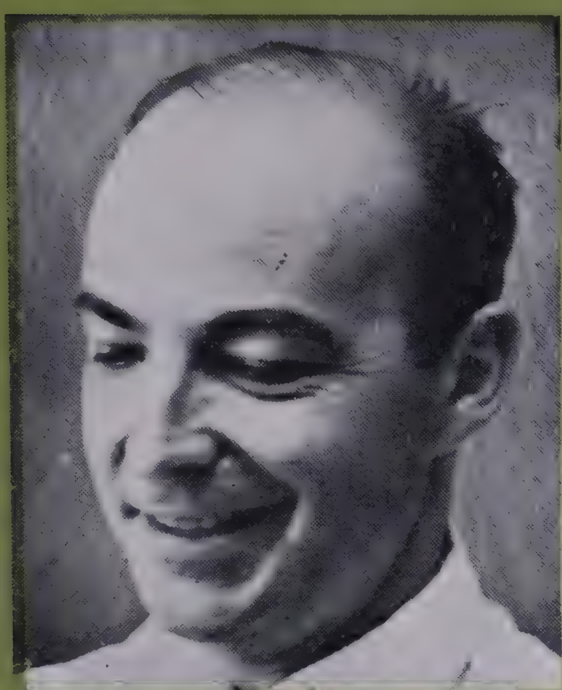
एडवर्ड लॉरी टायटम
(14. 12. 1909--)



फ्रांसिस हैरी काम्पटन क्रिक
(8. 6. 1916—)



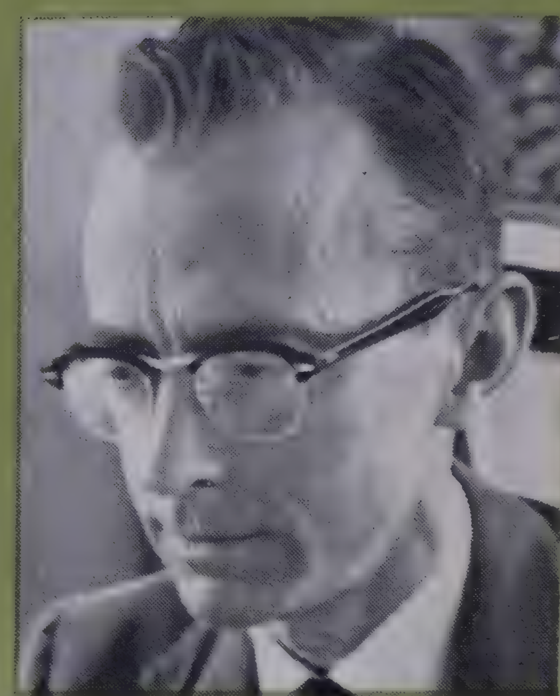
मारिस ह्यू फ्रेडरिक विल्किन्स
(15. 12. 1916—)



आर्थर कोर्नबर्ग
(3. 3. 1918—)



सीमूर बैंजर
(15. 10 1921—)



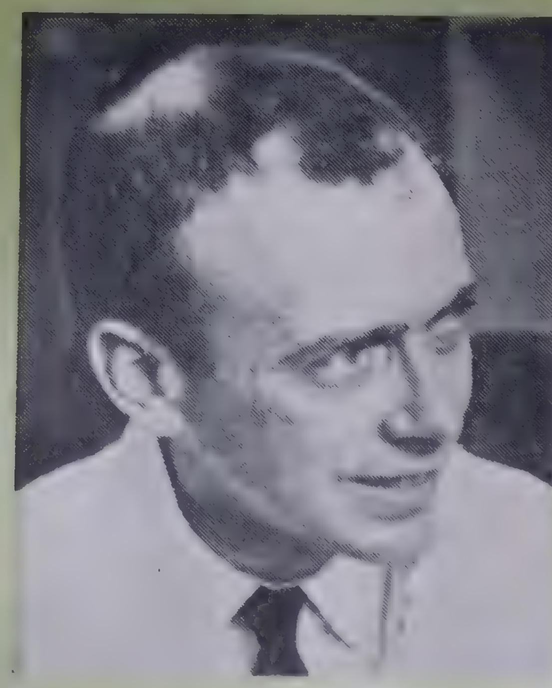
राबर्ट डब्ल्यू. हॉले
(28. 1. 1922--)



जोशुआ लीडरबर्ग



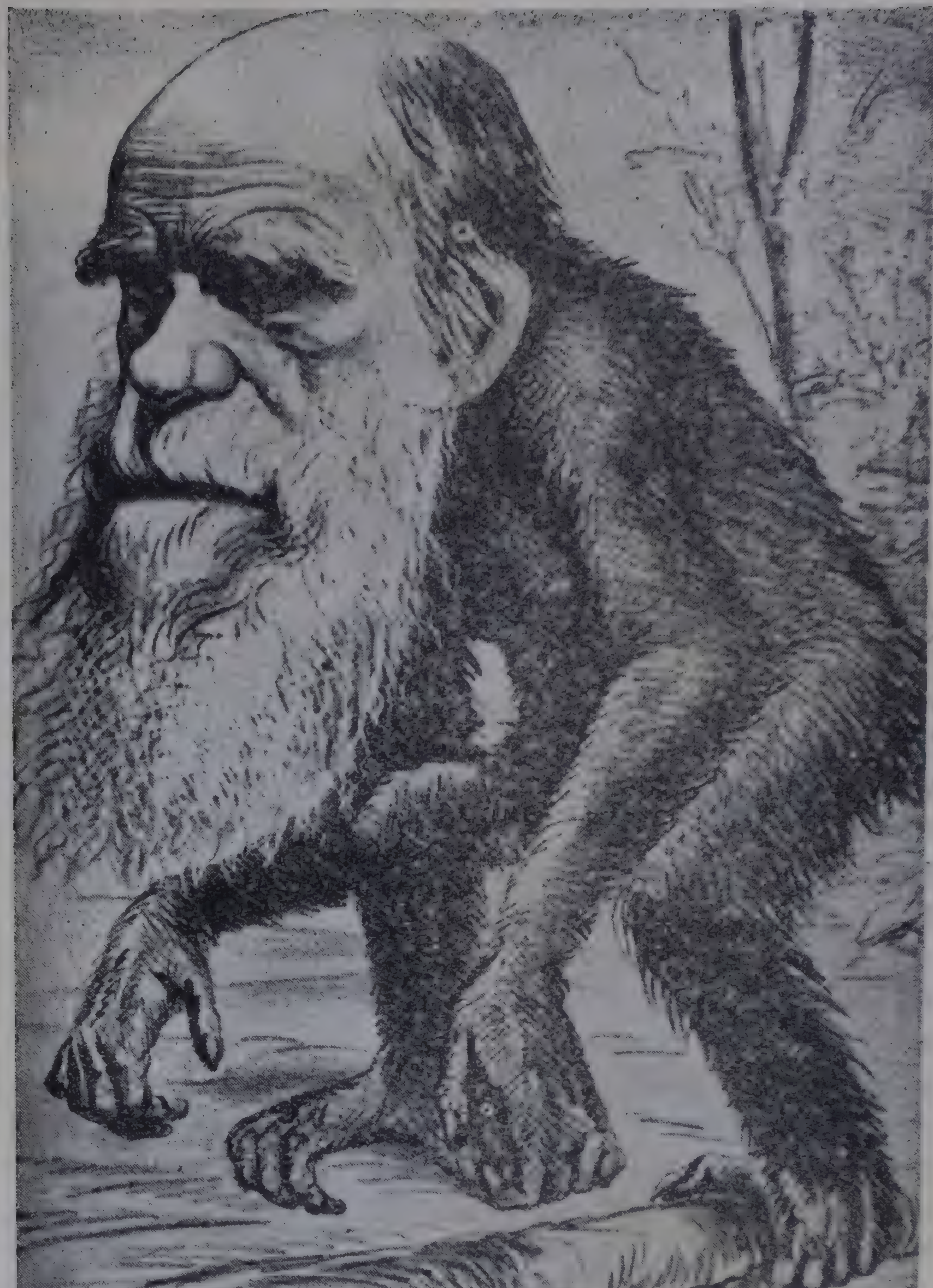
मार्शल डब्ल्यू. निरेनबर्ग



जेम्स ड्युई वाटसन



हरगोबिन्द खुराना (९.१.1922—)



कुछ महत्वपूर्ण आनुवंशिकीविद्

विकासवाद के प्रणेता
चार्ल्स डार्विन

राजेन्द्र सिंह

उन्नीसवीं शती के पूर्व तक सृष्टि के विकास संबंधी तथ्यों पर विचार नहीं किया गया था। यद्यपि इस संबंध में अनेक व्यक्तियों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किए थे परन्तु वे उनका कोई प्रमाण नहीं दे सके थे। चार्ल्स डार्विन ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपने सिद्धान्तों को प्रमाणित किया और यह बताया कि धर्म-पुस्तकों में लिखित यह विचार, कि ईश्वर ने स्वयं सृष्टि की रचना की है, असत्य है। सृष्टि ईश्वर की देन नहीं, अपितु करोड़ों वर्षों के क्रमिक विकास का सहज परिणाम है। डार्विन ने विकासवाद से संबंधित तथ्यों को बताया, साथ ही ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाएं जैसे वनस्पतिशास्त्र, मानवशास्त्र, जन्तुशास्त्र, पशु विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के बढ़ाव को सक्रिय योगदान भी दिया।

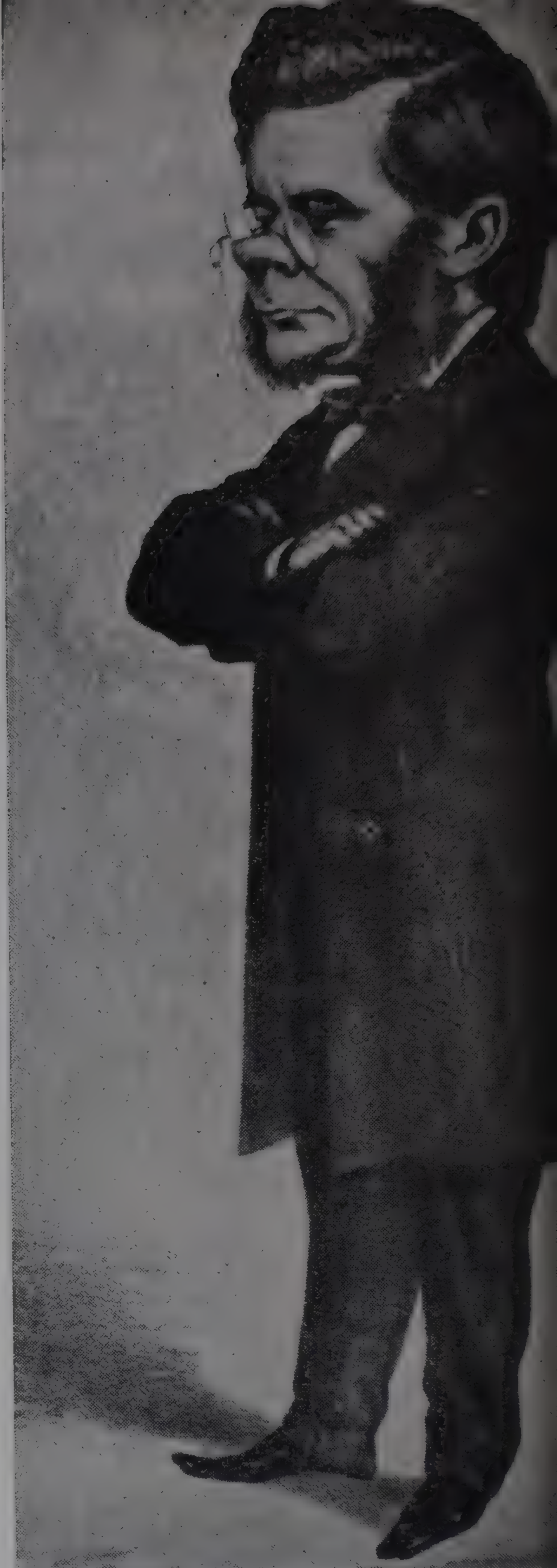
प्रारम्भिक जीवन

राबर्ट चार्ल्स डार्विन का जन्म 12 फरवरी, 1809 को श्रसबरी के एक सम्मानित परिवार में हुआ था। पिता शैर्बा डार्विन अपने समय के विख्यात चिकित्सक तथा रायल सोसायटी के मनोनीत सदस्य थे। चार्ल्स की प्रारम्भिक शिक्षा श्रसबरी के स्कूल में हुई थी। बालक चार्ल्स का मन कक्षा में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में नहीं लगता था। स्कूल में पढ़ते समय भी उसका मन हरे-भरे मैदानों की तरफ लगा रहता था। चार्ल्स को जन्तुओं तथा वनस्पतियों का अध्ययन करने का शौक था। वह वनस्पति आदि का संग्रह भी किया करता था। चार्ल्स के पिता को उसका यह अनोखा शौक अच्छा नहीं लगता था। इस शौक से चिढ़कर एक रोज उन्होंने चार्ल्स से कहा 'बेटे! कुत्ते और बिल्ली पकड़ने के सिवाय तुम किसी की परवाह नहीं करते हो, यह तुम्हारे और परिवार के लिए बेइज्जती की बात है'। लेकिन चार्ल्स के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। चार्ल्स के स्कूल के प्रधानाचार्य को भी उसका यह शौक अच्छा नहीं लगता था तथा उन्होंने चार्ल्स की रिपोर्ट उसके पिता से की थी। चार्ल्स के पिता को जब पुत्र की असंतोषजनक रिपोर्ट मिली तो बहुत नाराज हुए तथा उन्होंने चार्ल्स डार्विन को स्कूल से उठा लिया।

पिता पुत्र को अपने ही समान एक कुशल डाक्टर बनाना चाहते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर उनका नाम एडिनबरा के एक चिकित्सा विद्यालय में लिखा दिया गया। पर वहां भी भावुक डार्विन का शरीर डाक्टरों के बीच होता तथा मन प्रकृति की सुन्दर गोद में। वह विद्यार्थियों की 'नेचुरल हिस्टरी सोसायटी' के सदस्य बन गये और चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करने के बजाय वह जीवधारियों के अध्ययन में लगे रहते।

शिक्षा

प्रकृति विज्ञान में 18 वर्ष की अल्प आयु में ही डार्विन ने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। चिकित्सा विज्ञान में उनका ज्ञान कोरा ही था। अन्त में पिता ने निराश होकर इनको चर्च का पादरी बनाने की सोची। इसके लिए चार्ल्स को कैम्ब्रिज भेज दिया गया। चार्ल्स को ग्रीक भाषा का अच्छा ज्ञान नहीं था। पादरी को ग्रीक भाषा का ज्ञान होना आवश्यक होता था। अतः 1828 में चार्ल्स को ग्रीक भाषा का अध्ययन करने के लिए अन्य स्कूल में भेज दिया गया। यहां भी उनका मन अध्ययन



डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के कट्टर समर्थक व डार्विन के समकालीन टामस हेनरी हक्सले।



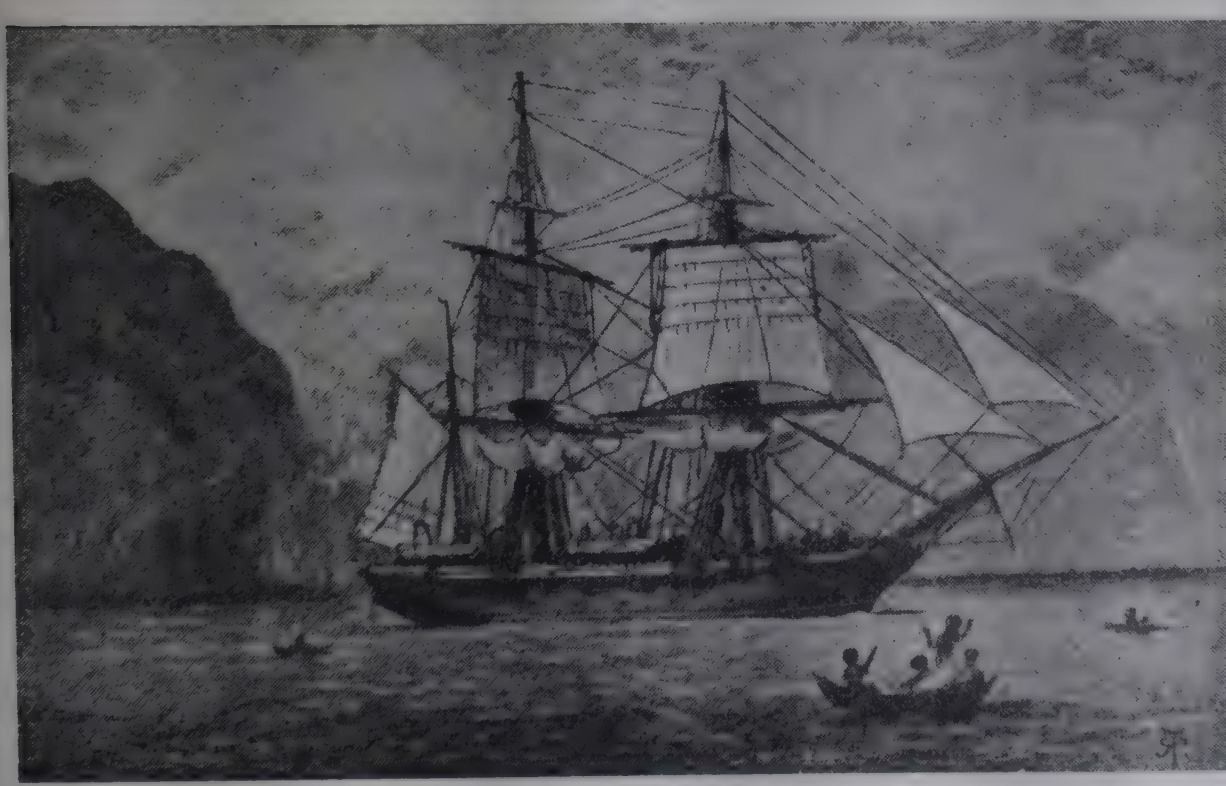
इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लार्ड केलविन जिन्होंने अपने इस तर्क से कि 'भौगर्भिक समय का पैमाना डार्विन के अनुमान की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित है' डार्विन के विकासवाद सम्बन्धी आत्म विश्वास को डगमगा दिया।

में नहीं लगा। वह पादरी बनना नहीं चाहते थे, पर उसकी शिक्षा लेते रहे तथा 1831 में परीक्षा भी दी।

परीक्षा देने के बाद भी डार्विन भविष्य के बारे में सोचते रहते। कभी पादरी बनने की सोचते और कभी वैज्ञानिक। इसी समय उनका परिचय उस समय के विख्यात वनस्पतिशास्त्री हेन्स्लो से हुआ। हेन्स्लो से डार्विन को प्राकृतिक विषयों में यथोचित शिक्षा मिली। इसके बाद उनका संबंध अन्य प्रकृतिविदों से भी हुआ। पादरी की परीक्षा देने के बाद, छुट्टियों में डार्विन अपनी रुचि की पुस्तकों को पढ़ते रहते। इसी समय उन्होंने हमबोल्ड लिखित एक पुस्तक पढ़ी जिसमें मध्य अमेरिका की प्रसिद्ध यात्राओं का विवरण दिया गया था तथा दूसरी पुस्तक 'स्टडी आफ नेचुरल फिलासफी' जिसमें सर जान बेल्स ने वैज्ञानिक अनुसंधानों के सिद्धान्त और लक्ष्य बताए थे, पढ़ी। इन पुस्तकों को पढ़कर डार्विन वैज्ञानिक बनने की सोचने लगे तथा विश्वभ्रमण करने की उनकी इच्छा प्रबल हो गई।

महत्वपूर्ण यात्रायें

हेन्स्लो की सलाह मान कर डार्विन पहले ऐडमसैजविक के साथ उत्तरी वेल्स की यात्रा पर गये। यहां भूतत्व से संबंधित अनुभव प्राप्त किये। यात्रा से लौटने पर चार्ल्स को हेन्स्लो का एक पत्र मिला। पत्र में उनसे कैप्टेन फिट्जराय के साथ, प्रकृति अन्वेषक के रूप में विश्वयात्रा पर जाने का अनुरोध किया गया था। पत्र पढ़कर डार्विन पिता के पास यात्रा पर जाने के लिये अनुमति प्राप्त करने गये। पर डार्विन को उस समय बड़ी निराशा हुई जब पिता ने नकारात्मक उत्तर दिया। डार्विन के चाचा जोसीहा वैजवुड के समझाने के बाद किसी भांति, पिता ने डार्विन को यात्रा के लिए अनुमति दी। 27 दिसम्बर, 1831 डार्विन के लिए बड़ा शुभ तथा महत्वपूर्ण दिन था। इसी दिन डेवनपोर्ट बन्दरगाह से बीगल नामक जहाज पर सवार होकर डार्विन विश्व यात्रा पर निकले थे। डार्विन जहां से भी गुजरते, अपने अनुभवों, वहां की वनस्पतियों तथा जन्तुओं के बारे में लिखते रहते। इस यात्रा में डार्विन ने विशेष रूप से टैनीरीफी की बर्फीली चोटियों, ब्राजील के घने जंगलों, क्यूगो के असभ्य वातावरण, इण्डीज प्रदेश में समुद्र के किनारे के द्वीप तथा क्रमशः धरती का ऊपर की तरफ उठना तथा आग्नेय द्वीपों के विशालकाय पशु-पक्षियों को देखा और प्रभावित हुए। प्रकृति की विविधतायें उन्हें अच्छी लगीं और वह इनके बारे में सोचते तथा तमाम कठिनाइयों के बावजूद इन विविधताओं के रहस्य का पता लगाते। उन्हें घर से निकले अधिक समय हो गया था, पर ज्ञान की पिपासा ने तरुण वैज्ञानिक को सदैव लक्ष्य की ओर बढ़ाया। पांच वर्ष तक इसी भांति प्रकृति का अवलोकन करके डार्विन 1836 में इंग्लैंड वापस आ गये।



विज्ञान के इतिहास का सुप्रसिद्ध जहाज एच. एम. एस. 'बीगल' जिस पर डार्विन ने प्रकृति का अध्ययन करने के लिए प्रथम यात्रा सम्पन्न की।

मुख्य कार्य

यात्रा के पश्चात डार्विन का स्वास्थ्य अत्यधिक गिर गया था। पर इंग्लैंड पहुंचने पर जब उन्हें पता चला कि यहां के निवासी उनकी यात्रा के बारे में जानना चाहते हैं, तो उसी समय डार्विन ने दो पुस्तकें लिखीं। प्रथम पुस्तक में मुख्य रूप से दक्षिणी अमेरिका तथा दूसरी में आग्नेय द्वीपों से संबंधित यात्राओं तथा वहां पाई जाने वाली वस्तुओं का विवरण था। इसके थोड़े समय के बाद डार्विन ने अपनी विख्यात पुस्तक **'दि ओरिजिन आफ स्पीसिज'** लिखनी प्रारम्भ की। उक्त पुस्तक के लेखन काल में ही डार्विन की शादी 'एमा' नामक युवती से हुई। ओरिजिन आफ स्पीसिज के बाद डार्विन ने मानव विकास से संबंधित एक पुस्तक 'डिसेन्ट आफ मैन' लिखी।

डार्विन ने जिन मुख्य विचारों को प्रतिपादित किया, ऐसा ही विचार उनके पितामह के समकालीन वैज्ञानिक लायल, माल्थस आदि ने भी प्रकट किया था परन्तु इन लोगों

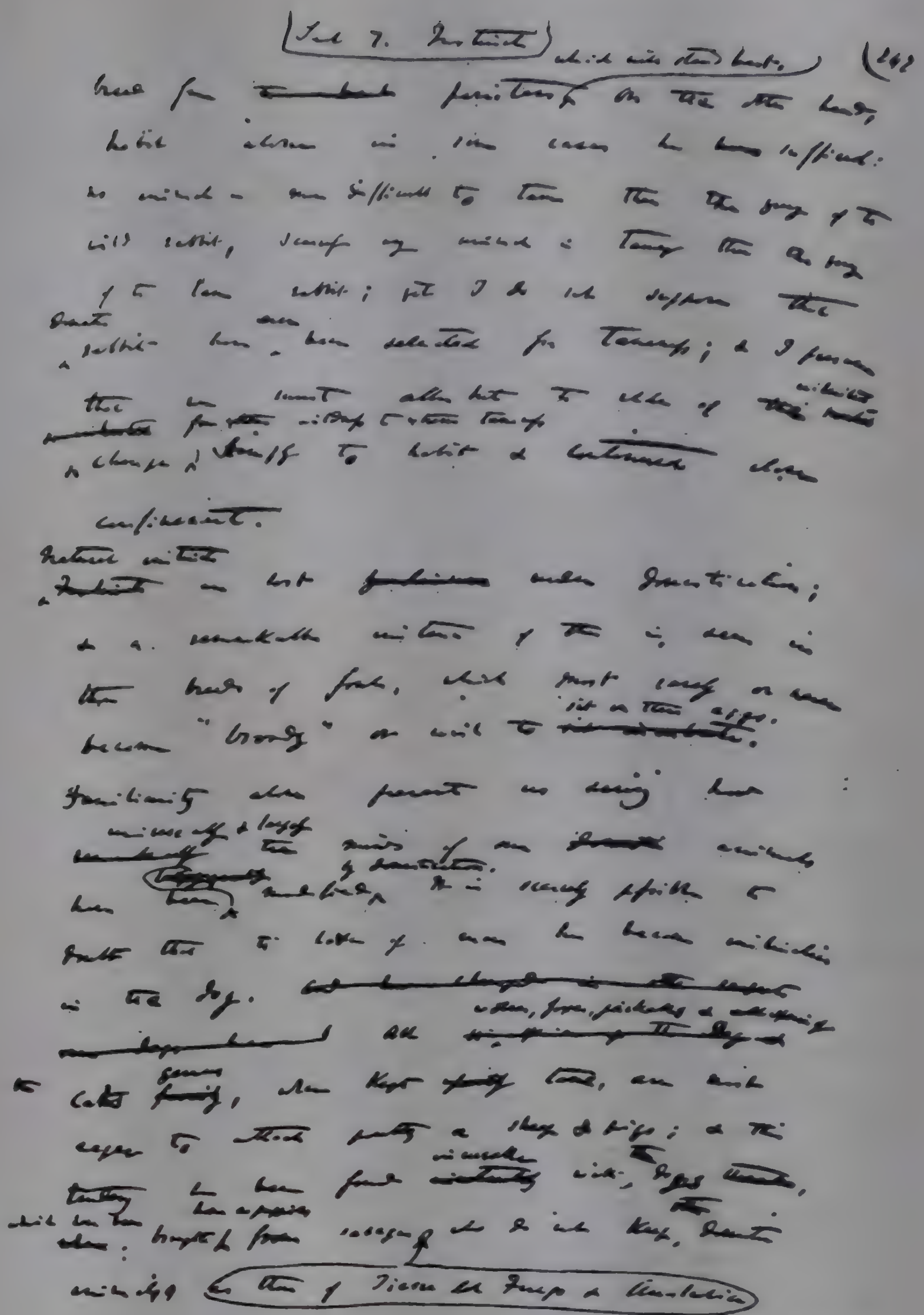
ने किसी मुख्य सिद्धान्त को प्रतिपादित नहीं किया था। साथ ही कोई ठोस आधार अपने विचारों के प्रमाणस्वरूप नहीं दिया था। डार्विन ने इन लेखों को पढ़कर एवं अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर विकासवाद के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया।

विकासवाद के सिद्धान्त

डार्विन ने 'सरवाइवल आफ दि फिटेस्ट' सिद्धान्त पर बहुत बल दिया। इसके अनुसार जो जातियां शक्तिशाली होती हैं, उन्हीं के वंशज आगे बढ़ते हैं और इसके विपरीत कमजोर जातियां संघर्ष में पराजित हो कर नष्ट हो जाती हैं। थोड़े समय के बाद ऐसी जातियों के अवशेष भी अप्राप्य हो जाते हैं। संघर्ष, जलवायु में विभिन्नता तथा खाने की कमी के कारण अधिक होता है।

डिसेन्ट आफ मैन में अपने विचार प्रकट करते हुए डार्विन ने लिखा है कि मनुष्य का स्वरूप जो आज है वह अनेक वर्षों के क्रमिक विकास का परिणाम है। डार्विन के अनुसार 'वानर' जाति से मानव का विकास हुआ है। मनुष्य तथा वानर की आंतरिक बनावट काफी मिलती है। वानर जाति की उत्पत्ति भी सरीसृपों की एक शाखा से हुई है और सरीसृपों की अन्य से। इस भांति स्पष्ट है कि आज जो भी हम देखते हैं वह करोड़ों वर्ष के विकास का परिणाम है तथा हर जीवधारी विकास की श्रृंखला से आबद्ध है।

डार्विन ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी पर पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न जीवधारियों की उत्पत्ति उनके वर्तमान रूप में नहीं हुई थी। सृष्टि के प्रारम्भ में इनकी संख्या सीमित थी, लेकिन धीरे-धीरे जब इनका सम्पर्क एक दूसरे से स्थापित हुआ तो इनकी संख्या बढ़ती गई। हम देखते हैं कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न बच्चों में अन्तर अवश्य ही रहता है। यह अन्तर धीरे-धीरे आगे आने वाली पीढ़ियों में बढ़ जाता है। डार्विन के अनुसार विभिन्न स्थानों की जलवायु और वातावरण इन विभिन्नताओं को बढ़ाती हैं। समय के साथ ये बढ़ती जाती हैं, तथा मूल उत्पत्तिस्रोत का पता लगना कठिन हो जाता है। एक ही जानवर के विभिन्न स्थानों पर पाये अनेक रूपों का मूल उत्पत्ति स्रोत एक ही है।



डार्विन द्वारा लिखित पुस्तक 'द ओरिजिन आफ स्पीसीज' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

विरोध

विकासवाद से संबंधित जब डार्विन की पुस्तक 'ओरिजिन आफ स्पीसीज' प्रकाशित हुई, तब इंग्लैंड में तहलका मच गया। रूढ़िवादी तथा भगवान पर आस्था रखने वाले पादरी तिलमिला उठे। भला पादरी लोग यह कब सहन कर सकते थे कि प्रकृति के निर्माण का श्रेय उनके प्रमुख 'यीशु' से ले लिया जाए। वे डार्विन को गालियां देते, उसे धर्म विरोधी, पाखंडी और नीच कहते। डार्विन इन विरोधों से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। अंत में सत्य के आगे विरोधों का अन्त हो गया।

विकासवाद के सिद्धान्तों ने डार्विन की ख्याति में चार चांद लगा दिये। 1839 में डार्विन को रायल सोसायटी ने अपना सदस्य मनोनीत किया। डार्विन को जूलाजिकल सोसायटी का सचिव बनाया गया। तत्कालीन वैज्ञानिकों ने डार्विन को सम्मान दिया तथा अपनी शुभकामनायें भेजीं।

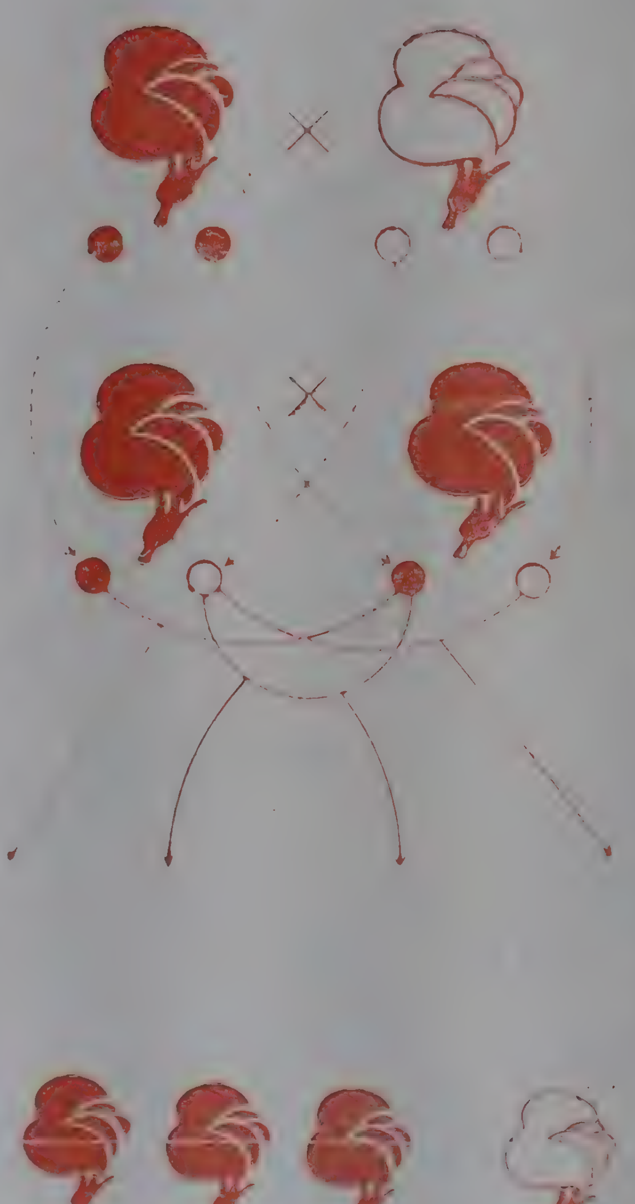
चालीस वर्ष के अथक परिश्रम तथा त्याग के बाद डार्विन ने जिन रहस्यों का ज्ञान विश्व को दिया वे नवीन थे। इनके विचारों ने मानवीय विचारधाराओं को बहुत प्रभावित किया।

19 अप्रैल, 1882 को इस महान वैज्ञानिक, विचारक का स्वर्गवास हो गया। डार्विन के कार्यों ने संसार में डार्विन का नाम अमर कर दिया। ●

आनुवंशिकी के जनक
ग्रेगर मैंडल*

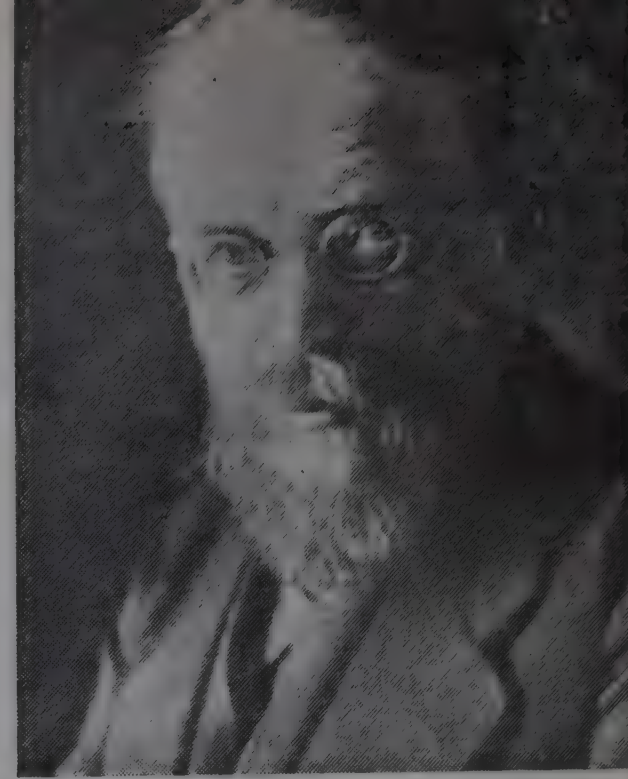
आनुवंशिकी विज्ञान की वह शाखा है जिसके अंतर्गत जीवों के वंशानुक्रमिक गुणों का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि पृथ्वी पर प्रथम जीव के प्रजनन के साथ ही वंशानुगत गुणों का आदान-प्रदान आरम्भ हो गया था व उसके अलिखित, जटिल पर कभी-असफल-न-होने-वाले सिद्धान्त कार्य करने लगे थे पर वैज्ञानिक स्तर पर उनका अध्ययन पहली बार किया उन्नीसवीं सदी के मध्य में आस्ट्रियन पादरी, योहान ग्रेगर मैंडल (1832-1884) ने। आस्ट्रिया (आज चैकोस्लोवाकिया) के एक छोटे से गांव, ब्रून, के पादरी मैंडल (आगस्टिन मानेस्टरी में प्रविष्ट होने के बाद उनका दीक्षा-नाम ग्रेगर हो गया था) ने आनुवंशिकी संबंधी युग-परिवर्तनकारी प्रयोग अपनी मानेस्टरी के बगीचे में, मटर के पौधों पर किये थे। 1856 के आसपास किये गये इन प्रयोगों के निष्कर्षों ने, 1900 में पुनः खोजे जाने के बाद वैज्ञानिकों की मान्यताओं को हिला दिया और 'आनुवंशिक विज्ञान' की नींव डाली।

मैंडल हर दृष्टि से महान वैज्ञानिक थे। पर वे जीवन पर्यन्त अपने उस लेख, (फरजूखे यूबरफ्लान्त जनहीब्रीडेन–पौधों के संकरीकरण संबंधी प्रयोग) जिसमें उन्होंने अपने आनुवंशिकी संबंधी गणितीय सिद्धांत समझाये थे, की भांति, उपेक्षित और अज्ञात रहे। 1895 में, उनकी शवयात्रा में, एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसे यह आभास हो कि वह मृतक पादरी और अध्यापक ही नहीं, वैज्ञानिक भी है।



लाल और सफेद फूलों वाले मटर के पौधों पर मैंडल ने संकरीकरण संबंधी प्रयोग किये थे।

आज हमारी दृष्टि में मैंडल प्रतिभाशाली वैज्ञानिक हैं पर ब्रून सेकंडरी स्कूल के तत्कालीन जानकारियों के अनुसार 'उनमें नियमित रूप से क्लास लेने की योग्यता भी न थी'! मैंडल ने ब्रून सेकंडरी स्कूल में नियमित अध्यापक बनने के लिये दो बार परीक्षा दी और दोनों बार असफल रहे। वे अपने विषय में सिद्धहस्त थे पर उनके उत्तरों को स्कूल बोर्ड के अधिकारी समझ नहीं पाते थे। अधिकारियों का निर्णय होता 'मैंडल योग्य नहीं हैं' और मैंडल का कथन था 'प्रचलित परिभाषायें अशुद्ध और अवैज्ञानिक हैं'। परिणामस्वरूप जीवन भर उन्हें कम वेतन पर स्थानापन्न अध्यापक की हैसियत से काम करना पड़ा।



कार्ल कारेंस : इन्होंने भी मैंडल के सिद्धान्तों की 'पुनः खोज' की थी।

आज मैंडल को 'आनुवंशिकी के जनक' कहा जाता है पर उन्होंने स्वयं 'जैनेटिक्स (आनुवंशिकी) तथा 'जीन' शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया। वे तो इन शब्दों से परिचित तक न थे। जनक से संतान को विरासत में मिलने वाले पदार्थों को उन्होंने नाम दिया था 'ट्रेट' (लक्षण)। बाद में उनकी मृत्यु के पश्चात ये 'लक्षण' 'जीन' कहलाने लगे। 'जीन' ग्रीक भाषा के 'जिगनेस्थाई' शब्द से बना है उसका अर्थ है, 'पैदा होना'। जीन का अर्थ है 'जन्म देना'। जैनेटिक्स का नामकरण किया था ब्रिटिश वैज्ञानिक बेटसन ने।

---

*योहान ग्रेग्रर मैंडल पर एक लेख विज्ञान प्रगति के सितम्बर 1967 अंक में प्रकाशित हो चुका है।

डी. एन. ए. के संधाता
फ्रिड्रिक मीशेर

एच. सी. जैन

डिआक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड (डी. एन. ए.) की खोज 1869 में स्विस रसायनज्ञ फ्रिड्रिक मीशेर ने की थी । यह कथन कुछ अटपटा अवश्य प्रतीत हो, पर है सत्य । वह डी.एन. ए., जिसे 'जीवन की कुंजी' कहा जाता है आज से 100 वर्ष पहले ही खोज लिया गया था । इसके अन्वेषक ने इसे नाम दिया था 'न्यूक्लीन' और न्यूक्लीन की खोज के कुछ वर्ष बाद ही वैज्ञानिक (जिन में मीशेर सम्मिलित नहीं हैं) यह मानने लगे थे कि क्रोमोसोम में उपस्थित यह पदार्थ 'आनुवंशिकी वाहक' है ।

मीशेर बेसल (स्विट्जरलैंड) के एक चिकित्सक के पुत्र थे। पुत्र ने पिता के व्यवसाय का अनुसरण करने हेतु चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया । अध्ययन के दौरान ही वह अपने चाचा विलहेल्म हिज के सम्पर्क में आये, जो उस समय चिकित्सा महाविद्यालय में शरीर-रचना शास्त्र के प्राध्यापक थे। हिज अपने समय के माने हुए चिकित्सक, अन्वेषक और शिक्षक थे । आज हमें मीशेर के अनुसंधान कार्यों का जो विवरण प्राप्त है वह मुख्य रूप से हिज के कारण ही है ।

नई प्रेरणा

हिज ने मीशेर को डिग्री प्राप्त करने के बाद ऊतकों की रासायनिक संरचना पर अनुसंधान करने के लिए प्रेरित किया। हिज का मत था कि ऊतक-विकास से संबंधित समस्याओं को रसायनशास्त्र ही हल कर सकता है और यह मत ठीक था। ऊतक-रासायनिकी का गहन अध्ययन करने के लिए रसायन-शास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक था । इसलिए मीशेर ने पहिले ट्यूबिनजन विश्व-विद्यालय में दाखिला लिया और फिर एफ. हाप-सेयलेर की जीव-रासायनिक प्रयोगशाला में । एक मध्ययुगीन कीमियागिरों की अनुसंधानशाला सी प्रतीत होने वाली यह प्रयोगशाला सम्पूर्णतया जीव-रसायन पर अध्ययन करने वाली पहली संस्था थी । इस प्रयोगशाला में कुछ महीने मवाद की कोशिकाओं पर अनुसंधान करके मीशेर ने डी. एन. ए. खोज निकाला ।

मवाद में डी. एन. ए.

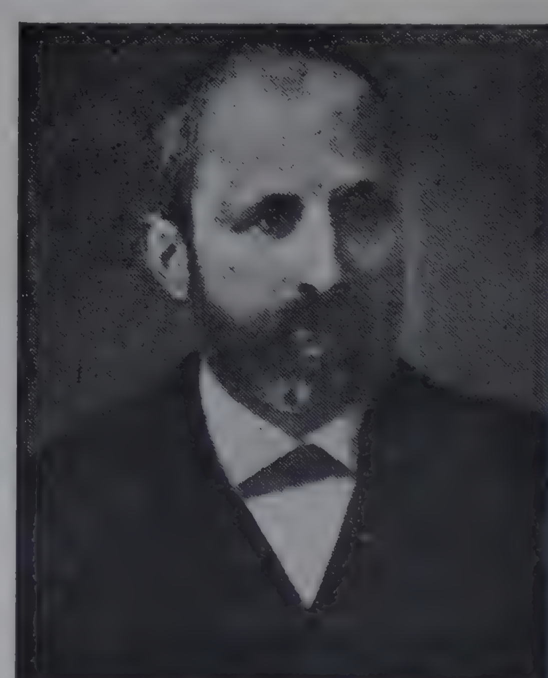
घाव की मवाद कोशिका संरचना अध्ययन के लिए बहुत असंगत अवश्य प्रतीत हो, परन्तु मीशेर का मत था कि उसमें उपस्थित श्वेत रक्त कोशिकाएं सबसे सरल जन्तु-कोशिकाएं हैं। उन्हें इस काम के लिए ट्यूबिनजन शल्य-चिकित्सालय से प्रति दिन मवाद की नई सप्लाई मिल जाती थी । घावों की उन पट्टियों को वह सोडियम सल्फेट के तनु घोल से धोते थे । इससे कोशिकाएं शीघ्र जम जाती थीं और उन्हें आसानी से रक्त, सीरम तथा अन्य पदार्थों से बिलगाया जा सकता था ।

मीशेर ने श्वेत कोशिकाओं की सामान्य रासायनिक संरचना का अध्ययन किया । पहले उन्हें लवण के सांद्र घोलों से निसारित किया जिससे एक जिलेटिन जैसा पदार्थ प्राप्त हुआ । आश्चर्य की बात यह है कि यह जिलेटिन सदृश पदार्थ मुख्य रूप से डी. एन. ए. ही था । इससे डी. एन. ए. को बिलगाने के लिए सेन्ट्रीफ्यूज की आवश्यकता होती है और यदि मीशेर के पास सेन्ट्रीफ्यूज होता तो उन्होंने डी. एन. ए. को प्राकृतिक रूप में ही बिलगा लिया होता—डिपालीमराइज्ड रूप में नहीं, जिसमें उन्होंने बिलगाया था ।

जैसा कि अक्सर प्राथमिक अन्वेषकों के साथ होता है मीशेर की विधियां काफी कठिन और अटपटी थीं । जब उन्होंने मवाद की कोशिकाओं को तनु अल्कली से निसारित किया तो एक ऐसा पदार्थ मिला जो अम्ल के मिलाने पर अवक्षेपित हो गया और अल्कली के रंच मिलाने पर पुनः घुल गया । उस वक्त मीशेर ने अपनी नोट बुक में लिखा "मान्य ऊतक-रासायनिकी डाटा के अनुसार मुझे इस पदार्थ को केन्द्रक मानना चाहिए और इसलिए मैंने केन्द्रक को बिलगाने का प्रयत्न किया ।"

केन्द्रक

'कोशिका में एक केन्द्रक होता है,' यह जीव-वैज्ञानिकों ने 1831 में ही पता लगा



फ्रिड्रिक मीशेर

लिया था पर उस समय किसी ने केन्द्रक को बिलगाया नहीं था। केन्द्रक को बिलगाने के मीशेर के प्राथमिक प्रयोग इस तथ्य पर आधारित थे कि तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड में कोशिका का अधिकांश भाग घुल जाता है परन्तु केन्द्रक नहीं घुलता। यह उल्लेखनीय है कि आज भी केन्द्रक को बिलगाने की विधि मीशर की विधि पर ही आधारित है।

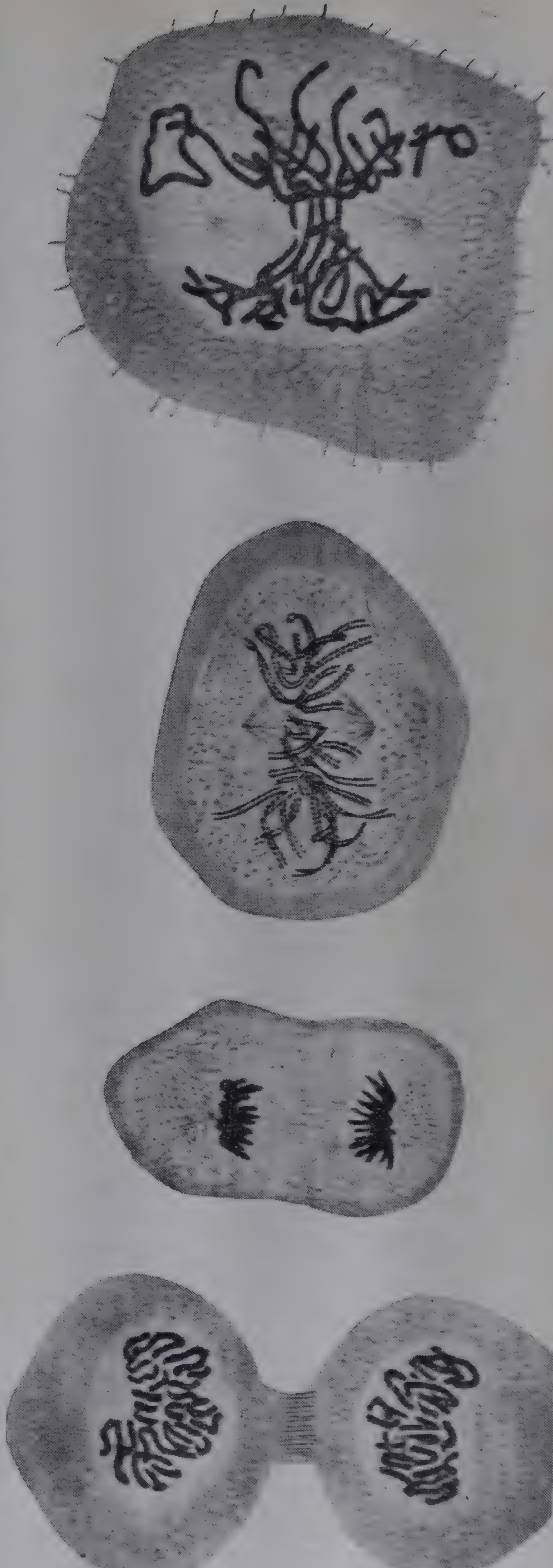
जब मीशेर ने बिलगाये गये केन्द्रक को सूक्ष्मदर्शी के नीचे देखा तो उन्हें उसमें कुछ अपद्रव्य नजर आये जिन्हें उन्होंने कोशिका प्रोटीन समझा। अपद्रव्यों से मुक्त केन्द्रक प्राप्त करने के लिये उन्होंने उस तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड में, जिसे वह इस्तेमाल कर रहे थे प्रोटीन पचाने वाली एंजाइम, पेपसिन, मिलायी। यदि हम इस विधि का कुछ विवरण दें वह इस प्रकार होगा: उन्होंने सूअर के आमाशय का हाइड्रोक्लोरिक एसिड निसार तैयार करके उससे मवाद की कोशिकाओं को उपचारित किया।

इससे कोशिकाओं के सिकुड़े हुए केन्द्रक अलग हो गये थे, पर वे साफ थे और रासायनिक अध्ययन के लिये उपयुक्त थे। इन केन्द्रकों को तनु अल्कली से निसारित किया गया, फिर उन्हें तेज़ाब से अवक्षेपित किया गया और अल्कली में पुनः घोला गया। मीशेर ने इसका विश्लेषण किया और अन्य गुण परखे। क्योंकि यह उस समय तक ज्ञात किसी भी पदार्थ से मेल नहीं खाता था इसलिये उसने उसका नाम रखा 'न्यूक्लीन' (न्यूक्लिअस से प्राप्त होने के कारण)। जैसा बाद में किये गये विश्लेषणों से पता चला कि उसमें 30 प्रतिशत से कुछ ही कम डी. एन. ए. था।

यद्यपि मीशेर ने यह खोज 1869 में की थी पर उसका विवरण प्रकाशित हुआ 1871 में हाप-सेयलेर द्वारा उसकी पूरी छान-बीन कर लिये जाने के बाद।

सालमन शुक्राणुओं पर खोज

ट्यूबिनजन विश्वविद्यालय में जीव रासायनिकी का प्रशिक्षण लेने के बाद मीशेर ने उस विश्वविद्यालय को छोड़ दिया और लगभग



वाल्थर फ्लेमिंग द्वारा 1882 में प्रकाशित सालमेंडर की उपकला कोशिकाओं (एपीथिलियल सैल्स) के विभाजन के चित्र। आरम्भिक अवस्था (सबसे ऊपर का चित्र) में क्रोमोसोम, जिनमें न्यूक्लीन उपस्थित होता है धागे सदृश होते हैं और वे स्पिंडल बनाने लगते हैं। उसके बाद (ऊपर से दूसरा चित्र) वे दो भागों में 'बंटते' हुए प्रतीत होते हैं। फिर (तीसरा चित्र) लम्बाई के बल वे अपनी प्रतिकृति तैयार कर लेते हैं और प्रत्येक क्रोमोसोम का एक 'भाग' कोशिका में एक ध्रुव की ओर अग्रसर होता है और दूसरा दूसरे ध्रुव की ओर। अंत में (निचला चित्र) दो पुत्री कोशिकाओं (डॉटर सैल्स) में विभाजित हो जाता है (साइंटिफिक अमेरिकन में प्रकाशित चित्र पर आधारित,

साल भर तक लिपत्सिग विश्वविद्यालय की कार्ल लुडविग प्रयोगशाला में अनुसंधान कार्य किया। 1870 में वह बेसल लौट आये और उन्होंने वे अनुसंधान आरम्भ कर लिये जिन्हें बाद में उनका सर्वोत्तम कार्य माना गया। उन्होंने सालमन के शुक्राणुओं में से न्यूक्लीन निसारित करने का कार्य आरम्भ किया। सालमन से उनका परिचय उनके चाचा, हिज, ने कराया था और वे राइन में काफी संख्या में मौजूद थीं। राइन में वे उत्तर सागर से आती थीं—जोड़ा बनाने और अण्डे देने। इस अवस्था में उनसे बड़ी मात्रा में शुक्राणु प्राप्त किये जा सकते थे। उनके शुक्राणुओं की कोशिकाओं में केन्द्रक विशेष रूप से बड़े होते हैं।

एक ऐसे अन्वेषक को जिसने न्यूक्लीन प्राप्त करने हेतु पट्टियों को धोकर मवाद प्राप्त किया था सालमन के शुक्राणु वरदान प्रतीत होते थे और मीशेर ने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया। वह अपने आप को भूल कर अनुसंधान में लग गये। डेढ़ वर्ष तक उन्हें किसी की खबर न रही। उनकी प्रयोगशाला विद्यार्थियों से इतनी भरी रहती कि दिन में वह प्रयोग ही नहीं कर पाते थे। रात में अथवा छुट्टियों में कार्य करके उन्होंने अन्त में शुक्राणुओं से न्यूक्लीन खोज ही निकाली। सालमन के शुक्राणुओं का 40 प्रतिशत न्यूक्लीन ही था। जैसा कि आप ऊपर पढ़ चुके हैं कि मीशेर ने कभी भी डी. एन. ए. को उसके स्वाभाविक रूप में नहीं बिलगाया, परन्तु उन्हें इस बात का आभास था कि न्यूक्लीन विचित्र गुणों वाले बृहत अणुओं से बनी है।

मीशेर जानते थे कि न्यूक्लीन का सही विश्लेषण करने के लिये उसे न्यूक्लीन को नीचे ताप पर बिलगाना आवश्यक होता है। उन्होंने हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में, सुबह पांच बजे से लेकर रात को देर तक ठंडे कमरों में काम करके न्यूक्लीन बिलगायी।

विचित्र खोज

राइन नदी के सालमन पर परीक्षण करने के दौरान मीशेर को इनमें गहरी रुचि हो गई। लगभग प्रति वर्ष आयोजित किये जाने वाले शुक्राणु एकत्रण अभियान के दौरान उन्होंने इन जन्तुओं के बारे में अनेक विचित्र बातों का पता लगाया। सालमन 500 मील दूर से समुद्र से राइन में अंडे देने आती है। 1874 से 1880 के बीच मीशेर ने अपना सारा समय सालमन के अध्ययन में बिताया। इस दौरान उन्होंने 2,000 मछलियों का अध्ययन किया। उन्हें पता चला कि सालमन आठ से दस महीने मीठे पानी में बिताती है और उस दौरान, यद्यपि वह बहुत सक्रिय होती है, परन्तु कुछ नहीं खाती और न ही कोई पाचक रस स्रवित करती है। इसके बावजूद उसके शरीर में उस दौरान असाधारण चयापचयी क्रियायें होती हैं, उसके जननांग बहुत तेजी से बढ़ते हैं। जब मादा सालमन समुद्र से चलती है तो उसका अण्डाशय उसके शरीर के वजन का 0.5 प्रतिशत होता है परन्तु नदी में अंडे देने के स्थान पर पहुंचने तक उसका (अण्डाशय) भार शरीर के वजन का 26 प्रतिशत हो जाता है।

1872 में, 28 वर्ष की आयु में मीशेर बेसल विश्वविद्यालय में शरीरक्रिया शास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहां पर उन्होंने शरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन के लिये एक नयी संस्था की स्थापना की। इसका नाम 16वीं शताब्दी के बेल्जियन शरीरक्रिया वैज्ञानिक आंद्रे वेसिलियस की स्मृति में वेसालिआनम रखा गया। यहां उन्होंने छः महीने ही बिताये थे जब उनकी पुस्तक दह्यमनी कारपोरिस फाब्रिका छप रही थी।

मीशेर ने इस संस्था के लिये उस समय के आधुनिकतम यंत्र मंगवाये और श्वसन क्रिया, रक्त परिसंचरण जैसे मूलभूत विषयों पर अनुसंधान कार्य कराया। अपने अनुसंधान कार्यों में दिन-रात लगे रहने पर भी मीशेर के पास जनहित के कार्यों के लिये सदा समय रहता था। बेसल के केन्टन को उसने बंदियों के पोषण के बारे में सलाह दी और संतुलित भोजन और पोषण पर अनेक भाषण दिये। ऐसे क्षेत्र में जहां दूध बहुत होता था परन्तु जहां दूध उत्पादक स्वयं उसका उपयोग नहीं करते थे, रहने के कारण उसने लोगों को भोजन में दूध का महत्व समझाया। उसके सामाजिक कार्यों को देखकर एक मित्र ने कहा था कि यदि मीशेर ऊंचा न सुनता होता तो राजनैतिक क्षेत्र में उसने अपना स्थान अवश्य बना लिया होता।

न्यूक्लीन जीवनपर्यन्त मीशेर का प्रिय विषय रहा। उसके रासायनिक गुणों का अध्ययन करना उन्हें बहुत भाता था यद्यपि वह उसके जीवशास्त्रीय गुणों से भी परिचित थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में सालमन के शुक्राणुओं में उन्हें फिर रुचि हो गई थी और उनसे न्यूक्लीन निसारित करने के लिये वह लगातार कई-कई घन्टे ठंडे कमरों में शीत ऋतु में काम करते रहते थे। इसके फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य जो कभी ठीक नहीं रहता था, बहुत गिर गया और अंत में वक्ष के एक रोग से पीड़ित होकर यह महान वैज्ञानिक 1895 में स्वर्ग सिधार गया।

मीशेर ने न्यूक्लीन की खोज करके आनुवंशिकी में एक नये अध्याय का आरम्भ किया। आनुवंशिक गुणों के निर्धारण में न्यूक्लीन कितना महत्वपूर्ण पदार्थ है इसका आभास हमें प्रसिद्ध प्राणिशास्त्री, हर्टविग के इन शब्दों से हो सकता है जो उन्होंने 1884 में कहे थे, "मैं समझता हूं कि न्यूक्लीन केवल शुक्राणुओं के लिये ही उत्तरदायी नहीं वरन् आनुवंशिक गुणों का आदान-प्रदान भी करती है।"

यद्यपि मीशेर समय-समय पर अपने अनुसंधानों के परिणाम प्रकाशित कराते रहे परन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनके चाचा हिज ने उनके अनुसंधान लेखों का संकलन किया, उन्हें सम्पादित किया और प्रकाशित कराया। इनके प्रकाशन के बाद ही मीशेर के अध्ययनों का सही महत्व संसार के सामने आया। ●



विचित्र वस्तु है आनुवंशिकी भी।
(डा. योगराज आहूजा के सौजन्य से)

आनुवंशिकी का गणितीय सिद्धांत और

जे. बी. एस. हाल्डेन

गजानन साल्पेकर

अपने आत्मनिधन संदेश में, जो उनकी मृत्यु के समय प्रकाशित किया गया था, प्रो. हाल्डेन ने लिखा था, "मैं बहुत हद तक एक 'डैबलर' रहा हूं और मैं इसमें लज्जित नहीं हूं। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि आज से सौ वर्ष बाद मुझे किस खोज के लिये याद किया जायेगा।"

प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. जे. बी. एस. हाल्डेन की प्रतिभा विज्ञान की सभी शाखाओं में अप्रतिहत गति से चलती थी। इसलिये इस बात का निश्चय करना कठिन है कि वह कौन सी शाखा है जिसमें उनका योग सबसे अधिक है। तथापि, यदि चयन करना ही हो तो यह कहना उचित होगा कि जीव विकास की गणितीय उपपत्ति (थ्योरी) के तीन संस्थापकों में से वे एक थे। उनके अन्य दो सहयोगी थे श्री फिशर तथा श्री राइट।

गणित का प्रवेश

जीव विज्ञान के क्षेत्र में गणित का यह प्रवेश डार्विन के विकासवाद की कुछ त्रुटियों को दूर करने के लिये अवश्यम्भावी हो गया था। यह तो सर्वविदित है कि डार्विन के सिद्धान्तों के अनुसार पशु तथा पौधों का विकास प्रत्येक जाति के पृथक निर्माण से नहीं बल्कि सुदूर भूतकाल में उपलब्ध सर्वथा भिन्न जीवों से अत्यन्त धीमी गति से हुआ है। इसके प्रमाण अत्यन्त प्राचीन काल के जीवाश्मों से प्राप्त होते हैं।

जीव विज्ञान की शाखाओं में उपलब्ध होने वाले प्रमाणों का अत्यन्त दक्षता से विश्लेषण करने के उपरान्त भी यह उपपत्ति अनिवार्य रूप से नकारात्मक ही रही है। इस उपपत्ति के अनुसार जीवन संघर्ष में योग्यतम जीव के विजयी होने का स्पष्टीकरण तो प्राप्त हो गया परन्तु योग्यतम जाति के आगमन का स्पष्टीकरण नहीं मिल सका।

त्रुटि का कारण

आनुवंशिकी के आधुनिक सिद्धान्तों की खोज डार्विन के समय तक नहीं हुई थी। सम्भवतः इसलिये यह त्रुटि रह गई थी। विकास के दौरान जीवों के आनुवंशिक गुणों में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन क्यों हो जाता है, इसका समुचित स्पष्टीकरण आनुवंशिकी के नियमों की जानकारी के बिना सम्भव नहीं था। यद्यपि प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैंडल ने इन नियमों की खोज डार्विन के काल में ही कर ली थी तथापि सन् 1900 के आसपास ही उनका परिचय जीव वैज्ञानिकों को हुआ।

विकास के नियमों पर हाल्डेन ने अपनी गणितीय उपपत्ति मैंडल के नियमों पर आधारित की। मैंडल के अनुसार जीव के वंशानुगत गुण बिना किसी परिवर्तन के संतान को विरासत में मिलते हैं। लक्षण बिना किसी तनुकरण तथा मिश्रण के पारेषित किये जाते हैं क्योंकि यह क्रिया आनुवंशिकी के अविभाज्य कणों (ये कण बाद में जीन कहलाये) से होती है। पर उनमें कुछ जीन प्रबल (डामिनेन्ट) होते हैं और कुछ अप्रबल (रिसेसिव)।

जीन वास्तव में न्यूक्लिओप्रोटीन के 'धब्बे' होते हैं। आनुवंशिकता के ये परमाणु पोषक-जीवों की कोशिकाओं में एक विशिष्ट प्रकार से व्यवस्थित होते हैं। ये जीन अनेक समूहों में एकत्रित रहते हैं। इन समूहों को क्रोमोसोम कहा जाता है। ये क्रोमोसोम सदैव जोड़ों में रहते हैं। संतान को इन जोड़ों का एक क्रोमोसोम पिता से तथा दूसरा माता से प्राप्त होता है।

संतान पर प्रभाव

उपर्युक्त तथ्य को सरल भाषा में समझाने हेतु हम गिनी पिग के समागम का उदाहरण ले सकते हैं। उनमें एक जनक की त्वचा पीली तथा दूसरे जनक की त्वचा सफेद व आंखें गुलाबी हैं। त्वचा के वर्ण को नियंत्रित करने वाले जीन को यदि हम 'क' मान लें (पीली त्वचा की नियंत्रक ऐलील $क_1$ और त्वचा के सफेद रंग की नियंत्रक ऐलील $क_2$) तो क्रोमोसोमों के जोड़ों में कहीं न कहीं ये दोनों जीन उपस्थित होंगे।

पहली पीढ़ी की सभी संतानों में $क_1$ तथा $क_2$ दोनों ऐलील माता तथा पिता से प्राप्त होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी त्वचा का रंग पीला तथा सफेद (इन दो रंगों) के बीच का अर्थात क्रीम रंग का होगा। यदि पहली पीढ़ी के मादा और नर में संयोग कराया जाये तो दूसरी पीढ़ी में त्वचा के रंगों के अनुसार केवल तीन प्रकार के संतानों की उत्पत्ति संभव होगी।

(1) सब संतानों में $क_1$ जीन हों,

(2) सब संतानों में $क_2$ जीन हों

(3) उनमें $क_1$ तथा $क_2$ दोनों जीन हों। इस प्रकार दूसरी पीढ़ी की जीनी संरचना का वर्णन प्रत्येक प्रकार के जीनोटाइप के गिनी पिगों के प्रतिशत के अनुसार किया जा सकता है।

जीनोटाइप आवृत्ति की संगणना करते समय हम देखते हैं कि क्रीम रंग के जनकों की प्रत्येक संतान प्रत्येक जनक से एक ही जीन प्राप्त करती

है । अतः इस संबंध में केवल चार संभावनाएं ही हैं :

पिता से क$_1$ तथा माता से क$_1$= क$_1$ क$_1$=पीला,

पिता से क$_1$ तथा माता से क$_2$= क$_1$क$_2$=क्रीम,

पिता से क$_2$ तथा माता से क$_1$= क$_2$क$_1$=क्रीम

पिता से क$_2$ तथा माता से क$_2$= क$_2$क$_2$=सफ़ेद

क$_1$क$_2$ जीनोटाइप में यह तथ्य महत्वपूर्ण नहीं है कि क$_1$ माता से प्राप्त होता है या पिता से । क$_1$क$_2$ तथा क$_2$क$_1$ के संयोग से एक से गुणों वाली संतान प्राप्त होती है । संयोग अनियमित रूप से होता है तो इन चारों प्रकार की संतानों की उत्पत्ति की सम्भावना बराबर होती है। अतः क$_1$क$_1$, क$_1$क$_2$ तथा क$_2$क$_2$ के संयोग की सम्भावनायें क्रमशः 1/4, 1/2, 1/4 होगी ।

अतः क$_1$ तथा क$_2$ की आवृत्ति की संभाव्यता 1/2 होगी क्योंकि क$_1$ तथा क$_2$ के उपस्थित रहने की सम्भावनायें सम-समान होंगी और इनके कारण होने वाले क$_1$क$_1$, क$_1$क$_2$, और क$_2$क$_2$ के संयोगों की संभाव्यता क्रमशः $(1/2)^2$, 2 (1/2) ½, $(1/2)^2$ होगी । साधारण सिद्धान्त की यह एक विशिष्ट परिस्थिति है । यदि मान लिया जाये कि क$_1$ के जीनों की आवृत्ति 1/2 के बजाय 'अ' हो तथा क$_2$ की 'ब' हो (अ+ब=1) तो क$_1$क$_1$, क$_1$क$_2$ तथा क$_2$क$_2$ की आवृत्ति क्रमशः अ^2, 2अ ब, ब^2 होगी। इन तीनों आवृत्तियों का योग अ^2+2 अब+ब^2 अर्थात (अ + ब)^2 होगा और अ+ब का मान एक होने के कारण तीनों आवृत्तियों का योग भी एक होगा ।

यदि अनियमित (रेंडम) संयोग में देशान्तरण या स्थानान्तरण तथा वरण जैसे तत्वों का हस्तक्षेप न हो तो जनसंख्या, जहां तक जीन और जीनोटाइप आवृत्ति का संबंध है, स्थिर रहेगी । जीनों के गुणों में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिवर्तन आने की प्रवृत्ति अन्तर्निहित नहीं है । अतः विकास सम्भव नहीं है । पर वास्तव में आवृत्तियों में अनेक कारणों से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं । इन कारणों में से चार निम्न कारण महत्वपूर्ण हैं :

(1) **उत्परिवर्तन**–यद्यपि जीन सामान्यतः बिना किसी परिवर्तन के जनक से संतान को प्राप्त होती है तथापि यदा कदा किसी अतिसूक्ष्म रासायनिक दुर्घटना के कारण, जिस पर नियंत्रण संभव नहीं है, के फलस्वरूप उनमें महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं । एक बार उत्परिवर्तन होने के उपरान्त वह स्थायी रूप प्राप्त कर लेता है तथा अगली पीढ़ियों में वह उसी रूप में संचारित होता रहता है ।

(2) किसी क्षेत्र विशेष में बाहरी क्षेत्रों के जीवों के आगमन के कारण नये आनुवंशिक गुणों का आगमन ।

(3) चयन (सलैक्शन) की स्वाभाविक प्रवृत्ति ; इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप बिना उत्परिवर्तन तथा आप्रवासन (इमीग्रेशन) के भी जीनों में परिवर्तन आ जाता है ।

(4) प्रतिचयन (सैम्पलिंग की अ-नियमिततायें) ।

हाल्डेन ने उपर्युक्त कारणों तथा अन्य कारणों के प्रभावों का गणित की दृष्टि से अध्ययन किया । उदाहरण के लिये एक जीव विशेष की संतानोत्पत्ति की क्षमता पर वरण के प्रभाव को लें । (किसी भी जाति के सब जीवों में यह क्षमता एक समान नहीं होती) । यदि यह क्षमता किसी रूप में किसी जीन विशेष की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से सम्बंधित है तो वरण का प्रभाव उस जीन पर पड़ेगा । उससे संतान में इस जीन की आवृत्ति वह नहीं होगी जो उसके जनकों में है क्योंकि भिन्न-भिन्न जीनोटाइप के जनक संतान को अपने जीन समान रूप से नहीं देते। इस प्रकार वरण के कारण जीनों की आवृत्ति में परिवर्तन आ जाता है और इस परिवर्तन के कारण जीनोटाइप की आवृत्ति में भी परिवर्तन आ जाता है ।

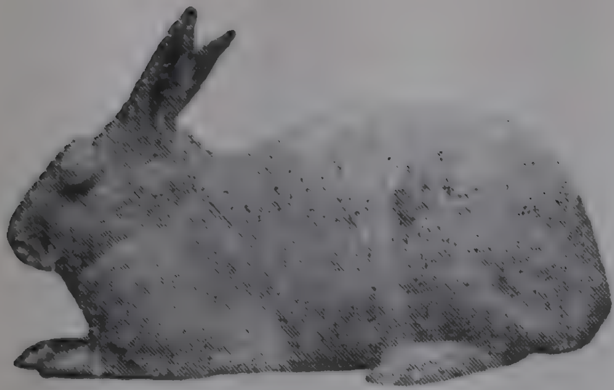
हाल्डेन ने जीनोटाइप के अपने सदृश गुणों वाली सन्तति पैदा करने की क्षमता तथा वरण के प्रभाव की तीव्रता ज्ञात करने की एक सुगठित पद्धति ढूंढ निकाली। यदि हम मान लेते हैं कि वरण क$_2$ जीन के विरोध में कार्य करता है तो इसका परिणाम दो प्रकार से हो सकता है : क$_2$क$_2$ जीनोटाइप अप्रबल हो जायेगी अथवा दोनों जीनोटाइप क$_1$क$_2$ और क$_2$क$_2$ में क$_2$ जीन होंगे । यदि अप्रभावित जीन का योग्यता गुणांक 1 ले लें तथा प्रभावित जीन का 1–प ले लें (यहां प कोई समुचित धनात्मक भिन्न है) और उदाहरण के लिये यदि हम मान लें कि केवल एक जीनोटाइप क$_2$क$_2$ ही अप्रबल होती है तो आरम्भिक जीनोटाइप आवृतियां तथा अगली पीढ़ी पैदा करने की योग्यता इस प्रकार होगी :

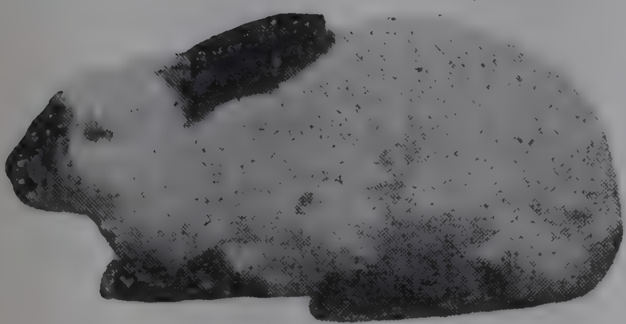
जीनो टाइप	क$_2$क$_1$,	क$_1$क$_2$	क$_2$क$_2$
प्रारम्भिक आवृत्तियां	अ^2	2अ ब	ब^2
योग्यता का गुणांक	1	1	(1–प)

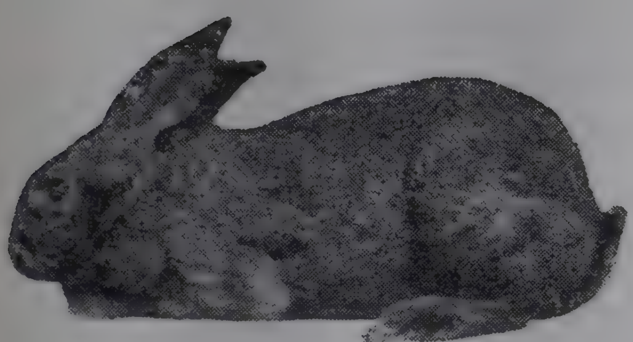
इसका परिणाम यह होगा कि अगली पीढ़ी में इन तीनों जीनोटाइप आवृत्तियों का अनुपात अ^2 : 2अब : ब^2(1–प) होगा । यहां प्रत्येक आवृत्ति दुगनी आवृत्ति तथा इसका अपना योग्यता गुणांक, इन दोनों का गुणनफल होगी । इन अनुपातों को उन्हीं आवृत्तियों में बदलने के लिये हमें प्रत्येक को सामान्यीकारक गुणांक (नार्मलाइजिंग फैक्टर) से गुणा करना होगा ताकि तीनों आवृत्तियों का योग एक हो । पहली तथा दूसरी पीढ़ियों में आवृत्तियां इस प्रकार की होंगी :

	प्रारंभिक जीनोटाइप आवृत्तियां	**वरणोपरांत दूसरी पीढ़ी में आवृत्तियां**
क$_1$क$_1$	अ^2	$\frac{अ^2}{1–पब^2}$
क$_1$क$_2$	2अब	$\frac{2अब}{1–पब^2}$
क$_2$क$_2$	ब^2	$\frac{ब^2(1–प)}{1–पब^2}$
योग	1	1

यह एक विशेष विधि है जिसके द्वारा अगली पीढ़ी में अनेक प्रकार के प्रभावों के बाद जीनोटाइप की आवृत्तियों की संगणना संभव हो जाती है । इस उदाहरण में अनेक अन्य जटिल परिस्थितियों का प्रभाव दुर्लक्षित







खरगोश की त्वचा के रंग को प्रभावित करने वाले एक जीन के तीन ऐलीलों का प्रभाव ।

किया गया है । उदाहरण के तौर पर कुछ अप्रबल जीनों का प्रभाव प्रबल जीनो के प्रभाव से पूर्णतः आच्छादित हो जाता है ।

ऊपर के उदाहरण में पीले और सफेद रंग के गिनी पिगों के स्थान पर क्रमशः काले और नीले को ले लें तो नीला रंग निर्माण करने के लिये जिम्मेदार $क_2$ जीन काला रंग प्रदान करने वाले $क_1$ से 'दब' जायेगा । अतः उनके समागम से उत्पन्न होने वाली संतति का रंग काला होगा क्योंकि अगली पीढ़ी में प्रत्येक संतान को एक जनक से $क_1$ तथा दूसरे जनक से $क_2$ जीन प्राप्त होंगे और $क_1क_2$ जीनोटाइप सम्पूर्ण काले रंग का होगा (क्योंकि $क_1$ जीन $क_2$ से प्रबल है) ।

अब यद्यपि दोनों जीनोटाइप $क_1क_1$ तथा $क_1क_2$ काले वर्ण के हैं तथापि उनकी अगली पीढ़ी के लिये उनके जनन गुण रंग के संदर्भ में सर्वथा भिन्न होंगे । $क_1क_1$ की संतति काले रंग की होगी परन्तु $क_1क_2$ संतति 75 प्रतिशत काले रंग की तथा 25 प्रतिशत नीले रंग की होगी ।

उपर्युक्त अनेक परिस्थितियों में कुछ परिस्थितियों का गणित की दृष्टि से अध्ययन करने के हेतु श्री हाल्डेन ने बीजगणित, अवकल समीकरण तथा समाकलन समीकरणों की सहायता से अनेक सरल सूत्र विकसित किये । अगली पीढ़ी में जीनोटाइप की आवृत्तियों की संगणना करना इन सूत्रों का उद्देश्य था, क्योंकि यदि हम इस संगणना में सफल हो जाते हैं तो हम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जीनों की आवृत्तियों का परिवर्तन ज्ञात कर सकते हैं और इस परिवर्तन के ज्ञान से वरण या अन्य परिस्थितियों के कारण जीनों की आवृत्तियों में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होने वाले परिवर्तन हम माप सकते हैं ।

इस गणितीय अन्वेषण से श्री हाल्डेन वरण, उत्परिवर्तन, स्पर्धा इत्यादि परिस्थितियों के प्रभाव के संबंध में मनोरंजक परिणाम प्राप्त कर सके । उन्होंने यह सिद्ध किया कि वरण का प्रभाव उत्परिवर्तन के प्रभाव से बहुधा संतुलित हो जाता है ।

श्री हाल्डेन की प्रवृत्ति एक दार्शनिक की थी । प्रत्येक विषय का अध्ययन वे विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करते थे तथा परंपरागत विचारों को तर्क की कसौटी पर कसने के पश्चात ही वे उन्हें ग्राह्य मानते थे । सन् 1906 ई. में काहिरा के स्वेज नहर के संबंध में ब्रिटिश शासन की नीति के संबंध में इनके मतभेद हो जाने से इन्होंने ब्रिटेन की नागरिकता त्याग दी और भारत में बसकर भारत की नागरिकता प्राप्त की । अपनी शेष आयु में वे इस देश में विज्ञान के विकास के लिये निरत रहे । ●

जीनों के विकल्प रूप ऐलील

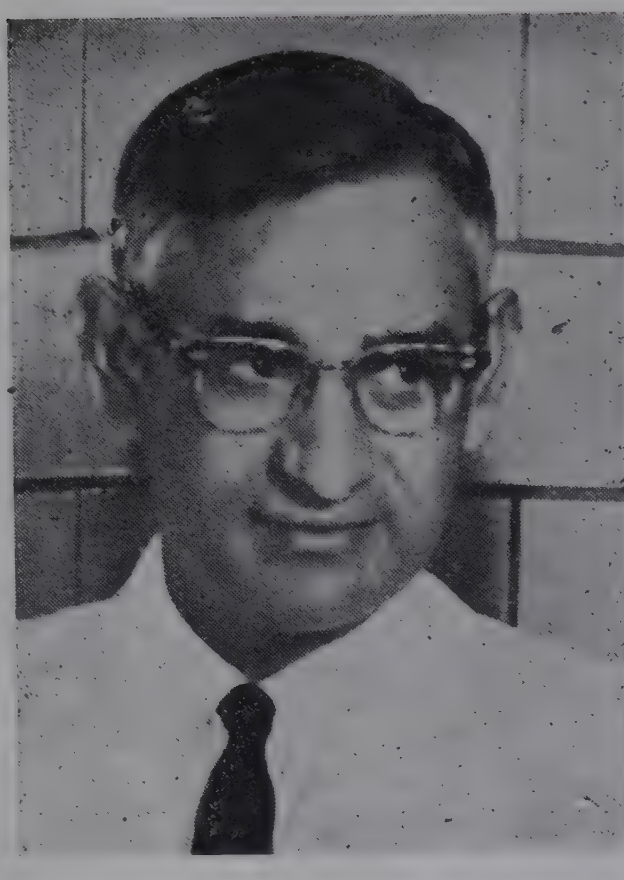
क्रोमोसोम का क्षेत्र विशेष जो एक गुण विशेष का नियंत्रण करता है 'जीन' कहलाता है । जीन अन्य रूपों में भी होते हैं । जीन के ये अन्य रूप अथवा विकल्प रूप 'ऐलील' कहलाते हैं । ऐलील जीन में हुए उत्परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं । एक निश्चित क्रोमोसोम में वे एक ही स्थान पर अवस्थित होते हैं और एक जीन के सभी ऐलील एक ही क्रिया को प्रभावित करते हैं परन्तु सब अलग-अलग ढंग से । उदाहरणार्थ मनुष्य में रक्त आतंचन (ब्लड क्लाटिंग) के गुण के एक पहलू को किसी एक क्रोमोसोम का क्षेत्र विशेष प्रभावित करता है । मनुष्य में इस क्षेत्र विशेष का एक विकल्प रूप में होना इस बात का द्योतक है कि चोट लगने पर रक्त आतंचन क्रिया सामान्य रूप से होगी । दूसरी ओर, किसी व्यक्ति में क्रोमोसोम के उसी क्षेत्र विशेष के दूसरे विकल्प में होने पर वह व्यक्ति हीमोफीलिया का रोगी हो जाता है अर्थात् उसमें रक्त-आतंचन नहीं होता और यदि होता है तो बहुत धीरेधीरे । कुछ जीन ऐसे भी हैं जिनके 100 विभिन्न विकल्प रूप ज्ञात हैं ।

आनुवंशिकीविद्

हरगोबिन्द खुराना

आर. के. गुप्ता

पिछले वर्ष अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में एक समाचार ने सारे संसार की दृष्टि भारत पर केन्द्रित कर दी। 1930 के बाद एक बार पुनः विज्ञान जगत में एक भारतीय नाम ने तहलका मचा दिया। भारतीयों को अपेक्षाकृत पिछड़ा कहने वाले लोगों की जबान बन्द हो गई। यह समाचार था एक भारतीय को, जो अब अमेरिकी नागरिक है, नोबल पुरस्कार प्रदान किये जाने की घोषणा। यह वैज्ञानिक हैं संयुक्त राज्य अमेरिका के विसकान्सिन विश्वविद्यालय के एंजाइम अनुसंधान संस्थान के सह-निदेशक, डा. हरगोबिन्द खुराना। डा. खुराना को नोबल पुरस्कार डी. एन. ए. अणु में पॉली-न्यूक्लिओटाइड बंधों के सम्पूर्ण संश्लेषण करने पर तथा उनकी मदद से आनुवंशिक कोड (जैनेटिक कोड) को खोलने (डि-कोड) के लिये प्रदान किया गया।



पटवारी का बेटा

हरगोबिन्द खुराना का जन्म 1922 में पंजाब (अब पाकिस्तान में) के एक छोटे से गांव, रायपुर में हुआ। इनके पिता पटवारी थे और परिवार निम्न मध्यम वर्गीय। प्रारम्भिक शिक्षा पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर में हुई। वहीं से 1943 में इन्होंने बी.एस-सी. किया और 1945 में एम.एस-सी.। 1947 के बाद विदेश में उच्च वैज्ञानिक शिक्षा के लिये भेजे जाने वाले व्यक्तियों में ये भी थे। सन 1948 में लिवरपूल विश्वविद्यालय, ब्रिटेन से इन्होंने जीव-रसायन में पी-एच.डी. की डिग्री प्राप्त की। इसके बाद भारत सरकार ने इन्हें ज्यूरिख (स्विट्जरलैंड) के संघीय प्रौद्योगिक संस्थान में (इडगेनोसीचे टैकनीश्चे हाच्सुले) में अध्ययन करने के लिये मनोनीत किया।

सन 1949 से 1952 तक इन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में न्यूफील्ड रिसर्च फैलो के रूप में अध्ययन किया। यहां इनके निर्देशक (गाइड) थे, नोबल पुरस्कार विजेता सर अलक्जेंडर टाड। इनके निर्देशन में न्यूक्लिक एसिड संश्लेषण में डा. खुराना ने जो दक्षता अर्जित की वह बाद में उनके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। उस के पश्चात् ये भारत आये, परन्तु अपनी योग्यता और ज्ञान का समुचित उपयोग न होते देख पुनः विदेश लौट गये।

महत्वपूर्ण योगदान

1952 में ब्रिटिश कोलम्बिया विश्वविद्यालय (कनाडा) में ब्रिटिश कोलम्बिया अनुसंधान परिषद के कार्बनिक रसायन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किये जाने पर यह वहां से वैंकोवर चले गये। यहां समुचित सुविधायें प्राप्त होने के फलस्वरूप इनकी स्वाभाविक प्रतिभा चमक उठी। जीवन की रहस्यमयी भाषा के रहस्यों का उद्घाटन करने में ये जी-जान से लग गये। ब्रिटिश कोलम्बिया विद्यालय की प्रयोगशालाओं में इन्होंने डा. जॉन जी. मोफेट की सहायता से सह-एंजाइम का संश्लेषण किया। सह-एंजाइम का संश्लेषण एक महत्वपूर्ण कार्य था और इसको सम्पन्न करने के फलस्वरूप इन्हें अंतरराष्ट्रीय ख्याति तो मिली है साथ ही 1958 में मिला केमिकल इंस्टीट्यूट आफ कनाडा की ओर से मर्क पुरस्कार और 1960 में प्रोफेशनल इंस्टीट्यूट आफ दि पब्लिक सर्विस आफ कनाडा की ओर से स्वर्णपदक। 1958 में ये राकफेलर इंस्टीट्यूट में विजिटिंग प्रोफेसर हो गये और 1960 में इनके महत्वपूर्ण अनुसंधानों से प्रभावित होकर विसकान्सिन विश्वविद्यालय ने इनसे एंजाइम अनुसंधान संस्थान के सह-निदेशक का पद ग्रहण करने के लिये अनुरोध किया। इस संस्थान के वातावरण को इन्होंने अनुसंधान के लिये अत्यन्त उपयुक्त पाया और इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया। इस संबंध में उनके विचार स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "मुझे अनेक संस्थाओं ने, जिसमें कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय और राकफेलर इंस्टीट्यूट भी शामिल हैं, अपनी प्रयोगशालाओं में अनुसंधान करने के लिये आमंत्रित किया पर मुझे विसकान्सिन विश्वविद्यालय ही सर्वोत्तम प्रतीत हुआ, क्योंकि वहां मैं एंजाइम संस्थान में कार्य कर सकता था। यह संस्थान अमेरिका भर में अपनी किस्म का एक ही है और वहां सह-निदेशक के पद पर कार्य करने के लिये मेरे ऊपर अध्यापन अथवा विभाग की देखभाल की जिम्मेदारियां नहीं थोपी गईं।"

इसी अंक में आप अन्यत्र पढ़ चुके हैं कि

जीवन की कुंडली डी. एन. ए. अपने दो दूतों—ट्रांसफर-आर. एन. ए. और संदेशवाहक-आर. एन. ए. की मदद से प्रोटीन संश्लेषण का कार्य करता है। डी. एन. ए. के संदेश आर. एन. ए. को संकेत-शब्दों (कोडोनों) में दिये जाते हैं और ये ही 'आनुवंशिक कोड' बनाते हैं।

इन आनुवंशिक कोडों को समझने का सबसे सीधा तरीका था प्राकृतिक डी.एन.ए. अणु की बेस श्रृंखला के कार्यों को समझना। परन्तु अब तक भी ऐसा करने की विधि ज्ञात नहीं हो सकी है। दूसरा तरीका था रासायनिक विधि से डी. एन. ए. अणु का संश्लेषण करना और डा. खुराना ने भी यही किया। उन्होंने 1955 में अपने युग-परिवर्तन-कारी अनुसंधान आरम्भ किये। ये मोनो न्यूक्लिओटाइडों को संयुक्त कर पॉली-न्यूक्लिओटाइड बनाने की विधि खोजने में व्यस्त हो गये। उसी समय कार्नबर्ग डी.एन.ए. का प्रतिरूप तैयार करने में और मार्शल निरेनबर्ग परखनली में प्रोटीन संश्लेषण की विधि ज्ञात करने में कार्यरत थे।

सन 1960 तक डा. खुराना ने पॉली-न्यूक्लिओटाइड संश्लेषित करने की विधि खोज निकाली थी। उस समय तक कार्नबर्ग और मार्शल निरेनबर्ग की खोजों के फलस्वरूप दो नये एंजाइम, डी. एन. ए.—पॉलीमरेज और आर. एन. ए., पॉलीमरेज—बिलगा लिये गये थे और परखनली में प्रोटीन संश्लेषण करने की विधि ज्ञात कर ली गई थी।

डा. खुराना की विधि से सिर्फ 20 एमिनो एसिडों तक को एक श्रृंखला में इच्छानुसार व्यवस्थित किया जा सकता था। परन्तु यह श्रृंखला (पॉली-न्यूक्लिओटाइड श्रृंखला) परखनली में प्रोटीन संश्लेषण के लिये, संदेशवाहक आर. एन. ए. के रूप में कार्य करने हेतु बहुत छोटी थी। सन 1964 तक निरेनबर्ग ने इन दो पॉलीमरेज एंजाइमों की सहायता से इस छोटी पॉली-न्यूक्लिओटाइड की श्रृंखला को बड़ा करने की विधि ज्ञात कर ली।

मुख्य प्रश्न

अब डा. खुराना एंजाइम अनुसंधान संस्थान विसकान्सिन विश्वविद्यालय में आ चुके थे। इस समय आनुवंशिक कोड को पूरी तरह समझने के लिये उन के सामने तीन मुख्य प्रश्न थे :

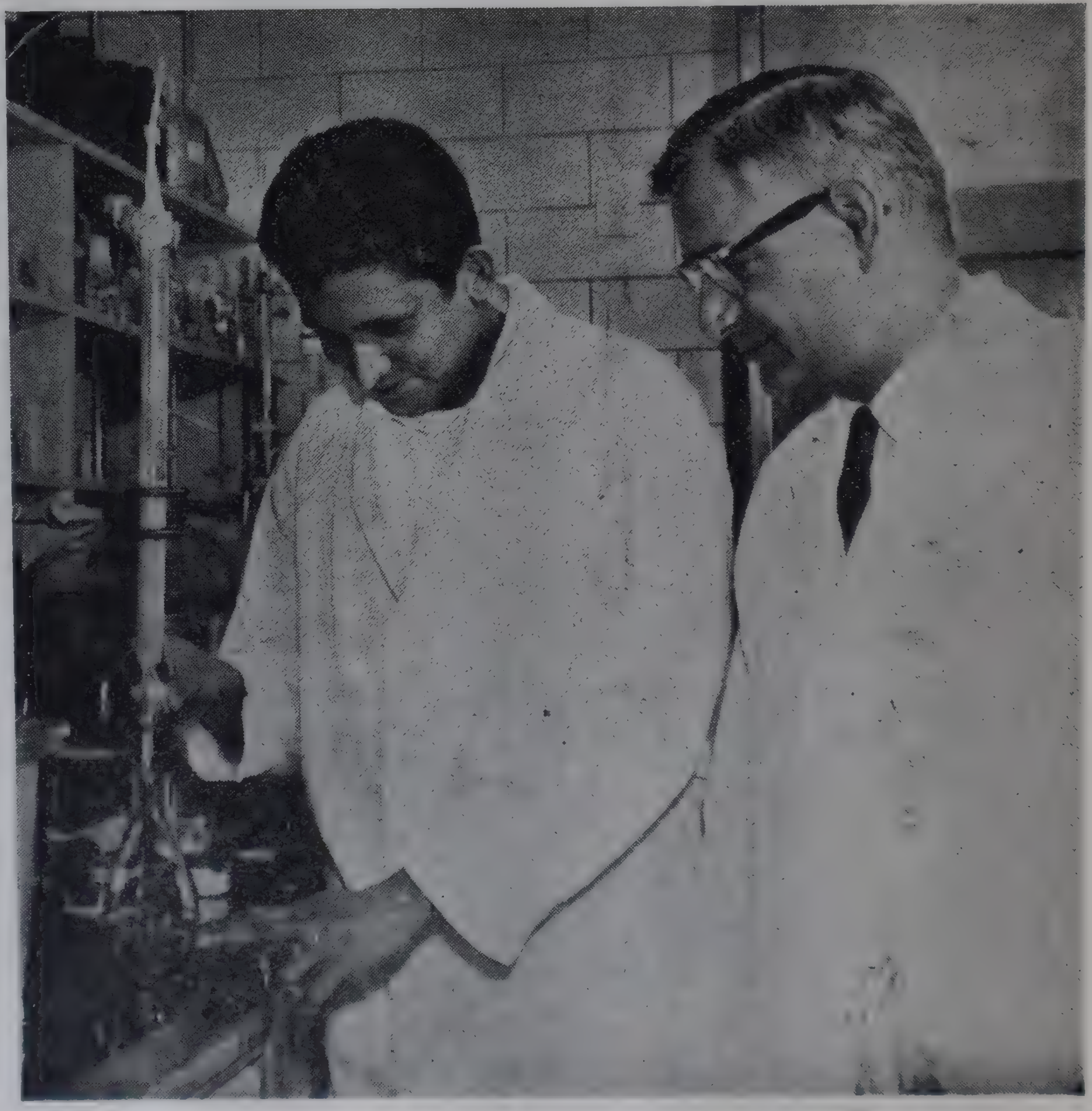
(1) क्या आनुवंशिक कोड में सचमुच तीन अक्षरों वाले संकेत-शब्द होते हैं।

(2) क्या एक संकेत-शब्द के 'अक्षर' उससे अगले संकेत-शब्द के अक्षरों से मिलकर नये शब्द बनाते हैं या नहीं। उदाहरणार्थ यदि ए-था-सा, गु-गु-सा, था-ए-ए एक डी. एन. ए. अणु की श्रृंखला बनाते हैं और इसके संदेश की भाषा के 'शब्द' तीन अक्षरों वाले हैं तो क्या इस डी. एन. ए. की संदेश-भाषा के शब्द केवल ए-था-सा, गु-गु-सा और था-ए-ए हैं अथवा था-सा-गु, सा-गु-गु भी।

(3) क्या डी. एन. ए. का संदेश श्रृंखला के एक सिरे से आरम्भ होकर दूसरे सिरे तक बिना किसी बेस को छोड़े लगातार चलता है या नहीं।

इन का उत्तर ढूंढने के लिये उन्होंने पहले से निश्चित तीन न्यूक्लिओटाइडों को बार-बार आपस में जोड़कर डी. एन. ए. के अणु को संश्लेषित किया। इस प्रकार प्राप्त छोटे डी. एन. ए. अणुओं से आर. एन. ए.-पॉलीमरेज की सहायता से संदेशवाहक-आर. एन. ए. का संश्लेषण किया।

ऐसी भाषा, जिसमें केवल एक 'शब्द' का ही बार-बार उपयोग किया गया हो, का अर्थ केवल एक ही होगा। इसीलिये उपर्युक्त संदेशवाहक-आर. एन. ए. परखनली में एक ऐसे पॉलीपैपटाइड (प्रोटीन) का संश्लेषण करता है जिसमें केवल एक ही एमिनो एसिड होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है डी.एन.ए. द्वारा भेजे जाने वाले संकेत तीन अक्षरों के ही होते हैं। एक संकेत-शब्द के अक्षर अपने से अगले संकेत-शब्द के अक्षरों से मिलकर नये शब्द नहीं बनाते और डी. एन. ए. का संदेश लगातार 'पढ़ा' जाता है।



डा. हरगोबिन्द खुराना के साथ प्रयोगशाला में कार्यरत डा. टी. एम. जैकब

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि डी.एन.ए. के संदेश 'पढ़ते' समय एक भी न्यूक्लिओटाइड नहीं छूटा है। यदि ऐसा नहीं होता तो भिन्न-भिन्न क्रम के बहुत संकेत-शब्द (कोडोन) बन जाते। ये कोडोन भिन्न-भिन्न एमिनो एसिडों का संश्लेषण करते और इस प्रकार जो प्रोटीन बनता उसमें अलग-अलग एमिनो एसिड होते।

सफल प्रयोग

डा. खुराना ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया कि डी.एन. ए. का संदेश तीन अक्षरों वाला ही होता है। 1966 तक उन्होंने तीन अक्षरों वाले इन सब कोडोनों के, जो इन 4 न्यूक्लिओटाइडों से बन सकते हैं सब संकेत ($4^3 = 64$) मालूम कर लिये। इन खोजों के फलस्वरूप एक तालिका तैयार कर ली गई है।

इस तालिका के अध्ययन से मालूम होता है कि केवल ट्रिप्टोफेन के अतिरिक्त हर एमिनो एसिड को कम से कम दो भिन्न-भिन्न शब्दों से 'संकेत' प्राप्त होते हैं। कुछ एमिनो एसिड तो ऐसे हैं जो 6 भिन्न-भिन्न शब्दों से 'संकेत' प्राप्त करते हैं।

डा. खुराना अब परखनली में जीन संश्लेषत करने की स्थिति में हैं। परखनली में अब वह फिनायलएलानीन-ट्रांसफर आर. एन.ए. की अनुपूरक (कम्प्लीमेंटरी) जीन बनाने में रत हैं। आशा है कि इस वर्ष के अन्त तक यह जीन संश्लेषित हो जायेगी। ऐसा होने पर हमें जीवन के रहस्य को समझने में बहुत सहायता मिलेगी। अब तो यह आशा हो चली है कि एक दिन जीवों की उत्पत्ति को नियंत्रित करना सम्भव हो जायेगा तथा अनेक आनुवंशिक बीमारियों का इलाज भी मिल जायेगा। कुछ वैज्ञानिक तो यहां तक आशावादी हैं कि एक दिन मनुष्य 'वांछित' गुणों वाला मनुष्य भी 'संश्लेषित' करने में सफल हो जायेगा। ●

माता-पिता और संतान के रक्त समूह

यदि माता-पिता का रक्त 'ओ' समूह का हो तो उनके बच्चों का रक्त भी 'ओ' समूह का ही होता है। उस व्यक्ति की संतान 'ओ' ग्रुप की नहीं हो सकती जिसका रक्त ए-बी समूह का हो और जिस बच्चे का रक्त ए-बी समूह का हो उसके माता-पिता में से किसी का भी रक्त समूह 'ओ' नहीं हो सकता। केवल एक ही ऐसी स्थिति है जिसमें उनके बच्चों का रक्त समूह 'ओ' ग्रुप का हो सकता है और वह यह कि उनके माता-पिता दोनों में ही ए-ओ अथवा बी-ओ जीन हों और संतान द्वारा उक्त अप्रभावी 'ओ' जीन माता-पिता दोनों से ग्रहण किए जाएं। रक्त समूह की एक सारणी नीचे दी गई है जिसमें दर्शाया गया है कि किन माता-पिता की संतान कैसी हो सकती है।

माता-पिता	संभव संतान	असम्भव संतान
ए (एए या एओ) **ए** (एए या एओ)	**ए या ओ**	**ए-बी या बी**
ए (एए या एओ) **बी** (बीबी या बीओ)	**ए, बी, एबी या ओ**	—
ए (एए या एओ) **ए-बी** (एबी)	**ए, बी या ए-बी**	**ओ**
ए (एए या एओ) **ओ** (ओ ओ)	**ए या ओ**	**ए-बी या बी**
बी (बीबी या बीओ) **बी** (बीबी या बीओ)	**बी या ओ**	**ए या ए-बी**
बी (बीबी या बीओ) **ए-बी** (एबी)	**ए, बी या ए-बी**	**ओ**
बी (बीबी या बीओ) **ओ** (ओ ओ)	**बी या ओ**	**ए या ए-बी**
ए-बी (एबी) **ए-बी** (एबी)	**ए, बी या ए-बी**	**ओ**
ए-बी (एबी) **ओ** (ओ ओ)	**ए या बी**	**ओ या ए-बी**
ओ (ओ ओ) **ओ** (ओ ओ)	**ओ**	**ए, बी या ए-बी**

(काले टाइप में छपे अक्षर रक्त समूह हैं जबकि ब्रैकेट वाले शब्द जीनी बनावट)

रक्त परीक्षण द्वारा यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता कि शिशु संतान का पिता अमुक व्यक्ति है परन्तु यह कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति उसका पिता नहीं है। 1940 में आंग्ल चलचित्र के प्रसिद्ध हास्य अभिनेता चार्ली चेपलिन के पितृत्व सम्बन्धी अदालती मामले में यह सिद्ध हो चुका था कि आनुवंशिकी के नियमानुसार चेपलिन अपने उस तथाकथित बच्चे का पिता नहीं हो सकता क्योंकि अभिनेता का रक्त 'ओ' समूह का था उसकी पत्नी का 'ए' समूह का था और बच्चे का रक्त 'बी' समूह का था। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि न्यायालय के निर्णय के अनुसार वह उसी की संतान कहलाई।

—धर्मेन्द्रनाथ श्रीवास्तव



कृषि की सेवा में आनुवंशिकी

आनुवंशिकी और खाद्य समस्या

एच. के. जैन

जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ खाद्य-समस्या का विकट से विकटतर होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि उपभोक्ता बढ़ते जाते हैं और रूढ़िगत साधनों के उपयोग के कारण खाद्यान्न उत्पादन नहीं बढ़ता। यदि जनसंख्या के साथ-साथ खाद्यान्न उत्पादन भी बढ़े तभी खाद्यान्नों की कमी की समस्या पर विजय प्राप्त की जा सकती है। साथ ही दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि उपभोक्ताओं की संख्या और न बढ़े, इसके लिए भी उपाय किए जाएं। प्रश्न उठता है कि उतनी ही भूमि से अधिक उपज कैसे प्राप्त की जा सकती है? इसका एक ही उपाय है — ऐसे बीजों का विकास किया जाए जो अधिक उपज देने वाले हों, विभिन्न पादप रोगों का उन पर असर न हो तथा उनके बोने के बाद फसल आने में कम समय लगे। उदाहरण के लिए यदि गेहूं की एक किस्म ऐसी है जिसकी उपज बहुत अधिक होती है परन्तु किट्ट (रस्ट) लग जाता है तथा दूसरी ऐसी है जिसमें किट्ट नहीं लगता परन्तु उसकी उपज बहुत कम होती है। ऐसी स्थिति में यदि गेहूं की दूसरी किस्म (जिसमें किट्ट नहीं लगता) के किट्ट प्रतिरोधन गुण को प्रथम किस्म के गेहूं में पहुंचाया जा सके तो गेहूं की एक अधिक उपज देने वाली उत्तम किस्म तैयार हो सकती है।

लेकिन एक किस्म के गुण को दूसरी किस्म में पहुंचाया कैसे जाए? इसके लिए आनुवंशिकी का अध्ययन आवश्यक है। आनुवंशिकी ही जीव विज्ञान की वह शाखा है जिसने अधिक उपज देने वाले, अपेक्षतया कम समय में फसल देने वाले और रोगों के प्रति निरापद बीजों को जन्म दिया है। आज संसार के हर विकसित देश में खाद्यान्नों की उपज बढ़ाने तथा किस्म सुधारने व उनमें अधिक से अधिक पोषक तत्वों का समावेश करने की दिशा में अनुसंधान कार्य हो रहा है। भारत ने भी इस दिशा में काफी प्रगति की है। विगत कुछ वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन में हुई वृद्धि आनुवंशिक तरीकों द्वारा तैयार किए गए उन्नत बीजों के कारण ही सम्भव हो सकी है। प्रस्तुत है इस संदर्भ में भारत में हुए कार्य का संक्षिप्त विवरण।

भारतवर्ष में पहले गन्ने में कई बीमारियां लग जाती थीं। फलस्वरूप पैदावार भी काफी कम होती थी। अनुसंधानों द्वारा एक जंगली जाति का पता लगाया गया है जो कई बीमारियों के प्रति पूर्ण रूप से निरापद थी। अतः भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था की कोयम्बटूर शाखा में प्रायोगिक परीक्षण किये गये और कई ऐसी जातियां पैदा की गई जो बीमारियों के प्रति निरापद होने के अलावा दूसरे गुणों में भी श्रेष्ठ हैं। भारत का आधुनिक गन्ना उद्योग काफी सीमा तक अत्यधिक पैदावार वाली व रोग-प्रतिरोधक जातियों पर ही आधारित है।

पूसा गेहूं

उद्भिद् अभिजननों के क्रमानुगत तरीकों का प्रयोग करके भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने गेहूं की अनेक नवीन जातियां विकसित की हैं, जो पूसा गेहूं के नाम से विख्यात हैं। एन.पी. 4, एन. पी. 52, एन.पी. 165 नामक कुछ जातियां बहुत पहले ही विकसित की जा चुकी थीं। ये उत्तम दानों वाली थीं। इन्हें गेरुई-प्रतिरोधक बनाने के लिये महत्वपूर्ण प्रयास किए गए। देशी जातियों को विदेशी जातियों से संकरित किया



पूसा संस्था में विकसित बढ़िया किस्म की अरहर

गया। फलस्वरूप एन.पी. 700 व एन.पी. 800 श्रेणी की नवीन जातियां विकसित हुईं। इस श्रेणी की एन.पी. 809 व 890 नामक जातियां उत्तम दानों के गुणों के अलावा रोग-प्रतिरोधी हैं तथा सामान्य उर्वर भूमि में भी अधिक पैदावार देने वाली हैं। विगत कुछ वर्षों में आनुवंशिकी के ही तरीकों द्वारा कुछ नई जातियां और भी विकसित की गई हैं जो पर्याप्त सिंचाई व खाद के प्रयोग से बहुत अधिक पैदावार देने वाली हैं।

पुराने समय में हमारे देश में गेहूं की खेती सामान्य भूमि में ही की जाती थी पर आधुनिक समय में जनसंख्या की तेजी से वृद्धि, भूमि पर अधिक दबाव व सघन खेती के कारण प्रति एकड़ पैदावार बढ़ाना आवश्यक हो गया है। अभी तक विकसित गेहूं की अधिकांश जातियां उपर्युक्त सभी गुणों में ठीक नहीं थीं क्योंकि सिंचाई व अधिक खाद देने पर गेहूं के अधिकांश पौधे गिर जाते थे। अतः पौधों को गिरने से रोकने के लिए उनकी ऊंचाई कम करना आवश्यक था। जापानी गेहूं में 15 वर्ष पूर्व ही बौने लक्षणों के लिए उत्तरदायी अनेक जीनों का पता लगा लिया गया था। आजकल इन जीनों का विस्तृत उपयोग मैक्सिको व भारत में बौने जाति वाले गेहूं पैदा करने में किया जा रहा है। बौने गेहूं की ऐसी कई जातियां, जो एक या दो उक्त जीनें रखती हैं, हमारे देश में विकसित की गई हैं। कल्यानसोना, सोनालिका व सरबती सोनोरा गेहूं की कुछ बौनी जातियों के उदाहरण हैं। 1967-68 में गेहूं की उपज 160 लाख टन हुई जो कि अभी तक भारत में गेहूं की एक वर्ष की पैदावार का नया कीर्तिमान है। इतनी अधिक पैदावार केवल इन जातियों के बौने होने के कारण ही सम्भव हो सकी है।



आनुवंशिक अध्ययनों का परिणाम—दो जीन वाला बौना गेहूं

संकर प्रजातियों का विकास

अनेक पौधों के संकर अपने विशुद्ध वंशक्रम से भी अधिक ओज व पैदावार वाले होते हैं। संस्था में विकसित मक्का व ज्वार जैसी फसलों की संकर जातियां पैतृक जातियों से 40 से 50 प्रतिशत अधिक पैदावार देती हैं। गंगा 101, रंजीत, डेकन, गंगा सफेद 2, हाईस्टार्च, गंगा 3 व हिमालयन 123 नामक मक्का की सात संकर जातियां पूसा संस्थान में विकसित की गई हैं। इनका उपयोग देश के भिन्न-भिन्न भागों में हो रहा है। हाल ही में संकरों के पोषण संबंधी गुणों में सुधार लाने के लिये कार्य आरम्भ कर दिया गया है। मक्का में लाइसीन नाम का मुख्य एमिनो एसिड होता है। पर इसकी मात्रा कम होती है। अतः उस जीन का पता लगाया गया जो मक्का में लाइसीन की मात्रा दुगनी कर देता है। इसको भारतीय मक्का में प्रवेश करने के लिए कई प्रयोग किये जा रहे हैं। मक्का की कुछ ऐसी जातियां जिनमें लाइसीन की मात्रा अधिक होती है तैयार कर ली गई हैं। सम्भवतः अगले वर्ष तक किसानों को बुआई के लिए इसका बीज वितरित किया जा सकेगा।

मक्का की भांति ज्वार की भी संकर जातियां तैयार की गई हैं। साधारणतया छोटे दानों वाली फसलें बहुत ही कम पैदावार वाली होती हैं, पर सी.एच.एस. 1 व सी.एच.एस. 2 नामक ज्वार के संकरों ने पैदावार में एक नया मोड़ लिया है जिससे इसकी खेती में आशातीत सफलता मिली है। संकरों में एक गुण यह भी होता है कि



दानों से भरे हुए पूसा संस्थान में विकसित संकर मक्के के भुट्टे



बढ़िया किस्म की ज्वार



बाएं से—साधारण गुलदाउदी, पूसा संस्थान में विकसित गुलदाउदी



बाईं ओर—द्विगुणित (डाईप्लायड) बरसीम, दाहिनी ओर—चतुर्गुणित (ट्रेटाप्लायड) बरसीम ।

खाद की मात्रा बढ़ाने से उनकी उपज भी बढ़ जाती है और इस प्रकार उनसे 6000 से 7000 किलो प्रति हेक्टेयर तक की पैदावार हो सकती है । इसके अलावा संकर किस्में शीघ्रता से पकने व बढ़ने वाली भी होती हैं । अतः सूखे आदि प्रकोपों का भी प्रभाव उन पर कम हो पाता है और ऐसी परिस्थितियों में भी 2000 से 2500 किलो प्रति हेक्टेयर तक पैदावार ली जा सकती है ।

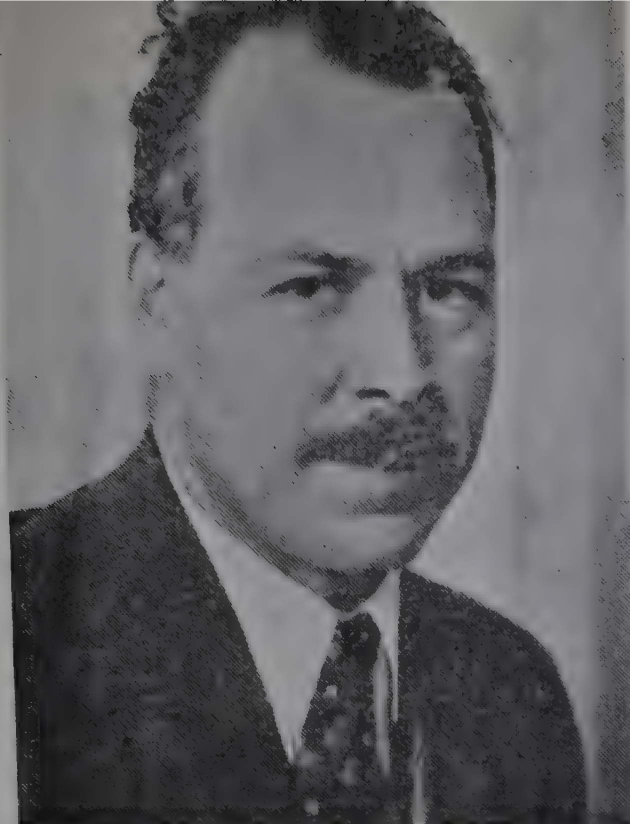
उत्परिवर्तन अभिजनन

ऐसे कारक जो कई लक्षणों को शासित करते हैं साधारणतः स्थिर रहते हैं व बहुत ही कम उत्परिवर्तित होते हैं । पर पौध अभिजनक को अधिक भिन्नता के लिए उत्परिवर्तन की आवश्यकता होती है ताकि वह अपना अभिजनन कार्य ठीक रूप से कर सके । अतः उत्परिवर्तन का बहुत ही अधिक महत्व है । उत्परिवर्तन करने के लिये विभिन्न विकिरणों का उपयोग किया जाता है । विकिरण के ये साधन जैसे एक्स-किरण व गामा किरणें बहुत समय से पौधों में उत्परिवर्तन पैदा करने के लिये प्रयोग में आ रही हैं । ये उत्परिवर्तन दर को काफी बढ़ा देते हैं । भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में पौधों व उनके बीजों में विकिरण देने के लिये गामा गार्डन जिसमें कोबाल्ट 60 (विकिरण स्रोत) के माध्यम से उत्परिवर्तन किए जाते रहे हैं । इसी के परिणामस्वरूप कई आर्थिक महत्व के उत्परिवर्तन गेहूं ,टमाटर, कपास, तम्बाकू व गुलदाउदी आदि पौधों में उत्पन्न किये गये हैं । इस प्रकार के परिवर्तनों में गेहूं की शीघ्र पकने वाली जातियां व दानों में अच्छे रंग वाले परिवर्तन भी सम्मिलित हैं ।

पितृसूत्र का द्विगुणन और फसल सुधार

कृत्रिम तरीकों से भी पौधों के पितृसूत्रों म द्विगुणन किया जा सकता है । शस्योन्नति का यह बहुत ही महत्वपूर्ण तरीका आनुवंशिकी की ही देन है । प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि कुछ पौधों के पितृसूत्रों का यदि द्विगुणन किया जावे तो काफी हद तक उनकी पैदावार बढ़ाई जा सकती है । भारत में बरसीम का पौधा चारे की एक मुख्य फसल है । इसके पितृसूत्रों का द्विगुणन करने पर एक नई जाति विकसित की गई है जो 30 से 40 प्रतिशत अधिक चारा देती है । यह जाति पूसा विशाल बरसीम के नाम से विख्यात है । चारे की एक अन्य फसल जो कि त्रिगुणक संकर है व पूसा विशाल हाथी घास के नाम से विख्यात है, बाजरा व नेपियर घास का संकरण करके तैयार की गई है । यह प्रति एकड़ दो लाख पौंड से भी अधिक हरा चारा पैदा करने की क्षमता रखती है ।

आनुवंशिकी विज्ञान यद्यपि 100 वर्ष से भी कम का है फिर भी इसने कृषि क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोगों द्वारा हमारे यहां की फसलों का काफी हद तक सुधार करने में सहायता की है । पौध अभिजनकों के प्रयास द्वारा ही हमारे देश में कृषि की अधिक उपज होने की आशा की जा सकती है । ●



रूसी पादप वैज्ञानिक एन. आई. वाविलोफ

आनुवंशिकी द्वारा पौधों का नस्ल सुधार

श्रीशचन्द्र गुप्त और मंजु गुप्त

जन साधारण का शायद मत है कि जो फसलें—गेहूं, चावल, गन्ना आदि, हम आज देखते हैं वे प्रारम्भ से हमको इस दशा में ही विरासत में मिली थीं। सच तो यह है कि यदि आप इनके जंगली 'पूर्वजों' को देखें तो विश्वास नहीं करेंगे कि संकरण और वरण के द्वारा इतनी अच्छी किस्में प्राप्त की जा सकती हैं। वैज्ञानिक तथ्य यह है कि किसी-किसी फसल में इन दोनों क्रियाओं से 40 प्रतिशत तक पैदावार बढ़ाई जा सकी है। आज का गन्ना न वह गन्ना है जो हजारों वर्ष पहले यहां होता था और न आज का गेहूं ही वह है जिसने खानाबदोश इंसान को कृषि-प्रधान सभ्य पुरुष बनाया।

इस क्षेत्र में रूसी वनस्पतिज्ञ एन. आई. वाविलोफ ने अति उत्तम कार्य किया है। वाविलोफ ने विश्व भ्रमण करके यह जानने का प्रयत्न किया कि मुख्य-मुख्य फसली पौधों के जन्म स्थान कहां-कहां हैं। वर्तमान पौधों के पूर्वजों को वह रूस ले गये। वहां अब भी एक बहुत बड़ा संकलन है और फसलों को उन्नत करने का यथा शक्ति प्रयत्न किया जा रहा है।



1—आइन कोर्न गेहूं 2—अज्ञात जंगली घास, 3—परसियन गेहूं, 4—एजिलोप्स स्केवेरोसा 5—साधारण गेहूं

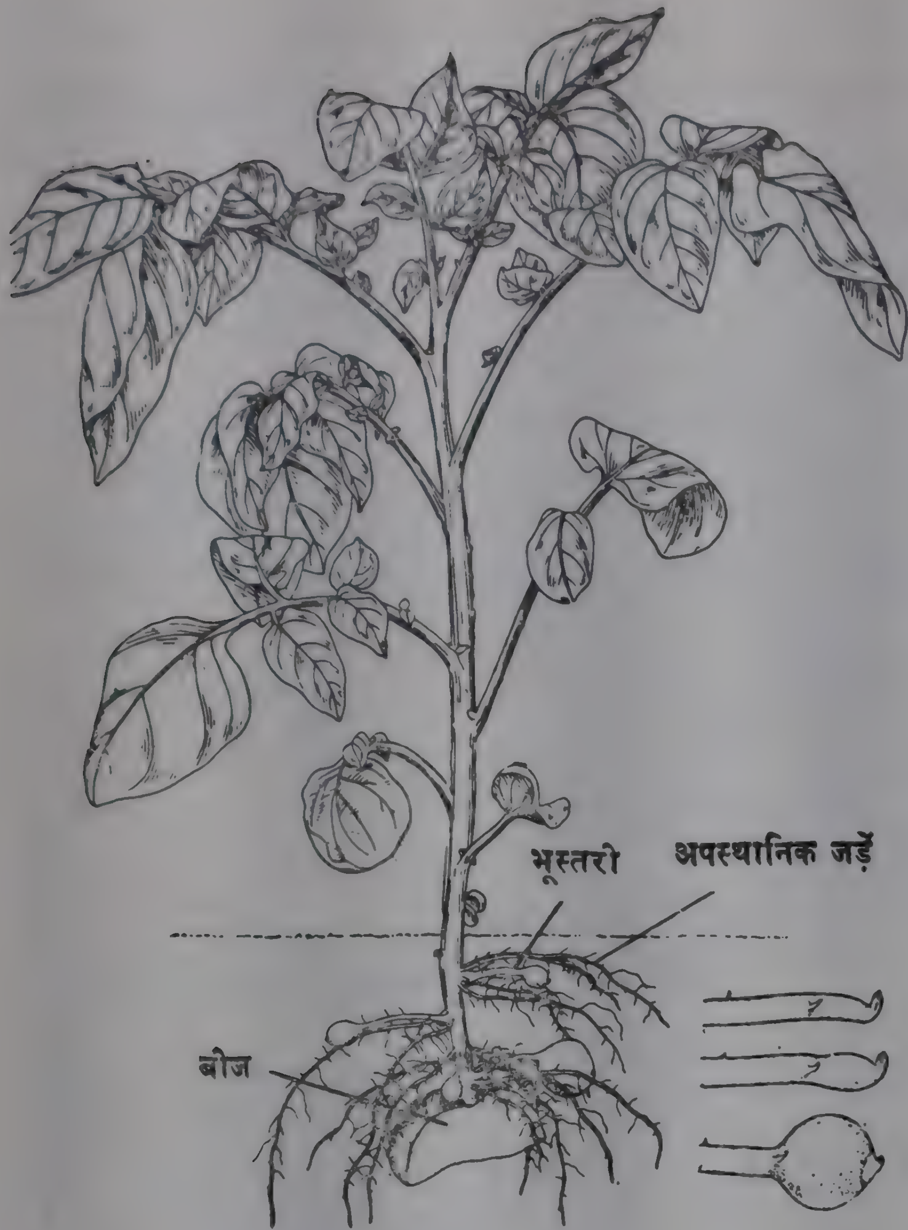
संकरण और वरण

संकरण और वरण के प्रयोग गन्ने की फसल पर सफलतापूर्वक किए गये हैं। बढ़िया नस्ल का गन्ना वह होता है जिसमें चीनी की मात्रा अधिक हो और जो चूसने में अच्छा हो। परन्तु जंगली गन्ने में चीनी की मात्रा कम होती है तथा चूसने में भी वह कड़ा होता है। साथ ही इस में अधिक सूखा, पाला आदि सहन करने की शक्ति भी होती है। इन दोनों किस्मों के गन्नों के बीच संकरण से एक नई किस्म का पौधा तैयार किया गया जिसमें चीनी की मात्रा भी पर्याप्त रही और उसमें जंगली पौधे के समान बीमारियों और सूखा, पाला आदि को सहन करने की क्षमता भी अधिक है। तत्पश्चात सम्पूर्ण

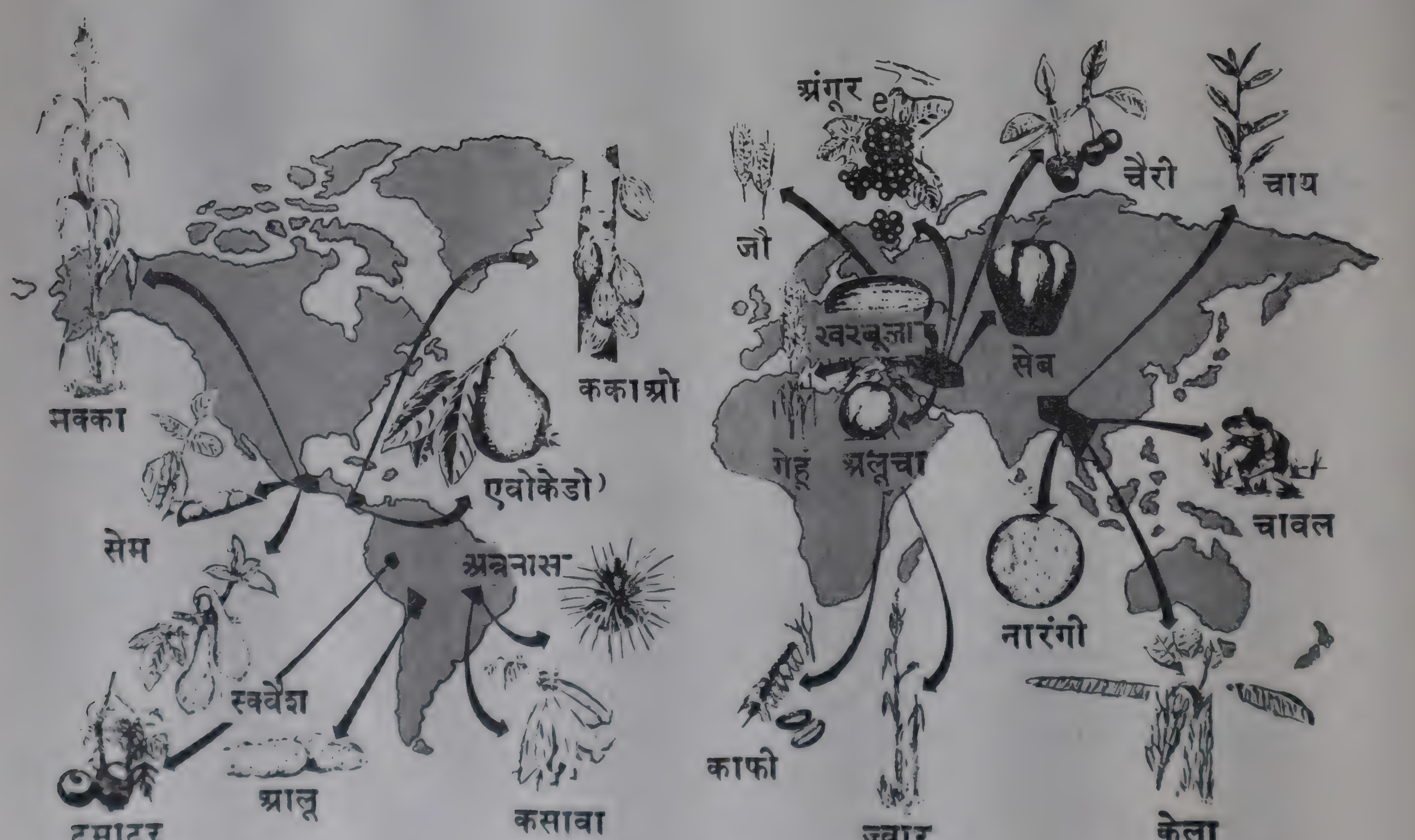
संसार में गन्ने की इस नई किस्म का प्रचलन हो गया।

इसी प्रकार भारत में गेहूं पर भी अनेक प्रयोग किये गये हैं। आनुवंशिक प्रयोगों के ही फलस्वरूप आज गेहूं की नई-नई किस्में जैसे **सरबती सोनारा, सोनालिका, कल्याण सोना** तथा **सोनारा-64** आदि हमें प्राप्त हैं। इस कार्य में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों का योगदान सराहनीय है।

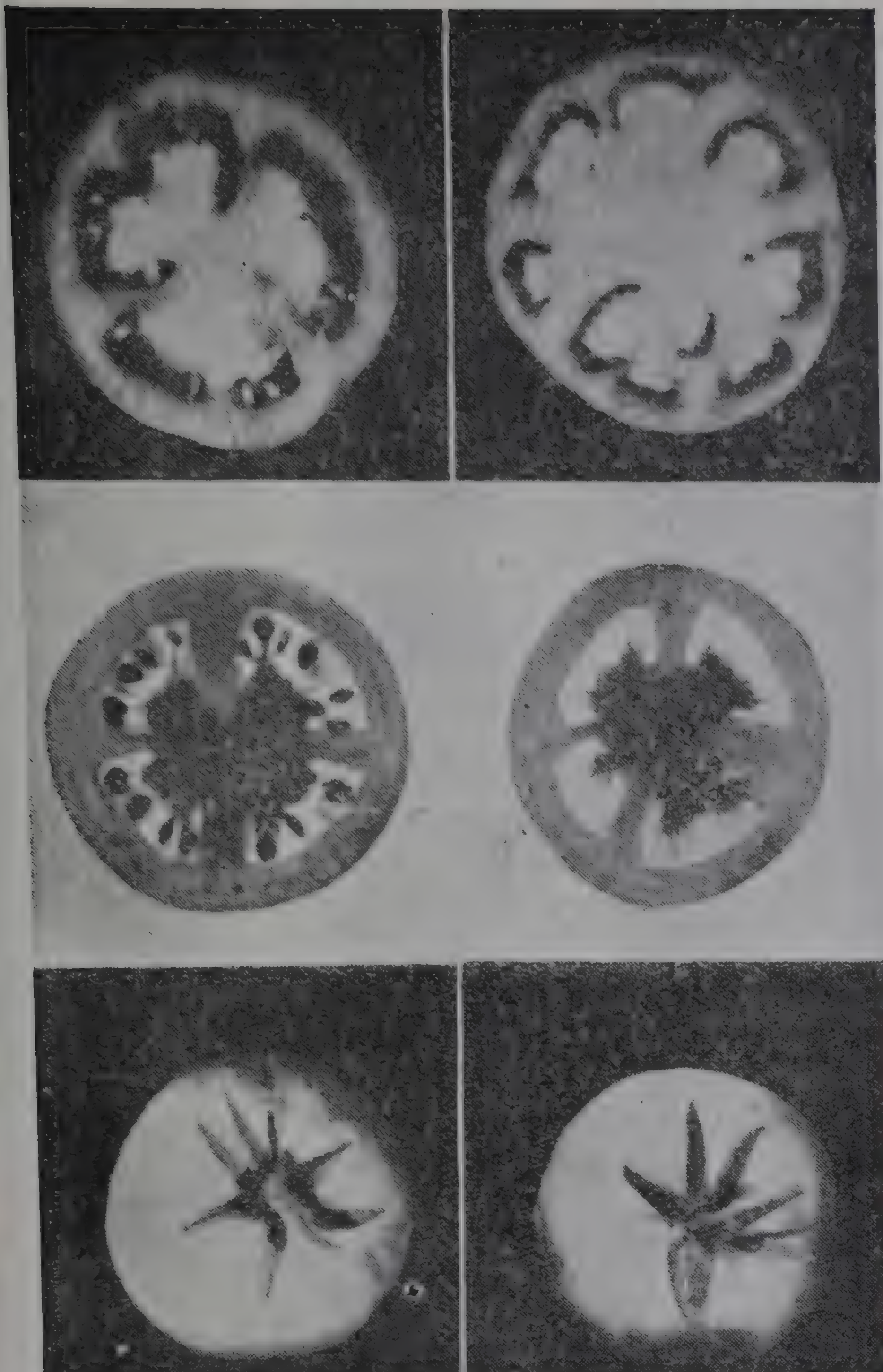
इस प्रकार के कुछ प्रयोग मक्के पर भी किए गए हैं जिनके सफल परिणाम मिले हैं। **गंगा-101, गंगा-1, गंगा सफेदा-2, गंगा-3** आदि अनेक संकर किस्में आज भारत में प्रचलित हैं। गन्ने, गेहूं तथा मक्का के साथ-साथ ये प्रयोग चावल, ज्वार, बाजरे पर भी किए गए हैं और दो किस्मों के मेल से एक तीसरी नई किस्म तैयार की गई है। इन नई किस्मों की अनेक विशेषतायें हैं। एक तो यह कि उत्पादन की मात्रा बढ़ी अर्थात गेहूं जैसे पौधे की बालों में दानों की संख्या बढ़ गई और दूसरे सूखे, पाले आदि को सहन करने की क्षमता उनमें 'पूर्वजों' से अधिक हो गई। आंधी-तूफान आदि का सामना भी ये पौधे दृढ़ता से करते हैं। इस प्रकार आनुवंशिकी द्वारा अनाज की किस्मों को उत्तम बनाने के साथ ही पैदावार को भी बढ़ाया गया है।



← **भूस्तरी सिरों का कंदों में विकास**



कुछ महत्वपूर्ण पौधों के जन्मस्थल



बीजयुक्त और बीजहीन टमाटर

इस प्रकार के प्रयोग सब्जियों पर भी किए जा रहे हैं। टमाटर और आलू के पौधों को मिलाकर यह प्रयास किया गया कि इनके संकरण से एक ऐसा पौधा बने जिसके तने पर टमाटर उगें और मिट्टी के अंदर रहने वाले भाग में आलू उपजें। दुर्भाग्यवश परिणाम ध्येय के विपरीत हुआ। न आलू मिले न टमाटर। मिला बेकार का पौधा जिसे **पोटोमेटो** कहते हैं। इस प्रकार के कई प्रयोग किए जा रहे हैं और हमें आशा है कि किसी दिन हमारे ये प्रयोग अवश्य सफल होंगे।

हाल ही में भारतीय वैज्ञानिक डा. हरगोबिंद खुराना और उनके सहयोगियों ने अति उत्तम शोध कार्य किया है। इसके अनुसार न्यूक्लिओ-टाइडों को 'मिला' कर आनुवंशिकी के आधार 'जीन' संश्लेषित किए जा सकते हैं। इन जीनों से संभवतया नये क्रोमोसोम बनाये जा सकेंगे। इस प्रयोग से ऐसी आशा बन रही है कि कुछ ही समय में मनुष्य इच्छानुसार गुण वाली संतान पैदा कर सकेगा। तब वनस्पतिज्ञ बेहतर किस्म के पौधे उगा सकेंगे।

नई फसलों की खोज

सभ्यता के उदय से अब तक, कई हजार वर्षों के बीच कोई नया पौधा खेतों में नहीं लाया गया है। गेहूं, चावल, चना, गन्ना आदि सब 'प्राचीन' पौधे ही हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जंगलों में से ऐसे नये पौधों को ढूंढ़ा जाये जो खेती के उपयोग में लाये जा सकें।

नये पौधे खोजते समय कुछ और बातों का भी ध्यान रखना चाहिए। गेहूं के पौधे से केवल दाना और भूसा ही प्रयोग में लिया जाता है। आम के पौधे से फल का केवल गूदा ही खाया जाता है। क्या यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसा पौधा ढूंढ निकाला जाये जिसका तना, पत्ती, फल, जड़, आदि सब कुछ इंसान के या जानवर के खाने के काम में आ सके?

आजकल अंतरराष्ट्रीय जीवविज्ञान कार्यक्रम के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया जा रहा है कि जल और थल में अधिक से अधिक भोजन बनाया जाये। कारण यह है कि साधारण पौधे सूर्य की रोशनी के केवल 1 प्रतिशत का ही उपयोग खाना बनाने में करते हैं। शेष 99 प्रतिशत सूर्य की ऊर्जा 'व्यर्थ' जाती है। पौधों की भोजन बनाने की क्षमता को प्रकाश-संश्लेषी दक्षता कहते हैं। साधारणतया गन्ने की प्रकाश-संश्लेषी दक्षता सबसे अधिक है। इस प्रकार के शोध कार्य किये जाने चाहिये ताकि पौधों की प्रकाश-संश्लेषी दक्षता बढ़ायी जा सके।

प्रचार आवश्यक

प्रयोगशालाओं में व्यस्त वैज्ञानिकों के अनुसंधानों को कृषकवर्ग तक पहुंचाने का कार्य भी महत्वपूर्ण है। यदि अनुसंधान और उससे प्राप्त सुफलों का प्रचार प्रभावी रूप से हो सका तो भारत की जनता को अपने उदर की पूर्ति के लिये दूसरे देशों का मुंह नहीं ताकना पड़ेगा। यदि भारत के वैज्ञानिक अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को भारतीय किसानों तक पहुंचा सकें तो वह दिन दूर नहीं जबकि भारत अपनी आवश्यकता के लिये अन्न उगाने के साथ-साथ उसका निर्यात भी कर सकेगा। ●

न्यूक्लिक अम्ल

न्यूक्लिक अम्ल जीवन का केवल रासायनिक आधार ही नहीं है, जीवन के उद्भव और विकास का कच्चा माल भी है।

आनुवंशिकी द्वारा पादपरोगों पर विजय

इस्लामदीन खान

फ्रांस देश के एक बाग में एक जर्जर वृद्ध मनुष्य की मूर्ति खड़ी है। यह मूर्ति स्कल्पचर का नमूना तो है ही, वास्तव में यह प्रतीक है अंगूरों की बिगड़ती हुई दशा की। एक बार फ्रांस में अंगूरों में एक भयंकर फफूंदी रोग फैला था, मृदुरोमिल फफूंद (डाउनी मिल्ड्यू)। इस मूर्ति को सहारा देती है एक अन्य मूर्ति जो अमेरिका से फ्रांस में लाई गई अंगूर की रोग प्रतिरोधक नस्लों का प्रतीक है। वास्तव में फ्रांस के अंगूर को बचाने के लिए फायक्स नामक वैज्ञानिक ने अमेरिका से आयातित रोग प्रतिरोधक नस्लों का उपयोग किया था।

परन्तु वह विशेष किस्म ही रोग प्रतिरोधक क्यों थी? क्या अमेरिकी वैज्ञानिकों ने उसे रोग प्रतिरोधक बनाया था? यदि हां, तो कैसे? अंगूर ही क्या आज तो हर फसल को रोग प्रतिरोधन क्षमता प्रदान करने के लिए वैज्ञानिक प्रयास कर रहे हैं और अपने इस सत्प्रयास में वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं भारत ने इस दिशा में काफी प्रगति की है। यह प्रगति आनुवंशिक अनुसंधान कार्य का ही तो परिणाम है।

संसार में अनेक ऐसे स्थान हैं जहां पर कोई खास रोग किसी खास पौधे पर अतीत काल से चले आ रहे हैं। साथ ही अन्य स्थानों पर उसी पौधे में वह रोग नहीं लगता। ये रोगहीन पौधे ही नई नस्लों को तैयार करने में सहायक होते हैं। यदि इन रोगहीन पौधों की उपज अच्छी है तो इनके बीजों को बुआई



कपास के 'मुरझाना' रोग की प्रतिरोधक नस्ल मिनूफी (3) और रोगग्राही नस्ल कर्नक (1,2)

के लिये ले लिया जाता है। यदि पैदावार पर्याप्त नहीं है तो इनको रोग-प्रतिरोधक नस्लें उत्पादन करने का साधन बना लिया जाता है।

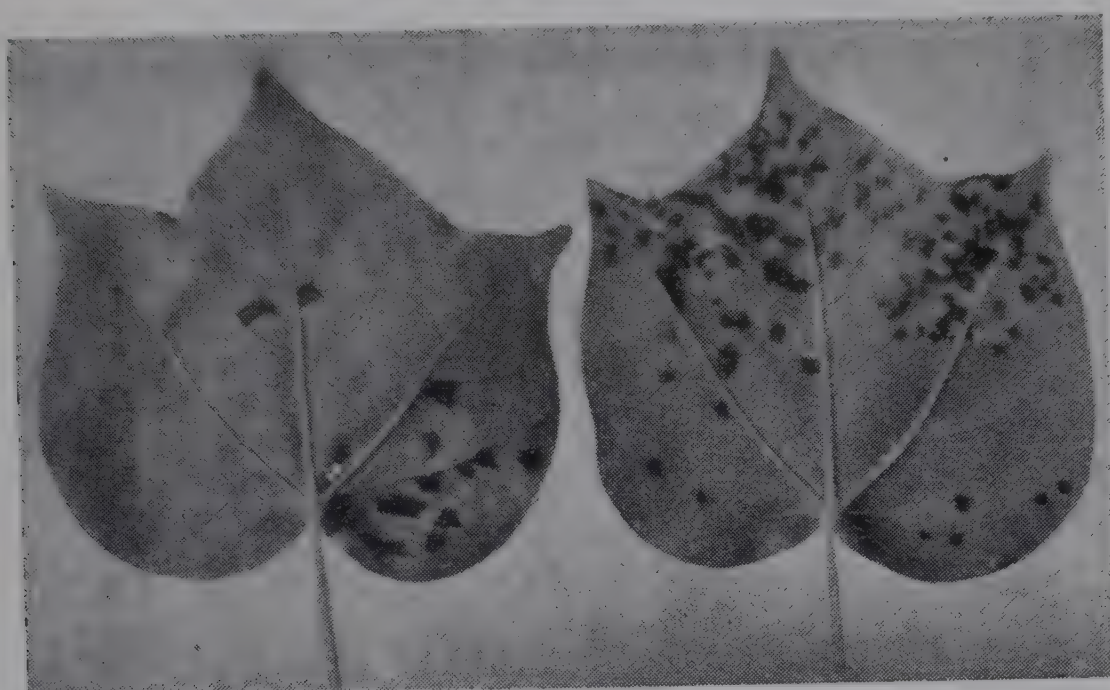
रोग प्रतिरोधक नस्लें तैयार करने की चार विधियां हैं : परिग्रहण (इंट्रोडक्शन), चयन, संकरण और कृत्रिम उत्परिवर्तन ।

बहुत सी विदेशी नस्लें ऐसी होती हैं जिनमें हमारे देश में बीमारी नहीं लगती । यदि ये नस्लें अधिक पैदावार वाली हैं और उनमें अन्य लाभदायक वैज्ञानिक कृषिकला विशेषतायें हैं तो उनको अपना लिया जाता है। यह परिग्रहण कहलाता है। यदि उनमें कोई कमी होती है जैसे अधिक पैदावार क्षमता न होना आदि, तो हम उन नस्लों को ज्यों का त्यों नहीं अपनाते, बल्कि उनकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता के गुण को अधिक पैदावार वाली नस्लों में, जो रोग ग्रस्त हो सकती हैं, चयन अथवा संकरण द्वारा पहुंचा देते हैं।

चयन

चयन की विधि में पौधे की विभिन्न नस्लों को वहां उगाया जाता है जहां रोग होने की अधिकतम सम्भावना हो और यह देखा जाता है कि किस पौधे पर रोग का प्रभाव नहीं होता। अमेरिका के डा. औरटन ने इस विधि से कपास, तरबूज और मटर के 'मुरझाने' के रोग की प्रतिरोधक किस्म की नस्लें छांटी थीं। डा. औरटन ने इस बात को समझ लिया था कि यदि सारी की सारी नस्लें रोगग्रस्त खेत में बार-बार उगायी जायें तो रोग प्रतिरोधक नस्लें ही बच जायेंगी, और अन्य नस्लें जो रोगग्रस्त हो सकती हैं, मर जायेंगी। इस विधि से कपास तथा अन्य कुछ पौधों की नस्लें चुनी गयीं तो वे रोगहीन थीं और उनकी पैदावार भी अच्छी थी। सन के 'मुरझाना' रोग से मुक्त सन की नस्ल तैयार करने के कार्य में वैज्ञानिकों को तीन महत्वपूर्ण बातों का ज्ञान हुआ : एक तो यह कि रोग, प्रतिरोधन क्षमता पर निर्भर करता है, दूसरी यह कि रोग प्रतिरोधन क्षमता पौधों का एक आनुवंशिक गुण है और वह उन्हें 'जीनों' द्वारा प्राप्त होता है। तीसरी यह कि रोग जीवाणुओं में क्रियात्मक प्रभेद (फिजिआलाजिक रेस) और समान जीनी (बायोटाइप) होते हैं। कोई पौधा यदि एक क्रियात्मक प्रभेद का प्रतिरोधक है तो यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे प्रभेद का भी प्रतिरोधक हो । यही बात समान जीनियों पर भी लागू होती है।

चयन विधि से कितनी ही टमाटर, मटर, चुकन्दर तथा अन्य अनेक पौधों की 'मुरझाना' रोग-प्रतिरोधी नस्लें तैयार की गई हैं।



जन्थोमोनस मालवासीरम जन्य रंध्रीय (स्टोमेटल) संक्रमण के कारण निवेशित (इनाक्युलेटेड) कपास की पत्तियों में कोणीय धब्बे दिखाई दे रहे हैं। बैक्टीरियल सस्पेंशन छिड़कने के बाद धब्बे छोटे तथा भूरे होने लगे हैं।

संकरण

संकरण विधि आजकल नई-नई नस्लें निकालने के लिये खूब प्रयोग में लाई जा रही है। सन् 1907 में सर बिफ्फन ने रतवा रोग के उन अंशों का अध्ययन किया जिनसे गेहूं रोग-प्रतिरोधन क्षमता प्राप्त कर लेता है। बिफ्फन ने रोग प्रतिरोधी गेहूं 'अमेरिकन क्लब' और रोग ग्राही गेहूं 'मिशिगन ब्रोन्ज' को संकरण विधि से मिलाया । इससे एक नस्ल की रोग



बाईं ओर निरोग पौधों से प्राप्त गेहूं के दाने हैं और दाईं ओर हैं उस पौधे से प्राप्त गेहूं के दाने जिस के तने में किट्ट (रस्ट) लग गया था।

प्रतिरोधन क्षमता दूसरी नस्ल में आ गई। इसके बाद बिफ्फन ने गेहूं की अनेक अच्छी नस्लें तैयार कीं और सिद्ध किया कि एक नस्ल के अच्छे गुण दूसरी नस्ल में पहुंचाए जा सकते हैं।

संकर पूर्वज संकरण

डा. औरटन ने इसी विधि से तरबूज के 'मुरझाने' रोग की प्रतिरोधी नस्लें निकालीं। उन्होंने रोग-प्रतिरोधी तरबूज का रोग-ग्राही तरबूज से संकरण कराया। इस प्रकार प्राप्त संकर तरबूज में रोग प्रतिरोधन क्षमता थी, किन्तु स्वाद अच्छा न था। इसलिये इस संकर का संकर पूर्वज संकरण (बैक क्रास) किया गया, जिससे रोग प्रतिरोधन क्षमता भी बनी रही और स्वाद भी अच्छा हो गया। यह प्रथम संकर पूर्वज संकरण उन्नत बीज तैयार करने में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है।



आलू की पौद की 'लेटब्लाइट' रोग की प्रतिरोधन क्षमता का परीक्षण। बाईं ओर रोगग्राही आलू है और दाईं ओर है रोग प्रतिरोधी आलू।

किट्ट (रस्ट), कंड (स्मट) और बंट रोगों पर किये गये परीक्षणों से अब पता लगा है कि नई नस्लें बनाना इतना सरल नहीं है जितना कि डा. औरटन और डा. बिफ्फन ने बताया। नई रोग प्रतिरोधी नस्ल तैयार करने में समक्ष आने वाली सबसे बड़ी कठिनाई रोग जीवाणुओं के क्रियात्मक प्रभेद और समान-जीनी उत्पन्न करते हैं। गेहूं के रतवा रोगों पर डा. स्टैकमैन बहुत काफी परीक्षण प्रयोग करने के बाद सभी क्रियात्मक प्रभेदों और समान जीनियों की प्रतिरोधी नस्लें निकाल पाए। जई और चुकन्दर की भी इसी विधि से नई नस्लें निकाली गयी हैं।



अमेरिका में प्रयोग

वायरसजन्य रोगों में गन्ने का मोजेइक रोग बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें पत्ती में पीली चित्ती पड़ जाती है। अमेरिका में जब गन्ने में मोजेइक रोग फैल गया था तो रोग प्रतिरोधक नस्लें जावा से तथा भारत से गन्ने की उन्नत नस्लें मंगाई गईं। जावा और भारतीय गन्ने की नस्लों का संकरण किया गया। अमेरिका की गन्ने की नस्लें न केवल मोजेइक रोग ग्राही थीं बल्कि उनमें जड़ का सड़ना और गन्ने के लाली रोग भी लगते थे। बहुत से संकरण करने से इन सब रोगों से मुक्त गन्ने की नस्ल तैयार हो पाई।

●

रेड राट रोग से प्रभावित गन्ने में गांठों में फैलते हुए लाल चकती जैसे अनियमित क्षेत्र

कपास के रोग 'कोणीय वर्ण चकता' के लिए सूडान में डा. नाइट ने कितने ही रोग-प्रतिरोधक जीन ज्ञात किये हैं और नई रोग-प्रतिरोधी नस्लें निकाली हैं। भारत में भी ऐसी रोग प्रति-रोधी नस्लें ज्ञात की गयी हैं। अन्य पौधों में जैसे ज्वार, बाजरा, मक्का, आलू, भिन्डी आदि सभी में नई रोग-प्रतिरोधक नस्लें आज किसानों को उपलब्ध हैं।

कृत्रिम उत्परिवर्तन

नई नस्लें तैयार करने की आधुनिकतम विधि है कृत्रिम उत्परिवर्तन। पौधों में आनु-वंशिक परिवर्तन के लिये तीन बातें जानना आवश्यक है। पहली यह कि पौधों की विशेषतायें जीनों पर आधारित होती हैं। दूसरी, यह कि जीनों में परिवर्तन प्राकृतिक भी हो सकता है



भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था का गामा गार्डन। यहां पौधों को विकिरणों से प्रभावित करके उनके विभिन्न गुणों का अध्ययन किया जाता है

और कृत्रिम भी। तीसरी यह कि आनुवंशिक परिवर्तन संकरण द्वारा दूसरी नस्ल के पौधों में भी पहुंचाया जा सकता है। पराबैंगनी, एक्स तथा गामा किरणें तथा नाइट्रोजन और सल्फर गैस, अल्केलाइड्स, प्यूरीन्स, पिरिमिडीन्स आदि रसायन भी पौधों में आनुवंशिक परिवर्तन ला सकते हैं। कुछ वर्ष पूर्व इन विधियों से रोग-प्रतिरोधक नस्लें 'जौ' की चूर्णी फफूंद (पाउडरी मिल्ड्यू) प्रतिरोधी, जई की बीजांकुर चित्ती (सीडलिंग ब्लाइट) प्रतिरोधी, गेहूं रतवा प्रतिरोधी और मूंगफली की पर्णचकता प्रतिरोधी नस्लें विकसित की जा चुकी हैं।

भारत में कृषि क्रान्ति

भारत में भी आनुवंशिक विज्ञान दूसरे देशों से कम उन्नति पर नहीं है। सन् 1935 म डा .बी. पी. पाल ने गेहूं की प्रचलित नस्लों में रतवा रोगों की प्रतिरोधी नस्लें तैयार करने का कार्यक्रम आरम्भ किया। इस कार्यक्रम से कई नस्लें जैसे एन. पी. 710, एन. पी 718, एन. पी. 770, एन. पी. 798 और एन.पी. 809 किसानों के लिए काफी लाभदायी रही हैं। इन नस्लों की विशेषता है कि--अधिकतम रतवा रोग अवस्थाओं में भी खूब सारी पैदावार हो जाती है। परन्तु आज भारत के गेहूं उत्पादन में क्रान्ति डा. स्वामिनाथन के अनुसंधानों का परिणाम है। डा. स्वामिनाथन ने गेहूं की एस-227 नस्ल से कल्यान सोना नस्ल निकाली है। इस नस्ल से पूर्णतया लीफ रस्ट रोग नहीं लगता। दूसरी नस्ल का नाम 'सोनालिका' है और यह तीन प्रकार के रतवा रोगों के प्रति निरापद है। एक और नस्ल भी जो 'छोटी लरमा' के नाम से पुकारी जाती है, रतवा के प्रति निरापद है।

बौना गेहूं

आजकल गेहूं की तीन जीन वाली बौनी किस्मों का नाम कौन नहीं जानता। ये नस्लें भारत में गेहूं के रतवा रोगोत्पादक सभी प्रभेदों की प्रतिरोधी हैं।

पादपरोग और रोगोत्पादक जीवाणुओं का सम्बन्ध वास्तव में इतना जटिल है कि उसे अभी तक पूर्णरूप से नहीं समझा जा सका है। रोग प्रतिरोधी नस्ल कब अपनी प्रतिरोधन



गन्ने पर मोजेइक रोग के पर्ण लक्षण (बाईं ओर) और धारीदार सिरा (दाईं ओर)

क्षमता खो बैठती है ? क्यों खो बैठती है ? इन प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक हमारे पास आज नहीं है ।

पादप रोग-जीवाणु क्रिया प्रतिक्रिया पर आनुवंशिक नियंत्रण के उदाहरण हैं—पौधों की अलग-अलग रोगग्रस्त होने की क्षमता और रोग जीवाणुओं के भिन्न-भिन्न प्रभेद और समान जीनी । रोग और आनुवंशिक विज्ञान का सम्बन्ध अटूट है, यह आज सर्वविदित है । भारत में जहां रोग नाशक औषधियां बहुत महंगी हैं, गरीब किसान के पास रोग-प्रतिरोधी नस्लें कृषि क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं ।

★

एमिनो एसिड

एमिनो एसिड बीस या कुछ अधिक प्रकार के होते हैं । यदि इन्हें निश्चित संख्या में तथा संचयों में शृंखलाबद्ध किया जाए तो ये प्रोटीन बन जाते हैं ।

●

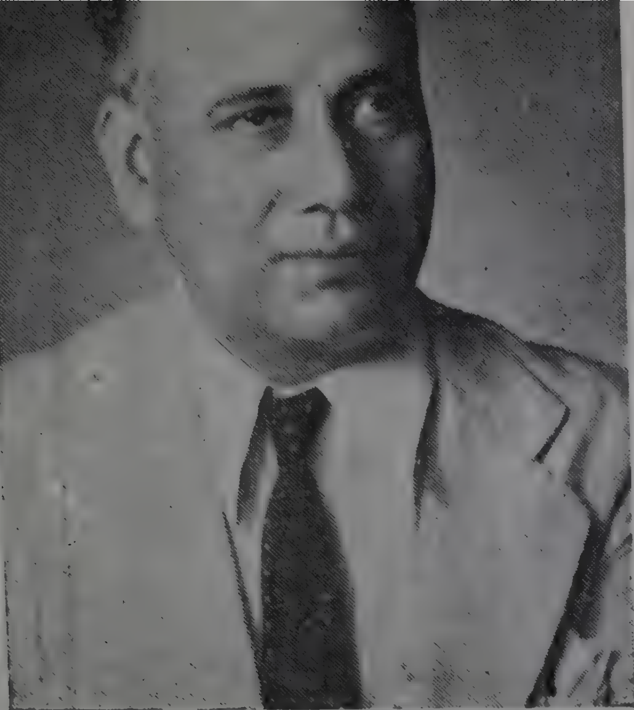
'सर्वजीव व्यापी'—प्रोटीन

प्रोटीन किसी भी जीव के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवयवों में से हैं । रक्त में प्रोटीन हैं, मांसपेशियों में हैं, बालों में है और, पक्षियों के पंखों में भी प्रोटीन मौजूद हैं ।

●

न्यूक्लिओटाइड—वर्णमाला के अक्षर

न्यूक्लिओटाइड वर्णमाला के अक्षरों की तरह हैं । जब तक उन्हें किन्हीं क्रम विशेष में नहीं रखा जाता, निरर्थक रहते हैं । क्रम में व्यवस्थित होने पर सार्थक बन जाते हैं – उसी प्रकार जैसे 'ज' और 'ल' मिलने पर जल का बोध कराते हैं ।



भारत में कोशिकानुवंशिकी और पादप-प्रजनन

रमेश दत्त शर्मा

भारतीय कोशिकाविज्ञान की शुरुआत 1920 के बाद के दशक में हुई। शुरू-शुरू में सारा जोर अलग-अलग पौधों में क्रोमोसोमों की संख्या मालूम करने पर और कैरियोटाइप बनाने पर था, पर साथ ही कोशिका-वर्गिकी (साइटोटैक्सानामी), कोशिका-भूगोल और कोशिका-रासायनिकी के क्षेत्र में भी अनुसंधान हुए हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था कोशिकानुवंशिकी और पादप-प्रजनन दोनों के लिए भारत की महत्वपूर्ण संस्था रही है। पहले वहां वनस्पति विभाग में डा. बी. पी. पॉल, डा. ए. बी. जोशी और डा. एम. एस. स्वामिनाथन के निर्देशन में इन विषयों का विकास हुआ और अब एक स्वतंत्र आनुवंशिकी विभाग स्थापित कर दिया गया है।

इसके अलावा कलकत्ता, चंडीगढ़, दिल्ली, धारवाड़, त्रिवेन्द्रम, मैसूर, पटना, वाल्टेयर, पंतनगर और लुधियाना विश्वविद्यालयों में भी अनुसंधान हो रहे हैं। जे. बी. एस. हाल्डेन ने भुवनेश्वर में अनुसंधान का एक नया पीठ प्रारम्भ किया था। टाटा इंस्टीट्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च के डा. ओबेद सिद्दीकी की न्यूक्लिक एसिड और क्रोमोसोम संबंधी खोजों ने भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है और परमाणु ऊर्जा

●

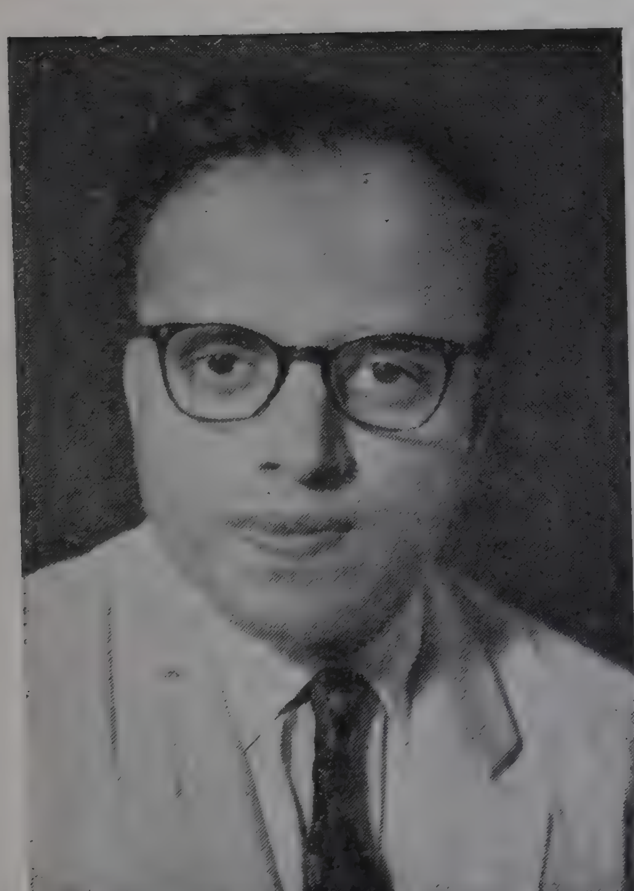
बाएं ऊपर :
डॉ. बी. पी. पाल

बाएं नीचे :
डॉ. एम. एस. स्वामिनाथन

●

(दोनों चित्र श्री हरीकृष्ण गोरखा के सौजन्य से)

●





कृषि विश्वविद्यालय, पंतनगर के फार्म में कुछ शिक्षित किसान

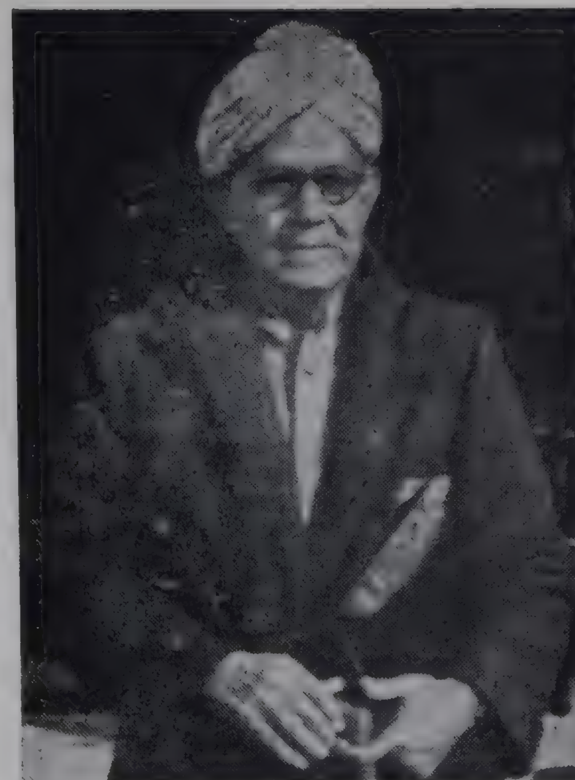
संस्थान बंबई, के जीव विज्ञान विभाग में डा. ए. आर. गोपाल आयंगर की मंडली ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है ।

पादप-प्रजनन

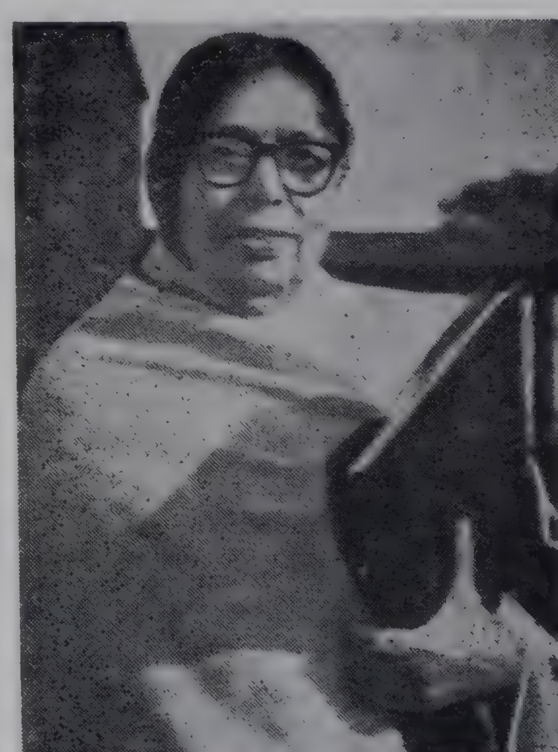
आज चारों ओर हरी क्रांति की चर्चा है। यह हरी क्रांति भारत भर में फैली उन अनुसंधानशालाओं और प्रजननशालाओं की देन है जहां फसलों से लेकर फल-तरकारियों तक की नई-नई किस्में ईजाद होती रहती हैं । अगर खोज करें तो हरी क्रांति के बीज तो तभी पड़ गए थे जब 1905 में बिहार के पूसा नामक स्थान में इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई थी जो अब नई दिल्ली में स्थित है और भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के नाम से विख्यात है । जब 1912 में कोयम्बतूर में गन्ना प्रजनन संस्थान बना और इंदौर में 1921 में इंस्टीट्यूट आफ प्लांट इंडस्ट्री स्थापित हुआ तो हरी क्रांति कुल्ले फोड़ने लगी थी । कहीं ये कुल्ले पल्लवित होने से पहले ही मुरझा न जाएं इसके लिए 1921 में भारतीय केन्द्रीय कपास समिति (इंडियन सेंट्रल काटन कमेटी) और 1929 में इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की स्थापना हुई, ताकि विविध अनुसंधानशालाओं के बीच समन्वय किया जा सके ।

पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में जूट, धान, नारियल, तिलहन, तम्बाखू, आल और सुपारी के लिए पृथक अनुसंधानशालाएं खुलीं । अब तो दालों से लेकर तरकारियों और ज्वार-बाजरा जैसी फसलों बल्कि सोयाबीन और चुकंदर तक शायद ही कोई उपयोगी फसल बची है जिसकी नस्ल सुधारने के लिए भारत में प्रयत्न न किए गए हों । इंडियन काफी बोर्ड और इंडियन टी एसोसिएशन काफी और चाय के गुण बढ़ाने में लगे हैं और धान, गेहूं, मक्का और ज्वार-बाजरा के विकास में तो संयुक्त राष्ट्र संगठन का खाद्य और कृषि संगठन (एफ. ए. ओ.) तथा राकफेलर फाउंडेशन जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का भी सहयोग प्राप्त है ।

पादप-प्रजनन का कार्य बहुत दिनों तक केवल सरकारी संस्थाओं तक ही सीमित रहा,



चौधरी रामधन सहि



डॉ. ई. के. जानकी अम्मल



डॉ. नटराजन

परन्तु अब अनेक विश्वविद्यालयों में भी चल रहा है—खास तौर से कृषि विश्वविद्यालयों में। पंतनगर में उत्तरप्रदेश कृषि विश्वविद्यालय ने डा. रिपुसूदन लाल पालीवाल के निर्देशन में गेहूं, मक्का, धान, संकर ज्वार और संकर बाजरा, सोयाबीन तथा चीनी-चुकंदर के प्रजनन के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है । बंगलौर व लुधियाना के कृषि-विश्वविद्यालयों में भी उल्लेखनीय कार्य हो रहे हैं ।



डॉ. ओबेद सिद्दीकी

शुरू-शुरू में प्रजनन कार्य का लक्ष्य अधिक उपज प्राप्त करना और रोगरोधिता ही था, पर अब पोषण-संबंधी उपयोगिता पर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है । गेहूं-प्रजनन का कार्य एल्बर्ट हावार्ड ने शुरू किया था, जिसे डा. बी. पी. पाल, रामधनसिंह, और बी. एस. कदम ने आगे बढ़ाया । बाद में डा. स्वामिनाथन ने रेडियो-विकिरण के प्रयोग से गेहूं की किस्मों में अनेक उत्परिवर्तन पैदा किए और उपयोगी किस्मों का वरण किया । अब तो मैक्सिको के महान गेहूं-प्रजनक डा. नोर्मन ई. बोर्लोग द्वारा पैदा की गई बौनी किस्मों से प्रजनन द्वारा पूसा इंस्टीट्यूट और पंतनगर तथा लुधियाना में अनेक भारतीय किस्में पैदा की गई हैं जिनमें सोनालिका, कल्याण-



डा. ए. आर. गोपाल आयंगर

सोना, शर्बती सोनारा और एस. 308 इत्यादि ने आज की गेहूं-क्रांति को जन्म दिया है। अब ऐसे गेंहूं की खोज जारी है जो और भी ज्यादा बौना हो यानी जिसमें 'बौनेपन की तीन जीन' हों और जिसकी उपज और प्रोटीन मान भी अधिक हो। पंतनगर विश्व-विद्यालय ने यह किस्म पैदा तो कर ली है, पर वे किसानों को देने से पहले पूरी तरह आश्वस्त होना चाहते हैं।

उल्लेखनीय योगदान

कपास-प्रजनन में जी. ए. गामी, जी. एल. कोट्टर, एस. एच. प्रयाग, बी. रामनाथन, के. साहनी, एम. एल. पटेल, एस. जी. केलकर इत्यादि का कार्य प्रमुख है। गन्ना-प्रजनन में धवन और पालीवाल का योगदान उल्लेखनीय हैं। ज्वार-बाजरा के लिए रंगास्वामी आयंगर प्रसिद्ध हैं। आलुओं की नस्ल सुधारने में डा. पुष्करनाथ का प्रमुख हाथ है। तंबाकू सुधार में बी. एस. कदम और बी. पी. पाल का योग मूल्यवान है। फल-तरकारियां, दालों की भी बढ़िया किस्में निकाली गयी हैं। डा. पाल के गुलाबों ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है।

इन वरिष्ठ पादप-प्रजनकों ने एक ऐसी नई पीढ़ी भी तैयार कर दी है जिसकी प्रतिभा विश्व के किसी भी प्रजनन-संस्थान के युवकों से कम नहीं है।

निकट भविष्य में हम खाद्यान्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर ही नहीं हो जाएंगे, बल्कि अनेक देशों को निर्यात भी करने लगेंगे।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान द्वारा लायी गई कृषि क्रांति की चित्रमय झांकी

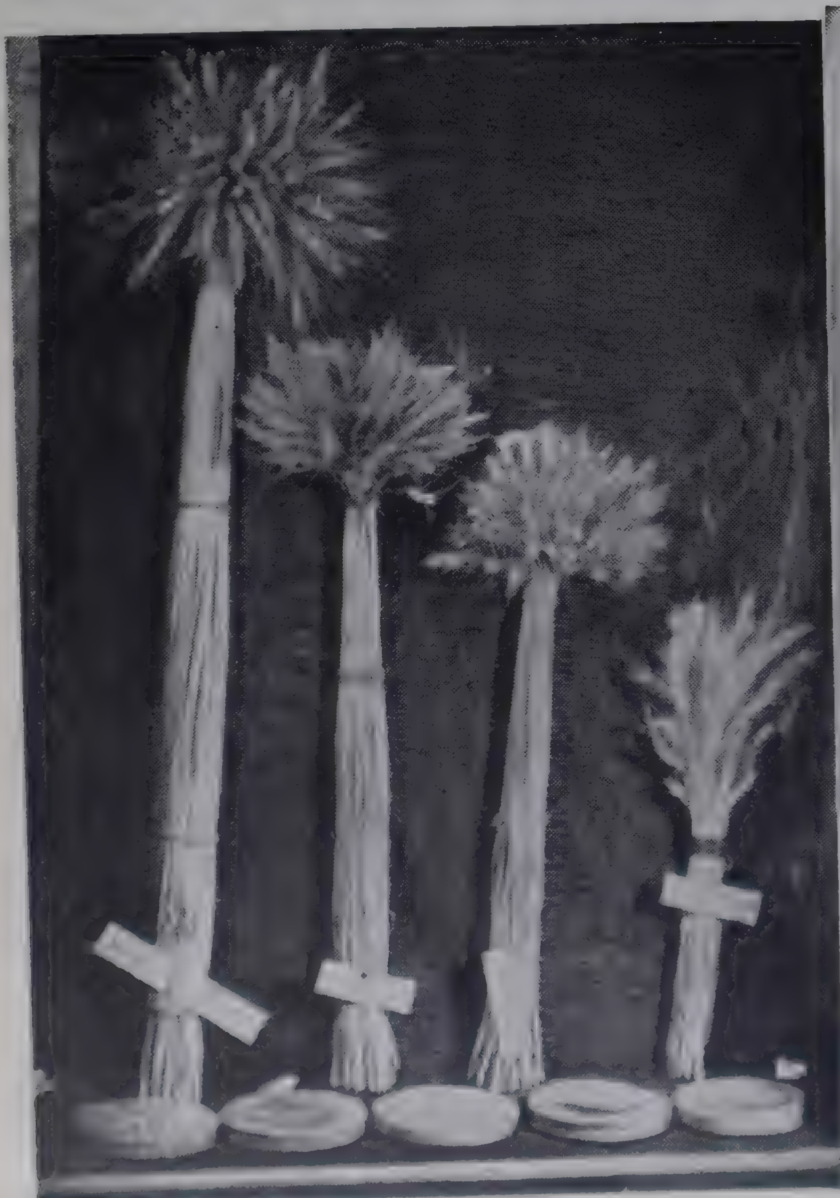


(बायें से) लम्बी किस्म, एक जीन बौना गेहूं,
दो जीन बौना गेहूं, और तीन जीन बौना गेहूं



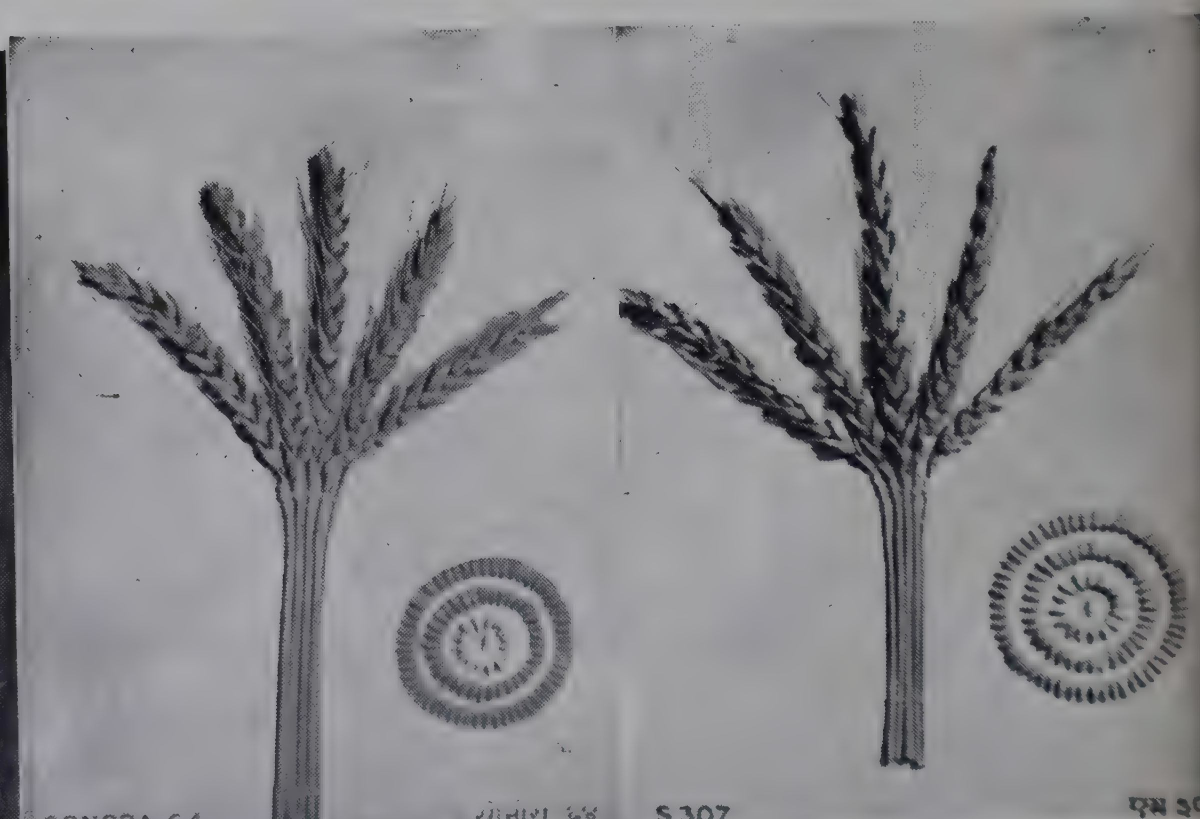
एन. पी.–718 किस्म का गेहूं

↓ (बाय से) एन. पी.–824, सोनालिका, सरबती सोनोरा, एच. डी. एम. 66–1634



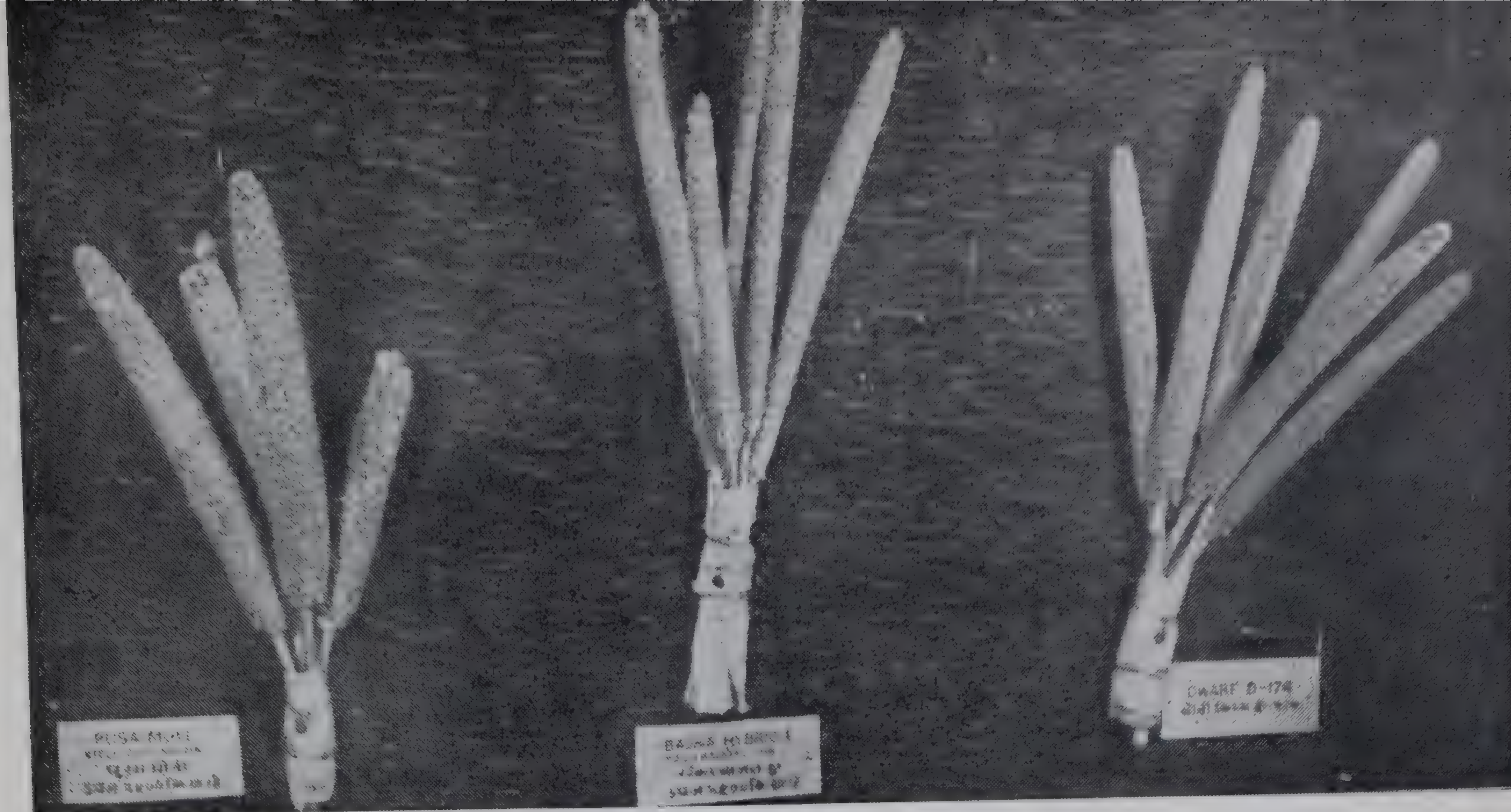
(ऊपर—बायें से) एन. पी.-4, एन. पी.–710, एन. पी.–809.
(नीचे—बायें से) एन. पी.–52, एन. पी.–798, एन. पी.–876.





सोनोरा-64.

एस-307.





ऊपर—

(बायें से) पूसा मोती, संकर बाजरा–4. और बौना डी–174. बाजरा

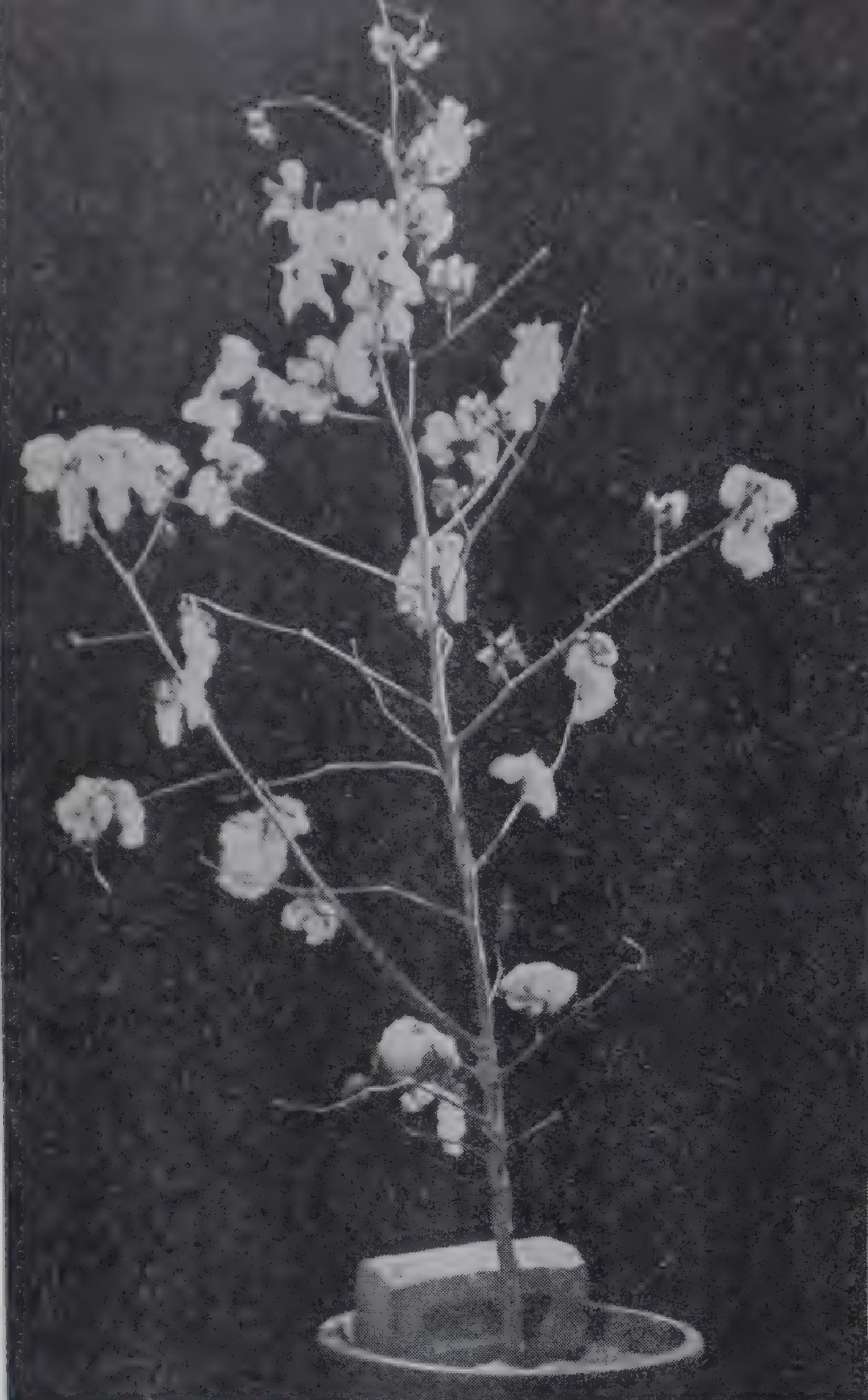
बायीं ओर—

ज्वार की कुछ बढ़िया किस्में

नीचे—

1. हिमालय–123; 2. गंगा–101; 3. गंगा–3; 4. गंगा–2; 5. रणजीत; 6. डैकन; 7. हाई स्टार्च





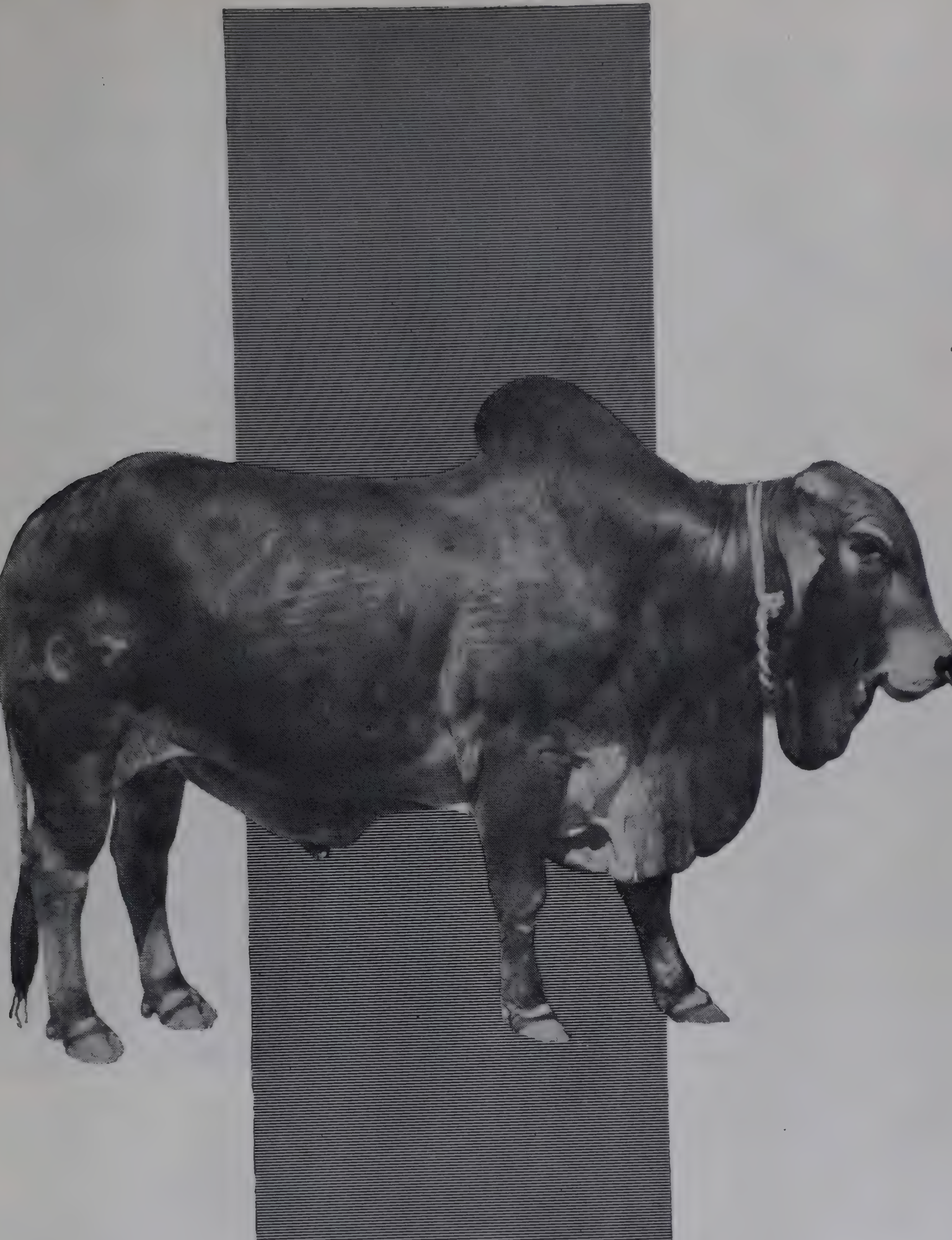
सी-201 किस्म की कपास



दिग्विजय और सरनम के संकरीकरण से विकसित कपास



एच–14 किस्म की कपास



पशुपालन
ग्रौर
आनुवंशिकी

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान में प्रयोग—

पशु-संकरण से दूध उत्पादन में वृद्धि

गुरचरनसिंह

देश में पशुओं के गुणों में सुधार करने की आवश्यकता को, विशेषतया उनकी दुग्ध-उत्पादन क्षमता को बढ़ाने की आवश्यकता को, बहुत समय से अनुभव किया जा रहा है। हमने इस आवश्यकता को न केवल समझा अपितु सन् 1951 में प्रारंभ होने वाली प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ प्रारंभ होने वाले देश के आर्थिक आयोजन के उपरांत हम पशु-सुधार की दिशा में अधिकाधिक सक्रिय कदम उठाते आये हैं।

देश में तीव्र गति से जनसंख्या में वृद्धि होने, नागरीकरण, उद्योगीकरण, शिक्षा के प्रचार व आय बढ़ाने की क्षमता में वृद्धि हो जाने से द्रव रूप में दूध की मांग दिनोंदिन बढ़ती चली आई है। नगरों और औद्योगिक केन्द्रों में तो दूध की कमी को बुरी तरह से अनुभव किया जाता रहा है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् (इंडियन काउंसिल आफ मेडीकल रिसर्च) की पोषकता परामर्शदात्री समिति (न्यूट्रिशन ऐडवाइजरी कमेटी) ने सुझाव दिया था कि संतुलित आहार के लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रति दिन दस औंस दूध अवश्य मिलना चाहिए। किंतु दुग्ध-उत्पादन के इस स्तर पर पहुंचने में बहुत अधिक समय लगने की संभावना थी इसलिये समिति ने यह सुझाव दिया कि पहले निकट भविष्य में केवल छः औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिन दूध का लक्ष्य ही निर्धारित किया जाय।

प्रथम केन्द्र

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (आई. ए. आर. आई.) ने सन् 1904 में ही साहीवाल नस्ल के सुधार तथा इसकी दुग्धोत्पादन क्षमता बढ़ाने का काम हाथ में ले लिया था। (दुग्धोत्पादन की दृष्टि से यह नस्ल देश में पाई जाने वाली सभी नस्लों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।) अतः इस नस्ल की 64 गौएं और 10 सांड लेकर उत्तर बिहार के पूसा नामक स्थान पर एक केन्द्र स्थापित किया गया। संस्थान के विकास के साथ इन पशुओं की संख्या में वृद्धि होती गई परंतु यह अनुभव किया गया कि चयन की प्रक्रिया से नस्ल सुधार के काम में आनुवंशिक लाभ की वार्षिक दर केवल 1.5 प्रतिशत रहेगी और इससे औसत दुग्धोत्पादन क्षमता दुगुनी करने में 70 साल लग जाएंगे। अतः सन् 1913-14 में भारतीय साहीवाल गायों का आयरशायर सांडों से जोड़ करवाने का कार्य प्रारंभ किया गया। संकरण के ये प्रयोग विशुद्ध प्रयोगात्मक ही थे। इनका उद्देश्य यह जानकारी प्राप्त करना था कि संकरण द्वारा विदेशी नस्ल के जिन-जिन लक्षणों का संचार होता है वे उपयोगी हैं अथवा नहीं।



एक उत्तम साहीवाल गाय। इसने दस महीने की एक दूध-अवधि में अधिकतम 13,004 पौंड दूध दिया।

सन् 1915-16 में संस्थान में दो आयरशायर सांड तथा 25 युवा संकर पशु। प्रथम आयरशायर सांड द्वारा उत्पन्न कराई गई संकर युवा बछियों का जोड़ दूसरे आयरशायर सांड द्वारा उत्पन्न संकर सांडों से कराया गया।

सन् 1916-17 में किसी भी संकर पशु ने चूंकि दूध देना प्रारंभ नहीं किया था, इसलिये उनके दुग्धोत्पादन संबंधी विवरण उपलब्ध होने का तब प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। लेकिन तब आशा यही थी कि न केवल उनकी दुग्धोत्पादकता बढ़ जाएगी बल्कि यह भी कि संकर गायें भविष्य में अधिक नियमपूर्वक बच्चे देंगी और यह भी कि उनके बछड़े-बछियों का दूध भी छुड़वाया जा सकेगा। तब यह भी निश्चय किया गया कि संकर गौओं से भविष्य में संकर सांडों से ही जोड़ कराया जाएगा, न कि विशुद्ध आयरशायर सांडों से।

संकरण से प्रजनन का कार्य सन् 1917-18 में भी जारी रखा गया और दो संकर सांडों को जोड़ कराने के लिये निर्धारित कर दिया गया। छः युवा बछियें अब बढ़िया किस्म की गौएं बन चुकी थीं और इनमें से अधिकांश में अपनी माताओं की नस्ल की अपेक्षा अपने पिताओं की नस्ल के लक्षण बहुतायत में पाए जाते थे।

संकर प्रजनन लाभदायी

सभी युवा बछियों अर्थात् ओसरों के ऐन बहुत सुंदर गठे हुए तथा टांगों से दूर आगे की तरफ स्थित थे। यह लक्षण निश्चित ही साहीवाल नस्ल से सर्वथा भिन्न था। बच्चा देने के बाद ये एक से तीन महीने के अंदर-अंदर पुनः सांड से सहवास करने लगतीं जबकि साहीवाल नस्ल की गाएं ब्याहने के कई महीने बाद तक सांड से दूर रहती हैं।

पहली संकर ओसर ने जिसका नाम एलिबाइ था पहला बच्चा 20 अक्तूबर, 1917 को दिया। आयरशायर और साहीवाल के संकरण से उत्पन्न बधिया किए गए बछड़े बड़े मेहनती पाए गए। बड़े और बोझल होने के साथ-साथ वे तेज चाल व भारी बोझ उठाने, इन दोनों ही कामों के लिये बहुत उपयोगी थे।

उस समय ऐसा मालूम होता था कि $\frac{3}{4}$ संकर बैलों की पसलियां अर्ध-संकरों की अपेक्षा आम तौर पर लम्बी और मोटी होती हैं और प्रारंभ में वे अपेक्षाकृत सुस्ती से काम करते हैं।

उस समय पूसा में प्राप्त परिणामों से यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध आयरशायर नस्ल के सांड के जोड़ कराने से भारतीय गाय की औसत दुग्धोत्पादन क्षमता दुगुनी की जा सकती है। संकर गाय के दूध में मक्खन-वसा की औसत मात्रा 4.6 प्रतिशत पाई गई। उन दिनों पशुओं के संकरण की बहुत कटु आलोचना की गई। आलोचकों का कहना था कि संकर पशु तुलनात्मक रूप से शीघ्र रोगग्रस्त हो जाते हैं। अतः आदर्श किस्म का



भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था, नई दिल्ली में उत्पन्न व पाला-पोसा गया एक युवा फ्रीजियन सांड



कृषि अनुसंधान संस्था, नई दिल्ली में उत्पन्न एक गुणवती संकर ओसर (बछिया)।



साहीवाल नस्ल का एक उत्तम सांड

पशु वह हो सकता था जिसमें रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता तो देशी पशुओं जैसी हो और दुग्धोत्पादकता विदेशी नस्ल के पशुओं जैसी।

सन् 1920-21 में संकरण का कार्य बड़ी रुचिकर अवस्था में पहुंच गया। इसलिये कि इस समय संकर - संकर (क्रास-क्रास) गौओं की पहली खेप और कई $\frac{1}{4}$ और $\frac{3}{4}$ संकर गौएं दूध देने की अवस्था में पहुंच गई थीं। (संकर-संकर गौओं का अभिप्राय उन गौओं से है जोकि संकर गौओं और संकर सांडों के जोड़ से उत्पन्न हुई हों।) अतः अब इस बात की जांच की जा सकती थी कि सर्वाधिक उपयोगी गौएं तैयार करने के लिये किस लाइन का चयन किया जाय।

संकरण योजना में बाधा

पशुओं के संकरण की योजना को खुरपका-मुखपका रोग के फल जाने से बहुत धक्का लगा। इसके कारण पहले तो अगस्त 1922 में दोनों आयरशायर सांड मर गए और मार्च 1923 के दूसरे प्रकोप में

थोड़े ही समय में उन्नीस बछड़े-बछियां मर गईं। इन सबको जन्म से ही मां का दूध नहीं चोखाया जाता था बल्कि अलग से बरतन में निकालकर पिलाया जाता था। इसी प्रकार ¾ संकर पशुओं पर गर्मी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित था। इसका अभिप्राय यह था कि उनकी दुग्धोत्पादन क्षमता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः यह उचित समझा गया कि उन्हें केवल अधिक ऊंचाई वाले क्षेत्रों में ही रखा जाना चाहिए।

पूसा में प्रयोग

साहीवाल गायों और आयरशायर सांड के जोड़ से उत्पन्न प्रथम संकर गायों का औसत दुग्धोत्पादन अपनी माताओं की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक था और कहीं-कहीं तो इससे भी अधिक। इस प्रकार की अर्ध-संकर आयरशायर गाय ने एक दूध देने की अवधि में औसतन 3170 लिटर दूध दिया जबकि एक साहीवाल गाय ने औसतन 1155 लिटर। पूसा में मौजूद झुंड की सर्वोत्तम साहीवाल गाय ने 300 दिनों में 3181 लिटर दूध दिया जबकि घटिया साहीवाल गाय की आयरशायर से उत्पन्न संकर संतानों ने इस दौरान में 5454 लिटर दूध दिया। निस्संदेह वे डेरी के काम के लिये अच्छी गाएं सिद्ध हुईं। वे जल्दी और नियमित ढंग से बच्चे देती थीं। इनके बछड़े फुर्तीले और कमाऊ बैल बने। लेकिन आयरशायर सांडों और आयरशायर-साहीवाल गायों से उत्पन्न आगे की संकर संतानें काफी घटिया सिद्ध हुईं।

सन् 1929-30 में भारत सरकार के आदेश पर संकर प्रजनन के प्रयोग बंद कर दिये गए और संकरण से उत्पन्न पशु-समूह तितर-बितर कर दिया गया।

सन् 1930 के उपरांत पशु-प्रजनन का कार्य मात्र साहीवाल नस्ल के सुधार तक ही सीमित कर दिया गया। इसी वंश की उत्तम गायों व सांडों के चयन और वैज्ञानिक दाने-चारे के साथ-साथ उचित प्रबंध के परिणामस्वरूप पूसा पशुशाला में मौजूद साहीवाल नस्ल के पशुओं में बहुत सुधार किया गया। सन् 1932 में दो बार की बजाय गायों को चार बार दुहने की प्रणाली अपनाई गई। इससे दुग्धोत्पादन अपेक्षतया 25 प्रतिशत बढ़ गया। इस प्रकार दूध देने की दस महीने की अवधि में गायों ने औसतन 2955 लिटर दूध दिया, पहली संतान उत्पन्न करने की आयु 41 महीने से घटकर 29.5 महीने हो गई तथा दूध न देने की सूखी अवधि 208 दिन से कम होकर 90 दिन रह गई।

अधिक दूध धारिता आवश्यक

पशु-संकरण पर किये गए अब तक के प्रयोगों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक दूध-अवधि में औसतन 1500-2000 किलोग्राम दूध देने वाली गाएं उत्पन्न की जा सकती हैं। वास्तव में इतना दूध देने वाली गाय ही स्वीकार्य हो सकती है क्योंकि कुछ वर्ष पहले नेशनल डेरी रिसर्च इंस्टीट्यूट, करनाल में किये गए अध्ययनों के अनुसार यह अनुमान लगाया गया है कि एक दूध-अवधि में 1800 कि. ग्रा. अथवा इससे अधिक मात्रा में दूध देने वाली गाएं ही आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो सकती हैं। पुराने समय में हमारे देश में पशुओं का विकास खेती की



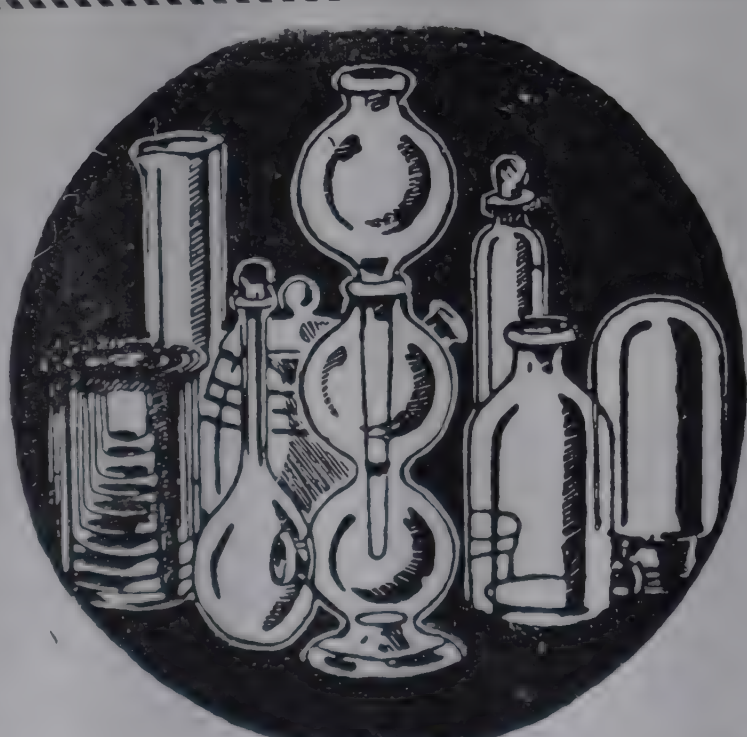
आयरशायर सांड व साहीवाल गाय से उत्पन्न सर्वाधिक (10 महीने में 12000 पौंड) दूध देने वाली 'एलिबाइ' नामक संकर गाय



बढ़िया किस्म का फ्रीजियन सांड



अधिक दूध देने वाली एक फ्रीजियन गाय



आवश्यकता के अनुरूप हुआ है, इसलिये उनकी दूध देने की क्षमता बढ़ाने की ओर कुछ कम ही ध्यान दिया गया। लेकिन मशीनी खेती के प्रादुर्भाव से अब पशुओं का कृषि में उपयोग आर्थिक दृष्टि से लाभकर नहीं रहा है। अतः अब पशुओं की दूध-धारिता बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है। और दूध-धारिता शीघ्र बढ़ाने का एकमात्र उपाय विदेशी नस्ल के पशुओं से देशी नस्ल के पशुओं का संकरण ही है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर विदेशी नस्ल के उत्तम सांडों का जैसे कि होल्स्टीन-फ्रीजियन, जर्सी, ब्राऊन स्विस व रैड डेन का आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड और डेनमार्क से आयात किया गया है।

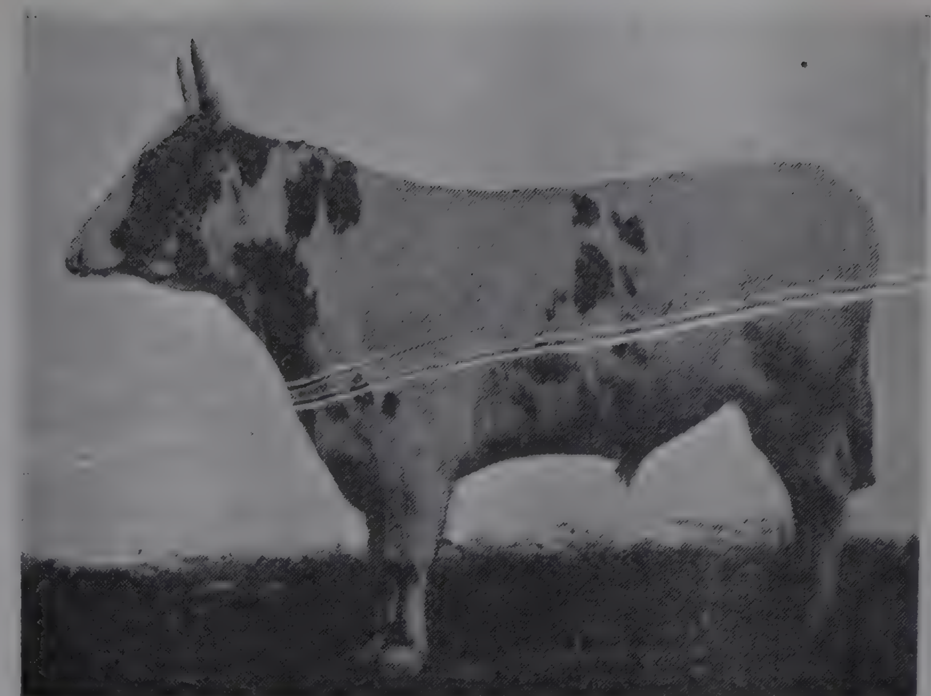
संस्थान के साहीवाल झुण्ड का दुग्धोत्पादन यद्यपि संकरण द्वारा काफी बढ़ा दिया गया है तो भी पिछले कुछ वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा है कि अब इसे और बढ़ाना संभव नहीं है। यदि ऐसा किया गया तो 'इनब्रीडिंग' अर्थात् कुटुम्ब के निकट संबंधियों में अंतःप्रजनन सरीखे दुष्प्रभाव प्रकट होने लगेंगे। (इस प्रकार के पशु अंतःप्रजनन में पिता का पुत्री से व बेटे का माता से जोड़ हुआ करता है।)

अतः दुग्धोत्पादन बढ़ाने के लक्ष्य से यह निश्चय किया गया कि दूध देने वाली संसार की सर्वोत्तम नस्ल—होल्स्टीन-फ्रीजियन नस्ल—का साहीवाल नस्ल से संकरण कराया जाय। इसी उद्देश्य से सन् 1965 में आस्ट्रेलिया से 12 युवा बछियों (ओसरों) और 3 सांडों का आयात किया गया। संस्थान में विशुद्ध फ्रीजियन नस्ल के पशु भी पाले जा रहे हैं और अध्ययन किया जा रहा है कि गर्म देश के जलवायु में रहने पर उनके दुग्धोत्पादन आदि पर क्या प्रभाव पड़ता है।

फ्रीजियन नस्ल

फ्रीजियन नस्ल मूल रूप से हालैण्ड की है और संसार में पाई जाने वाली सर्वाधिक पुरानी नस्ल है। बड़े आकार के होने पर भी इन पशुओं में कई सुन्दर विशेषताएं हैं। ये जल्दी उत्तेजित नहीं होते और डेरी की दृष्टि से तो इनका स्वभाव अत्युत्तम है। यह बहुत अधिक दूध देने के लिये विख्यात हैं और इनके दूध में मक्खन-वसा की मात्रा 3.3 से 3.6 प्रतिशत होती है। इन पशुओं की एक बड़ी विशेषता इनकी अनुकूलन क्षमता है जिससे ये विदेशों में भी खुश रह लेते हैं। ये हरा रसदार, मोटा चारा भी खूब खाते हैं और उसे आसानी से पचा लेते हैं। दाना भी यह खूब खा सकते हैं और उसका इन पर प्रभाव शीघ्र पड़ता है।

सर्वाधिक दूध देने का विश्व कीर्तिमान फ्रीजियन नस्ल ने ही स्थापित किया है। ब्रिटेन की 'गॉर्डन मिनी' नाम की फ्रीजियन गाय ने एक दिन में 87.36 लिटर दूध दिया था। 'एम. एफ. ग्रेसफुल' नामक एक अन्य फ्रीजियन गाय ने अपने जीवन भर में 144,107 कि.ग्रा. दूध देकर विश्व कीर्तिमान स्थापित किया हुआ है। संस्थान की फ्रीजियन गायों ने भी अपने तीन वर्ष के अब तक के आवास में बड़ा उत्साहवर्धक दुग्धोत्पादन किया है।



विक्टरी बांड नामक आयरशायर नस्ल का एक सांड

एक औसत दूध-अवधि में फ्रीजियन गायों का दुग्धोत्पादन निम्न-लिखित रहा है :

सन्	दूध की मात्रा (लिटर में)
1966	3779
1967	3773
1968	4691

एक फ्रीजियन गाय न अपनी दूसरी दूध-अवधि अर्थात् 1968 में सर्वाधिक दूध दिया। दसमहीने की अपनी इस दूध-अवधि में उसने 7,392 लिटर दूध दिया। इसी प्रकार एक दिन में सर्वाधिक दूध देने का रेकार्ड 44 लिटर का है। ये आंकड़े इसलिये उत्साहवर्धक हैं कि यह तो अभी प्रारंभिक अवस्था के ही परिणाम हैं और फ्रीजियन-होल्स्टीन गाएं सर्वाधिक दूध बाद के वर्षों में देती हैं।

इसी प्रकार संस्थान में दुग्धोत्पादन बढ़ाने के लिये साहीवाल और फ्रीजियन नस्लों के संकरण की योजना चालू हो चुकी है। इस प्रथम संकरण से उत्पन्न ओसरें इस वर्ष ब्याहने वाली हैं और अनुमान है इसका परिणाम भी पर्याप्त उत्साहवर्धक रहेगा। संस्थान में यह भी अध्ययन किया जा रहा है कि प्रथम संकरण से उत्पन्न बछड़े-बछियों के विकास की दर क्या है, उनमें परिपक्वता किस उम्र में आ जाती है तथा इस देश की जलवायु के अनुकूल होने के सिलसिले में उनकी प्रगति कैसी चल रही है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ये प्रथम संकर गाएं अपनी देशी माताओं की अपेक्षा कहीं अधिक दूध देंगी। विशुद्ध फ्रीजियन युवा सांड जोकि इसी संस्थान में जन्मे और पाले-पोसे गए हैं, अब विभिन्न राज्यों के प्रजनन फार्मों और सघन पशु-सुधार प्रोजेक्ट केन्द्रों को दिये जा रहे हैं। आशा यही है कि इस बढ़िया नस्ल के साथ संकरण होने पर देशी नस्ल के सुधार की दिशा में महत्वपूर्ण गतिरोध दूर होगा और निकट भविष्य में ही देशी गायों की दूध देने की क्षमता बहुत अधिक बढ़ जाएगी। यह भी आशा है कि इससे देश में दूध की गंभीर कमी को भी समाप्त किया जा सकेगा।

आनुवंशिकी द्वारा पशुओं की नस्ल सुधारना

एस. नागराजन

अविश्वसनीय होते हुए भी यह सत्य है कि हमारे देश में पशुओं की संख्या संसार में सबसे अधिक है पर दूध का उत्पादन कदाचित सबसे कम। समझा जाता है कि संसार के कुल पशुओं का बीस प्रतिशत भारत में है परन्तु दूध का उत्पादन केवल 6.1 प्रतिशत है। भारत की एक गाय वर्ष में औसतन 173 किलोग्राम और भैंस 491 किलोग्राम दूध देती है जबकि डेनमार्क की गाय का औसत वार्षिक दूध उत्पादन 3710 किलोग्राम, स्विट्जरलैंड की गाय का 3250 किलो और अमेरिका की गाय का 3280 किलो है। ये आंकड़े उस समय और भी अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं जब हमें यह मालूम होता है कि हमारे देशवासियों को प्रजनन के लिये सांड पालने की विधि उस समय भी ज्ञात थी जब आधुनिक वैज्ञानिक विधियां विकसित नहीं हुई थीं।

हमारे पशुओं की दूध देने की क्षमता के इस ह्रास के कई कारण हैं। इनमें चारे की कमी, पालने की समुचित व्यवस्था का अभाव तो ही है साथ ही प्रजनन के लिये बढ़िया नस्ल के जानवरों की कमी भी है। प्रजनन कराने के लिये बढ़िया सांडों की संख्या तो हमारे देश में बहुत कम है। समझा जाता है कि जहां 250 सांडों की आवश्यकता है वहां केवल एक ही सांड उपलब्ध है।

बढ़िया सांडों का विकास

सन् 1900 में पौधों में संकरीकरण संबंधी मैंडल के सिद्धान्तों की पुनः खोज के बाद वैज्ञानिकों का ध्यान जंतुओं के संकरीकरण की ओर भी आकृष्ट हुआ। इसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों में बढ़िया नस्ल के पशु विकसित किये गये। इस शताब्दी के तीसरे दशाब्द में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की स्थापना हुई। उसके बाद भारत में पशुओं का वैज्ञानिक विधियों से प्रजनन कराने का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। उस समय से अब तक, पिछले लगभग 40 वर्षों में, यह कार्यक्रम तीन विभिन्न चरणों से गुजरा है। पहले चरण में गाय और भैंसों के लिये प्रजनन फार्म (ब्रीडिंग फार्म) खोले गये। यहां विशेष बढ़िया किस्म के सांड-भैंसे आदि पाले जाते थे जिनसे अच्छी नस्ल के बच्चे पैदा हो सकें। इन फार्मों में **साहीवाल, लाल सिंधी, हरियाणा, गिर, कान्क्रेज**, आदि नस्ल के बैल और **मुर्रा** भैंसे पाले जाते थे।



जर्सी सांड

कार्यक्रम के दूसरे चरण में जो शताब्दी के चौथे दशाब्द के अंत में आरम्भ हुआ था, प्रयोगशाला स्तर पर कृत्रिम गर्भाधान विधियां विकसित की गई। इस चरण में बढ़िया नस्ल की गायों को प्राकृतिक रूप से ग्याभन कराया गया। तीसरे चरण में बड़े पैमाने पर बढ़िया नस्ल के सांडों से देशी गायों का प्रजनन कराया गया।

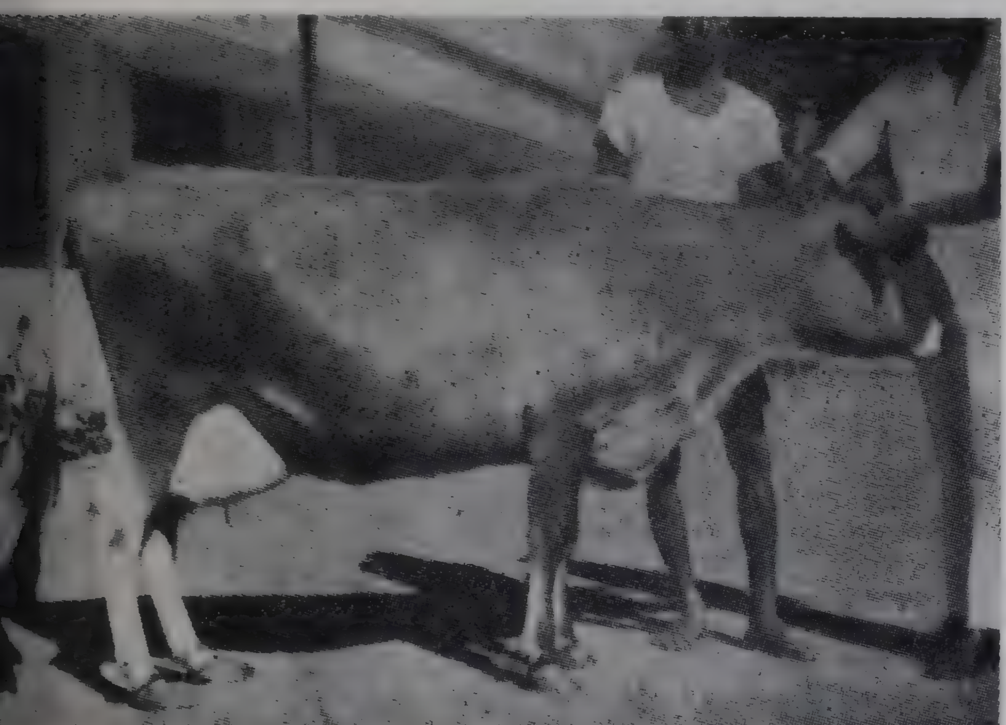
इस कार्यक्रम से अन्य देशों में विकसित बढ़िया नस्ल के पशुओं का उपयोग करके हमारे देश में भी अच्छे नस्ल के पशु विकसित किये गये। इसके दौरान विदेशों से सांड मंगाये गये। उदाहरणार्थ ब्रिटेन से **जर्सी** नस्ल के, स्काटलैंड से **आयरशायर**, हालैंड से **होल्स्टीन-फ्रीजियन**, स्विट्जरलैंड से **ब्राउन-स्विस** नस्ल के सांड मंगाये गये।



ब्राउन स्विस–साहीवाल संकर गाय

प्रजनन और दुग्ध-उत्पादन

पशुओं में संतान को जनकों से विरासत में दुग्ध उत्पादन क्षमता मुख्य रूप से योगज (एडीटिव) तरीके से मिलती है। दूसरे शब्दों में दुग्ध उत्पादन क्षमता को एक नहीं वरन् अनेक जीन नियंत्रित करते हैं। ये जीन एक दूसरे की क्षमता को बढ़ाते हैं। इस व्यवस्था में संतान की दूध देने की क्षमता जनकों की औसत क्षमता से लगभग आधी होती है परन्तु कुछ दशाओं में वह जनकों की औसत का गुणोत्तर माध्य (ज्योमैट्रिकल मीन) हो जाती है।



जर्सी गाय



जर्सी–सिंधी संकर गाय

वरणात्मक स्वजातीय प्रजनन में अर्थात एक ही नस्ल के सांड और गाय का मेल कराने से दूध उत्पादन में पीढ़ी-दर-पीढ़ी वृद्धि तो अवश्य होती है पर कितनी भी अच्छी किस्म की गाय का वरण करने के बाद भी अगली पीढ़ी में दूध उत्पादन में लगभग 5 प्रतिशत वृद्धि ही हो पाती है। इस तरीके से दूध उत्पादन क्षमता को दुगना करने के लिये 15-16 पीढ़ियों की आवश्यकता होती है और समय लगता है लगभग 100 वर्ष।



होल्स्टीन–फ्रीजियन सांड

इसके विपरीत संकर प्रजनन में भिन्न-भिन्न बढ़िया नस्लों के सांड और गायों का मेल कराने से यह क्षमता तेजी से बढ़ती है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि जनकों का चयन सावधानी से किया जाये। बेहतर यह होता है कि विदेशी सांड (जिसकी मां अधिक दूध देने वाली हो) का देशी, बढ़िया नस्ल की गाय से मेल कराया जाये। परीक्षणों में यह पाया गया है कि यदि जीन क्रिया केवल योगज होती है तो ऐसे सांड,

जिसकी नस्ल की औसत दूध उत्पादन क्षमता 4000 किलोग्राम वार्षिक है, का संकरण ऐसी गाय, जिसकी नस्ल की औसत उत्पादन क्षमता 1000 किलो. हो, से कराने पर पहली पीढ़ी में उनके वंशजों की क्षमता 2500 किलो. वार्षिक होनी चाहिये। इस प्रकार एक ही नस्ल के जनकों के सहवास से जो परिणाम 100 वर्षों में प्राप्त होते हैं संकरण से वे 6 वर्षों में ही मिल जाते हैं।

संकर नस्ल की संतान को विदेशी पशु से मेल कराकर अथवा संकर और देशी नस्ल के पशुओं में मेल कराकर नई संकर नस्लें पैदा की जाती हैं। इन दोनों दशाओं में वंशजों की दूध उत्पादन क्षमता योगज जीन प्रक्रिया के अनुसार जनकों की क्षमताओं के योग का आधा होना चाहिये। पहली दशा में दूसरी पीढ़ी के पशुओं की दूध उत्पादन क्षमता 3000 किलोग्राम वार्षिक पायी गई और दूसरी दशा में 1700 किलोग्राम।

बढ़िया संकर नस्ल के पशु उपलब्ध करने की एक अन्य विधि है अर्द्ध-संकर-नस्लों के पशुओं का आपस में मेल कराना। इससे भी दूध उत्पादन क्षमता उपर्युक्त नियम के अनुसार बढ़ जाती है।

भारत में संकरीकरण कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य अच्छी नस्ल (संकर नस्ल) के अधिक दूध देने वाले पशुओं का उत्पादन तो है ही, पशु रोगों का नियंत्रण, उनके लिये चारे वगैरह का समुचित प्रबन्ध करना आदि भी है। इसके फलस्वरूप गांवों की परिस्थितियों में भी अर्द्ध-संकर गायों और सांडों के सहवास से पशुओं की दूध देने की क्षमता विदेशी नस्लों के पशुओं के मुकाबले में आधी से अधिक कम नहीं हो पाती है और ऐसी गायें पैदा करने में सफलता मिली है जो वर्ष भर में 5000 किलोग्राम दूध दे सकती हैं।

पशुओं का संकरीकरण केवल दूध उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिये ही नहीं अन्य गुणों में सुधार करने के लिये भी किया जाता है। इसलिये अधिकांश सरकारी फार्मों में संकरीकरण एक नियम बन गया है। इन फार्मों में संकरीकरण कार्यक्रम का आरम्भ 1910 में हुआ जब भारतीय दुग्धशाला अनुसंधान संस्थान, बंगलौर में आयरशायर सांड का उपयोग किया गया। ●

आनुवंशिकी के इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियां

हरिशंकर शर्मा

आनुवंशिक विज्ञान का इतिहास मनुष्य के इतिहास से बहुत पुराना है। उसका आरम्भ पृथ्वी पर प्रथम जीव के 'निर्माण' के साथ हो गया था। मनुष्य के पदार्पण के बाद उसने सहज रूप से ही अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं में रुचि लेना आरम्भ कर दिया। उसने गेहूं के दाने से गेहूं का पौधा उगते देखा और इमली के बीज से इमली का; मुर्गी के अंडे से मुर्गी का बच्चा निकलते देखा और गाय के बच्चे को गाय के सदृश पाया। इस प्रकार उसने पाया कि संतान के गुण उसके जनकों के समान होते हैं। अधिक फसल प्राप्त करने के लिये उसने बीजों के गुणों का अध्ययन किया और पशुओं से अधिक मांस, दूध और शक्ति प्राप्त करने के लिये उनके वंशानुगत गुणों की जांच की। इस तरह अनजाने ही आनुवंशिकी की नींव पड़ी।

आनुवंशिकी के विकास में विज्ञान की अनेक शाखाओं ने योग दिया है। अनेक बार किसी भौतिक उपकरण अथवा विधि के आविष्कार ने आनुवंशिकी के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसलिये आनुवंशिकी के विकास की महत्वपूर्ण तिथियों का उल्लेख करते समय इन आविष्कारों/विधियों का जिक्र करना भी आवश्यक है।

1590 : जैड. जेनसन और एच. जेनसन ने दो डबल कनवैक्स लैंसों को एक नली में व्यवस्थित करके पहला संयुक्त सूक्ष्मदर्शी बनाया।

1516 : विलियम हार्वे ने यह परिकल्पना प्रस्तुत की कि सब जन्तुओं का विकास डिम्ब से होता है।

1657 : आर. दिग्राफ ने स्त्री के अंडाशय में फॉलिकल खोज निकाले और गलती से उसने उन्हें डिम्ब समझ लिया।

1665 : राबर्ट हुक ने अपनी पुस्तक 'माइक्रोग्राफिया' प्रकाशित की जिसमें प्रथम बार कोशिकाओं का वर्णन किया गया था।

1668 : एफ. रेडी ने कृमियों के स्वेच्छानुसार जन्म लेने के सिद्धान्त का खंडन किया।

1677 : ए. फान लीवनहॉक ने प्रथम बार मनुष्य और अन्य स्तनपाइयों के शुक्राणु को सूक्ष्मदर्शी के नीचे देखा।

1694 : जे.आर. केमेरारिस ने फूल वाले पौधों में लिंग निश्चयन किया।

1798 : टी.आर. मालथूज ने छद्म नाम से 'एन ऐसे आन दि प्रिंसिपल आफ पापुलेशन' प्रकाशित की। इस निबन्ध ने 1838 में डार्विन को 'जीवन-संघर्ष और योग्यतम की अतिजीवता' की संकल्पना प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी।

1809 : जे. बी. लेमार्क ने यह मत प्रस्तुत किया कि स्पीसीज (जीव) अपनी अनुकूल परिस्थितियों में निरन्तर सुधार करके धीरे-धीरे नयी स्पीसीज में परिवर्तित हो सकती हैं और इस प्रकार प्राप्त किये गये गुण वंशानुगत-गुण बन जाते हैं।

1822 : टी.ए. नाइट, जे. गास, डब्लू. हरबर्ट और ए. सेटन ने पादप संकरीकरण अनुसंधानों का सूत्रपात किया।

1831 : आर. ब्राउन ने कोशिकाओं में केन्द्रक का पता लगाया। 27 दिसम्बर, 1831 को प्लाइमथ से बीगल जलयान ने अपनी ऐतिहासिक यात्रा प्रारम्भ की। उसमें 22 वर्षीय प्रकृतिविद् चार्ल्स डार्विन भी सवार था।

1833 : बीगल 15 सितम्बर को गलपेगोस द्वीप पहुंचा। डार्विन ने 5 सप्ताह तक द्वीपों के जीव-जन्तुओं का निरीक्षण किया। वहां बड़ी संख्या में परस्पर सम्बद्ध स्पीसीज के जीव-जन्तुओं को देखकर उन्होंने यह अनुमान लगाया कि कुछ स्पीसीज महाद्वीप (दक्षिण अमेरिका) से आई थीं और द्वीप में उनसे कुछ पुत्री (डॉटर) स्पीसीज विकसित हुई।

1838 : जी.जे. मुल्डर ने प्रोटीनों की खोज की।

1838-39 : एम. जे. श्लाइडन और टी. श्वान ने कोशिका सिद्धान्त विकसित किया। श्लाइडन ने केन्द्रक के अन्दर न्यूक्लिओलाई का पता लगाया।

1845 : जे. जीरजोन ने बताया कि ड्रोन (नर मधुमक्खी) अनिषेचित अंडों से जन्म लेते हैं और रानी तथा कर्मी मक्खियां निषेचित अंडों से।

1855 : आर. विर्चोव ने दर्शाया कि नयी कोशिकायें केवल पुरानी कोशिकाओं के विभाजन द्वारा ही उत्पन्न होती हैं।

1859 : चार्ल्स डार्विन ने 'दि ओरिजिन आफ स्पीसीज' प्रकाशित की।

1866 : ग्रेगर योहान मैंडल ने अपना प्रसिद्ध लेख, 'पौधों के संकरीकरण संबंधी प्रयोग' प्रकाशित किया।

1869 : एफ. गाल्टन ने 'हेरीडिटरी जीनियस' प्रकाशित की और इस प्रकार मानव आनुवंशिकी के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव डाली।

फ्रिड्रिक मीशेर ने न्यूक्लिन (डी.एन.ए.) बिलगाया।

1870 : विलियम हिज ने माइक्रोटोन का आविष्कार किया।

1873 : ए. स्कनीडर ने प्रथम बार माइटोसिस का वर्णन किया।

1875 : ओ. हर्टविग ने सी-अर्चिन के प्रजनन संबंधी अपने अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला कि पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं में निषेचन माता और पिता द्वारा प्रदान किये जाने वाले केन्द्रकों के भौतिक संयोग से होता है।

1879 : डब्लू. फ्लेमिंग ने दर्शाया कि केन्द्रक के विभाजन में क्रोमोसोम लम्बाई के बल पुत्री (क्रोमोटिड) केन्द्रकों में विभाजित हो जाते हैं।

1881 : ई.जी. बलबिआनी ने **काइरोनोमस** लार्वा में वृहत लार क्रोमोसोम ढूंढ निकाले।

1882 : डब्लू. फ्लेमिंग ने लेम्पब्रश क्रोमोसोमों का पता लगाया और 'माइटोसिस' शब्द गढ़ा।

1883 : ई. फान बेनडेन ने दर्शाया कि राउंड वर्म के गैमीटों में क्रोमोसोमों की संख्या (उसकी) कोशिकाओं में उपस्थित क्रोमोसोमों से आधी होती है। उसने स्तनपाइयों में निषेचन क्रिया का भी वर्णन किया।

1884 : ई. स्ट्रास्बरगर ने बीजों से उगने वाले पौधों की निषेचन क्रिया का वर्णन किया।

1888 : टी. बोवरी ने सेन्ट्रिओल का वर्णन प्रस्तुत किया। डब्लू. वाल्डेयर ने 'क्रोमोसोम' शब्द गढ़ा।

1892 : टी. बोवरी ने एस्कारिस मिओसिस का वर्णन किया। ए. वीजमैन ने इस बात पर जोर दिया कि बीज द्रव्य (जर्म प्लाज्म) शरीर से स्वतंत्र होता है। उसने लेमार्क के तर्क का खंडन किया।

1896 : कीटशास्त्री के. जॉर्डन ने पहली बार स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि 'जातिउद्भवन (स्पेशिएशन) उत्परिवर्तन तथा बिलगावन (आइसोलेशन) दोनों का उत्पाद है।

1897 : ई. बुखनर ने प्रथम एंजाइम की खोज की।

1898 : सी. बंडा ने माइटोकोन्ड्रिया की खोज की।

1900 : एच.डी. व्रीज, सी. कोरेन्स तथा ई. फान त्सारमार्क ने मैंडल के 'पौधों के संकरीकरण संबंधी प्रयोग लेख' की पुनः खोज की।

1901 : एच. डी. व्रीज ने **आइनोथेरा** के आनुवंशिक गुणों में स्वतः होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों को उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) की संज्ञा दी।

1902 : सी. ई. मैकक्लंग ने लिंग क्रोमोसोमों का वर्णन किया। डब्लू. एस. सटन ने आनुवंशिकी का क्रोमोसोम सिद्धांत प्रतिपादित किया। टी. बोवरी ने प्रयोग द्वारा क्रोमोसोमों की गुणात्मक विविधता दर्शायी।

1902-09 : डब्लू. बेटसन ने 'जैनेटिक्स' (आनुवंशिकी) 'एलीलोमार्फा', 'होमो जाइगोट' (समयुग्मज), हेटरोजाइगोट (विषमयुग्मज) 'एपिस्टेटिक जीन' शब्द गढ़े।

1907 : आर. जी. हेरीसन ने टिश्यू कल्चर का आविष्कार किया। ई. फिशर को प्रोटीन बनाने वाले 20 एमिनो अम्लों में से 19 को बिलगाने के लिये फेराडे पदक प्रदान किया गया।

1908 : हार्डी-वीनबर्ग सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ।

1909 : जी. एच. शुल ने अनाजों का उत्पादन बढ़ाने के लिये स्वःनिषेचित बीजों के उपयोग की सिफारिश की। इन बीजों से अनाज का उत्पादन बढ़ाने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

डब्लू. 'जोहनसन' ने 'जीन' 'जीनोटाइप', 'फिनोटाइप' शब्द गढ़े। ए. ई. गेरोड ने 'इनबार्न एरर्स इन मेटाबोलिज्म' प्रकाशित की। इसमें पहली बार मनुष्य की जैव-रासायनिक आनुवंशिकी का विवेचन था।

1910 : टी. एच. मार्गन ने **ड्रोसोफिला** की सफेद आंख और फलस्वरूप लिंग बन्धता (सेक्स लिंकेज) की खोज की। ड्रोसोफिल आनुवंशिकी का आरम्भ।

1913 : ए. एच. स्टर्टेवान्ट ने लिंकेज-डिस्टेंस परिकल्पना का प्रयोगात्मक आधार प्रस्तुत किया।

1915 : एफ. डब्लू. ट्वार्ट ने पहला छनने योग्य (फिल्टरेबल) बैक्टीरियल वायरस बिलगाया।

1917 : एफ. दि. हेरेल ने 'बैक्टीरियोफाज' शब्द गढ़ा और वायरस टाइटर के आमापन की विधि विकसित की।

सी.बी. ब्रिज ने **ड्रोसोफिला** में पहली न्यूनता (डेफिशिएन्सी) का पता लगाया।

1919 : सी. बी. ब्रिजेज ने द्विगुणन और स्थानान्तरण की खोज की ।

1920 : ए. एफ. ब्लेकेस्ले ने धतूरे में त्रिसमसूत्र (ट्राइसोमिक) की खोज की ।

1921 : सी.बी. ब्रिजेज ने **ड्रोसोफिला** के त्रिगुणित मध्यालिंग (ट्रिप्लॉयड इन्टरसैक्स) का वर्णन किया ।

एफ. जी. बैन्टिग और सी. एच. बैस्ट ने इन्सुलिन बिलगायी और उसके शरीर-क्रियात्मक गुणों का अध्ययन किया ।

आर. बी. गोल्डस्मिट ने औद्योगिक अतिकृष्णता (इंडस्ट्रियल मेलेनिज्म) के विकास संबंधी परिणामों की प्रथम व्याख्या प्रस्तुत की ।

1924 : आर. फेयलजेन और एच. रोसेनबैक ने डी.एन.ए. के स्थान-निर्धारण की साइटोकैमिकल विधि विकसित की ।

टी. स्वेडबर्ग ने पहला अल्ट्रासैन्ट्रीफ्यूज बनाया ।

1925 : ई. एम. ईस्ट और ए.जे. मेन्गेलस्ड्रोफ ने फूल देने वाले पौधों की स्वतः बंध्यता के बारे में पहली बार संतोषजनक सिद्धान्त प्रस्तुत किया ।

ई. बी. विलसन ने 'दि सैल इन डिवलपमेन्ट एंड हेरिडिटी' प्रकाशित की ।

ए. एच. स्टर्टवैन्ट ने **ड्रोसोफिला** के 'बार' गुण का विश्लेषण किया । एफ. बरन्स्टीन ने सुझाया कि ए., बी., ओ. रक्त समूहों का निश्चयन एलेलिक जीनों द्वारा होता है ।

1926 : ई. जी. एन्डरसन ने पता लगाया कि **ड्रोसोफिला** के एक्स-क्रोमोसोम का सैन्ट्रोमेअर 'येलो' के लोकस के सामने उपस्थित होता है ।

जे. बी. सुमनेर ने रवे के रूप में पहली बार एंजाइम बिलगाया और दर्शाया कि वह प्रोटीन है ।

1927 : एच. जे. मुलर ने एक्स किरणों की मदद से जन्तुओं में कृत्रिम उत्परिवर्तन कराने में सफलता प्राप्त की ।

1928 : एल. जे. स्टेडलर ने पौधों में कृत्रिम उत्परिवर्तन कराये ।

1930 : के. लैन्डस्टीनर को निरापदता (इम्यूनोलॉजी) के प्रयोगों पर नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

1931 : एस. राइट ने अपनी पुस्तक 'मेन्डेलियन पापुलेशन' प्रकाशित की । इसने और फिशर की पुस्तक ने समुदाय आनुवंशिकी के गणितीय आधार की नींव डाली ।

1932 : एम. नॉल (Knoll) और ई. रुस्का ने आधुनिक इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप का आदि-रूप तैयार किया ।

1933 : टी. एस. पेन्टर ने **ड्रोसोफिला** की लार ग्रंथियों के क्रोमोसोमों के कोशिकानुवंशिक अध्ययन आरम्भ किये ।

टी. एच. मॉर्गन को जीन सिद्धान्त के विकास पर नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

एच. हाशिमोतो ने **बाम्बेक्सी मोरी** के लिंग निर्धारण में क्रोमोसोम के नियंत्रण की खोज की ।

1934 : एम. स्क्लसिंगर ने दर्शाया कि बैक्टीरिया-भक्षी वायरस में डी. एन. ए. और प्रोटीन होते हैं ।

पी. एल. हेरितिअर और जी. तीसियर ने प्रयोगों द्वारा यह दर्शाया कि कई पीढ़ियों तक विशेष प्रकोष्ठ (पापुलेशन केज) में पाली गई **ड्रोसोफिला मिलैनोगेस्टर** मक्खियों में से हानिकारी जीन लुप्त हो सकता है ।

1935 : एच. स्पीमन को भ्रूणीय प्रेरण (एम्ब्रिआनिक इंडक्शन) संबंधी खोजों के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

जी. डब्लू. बीडल और बी. यूफरूसी ने **ड्रोसोफिला** के आंख के रंग के बारे में आनुवंशिक अध्ययन किये ।

1936 : टी. कास्परसन ने कोशिका की परिणात्मक रासायनिक संरचना ज्ञात करने के लिये साइटोस्पेक्ट्रोफोटोमीट्रिक विधि का इस्तेमाल किया ।

1937 : टी. दोब्जान्सकी ने 'जेनेटिक्स एण्ड दि ओरिजिन आफ स्पीसीज' पुस्तक प्रकाशित की ।

1939 : ई. एल. एलिस और एम. डेलब्रुक ने **कोलीफेज** के विकास संबंधी अध्ययन किये जिससे फेज संबंधी आधुनिक अध्ययनों का आरम्भ हुआ । उन्होंने दर्शाया कि भक्षीवायरस (फेज) पहले बैक्टीरिया को अवशोषित करते हैं। फिर उसके अन्दर सुषुप्तावस्था में बढ़ते हैं और अन्त में उनकी संख्या इतनी बढ़ जाती है कि वे बैक्टीरिया को फाड़कर बाहर आ जाते हैं ।

1940 : के. लैन्डस्टीनर और ए. एस. वीनर ने आर.–एच. फैक्टर की खोज की ।

1941 : जी. डब्लू. बीडल और ई. एल. टॉटम ने **न्यूरोस्पोरा** की आनुवंशिकी के बारे में अपने महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये।

1943 : एक्स-10 रिएक्टर, ओक ब्रिज, टेनेसी (संयुक्त राज्य अमेरिका) द्वारा रेडियो समस्थानिकों का उत्पादन आरम्भ ।

1944 : ओ. टी. एवरी, सी. एम. मैकलॉयड और एम. मैकर्टी ने सुझाया कि आनुवंशिकी-नियंत्रक-रसायन वास्तव में डी. एन. ए. है प्रोटीन नहीं ।

1946 : एच. जे. मुलर को उनके विकिरण-आनुवंशिकी संबंधी अध्ययनों के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

एम. डेलब्रुक और डब्लू.टी. बेली ने बैक्टीरिया-भक्षी का आनुवंशिक पुनः संयोजन (जैनेटिक रिकॉम्बीनेशन) दर्शाया।

जे. लेडरबर्ग और ई. एल. टॉटम ने बैक्टीरिया का आनुवंशिक पुनः संयोजन दर्शाया ।

ई. एस. मैकफेडन और ई. आर. सीअर्स ने गेहूं के **डी जेनोम** के स्रोत का पता लगाया ।

1948 : ए. बोइविन, आर. वेन्ड्रेले और सी. वेन्ड्रेले ने बताया कि किसी जीव की विभिन्न कोशिकाओं में क्रोमोसोमों के प्रत्येक हेप्लायड समूह के लिये डी. एन. ए. की मात्रा स्थिर होती है ।

(शेषांश पृष्ठ 288 पर)



● डी. एन. ए. में ऐसी क्या वस्तु है जो इसे जीवन का आधार बनाती है तथा आनुवंशिक गुणों का निर्धारण करती है।

डी. एन. ए के अवयव कोई असाधारण नहीं होते––फास्फेट, शर्कराएं तथा नाइट्रोजन धारी समाक्षार (बेस) ही इसके अवयव हैं। वाट्सन और क्रिक के अनुसार उसकी संरचना ही इसके असाधारण गुणों का कारण बनती है। डी. एन. ए. अणु दो परस्पर लिपटी हुई ऐसी कुंडलियों के सदृश है जिनके बीच में हजारों आड़े डंडे सदृश आकार हों या यूं कहें कि डी.एन.ए. अणु रस्सों से बनी एक ऐसी सीढ़ी के समान है जिसके दोनों ओर के लम्बे रस्सों को परस्पर उमेठ दिया गया हो। इस उमठदार सीढ़ी के दोनों ओर के रस्सों में शर्कराएं तथा फास्फेट होते हैं और सीढ़ी के डंडे समाक्षारों (बेस) से बने होते हैं—हर डंडा दो समाक्षारों के संयोग से बनता है। किसी भी जाति के जीव विशेष की कोशिका के डी. एन. ए. अणु की सीढ़ी के डंडों (अर्थात समाक्षारों के संयोग) का क्रम विशेष उस अत्यन्त जटिल संकेतबद्ध सूचना को दर्शाता है जो हर आनुवंशिक गुण के लिए आवश्यक आदेश उस जीव की संतान को पहुंचाती है। हर जन्तु के लिये कोई संदेश विशेष एक 'सांचे' की तरह होता है जिससे वह गुण विशेष उस की संतानों में बारम्बार आता रहता है। वास्तव में, डी. एन. ए. अणुओं की न्यूक्लिओटाइड श्रृंखला (शर्करा-फास्फेट समाक्षार से बनी हुई) की लम्बाई व उसके क्रम विशेष के कारण ही घोड़े की संतान घोड़ा होती है, जिराफ या हाथी अथवा मक्खी आदि नहीं। न्यूक्लिओटाइड श्रृंखला की लम्बाई व उसका क्रम ही आंखों के रंग, बालों की बनावट, अंगुलियों के आकार आदि का निर्धारण करती है। मनुष्य के डी. एन. ए. अणु में संकेतबद्ध सारी सूचना को यदि हिन्दी में लिखा जाए तो हजार-हजार पृष्ठ के 24 भागों वाले एक विश्व कोश के अनेक सैटों की आवश्यकता होगी।

● निषेचित डिम्ब के डी. एन. ए. में जीव के विकास के लिए संकेतबद्ध सूचना निहित होती है। क्या जीव का विकास संकेतबद्ध आदेशों के अनुसार ही होता है अथवा पर्यावरण का भी उस पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

जब किसी जन्तु के जीवन का आरम्भ होता है अर्थात जब शुक्राणु और अण्डाणु के संयोग से डिम्ब का निषेचन होता है तो निषेचित डिम्ब में निहित सूचनाएं उस डिम्ब के भविष्य की सम्भावनाएं ही दर्शाती हैं। यह आवश्यक नहीं कि संकेतबद्ध सूचनाओं के अनुसार ही पूर्णरूपेण जीव का विकास हो तथा तदनुसार ही जीव में आनुवंशिक गुण आएं क्योंकि कोशिका में संकेतबद्ध जीवन की कूट भाषा का अवकूटन (डीकोडिंग) जीव के विकास और वृद्धि काल में होता है। अतः पर्यावरण का कुछ न कुछ प्रभाव इस पर पड़ता ही है। जीव के विकास व वृद्धि काल में कुछ दुर्घटनाएं हो सकती हैं और पूर्वनिश्चित विकासक्रम में कुछ परिवर्तन आ सकता है।

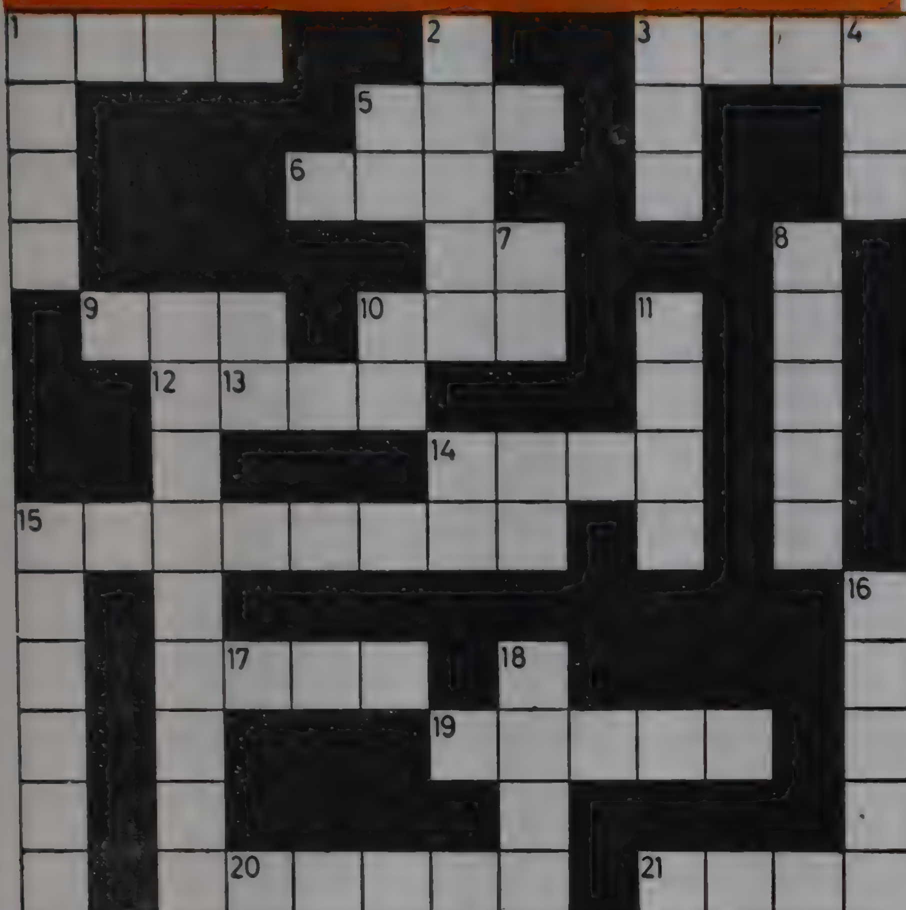
आनुवंशिक गुणों पर पर्यावरण अथवा परिपोषण का प्रभाव किस हद तक पड़ सकता है यह जीव विशेष पर निर्भर करता है। फंडुलस नामक मछली पर पर्यावरण का विशेष प्रभाव पड़ता है। मछली के वृद्धि एवं विकास काल के प्रारम्भ में ही यदि पानी में नमक के संतुलन को बदलकर 'उपयुक्त' कर दिया जाए तो दो के स्थान पर मछली में एक ही आंख बन पाती है जब कि साधारण पर्यावरणी दशाओं में उस मछली में दो ही आंखों का विकास होता। इसी प्रकार सामान्य अण्डाणुओं से एक आंख वाले मेंढक के टेडपोल भी तैयार किए जा सकते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि बिना 'आनुवंशिकता' के जीव का उद्भव नहीं हो सकता और बिना पर्यावरण के विकास असम्भव है।

आनुवंशिकी

विज्ञान वर्ग पहेली

रत्नाम्बर जोशी



बाएं से दाएं

1. जीव कोशिका के केन्द्रक में विद्यमान धागे सदृश संरचनाएं जो कोशिका विभाजन के समय अधिक स्पष्ट देखी जा सकती हैं। जीवों की हर जाति में इनकी संख्या निश्चित होती है।
3. क्रोमोसोम में पाये जाने वाले इस अम्ल का अणु ही जीवन का श्रेष्ठतम अणु है। इसका संश्लेषण करने के लिए प्रोफेसर कोर्नबर्ग को नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया था।
5. मटर के पौधों पर प्रयोग करने के पश्चात आनुवंशिकी के नियमों का प्रतिपादन करने वाला आस्ट्रियन वैज्ञानिक।
6. आनुवंशिक दृष्टि से भिन्न दो पौधों या दो जन्तुओं से उत्पन्न संतान।
9. जीवन रूपी इमारत की ईंट। इससे ही समस्त जीवों के शरीर का निर्माण होता है। इसमें एक सघन केन्द्रक होता है और केन्द्रक के चारों ओर जीव-द्रव्य।
10. बीसवीं शती के आरम्भ में इस वैज्ञानिक ने फलमक्खी में असामान्य पर्यावरण द्वारा उत्परिवर्तन कराके नवीन गुणों वाली मक्खियां तैयार कीं और आनुवंशिकी की प्रक्रिया का अध्ययन किया।
13. एक्स किरणों द्वारा फलमक्खी के जीनों में उत्परिवर्तन कराने वाला प्रथम वैज्ञानिक।
14. सामान्य मनुष्य की कोशिकाओं में क्रोमोसोमों की संख्या।
15. कोशिका में पाया जाने वाला एक यौगिक जो पांच कार्बन परमाणुओं वाली शर्करा, फास्फोरिक अम्ल तथा एक नाइट्रोजन युक्त बेस के एक-एक अणु से मिलकर बनता है। इस यौगिक के बहुत से अणु मिलकर न्यूक्लिक अम्ल का निर्माण करते हैं।
17. शरीर क्रिया विज्ञान तथा आयुर्विज्ञान में असाधारण खोज कार्य के लिए नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाला प्रथम भारतीय वैज्ञानिक।
19. कोशिका में विद्यमान व प्रोटीन संश्लेषण हेतु अनिवार्य अम्ल।
20. आकस्मिक और अपेक्षतया स्थायी गुणसूत्री (क्रोमोसोमल) परिवर्तन। इनमें से कुछ परिवर्तन तो केवल किसी जीन में ही होते हैं और कुछ से क्रोमोसोम संरचना ही बदल जाती है।
21. कोशिका विभाजन की वह विधि जिसमें क्रोमोसोम द्विगुणित संख्या से अगुणित संख्या में आ जाते हैं अर्थात उनकी संख्या आधी रह जाती है। इसे कोशिका का ह्रास विभाजन भी कहते हैं।

ऊपर से नीचे

1. क्रोमोसोमों में पाया जाने वाला न्यूक्लिओ प्रोटीन जिसका रंजन क्षारीय रंजकों से किया जा सकता है।
2. सुप्रसिद्ध अमेरिकी आनुवंशिकीविद् जिसने अपने सहयोगी टैटम के साथ अनुसंधान करके यह दर्शाया कि बैक्टीरिया के विभिन्न प्रभेदों का इस प्रकार संकरण कराया जा सकता है कि उनके आनुवंशिक पदार्थ परस्पर सम्मिश्रित हो जाएं।
3. आइनोथेरा नामक पौधे के आनुवंशिक पदार्थ में अपने आप ही आकस्मिक होने वाले जबरदस्त परिवर्तन को म्यूटेशन (उत्परिवर्तन) नाम देने वाला वैज्ञानिक।
4. बहुत सी जीव-रासायनिक प्रक्रियाओं को उत्प्रेरित करने वाला सह एंजाइम जिसे एडिनोसाइन ट्राइफास्फेट कहा जाता है।
7. डी. एन. ए. अणु का अंश जो एक गुण का निर्धारक होता है।
8. शरीर में कहीं भी कट जाने पर इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति का रक्त-स्राव बन्द नहीं होता।
11. डी.एन.ए. की संरचना बताने वाला वैज्ञानिक जिसे अपने सहयोगी वैज्ञानिक फ्रांसिस क्रिक के साथ 1962 में नोबल पुरस्कार मिला।
12. बहुत से न्यूक्लिओटाइडों की एक लम्बी शृंखला वाला कार्बनिक यौगिक जो कि सभी जीवों में पाया जाता है।
15. पौधों, जन्तुओं आदि सभी की कोशिकाओं के केन्द्र में पाया जाने वाला सूक्ष्म पिण्ड जिसमें क्रोमोसोम रहते हैं। वायरसों में यह पिण्ड नहीं होता।
16. कोशिका विभाजन की वह विधि जिसमें विभाजन-जन्य दोनों कोशिकाओं में अलग-अलग मूल कोशिका जितने ही क्रोमोसोम रहते हैं।
18. जीवन के उद्भव और विकास संबंधी सिद्धांत प्रस्तुत करने वाला प्रथम प्रकृति विज्ञानी तथा 'ओरिजिन आफ स्पिसीज' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक का लेखक।

(हल देखिये पृष्ठ 297 पर)

(पृष्ठ 284 का शेषांश)

आनुवंशिकी के इतिहास......

1949 : एम. एम. ग्रीन और के सी. ग्रीन ने **ड्रोसोफिला** के. 'लोकस' पर एलीलों के संकरीकरण का वर्णन किया ।

एल. पॉलिंग, एच. ए. आइटेनो, एस. जे. सिंगर और आई. सी. वैल्स ने बताया कि जीन असामान्य हीमोग्लोबिन बनाते हैं ।

1950 : ई. चारगफ ने अपने प्रयोगों द्वारा न्यूक्लिक एसिड की संरचना संबंधी अध्ययनों की नींव डाली । उसने दर्शाया कि डी. एन. ए. अणु में एडीनीन और थाइमीन समूहों की तथा साइटोसीन और गुआनीन समूहों की संख्या सदैव बराबर होती है । बाद में इस निष्कर्ष से वाटसन और क्रिक को डी. एन. ए. की रासायनिक संरचना ज्ञात करने में मदद मिली ।

1952 : डी. मेजिया और के. डन ने माइटोटिक व्यवस्था का बिलगावन किया ।

एन. डी. जिन्डर और जे. लेडरबर्ग ने **सालमोनेला** में ट्रांस्ड्यूशन का वर्णन किया ।

आर. ब्रिन्ग्ज और टी. जे. किंग ने ब्लास्टुला कोशिका से जीवित केन्द्रक को समूल निष्कासित करके मेंढक के डिम्ब में प्रतिरोपित किया । उन्होंने बाद में दर्शाया कि केन्द्रक का विभेदीकरण हो जाता है ।

ए. डी. हर्श और एम. चेज ने दर्शाया कि बैक्टीरियाभक्षी का केवल डी. एन. ए. ही बैक्टीरिया में प्रवेश करता है, प्रोटीन बाहर ही रह जाता है ।

1953 : जे. डी. वाटसन और एफ. एच. सी. क्रिक ने मॉडल बनाकर यह सुझाया कि डी. एन. ए. के अणु में दो फीते होते हैं जो प्यूरीन और पिरीमिडीन के बीच में हाइड्रोजन बंधों द्वारा एक चक्करदार (सर्पिल) सीढ़ी के रूप में आपस में लिपटे रहते हैं ।

1955 : एम. बी. होगलैंड ने कोशिका-मुक्त व्यवस्था की खोज की जो प्रोटीन संश्लेषित कर सकती थी ।

एस बैंजर ने **ए. कोली** के आनुवंशिक-रसायनों की संरचना की खोज की और 'सिस्ट्रॉन', 'रिकॉन' और 'म्यूटान' शब्द गढ़े ।

1956 : एफ. जैकब और ई. एल. वालमैन ने प्रयोगों द्वारा **ए. कोली** के जोड़ा बनाने की क्रिया को रोका और दर्शाया कि क्रोमोसोम का एक भाग धीरे-धीरे एक बैक्टीरिया से दूसरे में प्रवेश करता है ।

ए. कॉर्नबर्ग और एस. ओकोआ के निर्देशन में उनके सहकर्मियों ने परखनली में एंजाइमों की मदद से राइबो-न्यूक्लिओटाइड और डिऑक्सीराइबोन्यूक्लिओटाइड के पालीमर संश्लेषित किये ।

एच. फ्रेन्केल-कानराट और आर. सी. विलियम्स ने न्यूक्लिक एसिड और विभिन्न स्रोतों से प्राप्त प्रोटीन से संकर **टुबेको मोजेइक** वायरस का पुनर्निर्माण किया ।

जे. एच. त्जिओ और ए. लेवान ने दर्शाया कि मानव कोशिका में डाइप्लॉइड क्रोमोसोमों की संख्या 46 है ।

सी. ओ. मिलर और उनके सहकर्मियों ने कोशिका विभाजन प्रोत्साहित करने वाला एक पदार्थ (काइटिन) बिलगाया और उसकी रासायनिक संरचना मालूम की ।

टी. टी. पुक और एस. जे. सीएसिकुरा और पी. आई. मारकस ने परखनली में मानव कोशिका के क्लोन उगाने में सफलता प्राप्त की । पी. सरकार और जी. एल. स्टिबिन्स ने गेहूं के **बी जेनोम** के स्रोत का पता लगाया ।

1957 : वी. एम. इन्ग्राम ने बताया कि सामान्य और सिकिल सैल हीमोग्लोबिन में केवल एक एमिनो अम्ल का अन्तर होता है ।

1958 : एम. मेसेलसन और एफ. डब्लू स्टाल ने यह दर्शाया कि बैक्टीरिया कोशिका में संश्लेषित होने वाला डी. एन. ए. किस प्रकार जनकों से विरासत में संतानों को मिलता है ।

एफ. एच. सी. क्रिक ने सुझाया कि प्रोटीन के संश्लेषण के दौरान एमिनो अम्ल टेम्प्लेट तक एक एडेप्टर अणु द्वारा ले जाया जाता है और एडेप्टर ही वह अंश है जो वास्तव में आर. एन. ए. टेम्प्लेट में फिट होता है । इस प्रकार क्रिक ने ट्रांसफर-आर. एन. ए. की भविष्यवाणी की ।

पी. सी. जेमेकनिक और उनके सहयोगियों ने एमिनो अम्ल-ट्रांसफर-आर. एन. ए. युग्मों के गुणों की खोज की ।

जी. डब्लू बीडल, ई. एल. टाटम और जे. लेडरबर्ग को उनके आनुवंशिक अनुसंधानों के लिए नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

एफ. सेंगर को प्रोटीन (इन्सुलिन) अणु में एमिनो अम्लों के क्रम का पता लगाने के लिए रासायनकी का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

1959 : पी. ए. जैकब्स और जे. ए. स्ट्रांग ने दर्शाया कि क्लाइनफेल्टर सिन्ड्रोम से पीड़ित नपुंसक पुरुषों में एक्स-एक्स-वाई क्रोमोसोम होते हैं ।

जे. लेजिने, एम. गाउटिर और आर. टुरपिन ने दर्शाया कि डाउन्स संलक्षण से पीड़ित बच्चों के केन्द्रक में 47 क्रोमोसोम होते हैं अतिरिक्त क्रोमोसोम छोटा और टैलोसैन्ट्रिक होता है ।

एम.ओकोआ और ए. कॉर्नबर्ग को परखनली में न्यूक्लिक एसिड संश्लेषित करने के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया ।

1960 : पी. डाटी, जे. मारमुर, जे. इयनेर और सी. स्किलड्क्राट ने दर्शाया कि डी. एन. ए. अणु का अनुपूरक स्ट्रैंड अलग और पुनः योजित किया सकता है।

पी.बी. मेडावर और एफ.एम. बरनेट को निरापदी सहिष्णुता (इम्यूनोलॉजिकल टालरेंसेज) के अध्ययनों के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

1961 : एफ. जेकब और जे. मोनो ने सुझाया कि राइबोसोम में एमिनो अम्लों को समुचित क्रम में व्यवस्थित करने वाला टेम्प्लेट नहीं होता। इसके स्थान पर प्रत्येक डी. एन. ए. सिस्ट्रान थोड़ी अवधि तक क्रियाशील रहने वाला आर.एन.ए. अणु संश्लेषित करता है और यह आर. एन. ए. अणु अपने न्यूक्लिओटाइडों में एमिनो अम्लों की क्रम विषयक सूचना संचित रखता है। यह अणु अंत में अस्थायी तौर पर राइबोसोम से संयुक्त हो जाता है और इस प्रकार उसको एक निश्चित प्रोटीन संश्लेषण करने की क्षमता प्रदान करता है। इस प्रकार कार्य करने वाले संदेशवाहक-आर. एन. ए. की खोज कालांतर में एस. ब्रेनर, एफ. जैकब और एम. मेसेलसन ने की।

वी. एम. इन्ग्राम ने केवल एक प्राथमिक मायोग्लोबिन-सदृश हीम प्रोटीन से जीन प्रतिलिपिकरण और ट्रांसलोकेशन द्वारा चार ज्ञात हीमोग्लोबिन श्रृंखलाओं के विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

बी. डी. हाल और एस. सीजलमन ने दर्शाया कि ऐसे संकर अणु बनाये जा सकते हैं जिनमें केवल एक डी. एन. ए. और एक आर. एन. ए. स्ट्रैंड, जो बेस-क्रम में एक दूसरे के अनुपूरक होते हैं, मौजूद होता है। इस विधि ने संदेशवाहक-आर. एन. ए. के बिलगावन का मार्ग प्रशस्त किया।

एस. बी. वाइस और टी. नकामोतो ने आर. एन. ए. पॉलीमरेज बिलगाय। मार्शल निरेनबर्ग और जे. एच. मथाई ने संदेशवाहक-आर. एन. ए. कोड का वेधन किया।

जे. फान. इरेन्स्टीन और एफ. लिपमैन ने बताया कि प्रत्येक जीव में आनुवंशिक कोड (जैनेटिक कोड) होता है।

एफ. एच. सी. क्रिक और उसके सहकर्मियों ने बताया कि जीवन की (आनुवंशिक) भाषा में तीन-अक्षरों के 'संकेत' होते हैं। एफ. जेकब और जे. मोनो ने **ओपरन संकल्पना** प्रस्तुत की।

नार्मन ई. बोर्लोग द्वारा बौने मैक्सिकन गेहूं का विकास। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान नई दिल्ली, में अधिक फसल देने वाले बाजरे, ज्वार, मक्का आदि संकर किस्में विकसित की गईं।

1962 : ई. के. एफ. बेउत्ज और बी. डी. हाल ने एक विशिष्ट 'आनुवंशिक संदेश' (मैसेज) बिलगाया।

जे. डी. वाटसन, एफ. एच. सी. क्रिक और एम. एच. एफ. विल्किन्स को डी. एन. ए. की संरचना ज्ञात करने के फलस्वरूप नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

एम. एफ. पेरुत्ज और जे. सी. केन्ड्रू को हीमोग्लोबिन और मायोग्लोबिन प्रोटीनों के त्रिविमितीय संरचना का अध्ययन करने पर नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

तीन विभिन्न प्रयोगशालाओं में स्वतंत्र रूप से पॉली-राइबोसोमों की खोज हुई।

1963 : एच. नाल, टी. स्टाहेलिन और एफ. ओ. वेटस्टीन ने प्रोटीन संश्लेषण का 'टेप मैकेनिज्म' दर्शाया।

जे. जी. गाल ने बताया कि लैम्पब्रश क्रोमोसोम में डी. एन. ए. की केवल एक दुहरी सीढ़ी (हेलिक्स) होती है।

1963 : भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (पूसा संस्थान) में बी. पी. पॉल और एम. एस. स्वामिनाथन के निर्देशन में मैक्सिकन और भारतीय गेहूंओं के संकरीकरण से अधिक फसल देने वाले गेहूं की बौनी किस्में विकसित की गईं।

इन किस्मों ने 2-3 वर्षों की अवधि में भारत में कृषि क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

1964 : एम. एस. स्वामिनाथन को मैंडल पुरस्कार प्रदान किया गया।

कोनार्ड ब्लोच और फियोडोर लाइनिन को कोलेस्ट्रोल और वसीय अम्लों के उपापचयन के बारे में महत्वपूर्ण अनुसंधान करने के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

1965 : फ्रेंकाय जैकब, आंद्रे लोफ और जैक मोनो को कोशिकाओं की नियंत्रण व्यवस्था (रेगुलेटरी मैकेनिज्म) से संबंधित खोजों के लिये नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

1967 : कॉर्नबर्ग द्वारा परखनली में फाई एक्स-174 बैक्टीरिया-भक्षी के डी. एन. ए. का संश्लेषण किया गया।

संश्लेषित राइबोन्यूक्लिओटाइड ट्राइफास्फेटों से एंजाइम की सहायता से प्रथम बार परखनली में सक्रिय (अपनी प्रतिकृति तैयार करने की क्षमता रखने वाले) आर. एन. ए. का संश्लेषण किया गया।

1968 : निरेनबर्ग, राबर्ट हॉली और हरगोबिन्द खुराना को आनुवंशिक कूट के रहस्योद्घाटन के लिये नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

●

डबल हेलिक्स

(अंग्रेजी में)

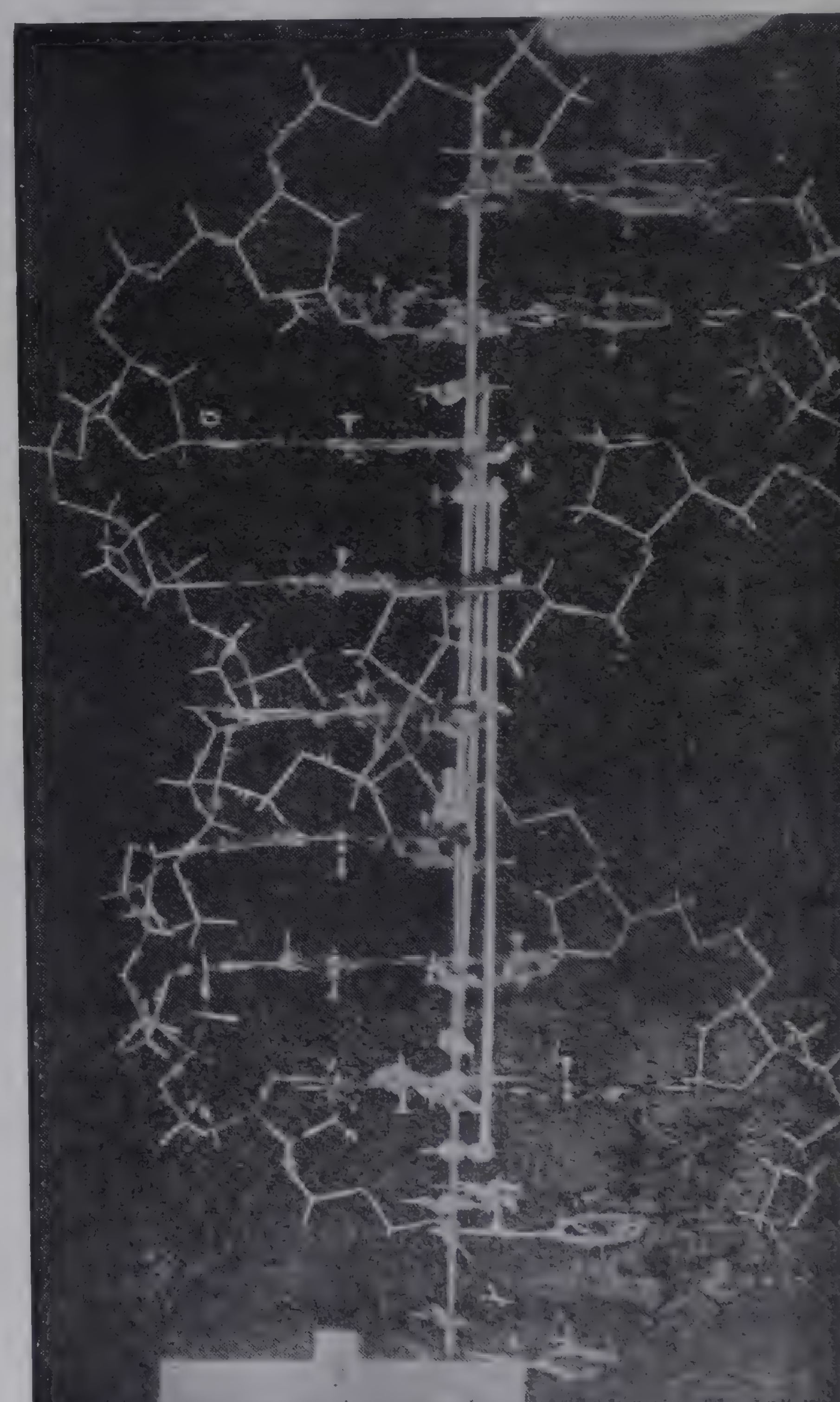
लेखक : जेम्स डी. वाट्सन; प्रकाशक : वाइडेनफेल्ड एंड निकलसन, 5 विन्सली स्ट्रीट, लंदन; प्रथम संस्करण; 1968 (तीसरी बार); सचित्र; पृष्ठ संख्या 224; मूल्य 5.59 डालर ।

संसार में असंख्य किस्म के जीवधारी हैं। प्रत्येक जीवधारी में (कुछ पादप वायरसों को छोड़ कर) एक रासायनिक पदार्थ का मौजूद होना अत्यन्त आवश्यक है। यह है डि-आक्सी-राइबोन्यूक्लिक एसिड (डी. एन. ए.)––संसार का कदाचित् सबसे विचित्र और विलक्षण रसायन, जिसमें अपना प्रतिरूप तैयार करने की क्षमता होती है। इसके गुण जितने विचित्र हैं, उतनी ही जटिल है इसकी संरचना और कदाचित् उससे भी विचित्र है इसकी संरचना की खोज की कहानी।

प्रस्तुत पुस्तक में आनुवंशिक पदार्थ, डी.एन.ए. की संरचना की खोज की रोचक कहानी है, स्वयं एक अन्वेषक की कलम से। क्योंकि डी. एन. ए. की आण्विक संरचना दुहरी सर्पिल सीढ़ी (डबल हेलिकल) पायी गई, इसलिये पुस्तक का नाम 'डबल हेलिक्स' रखा गया। डी.एन.ए. की संरचना 1953 में फ्रांसिस क्रिक, जेम्स डी. वाट्सन और मॉरिस विल्किन्स ने मालूम की थी। इनमें वाट्सन अमेरिकन हैं और क्रिक तथा विल्किन्स अंग्रेज। अपनी इस महान खोज अर्थात् डी. एन. ए. की रासायनिक संरचना ज्ञात करने के लिये उन्हें 1962 का रसायन शास्त्र में नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

विल्किन्स के एक्स-रे डाटा के आधार पर लेखक और क्रिक ने मिलकर सर्पिल सीढ़ी के समान डी.एन.ए. अणु का माडल तैयार किया। एक दिन बस में भ्रमण करते समय मकानों की सर्पिल सीढ़ियों को देखकर लेखक के मन में यह विचार घर कर गया कि डी.एन.ए. की आण्विक संरचना भी कुछ ऐसी ही होनी चाहिए। मानवीय दृष्टिकोण से डी. एन. ए. की आण्विक संरचना की खोज की यह कहानी बहुत दिलचस्प है। पुस्तक में अन्वेषक की महत्वाकांक्षाएं, उसकी निर्भीकता और उसका नैराश्य तथा व्यावसायिक ईर्ष्या और झगड़ों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

अमेरिका के इंडियाना विश्वविद्यालय से अध्ययन समाप्त कर लेखक जब पोस्ट-डॉक्टोरल शिक्षावृत्ति लेकर जीन की रासायनिकी ज्ञात



वाट्सन और क्रिक द्वारा प्रस्तुत डी. एन. ए. अणु का मॉडल



करने यूरोप पहुंचे तब उनका रासायनिकी और भौतिकी संबंधी ज्ञान बहुत ही सीमित था। यद्यपि 'डबल हेलिक्स' की खोज में उन्हें जितना सहयोग क्रिक से मिला उतना किसी अन्य व्यक्ति से नहीं, तथापि डी.एन.ए. के अध्ययन के बारे में सबसे पहले उन्हें विल्किन्स के भाषण से ही प्रेरणा मिली थी।

विल्किन्स द्वारा लिए गये डी. एन. ए. के एक्स-रे डिफ्रैक्शन चित्र से वाट्सन को विश्वास हो गया कि इस आनुवंशिक पदार्थ की संरचना स्फटीय होनी चाहिए। बिना एक्स-रे डिफ्रैक्शन चित्र के डी.एन.ए. की आण्विक संरचना का विश्लेषण करना असम्भव था। विल्किन्स के निरीक्षण में डी. एन. ए. का एक्स-रे अध्ययन करने की लेखक की इच्छा, दुर्भाग्यवश, पूरी न हो सकी, परन्तु उन्हें कैवेंडिश प्रयोगशाला में इस अध्ययन के लिए सभी सुविधाएं मिल गईं क्योंकि वहां रसायनशास्त्रियों और भौतिकीविदों की एक यूनिट प्रोटीन की त्रिविमितीय संरचना ढूंढ निकालने में जोर-शोर से जुटी हुई थी। इसी यूनिट में क्रिक भी पी-एच. डी. के लिए पेरूज और ब्रैग के निरीक्षण में काम कर रहे थे। क्रिक की सचेत और कुशाग्र बुद्धि से उनके सभी सहयोगी प्रभावित थे, परन्तु निर्भीकता से अपने विज्ञान संबंधी विचार प्रकट करने की उनकी आदत आमतौर से लोगों को पसन्द नहीं थी। एक बार तो कैवेंडिश प्रयोगशाला के निदेशक, सर लारेंस ब्रैग, से हीमोग्लोबिन अणु की आकृति के बारे में वे इतनी बुरी तरह लड़ पड़े कि क्रोध में ब्रैग ने उन्हें निकाल देने का निश्चय कर लिया। क्रिक की सहायता से लेखक एक्स-रे डिफ्रैक्शन फोटोग्राफी द्वारा आण्विक संरचना समझने में शीघ्र ही निपुण हो गये। इन्हीं दिनों विल्किन्स की प्रयोगशाला में रोजालिंड नामक युवती डी.एन.ए. का अध्ययन एक्स-रे द्वारा कर रही थी। उसने इस महत्वपूर्ण पदार्थ के बड़े ही सुंदर और स्पष्ट चित्र लिए थे परन्तु अपने हठधर्मी-पूर्ण और लालची रवैये के कारण उसे पीछे रह जाना पड़ा।

इसी बीच जब अमेरिका के विश्वविख्यात वैज्ञानिक लाइनस पॉलिंग ने एक्स-रे के आधार पर प्रोटीन की संरचना सर्पिल सिद्ध कर दिखाई तो क्रिक-वाट्सन 'युग्म' ने प्रोत्साहित होकर अपने अनुसंधान की गति तेज कर दी। परन्तु उन्हें यह डर भी था कि कहीं पॉलिंग उनसे पहले ही बाजी न मार ले जाये। एक दिन जब उन्हें पता चला कि पॉलिंग ने डी. एन. का माडल बना लिया है तो वे कुछ निरा से हो गए परन्तु मॉडल के चित्र को देख ही उन्हें वह मौलिक रूप से गलत लगा क्यों वह किसी एसिड का चित्र नहीं हो सक था। इसी संबंध में लेखक ने पॉलिंग पर टीक करते हुए लिखा है, "जब फ्रांसिस को पॉलिंग के इस अरूढ़िवादी (अन-आर्थोडॉक्स रसायन के बारे में आश्चर्य हुआ तो मैंने राह की सांस ली। लायनस पॉलिंग ने इतनी बड़ गलती कैसे की, इसका हमें जरा भी संकेत मिल पाया। यदि किसी विद्यार्थी से ऐस गलती हो जाती तो उसे······रसायन फैकल्ट के योग्य न समझा जाता।"

शीर्षक-रहित 21 अध्यायों में विभक यह छोटी सी सुंदर पुस्तक अनेक चित्रों स सुसज्जित है। सरल भाषा और सुबोध शैल में लिखी डी. एन. ए. की 'आण्विक सरचन की खोज' यह कहानी विज्ञान के विद्यार्थिय के लिए रोचक तथा शिक्षाप्रद सिद्ध होगी आशा है इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद शीघ ही किया जा सकेगा।

— भूपेन्द्रसिंह जंग

आनुवंशिकी द्वारा कीट नियंत्रण

प्रेमानन्द चन्दोला

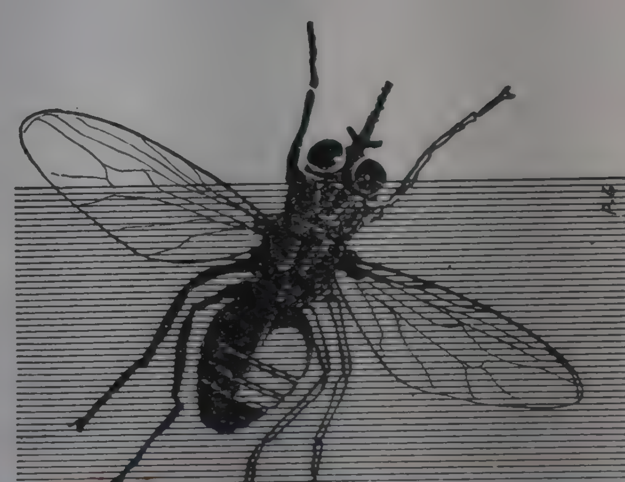
प्राणियों में सबसे अधिक संख्या कीटों की है। अनुमान है कि इस भूतल पर लगभग 20 लाख से लेकर 50 लाख से भी अधिक कीट जातियां विराजमान हैं।

मानव से पहले कीट पृथ्वी पर आये। ये पृथ्वी पर आज से लगभग 50 करोड़ वर्ष पहले ही आसन जमा चुके थे। मानव और कीटों का संघर्ष बहुत पुराना है, यहां तक कि सभ्यता के आरम्भ से भी पुराना, और यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि दोनों यहां रहेंगे। मानव अपने को प्रकृति का विजेता और स्वामी मानता है लेकिन सत्य यह है कि कीटों ने पृथ्वी का स्वामित्व तभी अर्जित कर लिया था जबकि मानव ने इस बात के लिये हाथ-पैर पटकने भी शुरू नहीं किये थे।

अधिकांश कीट हमारे शत्रु हैं। इनके आक्रमण से हमें अपने को, अपने पशुओं को तथा अपनी फसलों व चीजों को बचाना होगा वरना ये गजब ढा देंगे। दुनिया के भोजन भंडार में हिस्सा बंटाने के लिये ये मनुष्य के प्रमुख प्रतियोगी हैं। यदि मानव को अपना अस्तित्व बनाये रखना है तो उसे कीटों के ऊपर अपना स्वामित्व अर्जित करना ही होगा। समझा जाता है कि हमारे अन्न और भोजन का करीब पांचवां हिस्सा नाशकजीव (पैस्ट) ही खा डालते या नष्ट कर देते हैं। इतने अन्न से एक साल में पांच करोड़ मनुष्यों की उदरपूर्ति की जा सकती है। उनके नियंत्रण के लिये वैज्ञानिक नई-नई विधियां खोज रहे हैं। इस काम के लिये अब आनुवंशिक नियंत्रण विधियां अपनायी जा रही हैं। साथ ही कीट नियंत्रण के लिये अब परमाणु ऊर्जा का भी उपयोग होने लगा है।

रासायनिक नियंत्रण की हानियां

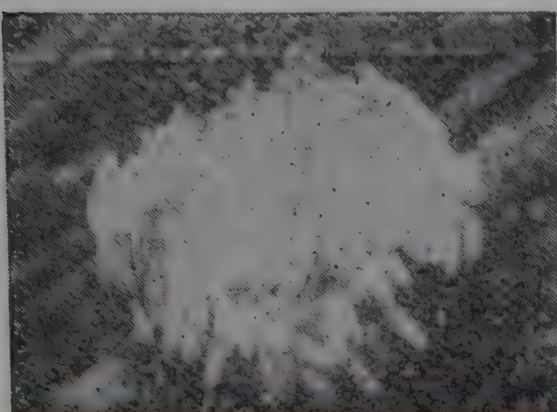
कीट नियंत्रण में अधिकांशतया रासायनिक विधियां यानी कीटाणुनाशी रसायनों का प्रयोग किया जाता रहा है और किया जाता रहेगा। लेकिन इनमें अनेक कमियां हैं और यह हमें बहुत हानि भी पहुंचाते हैं। यह हानि परोक्ष रूप से पहुंचती है। इसके अतिरिक्त कीटाणुनाशी रसायनों से लाभदायक कीट भी नष्ट हो जाते हैं, उनके अधिशेष अंशों



निद्रालु रोग की वाहक सी-सी मक्खी

से फसलों को हानि पहुंचने की समस्यायें बढ़ जाती हैं और कालान्तर में कीटों की ऐसी नई उपजातियां उत्पन्न हो जाती हैं जो रसायनों के प्रभाव से साफ बच जाती हैं।

कीटनाशी रसायनों से मनुष्य पर भी हानिकारी प्रभाव पड़ता है। इन भयानक और



स्क्रूवर्म मक्खी का अंडपुंज

प्राणघाती रसायनों से वायु, भूमि, जल, और भोजन का संदूषण हो जाता है। बीस वर्ष की अवधि से कम में ही ये संश्लेषित रसायन जीवित और अजीवित पदार्थों में अच्छी तरह घुलमिल जाते हैं और सर्वव्यापी बन जाते हैं। इन में शरीर को विषाक्त करने की ही शक्ति नहीं होती बल्कि शरीर के महत्वपूर्ण अंगों में प्रवेश कर घातक परिवर्तन करने की भी सामर्थ्य होती है।

रसायनों के प्रति ये कीट अपने को नये-नये तरीकों से 'बचाते' जा रहे हैं। वे आनुवंशिकवरण विधियों के अनुसार अपने अन्दर रसायनों के प्रति प्रतिरोधी विभेदों (स्ट्रेन) को अर्जित करते जा रहे हैं, अतः प्रकृति के साथ खिलवाड़ नहीं, बल्कि सावधानी बरतने की जरूरत है और कीट नियंत्रण में हमारा ध्येय, जैविक विधियों को अपनाना होना चाहिये।

परमाणु-ऊर्जा के विकास से उपलब्ध तकनीकों के फलस्वरूप ऐसी नियंत्रण विधियां सामने आ रही हैं जिन्हें अधिक सफाई और परिशुद्धता से प्रयोग किया जा सकता है।

कीट नियंत्रण में परमाणु-ऊर्जा का उपयोग दो आधारभूत विधियों से किया जा सकता है। एक विधि है विकिरण (रेडिएशन) के प्रभावों का लाभ उठा कर कीटों पर सीधी मार करना और दूसरी विधि है तत्वों के रेडियधर्मी परमाणुओं — रेडियो समस्थानिकों — से उत्सर्जित होने वाले विकिरणों द्वारा कीटों और अन्य चीजों पर 'निशान' लगाना, जिससे कि उनके स्वभाव, जीवनचक्र, आदि के बारे में सभी आवश्यक बातों की जानकारी प्राप्त की जा सके। अधिक ऊर्जा वाले विकिरण, यदि क्रोमोसोमों व जीनों तक पहुंचते हैं, तो अवश्य ही, विशेष और स्थायी परिवर्तन या उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) पैदा हो जाते हैं।

रोगवाहक कीटों की आनुवंशिकी

कीटों द्वारा कीटनाशियों के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न करना उनकी वंशौगत विशेषता है। इसलिये कुछ रोगवाहक कीटों में इसके पैदा होने से ही आनुवंशिक कारकों के अध्ययन की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यह प्रतिरोध क्योंकि जीनों के कारण होता है इसलिये जीनों के प्रभाव को दूर करना बहुत आवश्यक है और तभी उनकी हानिकारकता



नर और मादा स्क्रूवर्म मक्खी

को भी दूर किया जा सकता है।

आधुनिक अनुसंधानों से यह पता चला है कि डी. डी. टी. के प्रति घरेलू मक्खियों का यह प्रतिरोध कुछ बड़े जीनों द्वारा नियंत्रित होता है। डिएल्ड्रिन आदि क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बनों के प्रति यह प्रतिरोध भिन्न रूप से होता है। घरेलू मक्खियों और मच्छरों के क्रोमोसोमों में प्रतिरोध से सम्बद्ध इन जीनों की स्थिति का अध्ययन उत्परिवर्ती चिह्नक विभेदों (स्ट्रेन) के द्वारा 'चिह्नों' की सहायता से किया गया है।

कीटों के इस प्रतिरोध को दूर करने के लिये आनुवंशिक और जीवरासायनिक अनुसंधान किये जा रहे हैं। आनुवंशिक अनुसंधानों के फलस्वरूप यह भी पता चल गया है कि उनकी यह प्रतिरोध वाली संरचना किस सीमा तक नियंत्रण-विधियों को असफल कर देती है।

विकिरण या अन्य रसायन कीटों में बंध्यता उत्पन्न कर देते हैं। आनुवंशिक क्रियाविधियों से भी कीटों में कई प्रकार के 'हेरफेर' किये जा सकते हैं कि वे जनन ही न कर सकें, या कीट इस प्रकार प्रतिबंधित हो जायें कि उनकी आबादी शनैः शनैः कम होती चली जाये। यहां तक कि अन्ततः इनका समूल नाश हो जाये।

कोशिकाद्रव्य-असंगति, संकर-बंध्यता, जनसंख्या का प्रतिस्थापन, क्रोमोसोमों में हानिकारक जीन उत्पन्न करना, क्रोमोसोमों का स्थानान्तरण और घातक जीनों वाले कीटों की उत्पत्ति आदि उत्प्रेरित आनुवंशिक परिवर्तनों के प्रमुख उदाहरण हैं। नर कीट को बंध्य करने, कोशिकाद्रव्य-असंगति और संकर-बंध्यता की तकनीकों में तो काफी प्रगति हो चुकी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बर्मा के ओकपो गांव में हाल ही में **क्युलेक्स पिपिएन्स फैटिगेन्स** नामक मच्छर का आनुवंशिक नियंत्रण बड़ी सफलतापूर्वक पूरा किया है। यह कोशिकाद्रव्य की असंगति वाली विधि से किया गया। इसी तरह संकर नरकीट बंध्यता की विधि से **एनोफलीस गैम्बिई** नामक मच्छर पर भी सफल प्रयोग किये गये हैं।

इनके अतिरिक्त **बैंक्रोफिटयन फाइलेरिया** (फीलपांव) के वाहक **क्युलेक्स पिपिएन्स फैटिगेन्स** और निद्रालु रोग (ट्रिप्नोसेमिएसिस) की वाहक 'सीसी' मक्खी के नियंत्रण प्रयोगों में भी काफी प्रगति हो रही है। **एडीज एजिप्टिआई** मच्छर, जो कि **आरबोवाइरस** का प्रमुख वाहक है, को भी आनुवंशिक नियंत्रण का मुख्य ध्येय बनाया गया है, क्योंकि इससे पीत ज्वर, डेंगू और रक्तस्रावी ज्वर फैलते हैं।

विकिरण से नर कीटों में बंध्यता

विकिरण, कीट नियंत्रण की एक सफल विधि है। कीटों पर विकिरण विशेष की उचित मात्रा का प्रभाव डालने से वे जनन के लिये अक्षम हो जाते हैं यद्यपि उनके अन्य लक्षण बराबर बने रहते हैं। विकिरण से बंध्यता आ जाती है।

सामान्य जंगली मादा कीट, बंध्य-नर-कीट और सामान्य जंगली-नर-कीट में कोई अन्तर नहीं देख पाती। इस प्रकार बंध्य नर और मादा के जोड़े बनाने से बच्चे उत्पन्न नहीं होते हैं। बंध्य नर कीटों की संख्या जितनी अधिक होगी, सामान्य नर कीटों और मादा कीट के मिलने की सम्भावना उतनी ही कम होती जायेगी। निरन्तर कई पीढ़ियों तक यदि यही क्रम चलता रहा और बंध्य नर कीट काफी संख्या में विद्यमान रहे तो जंगली कीट शनैः शनैः बिल्कुल ही लुप्त हो जायेंगे।

करीब 25-30 वर्ष पहले इस युक्ति का विचार डाक्टर निपलिंग ने किया था। उन्होंने ही सुझाया कि बधिया नर कीटों को अगणित संख्या में छोड़ा जा सके तो मादा के साथ जोड़ा बनाने के पश्चात जो अंडे उत्पन्न होंगे वे प्रजनन नहीं कर पायेंगे। अगस्त 1954 में यह विधि अपनाई गई। फ्लोरिडा कृषि प्रयोगशाला में 'स्क्रूवर्म' नामक मक्खी बधिया बना कर क्युराकाओ द्वीप में हवाई जहाज से छोड़ी गई। इस युक्ति से सचमुच क्युराकाओ द्वीप के समस्त 'स्क्रूवर्मों' का समूल नाश कर दिया गया।

यह स्क्रूवर्म मक्खी पशु-उद्योग को बहुत अधिक हानि पहुंचाती थी। यही विधि अब दक्षिण-पश्चिम अमरीका और उत्तरी मेक्सिको में भी प्रयुक्त की जा रही है। अन्य कीटों पर भी इसे लागू किया जा रहा है। इसी सिद्धान्त पर काप्री द्वीप में 10 करोड़ बंध्य फलमक्खियां (फ्रूटफ्लाई) छोड़ी गईं। इन्हें परमाणु विकिरण द्वारा प्राणघाती बना दिया गया था। इस तरह सारे द्वीप को इनसे संपृक्त करके नाशक कीटों (पैस्ट) का उन्मूलन कर दिया जायेगा।

इसी उद्देश्य को लेकर ये प्रयोग इजरायल, कॉस्टारिका, पनामा, गुआतेमाला, इटली आदि में भी दोहराये जा रहे हैं। इटली के परमाणु-ऊर्जा आयोग और अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेन्सी ने यह दिखा दिया है कि 'बंध्य नर तकनीक' काफी सफल सिद्ध हो रही है। फलमक्खी के उन्मूलन से फलवृक्षों को जो हानि होती थी वह बच जायेगी और लोग चैन की सांस ले सकेंगे।

रेडियो-समस्थानिकों की सहायता

वैज्ञानिकों को रेडियो समस्थानिकों (रेडियोआइसोटोप) के कारण प्रकृति के रहस्यों की गुत्थी सुलझाने में बहुत सहायता मिली है। पिछले 10-15 वर्षों में कीट नियंत्रण की खोजों में इनका बहुत प्रयोग किया गया है। रेडियधर्मी फास्फोरस आदि पदार्थों से कीटों को 'चिह्नित' करके प्राकृतिक दशाओं में उड़ान के समय उनके अध्ययन के प्रयोग चल रहे हैं।

चिह्नित मक्खियों को छोड़ने के बाद पुनः उन्हें पकड़ कर गाइगर काऊंटर से यह मालूम किया जा सकता है कि उनमें रेडियो-धर्मिता है या नहीं। इस विधि से उनकी उड़ान का बारीकी से अध्ययन किया जा सकता है। इस विधि से ज्ञात हुआ है कि अनुकूल दशाओं में भूमध्यसागरीय मक्खियां कुछ सौ मीटर से अधिक दूर नहीं उड़तीं। बंध्य नर तकनीक में ये बातें बहुत जरूरी हैं।

यदि कीट पकड़ने की समुचित विधि प्राप्त न हो तो उनको कोबाल्ट-60 सरीखे गामा-उत्सर्जक रेडियो समस्थानिकों से चिह्नित किया जा सकता है। फिर चाहे रात हो या दिन, वे भूमि के भीतर या कहीं भी छिपे हों उनको उपकरणों की सहायता से कई मीटर दूर से ही पहचाना जा सकता है और सही स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

कीट को 'चिह्नित' करने के लिये रेडियो समस्थानिक को उसके पोषण माध्यम में मिलाया जा सकता है या वयस्क कीट को खिलाया अथवा उसके शरीर की बाहरी सतह पर बनाया जा सकता है। कीट की आदतों और सम्बन्धित जानकारी

विज्ञान वर्ग पहेली का हल

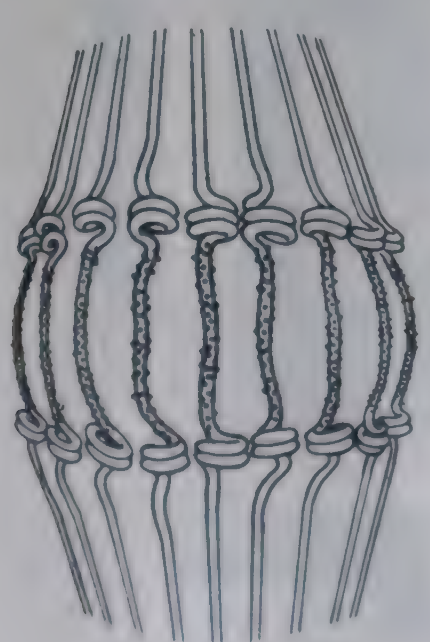
1 क्रो	मो	सो	म			2 ली			3 डी.	ए-	न.	4 ए.
मे					5 में	ड	ल		ब्री			टी.
टि				6 सं	क	र			ज			पी.
न						ब	7 जी				8 ही	
	9 को	शि	का		10 मा	र्ग	न		11 वा		मो	
		12 न्	13 मु	ल	र				ट.		फी	
		यू				14 छि	आ	ली	स		लि	
15 न्	यू	क्लि	ल	ओ	टा	इ	ड		न		आ	
यू		ल										16 मा
वि		क	17 खु	रा	ना		18 डा					इ
ल		अ				19 आ	र.	ए-	न.	ए.		टो
य		म्					वि					सि
स		ल	20 म्	यू	टे	श	न		21 मि	आ	सि	स

के अनुसार इन विधियों में फेर-बदल करने की भी आवश्यकता होती है।

ये नये कीटानाशी कीटों का नाश कैसे करते हैं इस के लिये रेडियो-चिह्नों का उपयोग किया जा रहा है। इस अनुसंधान का ध्येय उन नये कीटनाशियों का निर्माण करना है जो मनुष्यों, प्राणियों या लाभदायक कीटों को हानि पहुंचाये बिना केवल हानिकारक कीटों को ही चुन-चुनकर नष्ट करेंगे। इसी आधार पर शक्तिशाली कीटनाशियों का निर्माण किया जा सकेगा, जिससे कि इनका प्रयोग बेखटके और कम लागत पर किया जा सके।

कीटों के शरीर-क्रिया-विज्ञान से सम्बद्ध आधारभूत बातों के अध्ययन में भी रेडियो-समस्थानिकों का उपयोग किया जा रहा है। कीटों को चिह्नित करके उन अनेक एंजाइमों और हारमोनों का अध्ययन किया जा सकता है जो कीटों के स्वभाव और विकास पर काबू रखते हैं। एक बार ये प्रक्रियायें मालूम हुईं नहीं कि फिर उनमें हेर-फेर करना और कीटों को मनचाहे रूप से नियंत्रित करना कोई मुश्किल काम न रहेगा।

रोगवाही कीटों से सम्बद्ध आनुवंशिकी का विज्ञान अभी शैशवावस्था में है। इसके अन्य सभी शाखाओं में आगे और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। इनमें जाति-समूहों की पहचान विभिन्न जातियों की वाहक क्षमता और वाहक कीटों में आनुवंशिक हेरफेर सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। ●



PRECISION

SPRINGS & FORMS.

IMANES PRIVATE LTD.

94, Swami Vivekanand Road, ERLA, BOMBAY-56 (A.S.)

Grams : 'IMANESCOL' Phones : *Off.* 571634 *Res.* 531324

Factory : **C. I. Industrial Estate, Nasik.** TEL. 3199.

Northern India Representatives :

NARENDRA AGENCIES

Head Office
2E/22, Jhandewalan Extn.
NEW DELHI-55.
Phone : 568452. Grams : LABELAGE.

Branch Office
Thapar Building,
Milap Chowk,
JULLUNDUR City (Pb.)

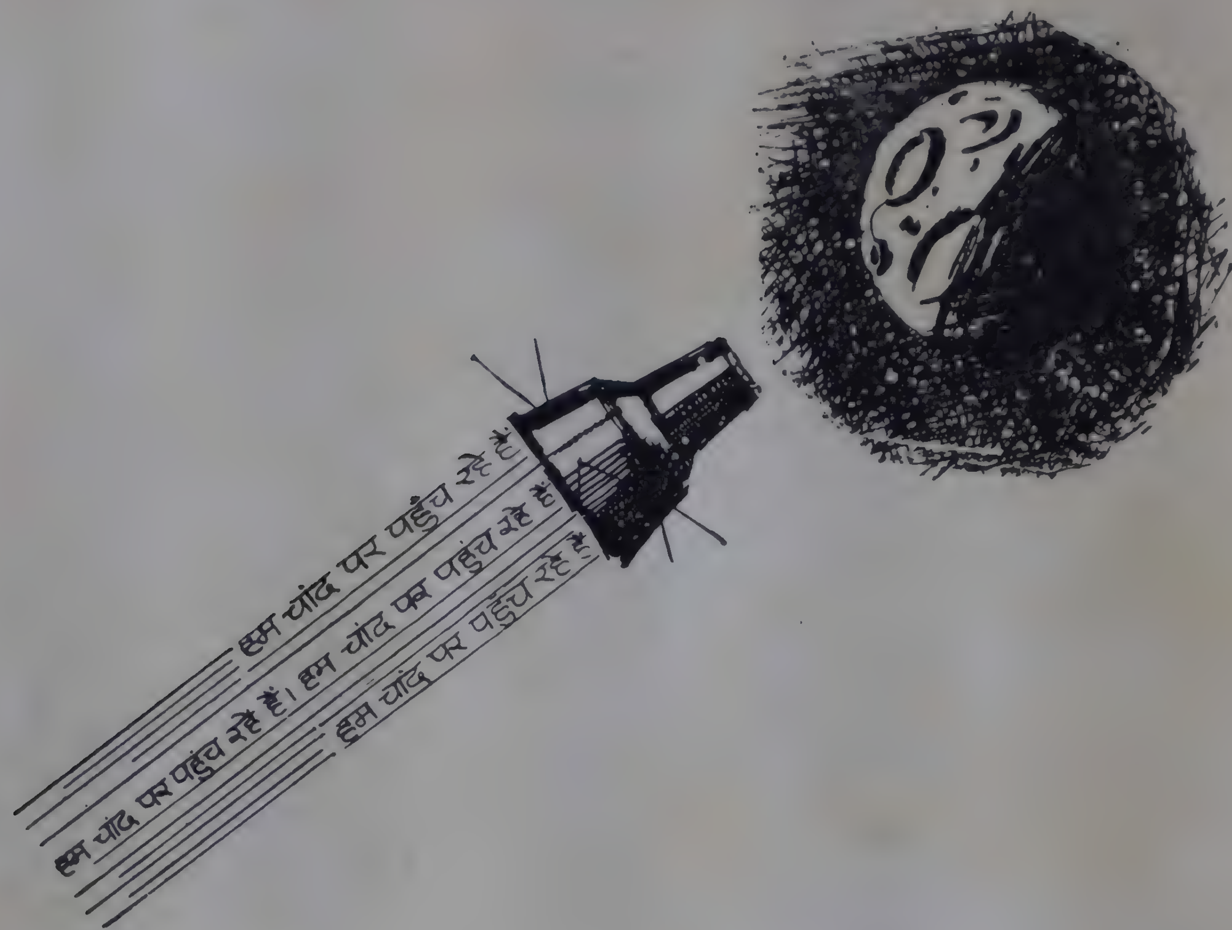


things go better with Coca-Cola

Coca-Cola

Authorised Bottler:
PURE DRINKS (NEW DELHI) PVT. LTD.,
NEW DELHI

Coca-Cola is the Registered Trademark of The Coca-Cola Company



अभी हाल ही में अपोलो राकेटों ने चांद के चक्कर लगाकर विश्व को चकित कर दिया। बहुत जल्द हम चांद पर पहुंच भी जाएंगे। इस युग में विज्ञान बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है। पर विज्ञान-संबंधी हमारा ज्ञान अभी भी बहुत सीमित है। इस कमी को पूरा करना युग की मांग है। सरल, सुबोध भाषा में लिखी ये सचित्र पुस्तकें खुद भी पढ़िए, अपने बच्चों को भी पढ़ने को दीजिए—इनको पढ़े बिना भविष्य अधूरा ही रहेगा।

ज्ञान-विज्ञान माला

• प्रसिद्ध आविष्कारों की कहानी	२·५०
• प्रसिद्ध आविष्कारक और उनके आविष्कार	२·५०
• उड़ान की कहानी	२·५०
• चिकित्सा के महान आविष्कारों की कहानी	२·५०
• उपग्रह और अंतरिक्ष यान अन्तरिक्ष में उड़ान की कहानी	२·५०
	२·५०
• रोमांचकारी वैज्ञानिक यात्राएं	२·५०
• मशीन युग की कहानी	२·५०
• सागर-तल की खोज	२·५०
• घड़ी की कहानी	२·५०
• राकेट की कहानी	२·५०
• टेलीफोन की कहानी	२·५०
• एटम की कहानी	२·५०
• वायुयान की कहानी	२·५०
• रसायन की कहानी	२·५०
• उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की कहानी	२·५०
• समुद्र की कहानी	२·५०
• मौसम की कहानी	२·५०
• सितारों की कहानी	२·५०
• प्रकाश की कहानी	३·००
• आग हमारी मित्र व शत्रु	२·५०

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

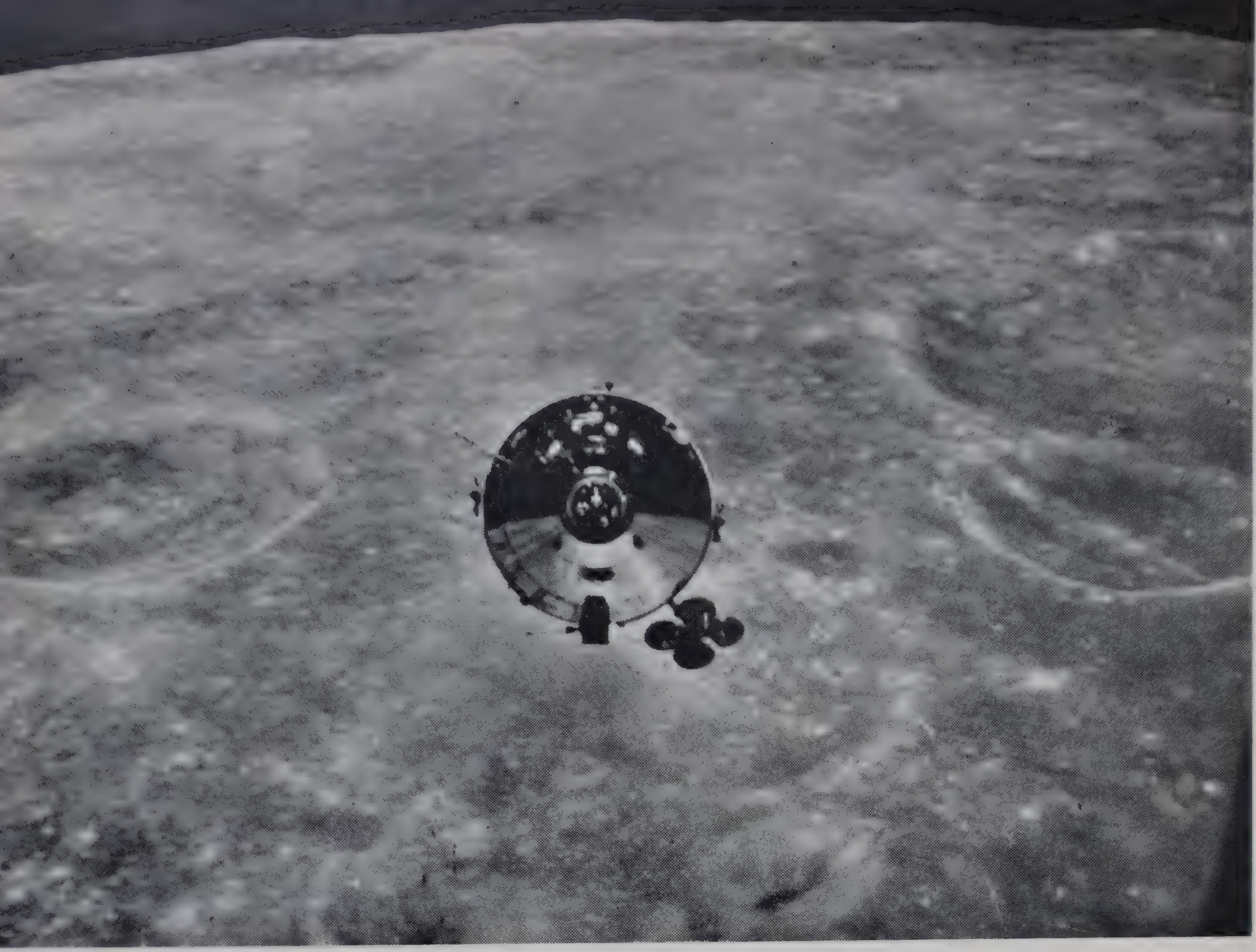


कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए
दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित

विज्ञान प्रगति

आषाढ़ 1891 : जून 1969





अपोलो-10 नियंत्रक यान से चन्द्र अवतरण यान के अलग होने के कुछ क्षण बाद ही चन्द्र अवतरण यान से लिया गया नियंत्रक यान का चित्र।

अपोलो-10 द्वारा लिया गया चन्द्रमा पर धरती के उदय का चित्र।



व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

इस्पात की छीलन और नाइट्रेट मिला हुआ एल्यूमिनियम पाउडर चिंगारियों के साथ जलता हुआ। एल्यूमिनियम पाउडर प्रक्षेप्यास्त्र-ईंधन का प्रमुख रचक है। इसके और अनेक उपयोग भी हैं। निर्गंधीकारकों के निर्माण में, मौलिब्डेनम के उत्पादन में, उत्प्रेरक बनाने तथा चट्टानों को विस्फोटित करने में, आदि आदि।

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 आषाढ़ 1891 जून 1969 अंक 6 पूर्णांक 201

विषय-सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

हाइपरथर्मिया और हृदय-फेफड़ा मशीन

अरुणकुमार सेन

हमारे मस्तिष्क को यदि आक्सीकृत रुधिर की पर्याप्त मात्रा निरन्तर प्राप्त न हो तो वह कुछ ही क्षणों में कार्य करना बन्द कर देता है। चार मिनट की ऐसी अवस्था में मस्तिष्क बिल्कुल मृत हो जाता है, साथ ही मस्तिष्क में अनेक घातक परिणाम दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

चार मिनट का समय किसी भी मनुष्य के हृदय की शल्य चिकित्सा द्वारा मरम्मत करने में या उसे पूर्णतः बदलने में काफी नहीं होता। यही कारण था कि सन 1950 तक कोई भी शल्य चिकित्सक मनुष्य के हृदय का आपरेशन कर उसकी मरम्मत करने से हिचकिचाता था। जैसा कि हम जानते हैं, मनुष्य के हृदय की किसी भी प्रकार की मरम्मत करने के समय रुधिर का हृदय में प्रवाह रोकना पड़ता है। यह समस्या हृदय शल्य चिकित्सा में एक रोड़ा अटका रही थी जिसका समाधान खोज निकालना अत्यन्त आवश्यक था।

रक्त प्रवाह रोकने का उपाय

अमरीका व कुछ अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने इस समस्या का समाधान खोज निकाला और यह था 'हाइपरथर्मिया' अर्थात शरीर का तापमान सामान्य से नीचे गिराना। निम्न तापमान पर हमारे शरीर को अधिक आक्सीकृत रुधिर की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य के शरीर का सामान्य तापमान 98.4 डिग्री फारनहाइट होता है। शीत मस्तिष्क का, साधारण तापमान पर स्थिर मस्तिष्क की अपेक्षा आक्सीकृत रुधिर की आधी ही मात्रा से काम चल जाता है। साथ ही निम्न तापमान पर शरीर की अन्य क्रियाएं भी मन्द हो जाती हैं। यही कारण है कि सुषुप्तावस्था में जीवों, जैसे मेंढक और सांप आदि, की जीवन सम्बन्धी क्रियाएं धीमी पड़ जाती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि निम्न तापमान पर हमारा मस्तिष्क चार मिनट तक ही नहीं वरन् उससे कहीं अधिक देर तक बिना किसी खराबी के पैदा हुए अपना काम चला सकता है।

सन 1950 में कनाडा के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. बिलफ्रिड बिगलों ने यह दर्शाया कि हिम के तापमान तक यदि किसी रोगी के शरीर का तापमान गिरा दिया जाय तो उसके शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की दर काफी गिर जाती है। यह खोज हृदय शल्य चिकित्सा में काफी सहायक सिद्ध हुई। क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य के हृदय का आपरेशन बड़ी आसानी से किया जा सकता था और ऐसे आपरेशन में समय की कमी के कारण कोई रुकावट पैदा नहीं होती थी।

एक उदाहरण

यह खोज हुए अभी कुछ ही समय हुआ था कि इसका प्रयोग हृदय रोग से पीड़ित एक 5 वर्षीया बालिका के ऊपर किया गया। बालिका के हृदय की एक भित्ति में जो दायें और बायें आलिन्द का विभाजन करती थी, एक छेद हो गया था। बिना किसी समय को नष्ट किये शल्य चिकित्सकों की एक टोली ने उस बालिका के हृदय का आपरेशन कर उस छेद में टांके लगा कर ठीक करने की ठान ली। आपरेशन से पहले बालिका को इन्जेक्शन देकर सुला दिया गया और फिर उसके शरीर को विशेष रबर से बने एक थैलेनुमा बक्स में रख दिया गया। इस बक्स में मशीन द्वारा शीत जल व कुछ रासायनिक पदार्थ प्रवाहित किये जाने लगे। इस विधि से बालिका के शरीर का तापमान गिर कर 80° फारनहाइट रह गया। ऐसी अवस्था में शल्य चिकित्सकों ने अनुमान लगाया कि उनको हृदय के आपरेशन में यदि 10 मिनट भी लग गये तो बालिका के मस्तिष्क को कोई हानि नहीं पहुंचेगी।

बालिका के वक्ष को काट कर खोल दिया गया। उस बालिका का हृदय और उससे जुड़ी धमनियां व शिराएं निम्न तापमान के कारण सुन्न पड़ चुकी थीं और साथ ही हृदय भी बड़ी मन्द गति से धड़क रहा था। शल्य चिकित्सकों ने शीघ्र ही हृदय से निकलने वाली धमनियों को क्लिप द्वारा बांध दिया। आपरेशन टेबल के पास ही एक आदमी अपने हाथ में घड़ी लिये हुए खड़ा था जो भागते हुए समय को नोट कर रहा था और दूसरी ओर चिकित्सकों के हाथ मशीन की तरह काम कर रहे थे। जैसे-जैसे एक-एक मिनट बीतता, वह व्यक्ति बोल कर चिकित्सकों को बता देता।

तीन मिनट बीत चुके थे। डाक्टरों ने शीघ्र ही हृदय के दायें अलिन्द को काट कर खोल दिया और उसकी भित्ति में हुए छेद पर टांके लगा दिये। तभी बीच में चिकित्सकों को उस व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ा कि 'पांच मिनट'। स्वर सुनते ही चिकित्सकों ने बंधी हुई धमनियों को खोल दिया। धमनियों को खोलने की देर थी कि आक्सीकृत रुधिर मस्तिष्क और शरीर के अन्य भागों की ओर दौड़ने लगा।

पहली सफलता

बालिका के शरीर के तापमान को सामान्य तापमान तक लाने के लिये अब उस रबर के थैले को गरम पानी में रख दिया गया और आधे घंटे में ही बालिका का शरीर सामान्य तापमान पर आ गया। दूसरे दिन वही बालिका जो कल मृत्यु और जीवन के बीच थी, टहलने लगी और कुछ ही दिनों में भली चंगी हो गई।

यह था संसार में होने वाला हृदय का प्रथम आपरेशन जो हाइ-परथर्मिया की सहायता से किया गया। परन्तु इस खोज से पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि इसकी सहायता से हृदय का आपरेशन उसी समय हो सकता था जबकि अधिक देर का प्रश्न न होता था। अधिक देर तक आपरेशन चलने में यह विधि सहायक नहीं होती है। क्योंकि मनुष्य के शरीर को इतने निम्न तापमान पर रखना भी समस्या था। इसमें डर भी था, क्योंकि हाइपरथर्मिया में जैसा कि हम जानते हैं हृदय अपनी सामान्य दर से नहीं धड़कता है और यदि ऐसी दशा अधिक समय तक रहे तो डर था कि हृदय कहीं धड़कना ही बन्द न कर दे।

हृदय-फेफड़ा मशीन

इसके लिये अब यह अत्यन्त आवश्यक हो गया कि किसी ऐसी विधि का आविष्कार किया जाये जो हृदय के आपरेशन में काफी देर तक काम दे सके। यह खोज थी हृदय-फेफड़े मशीन की, जिसने शल्य चिकित्सा में एक क्रान्ति ला दी। हृदय की भांति यह मशीन रुधिर को शरीर के अन्य भागों तक जाने के लिये पम्प कर सकती थी और साथ ही मनुष्य के फेफड़ों की तरह अशुद्ध रुधिर से कार्बन डाइआक्साइड को दूर कर आक्सीजन मिला देती थी जिससे रुधिर आक्सीकृत होकर शुद्ध हो जाता था। इस मशीन के आविष्कारक अमरीका निवासी डा. जान एच. गिबन थे जिनको हृदय-फेफड़े मशीन का पिता कहा जाता है। शुरू में यह मशीन मनुष्य के हृदय और फेफड़ों दोनों का कार्य कर सकने में समर्थ तो थी परन्तु कुछ ही समय तक। वास्तव में यह मशीन मनुष्य के फेफड़ों का कार्य किस प्रकार कर सके यह एक समस्या थी क्योंकि अशुद्ध रुधिर से कार्बन डाइआक्साइड को दूर कर आक्सीजन मिला कर रुधिर को शुद्ध करना ही सबसे कठिन कार्य था। समय के साथ-साथ दूसरे वैज्ञानिकों ने इस मशीन की कार्यविधि में कई संशोधन किये और अन्त में वे एक सफल मशीन को रूप दे सकने में समर्थ हो गये।

इतना कुछ हो जाने पर भी एक समस्या बनी रही कि किस प्रकार मशीन द्वारा शुद्ध हुए रुधिर से आक्सीजन के बुलबुले दूर किये जायं। यदि आक्सीजन के यह बुलबुले दूर न किये जायं तो वे रुधिर के प्रवाह के साथ मस्तिष्क में चले जाते हैं और वहां जाकर घातक सिद्ध होते हैं। इन बुलबुलों को दूर करने के लिये मशीन में स्टेनलेस स्टील का बना एक छन्ना भी लगाया गया जिससे छन कर जाने वाले रुधिर में बुलबुले दूर हो जाते थे।

हृदय-फेफड़े मशीन को काम में लाने से पूर्व हृदय में रुधिर लाने वाली शिराओं और रुधिर ले जाने वाली धमनियों को बांध दिया जाता है और रुधिर को मशीन की नलिकाओं में से गुजारा जाता है जहां रुधिर में आक्सीजन की पर्याप्त मात्रा मिला दी जाती है। इस प्रकार रुधिर शुद्ध हो जाता है। शुद्ध रुधिर को एक पम्प की सहायता से शरीर के अन्य भागों में पहुंचा दिया जाता है।

रोगी के हृदय और फेफड़ों का सम्बन्ध इस मशीन से कर देने पर उसके हृदय में बिलकुल भी रुधिर प्रवाहित नहीं होता। ऐसी दशा में रुग्ण हृदय का आपरेशन आसानी से किया जा सकता है। आपरेशन पूरा हो जाने के बाद रोगी के शरीर का सम्बन्ध इस मशीन से समाप्त कर देते हैं और धमनियों और शिराओं को खोल देते हैं।

लम्बे आपरेशनों में प्रयुक्त

आजकल हृदय के करीब-करीब सारे ही आपरेशन करते समय इसी हृदय-फेफड़े मशीन की सहायता ली जाती है। इस मशीन की सहायता से मनुष्य के हृदय और फेफड़े करीब दो घंटे तक बिना किसी कार्य किये रखे जा सकते हैं। दो घंटे का समय किसी हृदय का आपरेशन कर सकने के लिये पर्याप्त था।

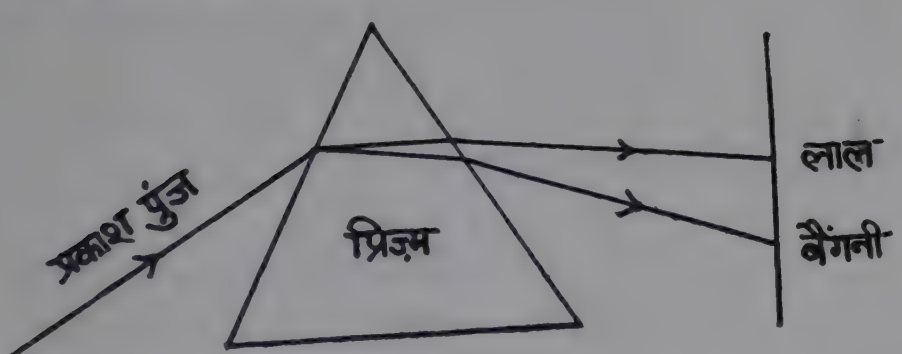
परन्तु कहीं किसी आपरेशन में यदि दो घंटे से भी अधिक समय लग जाता था तो रोगी के रुधिर के कणों में कुछ टूट-फूट आ जाती थी। रुधिर कणों में इस टूट-फूट का कारण रुधिर का मशीन में प्रवाहित करना ही था। अभी हाल में ही अमरीका के एक वैज्ञानिक डा. ग्रोवर ने एक रासायनिक पदार्थ की खोज की और वह रासायनिक पदार्थ है 'प्लूरोनिक एफ 68'। यदि इस रासायनिक पदार्थ को रुधिर में मशीन के अन्दर, प्रवाहित होने के समय मिला दिया जाये तो रुधिर के लाल कणों व रुधिर प्रोटीन के अणुओं की टूट-फूट रुक जाती है। इस रासायनिक पदार्थ 'प्लूरोनिक एफ 68' की सहायता से अब रुग्ण हृदय के रोगी को हृदय-फेफड़े मशीन पर बिना किसी हानि के 6 घंटे तक रखा जा सकता है। इस प्रकार 6 घंटे का समय शल्य चिकित्सकों को किसी भी हृदय का आपरेशन कर सकने के लिये पर्याप्त है। वास्तव में हृदय-फेफड़े की मशीन हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिये एक वरदान सिद्ध हुई है।

अदृश्य प्रकाश से फोटोग्राफी

विष्णुदत्त शर्मा

काफी वर्षा होने के पश्चात सभी ने इन्द्रधनुष देखा होगा। साधारण रूप से इन्द्रधनुष में हरा, पीला, नारंगी तथा लाल रंग दिखाई देते हैं, किन्तु इसमें और भी बहुत से रंग होते हैं जो लाल रंग से दूर गहरा लाल तथा अवरक्त रंग और हरे रंग से दूर नीला, आसमानी तथा पराबैंगनी रंग आदि हैं। अब समस्या इस बात की है कि जिन रंगों को हम आंख से नहीं देख सकते उनका किस प्रकार ज्ञान हुआ तथा उनका फोटोग्राफ किस प्रकार लिया जा सकता है।

यदि सूर्य प्रकाश की रश्मि पारदर्शक प्रिज्म से गुजरकर किसी श्वेत पट पर गिरती है तो इस रश्मि की मार्ग दिशा बदल जाती है तथा यह रश्मि सुन्दर इन्द्रधनुष रंगों में स्पैक्ट्रम बना देती है। इस प्रकार यह श्वेत प्रकाश अपने रंगों में बिखर कर एक जटिलता दर्शाता है। चित्र के देखने पर यह ज्ञात होगा कि रश्मि के बैंगनी तथा नीले अंश नारंगी तथा लाल अंशों की अपेक्षाकृत अधिक झुके हैं। हरे तथा पीले रंग के अवयव मध्य की दशा में होंगे।



वास्तव में यदि अध्ययन किया जाये तो रंगों की चमक मध्य भाग में अधिक होगी और विशेषकर पीला रंग सबसे अधिक चमकदार होगा। दोनों किनारों पर लाल तथा बैंगनी रंग बहुत ही धीमे होंगे, यहां तक कि उनसे आगे प्रायः अंधेरा ही होगा। यद्यपि बैंगनी तथा लाल रंगों से दूर क्षेत्रों में अंधेरा केवल भासमान ही होगा। यहां तक कि अंधेरे के उस क्षेत्र से रश्मियां इस प्रकार विकिरित होंगी जिनका ज्ञात होना साधारण यंत्र द्वारा संभव नहीं है और देखने वाले की नेत्र ज्योति को भी उत्तेजित नहीं करेंगी। अतः इस प्रकार के विकिरणों को क्रमशः पराबैंगनी व अवरक्त कहते हैं। जब मिश्रित विकिरण की रश्मि अपने अंशों में बिखरती है तो स्पैक्ट्रम कहलाती है। इस प्रकार स्पैक्ट्रम, फ्रीक्वेंसी की संख्यात्मक माप, तरंग आयाम या तरंगों की प्रति सेंटीमीटर की संख्याओं द्वारा श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। तरंग आयाम दो अनुक्रमिक लहरों के बीच की दूरी होती है। शून्यक में हरे प्रकाश का तरंग आयाम 5400 ए. है।

निम्न स्पैक्ट्रम सारणी में नाना प्रकार की रश्मियां निश्चित तरंग आयाम क्षेत्र में दिखाई गई हैं। यह सारणी दर्शाती है कि स्पैक्ट्रम में अवरक्त क्षेत्र बहुत ही विस्तार में है। साधारण विच्छेदित प्रयोग द्वारा ज्ञात होता है कि यदि एक सुग्राही थर्मामीटर को दृश्य-स्पैक्ट्रम लाल प्रकाश से दूर रखा जावे तो अवरक्त रश्मियों के अस्तित्व का ज्ञान होता है। थर्मामीटर में तापक्रम बढ़ने से अनुभव होता है कि अवरक्त विकिरण साधारणतया उष्णरश्मियां होते हैं।

विकिरणों के भेद	तरंग आयाम में	
पराबैंगनी (अदृश्य)	1000 से 3900	
बैंगनी	3900 से 4400	स्पैक्ट्रम का दृश्यक्षेत्र
आसमानी	4400 से 4900	
नीला	4900 से 5100	
हरा	5100 से 5500	
पीला	5500 से 5900	
नारंगी	5900 से 6300	
लाल	6300 से 7000	
गहरा लाल	7000 से 7600	
अवरक्त (अदृश्य)	7600 से 10,000,000	

स्पैक्ट्रम के अवरक्त क्षेत्र के फ्रिंज की गवेषणा करने के लिये फोटोग्राफी में बहुत सी विधियां निकलीं। सरलतापूर्वक फोटोग्राफी द्वारा 10,000 ए. तक का चित्र लेने का विकास किया गया किन्तु कुछ विशेष रीतियों से 20,000 ए. तक के स्पैक्ट्रम का चित्र लेना सम्भव हो गया है। स्पैक्ट्रम के सम्पूर्ण अवरक्त क्षेत्र में अवरक्त फोटोग्राफी बहुत ही कम क्षेत्र तक सीमित रहती है। ज्यों-ज्यों स्पैक्ट्रम का अध्ययन किया जाता है त्यों-त्यों पता चलता है कि भिन्न पदार्थों का व्यवहार प्रकाश के प्रति प्रायः बदलता रहता है। दृश्य क्षेत्र में ये परिवर्तन तेज रंगों का प्रभाव दिखाते हैं। जो अंतर आंखों से नहीं पहचाने जा सकते कभी-कभी वे भी चिन्ह अवरक्त फोटोग्राफ द्वारा ज्ञात हो जाते हैं। यहां तक कि जो पदार्थ अदृश्य हैं उनका भी फोटोग्राफ अवरक्त फोटोग्राफी द्वारा लिया जा सकता है।

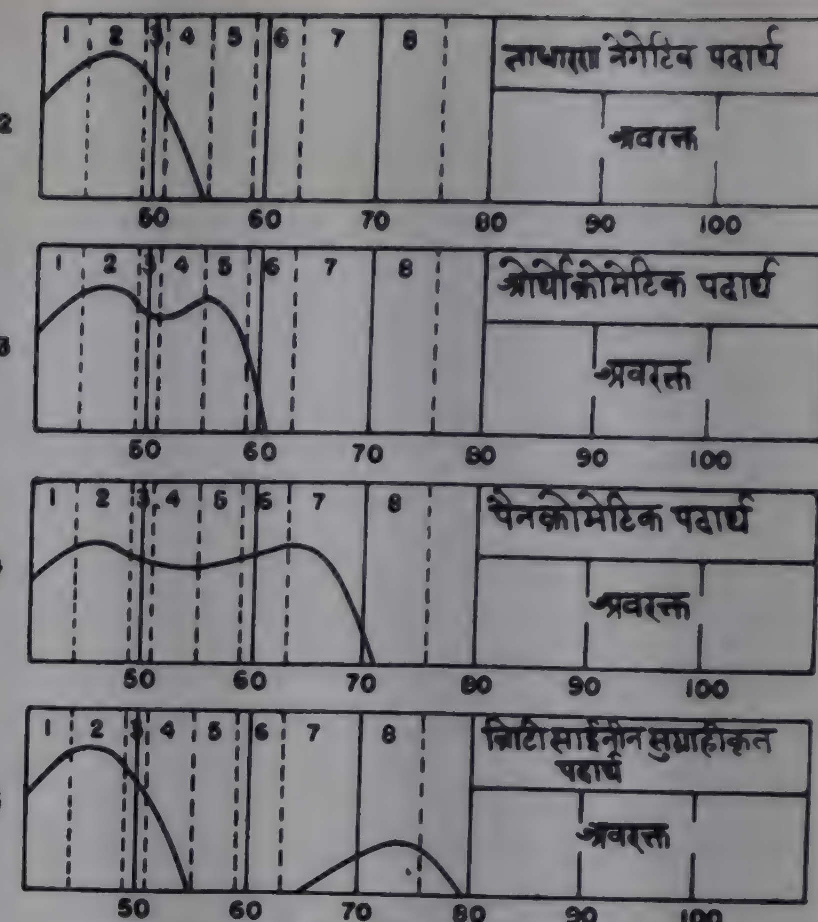
साधारण फोटोग्राफिक प्लेट पराबैंगनी, बैंगनी तथा नीले रंग के प्रकाश से प्रभावित हो जाती है, किन्तु हरे रंग के प्रकाश में प्रायः प्रभावित नहीं होती और हरे रंग में इस साधारण प्लेट की सुग्राहिता बहुत ही कम होती है। जैसे-जैसे स्पैक्ट्रम की गवेषणा लाल अथवा अवरक्त की ओर बढ़ी वैसे-वैसे सुग्राहिता की खोज धीमी हो गई। अतः हरे, नारंगी, लाल तथा अवरक्त में स्पैक्ट्रम का फोटोग्राफ लेने के

लिये विशेष रीतियां अथवा विशेष रूप से तैयार किये गये फोटोग्राफी पदार्थ की आवश्यकता पड़ी।

सन 1840 ई. में हरशैल द्वारा खोज की गई कि यदि फोटोग्राफी प्लेट को नीली रोशनी में खुला रखा जाए और तत्पश्चात लाल या अवरक्त प्रकाश की रश्मियों में खोल दिया जाए तो प्रथम नीले प्रकाश द्वारा प्रस्तुत प्रच्छन्न प्रतिबिम्ब पूर्णतया अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार द्वितीय प्रकाश का प्रभाव धन प्रभाव के रूप में दिखाई देगा। अतः अवरक्त फोटोग्राफी के लिये फिलम या प्लेट को सुग्राहिता का नवीन क्षेत्र प्रदान किया जाना चाहिये।

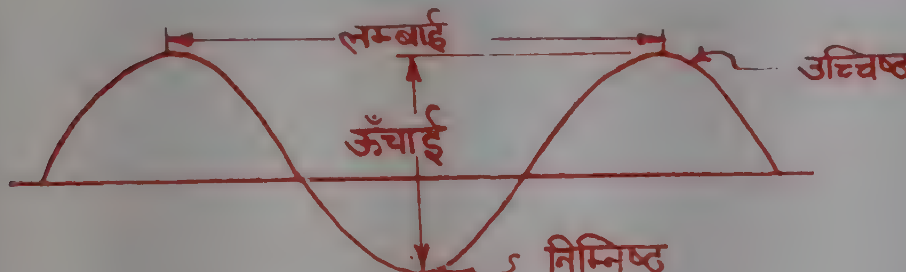
वर्तमान अवरक्त सुग्राही-पदार्थ की निर्माण विधि बोजल के सन् 1873 ई. के अन्वेषण पर आधारित है। वह अपने तैयार किये पदार्थ की सुग्राही सतह में प्रकाश के फैलने को रोकने का प्रयास कर रहे थे। और इसी कारण से उन्होंने पायस में कुछ रंग मिला दिया। उन्होंने देखा कि बहुत से गुलाबी रंग ऐसे हैं जो कि पायस को हरे प्रकाश के लिये भी संवेदन करने में सफल सिद्ध हुये हैं।

चित्र 2 / चित्र 3 / चित्र 4 / चित्र 5



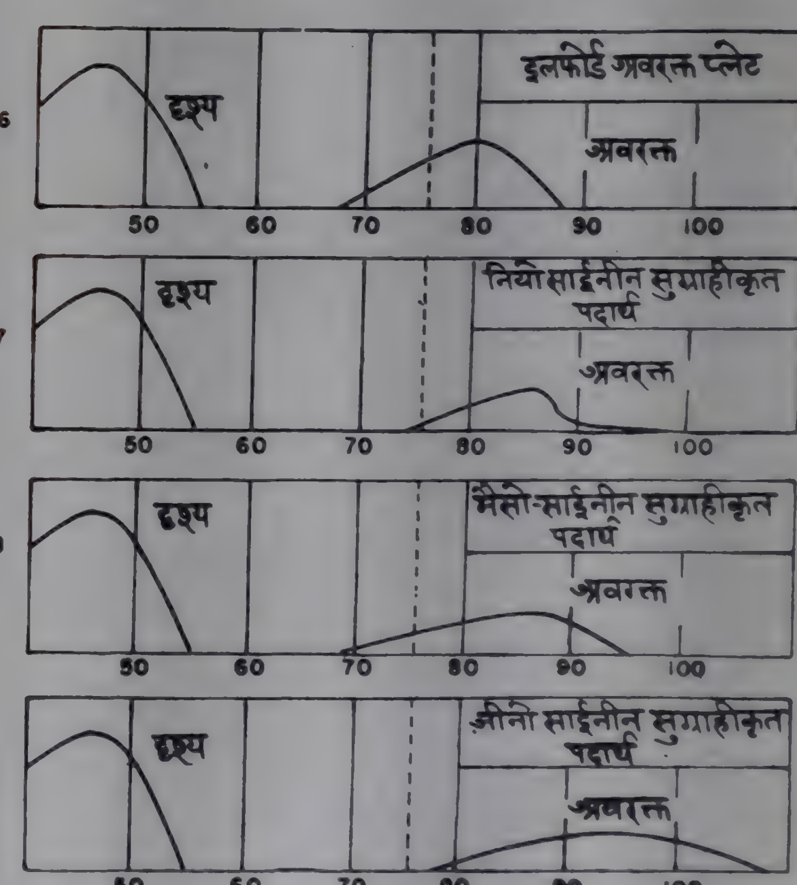
नाना प्रकार के फोटोग्राफी पदार्थों का सुग्राहिता क्षेत्र

1. बैंगनी
2. आसमानी
3. नीला
4. हरा
5. पीला
6. नारंगी
7. लाल
8. गहरा लाल



चित्र नं. 2 में दिखाया गया है कि साधारण फोटोग्राफी पायस में कोई भी सुग्राही रंग नहीं है। 4700 ए पर सुग्राहिता सबसे अधिक तथा 5400 ए तक आने के लिये तीव्र गति से सुग्राहिता इतनी कम हो जाती है कि नगण्य प्रायः सी ही होती है। चित्र नं. 3 में गुलाबी 'रंग ऐरीथ्रोसीन' द्वारा सुग्राहीकृत पायस है। यह रंग हरे प्रकाश का बहुत शीघ्र शोषण करता है और यह देखा गया है कि पायस में 5600 ए के लगभग सुग्राहिता के नये बैंड का विकास हुआ। अर्थात हरे प्रकाश के लगभग बीच में नये अवशोषण बैंड का निर्माण हुआ। ऐसे पदार्थ, जिनमें वर्णक्रमीय सुग्राहिता का गुण हो, को आर्थोक्रोमेटिक या आइसोक्रोमिटिक कहते हैं।

चित्र 6 / चित्र 7 / चित्र 8 / चित्र 9



नाना प्रकार के फोटोग्राफी पदार्थों का सुग्राहिता क्षेत्र

चित्र नं. 4 में सुग्राही लाल रंग के प्रकाश द्वारा उत्पन्न सुग्राहिता का भेद है। यह रंग सुग्राहिता का बहुत विशाल बैंड बनाता है, यहां तक कि इसका विस्तार 7000 ए तक होता है और सर्वोच्च 6400 ए पर। इस प्रकार की सुग्राहिता के पायस को पैनक्रोमेटिक कहते हैं। चित्र 5 में क्रिप्टोसाइनीन रंग द्वारा उत्पन्न विधि दिखाई गई है। इसमें पायस के साधारण सुग्राहिता क्षेत्र से सुग्राहिता का नवीन बैंड पूर्णतया भिन्न है। यह नई सुग्राहिता 6500 ए तथा 7900 ए के बीच स्थित है। इस प्रकार बहुत गहरे रंग के प्रकाश का सम्पूर्ण भाग आच्छादित हो जाता है एवं पायस अवरक्त के फ्रिंज द्वारा प्रभावित हो जाता है। अतः इसको अवरक्त सुग्राही के रूप में श्रेणीबद्ध कर सकते हैं। अब हम वास्तविक अवरक्त संवेदनकारी का अध्ययन करते हैं। इनमें से कुछ नवीन संवेदनकारी अवरक्त का प्रभाव चित्र नं. 6, 7, 8 तथा 9 में दिखाया गया है। इस संवेदनकारी द्वारा संभव किया गया फोटोग्राफिक-सुग्राहिता के क्षेत्र का फैलाव लगभग 7800 ए से 11000 ए तक देखने में आता है।

वे सभी फोटोग्राफिक पदार्थ जो अवरक्त के लिये सुग्राही हैं, नीले बैंगनी तथा पराबैंगनी विकिरणों के लिये भी सुग्राही हैं। वास्तव में अवरक्त की सुग्राहिता की अपेक्षा लघु तरंग आयाम विकिरण की सुग्राहिता कहीं अधिक है। यदि अवरक्त प्लेट को दूर से आने वाले नीले प्रकाश में खुला रखा जाए तो इस प्रकार प्राप्त नेगेटिव उस फिलम से

(शेषांश पृष्ठ 326 पर)

ये झुकते उठते सिग्नल

बिपिनचन्द्र

सिग्नल—शायद ही कोई इस शब्द से अपरिचित हो। जिसने भी रेल-यात्रा की है, लाल रंग की भुजा वाले सिग्नल के गिरने से गाड़ी के चलते रहने या चालू होने तक के इस निर्देशक यन्त्र से अपरिचित न होंगे। सिग्नल अर्थात संकेतक, अर्थ बिल्कुल साधारण से लगते हैं, किन्तु रेल गाड़ियों के वाहन व्यवहार में तकनीकी दृष्टि से इसकी परिभाषा के बृहत अर्थ हैं। साधारण शब्दों में, सिग्नल वाहन के वेग का पथ से सम्बन्ध स्थापित करता है। रेलगाड़ियों के परिचालन में सिग्नल रेल-पथ तथा गाड़ी के वेग में सम्बन्ध स्थापित करता है। संकेत अथवा सिग्नल देने की विशिष्ट निर्धारित बत्ती अथवा झंडी दिखलाने वाले यंत्र को सिग्नल या सिग्नलिंग यंत्र कहते हैं।

चौराहे पर खड़े ट्रैफिक पुलिस को हाथ के 'सिग्नल' देकर यातायात पर नियंत्रण करते सभी लोगों ने देखा होगा। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, लखनऊ जैसे शहर जिन्होंने देखे हैं वह लाल (रुक जाओ), पीली (सावधान), हरी (जाइये) रंग की बत्तियों वाले 'रोड सिग्नल' से भी परिचित होंगे ही। इस प्रकार के सिग्नल नियंत्रण की आवश्यकता क्यों पड़ी ? दो कारण हैं—प्रमुख कारण है दुर्घटनाओं को बचाने के लिये वाहन गाड़ियों के सुरक्षार्थ कुछ विशिष्ट निर्देशन लागू करना, जो केवल सिग्नलिंग द्वारा ही संभव है।

यातायात के घनत्व अर्थात अधिक से अधिक गाड़ियों के परिचालन की संभावना को पूर्ण करना।

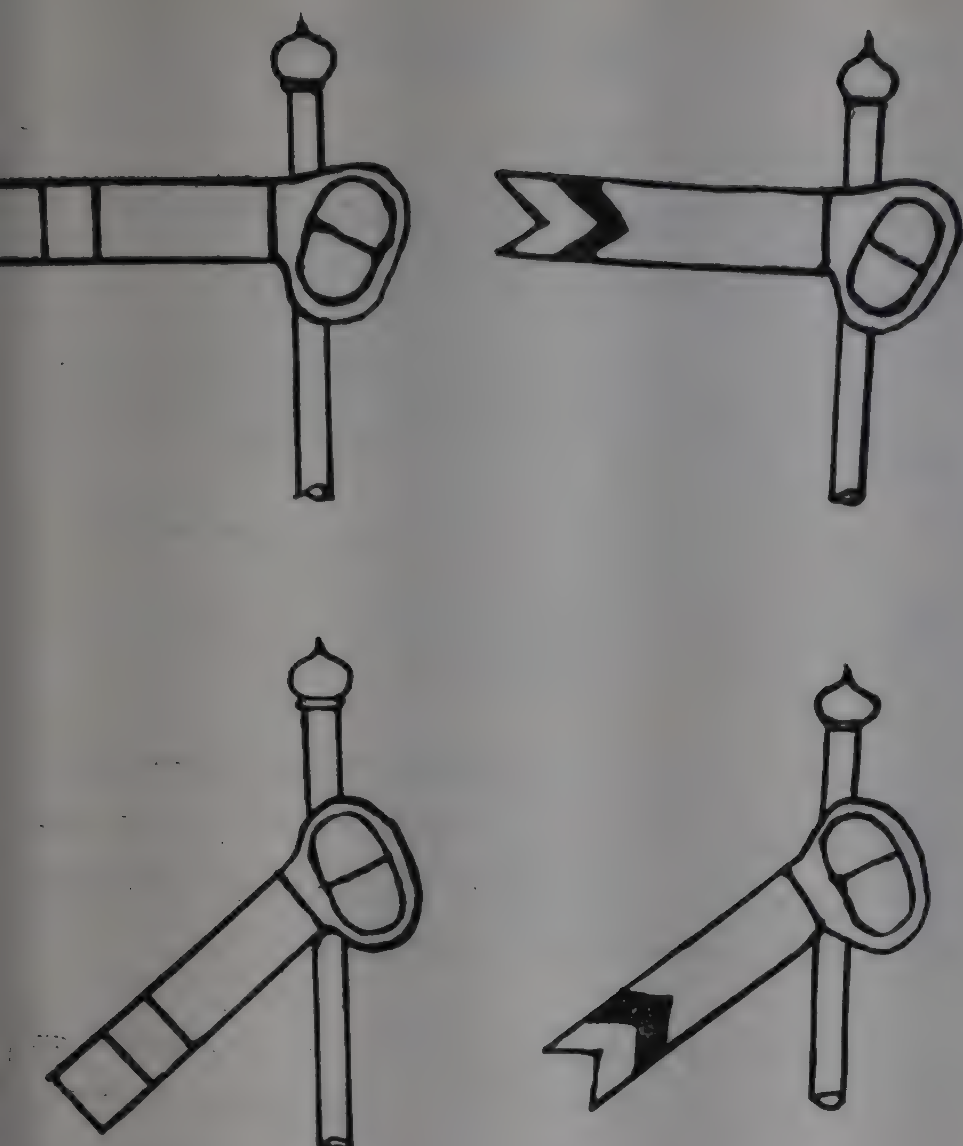
सिग्नल प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं :—

(1) सुनने वाले—लाउडस्पीकर द्वारा, पटाखे दगा कर, अथवा सीटी या हूटर बजा कर।

(2) दिखने वाले—हाथों के इशारे से, लाल या हरी झण्डी का इशारा, अथवा विभिन्न रंग की बत्तियां।

आवश्यकतानुसार दोनों ही प्रकार के सिग्नलों का प्रयोग किया जाता है। ऐसे सिग्नल रेलवे अथवा रोड ट्रैफिक के ही लिये नहीं अपितु पुलिस अथवा मिलिट्री के काम में भी आते हैं। लड़ाई अथवा झगड़े-फसाद के दिनों में यह लोग सिग्नल द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपना सन्देश पहुंचाते हैं। यहां हम रेलवे सिग्नलों का उल्लेख विशेष रूप से करेंगे।

रेल-वाहन में सिग्नल की महत्ता इसलिये अधिक है, क्योंकि रेल गाड़ी का मार्ग दो पटरियों के बीच में सीमित रहता है, तथा हैन्डल घुमा कर मार्ग दिशा बदलना संभव नहीं जबकि यह कमियां साधारण मोटर-गाड़ियों में अनुपस्थित हैं। अतः रेल-गाड़ियों का मार्ग-निर्देशन किसी और पर आधारित रहता है, जो कांटे (प्वाइंट अथवा सादे) घुमाने अथवा सिग्नल देने का अधिकारी होता है। तात्पर्य यह है कि पथ का निर्देशन तथा नियंत्रण ड्राइवर (चालक) के हाथों में न रह कर किसी और के हाथों में चला जाता है जिसके फलस्वरूप स्टेशन, कैबिन, सिग्नल, प्वाइंट (कांटों) तथा नियंत्रण की महत्ता वांछनीय हो जाती है। सिग्नल और कांटों के बीच इस प्रकार की इन्टरलाकिंग की जाती है कि किसी भी प्रकार की दुर्घटना की संभावना समाप्त हो जाये। इस कार्य

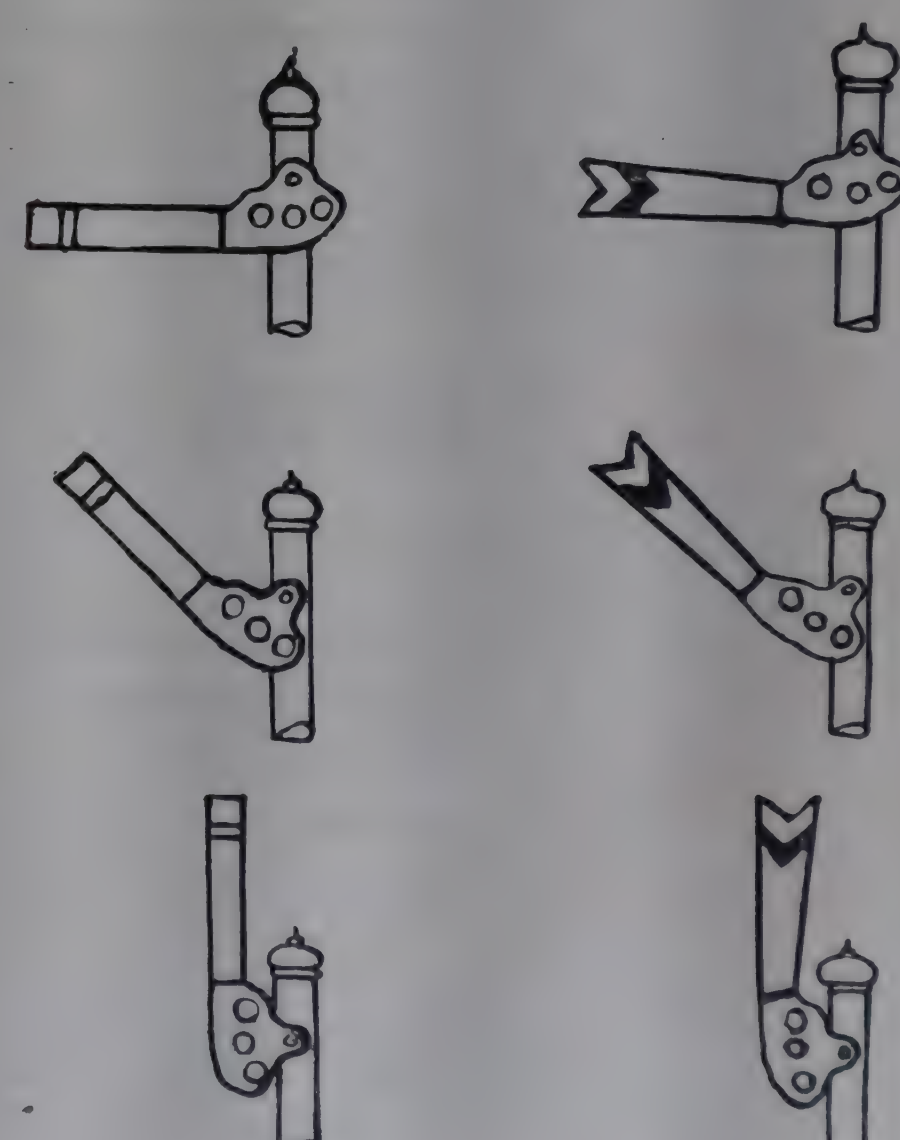


↑ विराम सिग्नल :
(ऊपर) आन स्थिति (लाल बत्ती) : रुक जाओ, विराम ।
(नीचे) आफ स्थिति (हरी बत्ती) : अगले सिग्नल तक जाओ ।

↑ चेतावनी सिग्नल :
(ऊपर) आन स्थिति (पीली बत्ती) : सावधान, अगले सिग्नल पर रुकना है ।
(नीचे) आफ स्थिति (हरी बत्ती) : निःशंक आगे बढ़ो ।

↓ अपर क्वाड्रेन्ट विराम सिग्नल :
(ऊपर) भुजा क्षैतिज—आन (लाल बत्ती) : रुक जाओ, विराम ।
(मध्य) भुजा क्षैतिज से 45° आफ (पीली बत्ती) : सचेत —अगला सिग्नल आन है ।
(नीचे) भुजा क्षैतिज से 90° ऊपर—आफ (हरी बत्ती) : पूरी स्पीड से जाओ, अगला सिग्नल आफ है ।

↓ अपर क्वाड्रेन्ट डिस्टेण्ट सिग्नल :
(ऊपर) पीला (सचेत) : भुजा क्षैतिज : अगला सिग्नल लाल है ।
(मध्य) दो पीले (सावधान) भुजा क्षैतिज से 45° ऊपर : अगला सिग्नल आफ है ।
(नीचे) हरा (आगे बढ़ो) : भुजा क्षैतिज से 90° : सिग्नल आफ है तथा निश्चित मार्ग सीधा है ।



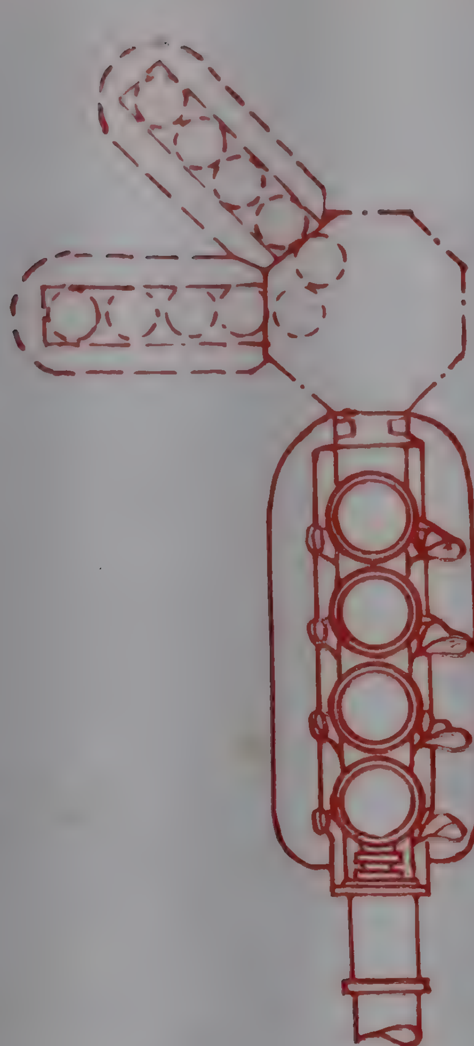
हेतु सुनने से ज्यादा दिखने वाले सिग्नल लाभदायी इसलिए हैं कि इन्टरलाकिंग दिखने वाले सिग्नल से ही संभव है । इन्टरलाकिंग कांटे और सिग्नल खींचने वाले लीवर में सम्बन्ध स्थापित करके की जाती है । इन्टरलाकिंग स्वयं एक बृहत् विषय है, अतः इस लेख में चर्चा नहीं करेंगे ।

यह सिग्नल मुख्यतः दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

(1) आगमन हेतु प्रयुक्त होने वाले—आउटर, होम, राउटिंग तथा कालिंग आन ।

(2) प्रस्थान हेतु प्रयुक्त होने वाले—स्टार्टर अथवा एडवांस स्टार्टर ।

ऊपर जिन सिग्नलों का वर्णन किया गया है वह सब विराम सिग्नल की श्रेणी में आते हैं । इसके अतिरिक्त चेतावनी सिग्नल भी प्रयुक्त होते हैं जो डिस्टेंट अथवा वार्नर सिग्नल कहलाते हैं । इनको तेज स्पीड



चार रंग वाला 'कलर लाइट सिग्नल'

लाल—(विराम) रुक जाओ ।

पीला—(सचेत) सावधानी से आगे बढ़ो, अगला सिग्नल पीला है ।

हरा—(निर्विघ्न आगे बढ़ो) अगला सिग्नल आफ है ।

ऊपर के चित्र में पांच बत्ती वाले रूट इंडीकेटर भी दिखाये गये हैं। यह सिग्नल के आगे के मार्ग के निर्वाचित होने के अनुसार जलते हैं।

एक स्थिति में एक ही बत्ती जलती है, और सब बुझी रहती हैं।

सिग्नल भी कहा जा सकता है। सिग्नल द्वारा प्रदर्शित तात्पर्य या तो भुजा की अवस्था देख कर अथवा बत्ती का रंग देख कर व्यक्त किया जाता है। अधिकतर प्रयुक्त होने वाले बत्ती के रंग केवल तीन हैं—लाल (विराम), पीला (सतर्कता से आगे बढ़ो), तथा हरा (निःशंक अधिक वेग से आगे बढ़ो)। किन्तु पद्धति के अनुसार हर प्रकार की बत्ती के संकेत में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है।

किन्तु भुजा के संकेतक अलग-अलग होते हैं, अतः सिग्नल पद्धति को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं: लोअर क्वाड्रेण्ट, बहुरंगीय अपर क्वाड्रेण्ट तथा कलर लाइट। इनमें से लोअर क्वाड्रेण्ट भी दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और संशोधित।

लोअर क्वाड्रेण्ट सिग्नलिंग पद्धति वह है जिसमें सिग्नल भुजा क्षैतिज से 45° से 60° तक नीचे जाती हैं। अपर क्वाड्रेण्ट प्रणाली में भुजा की तीन स्थितियां होती हैं, भुजा क्षैतिज, से 45° ऊपर तथा भुजा क्षैतिज से 90° ऊपर। कलर लाइट सिग्नल प्रणाली में भुजा अनुपस्थित होती है और दिन अथवा रात दोनों ही समय बत्तियों के प्रयोग से सिग्नल का संचालन किया जाता है।

ऊपर के चित्रों से सिग्नलों का प्रारम्भिक ज्ञान हो जाता है। सिग्नल का नामकरण प्रायः उनकी स्थिति के अनुसार किया जाता है तथा इसके अतिरिक्त यह स्टेशन के वर्गीकरण पर भी आधारित रहता है। किसी स्टेशन का सबसे पहला सिग्नल आउटर कहलाता है। उसके उपरान्त होम सिग्नल पड़ता है। यह सिग्नल स्टेशन पर स्थित उस मार्ग के पहले कांटे की सुरक्षा करता है। यह थी आगमन हेतु प्रयुक्त होने वाले सिग्नलों की बात। प्रस्थान हेतु प्रयुक्त होने वाले सिग्नल स्टार्टर या एडवांस स्टार्टर कहलाते हैं। एडवांस स्टार्टर किसी स्टेशन का अंतिम विराम सिग्नल होता है।

सिग्नलों के बीच की दूरी तमाम निर्धारित नियमों के अनुसार निश्चित की जाती है। प्रायः चेतावनी सिग्नल तथा विराम सिग्नल की दूरी कम-से-कम गाड़ी की ब्रेकिंग दूरी के बराबर रखी जाती है। ब्रेकिंग दूरी वह दूरी है जो गाड़ी ब्रेक लगाने के बाद विराम की स्थिति में आने तक चलती हैं। अनेक प्रयोगों के उपरान्त यह दूरी समतल पर 3170 फीट निश्चित की गई है। अन्य सिग्नलों के बीच की दूरी अधिकतर गाड़ी की लम्बाई के समान रखी जाती है, जो लगभग 2250 फीट है। इसके अतिरिक्त एक और अंक प्रयुक्त होता है, जिसे ओवरलैप कहते हैं। यह वह सुरक्षित दूरी है जो पिछले सिग्नल को 'आफ' करने के पहले साफ रखना चाहिए।

छोटी-छोटी खबरें

स्वीडन में कई तहोंदार कागज के गत्त से फर्नीचर तैयार करने की ओर दिनों-दिन रुचि बढ़ती जा रही है क्योंकि यह गत्ते का फर्नीचर सुन्दर, हल्का और टिकाऊ होता है।

●

सोवियत वैज्ञानिक भाषाविदों ने सर्वेक्षण किया है कि साधारण लेखकों की अपेक्षा संसार में रसायनशास्त्रियों का शब्द-भण्डार सबसे अधिक है। किसी लेखक ने कभी भी 20 हजार से अधिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया, जबकि रसायनज्ञों का शब्द-भंडार लगभग 20 लाख है और निरन्तर बढ़ रहा है।

●

अमरीका के वैज्ञानिक एक ऐसा पिस्तौल जैसा उपकरण विकसित कर रहे हैं जिससे इलैक्ट्रान-पुंज दागे जा सकेंगे। इसके सहारे चट्टानों को इस प्रकार काटा जा सकेगा जैसे गरम चाकू से मक्खन पिघलता और कटता जाता है।

●

मिस्र संयुक्त अरब गणराज्य के चिकित्सकों ने डेलडायेग्जेट नामक एक इंजेक्शन की दवाई तैयार की है जिसके उपयोग के बाद तीन से लेकर छः महीने तक स्त्रियां गर्भवती होने से बची रहती हैं।

●

जापान में राकेट इंजनों द्वारा चालित बिना पहियों की रेलगाड़ी का डिजाइन बनाया गया है। आवाज की रफ्तार से चलनेवाली इस रेलगाड़ी में 1,000 यात्री बैठ सकेंगे।

म्यूनिख जर्मनी के तकनीकी कालेज म बाढ़ नियंत्रण के लिये उपयोगी एक कम्प्यूटर का विकास किया जा रहा है।

●

जर्मनी की वाशम वेधशाला के निदेशक के अनुसार चन्द्रमा की यात्रा से जो मनुष्य लौटेंगे उनके साथ वहां के कुछ घातक जीवाणु आ सकते हैं। ज्ञातव्य है कि अमरीकी अपोलो कार्यक्रम में इस कुसंभावना से बचने के लिये सुनियोजित सावधानी बरती जा रही है।

●

यूनिवर्सिटी आफ सदर्न **कैलीफोर्निया** के डा. फाइण्डले ई. रसेल के अनुसार सर्पों, मकड़ियों और बिच्छुओं के विषों से ऐसी औषधियां तैयार की जा सकती हैं जो खून को जमने से रोकने, उसे जमने के लिये बाध्य करने, रक्त चाप बढ़ाने अथवा दर्द को सीमित करने में सहायक होंगी।

●

लखनऊ के राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान में पूसा बीजहीन किस्म के अंगूरों से रेजिन पदार्थों के निर्माण की प्रविधि विकसित की गयी है।

●

मैडिसन के अमरीकी कृषि अनुसन्धान विशेषज्ञों ने तम्बाकू के पौधों में लगने वाले विषाणु से यह संकेत प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की है कि मनुष्यों को मिरगी क्यों होती है।

●

अन्नामलाई विश्वविद्यालय के डा. सी. एन. सम्बन्धम तथा उनके सहायक खरबूजों की ऐसी जातियां विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं जो कीटहीन होंगी और दक्षिण भारतीय जलवायु में बारहों महीने लगाई जा सकेंगी।

●

एक **सोवियत** वैज्ञानिक पत्रिका में मत व्यक्त किया गया है कि यह पूर्व धारणा गलत है कि मंगल ग्रह की ऊपरी सतह पर वायुमण्डलीय दबाव पृथ्वी की अपेक्षा दसांश है। वस्तु स्थिति यह है कि वहां दबाव केवल पृथ्वी की अपेक्षा 50वां भाग है।

●

भारत की चमड़ा वस्तुओं को निर्यात में बढ़ावा देने की दृष्टि से **मद्रास** के केन्द्रीय चमड़ा अनुसन्धान संस्थान ने निर्माता प्रतिष्ठानों के लिये चमड़े से बनी वस्तुओं के बहुत से नये डिजाइन निकाले हैं।

●

समुद्र की भयंकर लहरें सुनामी

विद्याचरण भट्ट

समुद्र की भयंकर ज्वार-भाटा लहरें

ज्वार-भाटा लहरें क्या हैं ? यह कैसे उत्पन्न होती हैं ? साधारण लहरों से यह किस प्रकार भिन्न हैं तथा इनके भयंकर विनाश से बचने के लिये वैज्ञानिकों ने क्या प्रयास किये हैं ? प्रस्तुत लेख ऐसे ही कुछ प्रश्नों पर प्रकाश डालता है।

इन भयंकर लहरों का नाम है 'सुनामी' जो कि जापानी भाषा से लिया गया है। दुनिया के अनेक हिस्सों में इन्हें 'ज्वार-भाटा लहरें' भी कहते हैं जो वैज्ञानिक रूप से गलत है क्योंकि इसका ज्वार-भाटा की प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुनामी शब्द का जापानी भाषा में अर्थ है, 'बन्दरगाह की ऊंची लहरें'।

समुद्री भूकम्प अथवा ज्वालामुखी

'सुनामी' पंक्तिबद्ध लहरों का एक समूह है जो एक भूकम्प अथवा ज्वालामुखी विस्फोट के कारण समुद्री धरातल के स्थानान्तरण से पैदा होता है। एक अन्तःसागरीय भूकम्प समुद्र की सतह को ऊपर या नीचे कर सकता है। यह प्रक्रिया पास में गुजरते हुए किसी भी जहाज को बुरी तरह झकझोर देती है। यह स्थान हजारों फीट गहरे हैं। इसी प्रकार आकस्मिक अन्तःसागरीय भूकम्प अथवा ज्वालामुखी के विस्फोट से कभी-कभी गर्म गैसों की अपार मात्रा उत्पन्न होती है जो कि समुद्र की सतह पर एक भयानक गुम्बद के रूप में विस्फुटित होती है। गैसीय गुम्बद के विस्फुटित भाग पर दुर्भाग्यवश आ जाने पर कोई भी जहाज क्षण भर में नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

सुनामी लहरों के तीन मुख्य कारण

1. विशाल विदारण विभंग के साथ समुद्री नितल का लम्बवत विस्थापन,
2. भूकम्प के कारण अन्तःसागरीय भूस्खलन, तथा
3. अन्तःसागरीय ज्वालामुखी का विस्फोट।

अन्तःसागरीय भूकम्प के कुछ समय पश्चात 'सुनामी' लहरों का आना प्रायः निश्चित होता है। सुनामी के इतिहास में आज तक ऐसा अवसर नहीं आया जबकि उसके पूर्व भूकम्प अथवा ज्वालामुखी के विस्फोट को महसूस न किया गया हो। यही कारण है कि जापान के पुराने शिला स्तम्भों पर लिखा होता है कि 'भूकम्प को महसूस करने पर एक सुनामी की प्रतीक्षा करो'।

सुनामी और साधारण लहर

सुनामी को समझने के लिये एक साधारण लहर के आकार-प्रकार तथा उसके लिये प्रयुक्त परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। लहर की सबसे अधिक उभरी हुई सतह के उठान तथा सबसे निचली सतह के निचान तक की लम्बवत दूरी को लहर की ऊंचाई तथा दो उठान अथवा दो निचान के बीच की दूरी को 'वेव लेंग्थ' अर्थात लहर की लम्बाई कहते हैं। एक लहर के दो उठान एक निश्चित बिन्दु से गुजरने में जितना समय लेते हैं उसे लहर की 'अवधि' कहते हैं। लहर की अवधि मुख्यतः दो वस्तुओं पर आधारित होती है: एक तो लहर की गति तथा दूसरे लहर की लम्बाई पर। इस सम्बन्ध को एक साधारण सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

$$अ = \frac{ल}{ग}$$; जबकि अ = अवधि

ल = लम्बाई

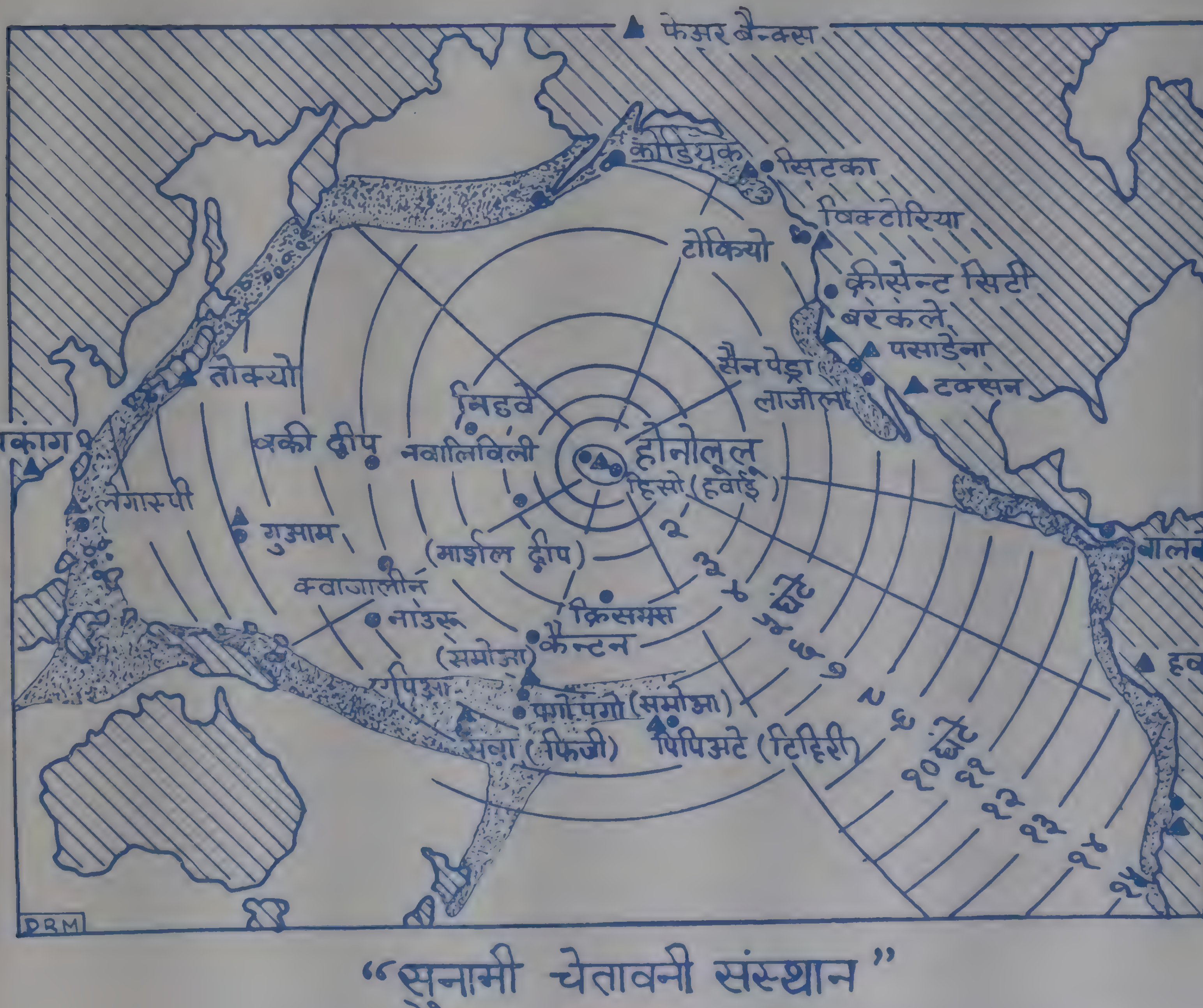
ग = गति

समुद्र में चलने वाली सब लहरों की लम्बाई, गति तथा अवधि

भिन्न-भिन्न होती हैं तथा उसी अनुपात से उनका प्रभाव भी भिन्न होता है।

विशेष उपकरण के बिना एक लहर की गति अथवा लम्बाई की अपेक्षा उसकी अवधि को ज्ञात करना सरल है। उदाहरण के लिये यह बड़ी आसानी से ज्ञात किया जा सकता है कि प्रत्येक उठान को एक पत्थर से गुजरने में कितना समय लगता है। निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होगा कि एक लहर की गति उसकी लम्बाई पर निर्भर करती है। लहर की लम्बाई बढ़ने पर उसकी गति भी बढ़ती है, यद्यपि यह सम्बन्ध सीधा समानुपाती नहीं होता। साधारणतः देखने पर यह भी ज्ञात होगा कि लहरों का बनना हवा पर निर्भर होता है किन्तु मनोरंजक बात यह है कि हवा चाहे कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो उसे पानी की सतह पर एक विशेष प्रकार की लहरें पैदा करने के लिये एक विशेष दूरी तक चलना आवश्यक है। उदाहरण के लिये यदि हम एक अत्यन्त छोट गड्ढे को तूफान में देखें तो ज्ञात होगा कि उसमें बड़ी-बड़ी लहर नहीं बनतीं और अत्यन्त छोटी-छोटी लहरें एक दूसरे के निकट चलती हुई दिखाई देती हैं। इसका कारण यह है कि गड्ढे की लम्बाई लम्बी लहरें पैदा होने के लिये अपेक्षाकृत छोटी है किन्तु इसके विपरीत इसी दशा में हम एक बहुत बड़े तालाब को देखें तो ज्ञात होगा कि लहरों की लम्बाई उस किनारे पर जहां से हवा चलनी प्रारम्भ होती है, बहुत छोटी है किन्तु यह तालाब के दूसरे किनारे पर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। अर्थात लहरों की लम्बाई हवा के पानी की सतह पर चलने की दूरी के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाती है।

समुद्र की अत्यन्त भयावह लहरें जिनकी ऊंचाई 50-60 फीट तक होती है, समुद्र की सतह पर तूफानों के सैकड़ों मील चलने पर पैदा होती हैं। लहर विशेषज्ञों का कथन है कि यूरोप के समुद्री किनारों पर पाई जाने वाली बड़ी-बड़ी लहरों का कारण कभी-कभी अत्यन्त दूर अमरीका



"सुनामी चेतावनी संस्थान"

▲ भूकम्प लिखीय केन्द्र (SEISMOGRAPH STATIONS)
● जवार भाटा मापक केन्द्र (TIDAL STATIONS)
▨ भूकम्प प्रभावित क्षेत्र (SEISMIC BELT)

के किनारों पर बनने वाले तूफान होते हैं। यद्यपि लहर की लम्बाई एवं गति, उनकी दूरी पर निर्भर करती है, किन्तु लहर की ऊंचाई को प्रभावित करने में हवा की गति का मुख्य हाथ होता है। इसके साथ ही लहर की ऊंचाई लहर की लम्बाई पर आधारित होती है क्योंकि जब ऊंचाई लम्बाई की $\frac{1}{7}$ भाग हो जाती है तो अत्यन्त ढालू हो जाने के कारण वह विक्षत हो जाती है। यही कारण है कि तूफान या तेज हवा में इस ऊंचाई के ऊपर पहुंचने पर लहरों के सिरे टूट जाते हैं और वायु उन्हें श्वेत चादर के रूप में उछाल देती है। इसीलिये तूफानी मौसम में लहर के ऊपर झाग दिखाई पड़ते हैं।

भयंकर परिणाम

हवा द्वारा पैदा होने वाली लहरों की अधिक से अधिक लम्बाई 3,700 फीट तक पाई गई है, उसकी गति लगभग 90 मील प्रति घंटा तथा अवधि 27 सेकंड पाई गई है। इसके विपरीत संरचना में सामान्य लहर के समान होते हुए भी सुनामी लहरों की लम्बाई 100-200 मील तक होती है तथा इनकी गति 500 मील प्रति घंटा तक पाई गई है। खुले समुद्र में इनकी ऊंचाई अधिक से अधिक 1 या 2 फीट होती है तथा दो उठानों के बीच में अधिक दूरी होने के कारण एक जहाज सुनामी लहरों को अपने नीचे से गुजरते समय महसूस भी नहीं कर पाता किन्तु समुद्र तट पर पहुंचने पर उथले समुद्र का धरातल लहरों के मार्ग में अवरोध पैदा कर देता है, फलस्वरूप लहर के अग्र भाग की गति धीमी होकर 50 मील प्रति घंटा रह जाती है जिसका परिणाम भयंकर रूप धारण कर लेता है। लहर का पिछला भाग अपने तीव्र वेग के कारण अगले भाग पर दबाव डालता है तथा लहर की ऊर्जा एक बिन्दु पर एकत्रित होने लगती है जिसके कारण लहर की ऊंचाई 100 फीट तक हो जाती है। सुनामी लहरों के 200 फीट तक ऊंची होने के प्रमाण हैं। लहर का यह पर्वताकार रूप उसके तीव्र वेग के कारण कुछेक क्षणों में उत्पन्न हो जाता है। इतनी ऊंची लहरें जब किनारे पर बसे हुए गांव, शहर या अन्य बसावट से तीव्र वेग के साथ टकराती हैं तो प्रलय का दृश्य दिखाई पड़ने लगता है। अचानक लोग अपने घरबार, जान-माल और सर्वस्व को सैकड़ों फीट गहरे पानी में पाते हैं और देखते-देखते समुद्र की यह दानवीय लहरें प्रत्येक वस्तु को समुद्र में खींच ले जाती हैं। लहरों का आक्रमण आकस्मिक एवं इतना शक्तिशाली होता है कि मनुष्य भय एवं आश्चर्य की निस्सहाय अवस्था में अपने को मृत्यु के द्वार पर खड़ा पाता है।

आधुनिक प्रयास—चेतावनी व्यवस्था

सुनामी के विरुद्ध मोर्चाबन्दी का सबसे महत्वपूर्ण प्रयास लहरों के आने से पूर्व 'चेतावनी व्यवस्था' है जिसके अन्तर्गत लोगों को पर्याप्त समय पहले सूचित करके सुरक्षा सम्बन्धी प्रबन्ध कर लिया जाता है। 1946 की सुनामी दुर्घटना ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक 'चेतावनी व्यवस्था' स्थापित करने के लिये बाध्य कर दिया। इस संस्थान के अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रशान्त महासागर में भूकम्प लेखी और ज्वारमाटा मापक स्टेशनों का एक जाल स्थापित किया गया। इसका केन्द्रीय स्टेशन होनोलूलू में रखा गया।

भूकम्प के धक्के से उत्पन्न लहरें समुद्र के धरातल पर स्थित चट्टानों में लगभग 10,000 मील प्रति घंटे की तीव्र गति से चल कर सुनामी लहरों से काफी पहले पहुंच जाती हैं। इस तथ्य का उपयोग सुनामी 'चेतावनी व्यवस्था' में किया गया। भूकम्प लहरों को ज्ञात करने वाले 14 विभिन्न अमरीकी स्टेशन प्रशान्त महासागर में मुख्य-मुख्य स्थानों पर फैले हुए हैं। यह स्टेशन तुरन्त ही भूकम्प के केन्द्र स्थान का पता लगा लेते हैं। यदि भूकम्प का केन्द्र समुद्र में होता है तो उसकी स्थिति सम्बन्धी सूचना केन्द्रीय स्टेशन होनोलूलू को भेज दी जाती है। यहां से इस सूचना को जापानी चेतावनी केन्द्र को प्रसारित कर दिया जाता है। सुनामी को उसके तीव्र वेग और लम्बाई के कारण आसानी से ज्ञात कर लिया जाता है। लहरों के वेग और दिशा को ज्ञात करने के बाद तटवर्ती स्थानों पर इसकी चेतावनी दे दी जाती है। इस प्रकार लहरों के रास्ते में पड़ने वाले तटवर्ती स्थानों को मनुष्यों से खाली करा लिया जाता है। पूर्व सूचना द्वारा मनुष्य के जीवन एवं उसकी सम्पत्ति को बचाया जा सकता है।

चेतावनी व्यवस्था का प्रयोग प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा रहा है। अनेक बार पूर्व सूचना प्रसारित करके जन जीवन की हानि को बचाया जा चुका है।

फिर भी चेतावनी व्यवस्था अभी तक पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है। प्रायः चेतावनी झूठी हो जाती है। मुख्य समस्या यह है कि भूकम्प लेखीय गणनायें इस बात की भविष्यवाणी नहीं कर सकतीं कि कोई सुनामी उत्पन्न हुई है अथवा नहीं और यदि हुई है तो वह कितनी भयंकर होगी। केवल भूकम्प सम्बन्धी आंकड़ों से ही सुनामी की कल्पना की जाती है जो कि सदैव सत्य नहीं होती। 'चेतावनी व्यवस्था' पूर्णतः विश्वसनीय बनाने के लिए वैज्ञानिक प्रयास चल रहे हैं। अनेक देश आजकल 'अन्तर-राष्ट्रीय सुनामी सूचना सेवा' के पक्ष में हैं। आशा है भविष्य में यह कार्य क्रियान्वित हो सकेगा।

●

मानसिक विकलता का रोग—डिमेंशिया

श्याम सुन्दर जोशी

आज नयी पीढ़ी के 95 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति कुछ न कुछ मनोभ्रंश अर्थात डिमेंशिया रोग से ग्रस्त हैं। असंतोष, आन्दोलन और हिंसा की प्रवृत्ति इस रोग की व्यापकता के प्रमाण हैं।

जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाने से अधिकाधिक सुखी होने की मानवोचित कामना ज्यों-ज्यों अवस्था के साथ बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आर्थिक समस्यायें आकर खड़ी होने लगती हैं।

आर्थिक मृगतृष्णा ही आज अनेक मानसिक रोगों का कारण है। 'मनोभ्रंश' भी एक ऐसा रोग है जिसे पागलपन की प्रारम्भिक अवस्था कहा जा सकता है।

रोगोत्पत्ति के कारण

अत्यधिक मात्रा में मद्यपान, मादक एवं नशीली वस्तुओं और कुछ पदार्थों जैसे तम्बाकू, भांग, चाय, काफी, बीयर, कोला-सौल्यूशन आदि का प्रयोग, अधिक सहवास या अनर्गल वीर्य क्षय और वृद्धावस्था के कारण बुद्धि की कार्य शिथिलता या शरीर की कार्यशक्ति का क्षीण हो जाना मनोभ्रंश कहा जाता है।

रोग की भिन्न अवस्थाएं

1. चेहरे पर सूजन, सुस्ती, पुतले की तरह चालढाल, मौनप्रियता, श्रवणशक्ति में विकृति, मूर्खतापूर्ण बातें आदि रोग की प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण होते हैं। इसे तीक्ष्ण मनोभ्रंश अथवा एक्यूट डिमेंशिया कहा जाता है।

2. इच्छा शक्ति और स्मरण शक्ति की कमी, क्रोधी स्वभाव, आमाशय का प्रदाह, लापरवाही पूर्ण रहन-सहन आदि मद्यजनित मनोभ्रंश अथवा अल्कोहलिक डिमेंशिया के प्रमुख लक्षण हैं।

3. सिर झुका कर बैठना, स्वप्नदोष, आत्महत्या करने की सोचना, स्मरणशक्ति की कमी, मानसिक दुर्बलता, उदासीन रहना, दूसरों से सहायता की आशा रखना, नपुंसकता का अनुभव करना आदि वीर्य-क्षय-जनित मनोभ्रंश अर्थात—मैस्टरबैटिक डिमेंशिया के प्रमुख लक्षण हैं।

4. आधे शरीर में अकड़न, कम्पन या जकड़न, श्रवणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की कार्यशक्ति में ह्रास होना, सन्देही स्वभाव, स्मरणशक्ति का लोप हो जाना आदि आंगिक मनोभ्रंश अथवा आर्गेनिक डिमेंशिया के प्रधान लक्षण हैं।

5. मानसिक इच्छाओं का अनियंत्रित होना एवं एकाग्रचित्तता एवं विचारों की उत्पत्ति के क्षीण हो जाने को गौण मनोभ्रंश अर्थात सेकण्डरी डिमेंशिया कहा जाता है।

6. इच्छा शक्ति की कमी, स्मरण शक्ति का कम होना, क्रोधी स्वभाव, बेचैनी, सहनशीलता का अभाव, उदासीनता, अव्यवस्थित चित्त, भूतप्रेतों में विश्वास करना, भ्रांत विश्वास और धारणाएं, आत्मगरिमा, बेढंगे काम या बातें करना आदि वृद्धावस्थाजनित मनोभ्रंश अथवा सेनाइल डिमेंशिया के प्रधान लक्षण हैं। इसे सामान्य बोलचाल की भाषा में 'सठिया जाना' कहा जाता है।

चिकित्सा

सभी चिकित्सा प्रणालियों में मानसिक भावों और आवेगों की ओर विशिष्ट ध्यान दिया जाता है। एलोपैथिक पद्धति में डिमेंशिया को अलग से एक पूरे रोग होने का गौरव नहीं प्राप्त है। हां, अनेक रोगों के लक्षण इससे मिलते-जुलते अवश्य हैं। होमियोपैथी में डिमेंशिया को विशेष स्थान दिया गया है।

अनेक वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि नियमित योगाभ्यास से वृद्धावस्था में भी उत्तम मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखा जा सकता है। योगासन, योग-मुद्रायें और प्राणायाम का नियमित अभ्यास भी इस रोग के लिये उत्तम है।

आयुर्वेद चिकित्सक इस रोग में उन्माद रोग में इस्तेमाल होने वाली प्रसिद्ध औषधियों जैसे शंखपुष्पी, ज्योतिषमती, ब्राह्मी आदि के विभिन्न योगों का प्रयोग रोगी की स्थिति के अनुसार करते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा प्रणाली के मूलभूत सिद्धांतों के आधार पर उपवास, सूर्यकिरणों और मिट्टी-जल का प्रयोग तथा आध्यात्मिक प्रवचनों में रुचि पैदा करते हैं।

मानव का समस्त क्रिया-कलाप उसकी मनस्थिति पर ही निर्भर होता है। मन अस्वस्थ होने पर शरीर पर भी दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इससे उस मनुष्य का जीवन तो आनन्दहीन हो ही जाता है परिवार और समाज पर भी इसका अप्रत्यक्ष कुत्सित प्रभाव अवश्य पड़ता है। अतः डिमेंशिया के लक्षण प्रकट होते ही योग्य मनोचिकित्सक से इसका इलाज करवा लेना चाहिए।

अदृश्य प्रकाश·········

(शेषांश पृष्ठ 317 का)

अधिक भिन्न नहीं होगा जिसमें अवरक्त-सुग्राहिता लेशमात्र भी न हो। इस असुविधा को हम प्लेट तक पहुंचने वाले नीले, बैंगनी तथा परा-बैंगनी प्रकाश को फिल्टर लगाकर रोक सकते हैं। ऐसी फोटोग्राफिक प्लेट के लिये जो हरे, नारंगी तथा लाल रंग के प्रकाश के लिये सुग्राही है, इस भांति का फिल्टर प्रयोग किया जाना चाहिये जो केवल अवरक्त की क्रिया को अंकित कर सके।

साधारण फोटोग्राफी से अवरक्त फोटोग्राफी अधिक उपयोगी है। यदि आकाश मेघाच्छन्न हैं, वायुमंडल में कोहरा धुंध या बर्फीला तूफान है तो अवरक्त फोटोग्राफी अधिक सफल सिद्ध हुई है। यदि हमारी इच्छा रात्रि में तारागणों का चित्र, चन्द्रमा के प्रकाश तथा अंधेरे में फोटोग्राफी की है तो केवल अवरक्त फोटोग्राफी का ही सहारा लेना पड़ता है। यहां तक कि यदि युद्ध के समय हमें किसी ऐसे दूर के स्थान का फोटोग्राफ लेना हो जहां पर बम का निशाना बनाना है तो वायुयान में बहुत ऊंचाई पर जाकर अवरक्त-फोटोग्राफी की ही तकनीक सफल होगी। ज्वालामुखी पर्वत में जब विस्फोट होता है तो लावा निकलता है एवं सम्पूर्ण वायुमंडल धुएं से घिर जाता है, ऐसे समय अवरक्त फोटोग्राफी द्वारा चित्र लेने में ही सफलता मिल सकती है। ●

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में मिस्र के यूनानी उपनिवेश सिकन्दरिया में किसी ने कहा—'इस समय हमारा शहर चमक रहा होगा—सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश, छाया का कहीं नाम नहीं।'

'प्रकाश और छाया नहीं। कहां की बात कर रहे हो!' प्रश्न हुआ।

'यहां से पांच हजार स्तादि दूर हमारे उस शहर का नाम है सीनी। आज के दिन सीनी में ठीक मध्याह्न के समय सूर्य सीधा सिर के ऊपर आ जाता है। कोई भी वस्तु छाया नहीं छोड़ती।'

'अच्छा कभी देखेंगे तुम्हारे शहर को।' कह कर वैज्ञानिक इरोटिस्थिनीज नित्य की भांति चल दिये अपने प्रयोगों को पूरा करने के लिये। अनुसन्धान का विषय था—धरती की लम्बाई।

सीनी निवासी वहीं खड़ा रहा—वैज्ञानिक की तल्लीनता पर अवाक्।

इरोटिस्थिनीज कुछ समय बाद दौड़ते हुए आये। बोले—'मध्याह्न के शुद्ध समय में अभी कुछ क्षण शेष हैं।'

'होंगे,'—हंस कर उत्तर दिया उस व्यक्ति ने।

'तो तुम ठीक कहते हो कि सीनी में इस समय कोई वस्तु छाया नहीं छोड़ रही होगी।'

'हां, यह सत्य है।'

हाथ की छड़ी इरोटिस्थिनीज ने जमीन पर सीधी गाड़ दी। ज्यामितीय यंत्र निकाले। सूर्य की छाया सिकन्दरिया में उस समय सात अंश के कोण पर थी। सात अंश—अर्थात 360 अंश के वृत्त का लगभग पचासवां भाग। और इतने कोण पर पृथ्वी की लम्बाई पांच हजार स्तादि है।

पृथ्वी गोल है—अरस्तु की यह बात यदि सत्य है तो इसकी परिधि की लम्बाई इस दूरी की पचास गुनी होनी चाहिये अर्थात ढाई लाख स्तादि।

मिस्र में प्रचलित स्तादि इकाई एक मील का दसवां भाग होती है। इरोटिस्थिनीज ने धरती की लम्बाई पच्चीस हजार मील बताई जो आधुनिक मान के कितनी निकट है। ●

सूर्य हमसे केवल आठ प्रकाश मिनट दूर है। इससे अलग हटकर कई प्रकाश वर्ष दूर है एक दूसरा बड़ा सूर्य--अल्फा सेण्टोरी। और इसी प्रकार सूर्य पर सूर्य, सबके अपने ग्रह और उपग्रह और उन्हें लपेटती हुई एक आकाश गंगा, दूसरी आकाश गंगा, अगण्य तारक-पुंजों को समेटे हुए, जो करोड़ों प्रकाश वर्ष दूर हैं हमारी पृथ्वी से। उनके जिस रूप का आभास मानव को प्रकाश-किरणों और रेडियो-तरंगों से मिलता है, वह तो उतने ही करोड़ वर्ष पहले का रूप है।

तो क्या हम क्वासरों के रूप में अपनी पृथ्वी और सूर्य के निर्माण से भी पूर्व की सृष्टि का स्वरूप देख रहे हैं?

......सुदूर अतीत......

'हैं' कि 'थे'—कहा नहीं जा सकता, किन्तु विज्ञान की आंखें जहां तक देख सकीं, जितना ज्ञात है, सृष्टि का छोर है वह। पढ़िये....

सृष्टि के छोर पर खड़े— क्वासर

कुलदीप चड्ढा

संसार की सैकड़ों वेधशालाओं में परिश्रम-रत नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में खोज करने वाले अंतरिक्ष वैज्ञानिक चांद-सितारों की दुनिया के बारे में नित्यप्रति अनेक रोचक बातें खोज निकालते हैं। परन्तु 'क्वासर' की खोज जैसी महत्वपूर्ण घटना, दशाब्दियों में कभी एक बार ही घटती है।

आकाश में चमकने वाले पिंडों की तुलना प्रायः उनकी उज्ज्वलता के आधार पर की जाती है। वास्तव में चांद-सितारों की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट होने का कारण उनकी उज्ज्वलता ही है। हम पृथ्वी के पुत्र अपने पास पड़ोस के पिंडों में से सबसे अधिक सूर्य द्वारा ही प्रभावित होते हैं क्योंकि वह अत्यन्त तेजवान प्रकट होता है।

सूर्य एक तारक है—एक एकल पिंड। ऐसे करोड़ों अरबों तारक परस्पर मिल कर एक तारकपुंज (गैलैक्सी) का निर्माण करते हैं। सूर्य की भांति क्वासर भी प्रायः एकल होते हैं। परन्तु उनसे प्रसारित होने वाले प्रकाश की मात्रा, सबसे अधिक तेजस्वी तारकपुंज से भी कोई 20-30 गुना अधिक होती है।

क्वासरों से परिचय

क्वासर ऐसे विलक्षण तारक-दल हैं जिनका प्रकाश करोड़ों अरबों साधारण तारकों के सामूहिक प्रकाश के तुल्य होता है। इतने उजले होने पर भी क्वासर अभी हाल तक मनुष्य की आंखों से ओझल रहे। इसका कारण है इन पिंडों की हमसे विशाल दूरी।

क्वासर पृथ्वी से इतने दूर हैं कि सेकंडों में लगभग 3 लाख किलोमीटर अर्थात 186000 मील की विपुल गति से चलने वाली प्रकाश तरंगें इस अन्तर को तय करने में करोड़ों अरबों वर्ष लगा देती हैं। अतएव जब क्वासर अपने विपुल प्रकाश को इतने विशाल विस्तार में फैला देता है तो पृथ्वी तक पहुंचने वाली उसकी प्रकाश किरणें अत्यन्त

क्षीण हो जाती हैं, इतनी क्षीण कि क्वासरों के अस्तित्व तक से मानव अपरिचित रहता, यदि खोज के एक नूतन साधन के रूप में रेडियो तरंगों का सहयोग उसे प्राप्त न होता।

अपने दैनिक जीवन में तो हम रेडियो तरंगों से परिचित हैं, केवल सुन्दर संगीत और समाचारों आदि को दूरी से सुन पाने के साधन के रूप में ही। किन्तु पिछले 20-30 वर्षों में इन तरंगों ने द्युलोक की खोज-बीन से भी महत्वपूर्ण योग दिया है। इस योगदान का इतिहास एक संयोग से प्रारम्भ होता है जबकि सन 1931 में अमेरिका का एक विज्ञानी जेन्स्की, रेडियो विज्ञान के कुछ प्रयोग कर रहा था। अकस्मात् उसे ऐसा अनुभव हुआ कि आकाश गंगा की ओर से कुछ रेडियो संकेत आ रहे हैं। पर इन्सान की तात्कालिक जानकारी के अनुसार यह एक असंभव सी बात थी। अतः यह बात लगभग भुला दी गयी।

रहस्यमयी रेडियो तरंगें

लेकिन दूसरे महायुद्ध के दौरान एक और घटना घटी। इंग्लैंड के कुछ कर्मचारी, रडार यंत्रों की सहायता से शत्रु के वायुयानों की ताक में तैनात थे। सहसा उनके रडार यंत्र के शीशे पर ऐसा आभास मिला मानों सूर्य की ओर से रेडियो संकेत आ रहे हैं। युद्ध की समाप्ति पर इस दिशा में अधिक खोज बीन हो सकी और अन्त में यह सिद्ध हो गया कि आकाश पिंडों में प्रकाश तरंगें ही पैदा नहीं होतीं अपितु रेडियो तरंगें भी पैदा होती हैं।

शीघ्र ही इस विषय के गणितीय विश्लेषण किए गए और व्योम पिंडों आदि में रेडियो तरंगें पैदा होने की संभावनाओं की जांच की गयी। दूसरी ओर ऐसी तरंगों को सूक्ष्मता से ग्रहण करने, तरंगों के स्रोत की दिशा को ठीक-ठीक मापने तथा तरंगों की मात्रा में उतार चढ़ाव की परख लेने के योग्य यंत्रों का भी तेजी से आयोजन होने लगा। इस क्षेत्र में प्रयोग किए जा रहे यंत्रों में इंग्लैंड के जाड्रैल बैंक का रेडियो दूरदर्शी सबसे अधिक विख्यात है। अपनी किस्म के सबसे बड़े इस धातु-ताल का व्यास 250 फुट है, अर्थात सबसे बड़े प्रकाश दूरदर्शी के व्यास से भी 15 गुना बड़ा।

इन सब यंत्रों की सहायता से आकाश की विभिन्न दिशाओं की पड़ताल की गयी, ऐसे पिंडों की खोज के लिए जो रेडियो तरंगें भी प्रसारित करते हैं। ऐसे पिंडों को 'रेडियो-स्रोत' की संज्ञा दी गयी। सूर्य एक प्रमुख रेडियो-स्रोत है। सूर्य के अतिरिक्त, हमारे तारक पुंज में नोवा और सुपर नोवा कहलाने वाले आकाश पिंड भी इस वर्ग से सम्बद्ध हैं। इन्हें छोड़ कर रेडियो तरंगें, केवल समूचे तारक पुंजों से ही आती प्रतीत होती थीं। कोई 15-16 वर्ष पूर्व कुछ ऐसी दिशाओं से भी रेडियो संकेत आते प्रतीत हुए, जिधर कोई तारक पुंज नहीं था। प्रश्न हुआ, इन तरंगों का स्रोत क्या है? भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के यंत्रों से इन तरंगों का विश्लेषण करके अपने अनुमान प्रकाशित किए। ये अनुमान अत्यन्त मौलिक और परस्पर भिन्न थे। उदाहरण के तौर पर कुछ विद्वानों के अनुसार रेडियो तरंगें हमारे अपने तारक-पुंज के ही किसी अदृश्य तारक से आ रही हैं। कुछ दूसरे इन्हें दूरस्थ तारक पुंजों के किनारों से आ रही मानते थे। बहुतों का विचार था कि ये दो नीहारिकाओं के मध्यवर्ती भाग से आ रही हैं, जहां इनमें परस्पर टकराव हो रहा है। यही टकराव इन तरंगों के पैदा होने का कारण बताया जाता था। एक अन्य विचार के अनुसार ये तरंगें सृष्टि निर्माण से बचे कूड़ा-करकट के ढेरों से आती हैं, इत्यादि।

प्रथम अध्ययन

इन अनुमानों के स्थान पर वास्तविकता का आभास वर्तमान दशक के प्रारम्भ में मिलना शुरू हुआ। रेडियो-स्रोतों को कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय चिरकाल से तालिकाबद्ध करता रहा है। 1960 में इस क्षेत्र के विद्वानों का ध्यान 48 कहलाने वाले स्रोत पर केंद्रित था। अमेरिका और इंग्लैंड में काम करने वाले, विज्ञानियों के दो स्वतंत्र वर्गों ने इस स्रोत की दिशा बहुत दुरुस्ती से निर्धारित की। इसके बाद संसार के दो सबसे बड़े प्रकाश दूरदर्शियों से अनुरोध किया गया कि वे उक्त दिशा में किसी प्रकाश स्रोत को खोजने का यत्न करें। ये दो दूरदर्शी अमेरिका में माऊंट विल्सन और माऊंट पालोमर पर अवस्थित हैं। काफी परिश्रम और धैर्य के बाद, रम्य नीले रंग की क्षीण किरणों ने एक पिंड की विद्यमानता का आभास दिया, जिसकी रूपरेखा तारकों के समान थी।

उन्हीं दिनों आस्ट्रेलिया के कुछ जिज्ञासु 36273 नामक रेडियो स्रोत से अपना परिचय बढ़ाने में व्यस्त थे। जिस समय यह स्रोत चन्द्रमा की ओट में था, उस समय उसके वेध लेने पर निश्चय किया गया कि यह स्रोत भी तारक पुंजों की भांति विस्तृत नहीं था, अपितु एक युगल पिंड था, अर्थात दो निकटवर्ती विशाल तारकों का गुट।

एकल हों अथवा युगल, इन प्रयोगों से यह तो सिद्ध हो ही गया कि रेडियो तरंगों के इन स्रोतों का मूल स्वरूप तारकों के तुल्य है। तो भी उनके प्रकाश और रेडियो प्रसारण की विपुलता अत्यधिक होने के कारण उनकी जात-बिरादरी थोड़ी भिन्न अवश्य थी। अतः उन्हें तारक-सम रेडियो स्रोत कहा गया, अथवा 'क्वासी-स्टैलर-रेडियो-सोर्स'। इसी अटपटे नाम का संक्षिप्त और कर्णमृदु संस्करण है 'क्वासर' जिसे कभी-कभी तो मात्र 'क्वास' भी कह दिया जाता है।

कल्पनातीत प्रकाश—कल्पनातीत आकार

इस स्थल पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जहां अन्य पिंडों के रेडियो प्रसारण, प्रकाश-विकिरण की अपेक्षा गौण हैं, वहां क्वासरों का प्रथम परिचय रेडियो तरंगों द्वारा क्यों कर मिला। ऊपर कहा गया है कि एक औसत क्वासर, एक तारकपुंज के समूचे प्रकाश से भी 20-30 गुना अधिक प्रकाश प्रसारित करता है। किन्तु तुलना में उसकी रेडियो तरंगों की प्रसारण क्षमता लाखों गुनी अधिक होती है।

प्रायः प्रत्येक तारक के प्रकाश की मात्रा उतार-चढ़ाव के निश्चित अथवा अनिश्चित दौर में से गुजरती है। एकल पिंडों का यह भी एक लक्षण है। जब ऐसे करोड़ों पिंड एक पुंज में हों तो उनके परिवर्तन, एक दूसरे से भिन्न और प्रायः विपरीत आदि होने के कारण, प्रकाश की सामूहिक मात्रा में किसी उतार चढ़ाव का आभास नहीं देते। इस संदर्भ में यह जानना रोचक होगा कि क्वासर पिंडों के प्रकाश की मात्रा में परिवर्तन लक्षित किया गया है। उदाहरण के तौर पर 36273 के

प्रकाश की मात्रा में 50 प्र. शं. तक परिवर्तन देखा गया है जो लगभग 13 वर्ष की अवधि में पूरा होता है। इसी प्रकार 3648 में परिवर्तन की मात्रा 40 प्र. श. आंकी गयी है।

क्वासर केवल चमक दमक में ही तारकों के सिरमौर नहीं, उनका डीलडौल भी विशाल है। सामान्य तारकों में पदार्थ की मात्रा सूर्य से 100 गुनी से अधिक नहीं होती। पर क्वासरों में इसका परिमाण सूर्य से लाखों करोड़ों गुना अधिक है। विस्तार में भी ये तारकों से बहुत बड़े हैं, पर अनुपात इतना अधिक नहीं।

अनुपात की इस विभिन्नता ने विज्ञान जगत में बड़ी रोचक उधेड़-बुन का सूत्रपात किया। संहति की विपुलता और विस्तार की अपेक्षाकृत क्षुद्रता के कारण, क्वासरों में गुरुत्व बहुत अधिक होना चाहिए। इस स्थिति का गणित के विशेषज्ञों ने विश्लेषण किया, जिसके परिणाम प्रारम्भ में क्रांतिकारी प्रकट हुए। पर हाल ही में इन परिणामों के बारे में संदेह प्रकट किए गए हैं। अन्यथा अभी हाल तक अमेरिका के फाउलर, इंग्लैंड के हायल और भारत के नार्लीकर जैसे ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों का नाम प्रायः ही क्वासरों के साथ लिया जाता था। पर इसमें सन्देह नहीं कि क्वासरों में निहित पदार्थ की अवस्था सामान्य नहीं।

और इनकी संख्या...

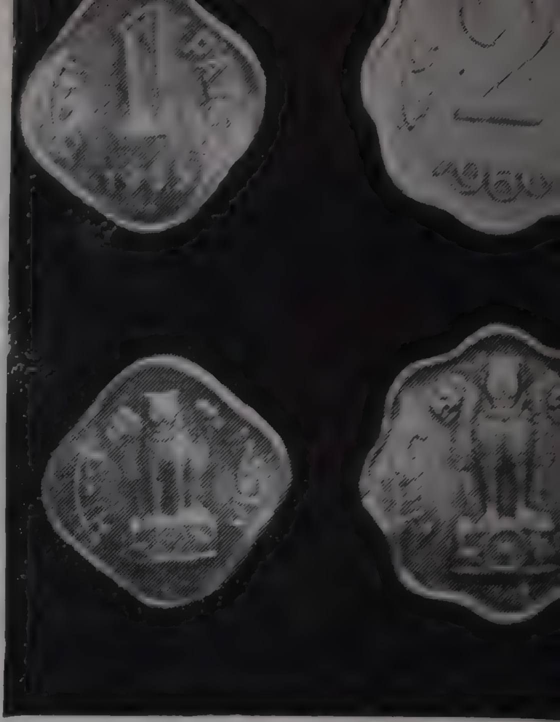
इन असामान्य पिंडों की संख्या, मानव की धारणानुसार समय के साथ निरन्तर बढ़ रही है। 3648 तथा 36273 के निर्धारण के तुरन्त बाद 36147 और 36286 नामक पिंड भी क्वासरों की कक्षा में बैठा दिए गए। ये पिंड हमसे क्रमशः लगभग 6,00,00,00,000 तथा 10,00,00,00,000 प्रकाश वर्ष की दूरियों पर अवस्थित हैं। संभवतया मानव की आंखों से देखे जा सकने वाले ये सबसे दूरस्थ एकल पिंड हैं। आजकल की धारणा के अनुसार क्वासर पिंड, विस्तार-शील ब्रह्मांड के अंग के रूप में, हमसे निरन्तर दूर भाग रहे हैं। 36286 में इस क्रिया की गति 40,00,00,000 मील प्र. घं. है अर्थात प्रकाश की गति का लगभग 55 प्रतिशत।

इनके अतिरिक्त 36 शृंखला के ये क्रमांक भी क्वासर हैं : 9,196, 216,245 तथा 47। अन्तिम पिंड रेडियो प्रसारण और प्रकाश की दृष्टि से बड़ा क्षीण है, पर इसका विस्तार सबसे अधिक है और संभवतया यह सबसे पुराना क्वासर है।

यह तो कतिपय प्रमुख क्वासरों का परिचय है। इनके अतिरिक्त अन्य दर्जनों पिंड भी इस विलक्षण क्वासर जाति से अपना संबंध जुड़वा चुके हैं। अब तक इस तालिका में कितने पिंड आ चुके हैं, इसके उत्तर में 50, 60 या 70 आदि की संख्याएं प्रकट की जाती हैं। पर क्वासर पिंडों के लक्षणों से स्थूल सा परिचय पाकर भी आप जान गए होंगे कि इन्हें पहचानना सुगम नहीं। अतएव उक्त गणना को निश्चित करना आसान नहीं। और फिर नित्य प्रति प्रगति कर रहे विज्ञान की अधुनातन अवस्था की ओर निश्चित संकेत कर पाना भी कहां संभव है? ●



राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला द्वारा विकसित प्रक्रम से बनाई गई ग्रेफाइट क्रूसिबल में धातु के पिघलने की क्रिया।



राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला
बम्बई स्थित टकस

अलौह धातुओं की उन्नत निर्माण विधियां

जोगेन्द्र सक्सेना

औद्योगिक विकास और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिये मुक्त अवस्था में लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का अत्यधिक महत्व है। अब एल्यूमिनियम का उत्पादन हम बड़े पैमाने पर कर रहे हैं। देश की आवश्यकता को पूरा करने के लिये अन्य अलौह धातुओं जैसे तांबा, जस्ता और टिन आदि को हम किसी न किसी मात्रा में विदेशों से आयात कर रहे हैं।

आवश्यक उपाय

आयात में कमी करने के लिये निम्न उपाय परम आवश्यक समझे गये हैं: (1) उपलब्ध साधनों का उपयोग, (2) नये भण्डारों की खोज, (3) आयातित धातुओं के स्थान पर देश में उपलब्ध सामग्री का उपयोग। इन आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख कर राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमशेदपुर तथा देश के अन्य औद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों में अलौह धातुओं की उन्नत निर्माण विधियां विकसित करने की प्रमुख उपलब्धियों पर हम यहां दृष्टि डालेंगे।

तांबा और जस्ता जैसी मूलधातुओं की निरन्तर कमी और टिन, निकिल के भण्डारों के अभावों से एल्यूमिनियम उद्योग का विकास आवश्यक हो गया है। हमारे देश में बाक्साइट के विशाल भण्डार उपलब्ध हैं। इन भण्डारों में इतना बाक्साइट भरा हुआ है कि 5 लाख टन प्रति वर्ष के हिसाब से आगामी 100 वर्षों तक उसका उत्पादन किया जा सकता है।

गुजरात, मैसूर और कश्मीर के भण्डारों से उपलब्ध बाक्साइट को एल्यूमिनियम तैयार करने के उपयुक्त बनाने के संबंध में परीक्षण किये गये। इससे पता चला है कि गलाने से पहले अयस्क को बेअर की विधि से शुद्ध किया जाना संभव है। परीक्षणों से यह भी पता चला है कि इस अयस्क से 90 प्रतिशत से ऊपर एल्यूमिना प्राप्त किया जा सकता है।

मिश्र धातु में सुधार

मोटरकार, वायुयान और अन्य इन्जीनियरी उद्योगों में एल्यूमिनियम-सिलिकन मिश्रधातु का उपयोग किया जाता है। मिश्र धातु की संरचना में सुधार करने के लिये कई प्रकार के तत्वों का उपयोग करने के बजाय अब केवल एक ही प्रतिकारक के उपयोग से शोधन प्रक्रिया संभव हो गयी है। इससे मिश्र-धातु की सूक्ष्म संरचना, तरलता, यन्त्ररूप्यता और तनाव-बल में सुधार हुआ है।

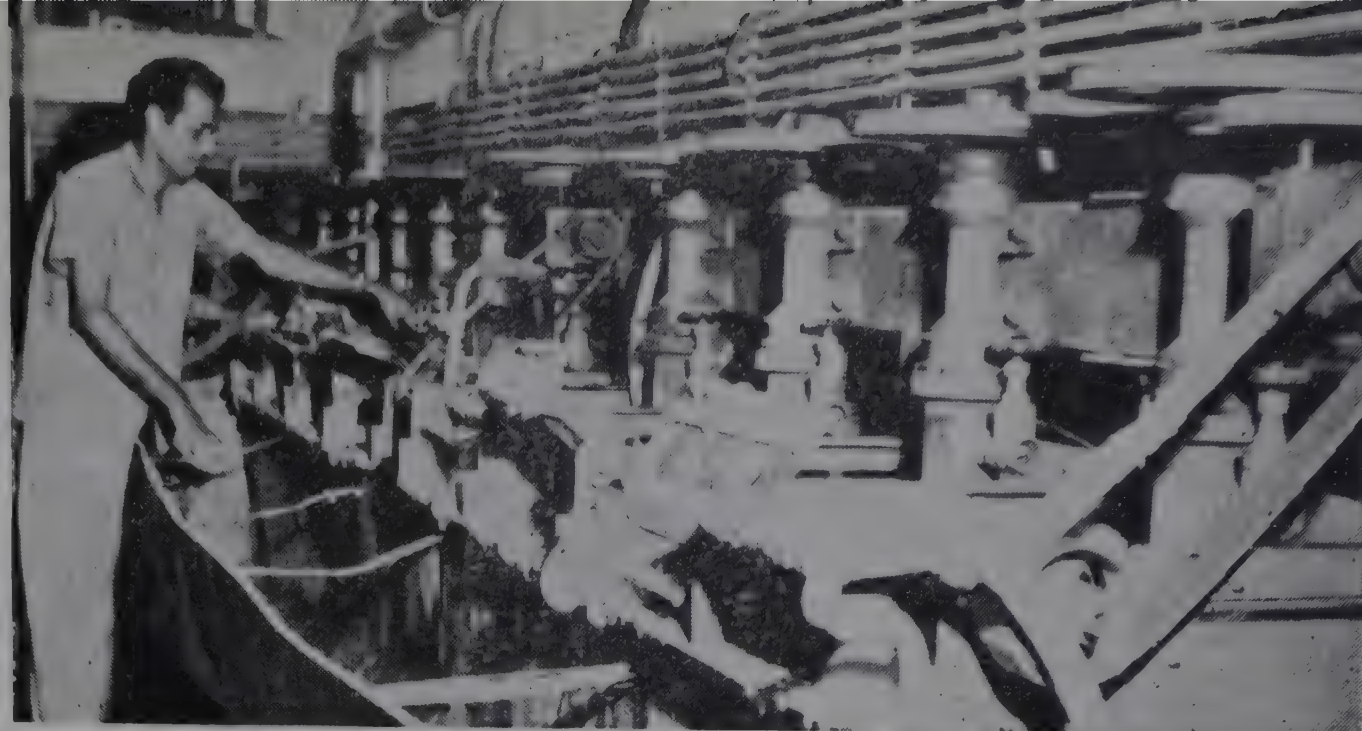
संचारण केबलों में 19.5 प्रतिशत शुद्धता की एल्यूमिनियम का इस्तेमाल किया जाता है। बिजली के साज सामान में उपयोगी एल्यूमिनियम से संवाहक बनाये गये हैं जो अपेक्षित शुद्धता रखते हैं।

भारत में अभी तक सिक्के निकिल, तांबा आदि धातुओं से बनाये जाते रहे हैं। देश में निकिल न मिलने और तांबे का उत्पादन थोड़ा होने के कारण इन्हें बाहर से मंगाना पड़ता था। अब उक्त प्रयोगशाला ने एल्यूमिनियम-मैग्नीशियम का जो मिश्रधातु तैयार किया है उससे 1,2,3 और 5 पैसे के सिक्के बनाये जाते हैं। इसके इस्तेमाल से इन सिक्कों को बनाने में निकिल और तांबे का उपयोग बिलकुल बन्द हो गया है।

इसके अतिरिक्त अलौह धातुओं को एल्यूमिनियम मिश्रित करने, लाल मिट्टी वाले धातु भंडारों से 91 प्रतिशत एल्यूमिना



रा भारत सरकार के
सिक्के ।



निम्न कोटि के अलौह अयस्कों पर प्लवन अध्ययन (फ्लोटेशन स्टडीज) करने के लिए प्रयुक्त खनिज सज्जीकरण प्रायोगिक संयंत्र ।

प्राप्त करने और भारतीय रेलों की विद्युतीकरण प्रायोजनाओं के लिये एल्यूमिनियम-कांस्य मिश्रधातु तैयार करने में भी सफलता प्राप्त हुई है ।

तांबा

तांबे का विदेशों से आयात कम करने के लिये भारत सरकार ने देश में कई गलन भट्टियां लगाने की योजना बनाई है । इन भट्टियों में काम आने योग्य अयस्क तैयार करने के लिये कई प्रायोगिक संयन्त्रों के डिजाइन तैयार किये गये हैं जिनका सफल परीक्षण हुआ है ।

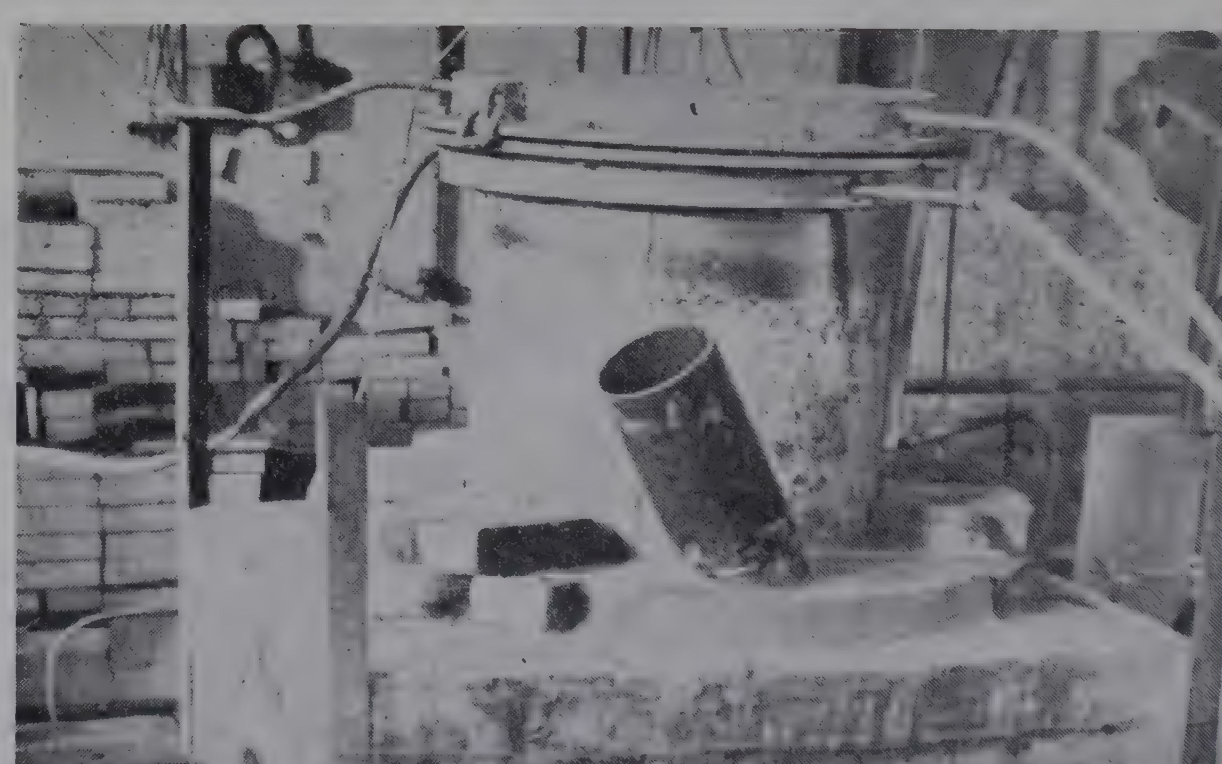
पंखों में काम आने वाले बियरिंग जैसे इन्जीनियरी उत्पादों के लिये तांबे का बुरादा बड़ी आवश्यक सामग्री है । विद्युत निक्षेप क्रिया द्वारा तांबे का बुरादा तैयार करने की तकनीक प्रस्तुत की गयी है । राजस्थान के खेतड़ी और कोलिहान तथा बिहार के राखा क्षेत्र में प्राप्त घटिया किस्म के खनिज से भी यथासंभव उत्तम तांबा प्राप्त करने के लिये उपयुक्त प्रविधियां अब सामने हैं ।

मैंगनीज

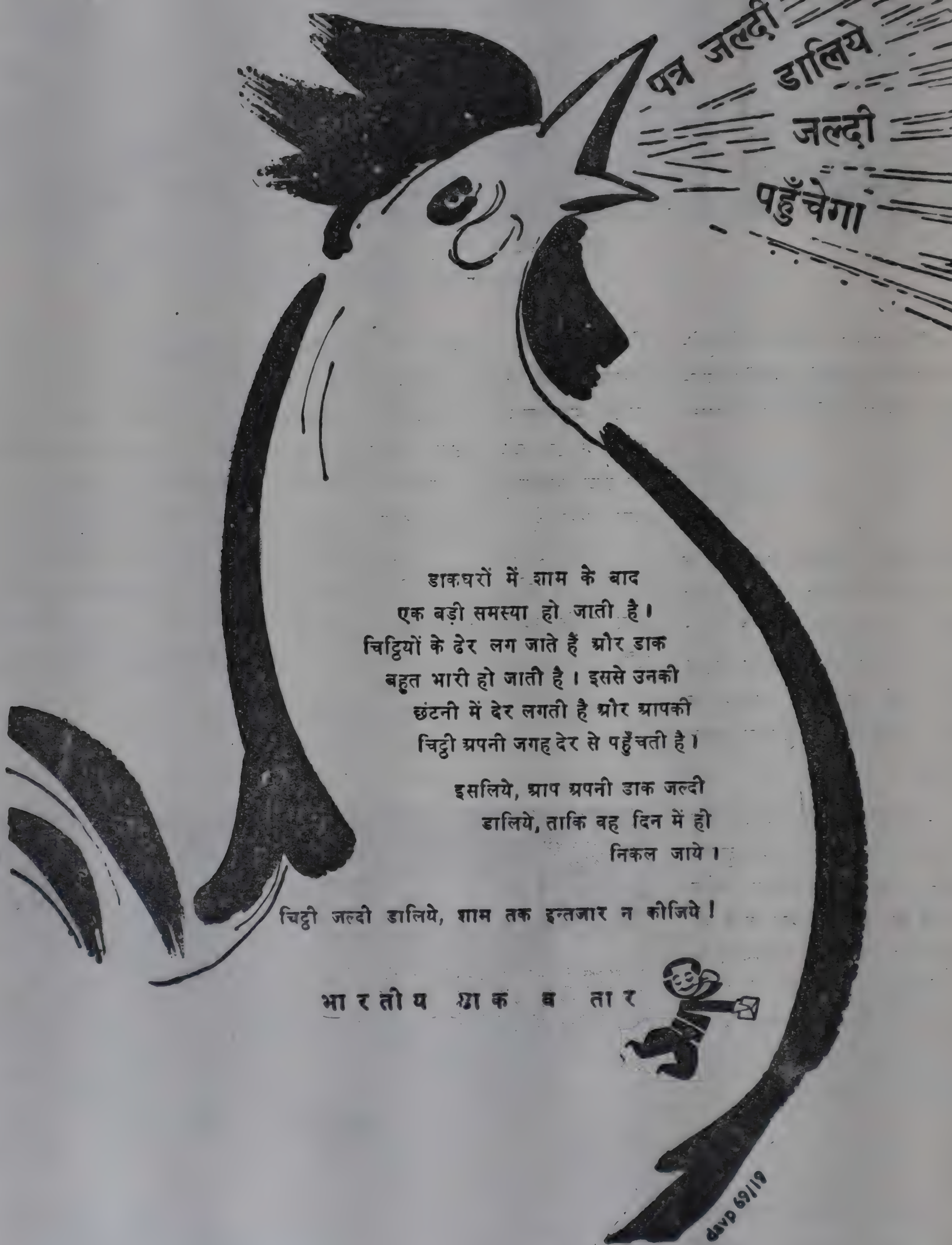
विश्व के मैंगनीज अयस्क उत्पादक देशों में भारत का एक विशेष स्थान है । यह अयस्क लौह-मैंगनीज मिश्रधातु उत्पादन के लिये बहुत आवश्यक होता है । अच्छी किस्म का मिश्रधातु भारी मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जाता है । प्रत्येक एक टन अच्छा अयस्क प्राप्त करने के लिये एक-दो टन घटिया मैंगनीज व्यर्थ चला जाता है । प्रयोगशाला ने इस व्यर्थ घटिया अयस्क को लौह-मैंगनीज मिश्रधातु के उत्पादन के उपयुक्त बना लिया है । इसका विद्युत उपकरणों में विशेष उपयोग है । तदर्थ विकसित तकनीकों में प्रतिष्ठानों ने रुचि दिखायी है और उनके सहारे उत्पादन भी आरम्भ हो चुका है ।

मैग्नीशियम

मैग्नीशियम सामरिक महत्व की धातु है और विमान, कार तथा कई इन्जीनियरी और प्रतिरक्षा के साज-सामान में काम आता है । इसका अभी तक विदेशों से आयात होता रहा है । किन्तु अब प्रयोगशाला में किये गये विस्तृत परीक्षणों के आधार पर एक संयंत्र स्थापित किया जा रहा है जो प्रतिवर्ष डोलोमाइट से 250 टन मैग्नीशियम तैयार करेगा ।



जिंक ड्रास से जस्ता (जिंक) प्राप्त करने के लिए रा. धा. प्र. में डिजाइन किया गया तथा बनाया गया निर्वात जस्त आसवन एकक ।



पत्र जल्दी डालिये जल्दी पहुँचेगा
डाकघरों में शाम के बाद
एक बड़ी समस्या हो जाती है।
चिट्ठियों के ढेर लग जाते हैं और डाक
बहुत भारी हो जाती है। इससे उनकी
छंटनी में देर लगती है और आपकी
चिट्ठी अपनी जगह देर से पहुँचती है।
इसलिये, आप अपनी डाक जल्दी
डालिये, ताकि वह दिन में ही
निकल जाये।
चिट्ठी जल्दी डालिये, शाम तक इन्तजार न कीजिये!
भारतीय डाक व तार
davp 69/19

मैग्नीशियम का बुरादा भण्डारित करने पर विस्फोटन और इसी प्रकार के अन्य सामरिक उपयोग के पदार्थों के उपयुक्त नहीं रह जाता है। प्रयोगशाला में अब ऐसी विधि तैयार की गई है जिससे मैग्नीशियम का बुरादा सदैव उपयोगी बना रह सकता है।

निकिल

निकिल भी सामरिक महत्व की धातु है और विशेष प्रकार के इस्पात मिश्रधातुओं को बनाने में काम आता है। यह बड़े मंहगे दामों पर विदेशों से मंगाया जाता है। भारत में अब घटिया किस्म का निकिल पाया जाने लगा है। असम और उड़ीसा की खानों से अयस्क निकालने के लिये प्रायोगिक संयंत्र परीक्षण किये जा रहे हैं। निकिल प्लेटिंग के काम में आने वाले मंद और चमकीले लवण भी तैयार किये गये हैं जो विदेशी लवणों के समकक्ष हैं।

धातुओं का क्षरण

औद्योगिक और समुद्री स्थितियों में अलौह और मिश्रधातुओं का क्षरण होने लगता है। इसके लिये एक दीर्घसूत्री अनुसंधान कार्यक्रम चल रहा है। इन धातुओं को खुला छोड़ने के समय क्षरण होने की गति, क्षरण की किस्म आदि का अध्ययन करने के लिये सूचना सामग्री एकत्रित की जा रही है। धातु क्षरण की समस्या औद्योगिक अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस दिशा में चल रहे अनुसन्धान की ओर देश की बहुत सी प्रयोगशालाओं का ध्यान गया है।

फ्लोरस्पार

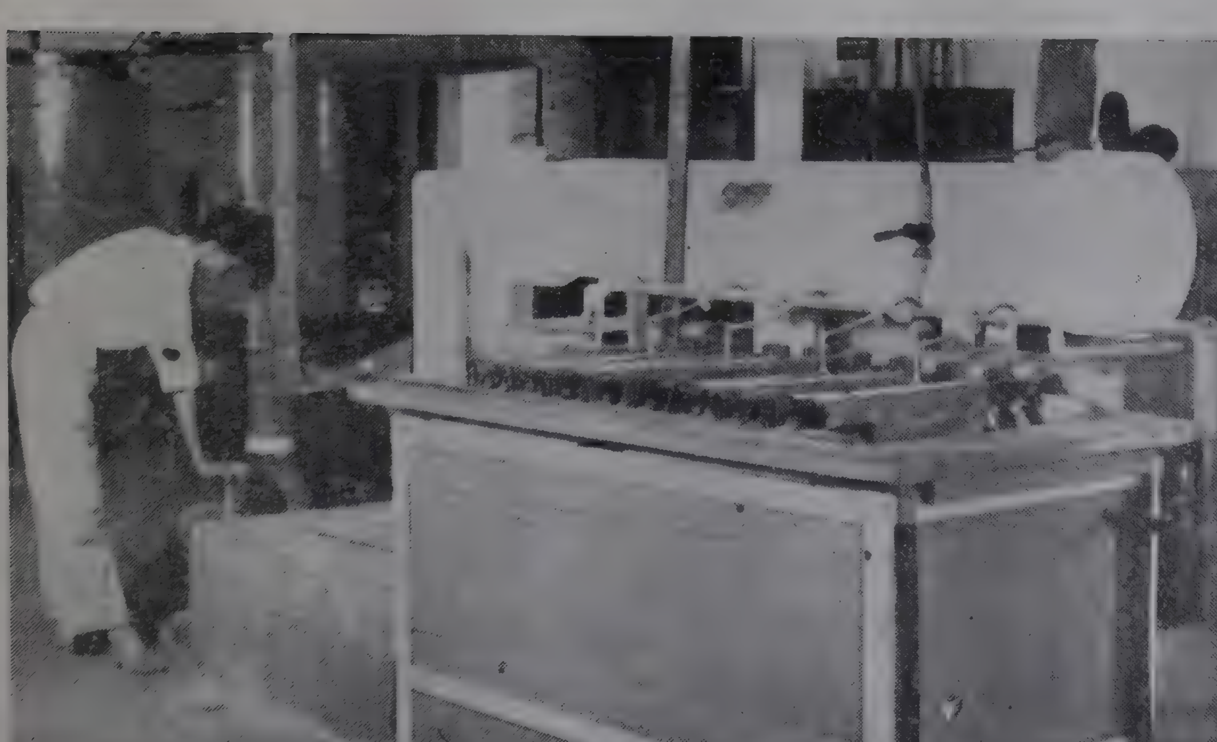
इस्पात, एल्यूमिनियम और रासायनिक उद्योगों के लिये फ्लोरस्पार एक आवश्यक कच्चा माल है। देश की आवश्यकता विदेशों से फ्लोरस्पार मंगाकर पूरी की जाती है। गुजरात और राजस्थान में मिलने वाले घटिया फ्लोरस्पार को प्रयोगशाला में धातुकर्मी और अम्ल श्रेणी उत्पाद के उपयुक्त बनाया गया है, और उसके उपयोग के लिये प्रवाह चित्र भी तैयार किये गये हैं, जिनसे उपरोक्त दोनों राज्य सरकारें लाभ उठा रही हैं। प्रयोगशाला की सहायता से गुजरात मिनरल डेवलपमेंट कारपोरेशन एक फ्लोरस्पार परिष्करण संयंत्र लगा रहा है जिसकी उत्पादन क्षमता 500 टन प्रति दिन होगी।

प्रयोगशाला में घटिया फ्लोर से ही संश्लेषित क्रायोलाइट बनाने की तकनीक का भी विकास किया गया है जो आयातित क्रायोलाइट से एल्यूमिनियम को गलाने के लिये उपयोगी पाई गई है। 50 कि. ग्रा. प्रति दिन उत्पादन क्षमता का एक क्रायोलाइट संयन्त्र स्थापित किया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त अन्य अलौह अयस्कों और धातुओं, जैसे घटिया किस्म के वोलफ्राम अयस्क का उपयोग, बेरीलियम आक्साइड बनाना, त्रावनकोर की रेत से जिरकॉन आक्साइड निकालना, इलीमेनाइट अयस्क का उपचार और प्रगलन आदि, पर भी अनुसन्धान हुआ है। अन्य कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान प्रयोजनाएं भी हैं जिनमें पर्याप्त प्रगति हुई है। इनसे जो परिणाम प्राप्त हुए हैं उनको देश के अनेक ढलाई कारखानों ने उपयोगी पाया है।

मौलिक अनुसन्धान

धातु निष्कर्षण की तकनीकों का विकास, मिश्रधातु का परिद्रावण, कच्चे माल का परिष्करण और उत्पादन आदि तकनीकों के विकास से संबंधित विविध अनुसंधान कार्यक्रमों के अतिरिक्त कुछ मौलिक अनुसन्धान की ओर भी हमारे वैज्ञानिक रुचि ले रहे हैं। इसके अन्तर्गत मिश्रधातु बनाने के सिद्धांतों विद्युतीय मंडारण, अलौह और मिश्रधातुओं के भौतिक गुणानुमान, धातुओं की तरल संरचना, विद्युद्विश्लेषी मिश्रधातुओं में प्रावस्था रूपान्तरण, एल्यूमिनियम-तांबा मिश्रधातुओं में वयस कठोरीकरण और अलौह मिश्रधातुओं की तापन क्षमता आदि विषयों पर चल रही अध्ययन, प्रयोग और परीक्षण शृंखलायें हमारी धातुकर्मिकी जानकारी को दिनोंदिन बढ़ाकर राष्ट्र को तकनीकी सेवायें प्रदान कर रही हैं।



इलैक्ट्रोलिटिक मैंगनीज धातु के उत्पादन के लिए रा. धा. प्र. में निर्मित प्रायोगिक संयंत्र (क्षमता 100 पौंड प्रति दिन)



लैंस का कार्य दर्पण से

लन्दन की पी. डब्ल्यू. एलेन एण्ड कम्पनी ने वस्तुओं के आवर्तित बिम्बों को देख कर उनकी परीक्षा करने के लिये एक प्रकाशी यन्त्र तैयार किया है जिसमें लैन्स के स्थान पर एक गोलाकार दर्पण का उपयोग किया गया। एक इंच की छोटी वस्तु को इसमें भली-भांति बिल्कुल स्पष्ट देखा जा सकता है। वस्तु के आकार से छः गुना बड़ा और स्पष्ट बिम्ब हम इसमें देख सकते हैं। यन्त्र में प्रकाश-व्यवस्था इस प्रकार नियोजित की गयी है कि नियत प्लेट पर रखी हुई वस्तु का बिम्ब कम अथवा अधिक प्रकाश में भी बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। बहुत से उपकरण निर्माता उद्योग संगठनों के लिये यह यन्त्र बड़ा ही उपयोगी होगा। अनेक वस्तुयें ऐसी होती हैं जो इतनी छोटी नहीं होतीं कि उन्हें देखने के लिये माइक्रोस्कोप की जरूरत पड़े। ऐसी दशा में यह यन्त्र एक कमी को पूरा करता है।

उल्कापिंडों के कण

वाशिंगटन स्थित स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूट के श्री राय क्लार्क तथा कुछ उनके सहयोगी आजकल उल्कापिंडों के उन सैकड़ों टुकड़ों का अध्ययन कर रहे हैं जो वर्ष 1969 के प्रारम्भ में उत्तरी मेक्सिको में हुई उल्कापिण्डों की एक असाधारण वर्षा में गिरे थे। लगभग प्रत्येक पांच वर्ष के बाद उल्कापिण्डों की इसी प्रकार एक वर्षा हुआ करती है। वैज्ञानिकों का मत है कि ये टुकड़े दुर्लभ किस्म के हैं और उनमें ऐसे जैव-पदार्थ मौजूद हैं जो पृथ्वी पर नहीं होते। अनुमान है सूर्य का चक्कर लगाने वाली उल्काओं के ही ये अंश हैं और यह भी संभव है कि इनकी आयु सौरमण्डल के उत्पत्ति के समय की हो। इतना निश्चित है कि इस अध्ययन से अंतरिक्ष सम्बन्धी कुछ न कुछ वैज्ञानिक जानकारी अवश्य प्राप्त होगी।

अंग प्रतिरोपण पंजीकरण

न्यूयार्क विश्वविद्यालय में एक अंग प्रतिरोपण पंजीकरण विभाग खोला गया है जिसका उद्देश्य शरीर के अंग-उपांगों के दाताओं और प्राप्तकर्ताओं के बीच समानरूपता को व्यवस्थित तथा अस्वीकरण की संभावनाओं को कम करना है। अंगों के प्रतिरोपण का भविष्य इसी प्रकार की व्यवस्था पर निर्भर करता है। सम्बन्धित व्यक्तियों के अंगों का निर्माण करने वाले तन्तुओं के श्रेणीकरण द्वारा उनकी पारस्परिक अनुकूलता का ज्ञात किया जाना अंग प्रतिरोपण के लिये बहुत ही आवश्यक है। यह क्रिया प्रायः वैसी ही है जैसी समानरूपता का निर्धारण करने के लिये रक्त बैंकों द्वारा अपनायी जाती है।

इस्पात जैसे कड़े कार्बन धागे

ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने विमानों, अन्तरिक्षयानों तथा अन्य वैमानिक इंजीनियरी कार्यों में प्रयुक्त हो सकने वाले विशिष्ट किस्म के कुछ धागे कार्बन से तैयार किये हैं। ये धागे अपने कड़ेपन और भार में इस्पात से भी कहीं अच्छे हैं। फार्नबारो स्थित रायल एयरक्राफ्ट एस्टैब्लिशमेण्ट ने इस प्रकार के धागों का व्यापारिक स्तर पर उत्पादन करने के लिये आवश्यक मशीनरी विकसित करली है जिसका परीक्षण संतोषजनक रहा है। कई विमान कम्पनियां इसमें विशेष रुचि ले रही हैं।

अग्निसह पॉली-एस्टर

पाली-एस्टर वे पदार्थ हैं जिनका उपयोग राष्ट्रीय और सामाजिक दोनों स्तरों पर बड़ा ही महत्व रखता है। जहां एक ओर विमान सामग्री, प्रतिरक्षा उपकरण, विद्युत उपकरण, उद्योग रसायन-निर्माण आदि में पाली-एस्टरों की विशिष्ट भूमिका है, वहीं दूसरी ओर वे उपभोक्ताओं के लिये आवश्यक अनेक उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में भी आवश्यक होते हैं। साधारण किस्म के पाली-एस्टर तो हमारे देश में बनते हैं किन्तु ऐसे पाली-एस्टर जो उक्त सभी निर्माण कार्यों में उपयोगी हों, अर्थात उच्च ताप तथा ज्वालाओं का असर जिन पर न पड़ता हो, हमारे देश में अभी तक नहीं बनते। दिल्ली स्थित श्रीराम उद्योग अनुसन्धान संस्थान ने पाली-एस्टर श्रृंखला के अग्निसह रसायनों के उत्पादन हेतु विशिष्ट प्रविधि एवं प्रायोगिक सयन्त्र का विकास किया है जो भारतीय आवश्यकताओं के पूर्णतः अनुकूल है। इस विधि में उत्पादन का स्तर भी उन्नत है तथा लागत भी कम आती है।

भारतीय वैज्ञानिक संस्थाओं की निर्देशिका

नई दिल्ली स्थित भारतीय राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रलेख पोषण केन्द्र (इन्सडाक) द्वारा भारतीय वैज्ञानिक तथा अनुसन्धान संस्थाओं की एक निर्देशिका का प्रकाशन हुआ है। इस निर्देशिका में भारत भर के लगभग 600 वैज्ञानिक संगठनों से सम्बन्धित विस्तृत परिचय एवं प्रमुख सूचना उपलब्ध की जा सकती है। सभी संगठनों के नाम, उनके प्रधान वैज्ञानिक तथा अमुक संस्था के विशिष्ट कार्यक्षेत्र के विषय में जानकारी दी गयी है। साथ ही उन्हें क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने की ओर भी विशेष ध्यान दिया है—यथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की संस्थायें

एक ओर हैं तो कृषि, औषधि, परमाणु शक्ति आदि संगठनों की संस्थायें दूसरी ओर हैं। विशेषतः वैज्ञानिकों, प्रशासकों, आयोजकों और अन्तरराष्ट्रीय संगठनों के लिये यह प्रकाशन अत्यन्त लाभदायी हो सकता है। प्रकाशन अंग्रेजी भाषा में है।

यूरोप की सबसे बड़ी छत

म्यूनिख में आगामी 1972 में जो ओलम्पिक खेल होंगे, उसके लिये तैयार किये गये विशिष्ट किस्म के भवन निर्माण डिजाइन को अंतिम रूप दिया जा चुका है और यथाशीघ्र निर्माण कार्य आरम्भ होने की संभावना है। भवन निर्माण कुछ इस प्रकार से किया जायेगा कि सम्पूर्ण ओलम्पिक स्टेडियम की सभी इमारतें आपस में एक दूसरे से किसी न किसी छत द्वारा जुड़ी होंगी। अकेली इस छत का क्षेत्रफल होगा 84,800 वर्ग गज। अनुमान है कि इस छत को बनाने में लगभग साढ़े सात करोड़ डालर का खर्च आयेगा।

मंगल ग्रह पर संचार साधन

सोवियत संघ की 'पृथ्वी और ब्रह्माण्ड' नामक पत्रिका में अंतरिक्ष वैज्ञानिक यूरी फिलिप्पोव ने मंगल ग्रह की तथाकथित नहरों की चर्चा की है। उन्होंने पृथ्वी पर जीवरहित प्रकृति द्वारा निर्मित समान रचनाओं, सजीव प्रकृति की रचनाओं और मानव निर्मित रेलमार्गों, नहरों आदि का अध्ययन किया है। श्री फिलिप्पोव का विचार है कि मंगल ग्रह में नहरों का जो जाल दिखायी देता है, वह मनुष्य द्वारा पृथ्वी पर निर्मित संचार साधनों के जाल से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यदि पृथ्वी की बनावट का, पर्वत श्रेणियों, घाटियों और जीवरहित प्रकृति की रचनाओं का अध्ययन किया जाये तो यहां भी मंगल ग्रह की नहरों के जाल जैसी बनावट देखने को मिलेगी।

मंगल ग्रह पर पानी

टैक्सास मैक्डोनाल्ड के खगोल वैज्ञानिकों का कहना है कि उन्हें यह तथ्य या 'प्रथम निर्णायक प्रमाण' प्राप्त हो गया है कि मंगल ग्रह के वायुमण्डल में पानी का अस्तित्व है। पर्यवेक्षणों से पता चलता है कि यद्यपि वहां पानी की मात्रा न्यून है, फिर भी वह जीवन के पोषण के लिये पर्याप्त है। यह पर्यवेक्षण उन वैज्ञानिकों के तर्क को निराधार कर देता है जिनका मत है कि मंगल ग्रह पर जीवन का अस्तित्व संभव नहीं है।

उड़ीसा समुद्रतट का भौगर्भिक सर्वेक्षण

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की ओर से खड़गपुर स्थित भारतीय प्राविधिकी संस्थान के प्रोफेसर डा. डी. नियोगी के नेतृत्व में वर्ष 1965 से वैज्ञानिक सर्वेक्षण योजना चालू की गयी थी जिसके अन्तर्गत उड़ीसा के समुद्रतटीय क्षेत्र का भूगर्भ वैज्ञानिक अध्ययन सम्पन्न किया गया है। अब यह योजना लगभग समाप्ति पर है। इसमें सर्वप्रथम विमानों से भूमि के फोटो खींचे गये और फिर विशेषज्ञ दल ने उनके आधार पर विचित्र क्षेत्रों के भू-मानचित्र तैयार किये। भूमि संरचना सम्बन्धी मानचित्र भी तैयार किये गये हैं। विभिन्न क्षेत्रों का श्रेणी विभाजन करते हुए उनका सीमा निर्धारण भी किया गया। बालासौर के निकटवर्ती समुद्रतटीय क्षेत्र का विशेषतः विस्तृत रूप से अध्ययन हुआ।

सड़कों पर झाड़ू लगाने की मशीन

ब्रिटेन की केण्ट इंजीनियरिंग कम्पनी ने सड़कों पर झाड़ू लगा कर सफाई करने के लिये एक मोटरनुमा मशीन बनायी है। इस मशीन से पांच मील प्रति घंटा के हिसाब से सड़क की सफाई की जा सकती है। नौ अश्व शक्ति के पैट्रोल इंजन से चालित इस मशीन में दायें बायें घूमती हुई लम्बी छड़ें होती हैं जिनमें लगे ब्रश झाड़ू का काम करते हैं। इस प्रकार की मशीन में ब्रिटेन की नगर पालिकायें बहुत रुचि ले रही हैं।

लहरों पर पहियों की सवारी

लोग पानी में तरह-तरह से तैरते हैं। एक सोवियत नौका विशेषज्ञ वी. पोदोर्वानोव ने अपने बजरे में पहिये लगा दिये हैं जिनमें धक्के सहने की भी शक्ति है। यह नाव पहले साधारण नावों की तरह गति पकड़ती है और फिर उछल कर अपने पहियों से चलने लगती है। हिचकोले लगने लगें तो धक्के सहने की विधि उन्हें संभाल लेती है और नाव तथा उसके यात्री सुरक्षित तैरते रहते हैं। इस प्रकार अब लहरों पर पहियों की सवारी करना संभव है।

लाल दुमट मिट्टी का सल्फेट उर्वरक

देश में उर्वरकों की कमी को देखते हुए आवश्यक है कि मिश्रित उर्वरक वाले भूमि क्षेत्रों को कृषि हेतु अधिकाधिक उपयोगी बनाया जाये। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् ने इस दिशा में भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान द्वारा किये जा रहे अनुसन्धान कार्य में रुचि दिखायी है। परिषद् के एक अनुसन्धान फैलो श्री मुहम्मद इकबाल ने उक्त संस्थान के डा. बी. वी. सुब्रब्ध्या के निर्देशन में ऐसी लाल दुमटी किस्म की मिट्टी में उन्नत कृषि उपज की संभावनाओं पर खोज-बीन की है, जिनमें सल्फेट का अंश विद्यमान है। अनुसन्धाताओं का विचार है कि सल्फेट-युक्त मिट्टी में कुछ विशिष्ट फसलों के लिये बाहर से उर्वरक प्रदान करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती क्योंकि भूमि में पहले से पर्याप्त उर्वरक अंश मौजूद रहता है। देखा गया है कि सल्फेट का अंश धीरे-धीरे भूमि की सतह से नीचे बैठता जाता है और ऊपर एक फुट के आसपास मोटी जमीन की पर्त को देख कर हम उसे बंजर समझ बैठते हैं। दोनों अनुसन्धान संगठन यह जानना चाहते हैं कि ऐसी स्थिति में सिंचाई और गोड़ाई के कौन से विशेष तरीके अपनाये जायें जिससे भूमि में छिपी सम्पदा को उपयोग में लाया जा सके।



बिजली द्वारा कृषि क्रांति

सिद्धेश्वरप्रसाद सिंह

(केन्द्रीय सिंचाई व बिजली उपमंत्री)

कृषि में सफलता का एक नया रहस्य बिजली ने स्पष्ट कर दिया है। किसान इस बात को समझ कर नलकूपों तथा पम्पों को बिजली से चलाने के लिए बिजली की मांग कर रहा है। वह जानता है कि उसकी समृद्धि आज बैलों से नहीं बल्कि इस बात से आंकी जाती है कि उसके पास सिंचाई के कितने अधिक और उपयुक्त साधन हैं। वह बिजली का उपयोग करके कई दिनों में होने वाला कार्य कुछ ही घंटों में पूरा करना चाहता है।

अनुमान है कि आज भारत कुल 4,500 करोड़ यूनिट अथवा 135 लाख किलोवाट बिजली (57 लाख किलोवाट पानी से और 78 लाख किलोवाट कोयले आदि तापीय स्रोतों से) उत्पन्न करने में समर्थ है।

देश म 6,32,000 किलोमीटर की लम्बाई में 230 से 2,20,000 तक की विभिन्न वोल्टेज की पारेषण तथा वितरण लाइनें बिछी हुई हैं। सभी श्रेणी के बिजली उपभोक्ताओं की संख्या लगभग 95 लाख है। देश के कुल 5,66,878 गांवों में से 67,000 गांवों में बिजली पहुंच चुकी है।

प्रथम चरण का ध्येय

प्रथम योजनावधि में भाखड़ा, हीराकुंड, चम्बल, तुंगभद्रा जैसी महत्वपूर्ण बहुप्रयोजनीय परियोजनाओं के अन्तर्गत पन-बिजली के बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों और मचकुंड, जोग, नेरायमंगलम, उम्बु जैसी शुद्ध पन-बिजली परियोजनाओं, दामोदर घाटी निगम में बोकारो पर बृहत् तापीय प्रतिष्ठान तथा देश के अन्य भागों में मध्यम दर्जे के कई तापीय बिजली केन्द्रों को स्थापित किया जाना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास पर अधिक बल दिया गया, इसलिए इस अवधि में बिजली के और अधिक विकास की परिकल्पना की गई थी। मद्रास में कुण्डा, केरल में पम्बा, शोलायार, पन्नियार, मैसूर में श्रावती, महाराष्ट्र में कोयना, आंध्र में सिलेरु, असम में उम्यम आदि कई पन-बिजली स्कीमों को आरम्भ किया गया। तापीय बिजली के क्षेत्र में भी बहुत से बिजली घरों को बनाने का काम हाथ में लिया गया, जिसमें पश्चिमी

बंगाल का दुर्गापुर, मध्यप्रदेश का कोरबा, महाराष्ट्र का ट्राम्बे, मद्रास का नेवेली ताप-केन्द्र शामिल हैं।

दिसम्बर 1968 तक हम 66,600 गांवों और 9,98,500 कृषि पम्पों तक बिजली पहुंचा चुके हैं। असम, बिहार, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश, नागालैंड, उड़ीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में विभिन्न कारणों से बिजली पहुंचाने का कार्य कुछ धीमा रहा, जिसका मुख्य कारण था धन की कमी। ग्राम विद्युतीकरण संसदीय समिति के अनुसार देश की 55 प्रतिशत आबादी इन राज्यों में होने के बावजूद इनमें बिजली केवल 6 प्रतिशत गांवों में पहुंची है और देश के कुल पम्पों में से जिनको बिजली दी जा चुकी है केवल 15 प्रतिशत इन राज्यों में हैं। देश की कुल कृषि योग्य भूमि की 54 प्रतिशत भूमि इन्हीं नौ राज्यों में है। तीसरी योजना के बाद ग्राम विद्युतीकरण में तेजी लाने के लिए राज्यों की योजना में निर्धारित राशि के अलावा केन्द्रीय सहायता दी गई और कृषि पम्पों को ऊर्जित करने के काम में काफी प्रगति हुई।

निर्धारित लक्ष्य

विभिन्न राज्यों में विद्युतीकरण की दिशा में होने वाली प्रगति की असमानता का अध्ययन किया जा रहा है। योजना आयोग से आग्रह किया जा रहा है कि विद्युतीकरण के कार्यक्रम को प्राथमिकता देकर इस असमानता को दूर करने की व्यवस्था करना आवश्यक है। यदि बिजली के उत्पादन, पारेषण और उपयोग की समुचित व्यवस्था चौथी योजना में कर दी गई तो न केवल हम अपने गांधी-जन्म-शताब्दी वर्ष की अवधि के निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति कर लेंगे, बल्कि भविष्य के लिए भी आर्थिक विकास की जड़ें मजबूत बना सकेंगे।

सर्वेक्षण से पता चलता है कि बिजली के पम्प से सिंचाई की प्रति एकड़ लागत 474 रुपये आती है, जबकि डीजल के पम्प से 582 रुपये। बिजली के पम्पों की मरम्मत पर भी खर्च कम रहता है और पानी भी 10 प्रतिशत अधिक उपलब्ध होता है। इससे बिजली की निरन्तर बढ़ती हुई मांग का कारण स्पष्ट हो जाता है।

राष्ट्रीय व्यावहारिक अर्थ-अनुसंधान परिषद द्वारा पंजाब के लिए किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि पम्प या नलकूप लगाने से प्रति वर्ष औसतन 354 बैल-श्रम-दिनों की बचत होती है। परिवार या मजदूरों के श्रम मूल्यांकन करते समय 357 जन-दिनों की बचत आंकी गई और इस प्रकार एक पम्प पर 1,070 रुपये की बचत का अनुमान किया गया। इसके अलावा बिजली से 237 रुपये प्रति एकड़ की अतिरिक्त आमदनी हुई।

आत्मनिर्भरता की ओर

बिजली के आवश्यकतानुसार विस्तार और कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए ऋण की समुचित व्यवस्था से शिक्षित बेकारों को अपने पैरों पर खड़े होने की जो सुविधा प्राप्त होती है अभी तक उस के महत्व की ओर हमारा पूरा-पूरा ध्यान नहीं गया है। इससे न केवल लाखों शिक्षितों को आत्मनिर्भर होने वाले रोजगार में लगाने का अवसर मिलेगा बल्कि कृषि और उससे संबंधित उद्योगों को एक ऐसा नया रूप प्राप्त होगा जिससे हमारे सामाजिक-आर्थिक जीवन की पूरी तरह से कायापलट होकर रहेगी। खाद, उन्नत बीज या कृषि के अन्य आधुनिक साधनों का समुचित उपयोग तभी संभव है जब किसानों को सिंचाई की योग्य सुविधा प्राप्त हो। ऐसे सारे परिवर्तन की शक्ति बिजली में निहित है।

बिजली द्वारा कृषि में जिस क्रांति की चर्चा की गई है आज उसके महत्व को हम सब समझने लगे हैं। लेकिन इसके कारण हमारे संपूर्ण जीवन को एक नया रूप प्राप्त होगा, यह बात हम ठीक-ठीक नहीं समझ पाये हैं। जब हम यह समझ लेंगे तो बिजली को हमारी राष्ट्रीय योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त होगी।

उज्ज्वल भविष्य

आने वाला युग शक्ति की पूजा का होगा। आज भारत शक्ति के मंदिर के द्वार पर खड़ा है। निश्चय ही भारत का किसान इस कतार में सब से आगे है। वस्तुतः भारत का भविष्य किसानों और कृषि-व्यवस्था के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है। आइये, हम इस कड़ी को सबल बनाने का हर संभव प्रयत्न करें। ●

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टैक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है। प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिये जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके।

लेखों की शब्द संख्या 2000 से अधिक नहीं होनी चाहिये।

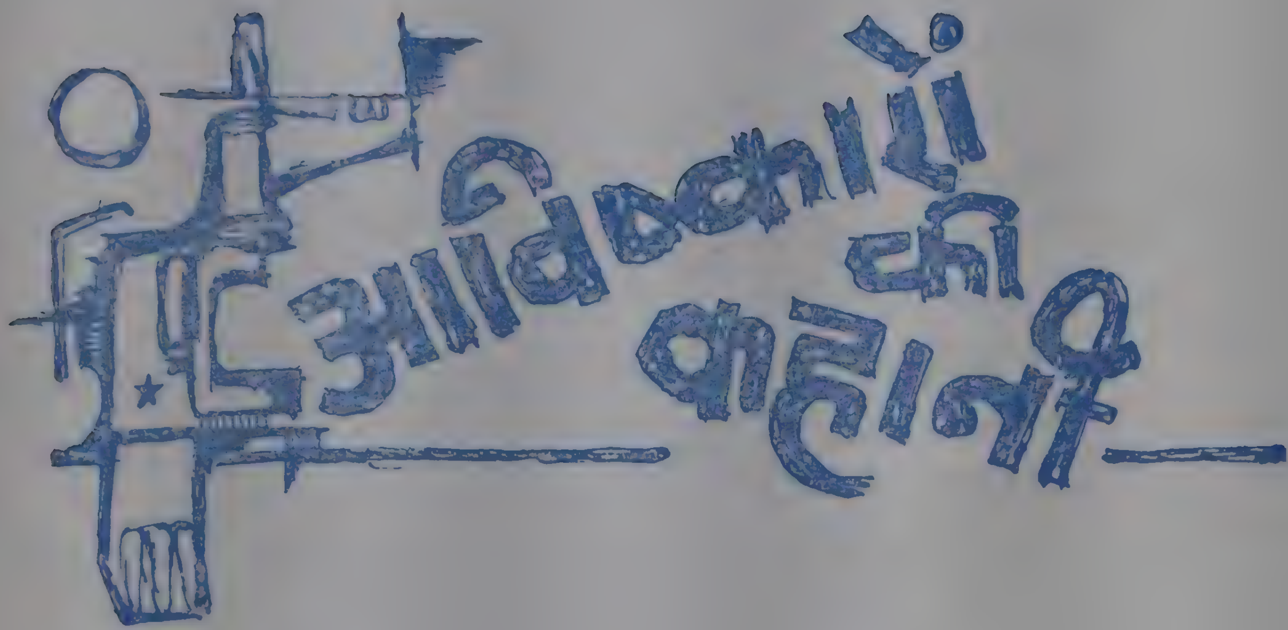
लेख कागज के एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिये। हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं। चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहिये। फोटो ग्लौसी कागज पर होने चाहिये।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति' भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, के पते पर आनी चाहिये।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिये। इसमें लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हाबी होनी चाहिये।

'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है।



टार्च

हरिकृष्ण देवसरे

अंधेरा हो और रास्ता खराब हो तो जिस भूली हुई चीज की याद आती है — वह है टार्च। अगर पास में टार्च हो तो फिर कहीं भी, कैसा भी अंधेरा हो — वहां उजाला किया जा सकता है। आज के युग में टार्च हमारे रोज के उपयोग की चीजों में से एक है। घर की बिजली अचानक चली जाये, किसी बड़े सन्दूक के नीचे कोई चीज खोजनी हो या इसी तरह का कोई और काम अंधेरे में करना हो — तो टार्च उसमें बहुत मदद करती है। बच्चों को तो दिन में भी टार्च जला कर खेलने में मजा आता है। और रात में तो घर से बाहर निकले कि हाथ में टार्च आ गयी। जहां कहीं जरूरत हुई और बटन दबा कर रोशनी कर ली।

कितनी छोटी-सी वस्तु है, पर है कितनी महत्वपूर्ण। हाथ में लेकर भी क्या तुमने कभी सोचा है कि इस छोटी-सी वस्तु को बनाने में कितनी बुद्धि और शक्ति लगी है?

बैटरी की बेटी

अगर टार्च को बैटरी की बेटी कहा जाये तो शायद गलत न होगा। बहुत से लोग 'टार्च' को बोलचाल की भाषा में 'बैटरी' ही कहते हैं। बैटरी से बिजली पैदा होती है। और बैटरी ही टार्च के पेट में भरी जाती है। इसलिए पहले बैटरी की कहानी सुनो।

इटली में अलेक्जेंडर वोल्टा नामक एक वैज्ञानिक था। वह बिजली पैदा करने के आविष्कार में जुटा हुआ था। उसने यह तो पता लगा लिया था कि दो धातुओं को मिलाने से बिजली पैदा होती है किन्तु वह अभी तक यह प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर पाया था।

पहला प्रयास

एक दिन उसने तांबे और जस्ते की चादरों के गोल टुकड़े काटे, साथ ही फलालेन के भी टुकड़े उसी आकार के काटे। फलालेन के टुकड़ों को उसने गंधक के तेजाब में भिगो लिया। इसके बाद उसने तांबे और जस्ते के टुकड़े एक दूसरे के ऊपर रख कर, उसके ऊपर फलालेन का एक टुकड़ा रखा। इस प्रकार उसने एक ऊंचा ढेर बनाया। इसके बाद इस ढेर के ऊपर एक तार और नीचे दूसरा तार लगाया। उसने तारों को लगा कर बिजली का झटका महसूस किया। बस, वोल्टा की खुशी का ठिकाना न रहा। अब उस ने बिजली पैदा करने का रहस्य जान लिया था।

एक दिन उसने शीशे का बर्तन लिया और उसमें तेजाब भर दिया। इसके बाद उसमें तांबे और जस्ते का एक-एक टुकड़ा डाल दिया तथा उनको ऊपर से तार द्वारा जोड़ दिया। इस प्रकार बिजली पैदा हो गयी। वोल्टा ने देखा कि बिजली की लहर जस्ते से चल कर तांबे में आती है, इसलिए उसने जस्ते को 'पाजिटिव' तथा तांबे को 'निगेटिव' कहा। चूंकि शीशे के बाहर यह बिजली तांबे द्वारा जस्ते को दी जाती है इसलिए अन्त में उसने तांबे को 'पाजिटिव' तथा जस्ते को 'निगेटिव' कहा।

वोल्टा के इस प्रयोग में तांबे तथा जस्ते के लिए किसी तरल पदार्थ में डूबा रहना आवश्यक था। इसलिए इसे आर्द्र बैटरी अर्थात गीली बैटरी कहा गया।

सूखी बैटरी

धीरे-धीरे इस दिशा में प्रगति हुई। लोगों का ध्यान शुष्क अथवा सूखी बैटरी बनाने की ओर गया। इनमें बीचोंबीच एक कार्बन की छड़ी डाल कर तरल पदार्थ की जगह अमोनिया मिश्रित एक गाढ़ा मसाला भरा

जाने लगा। सूखी बैटरी का खोल जस्ते का बनाया गया जो कि 'निगेटिव पोल' का भी काम करता है। इतना अवश्य है कि इसमें भरा जाने वाला मसाला हल्का-सा गीला जरूर रखा गया। बैटरी का मुंह सीलबंद कर दिये जाने से मसाला बाहर गिरने का खतरा नहीं रहा।

आजकल टार्च के जो 'सेल' बनते हैं वे इसी विधि से बनते हैं। इनसे आमतौर से 1.5 वोल्ट बिजली निकलती है। यदि इससे ज्यादा बिजली की जरूरत हो तो एक साथ कई सेल या बैटरियां इस्तेमाल करनी पड़ती हैं। एक ही बैटरी से अधिक बिजली प्राप्त करना असंभव नहीं होता। जब अधिक 'वोल्टेज' और अधिक बिजली का प्रवाह आवश्यक होता है तो बैटरियों को श्रेणीबद्ध यानी एक के पीछे दूसरी को रखा जाता है। ऐसा करने पर एक का पाजिटिव पोल दूसरे के निगेटिव पोल को छूता है। यदि वोल्टेज कम और बिजली का प्रवाह अधिक चाहिए तो बैटरियों को समानान्तर रखा जाता है। इस समानान्तर विधि में सभी निगेटिव पोलों को एक तार से तथा सभी पाजिटिव को दूसरे तार से जोड़ दिया जाता है।

टार्च का जलना

अब सुनो कि इन बैटरियों से टार्च कैसे जलती है। टार्च में सूखी बैटरी का ही इस्तेमाल होता है। इसमें बैटरियों को सीरीज म लगाया जाता है। इसमें बैटरियां स्विच और बल्ब से जुड़ी रहती हैं। जब हम टार्च के ऊपर का बटन दबाते हैं अन्दर लगी एक पत्ती बैटरियों को छू कर बिजली के प्रवाह का घेरा पूरा करती है। इसके द्वारा बिजली बैटरी से निकल कर बल्ब तक पहुंचती है और बल्ब जलने लगता है। जैसे ही बटन हट जाता है तो बिजली के प्रवाह का घेरा बन्द हो जाता है और टार्च बन्द हो जाती है।

टार्च के अब अनेक रूप उपलब्ध हैं। उन सभी में बैटरी का वही सिद्धांत लागू होता है। आजकल छोटी-बड़ी कई तरह की टार्च मिलती हैं। शिकारी लोग ज्यादा बैटरियों वाली बड़ी टार्च का इस्तेमाल करते हैं। अब तो फाउन्टेन पेन के आकार की भी छोटी टार्च उपलब्ध होने लगी है जो किसी सूक्ष्म वस्तु को अधिक स्पष्टता से देखने के काम में आती है।

ट्रांजिस्टर में प्रयोग

टार्च की बैटरियां ट्रांजिस्टर-रेडियो में भी इस्तेमाल होती हैं। उनमें भी वोल्टेज और बिजली के प्रवाह का इस्तेमाल इसी पद्धति से होता है।

टार्च के आधुनिक 'सेल' लेकलांशी-पद्धति से बनाए जाते हैं। इनमें 'सेल' का बाहरी खोल जस्ते का होता है जो कि निगेटिव पोल का भी काम करता है। अन्दर मेंगनीज डाइआक्साइड तथा कार्बन का मिश्रण भरा रहता है। उसके बीचोंबीच पाजिटिव पोल बनाने के लिए एक कार्बन की छड़ी डाल दी जाती है जिसके ऊपरी भाग पर घुंडीनुमा पीतल का ढक्कन लगा रहता है। जस्ते के खोल में अन्दर की ओर नौसादर में भिगोया हुआ कागज लगा दिया जाता है। इसके बाद सेल के मुंह को सील कर दिया जाता है। सेल के जस्ते के खोल की रक्षा के लिए मोटे कागज की एक पट्टी चिपका दी जाती है। सेल को बनाने वाली कम्पनियां इन पर ही अपना नाम आदि छाप देती हैं। आजकल लेकलांशी पद्धति से अनेक छोटे-बड़े सेल बनते हैं जो कि टार्च तथा ट्रांजिस्टर के काम में आते हैं। इसके अलावा ये कम्पनियां बैटरियां भी बनाती हैं जो अन्य कामों में आती हैं।

●

उन पर कैसे भरोसा करें?

चांद पर मानव को उतारने की अपोलो योजना के अन्तर्गत विभिन्न अपोलो अंतरिक्ष-यान चांद का सर्वेक्षण करने के लिये भेजे जा चुके हैं। इस वर्ष मई मास में तीन अंतरिक्ष यात्रियों सहित अपोलो-10 अंतरिक्ष यान ने अति समीप से चांद की परिक्रमा की थी और इससे पहले अपोलो-8 न अन्य तीन अंतरिक्ष यात्रियों सहित।

इन दोनों मिशनों की सफलता सर्वाधिक जिस यंत्र पर निर्भर थी वह है सर्विस प्रोपलशन सिस्टम (एस.पी.एस.) नामक एक राकेट इंजन। यह राकेट इंजन अंतरिक्ष यान को चन्द्र कक्षा में प्रवेश कराता है और वांछित परिक्रमाओं के पश्चात यही इंजन यान को चन्द्र कक्षा से बाहर निकालता है।

एस.पी.एस. के सर्वांगीण विकास का श्रेय डेविड ग्रेगरी वुड नामक अड़तीस वर्षीय एक राकेट इंजन विशेषज्ञ को है।

अपोलो-8 के भेजे जाने से पहले, दिसम्बर 1968 में एक संवाददाता ने वुड की पत्नी से जब यह कहा कि 'यान में जाने वाले अंतरिक्ष यात्रियों के जीवन उसके पति द्वारा विकसित इंजन पर निर्भर हैं' तो मुंह से आश्चर्य और आशंका मिश्रित ठंडी सांस लेकर श्रीमती वुड अवाक् हो गईं। थोड़ी देर बाद मानो अपने से ही बोलते हुए उन्होंने धीमे से कहा, "वे कैसे उनके इंजन का भरोसा कर सकते हैं, रसोई घर की रिसती टोंटी तो उनसे ठीक होती नहीं!" निश्चय ही अपोलो यानों में कोई रिसती टोंटी नहीं होती।



साबुन उत्पादन में उपयोगी अम्लीय तेल

साबुन के व्यापारिक पैमाने पर उत्पादन के लिये वाष्पीकृत वसाम्लों की आवश्यकता पड़ती है। वाष्पीकृत वसाम्लों का निर्माण प्रचलित प्रविधियों में बहुत मंहगा पड़ता है। हैदराबाद की क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला ने एक प्रविधि विकसित की है जिसके सहारे अम्लीय तेल से ही सीधे वसाम्लों का उत्पादन संभव हो गया है। इस प्रविधि से न केवल साबुन उद्योग, अपितु सौंदर्य प्रसाधन की सामग्रियों के उत्पादन और साथ ही रबड़ से बनने वाले सामान तथा कुछ प्रतिकारक रसायनों के उत्पादन में भी यान्त्रिक तथा आर्थिक दृष्टि से बड़ा लाभ पहुंच सकता है। प्रयोगशाला ने जो अम्लीय तेल तैयार किया है, उससे निम्न स्तर के साबुन तो सीधे ही तैयार किये जा सकते हैं। कपास के बिनौलों से प्राप्त इस तेल की प्रतिक्रिया में न तो अम्लीयकरण की ही कोई आवश्यकता रह जाती है और न ही गंदगियों को दूर करने की समस्या आती है।

प्रोटीन का नया स्रोत—एक घास

मैसूर स्थित केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान के वैज्ञानिक डा. एन. सिंह ने विश्व की खाद्य समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिये एक नवीन अनुसन्धान सामने रखा है। ल्यूसर्न नामक घास संसार के सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। इस घास पर कुछ रासायनिक प्रतिक्रियायें करते हुये उनके दल के विशेषज्ञों ने उसके प्रोटीन अंश को अलग करने में सफलता प्राप्त की है। यह प्रोटीन हर प्रकार से मनुष्यों, दुधारू पशुओं तथा अन्य पालतू जानवरों के लिये उत्तम खाद्य सिद्ध हो सकती है। इसी प्रकार का प्रयोग ल्यूसर्न घास पर विदेशों में भी कई जगह हो रहा था। विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के जीवरसायन-शास्त्री मार्क ए. स्टैहमैन ने डा. सिंह के उक्त अनुसन्धान की प्रशंसा एक विशेष लेख में की है।

कांच—एक कच्चा माल

बैरियम टाइटेनेट एक लौह-विद्युतीय ठोस यौगिक है जिसका उपयोग माइक्रोफोन, फोनोग्राफ, जलमग्न संचार प्रणाली के उपकरणों के निर्माण में होता है। बैरियम टाइटेनेट को अब हम अपने देश में ही तैयार कर सकते हैं और इसके लिये बेकार साधारण कांच को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। कलकत्ता स्थित केन्द्रीय कांच एवं सिरामिक अनुसन्धान संस्थान ने कांच से बैरियम टाइटेनेट तैयार करने के लिये मणिभीकरण की पद्धति अपनायी है। इसकी उचित विद्युत प्रवाह क्षमता भी परख कर देखी गयी है और उसे पूर्णतः संतोषजनक पाया गया है। प्रविधि के अन्तर्गत पदार्थ के वास्तविक उत्पादन के पश्चात कई उपचारों द्वारा उसे उत्तम विद्युत प्रवाह के अनुकूल बनाया जाता है।

ग्रेकिंग भट्टी

रांची में स्थित केन्द्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान द्वारा संचालित कोयला सर्वेक्षण उद्योगशाला ने घटिया किस्म के कोयले से कार्बनीकरण हेतु एक ग्रेकिंग नामक भट्टी तैयार की है। इस भट्टी में कोयले को संघनित करने के लिये अलग व्यवस्था है। प्रयोगशाला ने इस भट्टी से अब तक लगभग नौ किस्म के कोकयुक्त कोयले तैयार किये हैं जिनका आवश्यकतानुसार यथास्थान उपयोग किया जा सकता है। संभावना है कि इस भट्टी से निर्मित कोकयुक्त कोयले को धातु निर्माण में इस्तेमाल किया जा सकेगा और इस प्रकार तैयार धातु की लागत में काफी कटौती की जा सकेगी। प्रस्तावित उपभोक्ता प्रतिष्ठानों द्वारा इस भट्टी के परीक्षण किये जा चुके हैं और इसे पूर्णतः संतोषजनक पाया गया है।

शिशु आहार

भैंस के दूध से उच्च पोषक शिशु आहार तैयार करने के कई प्रयास केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान, मैसूर द्वारा

किये गये हैं। एक इसी प्रकार का शिशु आहार हाल में उक्त संस्थान ने तैयार किया है। जिसमें प्रोटीन की मात्रा प्रचलित शिशु आहारों की अपेक्षा थोड़ी कम है किन्तु बच्चों के लिये यह सर्वथा अनुकूल है। इस प्रतिशत को मानकीकृत कर दिया गया है। दूध और प्रोटीन का अंश बिलकुल ठीक वैसा ही रखा गया है जैसा कि माताओं के दूध में होता है। अतः पोषण क्षमता की दृष्टि से यह शिशु आहार बच्चों के लिये ठीक मां के दूध जैसा ही है। शारीरिक वृद्धि में सहायक होने के लिये इसमें प्रोटीन की मात्रा 22 प्रतिशत की बजाय केवल 12 प्रतिशत ही रखी गयी है। साथ ही एक विशेषता यह भी है कि इस शिशु आहार को तैयार करने के लिये आवश्यक दूध की मात्रा प्रचलित शिशु आहारों की अपेक्षा कुछ कम होगी और इस प्रकार इसके खर्च में भी कुछ कमी होगी।

टैक्-टोन दूध

मैसूर के केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसन्धान संस्थान ने इधर कुछ वर्षों तक वानस्पतिक प्रोटीन मिश्रित नवीन दुग्ध सामग्री के विकास में विशेष रुचि ली है। भारत के बड़े-बड़े नगरों में जहां ताजा दूध नहीं मिल सकता, टोण्ड दूध का चलन दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। इसके लिये आवश्यक दुग्ध पाउडर को हमें विदेशों से आयात करना पड़ता है। संस्थान में संचालित अनुसन्धान से निष्कर्ष निकला है कि टोण्ड दूध तैयार करने के लिये आयातित दुग्ध पाउडर के स्थान पर मूंगफली की द्रव प्रोटीन ग्लूकोज, खनिज तथा विटैमिनों के मिश्रण से भी काम चलाया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक संयन्त्र व्यवस्था विकसित की जा चुकी है। परीक्षण के तौर पर इसे बंगलौर की सरकारी दुग्धशाला में संचालित किया जा रहा है।

चूना पत्थर की नई भट्टी

देहाती क्षेत्रों में छोटी-छोटी भट्टियों में चूना पत्थर का उपयोग किया जाता है। वैज्ञानिक सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि इन भट्टियों में ऊष्मा का बहुत-सा भाग नष्ट चला जाता है। इतना ही नहीं चूना पत्थर के टुकड़े भट्टी के भीतर ऊपर-नीचे अपनी विशिष्ट स्थिति के मुताबिक एकसार न जल कर कहीं कम और कहीं अधिक जलते हैं। इसी दृष्टि से रुड़की स्थित केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान ने एक विशेष किस्म की सस्ती भट्टी चूना पत्थर के लिये ही तैयार की है। इसमें कैल्शियम युक्त चूना ईंधन भी जलाया जा सकता है। इस भट्टी को बड़ी आसानी से रासायनिक चूने के निर्माण में इस्तेमाल किया जा सकता है और इसके संचालन के लिये भी किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है।

उच्च शून्यकारी उपकरण

चंडीगढ़ के केन्द्रीय वैज्ञानिक उपकरण संगठन ने नये किस्म के उच्च शून्यकारी उपकरणों के विकास में इधर पर्याप्त रुचि लेनी आरम्भ की है। शून्यकारी उपकरण अर्थात वैकुअम इन्स्ट्रूमेण्ट्स का महत्व वैज्ञानिक, तकनीकी एवं औद्योगिक क्षेत्रों में दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है और इसके लिये हमें ऐसे उपकरणों की आवश्यकता पर विशेष ध्यान देना होगा जो बिना विदेशी मुद्रा खर्च किये देश में ही उपलब्ध सामग्री से बनाये गये हों। जिन उपकरणों का विकास उक्त संगठन ने किया है, उनमें प्रमुख हैं: धातुकर्मिकी, शुष्क खाद्य निर्माण, इलैक्ट्रानिक वेल्डिंग तथा फिल्म उद्योग में काम आने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के उपकरण। इसके अतिरिक्त निम्न दबाव मापने में उपयोगी कई उपकरणों को नये ढंग से निर्मित करने की दिशा में भी अनुसन्धान कार्य चल रहा है, जिसका उद्योग क्षेत्र में बहुत महत्व होगा।

सेल्यूलोज निर्माण हेतु थैलेट यौगिक

सेल्यूलोज का हमारे दैनिक जीवन में जो महत्व बढ़ता जा रहा है, वह सर्वविदित है। इसके निर्माण के लिये दो रसायन बहुत ही आवश्यक हैं—डाइमिथाइल थैलेट और डाइइथाइल थैलेट। इनके माध्यम से भिन्न-भिन्न संरचना वाले किस्म के सेल्यूलोज बनते हैं। इनका उत्पादन देश में बिल्कुल नहीं किया जाता और हमें अपनी मांग आयात द्वारा पूरी करनी पड़ती है। पूना स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला ने इसी दृष्टि से थैलेट यौगिकों के निर्माण हेतु विशिष्ट प्रक्रिया एवं प्रायोगिक संयन्त्र विकसित किये हैं जिनका पेटेण्ट लिया जा चुका है। रसायन निर्माताओं ने इस ओर विशेष रुचि ली है तथा एक फर्म ने इसी विधि को अपनाते हुए उत्पादन आरम्भ भी कर दिया है।

परमाण्विक पद्धति से सीमेन्ट अनुमापन

सड़कों और भवनों के निर्माण में यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उपलब्ध कंक्रीट में अनुमानतः कितने प्रतिशत सीमेण्ट का अंश विद्यमान है। नई दिल्ली स्थित केन्द्रीय सड़क अनुसन्धान संस्थान ने एक नयी प्रविधि तथा उससे सम्बन्धित उपकरणों का विकास किया है जिसके द्वारा आसानी से तथा अधिक शुद्धता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक कंक्रीट के टुकड़े में कितना अंश सीमेण्ट का है। मुख्यतः उक्त उपकरण यह पता लगाता है कि कंक्रीट में उपस्थित हाइड्रोजन परमाणुओं की कितनी मात्रा है और इसी आधार पर यह गणना करना संभव हो जाता है कि आर्द्रता का कितना अंश उसमें है। उसे घटा देने से वास्तविक सीमेण्ट प्रतिशत प्राप्त हो जाता है। रासायनिक पद्धति से इसी गणना में लगभग एक सप्ताह का समय लग जाया करता है। उसकी अपेक्षा इस परमाण्विक पद्धति से समय की बहुत बचत हो जाती है।

साइट्रोनेला तेल

सौन्दर्य प्रसाधनों में उपयोगी सुगंधित द्रव्यों के निर्माण में साइट्रोनेला के तेल की बहुत आवश्यकता पड़ती है। **सिम्बोपोगान नारडुस** तथा **सिम्बोपोगान विण्टा** नामक दो पौधों से मिलनेवाले दो प्रकार के तेलों को निःसरण क्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है और दोनों ही तेलों की व्यापारिक मांग बड़ी अधिक है। हम इसे अभी आयात कर रहे हैं। जोरहट स्थित क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला में उक्त दोनों ही पौधों को लगाने के लिये भली भांति कृषिकर्म पद्धतियों का विकास किया जा चुका है। यह दोनों किस्में श्रीलंका, जावा,


SO REFRESHING...
SO INVITING!
MOHUN'S
ORANGE SQUASH
MOHUN'S
ORANGE SQUASH
The fruit juice and the real fruit juice goes into the manufacture of Mohun's Squashes. You will love them, a glassful will delight your guests.
MOHUN'S
LEMON BARLEY
MOHUN'S
LEMON SQUASH
MOHUN'S
PINE APPLE SQUASH
Over 114 years' experience distinguishes our products
MOHAN MEAKIN BREWERIES LTD. ESTD. 1855
Mohan Nagar (Ghaziabad) U.P.

फारमूसा, ग्वाटेमाला आदि में ही मिलती हैं। हमारे देश की जलवायु में इन्हें अभी तक नहीं लगाया जा सकता था। पहली बार अब यह प्रयोग सफल रहा है और यदि इसका लाभ उठाया जाये तो हमारे सौंदर्य प्रसाधन सामग्रियों के निर्माण उद्योग के लिये जहां एक और विशेष उपलब्धि होगी, वहीं दूसरी ओर इससे पर्याप्त विदेशी मुद्रा की बचत भी की जा सकेगी।

उन्नत अन्तरण संचार प्रणाली

प्रचलित अन्तरण संचार प्रणाली में सुनने वाला व्यक्ति बोलने वाले की बात समाप्त होने से पहले बीच में उससे बात नहीं कर सकता। केवल उधर की बात समाप्त होने पर ही इधर से बात शुरू की जा सकती है। दोनों ओर से धाराप्रवाह वार्तालाप की गुंजाइश नहीं रहती। विदेशों में ऐसे उपकरण मौजूद हैं जो इस समस्या को हल कर सकें किन्तु उन्हें आयात करने में बहुत विदेशी मुद्रा चाहिये।

इसी दृष्टि से नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के विशेषज्ञों ने अब ऐसी प्रविधि विकसित की है जिसमें दोनों ओर से एक साथ बोला या सुना जा सकता है। इसमें अपेक्षित समस्त हिस्से देश में उपलब्ध सामग्री से ही तैयार किये गये हैं। इस व्यवस्था के चालू कर देने से कर्मचारियों के समय और श्रम की बहुत बड़ी मात्रा में बचत की जा सकती है। अनुमान लगाया गया है कि एक सेट को तैयार करने में कुल लागत लगभग आठ सौ रुपये आयेगी।

टिन आक्साइड के रेजिस्टर

संचार एवं विविध इलैक्ट्रानिक उपकरणों के उत्पादन में रेजिस्टरों के निर्माण की समस्या बड़ी व्यापक महत्व की है। धातु से बने रेजिस्टर बड़े मंहगे होते हैं और उनके निर्माण में भी पेचीदगियां हैं। केन्द्रीय विद्युत रसायन अनुसन्धान संस्थान, कराइकुड़ी ने धातु के बजाय टिन के आक्साइड से रेजिस्टर तैयार किये हैं जिनकी विशेषता इतनी ही नहीं है कि वे कम लागत से बन सकते हैं बल्कि प्रचलित रेजिस्टरों की अपेक्षा इसमें लाभ यह है कि कांच अथवा सिरामिक पर जमने वाली फिल्म पारदर्शी होती है और वायु की नमी का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये टिकाऊ अधिक होते हैं, इनकी मोटाई भी अधिक होती है और अपेक्षाकृत अधिक ऊंचे तापमान पर कार्य कर सकते हैं। हमारे देश में केवल प्रतिरक्षा कार्यों के लिये प्रतिवर्ष इस प्रकार 40 लाख रेजिस्टरों की आवश्यकता पड़ती है।

जीरो-अमीनोफिनोल

फोटोग्राफी, रंगाई पदार्थ तथा चमड़ा उद्योग से सम्बन्धित तकनीशियनों को मालूम है कि जीरो-अमीनोफिनोल का कितना महत्व है। प्रतिवर्ष हमारे देश को इसकी 80 टन मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। अभी तक हम इसका उत्पादन छोटे पैमाने पर करते हैं और इसके लिये रासायनिक विधि अपना रहे हैं जिसमें नाइट्रोफिनोल का अपचयन किया जाता है। प्रचलित विधि में एक तो पदार्थ को पूर्णतः अलग नहीं किया जा सकता और दूसरे अपचयन भी पूरी तरह प्रभावकारी नहीं हो पाता। कराइकुड़ी स्थित केन्द्रीय विद्युत रसायन अनुसन्धान संस्थान ने इसी दृष्टि से जीरो-अमीनोफिनोल के उत्पादन हेतु विद्युत-विश्लेषण की पद्धति अपनायी है। इसमें जो विद्युदाग्र उपयोग में लाया जाता है वह लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता है। इस प्रकार नाइट्रोफिनोल के पूर्ण अपचयन में कोई भी कमी नहीं रह जाती। प्रयोगिक संयन्त्र भी तैयार किया जा चुका है और उक्त प्रविधि को पेटेण्ट करा लिया गया है।

तहदार पट्टे

विभिन्न उद्योगों में तहदार पट्टों, कणिका पटों तथा कड़े पट्टों का उपयोग किया जाता है क्योंकि इनमें ऊष्मा-सहन-सीमा बहुत ऊंची होती है। साथ ही ये तहदार कणिका पट्टे हमारे फर्नीचर, दरवाजे, खिड़कियों वगैरह को खूबसूरत भी बनाते हैं। इनका उपयोग बिजली के साज सामानों में भी होता है। कणिका पट्टों को हम अपने देश में तैयार तो कर रहे हैं किन्तु आवश्यक कच्चा माल हमें प्रायः आयात ही करना पड़ता है। इसी दृष्टि से क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रयोगशाला, जोरहट में कुछ परीक्षण किये गये हैं जिनके परिणामस्वरूप अब हम तहदार पट्टे देश में ही उपलब्ध साज सामान से तैयार करते हुए पर्याप्त विदेशी मुद्रा बचा सकते हैं। अनुमान है कि प्रयोगशाला द्वारा विशेष रूप से तैयार किये गये 1000 वर्ग मीटर उत्पादन क्षमता के संयन्त्र को स्थापित करने के लिये लगभग साढ़े तीन लाख रुपये की मुद्रा चाहिये।

बेकार धातु के टुकड़ों का उपयोग

जमशेदपुर स्थित राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला ने बेकार फेंक दिये जाने वाले धातु के टुकड़ों का दुबारा इस्तेमाल करने के लिये एक विशिष्ट संयन्त्र विकसित किया है। इस प्रविधि की विशेषता यह है कि केवल लोहे में ही नहीं, अन्य कई धातुओं में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। प्रक्रिया के दौरान व्यर्थ धातु को पहले पिघला लिया जाता है। इसमें धातु के छोटे-छोटे टुकड़ों को आपस में मिला कर एक बड़ा धातु पिण्ड प्राप्त किया जाता है। इससे सम्बन्धित एक प्रायोगिक संयन्त्र का विकास भी उक्त प्रयोगशाला में किया गया है जिसको व्यापारिक संगठनों द्वारा परीक्षण के पश्चात पूर्णतः संतोषजनक पाया गया है। संयन्त्र में धातु की ढलाई, गढ़ाई आदि की विभिन्न व्यवस्थायें विद्यमान हैं।

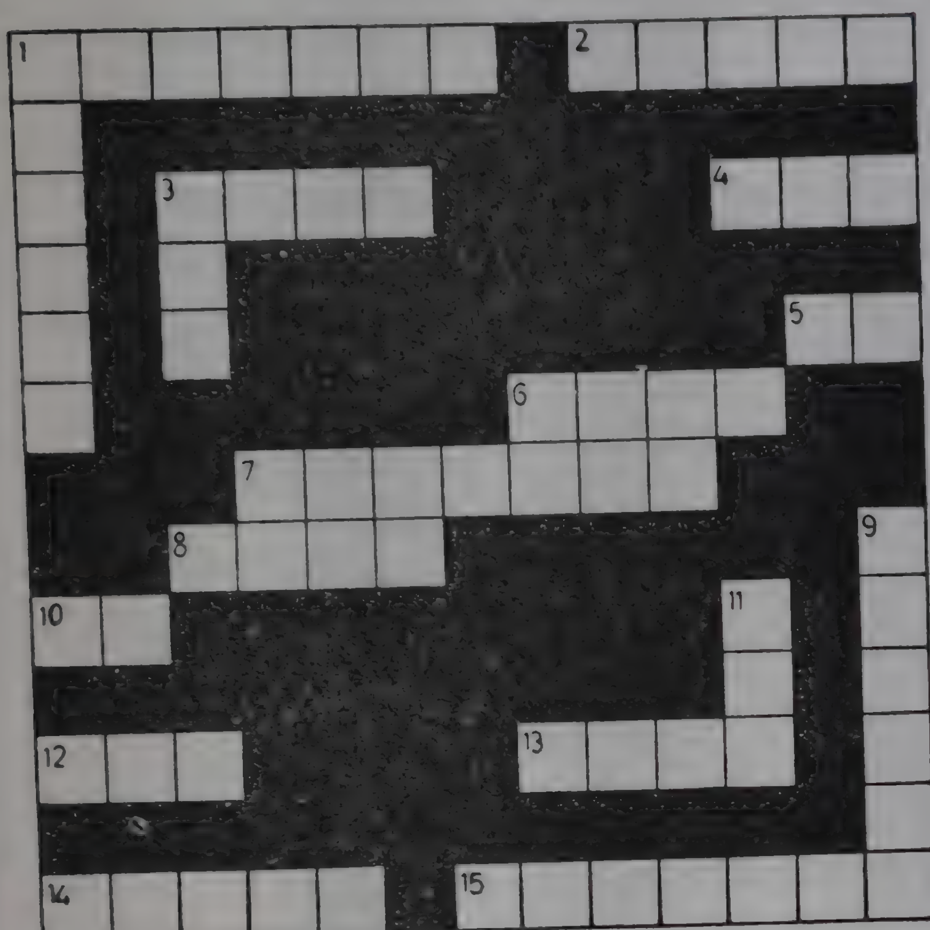
कैफीन

चाय की बेकार पत्तियों को चाय निर्माता फेंक देते हैं अथवा उन्हें किसी गौण कार्य में इस्तेमाल करते हैं। इन्हीं बेकार चाय की पत्तियों से जोरहट स्थित क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रयोगशाला ने 'कैफीन' का निष्कासन किया है। कैफीन से थियोफिलीन, एमिनोफिलीन, ड्रेमेनीन जैसी अनेक लाभदायक औषधियों का निर्माण किया जाता है। यह सभी औषधियां बड़ी मंहगी हैं और इन्हें विदेशों से ही आयात करना पड़ता है। कैफीन के व्यापारिक स्तर पर उत्पादन हेतु भारतीय परिस्थितियों और साधनों के अनुकूल एक प्रायोगिक संयन्त्र का विकास जोरहट प्रयोगशाला ने किया है जिसका पेटेण्ट लिया जा चुका है और इसमें कई सरकारी एवं गैर सरकारी उद्योग संगठनों ने रुचि दिखाई है। कम लागत पर उत्तम कोटि की औषधियों की आवश्यकता को देखते हुए यह प्रविधि अवश्य महत्वपूर्ण है।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 10

प्रस्तुत कर्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बायें से दायें

1. चुम्बकीय शक्ति मापन का यन्त्र ।
2. यह मोती में भी है और हड्डी में भी है ।
3. पिग आइरन से स्टील की निर्माण विधि का आविष्कारक ।
4. टाइपराइटर का आविष्कारक ।
5. सिलाई की मशीन का आविष्कारक ।
6. हेलीकाप्टर का आविष्कारक ।
7. डीजल इंजन का आविष्कारक ।
8. वनस्पति शास्त्र में पेड़-पौधों के नामकरण एवं वर्गीकरण की जो प्रणाली प्रचलित है वह इसी वैज्ञानिक की देन है ।
10. सर्वप्रथम क्लोरीन का निर्माण करने वाला वैज्ञानिक ।
12. मोटर-बोट का आविष्कार सन 1887 में इस जर्मन इंजीनियर ने किया था ।
13. यह यन्त्र समुद्र में बिछाई गयी विस्फोटक सुरंगों की खोज में काम आता है ।
14. रसायन शास्त्र के सुप्रसिद्ध पीरियाडिक नियम का जन्मदाता ।
15. सर्वप्रथम रक्त का वर्गीकरण (ए, बी और ओ समूह में) करने वाला चिकित्सक ।

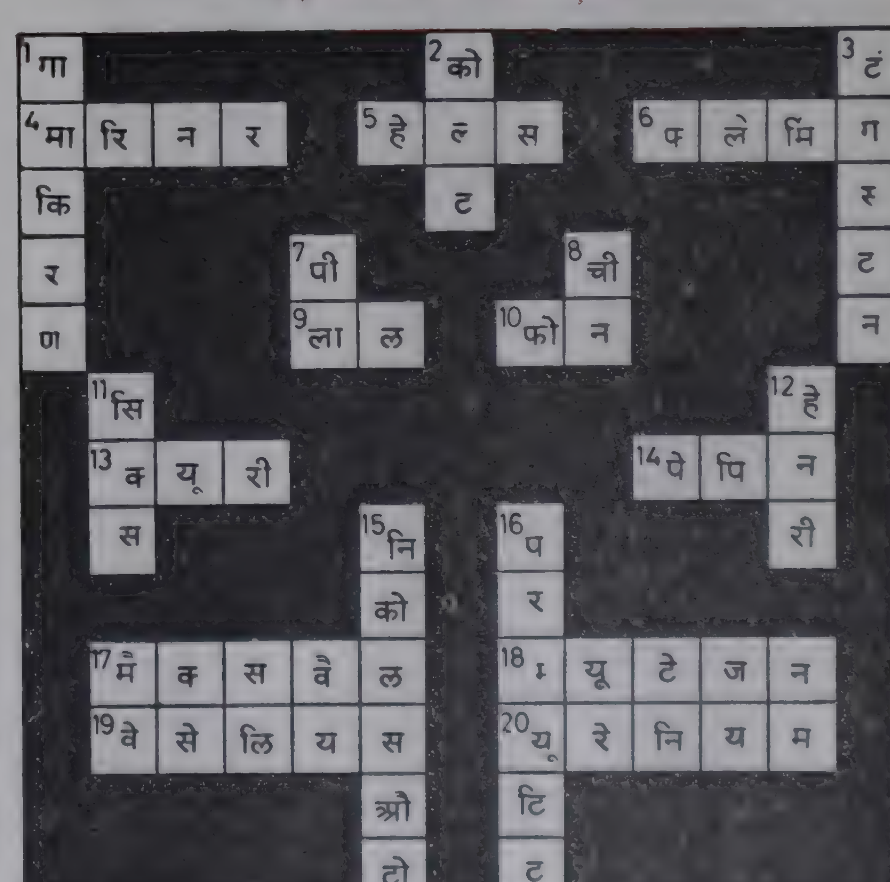
ऊपर से नीचे

1. क्वांटम सिद्धांत का जन्मदाता ।
3. एस्पिरीन का आविष्कारक ।
9. स्फटिक इस यन्त्र से मापे जाते ह ।
11. हारमोनियम का आविष्कारक ।

निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायगा । अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी । आधा अक्षर अलग कोष्टक में भरा जायेगा ।

विज्ञान वर्ग पहेली
क्रमांक 9 का हल



‘विज्ञान प्रगति’ के ग्राहकों से निवेदन

‘विज्ञान प्रगति’ एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। ‘विज्ञान प्रगति’ का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम ‘विज्ञान प्रगति’ के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में.............................196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या.......है। मैं...............रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

क्रमांक..................................दिनांक................................भेज रहा हूं।

पूरा नाम..

पता..

डाकघर.................................जिला.....................राज्य...............

हस्ताक्षर..

प्रैक्टीकल काम सिखाने वाली सचित्र टैक्निकल इन्डस्ट्रियल पुस्तकें

(लगभग सभी पुस्तकें आई. टी. आई. व अन्य टैक्निकल इंस्टिट्यूशनों के स्वीकृत सिलेबस के अनुसार लिखी गई हैं)

● ट्रांजिस्टर

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	22.50
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजायन	12.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	10.50
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सर्किट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

● रेडियो

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	6.00
सर्किट डायग्राम्ज आफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	4.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	3.00
बिना बिजली का रेडियो	1.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स (दो भाग प्रत्येक)	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

● इलैक्ट्रिकल

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15.00
इलैक्ट्रिक गाइड	10.50
इलैक्ट्रिक वायरिंग	4.50
इलैक्ट्रिक लाईटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज़	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स आल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वैल्डिंग	6.00
आल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
*भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल आरमेचर वाइंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए.सी. मोटर वाइंडिंग सचित्र	12.00
आरमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
आई.टी.आई.इलै. सौल्वड पेपर्स	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00

● वर्कशाप खराद सम्बन्धी

मशीनिस्ट गाइड आई.टी.आई. के सिलेबस के अनुसार (पृ. 664)	16.50
कास्ट आयरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
खराद आपरेटर गाइड (उर्दू में)	8.25
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज और उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिंग और सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिंग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25

● आटोमोबाइल व मोटर

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुअल (तीन भाग)	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर	6.00
मोटर ड्राइविंग	4.50
मोटरकार ओवरहालिंग	6.00
मोटर मैकेनिक टीचर गुरुमुखी	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
आधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूल व आटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
ऑटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटरकार प्राइमर	1.50
खेती और ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00

● फर्नीचर

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटलॉग	25.50
न्यू फर्नीचर कैटलाग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
आधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुअल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6.75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्पलीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

● सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी आर्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजायन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (अंग्रेजी)	5.25
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिन्दी)	5.25

● गेट ग्रिल जाली

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
आयरन फर्नीचर	12.00

● लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (अंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाईटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक आफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

● विविध

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजायन	3.75
आयल व गैस इंजन गाइड	10.50
आयल इंजन गाइड	6.00
सिनेमा मशीन आपरेटर्स गाइड	8.25

● एअर कन्डीशनिंग

रैफ्रीजरेटर गाइड	8.25
आइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एअर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देख लें। डाक खर्च ग्राहक को देना होगा।

1969

देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

फोन नं. 261030, 264191, 265403

पांच हजार पुस्तकों की विस्तृत जानकारी के लिए डेढ़ रुपये का मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर भेजकर 608 पृष्ठों की ज्ञान की कुंजी मंगाइए।

हमारे भारत के सोल एजेन्ट : हिन्द पुस्तक भवन, खारी बावली, दिल्ली-6 (फोन : 269314)



पृथ्वी से न दिखाई देने वाले चन्द्र-अर्द्ध में उपस्थित एक क्रेटर का चित्र जो अपोलो-10 द्वारा लिया गया था। चित्र में क्रेटर की ढालू दीवारें तथा उसके तले में बड़े-बड़े पिण्ड स्पष्ट दिखाई दे रहे है।

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

श्रावण 1891 : जुलाई 1969





अपोलो–11 के चन्द्रयात्रियों के चन्द्रमा पर पदार्पण करने के लिये वैकल्पिक स्थान का चित्र जो अपोलो–10 के आदेश कक्ष से खींचा गया था। नीचे बाएं भाग के मध्य में डांडे के समीप स्पर्श-स्थल है। सबसे नीचे छः किमी. व्यास का 'ब्रूस' विवर (क्रेटर) है।


Don't take
Chances
your safe bet is
AJANTA
STRIP RECORDING CHARTS
GRAHPS
AND
AJANTA
RECORDING
INKS
CHHENNA CORPN.
P.O. BOX 1728, DELHI-6
PHONE : 272426 GRAMS : GRAPHMAKER

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है ।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है ।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है ।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य म कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में.................................196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या.......है। मैं................रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

क्रमांक.............................दिनांक..............................भेज रहा हूं।

पूरा नाम..

पता...

डाकघर..............................जिला.....................राज्य...............

हस्ताक्षर...

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

जीवित शुक्ति (सीप):
(बाईं ओर) ;
जीवाश्म शुक्ति
(दाईं ओर) ।

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 श्रावण 1891 जुलाई 1969 अंक 7 पूर्णांक 202

विषय-सूची

विज्ञान प्रगति के मई, 1969 के आनुवंशिकी विशेषांक में 'जीवन की कुंडली–डी. एन. ए. और आनुवंशिक कूट' शीर्षक से हमने सम्पादक की ओर से एक अग्र लेख छापा था । यह लेख वास्तव में डा. अनिल सद्गोपाल (टाटा इंस्टीट्यूट आफ फन्डामेंटल रिसर्च, होमी भाभा मार्ग, बम्बई–5) के द्वारा लिखे गये तीन लेखों का एक संक्षिप्त रूप था । उसमें प्रकाशित चित्र भी डा. अनिल सद्गोपाल द्वारा चुने अथवा बनाये गये थे ।

—संपादक

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

अपोलो-10 द्वारा चन्द्रमा का सर्वेक्षण



अपोलो-10 के आदेश कक्ष (कमांड शिप) द्वारा खींचा गया चन्द्रमा के उस क्षेत्र का चित्र जहां पर अपोलो-11 के यात्री पदार्पण करेंगे।

चन्द्र अभियान अपोलो-8 और 9 की अभूतपूर्व सफलता के बाद अमेरिका ने अपोलो-10 यान प्रक्षेपित किया। 18 मई, 1969 से 26 मई, 1969 के बीच कार्यान्वित किये गये अंतरिक्ष अभियान अपोलो-10 में अंतरिक्ष यात्रियों ने केवल चांद पर उतरने को छोड़ कर सब कुछ वही किया जो प्रथम चांद-यात्री करेंगे।

अपोलो-10 अंतरिक्ष यान केप कैनेडी स्थल से गत 18 मई को अमेरिकी समय के अनुसार दिन के 12 बज कर 49 मिनट पर 36 मंजिले सैटर्न-5 राकेट द्वारा छोड़ा गया। 34.5 मीटर लम्बा यह यान अपनी लम्बाई से दुगुनी लम्बी लपट छोड़ते हुए ऊपर उठा और 11 मिनट के अन्दर ही पृथ्वी की परिक्रमा करने लगा। यान में तीन यात्री थे : टामस पी. स्टैफर्ड, जान डब्लू. यंग और यूजीन ए. सरनन। इस अभियान के नेता थे 38 वर्षीय स्टैफर्ड जो अपोलो-10 में यात्रा करने के पहले 98 घन्टे तक अंतरिक्ष में विचरण कर चुके थे। वैसे यंग ने इससे पहले 75 घन्टे की और सरनन ने 72 घन्टे की अंतरिक्ष यात्रा की थी।

अंतरिक्ष यान के ऊपरी सिरे में आदेश कक्ष और सेवा कक्ष थे। (आदेश कक्ष में



अपोलो-10 के अंतरिक्ष यात्री टॉमस स्टैफर्ड और यूजीन सरनन द्वारा चन्द्रमा से केवल 15 कि. मी. की दूरी से खींचा गया चंद्रमा के उस अर्द्ध भाग के थोड़े से क्षेत्र का एक विलक्षण चित्र जो पृथ्वी से दिखाई नहीं देता। चित्र में चन्द्रमा में विद्यमान क्रेटर और डाँडे स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।



अपोलो-10 के अंतरिक्ष यात्री जॉन यंग द्वारा परिचालित आदेश कक्ष (कमांड शिप) 'चार्ली ब्राऊन' से जुड़ने के लिए वापस लौटता हुआ अपोलो-10 चन्द्र-अवतरण-यान "स्नूपी"। स्नूपी पर सवार होकर स्टैफर्ड और सरनन चन्द्रमा के बहुत समीप (केवल 15 कि. मी. दूर) पहुंच गए थे।

ही अंतरिक्ष यात्री बैठे थे।) उसके नीचे चांद कक्ष था। चांद कक्ष के नीचे एस-4बी राकेट बूस्टर था।

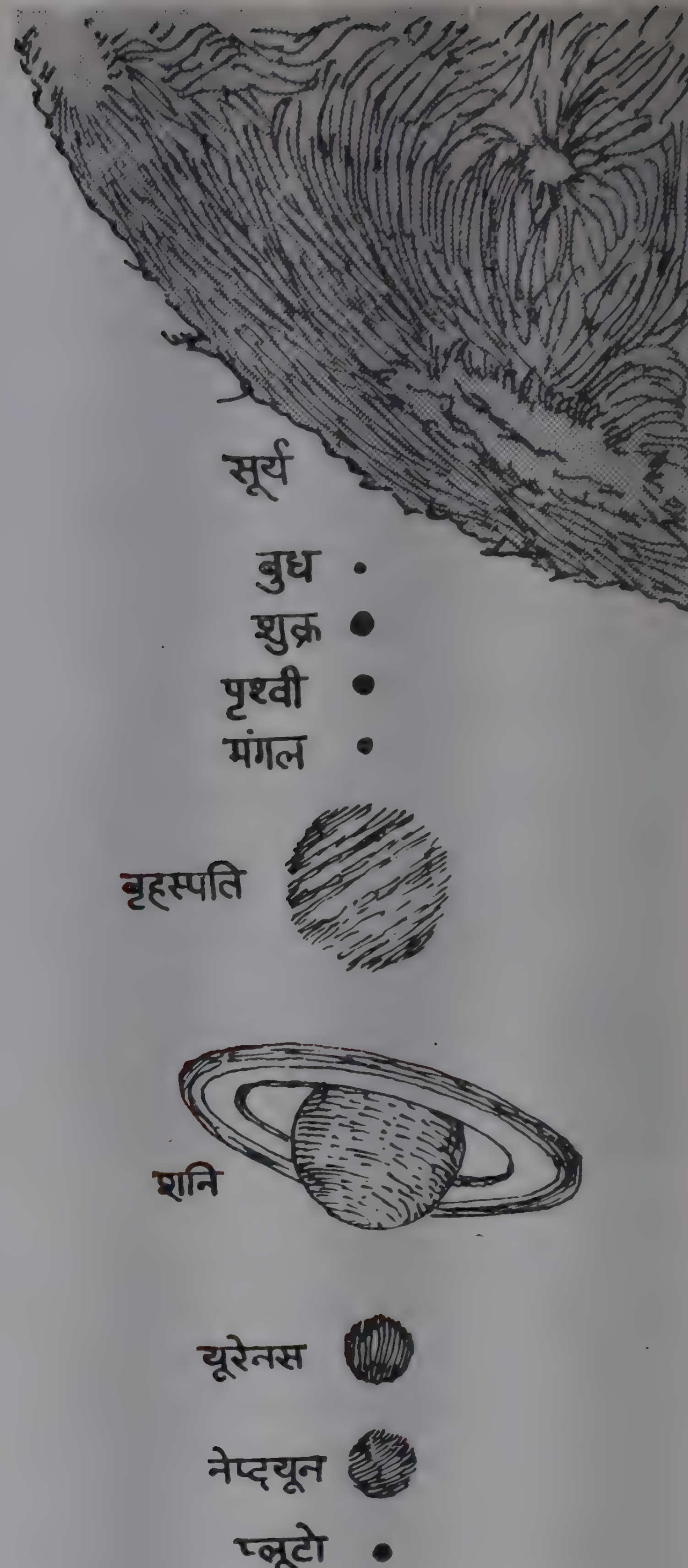
यात्रियों ने अपनी यात्रा आरम्भ करने के 2 घन्टे 39 मिनट बाद, पृथ्वी की दो परिक्रमायें पूर्ण करने के बाद एस-4बी राकेट छोड़ा जिससे उनका यान 36,800 किलोमीटर प्रति घन्टे की गति से चांद की ओर बढ़ चला। अंत में 21 मई, 69 को वह चांद से केवल 111 किलोमीटर दूर रह गया। अपने कार्यक्रम के अनुसार इतनी दूरी पर रह कर यान को चांद की 61.5 घन्टे तक परिक्रमा करनी थी। इसलिये 20,500 पौंड थ्रस्ट वाला इंजन 6 मिनट तक प्रज्वलित किया गया जिसके फलस्वरूप अंतरिक्ष यान और आगे नहीं बढ़ा, उसकी परिक्रमा करने लगा। परिक्रमा की कक्षा 184 किलोमीटर लम्बी और वृत्ताकार थी। कक्षा को सही रखने के लिये यात्रियों को कई राकेट छोड़ने पड़े। यात्रियों ने चांद की 6 परिक्रमायें कीं जिसमें वे चांद के उस क्षेत्र के ऊपर से भी गुजरे जो हमें (पृथ्वी से) दिखायी नहीं देता। यान 22 मई, 69 की रात के लगभग 12 बजे तक परिक्रमा करता रहा।

चांद की परिक्रमा करते हुये स्टैफर्ड और सरनन, आदेश कक्ष से चन्द्र कक्ष में आ गये। यंग आदेश कक्ष में ही रह गये। चंद्र कक्ष में पहुंचने के लगभग तीन घन्टे पैंतालीस मिनट बाद स्टैफर्ड ने उसे आदेश कक्ष (मुख्य यान) से अलग कर लिया। अलग होने पर वह चांद की ओर तेजी से बढ़ चला और उस समय रुका जब वह उससे केवल 50,000 फुट (14.8 किलोमीटर) की दूरी पर था। उस समय हमारी घड़ियों के अनुसार शुक्रवार की सुबह के 2 बज कर 51 मिनट हुए थे। वहां पहुंच कर चन्द्र यान ने फिर चांद की परिक्रमा करनी प्रारम्भ की। इस प्रकार स्टैफर्ड और सरनन ने

(शेषांश पृष्ठ 383 पर)

शुक्र ग्रह अभियान : नूतन प्रगति

देवेन्द्रनाथ भटनागर



सौर मंडल के ग्रहों के तुलनात्मक आकार

जहां एक ओर अमरीका चांद पर मनुष्य भेजने की तैयारी में जोर शोर से लगा हुआ है, वहीं रूस के वैज्ञानिक एक अन्य ग्रह—शुक्र पर अपना ध्यान केन्द्रित किये हैं। मई 16 और 17, 1969 को अपोलो–10 के उड़ान भरने से केवल दो दिन पहले ही एक के बाद एक दो रूसी अन्तरिक्षयान वेनेरा-5 और वेनेरा-6 शुक्रग्रह पर सफलतापूर्वक उतरे और उन्होंने धरती पर बड़े महत्वपूर्ण तथ्य भेजे। यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि शुक्र एक ऐसा ग्रह है जिसके विषय में जानने की मनुष्य की सारी कोशिशें अब तक काफी हद तक असफल रही हैं।

लगभग 16,000,000,000 किलोमीटर व्यास के क्षेत्र में फैले हुए हमारे इस सौर मंडल में सूर्य और चन्द्र के बाद यह सबसे तेज चमकने वाला ग्रह है। यह अधिकतर शाम के झुटपुटे में या सवेरे पौ फटने से पहले दिखाई देता है और इसीलिये इसे 'सुबह और शाम का तारा' कहा जाता है। शुक्र ग्रह का व्यास लगभग 12,000 कि.मी. है, जो पृथ्वी से थोड़ा छोटा है। सूर्य से लगभग 10,7,200,000 कि. मी. की दूरी पर यह पृथ्वी और, सूर्य के निकटतम ग्रह, बुध के बीच की कक्षा में 35 कि.मी. प्रति सेकंड की रफ्तार से चक्कर लगाता है। पृथ्वी से इसकी दूरी लगभग 148,800,000 कि. मी. है। लेकिन कभी-कभी यह पृथ्वी के इतने नजदीक आ जाता है कि दूरी केवल 41,600,000 कि.मी. रह जाती है। इससे नजदीक चन्द्रमा के सिवाय सौर मंडल का अन्य सदस्य कभी नहीं आता। कभी-कभी यह लगभग 2,59,200,000 कि.मी. दूर तक चला जाता है। चन्द्रमा की तरह इसकी भी कलायें होती हैं।

शुक्र ग्रह का अपनी धुरी के चारों ओर चक्कर काटने का तरीका अन्य ग्रहों से भिन्न है जबकि यूरेनस के अलावा अन्य सारे ग्रह घड़ी की विपरीत दिशा में दाहिने से बायें ओर चक्कर काटते हैं (यानी जिस

दिशा में वह सूर्य के चारों ओर चक्कर काटते हैं वे अपनी धुरी पर भी घूमते हैं) । शुक्र ग्रह उससे उल्टी दिशा में (बायें से दायें ओर) यानी घड़ी के चलने की दिशा में चक्कर काटता है । इसकी सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने की दिशा अपनी धुरी पर घूमने की दिशा से उल्टी होती है । इसके अपनी धुरी के चारों ओर चक्कर काटने के समय के विषय में भी मतभेद है । एक अनुमान के अनुसार अपनी धुरी पर एक बार घूमने में यह पृथ्वी के 250 दिनों के बराबर समय लेता है और सूर्य की परिक्रमा करने में पृथ्वी के 224.7 दिनों के बराबर समय लेता है । इसी आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि शुक्र ग्रह पर सूर्योदय पृथ्वी के 118 दिनों के समय में एक बार होता है । अपने इतने लम्बे दिन में इसके ताप में बड़ा परिवर्तन होता रहता है । शुक्र ग्रह के उन हिस्सों में जहां सूर्य की रोशनी सीधी पड़ती है ताप 700° सें. तक पहुंच जाता है । ध्रुवीय प्रदेशों में उसका ताप 200° सें. तक होता है ।

शुक्र ग्रह का कोई उपग्रह नहीं है । इस कारण इसकी संहति का अनुमान अन्य ग्रहों को अपनी ओर आकर्षित करने की इसकी शक्ति को आधार मान कर लगाया गया । इसके अनुसार इसकी संहति पृथ्वी की तुलना में केवल 0.8 है । इसका घनत्व भी इसी कारण कम है । सूर्य के सामने से इसके गुजरने को ट्रांजिट कहते हैं। इस समय यह गोल काले धब्बे की भांति दिखलाई पड़ता है और सूर्य के सामने से गुजरने में लगभग आठ घंटे लेता है । सूर्य के सामने आने से जरा पहले या बाद में इसका आकार, सूर्य की रोशनी इसके पीछे से चमकने के कारण, स्पष्ट हो उठता है । अगले ट्रांजिट अब 8 जून, 2004 और 6 जून, 2012 को आयेंगे ।

मानव निर्मित दूरदर्शी की आंख शुक्र ग्रह की ओर पहले पहल 17वीं शती में आकर्षित हुई । अनेक कोशिशों के बावजूद इसकी सतह को देखने के प्रयास लगभग असफल रहे । दूरदर्शी में से यह एक चमकदार गोला या अर्ध-चन्द्र के आकार का कटा हुआ दिखलाई देता है । अधिक ध्यान से देखने पर इसके चारों ओर से बादलों से ढके होने के चिन्ह दिखाई देते हैं ।

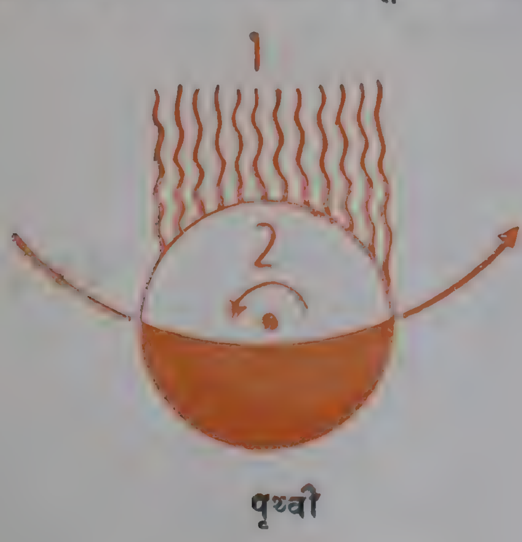
सन् 1962 में अमेरिका ने शुक्र ग्रह की खोज करने के लिये मेरिनर द्वितीय अंतरिक्ष यान भेजा । इस यान ने 109 दिन की यात्रा पूरी



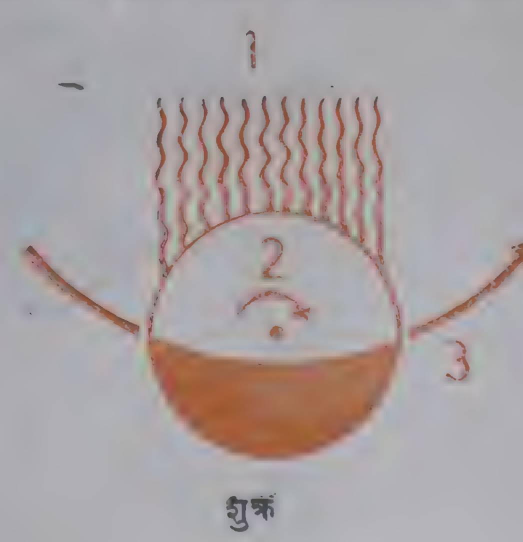
शुक्र ग्रह की एक कला

करके शुक्र से लगभग 34,560 कि.मी. की दूरी से अपने उपकरणों की सहायता से तथ्य संग्रह करके पृथ्वी पर भेजे । यह संदेश लगभग 59,200,000 कि.मी. की दूरी से भेजे गये । इन तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि शुक्र ग्रह की सतह गर्मी के कारण एकदम लाल सुर्ख है । इसके अत्यधिक गर्म होने का कारण यह है कि इस ग्रह के बादल सूर्य की किरणों की अवरक्त रश्मियों को, जो सतह से कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी की भाप के सहारे ऊपर उठ आती हैं, रोक लेते हैं, जिसके कारण वे फैल नहीं पातीं और वायुमंडल को बेहद गर्म कर देती हैं । दूसरा कारण यह है कि शुक्र ग्रह पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य के ज्यादा करीब है और सूर्य से इसे पृथ्वी की अपेक्षा दुगनी गर्मी प्राप्त होती है।

1. सूर्य का प्रकाश, 2. घूर्णन की दिशा, 3. परिक्रमण की दिशा । अपनी अक्ष पर शुक्र का घूर्णन आज भी खगोल-शास्त्रियों के लिए एक रहस्य बना हुआ है । ऊपर से देखने पर अधिकांश ग्रह (उदाहरणार्थ पृथ्वी) के उत्तरी ध्रुव प्रवाम (काउंटर क्लाकवाइज) अथवा सूर्य की परिक्रमा करने की अपनी दिशा में घूर्णन करते हैं परन्तु शुक्र अपनी परिक्रमण दिशा के विपरीत दिशा में घूर्णन करता है ।



पृथ्वी



शुक्र

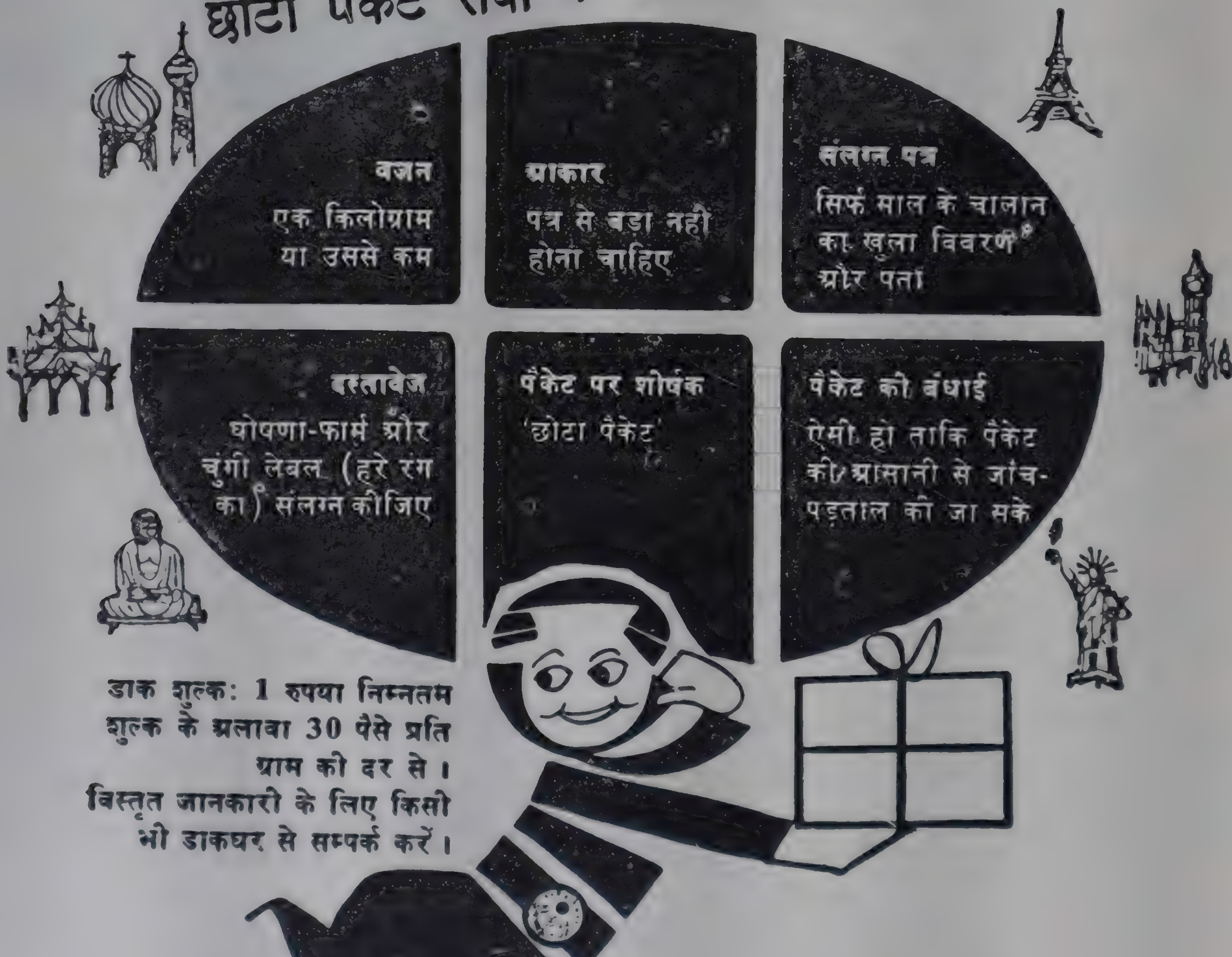
अगर आप विदेशों को माल निर्यात करते हैं या नए-नए उत्पादक हैं और विदेशी मण्डियों में अपना माल भेजना चाहते हैं तो आप हमारी 'छोटा पैकेट सेवा' का उपयोग कीजिए। इसके जरिए आप अपने माल के नमूने अथवा बिक्री-वस्तु की एक छोटी मात्रा विदेशों को भेज सकते हैं। इसे आप चाहें तो रजिस्टर्ड या साधारण रूप में हवाई डाक से भेजें या साधारण डाक से।

यह 'छोटा पैकेट' नीचे लिखे विवरण के अनुकूल होना चाहिए।

निर्यातक हैं?

तो विदेशी मण्डियों में अपने माल का नमूना

छोटा पैकेट सेवा के जरिये भेजिये



डाक शुल्क: 1 रुपया निम्नतम शुल्क के अलावा 30 पैसे प्रति ग्राम की दर से।
विस्तृत जानकारी के लिए किसी भी डाकघर से सम्पर्क करें।

davp 69/92

भारतीय डाक व तार

इस ग्रह के बादल सूर्य की किरणों से भी अधिक पीले दिखाई देते हैं, क्योंकि यह सूर्य की किरणों का लगभग 70 प्रतिशत भाग परावर्तित करके वापिस अंतरिक्ष में फेंक देते हैं। ये बादल धरती पर पाये जाने वाले बादलों से भिन्न हैं और बर्फ के बड़े महीन टुकड़ों, जिनका औसत आकार 15 माइक्रोन (0.0006 इंच) होता है, से बने होते हैं। बर्फ के इन टुकड़ों के साथ धूल मिट्टी के कुछ कण भी मिले होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी की भांति शुक्र की संरचना में भी लोहा मिला हुआ है। पर उपग्रह के अभाव में और इसकी संहित, व्यास, घनत्व आदि के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त न होने के कारण इस विषय में कोई निश्चित मत स्थापित करना सम्भव नहीं है। इसकी सतह के अत्यन्त गर्म होने और हवा के अधिक दबाव के कारण इस ग्रह पर पानी के तरल रूप में पाये जाने की सम्भावना बहुत कम है। शुक्र ग्रह पर पर्वतों की शृंखलाएं भी हैं। एक शृंखला, जो अल्फा पर्वत कहलाती है, लगभग 3840 कि.मी. लम्बी है और उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई है। दूसरी शृंखला 'बीटा' पर्वत इससे भी लम्बी है और पूर्व-पश्चिम दिशा में फैली हुई है। दोनों शृंखलाएं लगभग 160 कि.मी. चौड़ी हैं और उनकी बनावट काफी जटिल है। ये शृंखलाएं पृथ्वी की पर्वत शृंखलाओं से काफी मिलती-जुलती हैं। शुक्र ग्रह की सतह बहुत ही बारीक रेत-मिट्टी से ढकी हुई प्रतीत होती है।

शुक्र ग्रह पर वायुमंडल का पृथ्वी के वायुमंडल के दबाव से लगभग 90 गुना अधिक है। इस कारण हल्की हवा भी तेज झोंकों या अंधड़ जैसी हो जाती है। यह वायुमंडल सतह से लेकर बादलों तक, जोकि लगभग चौंसठ किलोमीटर की ऊंचाई पर हैं, फैला हुआ है। इसमें 75-87 प्रतिशत कार्बन डाई आक्साइड, 0.4-1.0 प्रतिशत आक्सीजन और 1.6 प्रतिशत पानी की भाप होती है। शुक्र ग्रह का चुम्बकीय क्षेत्र बड़ा ही निर्बल है।

शुक्र अभियान

शुक्र ग्रह की ओर सर्वप्रथम स्वचालित यान वेनेरा 1, 12 फरवरी, 1961 को रूस ने भेजा। यह यान मई के महीने में शुक्र से लगभग 160,000 किलोमीटर की दूरी से होता हुआ सूर्य की कक्षा में चला गया और सूर्य का उपग्रह बन गया। अमरीका का मेरिनर द्वितीय 27 अगस्त, 1962 को छोड़ा गया और 14 दिसम्बर को शुक्र से लगभग 35,000 किलोमीटर की दूरी तक पहुंचा। इसके बाद नवम्बर 1965 में रूस ने वेनेरा–2 और वेनेरा–3 को शुक्र की ओर छोड़ा किन्तु जब वे शुक्र के बिल्कुल पास पहुंच चुके थे उनसे रेडियो सम्पर्क टूट गया। वेनेरा–2, 27 फरवरी, 1966 को शुक्र से 24,000 किलोमीटर की दूरी से होता हुआ वेनेरा–1 की तरह सूर्य की कक्षा में जाकर सूर्य का ग्रह बन गया। वेनेरा–3 जब शुक्र से 12.9 किलोमीटर दूर था तब उसके प्रक्षेप पथ (ट्रेजेक्ट्री) में संशोधन किया गया और 1 मार्च, 1966 को यह यान शुक्र की सतह पर सफलता पूर्वक उतर गया।

जून 12, 1967 को रूस का वेनेरा–4 और उसके दो दिन बाद जून 12, 1967 को अमरीका का मेरिनर–5, शुक्र की ओर उड़े। अक्तूबर 18, 1967 को वेनेरा–4 शुक्र ग्रह की सतह पर सफलता पूर्वक उतरा। उसके 72 घंटे के बाद मेरिनर–5 शुक्र से 4,000 किलोमीटर की दूरी से होता हुआ चला गया।

जनवरी 5 और 10, 1966 को रूस ने दो और यान वेनेरा–5 और वेनेरा–6 शुक्र की ओर भेजे। यह दोनों यान एक दिन के अन्तर से मई 16 और 17, 1969 को शुक्र ग्रह पर उतरे। इन्होंने शुक्र तक पहुंचने में 130 दिन लिये। इन यानों द्वारा भेजे गये तथ्यों के अनुसार शुक्र का ताप 752° है और वहां का वायुमंडल पृथ्वी के वायुमंडल के मुकाबले 60 गुना अधिक भारी है।

अभी तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शुक्र ग्रह पर जीवन का उस रूप में, जिसमें हम जानते हैं, होना असम्भव है। हमारे परिचित जीवन के लिए जिन परिस्थितियों का होना अति आवश्यक है वह परिस्थितियां वहां पर नहीं हैं। इस बात की सम्भावना भी बहुत कम है कि जीवन के प्रादुर्भाव के लिये आवश्यक परिस्थितियां कभी रही हों और जीवन वहां कभी पनपा हो। जो भी हो प्राचीन काल में शुक्र ग्रह पर जीवन रहा है या नहीं यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यदि वहां कभी जीवन पनपा भी हो तो भी शुक्र ग्रह की गर्मी ने उसके चिन्ह तक भी नष्ट कर दिये होंगे। फिर भी निश्चित रूप से तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता जब तक मनुष्य स्वयं वहां जाकर उस ग्रह को देख-परख न ले। अभी उस समय के लिये कितना इंतजार करना पड़ेगा यह कहना कठिन है।

भूल सुधार

'विज्ञान प्रगति' के जून 1969 अंक में प्रकाशित लेख 'समुद्र की भयकर लहरें—सुनामी' के लेखक श्री विद्याशरण भट्ट हैं न कि विद्याचरण भट्ट।

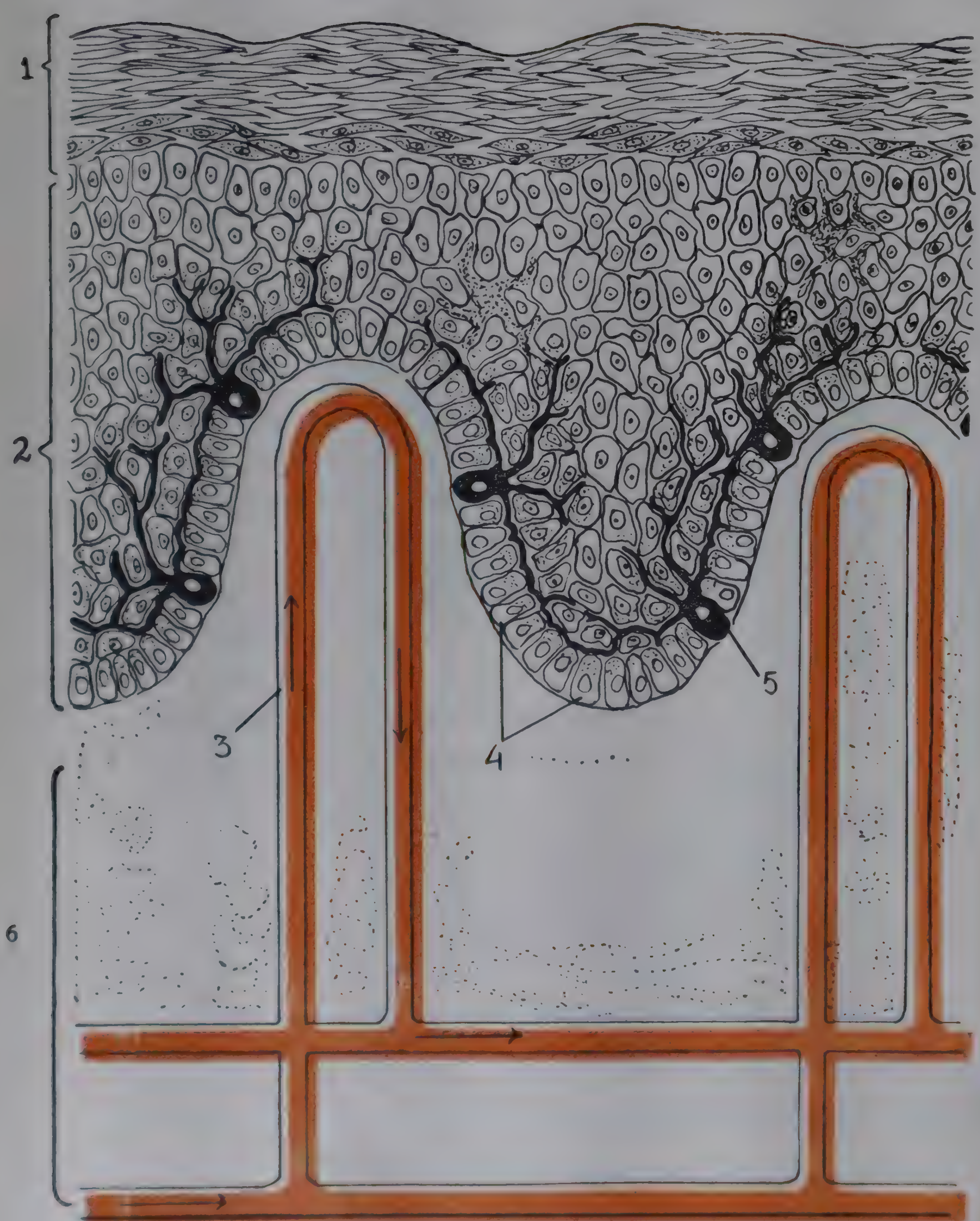
—सम्पादक

सूर्य-प्रकाश का प्रकोप : सूर्य दाह

अशोक सेन

समुद्र के तटवर्ती नगरों के कुछ निवासी थकावट दूर करने व आराम पाने के लिये समुद्र तट पर चले जाते हैं। जहां सूर्य सिर पर चमक रहा होता है और साथ ही शीतल वायु भी चल रही होती है। किनारे की नम रेत पर लेट कर वे सब कुछ भूल जाते हैं। शरीर की मांस-पेशियां खुलने लगती हैं और अनायास ही एक नींद का झोंका आ जाता है। परन्तु कुछ ही देर बाद वे महसूस करते हैं कि उनके शरीर में एक प्रकार की जलन होने लगी है और त्वचा का रंग लाल-सा पड़ गया है। यही नहीं अधिक देर वहां रहने पर उनका सारा सुख एक दुःख में परिवर्तित हो जाता है। यह सूर्य के प्रकाश का कुप्रभाव ही तो है, जिससे बचना ही चाहिये।

क्या आप जानते हैं कि हम सब एक ऐसे वातावरण में रहते हैं जो सदा सौर विकिरणों से प्रभावित रहता है। सौर विकिरण जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। परन्तु इनकी अधिकता कभी-कभी हानिकर भी सिद्ध हो जाती है। सूर्य प्रकाश के वर्णक्रम में केवल छोटी तरंग-लम्बाई वाली किरणें ही हानिकारक होती हैं। सौर विकिरण की ये



मनुष्य की त्वचा का अनुप्रस्थ काट :
(1) शल्क स्तर (हॉर्नी लेयर), (2) ऐपीडर्मिस, (3) रुधिर नलिकाएं, (4) आधार (बेसल) कोशिकाएं, (5) मिलैनोसाइट जो मिलैनिन पिगमैन्ट का उत्पादन करते हैं, (6) डर्मिस।

छोटी तरंग-लम्बाई वाली किरणें पृथ्वी तक प्रायः नहीं पहुंच पातीं। शायद यही कारण है कि पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व है।

सूर्य का प्रकाश जब पृथ्वी तक पहुंचता है तो उसमें से ये छोटी तरंग-लम्बाई वाली किरणें, जो हानिकारक होती हैं, ऊपरी वातावरण में ही छन कर अलग हो जाती हैं। वायुमण्डल में उपस्थित आक्सीजन इन किरणों को शोषित करके ओजोन में परिवर्तित हो जाती है। वास्तव में यह ओजोन ही है, जो इस प्रकार के घातक विकिरणों को पृथ्वी से ऊपर वायुमण्डल में ही रोके रखती है। परन्तु फिर भी कुछ पराबैंगनी विकिरण (जिनकी तरंग-लम्बाई 2,900 से 3,200 आंगस्ट्राम इकाई तक होती है) ओजोन के इस छन्ने को चीरते हुए पृथ्वी तक आ जाते हैं। ये ही पराबैंगनी विकिरण सूर्यदाह का कारण हैं।

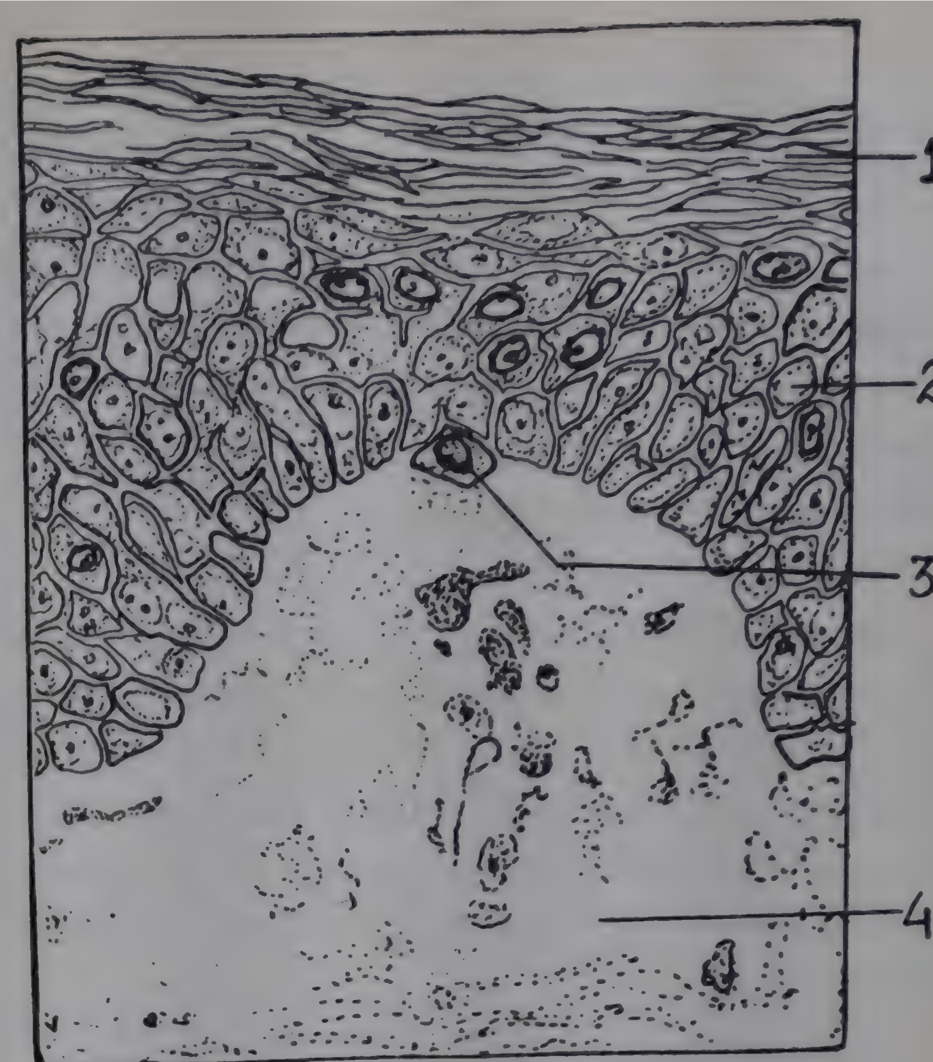
त्वचा झुलसने के उदाहरण अधिक ऊंचाई वाले स्थानों पर अक्सर देखने को मिलते हैं क्योंकि बर्फ से परावर्तन के कारण पराबैंगनी विकिरण की तेजी और भी अधिक हो जाती है। इसी प्रकार समुद्र के किनारे की रेत से परावर्तन के कारण भी विकिरण-तीव्रता बढ़ जाती है और ऐसी अवस्थाओं में 10 से 20 मिनट में ही त्वचा प्रभावित हो जाती है। समुद्र तट पर लोगों को शीतल वायु तो सुहावनी लगती है परन्तु पराबैंगनी विकिरण के कुप्रभाव को वे शीघ्र महसूस नहीं कर पाते और धीरे-धीरे उनकी त्वचा इस विकिरण का शिकार हो जाती है।

सूर्योदय और संध्या के समय सूर्य की किरणें इतनी अधिक हानिकर नहीं होतीं इसका कारण यह है कि जब सूर्य आकाश में नीचे होता है तो उसके विकिरण वातावरण की सघन तहों से गुजर कर आते हैं। वातावरण की ये तहें छोटी तरंग-लम्बाई वाले विकिरणों को चारों ओर छिटक देती हैं, जिससे वे पृथ्वी तक नहीं पहुंच पाते और केवल अधिक तरंग-लम्बाई वाली किरणें ही पृथ्वी तक पहुंचती हैं। ये किरणें पीली, नारंगी और लाल होती हैं।

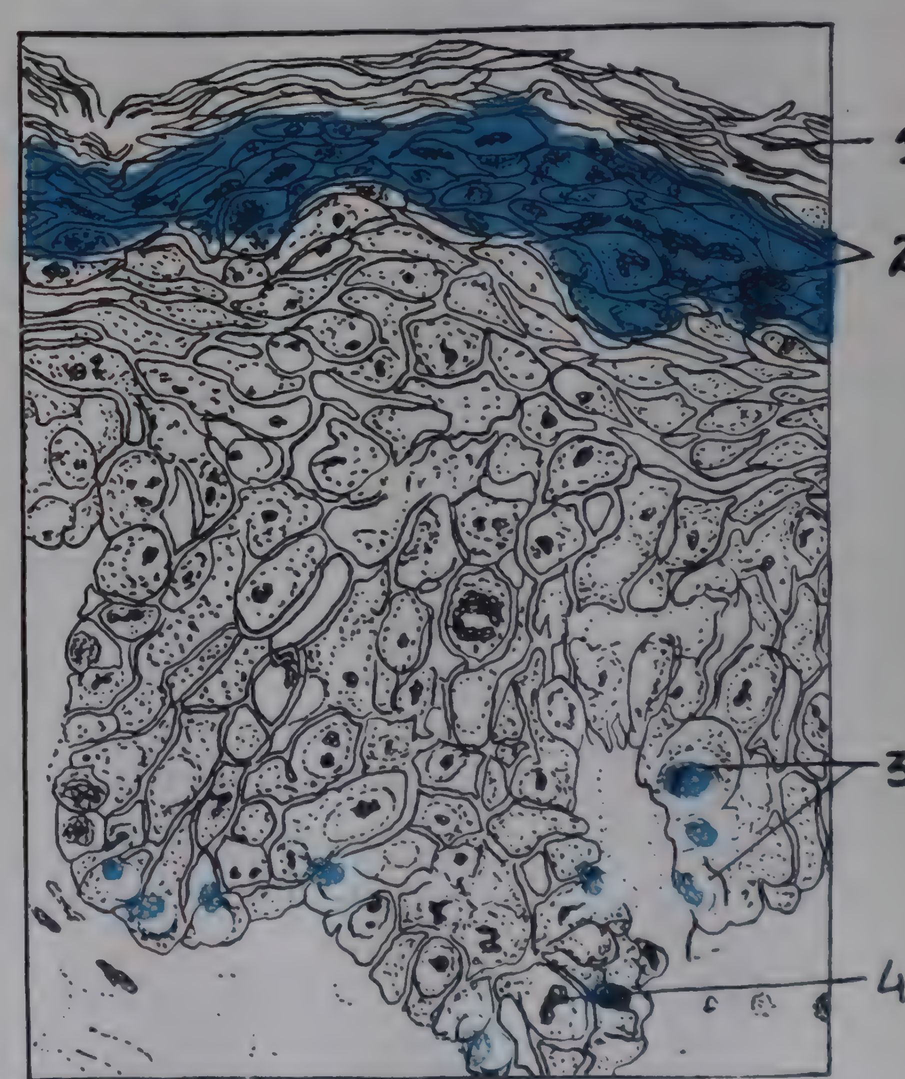
त्वचा की रक्षा उसके अन्दर उपस्थित भूरा काला रंग (पिगमैंट) करता है। इस रंग को 'मिलैनिन' कहते हैं। त्वचा में मिलैनिन का संश्लेषण जिन कोशिकाओं में होता है उन्हें 'मिलैनोसाइट' कहते हैं। इन कोशिकाओं में एक एमिनो एसिड, 'टाइरोसिन' होता है जिसके आक्सीकरण से मिलैनिन बनता है। मिलैनिन को त्वचा की बाहरी पर्त 'ऐपीडर्मिस' (बाह्यत्वचा) पर फैलाने का काम मिलैनोसाइट ही करते हैं। इस प्रकार ऐपीडर्मिस के बाहर एक कड़ी परत बन जाती है। किसी व्यक्ति की त्वचा में मिलैनिन की कितनी मात्रा है, इस बात पर उस व्यक्ति का रंग भी निर्भर करता है।

मिलैनिन न केवल त्वचा की पराबैंगनी विकिरणों से रक्षा करता है बल्कि यह ऐपीडर्मिस की कोशिकाओं के आनुवंशिक पदार्थ (डीआक्सी-राइबोन्यूक्लिक एसिड, डी. एन. ए.) को विकिरण से प्रभावित होने से बचाता है। मिलैनिन, कोशिकाओं के बाहर एक आवरण सा बना लेता है जिससे उन के केन्द्रक प्रभावित नहीं होने पाते।

मिलैनिन पराबैंगनी विकिरण से हमारी त्वचा की रक्षा 90 प्रतिशत तक करता है। गहरे रंग वाले व्यक्ति इस प्रकार के हानिकर पराबैंगनी विकिरणों से कम प्रभावित हो पाते हैं।



सूर्यदाह से पूर्व त्वचा का अनुप्रस्थ काट—
1. शल्क स्तर, 2. ऐपीडर्मिस, 3. मिलैनोसाइट और 4 डर्मिस



सूर्यदाह के पश्चात त्वचा का अनुप्रस्थ काट—
1. शल्क स्तर, 2. ऐपीडर्मिस तह की विकिरण से प्रभावित कोशिकाएं, 3. मिलैनोसाइट, 4. विभाजित हो रही डर्मिस की एक कोशिका। विकिरण के प्रभाव से इन कोशिकाओं के विभाजन की दर नियन्त्रित हो जाती है।

त्वचा की रक्षा के दूसरे साधन

त्वचा के बाहर का शल्क स्तर (हार्नी लेयर) भी इन विकिरणों से काफी हद तक रक्षा करता है। इसके अलावा त्वचा में उपस्थित 'यूरोकेनिक अम्ल' इन हानिकर पराबैंगनी विकिरणों की ऊर्जा को रासायनिक क्रिया द्वारा शोषित कर लेता है। शोषित करते ही इस अम्ल का रासायनिक रूप बदल जाता है जो कुछ ही क्षणों बाद फिर से पूर्वावस्था में आ जाता है और वह शोषित ऊर्जा अन्य रूपों में परिवर्तित होकर शरीर में काम आ जाती है।

आज बहुत से ऐसे लेप उपलब्ध हैं जिनको त्वचा पर लगा कर त्वचा की रक्षा विकिरणों से की जा सकती है। उदाहरणार्थ **पैरा-ऐमिनो बैन्जोइक अम्ल**, जो सौर विकिरण की 2900 से 3150 आंगस्ट्राम इकाई तक की तरंगों को शोषित कर लेता है; **बैन्जोफीनोन** जैसे पदार्थ, जो सभी पराबैंगनी विकिरणों को शोषित कर लेते हैं; और कुछ पारभासी पदार्थ, जिनमें जिंक आक्साइड या टाइटेनियम आक्साइड मिले होते हैं।

कठिनाई यह है कि ये लेप त्वचा पर अधिक समय तक चिपके नहीं रह पाते और पसीना आने पर तुरन्त ही उतर जाते हैं, या फिर कुछ खाज उत्पन्न करते हैं।

पराबैंगनी विकिरण और जीव-रासायनिक प्रभाव

पराबैंगनी विकिरण के अधिकतर प्रभाव जीव-रासायनिक ही होते हैं। विकिरण के प्रभाव से हमारी त्वचा में प्रोटीन के अणु टूट जाते हैं और बहुत से एन्जाइम अक्रियाशील हो जाते हैं। साथ ही हमारी त्वचा में उपस्थित एक प्रोटीन, कोलेजन में परिवर्तित हो जाती है।

सर्वप्रथम प्रश्न तो यह है कि सूर्यदाह से हमारी त्वचा की कोशिकाओं का आनुवंशिक पदार्थ (डी. एन. ए.) किस प्रकार प्रभावित होता है? कुछ सूक्ष्म जीवों पर किये गये अनेक प्रयोगों से यह पता चला है कि पराबैंगनी विकिरण के प्रभाव से उनके डी. एन. ए. में कुछ रासायनिक परिवर्तन आ जाते हैं। परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन मनुष्य की त्वचा की कोशिकाओं में देखने को नहीं मिले हैं। दूसरी ओर कुछ प्रयोगों द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि पराबैंगनी विकिरण का प्रभाव उन कोशिकाओं पर अधिक होता है जो विभाजन की स्थिति में होती हैं। हमारी त्वचा की निचली तह में, जिसे डर्मिस कहते हैं, कोशिकाएं विभाजनशील होती हैं और इसीलिये उन कोशिकाओं पर विकिरणों का प्रभाव अधिक पड़ता है। पराबैंगनी विकिरण के प्रभाव से उन कोशिकाओं में डी. एन. ए. का संश्लेषण कुछ समय के लिए रुक जाता है।

पहले यह समझा जाता था कि पराबैंगनी विकिरणों का प्रभाव मूलतः त्वचा की कोशिकाओं के डी. एन. ए. अणु और प्रोटीन अणु पर ही पड़ता है। परन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि विकिरणों का प्रभाव कोशिका के अन्दर उपस्थित दूसरे रासायनिक पदार्थों पर भी पड़ता है।

विकिरण के प्रभाव से त्वचा में फास्फोलाइपिड की मात्रा कम हो जाती है और कोशिका के कोलेस्ट्रॉल की रचना भी बदल जाती है। फास्फोलाइपिड और कोलेस्ट्रॉल, कोशिका और कोशिका में पाये जाने वाले दूसरे अवयवों की झिल्ली को एक स्थायी रूप प्रदान करते हैं। इस दिशा में कुछ और प्रयोग किये गये जिनमें पराबैंगनी विकिरण का प्रभाव कोशिका भित्ति और कोशिका के भीतर दूसरे अवयवों के कवच 'झिल्ली' के ऊपर देखा गया। कोशिका के भीतर पाये जाने वाले अवयवों में 'लाइसोसोम' प्रमुख हैं। 'लाइसोसोम' कोशिका के 'पाचन-संस्थान' का कार्य करते हैं और साथ ही वे कोशिका की आयु निर्धारित करते हैं।

'लाइसोसोम' के भीतर एक हाइड्रोलिटिक एन्जाइम भरा होता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि लाइसोसोम त्वचा की ऐपीडर्मिस तक की कोशिकाओं को शल्क स्तर में बदल देते हैं। यह शल्क स्तर ही त्वचा का बाहरी कवच होता है तथा विकिरणों से उसकी रक्षा करता है।

पराबैंगनी विकिरण के प्रभाव से लाइसोसोम का बाहरी कवच फट जाता है क्योंकि यह काफी पतला होता है। कोशिका के दूसरे अवयवों जैसे माइटोकोंड्रिया की झिल्ली आसानी से नहीं फटती क्योंकि यह झिल्ली काफी मोटी और मजबूत होती है।

लाइसोसोम का कवच (झिल्ली) फटते ही उनके अन्दर भरा हाइड्रोलिटिक एन्जाइम चारों ओर फैल जाता है और सूर्यदाह के लक्षण त्वचा के ऊपर दृष्टिगोचर होने लगते हैं; त्वचा की रुधिर नलिकाओं में फैलाव आ जाता है और साथ ही ज्वर भी हो जाता है।

त्वचा पर सूर्यदाह का प्रभाव कुछ औषधियों द्वारा कम किया जा सकता है। एस्पिरीन और हाइड्रोकार्टीसोन ऐसे पदार्थ हैं जो लाइसोसोम को फटने से रोक देते हैं। चूहों पर किये गये कुछ प्रयोगों द्वारा पता चला है कि ये पदार्थ लाइसोसोम को फटने से तो रोक देते हैं परन्तु साथ ही पराबैंगनी विकिरण की शिकार हुई त्वचा की निचली तह (डर्मिस) की कोशिकाओं के विभाजन की क्रिया को प्रभावित करते हैं।

बाहरी वातावरण के प्रभाव से हमारी त्वचा की ऐपीडर्मिस की कोशिकाओं का निरन्तर नाश होता रहता है और इस प्रकार नष्ट हुई कोशिकाओं की पूर्ति नई कोशिकाओं द्वारा होती रहती है। नई कोशिकाएं डर्मिस तह में कोशिका विभाजन के फलस्वरूप बनती रहती हैं। थोड़े समय बाद इन नई कोशिकाओं में से कुछ शल्क रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

त्वचा का कैंसर

पराबैंगनी विकिरण द्वारा कभी-कभी त्वचा की कोशिकाओं के विभाजन को नियंत्रित करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप कोशिका-विभाजन की दर बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में त्वचा में कैंसर हो जाता है। गोरे मनुष्यों में या फिर उन मनुष्यों में, जो अधिक देर धूप में कार्य करते हैं, जैसे नाविक आदि, त्वचा का कैंसर होने की सम्भावना अधिक होती है।

सूर्यदाह के साथ-साथ सूर्य की तेज धूप से और दूसरे चर्म रोग भी हो जाते हैं जैसे 'ल्यूपस इरीथिमेटोसस'। इस रोग में त्वचा में रंगहीन चकत्ते से पड़ जाते हैं और कभी-कभी त्वचा से कुछ खुरंट उतरने लगते हैं।

(शेषांश पृष्ठ 372 पर)

भारत के निकटवर्ती प्रदेश का प्राणि सर्वेक्षण

अनिल कुमार श्रीवास्तव

पृथ्वी का लगभग 29 प्रतिशत भाग स्थल है। उत्तरी गोलार्द्ध के अन्तर्गत स्थल भाग दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा करीब दो-गुना है।

पृथ्वी के स्थल खंड या तो आपस में सम्बद्ध हैं, या एक महाद्वीप दूसरे महाद्वीप से द्वीप-पुंजों एवं द्वीपों से मिले हुए हैं। इस स्थल पर और इसकी नदियों में अनेक प्रकार के रीढ़धारी तथा रीढ़हीन जन्तु रहते हैं।

सैद्धान्तिक रूप से प्राणि-सर्वेक्षण सम्पूर्ण जन्तुओं से संबंधित है, चाहे वे रीढ़धारी हों या रीढ़हीन, चाहे वे थलीय हों या जलचर। पृथ्वी पर लगभग 10,00,000 जन्तु-जातियां हैं। इस लेख में हम केवल थलीय एवं अक्षार-जल के कशेरुकी (रीढ़धारी) जन्तुओं तक सीमित रहेंगे जिनकी प्रतिशतता, सब जन्तुओं को जोड़कर, केवल 2 प्रतिशत है। इनमें से भी हम केवल स्तनधारी जन्तुओं का विशेष अध्ययन करेंगे।

प्राणि भूगोल

जन्तु-विविधता इतनी अधिक है कि एक साथ उनका अध्ययन कठिन है। अतएव सुलभ अध्ययन हेतु जन्तुओं को उनकी व्यक्तिगत असमरूपता के आधार पर कई क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया है। इस अध्ययन को 'प्राणि-भूगोल' कहते हैं। संसार को इस प्रकार छः प्राणि-परिमंडलों में विभाजित कर दिया गया है। एक प्राणि-परिमंडल अपने पड़ोसी से किसी स्पष्ट भौगोलिक लक्षण से पृथक किया जाता है, उदाहरणतः महासागर या पर्वतमाला से। इन छः क्षेत्रों के विशेष नाम हैं, पैलीआर्कटिक, नियो आर्कटिक, निओट्रापिकल, इथियोपिएन, ओरिएण्टल, आस्ट्रेलियन। इस लेख में हम पूर्वी परिमंडल का प्राणि-सर्वेक्षण करेंगे।

ओरिएण्टल (पूर्वी) परिमंडल में भारत, दक्षिण पूर्व एशिया के देश और पूर्व सिलेबीस तक फैले हुए सब द्वीप शामिल हैं। यह क्षेत्र हिमालय पर्वत, हिन्द एवं प्रशान्त महासागरों से परिसीमित है, परन्तु दक्षिणी-पूर्वी भाग में कोई निश्चित प्राकृतिक उपरोध न होने के कारण यह भाग मलय द्वीप पुंज द्वारा आस्ट्रेलियाई परिमंडल से मिला हुआ है। सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और फिलीपीन द्वीप समूह भी इस क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसकी जलवायु मुख्यतः ऊष्णकटिबंधीय है।

इस परिमंडल को स्तनपायी वर्ग के प्राणियों का क्षेत्र कहा जा सकता है। इन्सेक्टीवोरा (कीटभक्षी समूह) के अन्तर्गत इस क्षेत्र में हेजहॉग (झाऊ-चूहा), मोल (परियाम; छछूंदर जाति) पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इस समूह के जीव अत्यन्त साधारण हैं। अधिकांश जातियां मिट्टी में छेद या सुरंग बनाकर रहती हैं। बिल के अंधेरे में रहने के कारण इनकी आंखें छोटी या खाल से ढकी रहती हैं। इन जन्तुओं की घ्राण-शक्ति भली प्रकार विकसित होती है और गन्ध से ही ये अपना भोजन पहचानने की क्षमता रखते हैं।

कीट भक्षी समूह

डर्माप्टेरा समूह का जन्तु काल्यूगो, जोकि एक वृक्षवासी तथा ग्लाइडिंग स्तनपायी है, बोर्नियो प्रदेश का स्थानीय वासी है। यह पेड़ों पर इधर से उधर एक झिल्लीनुमा अंग की मदद से कूदा करता है। यह झिल्ली अग्र और पश्च पदों के बीच फैली रहती है। काल्यूगो कीटभक्षी समूह का सजातीय है।

प्राइमेट्स समूह के जन्तुओं की तो इस परिमंडल में एक खान है। इनमें बोर्नियो में पेड़ों पर रहने वाले थ्रू और टार्सियर महत्वपूर्ण हैं जिनका नर-वानरगणों के जैविक विकास में योगदान है। ये वृक्षवासी और सर्वभक्षी जन्तु हैं। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में लोरिस, लाल मुंह वाले बन्दर, लंगूर, गिबन और ओरंग ऊतन का भी निवास स्थान है। मनुष्य स्वयं इस समूह का एक जन्तु है।

फोलीडोटा (शल्क-स्तनी वर्ग) समूह का एक अजीब जन्तु है पेन्गोलिन (सिल्लू)। यह दक्षिण-पूर्वी एशिया और भारत में पाया जाता है। इसके शरीर पर बाल कम व शरीर एपिडर्मिस (बाह्य त्वचा) की बनी कड़ी प्लेटों से ढका रहता है। दांतों के अभाव से ये कीड़े-मकोड़े खाते हैं।

रोडेंशिया (कृन्तक प्राणी) समूह के जन्तु शशक वर्ग के जंतुओं से मिलते-जुलते हैं, उन्हीं की तरह यह अपना भोजन कुतर-कुतर कर खाते हैं। इस समूह की कई जातियां पूर्वी परिमंडल में पाई जाती हैं—गिलहरी,



विभिन्न प्रकार के चूहे (खलिहान के चूहे, क्राइसेटिड चूहे, बांस के चूहे और घरों में रहने वाले चूहे)। ये चूहे प्रति वर्ष करोड़ों रुपये के अनाज को नुकसान तो पहुंचाते ही हैं, साथ ही साथ इनसे प्लेग, टाइफस जैसे रोग भी फैलते हैं। चूहों की एक विशेष जाति—कण्टकी डारमाउस—सम्पूर्ण भारत वर्ष में पेड़ों पर बिल बनाकर रहती है। साही भी इस परिमंडल का एक अनोखा जन्तु है। यह एक छोटे कुत्ते जैसा होता है, इसके बालों के बीच मोटे तथा नोकदार कांटे होते हैं। साही दिन में किसी झाड़ी या बिल में अपने शरीर को मोड़ कर एक बड़े गेंद की शक्ल में पड़ा रहता है। आतंकित होने पर यह कांटों को खड़ा करके अपने शत्रु पर झपटता है। इस तरह तमाम कांटे शत्रु के शरीर में चुभ जाते हैं और घाव बना देते हैं। पेड़ों की जड़ें, आलू और शकरकंद आदि साही के भोजन हैं। इनके कांटों का उपयोग लोग कलम के रूप में करते हैं। एक प्रचलित किंवदंती है कि यदि किन्हीं दो आदमियों में दुराव पैदा करना हो तो दोनों के घरों में एक-एक साही का कांटा गाड़ देना काफी है।

मांसभक्षी स्तनी समूह में आने वाले अनेक जन्तु इस क्षेत्र में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इनमें कुत्ते, भालू, लोमड़ियां, भेड़िये, नेवले, शेर, चीते, पालतू और जंगली बिल्लियां प्रमुख हैं।

प्रोबोसिडिया समूह

प्रोबोसिडिया समूह में भारतीय हाथी सबने देखे होंगे। इनको पकड़ने के तरीकों को खेद्दा कहते हैं। दक्षिण भारत तथा बोर्नियो के जंगलों में हाथी जंगली अवस्था में पाये जाते हैं।

पेरिसोडैक्टाइला (एक-खुरीय गण) समूह के अन्तर्गत इस परिमंडल में तापीर और गेंडा पाये जाते हैं। तापीर मलय, बोर्नियो और सुमात्रा का निवासी है। इस समह के जन्तुओं की अंगुलियों के सिरों पर खुर होते हैं। अंगुलियों की संख्या 5 से कम होती है। एक-खुरीय जीव शाकाहारी होते हैं। गेंडे के थूंथन पर जो सींग होते हैं उसे बाजीकर (एफ्रोडाइसिअक) अर्थात् काम-भावना को प्रबल करने वाला समझा जाता है और इस सींग का मुंह-मांगा दाम मिल जाता है।

आर्टियोडैक्टाइला (द्विखुरीय गण) समूह के हिरन, (पशु गाय-बैल), भेड़, बकरी, सूअर और शेवरोटेन (मूषक-हिरन) पूर्वी परिमंडल के मुख्य जन्तु हैं। मूषक-हिरन दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाया जाता है। यह कुछ बड़े कृन्तकों जितनी ऊंचाई का होता है।

पूर्वी क्षेत्र में पक्षियों की भरमार है, जिनमें अधिकतर चमकदार और रंगीन परों वाले हैं। इनमें दहोलिका (टिटहरी), नीलकंठ, मैना, कठफोड़वा, शकरखोरा, धनेर, कबूतर और फाख्ता (पंडुक) की बहुतायत है।

तत्त्वों की आवर्त्त-सारणी और दमित्रि मैंदलीफ



इस वर्ष संसार के लगभग सभी रासायनिक अनुसंधान केन्द्रों तथा रासायनिक समितियों द्वारा मैंदलीफ की आवर्त्त सारणी की सौवीं जयंती मनाई गई। 18 मार्च 1969 को मैंदलीफ ने वैज्ञानिकों के समक्ष भाषण करते हुए तत्वों का वर्गीकरण दर्शाने वाला एक चार्ट प्रस्तुत किया जिसमें 60 तत्वों का वर्गीकरण किया गया था।

मैंदलीफ से पहले भी कई वैज्ञानिकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया था। डाल्टन द्वारा परमाणु भार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किए जाने के चार वर्ष बाद ही एक जर्मन प्रोफेसर योहान वोल्फगाज डोबेराइनर (1780-1849) ने विभिन्न तत्वों को तीन-तीन के समूहों में रखा था। तीन-तीन तत्वों के समूह इस प्रकार बनाए गए थे कि तीन में से एक तत्व का परमाणु भार शेष दो तत्वों के परमाणु भार के योग के आधे के बराबर था। उदाहरणार्थ क्लोरीन-ब्रोमीन-आयोडीन एक तत्व-त्रिक था और कैल्शियम-स्ट्रांशियम-बेरियम एक अन्य त्रिक था। इसी प्रकार के त्रिकों में डोबेराइनर ने तत्वों को व्यवस्थित किया था।

इसके पश्चात सन 1865 में एक युवा अंग्रेज रसायनज्ञ जॉन ए. आर. न्यूलैंड्स (1837-98) ने तत्वों के वर्गीकरण की एक बिल्कुल नए प्रकार की व्यवस्था की। उसने तत्वों को मुख्य रूप से परमाणु भारों के क्रम में व्यवस्थित किया। न्यूलैंड्स ने अपनी तत्व वर्गीकरण व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए कहा, कि वे तत्व जो सारणी में एक ही क्षैतिज पंक्ति में रखे गए हैं, परस्पर गुणों में साम्य रखते हैं। इस प्रकार आठवें तत्व फ्लोरीन के गुण, प्रथम तत्व हाइड्रोजन से मिलते-जुलते हैं; पन्द्रहवें तत्व क्लोरीन के गुण, प्रथम तथा आठवें तत्वों से मिलते-जुलते हैं। अपनी इस सारणी में न्यूलैंड्स ने एक क्षैतिज पंक्ति में आठ तत्व रखे और उसे 'ऑक्टेव' नाम दिया। उसने तत्वों की उपमा संगीत स्वरों से देते हुए कहा कि जिस प्रकार हर आठवां स्वर समान होता है उसी प्रकार इस सारणी में आठवें, पन्द्रहवें, 22वें, 29वें आदि स्थानों पर रखे गए तत्वों के गुण समान होंगे। इस प्रकार न्यूलैंड्स ने तत्वों की सारणी में समान गुण वाले तत्वों को एक निश्चित समान अन्तर पर रखा। तत्वों की यह व्यवस्था आवर्त्ती (पीरिआडिक) कहलाई।

न्यूलैंड्स ने तत्व-सारणी में उन तत्वों के लिए कोई स्थान न रखा था जिनकी खोज होनी बाकी थी। यह बहुत बड़ी कमी थी। इसके अतिरिक्त एक अन्य त्रुटि उसमें यह थी कि कुछ समान गुणों वाले तत्वों को उसने एक ही ऑक्टेव में रख दिया था। इसलिए कुछ रसायनज्ञों ने उसकी इस सारणी की खूब हंसी भी उड़ाई।

इसके लगभग 3-4 वर्ष बाद मैंदलीफ और एक जर्मन रसायनज्ञ लोथर मेयर (1830-95) ने अलग-अलग स्वतंत्र रूप से अध्ययन कार्य करके यह बताया कि तत्वों के वर्गीकरण की जो पद्धति न्यूलैंड्स ने अपनाई थी वह बहुत हद तक सही थी। न्यूलैंड्स द्वारा तत्वों के वर्गीकरण की अति सरल व्यवस्था में थोड़े संशोधन करने के बाद उक्त दोनों वैज्ञानिकों ने यह दर्शाया कि तत्वों का वास्तव में एक प्राकृतिक वर्गीकरण सम्भव है। मैंदलीफ ने इस संबंध में अपना मत अति विस्तार

न्यूलैंड्स द्वारा किया गया रासायनिक तत्वों का वर्गीकरण

H 1	F 8	Cl 15	Bo, Ni 22	Br 29	Pd 36	I 42	Pt, Ir 50
Li 2	Na 9	K 16	Cu 23	Rb 30	Ag 37	Cs 44	Tl 53
Gl 3	Mg 10	Ca 17	Zn 25	Sr 31	Cd 38	Ba, V 45	Pb 54
B 4	Al 11	Cr 19	Y 24	Ce, La 33	U 40	Ta 46	Th 56
C 5	Si 12	Ti 18	In 26	Zr 32	Sn 39	W 47	Hg 52
N 6	P 13	Mn 20	As 27	Di, Mo 34	Sb 41	Nb 48	Bi 55
O 7	S 14	Fe 21	Sc 28	Rh, Ru 35	Te 43	Au 49	Os 51

के साथ प्रस्तुत किया था। इसलिए तत्वों का वर्गीकरण दर्शाने वाली आवर्त्त सारणी आज भी मैंदलीफ की आवर्त्त सारणी के नाम से जानी जाती है ।

आज से सौ वर्ष पूर्व, 1869 में, मैंदलीफ ने तत्वों के वर्गीकरण के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए वैज्ञानिकों का ध्यान निम्न आठ बातों की ओर आकर्षित किया था ।

1. तत्वों को यदि उनके परमाणु भारों के अनुसार व्यवस्थित कर दिया जाए तो वे गुणों की आवर्त्तिता (पीरिआडिसिटी) दर्शाते हैं ।
2. जिन तत्वों के रासायनिक गुण समान होते हैं, उनके परमाणु भार भी या तो लगभग समान होते हैं (जैसे प्लैटिनम, इरीडियम, ऑसमियम) अथवा नियमित रूप से बढ़ते हैं (जैसे पोटैशियम, रुबिडियम, सीजियम) ।
3. परमाणु भारों के क्रम में तत्वों अथवा तत्व-समूहों की व्यवस्था उनकी तथाकथित संयोजकताओं के तथा कुछ हद तक उनके विभेदकारी (डिस्टिंक्टिव) रासायनिक गुणों के संगत होती है ।
4. अति विस्तृत रूप से विसरित तत्वों के परमाणु भार कम होते हैं।
5. जिस प्रकार अणु का परिमाण यौगिक के लक्षण के स्वरूप का निर्धारक होता है उसी प्रकार परमाणु भार का परिमाण तत्व के लक्षण व स्वरूप का निर्धारण करता है ।
6. हमें अब तक अज्ञात बहुत से तत्वों की खोज की आशा करनी चाहिए ।
7. किसी तत्व के समीपस्थ तत्वों के परमाणु भारों के ज्ञान के आधार पर भी उसके परमाणु भार में कभी संशोधन किया जा सकता है ।
8. परमाणु भारों के आधार पर कुछ तत्वों के गुणों की भविष्यवाणी की जा सकती है ।

मैंदलीफ द्वारा किया गया रासायनिक तत्वों का वर्गीकरण

	समूह I	समूह II	समूह III	समूह IV	समूह V	समूह VI	समूह VII	समूह VIII
1.	H = 1							
2.	Li = 7	Be = 94	B = 11	C = 12	N = 14	O = 16	F = 19	
3.	Na = 23	Mg = 24	Al = 27.3	Si = 28	P = 31	S = 32	Cl = 35.5	
4.	K = 39	Ca = 40	— = 44	Ti = 48	V = 51	Cr = 52	Mn = 55	Fe = 56, Co = 59 Ni = 59
5.	Cu = 63	Zn = 65	— = 68	— = 72	As = 75	Se = 78	Br = 80	
6.	Rb = 85	Sr = 87	? Yt = 88	Zr = 90	Nb = 94	Mo = 96	— = 100	Ru = 104, Rh = 104 Pd, = 106
7.	Ag = 108	Cd = 112	In = 113	Cn = 118	Sb = 123	Te = 125	I = 123	
8.	Cs = 133	Ba = 137	? Di = 138	? Ce = 140	—	—	—	—
9.	—	—	—	—	—	—	—	—
10.	—	—	?Er = 178	? La = 180	Ta = 182	W = 184	—	Os = 195, Ir = 197 Pt = 198
11.	Au = 199	Hg = 200	Te = 204	Pb = 207	Bi = 208	—	—	
12.	—	—	—	Th = 231	—	U = 240	—	—

यह सारणी मैंदलीफ ने 1871 में तैयार की थी। संख्याएं तत्वों के परमाणु भार हैं।

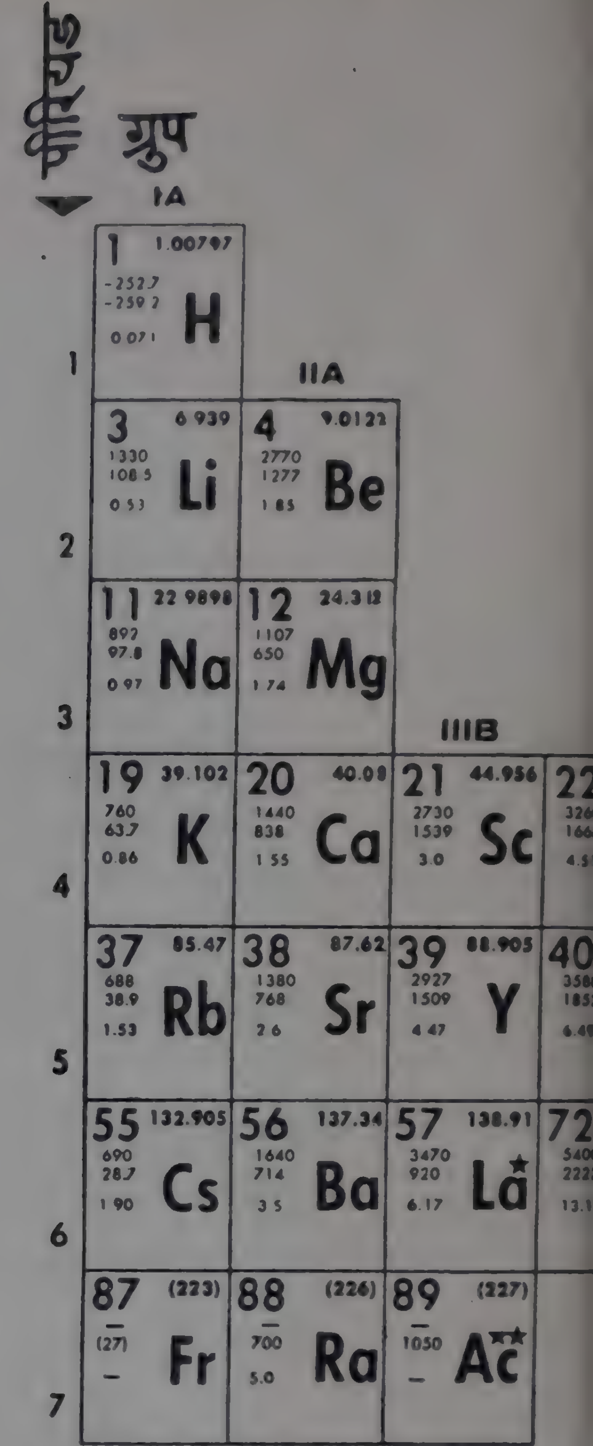
परमाणु क्रमांक	संकेत	नाम	परमाणु क्रमांक	संकेत	नाम
(01)	H	हाइड्रोजन	(53)	I	आयोडीन
(02)+	He	हीलियम	(54)+	Xe	जीनान
03	Li	लीथियम	55++	Cs	सीजियम
04	Be	बेरिलियम	56	Ba	बेरियम
(05)	B	बोरोन	57	La	लैंथेनम
(06)	C	कार्बन	58	Ce	सीरियम
(07)	N	नाइट्रोजन	59	Pr	प्रेजिओडिमियम
(08)	O	आक्सीजन	60	Nd	नियोडिमियम
(09)	F	फ्लुओरीन	61	Pm	प्रोमेथियम
(10)+	Ne	निआन	62	Sm	समेरियम
11	Na	सोडियम	63	Eu	यूरोपियम
12	Mg	मैग्नीशियम	64	Gd	गैडोलिनियम
13	Al	ऐलुमिनियम	65	Tb	टर्बियम
(14)	Si	सिलिकन	66	Dy	डिसप्रोजियम
(15)	P	फास्फोरस	67	Ho	होल्मियम
(16)	S	गंधक (सल्फर)	68	Er	अरबियम
(17)	Cl	क्लोरीन	69	Tm	थूलियम
(18)+	A	आर्गान	70	Yb	इटर्बियम
19	K	पोटैशियम	71	Lu	ल्यूटीशियम
20	Ca	कैल्सियम	72	Hf	हैफनियम
21	Sc	स्कैन्डियम	73	Ta	टैन्टेलम
22	Ti	टाईटेनियम	74	W	टंग्स्टेन
23	V	वैनेडियम	75	Re	रीनियम
24	Cr	क्रोमियम	76	Os	आसमियम
25	Mn	मैंगनीज	77	Ir	इरीडियम
26	Fe	लोहा (फैरस)	78	Pt	प्लैटिनम
27	Co	कोबाल्ट	79	Au	स्वर्ण (गोल्ड)
28	Ni	निकिल	80	Hg	पारद (मर्करी)
29	Cu	ताम्र (कापर)	81	Tl	थैलियम
30	Zn	जस्त (जिंक)	82	Pb	सीसा (लैड)
31++	Ga	गैलियम	83	Bi	बिस्मथ
32	Ge	जर्मेनियम	84	Po*	पोलोनियम
33	As	आर्सेनिक	(85)	At*	ऐस्टेटाइन
(34)	Se	सेलीनियम	(86)	Rn*	रेडान
(35)++	Br	ब्रोमीन	87	Fm*	फ्रैन्सियम
(36)++	Kr	क्रिप्टॉन	88	Ra*	रेडियम
37	Rb	रुबिडियम	89	Ac*	ऐक्टिनियम
38	Sr	स्ट्रान्शियम	90	Th*	थोरियम
39	Y	इट्रियम	91	Pa*	प्रोटेक्टिनियम
40	Zr	जर्कोनियम	92	U*	यूरेनियम
41	Nb	नायोबियम	93	Np*	नेप्ट्यूनियम
42	Mo	मोलिब्डेनम	94	Pu*	प्लूटोनियम
43	Tc	टैक्नीशियम	95	Am*	अमेरिसियम
44	Ru	रूथेनियम	96	Cm*	क्यूरियम
45	Rh	रोडियम	97	Bk*	बर्केलियम
46	Pd	पैलेडियम	98	Cf*	कैलीफोर्नियम
47	Ag	रजत (सिल्वर)	99	E*	आइंसटीनियम
48	Cd	कैडमियम	100	Fr*	फेर्मियम
49	In	इंडियम	101	Md*	मेन्डेलीवियम
50	Sn	टिन	102	No*	नोबेलियम
51	Sb	ऐंटीमनी	103	Lw*	लारेंसियम
(52)	Te	टेल्यूरियम	104	Ku*	कुरचेतोवियम

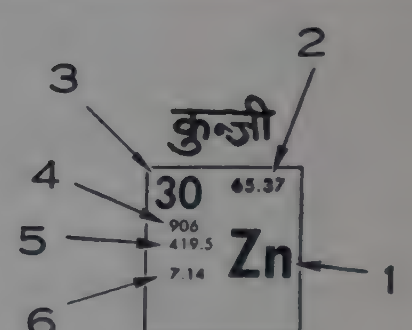
( ) अधात्विक ; + अक्रिय गैस ; ++ द्रव ; * विघटनाभिक

इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर मैंदलीफ ने तत्वों का आवर्त्ती वर्गीकरण किया और एक सारणी तैयार की। सारणी तैयार करने के लिए मैंदलीफ ने हर तत्व का नाम, परमाणु भार और उसके गुण व यौगिक अलग-अलग कार्डों पर लिखे। इन कार्डों को उसने दीवार पर पिनों की सहायता से लगाया, कभी एक तरह से, कभी दूसरी तरह से, कभी इस प्रकार, कभी उस प्रकार। अन्ततः उसने कार्डों को कुछ क्षैतिज पंक्तियों, ऊर्ध्वाधर कालमों में व्यवस्थित किया। हाइड्रोजन के अद्वितीय गुणों के कारण उसे मैंदलीफ ने एक विशेष स्थान दिया। इसके बाद उसने प्रथम पंक्ति में हाइड्रोजन के बाद के सात तत्व (लिथियम से फ्लोरीन तक) बढ़ते हुए परमाणु भारों के क्रम में रखे। दूसरी पंक्ति में उसने अगले सात तत्व (सोडियम से क्लोरीन तक) रखे। मात्र इन दो पंक्तियों में ही तत्वों के रासायनिक व्यवहार की आवर्त्तिता स्पष्ट परिलक्षित थी। प्रथम ऊर्ध्वाधर कालम में पहली दो क्षारीय धातुएं रखीं, सातवें कालम में प्रथम दो हैलोजन और अन्य कालमों में रासायनिकतः समान तत्व रखे।

जब मैंदलीफ ने तीसरी पंक्ति के लिये सात तत्व चुने तो उसने पोटैशियम को अपने उपयुक्त स्थान अर्थात लीथियम और सोडियम के नीचे रखा। इसके बाद कैल्शियम रखा जो कि ऊपर वाले दो तत्वों मैग्नीशियम और बेरिलियम के समान ही था। तीसरे कालम के लिए उस समय तक ज्ञात तत्व टाइटेनियम ही था। लेकिन मैंदलीफ जानता था कि इसके गुण कार्बन और सिलिकन से मिलते-जुलते हैं। कार्बन और सिलिकन उसने चौथे कालम में रखे थे। टाइटेनियम को उसने कार्बन और सिलिकन के नीचे रख दिया और उस तीसरे कालम में तीसरा स्थान उसने रिक्त छोड़ दिया। यह स्थान उस समय तक अज्ञात एक तत्व के लिए छोड़ दिया गया था। इसके अतिरिक्त भी मैंदलीफ ने कई रिक्त स्थान, भविष्य में खोजे जाने वाले तत्वों के लिये, छोड़े थे। उसने न केवल सारणी में इन तत्वों के लिए स्थान छोड़ा था बल्कि उन तत्वों के गुणों के विषय में भविष्यवाणी भी की थी। उसने इन अज्ञात तत्वों का नामकरण भी कर दिया था। नामकरण के लिए उसने 'एक' और 'द्वि' संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया। इन शब्दों को उसने अज्ञात तत्व के लिए निर्धारित स्थान के पास वाले किसी तत्व के नाम में उपसर्ग के रूप में प्रयोग करके अज्ञात तत्वों का नामकरण किया। इस प्रकार उसने तीन अज्ञात तत्वों के नाम क्रमशः 'एक-बोरोन,' एक-एलुमिनियम' और 'एक-सिलिकन' रखे और इन तत्वों के गुण भी बताए।

वैज्ञानिकों के सतत् अनुसंधान स्वरूप मैंदलीफ की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। 1875 में फ्रांसीसी वैज्ञानिक पॉल एमिल लेकॉक द बाइबौद्रान ने एक ऐसे तत्व की खोज की जिसके गुण मैंदलीफ के कल्पित तत्व 'एक-एलुमिनियम' जैसे थे। इस तत्व का नाम गैलियम रखा गया। इसी प्रकार 1879 में स्वीडिश रसायनज्ञ लार्स फ्रेड्रिक निलसन और 1836 में जर्मन वैज्ञानिक क्लीमेन्स अलैक्जेंडर विंकलर ने क्रमशः स्कैंडियम और जर्मेनियम की खोज की। इन दोनों तत्वों के गुण क्रमशः 'एक-बोरोन' और 'एक-सिलिकन' जैसे थे। इसमें तनिक





कुंजी :
1. तत्व संकेत
2. परमाणु भार,
3. परमाणु क्रमांक,
4. क्वथनांक,
5. गलनांक,
6. घनत्व

रासायनिक तत्वों की आधुनिक आवर्त्त सारणी

VIB	VIIB	VIII	VIII	VIII	IB	IIB	IIIA	IVA	VA	VIA	VIIA	निष्क्रिय गैसें
												2 4.0026 −268.9 −269.7 0.126 **He**
							5 10.811 — (2030) 2.34 **B**	6 12.0111 4830 3727? 2.26 **C**	7 14.0067 −195.8 −210 0.81 **N**	8 15.9994 −183 −218.8 1.14 **O**	9 18.9984 −188.2 −219.6 1.11 **F**	10 20.183 −246 −248.6 1.20 **Ne**
							13 26.9815 2450 660 2.70 **Al**	14 28.086 2680 1410 2.33 **Si**	15 30.9738 280w 44.2w 1.82w **P**	16 32.064 444.6 119.0 2.07 **S**	17 35.453 −34.7 −101.0 1.56 **Cl**	18 39.948 −185.8 −189.4 1.40 **Ar**
51.996 **Cr**	25 54.938 2150 1245 7.43 **Mn**	26 55.847 3000 1536 7.86 **Fe**	27 58.933 2900 1495 8.9 **Co**	28 58.71 2730 1453 8.9 **Ni**	29 63.54 2595 1083 8.96 **Cu**	30 65.37 906 419.5 7.14 **Zn**	31 69.72 2237 29.8 5.91 **Ga**	32 72.59 2830 937.4 5.32 **Ge**	33 74.922 613° 817 5.72 **As**	34 78.96 685 217 4.79 **Se**	35 79.909 58 −7.2 3.12 **Br**	36 83.80 −152 −157.3 2.6 **Kr**
95.94 **Mo**	43 (99) — 2200 11.5 **Tc**	44 101.07 4900 2500 12.2 **Ru**	45 102.905 4500 1966 12.4 **Rh**	46 106.4 3980 1552 12.0 **Pd**	47 107.870 2210 960.8 10.5 **Ag**	48 112.40 765 320.9 8.65 **Cd**	49 114.82 2000 156.2 7.31 **In**	50 118.69 2270 231.9 7.30 **Sn**	51 121.75 1380 630.5 6.62 **Sb**	52 127.60 989.8 449.5 6.24 **Te**	53 126.904 183 113.7 4.94 **I**	54 131.30 −108.0 −111.9 3.06 **Xe**
183.85 **W**	75 186.2 5900 3180 21.0 **Re**	76 190.2 5500 2700 22.6 **Os**	77 192.2 5300 2454 22.5 **Ir**	78 195.09 4530 1769 21.4 **Pt**	79 196.967 2970 1063 19.3 **Au**	80 200.59 357 −38.4 13.6 **Hg**	81 204.37 1457 303 11.85 **Tl**	82 207.19 1725 327.4 11.4 **Pb**	83 208.980 1560 271.3 9.8 **Bi**	84 (210) — 254 (9.2) **Po**	85 (210) — (302) — **At**	86 (222) (−61.8) (−71) — **Rn**

.907 **Pr**	60 144.24 3027 1024 7.00 **Nd**	61 (147) — (1027) — **Pm**	62 150.35 1900 1072 7.54 **Sm**	63 151.96 1439 826 5.26 **Eu**	64 157.25 3000 1312 7.89 **Gd**	65 158.924 2800 1356 8.27 **Tb**	66 162.50 2600 1407 8.54 **Dy**	67 164.930 2600 1461 8.80 **Ho**	68 167.26 2900 1497 9.05 **Er**	69 168.934 1727 1545 9.33 **Tm**	70 173.04 1427 824 6.98 **Yb**	71 174.97 3327 1652 9.84 **Lu**
(231) **Pa**	92 238.04 3818 1132 19.07 **U**	93 (237) — 637 19.5 **Np**	94 (242) 3235 640 — **Pu**	95 (243) — — 11.7 **Am**	96 (247) — — — **Cm**	97 (247) — — — **Bk**	98 (251) — — — **Cf**	99 (254) — — — **Es**	100 (253) — — — **Fm**	101 (256) — — — **Md**	102 (254) — — — **No**	103 (257) — — — **(Lw)**

भी संदेह नहीं कि मैंदलीफ द्वारा तत्वों के वर्गीकरण से तत्वों का अध्ययन-अनुसंधान काफी सुगम हो गया ।

मैंदलीफ की आवर्त्त सारणी में यद्यपि आज कुछ संशोधन किए जा चुके हैं परन्तु उसकी मूल धारणा आज भी वही है । मैंदलीफ ने तत्वों को उनके परमाणु भारों के क्रम में रखा था परन्तु आधुनिक आवर्त्त सारणी तत्वों के परमाणु क्रमांक पर आधारित है । मैंदलीफ द्वारा 1871 में तैयार की गई आवर्त्त सारणी में केवल 60-65 तत्व थे । आधुनिक सारणी में प्रकृति में पाए जाने वाले 92 तत्व हैं और 12 तत्व ऐसे हैं जिनका संश्लेषण प्रयोगशालाओं में किया गया है । इन संश्लेषित तत्वों में से सभी यूरेनियम से भारी हैं और यूरेनियमोत्तर तत्व कहलाते हैं । ये एक्टिनाइड तत्व भी कहलाते हैं ।

101 वें स्थान वाले तत्व 'मैंदलीवियम' का यह नाम मैंदलीफ के सम्मान में ही रखा गया है। इन 12 यूरेनियमोत्तर तत्वों में से 9 का संश्लेषण टी. सीबर्ग और उनके सहकर्मियों ने किया । डा. टी. सीबर्ग आजकल संयुक्त राज्य परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष हैं । वे मैंदलीफ की आवर्त्त सारणी की सहायता से ही इन तत्वों का संश्लेषण करने में सफल हुए ।

मैंदलीफ की आवर्त्त सारणी की सौवीं जयन्ती के अवसर पर तत्वों के आवर्त्त नियम के प्रतिपादक के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए डा. सीबर्ग ने कहा कि 'तत्वों की आवर्त्त सारणी की सौवीं जयन्ती के अवसर पर इससे बढ़कर और कुछ नहीं हो सकता कि इस सारणी को बढ़ाने के लिए एक और नए तत्व की खोज हो ।' सैद्धान्तिक गणनाओं से यह

पहले ही पता लग चुका है कि संभवतः प्रकृति में ही यूरेनियम से काफी भारी एक दो स्थायी तत्व पाये जा सकते हैं। इन तत्वों के काल्पनिक नाम 'एक-प्लेटिनम' (परमाणु क्रमांक 110) और 'एक-लेड' (परमाणु क्रमांक 114) आदि हैं। इन दोनों तत्वों की खोज के लिए तथा कृत्रिम तत्व (परमाणु क्रमांक 105) के संश्लेषण हेतु अमेरिका और रूस की नाभिकीय रसायन प्रयोगशालाओं के वैज्ञानिक अनुसंधानरत हैं।

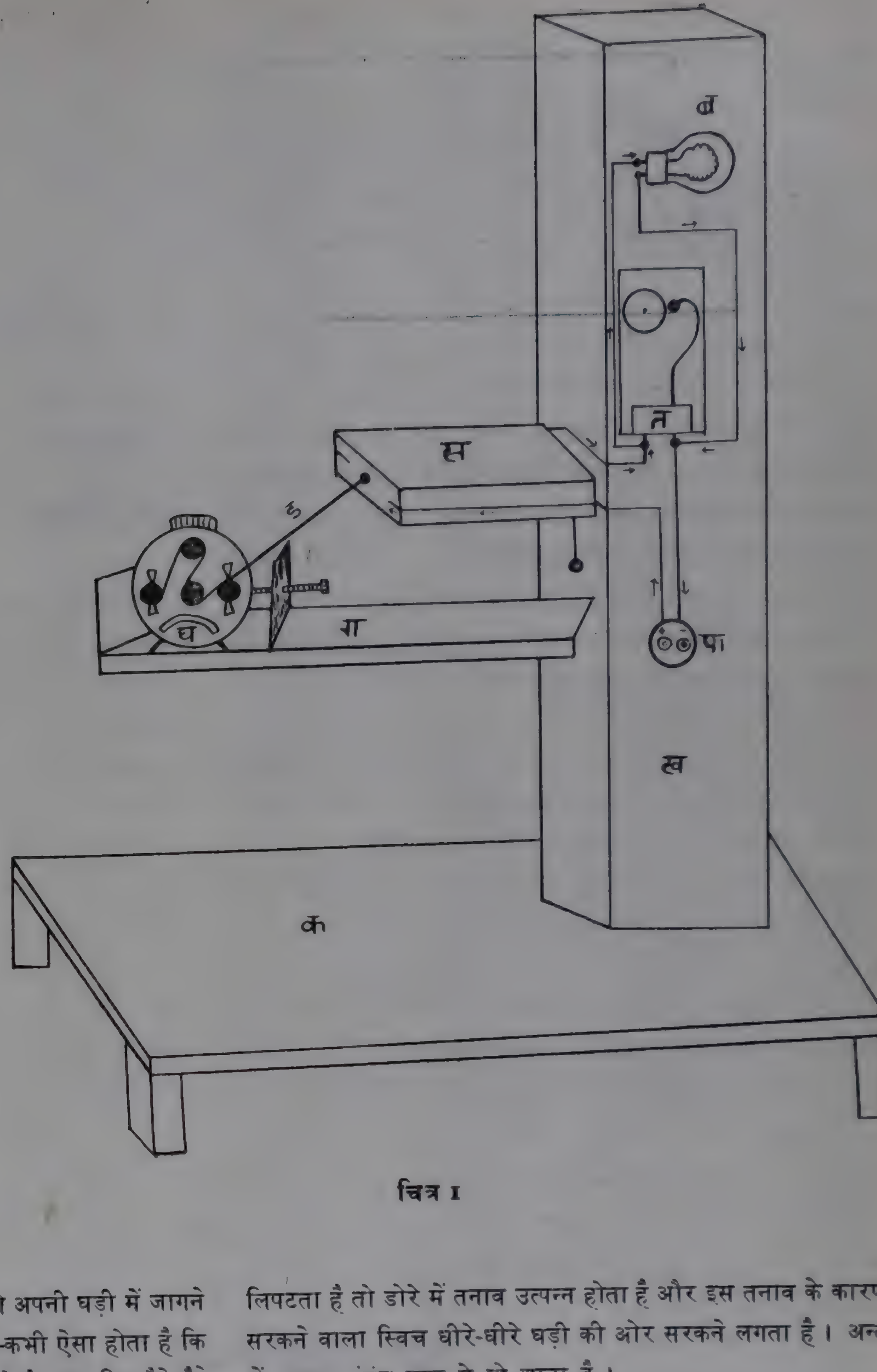
आधुनिक आवर्त्त सारणी में लैंथेनम (परमाणु क्रमांक 57) से ल्यूटोशियम (परमाणु क्रमांक 71) तक 15 लैंथेनाइड श्रेणी के संक्रमण (ट्रांजिशन) तत्वों सहित 92 प्राकृत रूप में पाये जाने वाले तत्व हैं तथा 17 तत्व एक्टिनाइड श्रेणी के हैं। एक्टिनाइड श्रेणी के तत्व हैं नेप्ट्यूनियम (93), प्लूटोनियम (94), अमेरिसियम (95), क्यूरियम (96), बर्केलियम (97), कैलिफोर्नियम (98), आइंस्टीनियम (99), फेमियम (100), मैंदलीवियम (101), नोबेलियम (102), लारेंसियम (103), कुर्चेतोवियम (104), तथा पांच तत्व (परमाणु क्रमांक 105 से 109 तक) वे, जिनकी अभी खोज होनी शेष है। इसके अतिरिक्त 9 अतिभारी व स्थायी तत्वों (110 से 118 तक परमाणु क्रमांक) की एक श्रेणी और भी सम्भव है।

आवर्त्त सारणी के जन्मदाता मैंदलीफ का जन्म 7 फरवरी 1834 को साइबेरिया में तोब्रोल्स्क नामक स्थान पर हुआ था। मैंदलीफ की प्रारम्भिक शिक्षा एक स्थानीय स्कूल में हुई और सेंट पीतर्सबर्ग से उन्होंने रसायन शास्त्र की स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इसके बाद मैंदलीफ ने विदेश जाकर एच. वी. रेनो और आर. डब्ल्यू. बुनसन के साथ कार्य किया। 1863 में वह सेंटपीतर्सबर्ग टैक्नोलाजिकल इंस्टीट्यूट में प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1893 से मृत्यु पर्यन्त (2 फरवरी 1907 तक) वह माप और तोल के ब्यूरो के निदेशक रहे।

तत्वों की आवर्त्त सारणी तैयार करने के अतिरिक्त मैंदलीफ ने विलयनों की प्रकृति का भी अध्ययन किया। ताप के साथ द्रवों में फैलने का अध्ययन करके मैंदलीफ ने ताप के साथ द्रवों का फैलाव ज्ञात करने के लिए सूत्र का प्रतिपादन किया। मैंदलीफ ही प्रथम वैज्ञानिक थे जिन्होंने गैसों के क्रान्तिक ताप की संकल्पना 1861 में प्रस्तुत की थी व उसके महत्व पर प्रकाश डाला था। मैंदलीफ द्वारा प्रस्तुत संकल्पना का ही विकास बाद में 1869 में टी. एन्ड्रूज ने किया। मैंदलीफ ने पैट्रोलियम की प्रकृति और उसके उद्भव का भी अध्ययन किया। 1882 में मैंदलीफ को लोथर मेयर के साथ संयुक्त रूप से 'डेवी पदक' प्रदान किया गया और 1905 में इंग्लैंड की रायल सोसाइटी ने 'कापले पदक' से सम्मानित किया। ये दोनों पदक इन्हें तत्वों के आवर्त्त नियम का प्रतिपादन करने के लिये मिले थे। मैंदलीफ ने रसायन शास्त्र की एक पुस्तक **'द प्रिंसिपिल्स आफ केमिस्ट्री'** 1870 में लिखी जिसके अनेक संस्करण मुद्रित हुए तथा जिसे अनेक भाषाओं में अनूदित किया गया। ●

जगाने वाला यंत्र

अर्जुन सिंह



चित्र 1

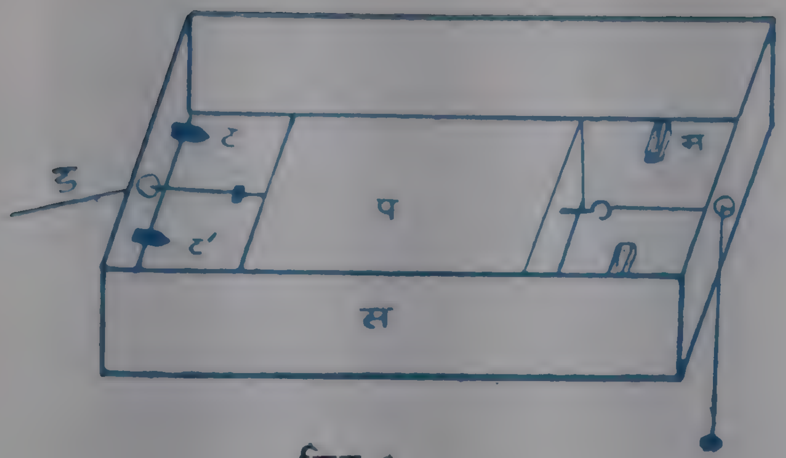
जब कभी आप प्रातः जल्दी उठना चाहते हैं तो अपनी घड़ी में जागने के लिए ऐलार्म लगा देते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐलार्म बज जाता है और आप सोते ही रह जाते हैं। एक दिन बैठे-बैठे 'लेखक' को विचार आया कि क्या ऐलार्म की चाभी का ऐसा उपयोग हो सकता है कि कोई जब चाहे जाग सके ? अन्ततः लेखक अपने इस प्रयास में सफल भी हुआ और एक जगाने वाले यंत्र का आविष्कार हुआ।

सिद्धान्त

जब घड़ी का ऐलार्म बजता है तो उसके साथ-साथ ऐलार्म की चाभी भी घड़ी की दिशा में घूमती है। यदि इसकी चाभी में एक डोरा बांध दिया जाय तो वह ऐलार्म की चाभी से लिपटता जाता है। इसी घटना का इस यंत्र में उपयोग किया गया। इस डोरे के दूसरे छोर को एक सरकने वाले स्विच से बांध दिया जाता है। जब डोरा ऐलार्म की चाभी से लिपटता है तो डोरे में तनाव उत्पन्न होता है और इस तनाव के कारण सरकने वाला स्विच धीरे-धीरे घड़ी की ओर सरकने लगता है। अन्त में उसका संबंध प्लग से हो जाता है।

बनावट

इस यंत्र (चित्र 1) में 30 से.मी. और 15 से.मी. चौड़ा एक पटरा (क) होता है। इसके ऊपर एक अन्य उपस्तम्भ (ख) ऊर्ध्वाधर लगा होता है जोकि लकड़ी का बना होता है। यह ऊर्ध्वाधर स्तम्भ 30 से.मी. ऊंचा, 15 से.मी. चौड़ा और 2.5 से.मी. मोटा होता है। इस पर क्षैतिज दिशा में एक स्तम्भ (ग) लगा होता है जोकि 15 से.मी. लम्बा और 12 से.मी. चौड़ा होता है। इस क्षैतिज स्तम्भ पर ऐलार्म घड़ी रखी रहती है और इस स्तम्भ के ठीक ऊपर 15 से. मी. की दूरी पर एक सरकने वाला स्विच (स) ऊर्ध्वाधर स्तम्भ में लगा होता



चित्र 2



चित्र 3

है। यह भी लकड़ी का बना होता है। यह 10 से.मी. लम्बा और 5 से.मी. चौड़ा होता है। इसके अन्दर (चित्र 2) के अनुसार एक खांचा बना होता है जिसके अन्दर यह लकड़ी का बना हुआ गुटका (प) आसानी से फिसल सकता है। इस गुटके के एक सिरे पर कील लगी होती है जिससे डोरा (ड) बंधा होता है। यह सिरा घड़ी की तरफ होता है। इस सिरे पर तांबे की एक पतली चादर (न) (चित्र 3) लगी होती है। इस गुटके के दूसरे सिरे पर एक और डोरा बंधा होता है जिसके द्वारा गुटके को दूसरी ओर खींचा जा सकता है। सरकने वाले स्विच के बाहरी खोल के एक ओर छोटे किनारे के ठीक मध्य में एक गोल छेद होता है जिसमें से होता हुआ गुटके से बंधा हुआ डोरा (ड) घड़ी की ऐलार्म चाभी में बंधा रहता है। इस सिरे पर दो विद्युत के टर्मिनल (ट,ट) लगे होते हैं जिन से बिजली के तार बाहर निकले रहते हैं। इसमें एक सिरा सीधा ऊर्ध्वाधर स्तम्भ में नीचे की ओर लगे हुए प्लग (फ) में चला जाता है और दूसरा सिरा विद्युत की घंटी से होता हुआ प्लग (फ) में चला जाता है। विद्युत की घंटी (त) से समानान्तर क्रम में एक बिजली का बल्ब (ब) जोड़ दिया जाता है। सरकने वाले स्विच के खोल के खांचे में दो रोक (म) (चित्र 3) लगे रहते हैं जोकि गुटके को और पीछे जाने से रोकते हैं।

कार्य विधि

ऐलार्म घड़ी में उस समय का ऐलार्म लगा दिया जाता है जिस समय हमें जागना होता है। सरकने वाले स्विच के डोरे (ड) को ऐलार्म घड़ी की ऐलार्म चाभी से बांध देते हैं। प्लग (फ) को कमरे में लगे हुए विद्युत के प्लग से जोड़कर विद्युत धारा प्रवाहित कर देते हैं। जब ऐलार्म उस लगाये हुए निश्चित समय पर बजता है तो ऐलार्म की चाभी घूमने लगती है जिससे डोरा (ड) उस पर लिपटने लगता है और सरकने वाला स्विच का गुटका धीरे-धीरे टर्मिनल (ट,ट) की ओर सरकने लगता है और अन्त में गुटके पर लगी तांबे की प्लेट दोनों टर्मिनलों को आपस में जोड़ देती है और इस तरह विद्युत चक्र पूरा हो जाता है। विद्युत चक्र के पूरा होते ही घंटी बजने लगती है और बल्ब भी जल जाता है। सोने वाला कितनी भी गहरी नींद में क्यों न हो, उसी समय उठ जाता है। विद्युत घंटी तब तक बजती रहती है जब तक सोने वाला उठ कर उसको बन्द न कर दे।

• • •

सूर्य प्रकाश का प्रकोप : सूर्य दाह

(शेषांश पृष्ठ 362 का)

धूप के कुप्रभावों को देख कर यह न सोचिये कि आप धूप में निकलेंगे ही नहीं। ज्ञातव्य है कि सौर विकिरणों के कुप्रभावों की तुलना में उससे होने वाले लाभ कहीं अधिक हैं।

सूर्य के प्रकाश से हमारे शरीर में विटैमिन-डी का निर्माण होता है। यह विटैमिन हमारे शरीर में कैल्शियम को शोषित करने और उसके चयापचय में सहायता करता है। इस विटैमिन की कमी होने पर बालकों में 'रिकेट,' जो एक प्रकार का अस्थि रोग है, हो जाता है। सूर्य के प्रकाश का सेवन करने से और कुछ मात्रा में विटैमिन-डी खाने से इस रोग से मुक्ति पाई जा सकती है।

बहुत से शीत-रुधिर जीवों में सूर्य के प्रकाश के ताप से उनके शरीर का तापमान निर्धारित होता है; ऊष्ण-रुधिर जीवों के शरीर में चल रही अनेक जीव-रासायनिक क्रियाओं में सूर्य का प्रकाश सहायता करता है; कुछ जीवों के शरीर की त्वचा को, जिनके ऊपर बाल नहीं होते, सूर्य का प्रकाश शुष्क रखता है जिससे उनकी त्वचा बहुत से हानिकारक बैक्टीरिया और फफूंद का शिकार होने से बच जाती है। स्वस्थ रहने के लिये सूर्य का प्रकाश अनिवार्य रूप से आवश्यक है।



हृदयरोग में उपयोगी काला चना

रुधिर में उपस्थित कोलेस्ट्राल का हृदय-रोग उत्पन्न करने में बड़ा हाथ होता है। कोलेस्ट्राल यदि रुधिर में वांछित मात्रा से अधिक हो जाता है तो यह हृदय और अन्य धमनियों की भित्तियों पर जम जाता है। इससे प्रवाह के लिये धमनी रूपी नलिकाओं का भीतरी व्यास कम हो जाता है जिससे हृदय की तथा अन्य धमनियां कठोर हो जाती हैं। इससे एक तो रुधिर के प्रवाह में बाधा पड़ती है और रक्तचाप बढ़ जाता है; दूसरे, अंततः दिल का दौरा पड़ने लगता है। अतः यदि वैज्ञानिक संसार में दिन-प्रति-दिन बढ़ने वाले हृदय-रोगों का उन्मूलन करना चाहते हैं तो उन्हें रुधिर में उपस्थित कोलेस्ट्राल पर नियंत्रण करने के लिये कोई रसायन आदि ढूंढ़ निकालना होगा। एस. एन. मेडिकल कालिज, आगरा ने हाल ही में इंडियन जर्नल आफ मेडिकल रिसर्च के एक अंक में यह सूचना दी है कि काले चने से प्राप्त लाइपिड निसार में कोलेस्ट्राल को कम करने का गुण विद्यमान है। उनका तो कहना है कि काले चने में कोलेस्ट्राल कम करने की क्षमता सरसों और मूंगफली के तेलों से भी अधिक है।

आग बुझाने की नई विधि

आग बुझाने के प्रचलित 'शामक' आग को दो प्रकार से बुझाते हैं। या तो वे ज्वाला को ठंडा कर देते हैं या फिर उनके लिये हवा बन्द कर देते हैं जिससे आक्सीजन के अभाव में ज्वाला बुझ जाती है। अब अग्निशमन के लिए एक नई विधि सामने आई है जिसमें अग्नि फैलाने वाले मुक्त मूलकों (फ्री रेडिकल्स) से रासायनिक प्रतिक्रिया कराके उन्हें शांत कर दिया जाता है। दु पोंत नामक कम्पनी ने इस विधि पर आधारित एक गैस विकसित की है जिसका नाम एफ-ई 1301 रखा गया है। यह गैस चन्द सेकंडों में आग को बुझा देती है।

इस विधि पर आधारित एक अग्निशामक कैम्ब्रिज, संयुक्त राज्य अमेरिका, स्थित इलैक्ट्रान केन्द्र में लगाया गया है। इस केन्द्र में दो कम्प्यूटर हैं जो उच्च-ऊर्जा भौतिकी से संबंधित विवरणों के विश्लेषण के लिये काम में लाए जाते हैं। इन कम्प्यूटरों को आग से बचाने के लिये वहां 6 सूचक लगाए गए हैं जो ज्वाला, धुएं और गर्मी की संवेदना पाते ही उनकी उपस्थिति की सूचना देते हैं। प्रत्येक सूचक इतना संवेदनशील है कि 6 फुट की दूरी पर स्थित किसी भी तीन इंच की ज्वाला की तत्काल सूचना देता है। इससे सिगरेट और दियासलाई जलाने पर अकारण ही यह युक्ति चेतावनी नहीं देती।

कुछ महीने पहले इस पद्धति का प्रदर्शन किया गया था। अवरक्त प्रकाश लैम्प को अग्नि का प्रतीक बनाया गया और कम्प्यूटरों के चारों ओर रखी गई मोम बत्तियों को ज्वालाओं का प्रतीक। इससे तत्काल ही अग्निशामक तंत्र सजग हो उठा और जैसे ही दस टोंटियों ने कमरे में एफ-ई 1301 छोड़ना शुरू किया गैस का सीत्कार सुनाई दिया। पन्द्रह सेकंड बाद मोम बत्तियों ने बुझना शुरू किया और तीस सेकंड में ही कमरे में 200 पौंड गैस छोड़ी जा चुकी थी जोकि कमरे के आयतन का 5 प्र. श. था। यह तंत्र कितना कारगर है यह इस बात से प्रकट होता था कि गैस के विसर्जित हो जाने पर वहां दियासलाई और सिगरेट-लाइटर भी नहीं जल पा रहे थे।

एफ-ई 1301 की एक विशेषता यह है कि प्रभावी अग्निशमन के लिये अपेक्षाकृत इसकी हल्की सांद्रता की जरूरत होती है क्योंकि किसी भी आग को बुझाने के लिए 2.5 प्रतिशत सांद्रता ही पर्याप्त रहती है। एक और विशेषता यह है कि यह गैस विषैली नहीं है जिससे इसके उपयोग के समय कर्मियों को कमरे से बाहर जाने की जरूरत नहीं होती।

हैजा वृद्धि पर

विश्व स्वास्थ्य संगठन के हाल ही में प्रकाशित एक प्रतिवेदन के अनुसार विश्व में हैजे के केसों में अभिवृद्धि हो रही है। भारत में ही सन् 1967 और 1968 के दौरान इससे पीड़ित होने वालों की संख्या 12,225 से बढ़कर 18,076 हो गई।

भारत में परम्परागत प्रकार का हैजा आम तौर पर गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में फैला करता है किन्तु पिछले दो दशकों में उस प्रकार के हैजे के मामले दिनोंदिन कम होते जा रहे हैं; दूसरे, हैजे ने अपनी आखेट-भूमि भी बदल ली है। अब इसका प्रकोप पश्चिम बंगाल की अपेक्षा तमिलनाडु में अधिक होता है।

विश्व भर के सभी हैजा पीड़ित क्षेत्रों के जिन केसों का जीवाणु-वैज्ञानिक अध्ययन किया जा चुका है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय मूल के हैजा-कीटाणुओं का स्थान अब **एल-टॉर समयुग्मी** (बायोटाइप) ले चुके हैं। एल-टॉर बायोटाइप सन् 1937 में पहले इंडोनेशिया के सेलेबस द्वीप में प्रकट हुआ था। फिर सन् 1961 में अचानक यह इंडोनेशिया के ही अन्य निकटवर्ती द्वीपों में फैला दिखलाई दिया और वहां से इसने विश्व के अन्य भागों में फैलना प्रारम्भ कर दिया।

सभी प्रकार का धूम्रपान हानिप्रद

फेफड़ों के कैंसर के भय से जिन सिगरेट प्रेमियों ने पाईप अथवा सिगार पीना शुरू किया था, उनके लिए एक और बुरी खबर है। वाशिंगटन के दो डाक्टरों का कहना है कि धूम्रपान से गुर्दे (वृक्क) के ग्रंथि-कैंसर (ऐडिनो-कार्सिनोमा) हो जाने की सम्भावना बारह गुनी बढ़ जाती है और धूम्रपान के विभिन्न रूपों में इसके लिये सिगरेट की अपेक्षा पाईप व सिगार पीना सर्वाधिक खतरनाक है।

डा. जेम्स बेनिंग्टन और डा. फ्रेडेरिक लौबशेर नामक डाक्टरों ने अपने अध्ययन का विवरण देते हुए लिखा है कि उन्होंने गुर्दे के ग्रंथि-कैंसर से पीड़ित 100 रोगियों के धूम्रपान संबंधी तौर-तरीकों की तुलना 190 समतुल्य नियंत्रित व्यक्तियों (मैच्ड कंट्रोल्स) के साथ की। जिन व्यक्तियों का अध्ययन किया गया वे सभी सन 1951 और 1966 के बीच वाशिंगटन विश्वविद्यालय से संबद्ध अस्पतालों के रोगी थे। 88 पुरुष रोगियों में से 82 प्रतिशत या तो धूम्रपान करने वाले थे या तम्बाकू चबाने वाले थे जबकि 170 में से 127 नियंत्रित पुरुष तम्बाकू 'इस्तेमाल' करते थे। गुर्दे के कैंसर से पीड़ित 12 महिलाओं में से 8 (अर्थात 66 प्र.श.) धूम्रपान करती थीं जबकि नियंत्रित महिलाओं में 20 में से 10 (अर्थात 50 प्र.श.) ही धूम्रपान करने वाली थीं। कुल पुरुष रोगियों की दृष्टि से इन आंकड़ों का बहुत महत्व है यद्यपि अध्ययनगत महिलाओं की संख्या कम होने के कारण सांख्यिकी की दृष्टि से उनके बारे में ये निष्कर्ष उतने प्रामाणिक नहीं समझे जा सकते।

अध्ययन-अधीन व्यक्तियों की धूम्रपान संबंधी आदतों के विस्तृत विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि जिस धूम्रपान में धुआं सांस द्वारा अन्दर लिया जाता है उसमें गुर्दे के ग्रंथि-कैंसर होने का खतरा कम होता है जबकि धूम्रपान के अन्य प्रकारों में यह खतरा अपेक्षतया अधिक होता है। अतः बैनिंग्टन और लौबशेर की गणना के अनुसार सिगरेट न पीने वालों की अपेक्षा एक दिन में दस से अधिक सिगरेट पीने वालों के गुर्दे का ग्रंथि-कैंसर होने का खतरा 5.1 गुना अधिक होता है। लेकिन पाईप पीने वालों में इस रोग के हो जाने का खतरा बढ़कर 10.3 प्रतिशत हो जाता है और सिगार पीने वालों को 12.9 गुना अधिक। इस रोग के होने की सम्भावना तम्बाकू चबाने वालों को सबसे कम रहती है क्योंकि उनमें यह मात्रा 4.8 गुना ही अधिक होती है।

इससे पूर्व के अध्ययनों में यह पाया गया था कि सिगार पीने वालों को––विशेषतया उन लोगों को जोकि सिगार को साथ-साथ चबाते भी जाते हैं, मूत्राशय के कार्सिनोमा (अर्थात कैंसर) होने की सम्भावना अधिक रहती है। बैनिंग्टन और लौबशेर का विचार है कि तम्बाकू के धुएं से युक्त द्रव (कंडेन्सेट) में मौजूद कुछ विशिष्ट कैंसरजनक पदार्थ संभवतया फेफड़ों की अपेक्षा आंतों व ग्रासनली में सरलता से अवशोषित हो जाते हैं और सिगरेट पीने वालों की तुलना में पाईप व सिगार पीने वाले निश्चय ही इन हानिकर पदार्थों की अधिक मात्रा का सेवन करते हैं। यह देखा गया है कि तम्बाकू के धुएं का डाइमिथाइल नाइट्रोसैमीन नामक यौगिक चूहों को खिलाए जाने पर उन्हें ग्रंथि-कैंसर हो जाता है। तम्बाकू चबाने वालों को गुर्दे का कैंसर होने की सम्भावना कम होती है क्योंकि कुछ विशिष्ट कैंसरजनक पदार्थ तम्बाकू के जलने पर ही उपलब्ध होते हैं।

लकड़ी के बुरादे से भोज्य शर्करा

संसार की आबादी का एक अच्छा-खासा वर्ग ऐसा है जिसे सम्यक रूप से पोषक आहार उपलब्ध नहीं हो पाता। वैसे पिछले कुछ वर्षों से वैज्ञानिक इस समस्या को सुलझाने की दिशा में सचेष्ट हैं किन्तु उन्होंने अभी तक केवल प्रोटीन की अल्पता को पूरा करने की ओर ध्यान दिया है और कृत्रिम प्रोटीन बनाने की विविध विधियां विकसित करने के यत्न किये हैं। उन्होंने आहार में पाई जाने वाली कैलोरी-अल्पता को दूर करने की दिशा में अनुसंधान कार्य नहीं किया है, यद्यपि असंख्य लोगों के आहार को देखने पर यह भी एक महत्वपूर्ण समस्या प्रतीत होती है।

इस असंतुलन को दूर करने के विचार से संयुक्त राज्य अमेरिका के लुइजियाना स्टेट यूनिवर्सिटी के दो वैज्ञानिकों, डा. फैनी एच. डी. पाडिला और डा. फ्रेड एच. होजकिंस ने कुछ अनुसंधान कार्य किया है जिसमें उन्होंने लकड़ी के बुरादे से बड़े पैमाने पर ऐसी शर्करा बनाने की कोशिश की है जिसका कि शरीर में चयापचय हो सके।

लकड़ी के बुरादे का एक मुख्य रचक सेलूलोज होता है। यह एक प्रकार का पॉली-सैकराइड है जोकि ग्लूकोज उप-इकाइयों से बनता है। लेकिन मानव न तो सेलूलोज का चयापचय कर सकते हैं और न ग्लूकोज को छोड़ इसके किसी अन्य उत्पाद का। अतः बुरादे का खाद्य-स्रोत के रूप में इस्तेमाल करने से पहले, इसमें मौजूद सेलूलोज का पूरी तरह से जल-अपघटन किया जाना होगा जिससे कि उसमें से ग्लूकोज मुक्त हो जाय।

जल-अपघटन (हाइड्रोलिसिस) की विभिन्न विधियों का परीक्षण करने पर यह ज्ञात हुआ कि एसिड विधि से सेलूलोज को सबसे अधिक प्रभावी ढंग से तोड़ा जा सकता है। इस रासायनिक प्रक्रिया में पॉलीसैक-राइड श्रृंखला पर प्रहार किये गए। प्रक्रिया के फलस्वरूप बने उत्पादों में स्वयं ग्लूकोज के अतिरिक्त इसके द्विलक (डाइमर), त्रिलक (ट्राइमर) व विभिन्न छोटे बहुलक (पॉली-मर) भी पाए गये। अतः यह भोज्य शर्करा बनाने के उपयुक्त नहीं है।

इसके पश्चात् सेलूलोज को लाईज करने के लिये अल्कली का उपयोग किया गया। किन्तु इस विधि को भी त्यागना पड़ा क्योंकि इसके फलस्वरूप बने उत्पाद में ग्लूकोज की मात्रा बहुत थोड़ी थी। इसके उपरान्त एन्जाइम विधि का प्रयोग किया गया। सेलूलिटिक एन्जाइम के इस्तेमाल से यद्यपि ग्लूकोज ही प्राप्त हुआ तो भी इसकी मात्रा इतनी कम थी कि वाणिज्यिक स्तर पर यह विधि लाभकर नहीं हो सकती थी।

अन्ततः जो विधि अपनाई गई उसमें विभिन्न अवस्थानों में विभिन्न विधियों का उपयोग किया जाता है, पहले एसिड जल-अपघटन किया जाता है, बाद में एन्जाइम उपचार। इससे भार के अनुपात से अन्ततः 10.8 प्र. श. विशुद्ध ग्लूकोज प्राप्त होता है। इस विधि से शर्करा बनाने में काम आने वाली मुख्य वस्तुएं--गंधकाम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड), विभिन्न सेलूलिटिक एन्जाइम और लकड़ी का बुरादा--बहुत मंहगी भी नहीं हैं। यद्यपि अन्ततः प्राप्त होने वाले विशुद्ध ग्लूकोज का अनुपात भी वाणिज्यिक दृष्टि से कोई विशेष लाभकर नहीं है तो भी पौष्टिक आहार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए यह विधि अधिक मंहगी भी नहीं है।

दमे व हृद्रोग का पूर्वज्ञान संभव

जिन लोगों को दिल के दौरे पड़ने वाले होते हैं उन्हें हृदय शूल की पहली अनुभूति आमतौर पर उस समय होती है जबकि वे अपने गर्म कमरे में से निकलकर बाहर कड़कड़ाती ठंड में आते हैं। ठंडे देशों के लोगों पर तो यह बात बहुत हद तक लागू है। इस प्रकार की प्रक्रिया का एक बहुमान्य कारण यह समझा जाता है कि जब बहुत ठंडी हवा मुंह को और विशेषतया होठों को लगती है तो एक प्रकार का तंत्रिका प्रतिवर्त्त (नर्वस रिफ्लेक्स) गतिशील हो उठता है जिससे हृदय को रक्त पहुंचाने वाली वाहिकाओं में संकीर्णन हो जाता है।

कनाडा की राष्ट्रीय अनुसंधान परिषद के हृद्-फुफ्फुस एकक के डा. जी. एम. फिट्ज-गिब्बन आजकल उपरोक्त प्रक्रिया का अध्ययन कर रहे हैं। इसके आधार पर वह यह मालूम करने का यत्न कर रहे हैं कि इस के उपयोग से संभावित हृदय रोगों का क्या पहले से ही पता लगाया जा सकता है? द्रव कार्बन-डाइ-आक्साइड से वायु को ठंडा कर उसे रोगी के मुंह पर छोड़ा जाता है और उससे सांस लेने को कहा जाता है। फिर रोगी से यह पूछा जाता है कि उसे पीड़ा का अनुभव हुआ अथवा नहीं। यद्यपि ये प्रयोग अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं तो भी यह पाया गया है कि दमे के रोगियों पर इसकी अनुकूल प्रतिक्रिया होती है। (संलग्न चित्र में एक व्यक्ति पर ऐसा ही परीक्षण होते दिखलाया गया है।)

पांच मिनट तक बहुत ठंडी हवा में लगातार सांस लेने से फेफड़े के छोटे वायुपथों में संकीर्णनकारी आकर्ष (ऐंठन) पैदा हो जाता है जिससे कि बाद में कुछ समय तक ऐसे लोगों को श्वास लेने में कठिनाई अनुभव होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जोकि वैसे तो स्वस्थ दिखलाई पड़ते हैं लेकिन जो उपरोक्त एक या दोनों व्याधियों से पीड़ित होते हैं। प्रश्न यह है कि क्या इस सरल परीक्षण से ऐसे लोगों में उन रोगों के होने की अग्रिम जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उद्योगों की प्रबन्ध-व्यवस्था में लगे हुए अधिकारियों के संबंध में तो सही या गलत, यह समझा जाता है कि उन्हें हृदयरोग होने की सम्भावना अधिक होती है। अतः इस दृष्टि से तो यह प्रश्न महत्वपूर्ण है ही, साथ ही दमे की अग्रिम सूचना पाने में भी यह उपयोगी रह सकता है। ठंडे देशों में दमा पीड़ितों की संख्या विशेष रूप से बहुत अधिक होती है। अकेले ब्रिटेन में प्रतिवर्ष तीस लाख श्रम-दिवस दमे के कारण व्यर्थ जाते हैं।



दमे व हृद्रोग की पूर्व-सूचना देने वाले यंत्र द्वारा एक व्यक्ति का परीक्षण किया जा रहा है।

मिनी-मोटरसाइकल

कील, पश्चिमी जर्मनी के एक निर्माता ने एक ऐसी लघु मोटर साइकल तैयार की है जिसका वजन कुल 27 किलोग्राम है और यात्री लोग इसे फोल्ड करके थेलों में बंद कर सकते हैं और आसानी से यात्रा पर अपने साथ ले जा सकते हैं।

इस यांत्रिक बौने का विकास डब्लू. ई. पोप एण्ड सोन, केजी, नामक कंपनी ने किया है। इसके पहिये और फ्रेम उच्च कोटि की एल्यूमिनियम मिश्रधातु के बने हैं। कम्पनी ने बिक्री के लिये अभी इसके तीन मॉडल पेश किये हैं: 0.7, 1.3 और 1.5 अश्व शक्ति वाले। इनकी अधिकतम गति क्रमशः 24.5, 30 और 35 कि.मी. प्रति घंटा है। इनके इंजन बहुत कम जगह घेरते हैं। उनका आयतन 50 घन से.मी. से कम है।

साहित्य परिचय

जर्नल आफ दि इंस्टिट्यूशन आफ इंजीनियर्स (इंडिया)

हिन्दी विभाग; जिल्द 49; अंक 22; दिसम्बर 1968; कार्यवाहक मंत्री और सम्पादक : डी. के. घोष; प्रकाशक : दि इंस्टिट्यूशन, 8 गोखले रोड, कलकत्ता; सचित्र; पृष्ठ संख्या 51; मूल्य 2.50 पैसे ।

पत्रिका के हिन्दी खंड का प्रकाशन श्री नरहरि सदाशिव जोशी, एम. आई. ई. के सम्पादकत्व में इंस्टिट्यूशन के त्रैमासिक अंग्रेजी जर्नल के एक खंड के रूप में सितम्बर 1949 में आरम्भ हुआ था । सन् 1961 में इंस्टिट्यूशन की कौंसिल ने अपनी प्रकाशन नीति बदली और हिन्दी विभाग द्वारा एक पृथक पत्रिका के रूप में वर्ष में तीन बार, अप्रेल, अगस्त और दिसम्बर में प्रकाशित होने लगी । 1968 में इसका प्रकाशन अंतरराष्ट्रीय आकार में आरम्भ हुआ है ।

पत्रिका में इंजीनियर्स की सिविल, विद्युत, यांत्रिक, जनस्वास्थ्य, इंजीनियरी, इलैक्ट्रानिक, रासायनिक और सामान्य इंजीनियरी आदि, सभी शाखाओं के संबंध में सामग्री प्रकाशित होती रहती है ।

प्रस्तुत अंक में इंजीनियरी की भिन्न शाखाओं पर 10 लेख समाविष्ट किये गये हैं । ये सभी लेख दैनिक जीवन में आने वाली समस्याओं से संबंधित होने के कारण साधारण पाठक के लिये उपयोगी हैं। सभी विषयों का स्वरूप तकनीकी होने के कारण लेखों की भाषा कुछ कठिन होना स्वाभाविक ही है परन्तु ऐसे पाठक जिन्हें हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान है तथा संबंधित विषय का प्राथमिक ज्ञान हो लेखों के पठन में रुचि ले पायेंगे इसमें कोई संदेह नहीं ।

डा. विश्वम्भर प्रसाद का 'आवासीय वास्तुकला के मौलिक सिद्धान्त' तथा डा. सुरेशचन्द्र महेश्वरी का 'सांकेतिक तर्क', बूल का 'बीजगणित तथा अंकीय संगणक' लेख विशेष उल्लेखनीय हैं । पहला लेख साधारण पाठकों को आवासीय मकानों के निर्माण के मूल सिद्धान्तों से अवगत कराता है । दूसरे लेख में आधुनिक बीजगणित तथा संगणक (कम्प्यूटर) में प्रयोग किये जाने वाले अंक-गणित का पाठकों से परिचय कराने का सफल प्रयास है ।

पत्रिका में चित्रों की संख्या पर्याप्त होने के कारण विषय काफी सुगम हो गये हैं । इंजीनियरी जैसे जटिल विषय पर हिन्दी में विविध प्रकार का साहित्य प्रकाशित करके हिन्दी भाषा की क्षमता का परिचय देने में संस्था ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है ।

पत्रिका का मुद्रण तथा ले-आउट काफी अच्छा है ।

—ग. ए. सल्पेकर

आकाश गंगा के 150 अरब तारे

गुणाकर मुले

आकाश के ये टिमटिमाते दीपक क्या हैं? कितनी दूर हैं ये? क्यों चमकते हैं? इस धरती का जिज्ञासु मानव हजारों वर्षों से इन प्रश्नों के उत्तर खोजता रहा है। पास की कोई चीज हो तो उसे देखा जा सकता है, परखा जा सकता है। पर आकाश के इन पिण्डों को आदमी छू नहीं सकता, उन तक पहुंच नहीं सकता। वह उनके बारे में केवल अटकलें ही लगा सकता था।

कितने तारे हैं आकाश में? किसी स्वच्छ रात्रि में, खासकर अमावस्या की रात्रि में, आकाश में उत्तर-दक्षिण फैला हुआ तारों का एक पट्टा दिखाई देता है। तारों के इस पट्टे को देख कर तो सचमुच ही लगता है कि आकाश में अनगिनत तारे हैं। इसलिए पुराने जमाने के लोगों का ख्याल था, और आज भी बहुत से लोगों का ख्याल है, कि आकाश में अगणित तारे हैं।

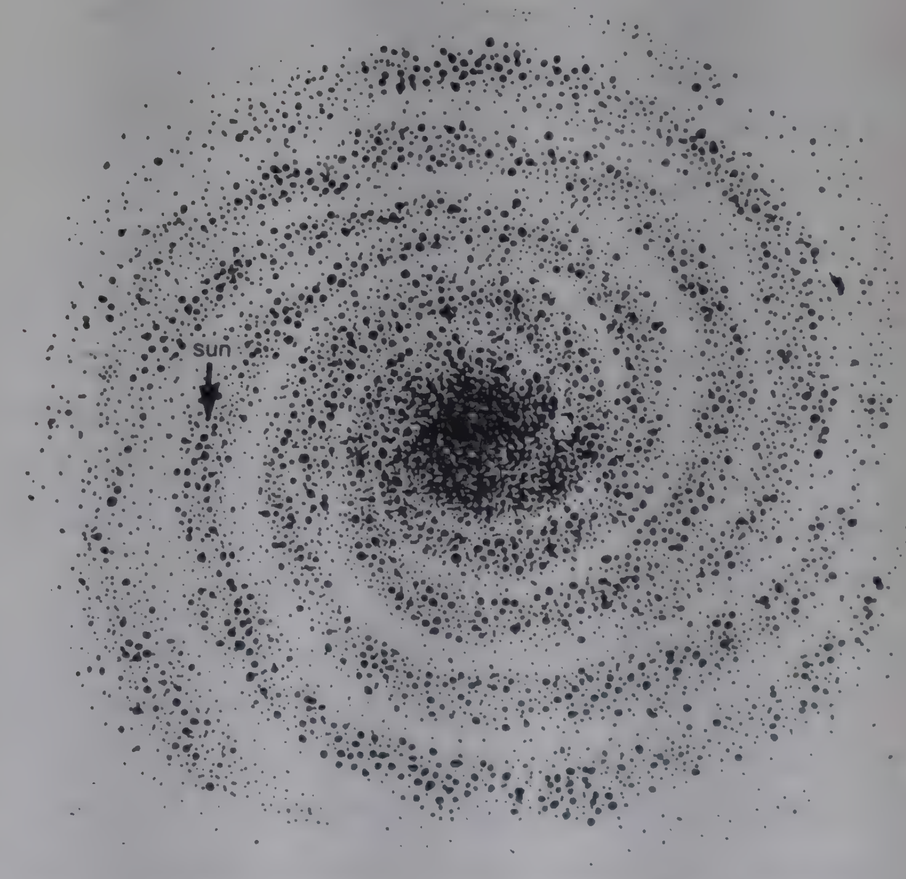
असल में आकाश में तारों की संख्या अनंत नहीं है। दूरबीन की सहायता के बिना कोई भी आदमी अपनी आंखों से धरती के एक स्थान से मुश्किल से 2000 तारे देख पाता है। पृथ्वी के पूरे धरातल से कोई भी आदमी आकाश में लगभग 6000 तारे ही देख सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आकाश में केवल 6000 तारे हैं। मनुष्य की दृष्टि की एक सीमा है। मनुष्य की आंखें एक सीमा तक ही प्रकाश को ग्रहण कर सकती हैं। लेकिन दूरबीन की आंख मनुष्य की आंख से हजारों गुनी अधिक शक्तिशाली होती है। दूरबीन की आंख मंद अतिमंद प्रकाश को भी ग्रहण कर सकती है। इसलिए दूरबीनों की सहायता से आकाश की उन ज्योतियों को भी देखा जा सकता है जो हमें अपनी आंख से नहीं दिखाई दे सकतीं।

कितने तारे? कितनी दूर?

खगोलविदों ने दूरबीनों की सहायता से आकाश के चप्पे-चप्पे का अध्ययन किया है। आकाश के सारे हिस्सों के फोटो लिये हैं। आकाश के तारों के फोटो लेकर तारों के एटलस भी तैयार किये हैं। आज हम जानते हैं कि आकाश में कुल मिला कर लगभग 1,50,00,00,00,000 तारे हैं।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर तो यही जान पड़ता है कि आकाश के सारे तारे हम से समान दूरी पर किसी गोले के आकार में फैले हुए हैं। पुराने जमाने के सभी लोगों का यही ख्याल था कि आकाश के ये सब तारे किसी 'गोल' के सहारे टिके हुए हैं। हमारे देश के पुराने ज्योतिषियों ने तारों के इस 'गोल' को **द्यु लोक** या **नक्षत्रलोक** का नाम दिया था। आज से लगभग 2200 साल पहले यूनान के एक दार्शनिक-वैज्ञानिक **अरस्तू** का कहना था कि दूरियों के बढ़ते क्रम में आकाश में आठवें नंबर का एक गोल है और आकाश के सारे तारे इसी गोल पर स्थित हैं। लेकिन पुराने जमाने के लोगों का 'आठवें आसमान' का यह विचार गलत था। अभी तीन-चार सौ साल पहले तक कोई भी ज्योतिषी नहीं बता सकता था कि तारे हमसे ठीक-ठीक कितनी दूर हैं। हमारे देश के **आर्यभट्ट** (499 ई०) वराहमिहिर (550 ई.) और भास्कराचार्य (1150 ई.) जैसे महान ज्योतिषियों को आकाश के पिण्डों की दूरियों का सही ज्ञान नहीं था। और तो और, सूर्य को विश्व के केन्द्र का स्थान दिलाने वाले कोपर्निकस, ज्यार्दानो ब्रूनो, केपलर और गैलीलियो जैसे महान वैज्ञानिकों को भी मालूम नहीं था कि आकाश का सबसे नजदीक का तारा—हमारा सूर्य—हम से ठीक-ठीक कितनी दूर है।



ऊपर से देखने पर आकाश गंगा एक 'स्पाइरल' सदृश दिखती है। तीर द्वारा आकाश गंगा में सूर्य की स्थिति व उसका आपेक्षिक आकार दर्शाया गया है।

लेकिन आज हम आकाश के सभी पिंडों की दूरियां जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि सभी तारे समान दूरी पर स्थित नहीं हैं। कुछ तारे हम से बहुत दूर हैं, तो कुछ काफी 'नजदीक'। लेकिन इनकी दूरियां हम मीलों या किलोमीटरों में सुविधा से नहीं बता सकते। मीलों या किलोमीटरों में यदि तारों की दूरियां बताने लग जायें तो हम बड़े झमेले में पड़ जाते हैं। आइये, देखें कि आकाश के पिंडों की दूरियों को मील या किलोमीटर में व्यक्त करने में क्या-क्या दिक्कतें हैं।

दूरी—'प्रकाश वर्षों' में

पृथ्वी पर दूरियों को हम किलोमीटरों में आसानी से व्यक्त कर सकते हैं, क्योंकि हमारी पृथ्वी का व्यास लगभग 12,700 किलोमीटर है और इसके संपूर्ण धरातल का क्षेत्रफल 510,101,000 वर्ग किलोमीटर। पृथ्वी का उपग्रह, यानी चन्द्रमा, हम से लगभग 3,84,000 किलोमीटर दूर है। आकाश में सबसे नजदीक के ग्रह शुक्र की हम से न्यूनतम दूरी 4,16,00,000 किलोमीटर है। मंगल ग्रह हमसे लगभग 5 करोड़ किलोमीटर दूर है। सूर्य हम से 14,95,00,000 किलोमीटर या 9 करोड़ 30 लाख मील दूर है। सौरमंडल का अंतिम ग्रह प्लूटो सूर्य से लगभग 6,000,000,000 किलोमीटर दूर है। दूसरे शब्दों में कहें तो सूर्य, नौ प्रमुख ग्रह, इनके दर्जनों उपग्रह आदि मिल कर सौरमंडल की जो एक योजना बनती है जिसका अर्धव्यास 6 अरब किलोमीटर है।

यह संपूर्ण सौर-मंडल आकाश के सिर्फ एक तारे, सूर्य, की योजना हुई। अब तक गिनाई गई दूरियों के भीतर हमने सिर्फ आकाश के केवल एक तारे के दर्शन किये हैं। सूर्य के अलावा आकाश में जो तारा हम से सबसे नजदीक है उसका नाम है **प्रोक्सिमा-सेंटोरी** (लैटिन शब्द 'प्रोक्सिमा' का अर्थ ही होता है, 'निकटतम')। जानते हैं, यह तारा हम से कितनी दूर है? सबसे नजदीक का यह प्रोक्सिमा सेंटोरी तारा हम से 40,000,000,000,000 किलोमीटर दूर है।

स्मरण रहे कि यह आकाश के सबसे नजदीक के तारे की पृथ्वी से दूरी हुई। आकाश में दिखाई देने वाले शेष तारे हम से और भी अधिक दूर हैं—प्रोक्सिमा सेंटोरी से भी सैकड़ों-हजारों गुना दूर। उन तारों की दूरियों को किलोमीटरों में व्यक्त करें तो हमें बड़ी-बड़ी संख्याओं के झमेले में पड़ना पड़ेगा। इसलिए खगोलविदों ने आकाश के तारों आदि की दूरियां जानने के लिए एक नया पैमाना खोजा है। इस पैमाने की इकाई है, प्रति सेकंड प्रकाश-किरणों की गति।

प्रकाश की किरणें एक सेकंड में 1,86,000 मील या 3,00,000 किलोमीटर दूरी तय करती हैं। चन्द्रमा से पृथ्वी तक पहुंचने में प्रकाश की किरणों को केवल सवा सेकंड का समय लगता है। सूर्य से चली हुई प्रकाश-किरणों को पृथ्वी तक पहुंचने में 8 मिनट और 23 सेकंड का समय लगता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सूर्य हम से 8 मिनट और 23 सेकंडप्रकाश समय दूर है। सौर मंडल के अंतिम ग्रह प्लूटो तक पहुंचने में सूर्य के प्रकाश को लगभग 5.5 घंटे का समय लगता है। इस लिए हम कह सकते हैं कि हमारे सौर-मंडल का व्यास लगभग 11 'प्रकाश-घंटे' है। स्मरण रहे कि अब हम प्रकाश की गति वाले पैमाने से आकाश के पिंडों की दूरियां माप रहे हैं।



पृथ्वी से दिखाई देने वाली आकाश गंगा ब्रह्माण्ड की अन्य आकाश गंगाओं के सदृश ही है।

ऊपर जिस प्रोक्सिमा-सेंटोरी तारे का हमने उल्लेख किया है, उसके प्रकाश को हम तक पहुंचने में चार साल से कुछ अधिक समय लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आज प्रोक्सिमा-सेंटोरी के जिस प्रकाश को हम देख रहे हैं वह अपने स्रोत-स्थान से चार साल पहले निकल चुका था। इसीलिए सुविधा के लिए आधुनिक खगोलशास्त्र में प्रोक्सिमा-सेंटोरी की दूरी 40,000,000,000,000 किलोमीटर नहीं, बल्कि 4.3 प्रकाश-वर्ष बतायी जाती है। ये दोनों आंकड़े एक ही दूरी को व्यक्त करते हैं, पर प्रकाश-गति की इकाई में तारों की दूरियां व्यक्त करने में सुविधा है।

पारसेक और प्रकाश-वर्ष

प्रति सेकंड 300,000 किलोमीटर के वेग से एक साल में प्रकाश की किरणें जितनी दूरी तै करती हैं उसे अब खगोल शास्त्र में 'प्रकाश-वर्ष' कहते हैं। एक प्रकाश-वर्ष का अर्थ है लगभग 9,460,000,000,000 किलोमीटर का अंतर। 3.26 प्रकाश-वर्षों को 'पारसेक' का नाम दिया गया है और एक पारसेक का अर्थ होता है 30,000,000,000,000 किलोमीटर की दूरी।

तारों की दूरियां मापने के लिए 'प्रकाश-वर्ष' या 'पारसेक' का यह नया पैमाना समझ लेने के बाद अब हम आकाश गंगा के बारे में सुविधा से बहुत-सी बातों का अध्ययन कर सकते हैं।

'आकाशगंगा' या **'मंदाकिनी'** पौराणिक शब्द हैं। आकाश में उत्तर-दक्षिण फैला हुआ तारों का यह सघन पट्टा नदी के प्रवाह जैसा दिखाई देता है, इसीलिए पुराने जमाने के लोगों ने इसे आकाशगंगा नाम दिया था। इसे आकाश की गंगा या काल्पनिक स्वर्गलोक में गंगा नदी की एक धारा (मंदाकिनी) माना गया था। पर यह हुई महज एक कल्पना। आकाश के तारा-समूहों के बारे में पुराने जमाने के लोगों ने अजीब-अजीब कल्पनाएं की थीं।

आंख से आकाश में जितने भी तारे दिखाई देते हैं, वे सब आकाश-गंगा के सदस्य हैं। पुराने जमाने में आकाश के केवल उस सघन पट्टे का नाम आकाशगंगा था, पर आज हम जानते हैं कि पट्टे के बाहर दूर-दूर तक जितने भी तारे दिखाई देते हैं वे सब इस आकाशगंगा-योजना के सदस्य हैं। हमारी धरती, सारे ग्रह और सूर्य भी इस आकाशगंगा के अंग हैं।

आकाशगंगा के आकार-प्रकार को समझने के लिए एक चक्के की या फूली हुई रोटी की कल्पना कीजिए। आकाशगंगा, पहिए के बाहर की, तारों की एक योजना है। हमारी पृथ्वी सहित नौ ग्रहों, 30 उपग्रहों आदि को मिला कर सूर्य जो एक समूह बनाता है उसे हम 'सौर-मंडल' कहते हैं। अरबों तारे मिल कर जो एक योजना बनती है उसे मंदाकिनी या नीहारिका कहते हैं। आकाशगंगा एक नीहारिका ही है।

पहिए के आकार-प्रकार की हमारी इस आकाशगंगा-नीहारिका में लगभग 150 अरब तारे हैं। हमारा सूर्य इन तारों में से एक सामान्य तारा है। आकाशगंगा में बहुत-से तारे सूर्य से काफी बड़े हैं, तो कुछ सूर्य से छोटे भी हैं।

आकाशगंगा का विस्तार

आकाशगंगा के एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रकाश-किरणों को यात्रा करने में लगभग 1,00,000 वर्ष लगते हैं, अर्थात, आकाशगंगा का व्यास एक लाख प्रकाश-वर्ष है। पहिए के आकार वाली इस आकाशगंगा की केन्द्र में चौड़ाई है लगभग 20,000 प्रकाश-वर्ष।



धनु (सेजिटेरियस) नक्षत्र मण्डल

सूर्य इस आकाशगंगा का ही एक सामान्य तारा है। आकाशगंगा के केन्द्र से यह लगभग 30,000 प्रकाश-वर्ष दूर है अर्थात आकाशगंगा की परिधि सूर्य से 20,000 प्रकाश-वर्ष दूर है।

यदि सूर्य और इसके साथ हमारी पृथ्वी विश्व के केन्द्र भाग में होती, तो आसमान में चहुं ओर तारों का फैलाव हमें एक जैसा दिखाई देता। पर हम इस पहिए-नुमा योजना के केन्द्र से 30,000 प्रकाश-वर्ष दूर हैं। इसलिए आकाशगंगा के केन्द्र का भाग हमें सघन तारों का समूह दिखाई देता है। कल्पना कीजिए कि गाड़ी के एक बड़े पहिए पर इसके केन्द्र से आधे से कुछ अधिक दूरी पर, एक चींटी रेंग रही है। यह चींटी यदि (तारों के) उस पहिए के केन्द्र की ओर देखेगी, तो उसे वह भाग बहुत सघन दिखाई देगा और उस दिशा में परिधि के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक पट्टा-सा दिखाई देगा। इसके विपरीत, यदि वह बाहर परिधि की ओर देखेगी, तो उसे वह भाग काफी विरल दिखाई देगा।

हमारा हाल भी उस चींटी की तरह है। आकाश में आकाशगंगा के सघन पट्टे को जब हम देखते हैं, तो समझ लीजिए कि इसके केन्द्र-भाग की ओर देख रहे हैं। वस्तुतः आकाशगंगा का असली केन्द्र हम से एक आन्तरनक्षत्रीय धूलि-मेघ के बीच में आने के कारण छिपा हुआ है। आकाशगंगा का यह केन्द्र धन (**सेजिटेरियस**) नक्षत्र-मंडल की ओर है।

पुराने जमाने के लोगों का ख्याल था कि पृथ्वी विश्व के केन्द्र में स्थित है और सूर्य, ग्रह तथा तारे इसकी परिक्रमा करते हैं। पर बाद में कोपर्निकस आदि वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया कि पृथ्वी नहीं बल्कि सूर्य विश्व के केन्द्र में स्थित है। परन्तु अब हम जानते हैं कि सूर्य भी आकाशगंगा-योजना के केन्द्र में नहीं है। यह भी इसके केन्द्र से लगभग 30,000 प्रकाश-वर्ष दूर है। जिस प्रकार नौ ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं, उसी प्रकार आकाश के सब तारे भी आकाशगंगा-केन्द्र की परिक्रमा करते रहते हैं। हमारी पृथ्वी 18.5 मील प्रति सेकंड के वेग से सूर्य की परिक्रमा करती रहती है, पर सूर्य, पृथ्वी आदि ग्रहों सहित, प्रति सेकंड 250 किलोमीटर के वेग से आकाशगंगा-केन्द्र की सतत् परिक्रमा करता रहता है। सूर्य को आकाशगंगा की एक परिक्रमा पूरी करने में 2,000,000,000 वर्ष लगते हैं। स्मरण रहे कि धरती पर मनुष्य को जन्म लिये मुश्किल से तीस लाख वर्ष हुए हैं। लगभग बीस करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर महाकाय प्राणियों का राज्य था। इस धरती पर प्रथम जीव ने लगभग 600,000,000 वर्ष पहले जन्म लिया था। इस प्रकार, पृथ्वी पर जीवन के उद्भव से अब तक के सम्पूर्णकाल में सूर्य ने आकाशगंगा-केन्द्र के केवल तीन चक्कर लगाये हैं।

आप पढ़ चुके हैं कि आकाशगंगा का सबसे नजदीक का तारा—प्रोक्सिमा-सेंटोरी—हम से लगभग 4 प्रकाश-वर्ष दूर है। आकाश का सबसे चमकीला तारा **व्याध या लुब्धक** (सिरियस) हमसे 9 प्रकाश-वर्ष दूर है। प्रजापति (ऑरिगा) नक्षत्र-मंडल के ब्रह्महृदय (कैपेला) तारे की आज की प्रकाश-किरणें अपने स्रोत-स्थान से 1920 में चली थीं। प्रसिद्ध ज्येष्ठा नक्षत्र हम से लगभग 270 प्रकाश-वर्ष दूर है। आज ज्येष्ठा के जिस प्रकाश को हम देख रहे हैं वह अपने स्रोत से औरंगजेब की मृत्यु (1707 ई.) से भी पूर्व चला था। आकाश में आज हम जिस मघा (रेगुलस) नक्षत्र को देख रहे हैं, उसका प्रकाश अपने स्रोत-स्थान से तब चला था जब कि हम अंग्रेजों के साथ 1857 में स्वातंत्र्य-युद्ध लड़ रहे थे। पर ये सब नजदीक के तारे हैं। आकाश के बहुत से तारे हमसे हजारों लाखों प्रकाश-वर्ष दूर हैं।

गैलीलियो (1564-1642) ने 1609 में संसार की पहली दूरबीन बनायी। इस दूरबीन से उसने चन्द्रमा के पहाड़ देखे, बृहस्पति ग्रह के चार 'चन्द्र' (उपग्रह) खोजे और आकाशगंगा में अनगिनत तारे देखे। बिना दूरबीन के कृत्तिका नक्षत्र-पुंज में केवल 7 तारे ही देखे जा सकते हैं। वैदिक-काल के ज्योतिषियों ने भी इस पुंज में केवल 7 तारे ही देखे थे। परन्तु गैलीलियो ने अपनी दूरबीन से इस कृत्तिका-पुंज में लगभग 30 तारे देखे। आकाशगंगा के अनगिनत तारों को देख कर गैलीलियो ने कहा था—'मैं अब जान गया हूं कि खगोल को घेरने वाला चांदी-सा चमकने वाला यह पट्टा (आकाशगंगा) असल में क्या है।' वस्तुतः गैलीलियो की दूरबीन से भी सारे तारे देखे नहीं जा सकते थे। जिस कृत्तिका-पुंज में गैलीलियो ने 30 तारे देखे थे, उसी पुंज में आज की विशाल दूरबीनों से 300 से अधिक तारे दिखते हैं। गैलीलियो इन तारों की दूरी का भी सही अंदाजा नहीं लगा सका था।

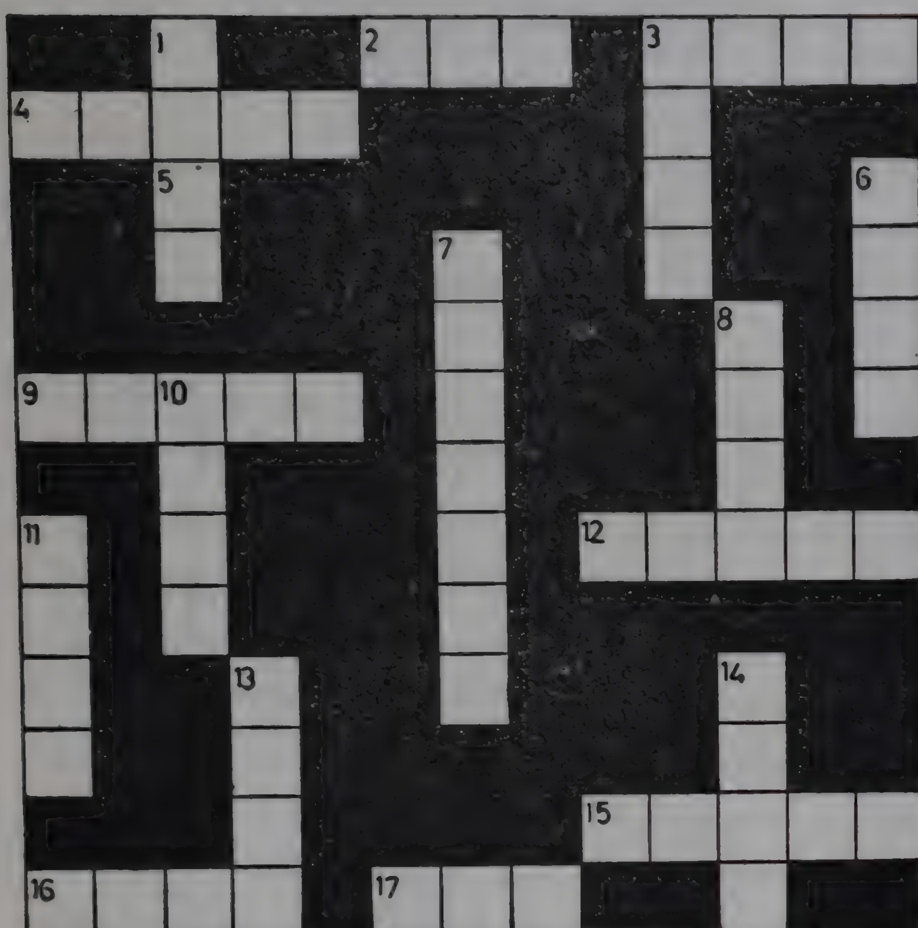
आकाशगंगा के सही आकार-प्रकार को पहली बार पहचाना यूरोप के दो खगोलविद टामस-राइट (1711-86) और विलियम हर्शेल (1738-1822) ने। हर्शेल ने इस आकाशगंगा का एक काल्पनिक मानचित्र भी तैयार किया था। परन्तु 18वीं शती के अध्ययनों में अभी अनेक त्रुटियां थीं। 19वीं शती में वर्णक्रमदर्शी (स्पेक्ट्रोस्कोप) और फोटोग्राफी का आविष्कार होने के बाद ही आकाश की ज्योतियों के बारे में हमें अधिक सूक्ष्म और सही जानकारी प्राप्त हुई। आकाशगंगा के असली सर्पिल आकार की जानकारी तो हमें अभी कुछ साल पहले ही मिली थी।

हमारी आकाशगंगा एक तारा-योजना है, यह ब्रह्माण्ड की एक नीहारिका है। ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की करोड़ों नीहारिकाएं हैं। नीहारिका देवयानी (एन्ड्रोमेडा) हम से 20 लाख प्रकाश-वर्ष दूर है। अर्थात आज देवयानी नीहारिका के जिस प्रकाश-पुंज को हम देख रहे हैं वह 20 लाख वर्ष पुराना है। यह प्रकाश जब अपने स्रोत-स्थान से चला था तब हमारी धरती पर 20 लाख वर्ष पहले अफ्रीका के जंगलों में 'प्रोकान्सुल' किस्म का वानर-मानव विचरण कर रहा था। विश्व की करोड़ों नीहारिकाओं में देवयानी ही एक ऐसी नीहारिका है जिसे हम कभी-कभार नंगी आंखों से भी देख सकते हैं। आकार-प्रकार में यह हमारी आकाशगंगा-नीहारिका जैसी ही है। ●

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 11

प्रस्तुत कर्त्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बायें से दायें

2. सौर मंडल के इस ग्रह की खोज सबसे बाद में हुई।
3. थर्मामीटर का आविष्कारक।
4. इस बहु उपयोगी औषधि का आविष्कार डा. फ्लेमिंग ने एक फफूंद से किया था।
9. सर्वप्रथम संचार उपग्रह।
12. माइक्रोस्कोप का आविष्कारक।
15. विद्युत शक्ति मापने की इकाई इस वैज्ञानिक के नाम पर है।
16. ध्वनि की आवृत्ति एवं सुनने वाले की गति में संबंध स्थापित करने वाला सुप्रसिद्ध सिद्धान्त इस वैज्ञानिक की देन है।
17. चन्द्र अभियान की इस योजना के दस चरण पूर्ण हो चुके हैं और ग्याहरवें चरण में मानव को चन्द्रमा पर उतारने की अमेरिका की योजना है।

ऊपर से नीचे

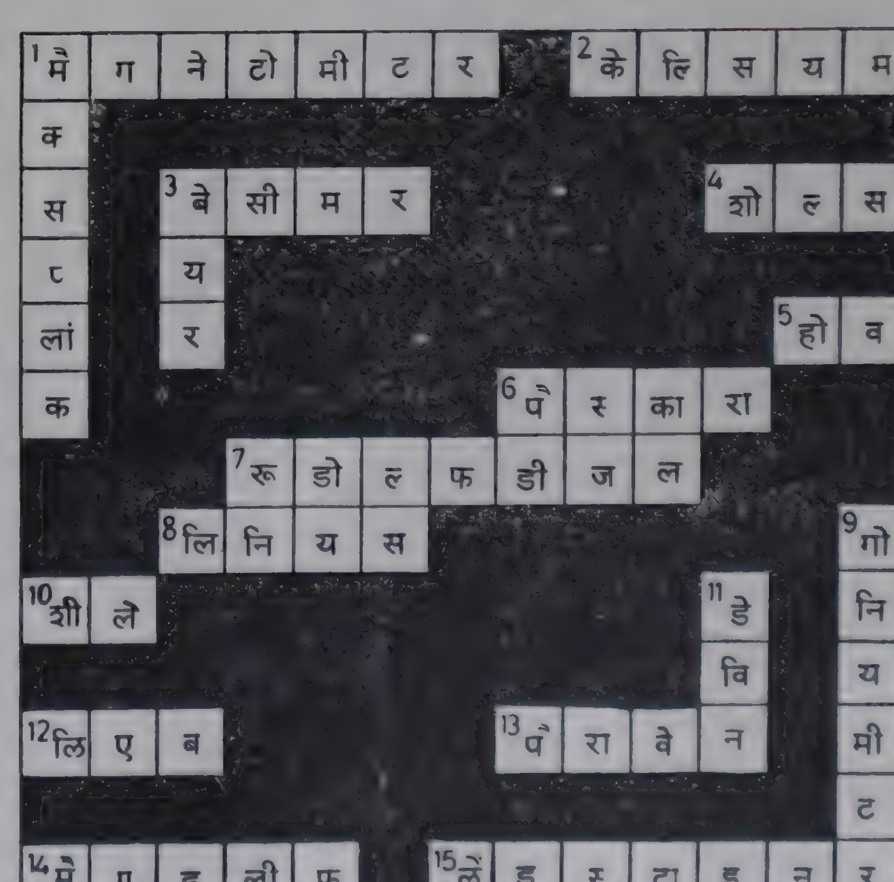
1. ध्वनि की तीव्रता मापने की इकाई।
3. उन्नीसवीं शती के इस सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने अल्कोहल-मीटर का आविष्कार किया था।
5. टेलीफोन का आविष्कारक।
6. अठारहवीं शती के इस इटालियन चिकित्सक द्वारा मेंढक की टांगों पर किया गया विद्युत-प्रयोग बहुत प्रसिद्ध है।
7. सुप्रसिद्ध भारतीय फासिल वनस्पति वैज्ञानिक।
8. हमारे भोजन के आवश्यकतम तत्व जिनकी खोज क्रिश्चियन आइज्कमैन ने की थी।
10. सन 1586 में इस वैज्ञानिक ने अरस्तु के इस सिद्धांत का प्रयोग द्वारा खंडन किया था कि विभिन्न भारों की वस्तुयें एक ऊंचाई से छोड़े जाने पर पृथ्वी पर पहुंचने के लिये विभिन्न समय लेती हैं।
11. न्यूट्रान की खोज पर नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाला अंग्रेज वैज्ञानिक।
13. मोटर साइकिल का आविष्कार करने वाला जर्मन इंजीनियर।
14. क्लाउड चेम्बर के आविष्कार के लिए सन् 1927 का नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाला अंग्रेज वैज्ञानिक।

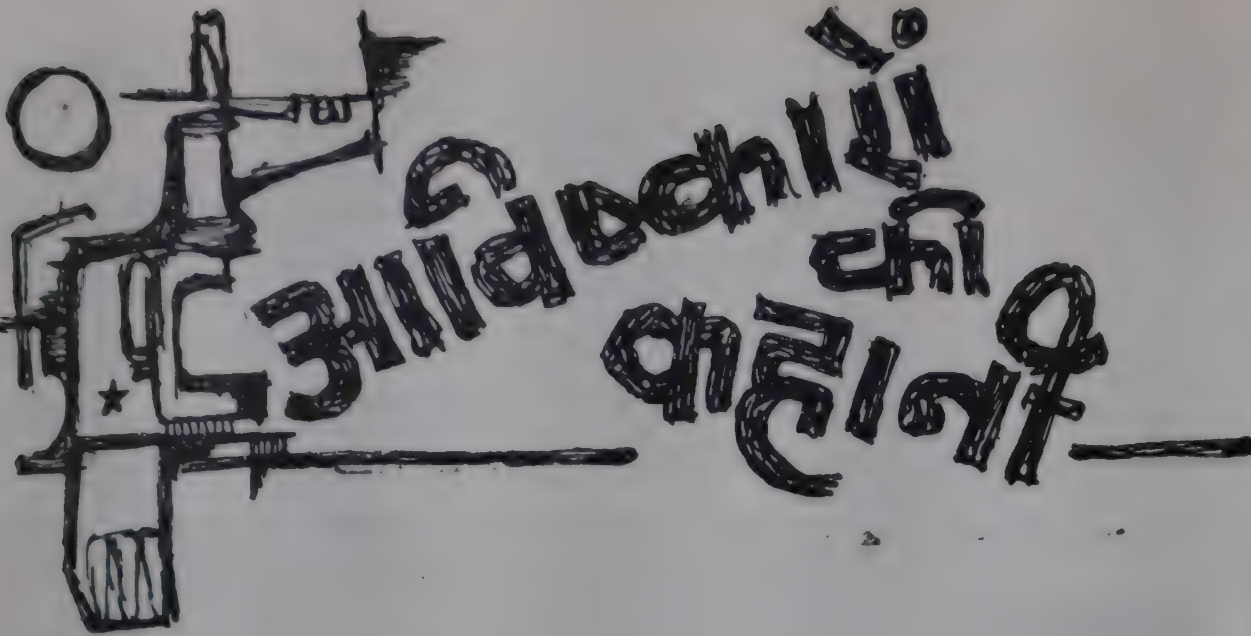
निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा। अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी। आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 10 का हल





मिट्टी के बर्तन

हरिकृष्ण देवसरे

बच्चो, जिस प्याले में तुम दूध पीते हो, जिस प्लेट में मिठाई-नमकीन खाते हो और जिन प्यालों में पानी भरकर जलतरंग बजाई जाती है—वे सब कैसे बनते हैं ? कुम्हार को बड़े बड़े मिट्टी के घड़े बनाते तो देखा ही होगा, और सुराहियां बनाते भी। उसके बनाए मिट्टी के बर्तन भी तुमने देखे होंगे जिन्हें वह एक पहिए पर बनाता है। इसे कुम्हार का 'चाक' भी कहते हैं। लेकिन जिस मिट्टी से कुम्हार बर्तन बनाता है होती तो साधारण है, पर उसे अच्छी तरह साफ और चिकना किया जाता है। उस में एक भी कंकड़ नहीं रहने दिया जाता, वरना उससे बनने वाले बर्तन में छेद हो जाने की संभावना रहती है।

पुराने जमाने से आज तक मिट्टी के बर्तन बनाने का यही तरीका चला आ रहा है। अपने चाक के बीचोंबीच मिट्टी का एक ढेर कुम्हार रख देता है और पहिए को घुमाता है। फिर वह अपनी उंगलियों से मिट्टी को सहारा देता है। उसे जो भी बर्तन बनाना होता है, उसी ढंग से उंगलियां मिट्टी को उठाती हैं और बर्तन का रूप ढलने लगता है।

चाक का महत्त्व

मिट्टी के चमकदार बर्तन बनाने का भी यही तरीका है, वास्तव में कुम्हार का चाक और उसकी उंगलियां ही बर्तनों को निश्चित आकार देती हैं। उंगलियों से मिट्टी मुड़ कर ऊपर की ओर उठती है और बर्तन को गहरा, संकरा अथवा चौड़ा आकार मिलता है। घूमने वाला चाक उस बर्तन को एक सा मोटा-पतला, चिकना तथा गोल आकार देता है। बर्तन सूखने के बाद उसे भट्टी की आंच में पकाया जाता है तथा उस पर पालिश की जाती है। मिट्टी के चमकदार बर्तनों में जहां उन्हें निश्चित तापक्रम की भट्टी में पकाया जाता है, वहीं उन पर चिकने और चमकदार पदार्थ की पालिश की जाती है।

अच्छी मिट्टी आवश्यक

मिट्टी के चमकदार बर्तन आजकल एक से एक बढ़िया आकार, रंग और पालिश वाले मिलते हैं। इनकी मजबूती भी एक से एक बढ़ कर होती है। लेकिन ये सारे गुण बर्तन बनाने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली मिट्टी, उसको पकाने की विधि तथा पालिश पर निर्भर करते हैं। इन गुणों की विशेषताओं के कारण ही आज मिट्टी के चमकदार बर्तन बनाने के लिए चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड के नाम विश्व भर में प्रसिद्ध हैं।

विज्ञान की प्रगति और अनुसंधानों के परिणामस्वरूप मिट्टी के चमकदार बर्तनों के निर्माण में भी उन्नति हुई है। एक तो महत्वपूर्ण बात यही है कि कुम्हार को अपना चाक हाथ से बार-बार नहीं चलाना पड़ता बल्कि उसे बिजली द्वारा चलाया जाता है। इससे मेहनत भी बचती है और काम भी जल्दी होता है।

आधुनिक विधि

इस दिशा में हुई प्रगति के कारण अब ऐसे भी वैज्ञानिक उपकरण बन गए हैं जो चाक के स्थान पर उपयोग में लाए जा सकते हैं। इन मशीनों को 'जालीज' और 'जिगर्स' कहते हैं। इनके द्वारा मिट्टी के बर्तन हाथ से बनाए जाने की बजाय, धातु के बने सांचों में ढल जाते हैं। ढालने की इस क्रिया से कम समय में अधिक संख्या में बर्तन तैयार होते हैं। आजकल बर्तन बनाने का एक और तरीका निकला है, जिसे 'स्लिप कास्टिंग' कहते हैं। इसमें मिट्टी बिल्कुल तरल पदार्थ की तरह गीली कर ली जाती है। इस मिट्टी को सांचे में डाल दिया जाता है। सांचे इस तरह के बने होते हैं कि वे पानी सोख लेते हैं और मिट्टी उसमें चिपक जाती है। जब वह मिट्टी कुछ सूख जाती है तो सांचे से उस बर्तन को बड़ी सावधानी से निकाल लिया जाता है। कई बर्तनों को एक बार में ही बनाना कठिन होता है। अतः उनके अलग-अलग हिस्सों के लिए कई सांचे बनाए जाते हैं और तब उनसे बने टुकड़ों को जोड़कर बर्तन बनाया जाता है। हाथ धोने के बेसिन, पानी की बोतलें, अचार के बर्तन आदि सभी इसी तरह बनाए जाते हैं। इस प्रकार तैयार किए गए बर्तनों को फिर भट्टी में रखकर पकाया जाता है। भट्टी की आंच धीरे-धीरे तेज की जाती है और जब बर्तन पक जाते हैं तो भट्टी को स्वयं ही ठंडा होने के लिए छोड़ दिया जाता है। जब भट्टी ठंडी हो जाती है तो सभी बर्तनों को निकाल

लिया जाता है। अब बिजली की भट्टियां भी इस्तेमाल की जाती हैं। इस प्रकार की भट्टियों में एक सुविधा यह होती है कि ताप पर नियंत्रण रखा जा सकता है।

पालिश

बर्तन जब पककर तैयार होते हैं तब उन पर पालिश और चित्रकारी होती है। पालिश को पानी तथा कांच के गाढ़े घोल को मिलाकर बनाते हैं। सभी बर्तनों को पालिश के घोल में डुबा दिया जाता है जिससे कोई हिस्सा बाकी न रह सके। इसके बाद बर्तनों को फिर से कम आंच वाली भट्टी में रखकर इतना पकाया जाता है कि उनकी पालिश सूख जाए और चमकदार बन जाए।

पानी की नलियों के लिये इस्तेमाल होने वाले पाइप, आदि पर चमक चढ़ाते समय पालिश में नमक का घोल भी मिलाया जाता है। इससे चमक अधिक टिकाऊ रहती है। बर्तनों पर चित्रकारी का काम या तो हाथ से या छापे से किया जाता है। छापे से चित्र बहुत सुन्दर उभरते हैं। इसमें एक पतले कागज पर रंगों को उतार कर उन्हें बर्तन पर चिपका दिया जाता है। बर्तन उन रंगों को सोख लेता है और इस प्रकार उस पर चित्रकारी हो जाती है। यह चित्रकारी कई बार पालिश के पहले तथा कई बार पालिश के बाद की जाती है। पकाने पर रंगों में काफी परिवर्तन होता है जैसे नीला रंग काला हो जाता है, भूरा रंग सुनहरी पड़ जाता है तथा गुलाबी रंग भूरा हो जाता है। हर एक रंग के लिए बर्तन को अलग-अलग ताप पर पकाना होता है। यदि बर्तन में कई रंगों की चित्रकारी की गई है तो उसे कभी कभी चार-पांच बार अलग-अलग ताप पर पकाना पड़ता है। इस प्रकार उनमें अनेक रंगीन चित्र बन जाते हैं।

आज चिकनी मिट्टी के अनेक वैज्ञानिक उपकरण भी बनते हैं। बिजली के तारों को सहारा देने के लिए इन्सुलेटर्स तथा टेलीफोन के तारों को खम्भों पर रोकने के लिए चिकनी मिट्टी के ही उपकरण बनते हैं।

चिकनी मिट्टी से बनने वाले बर्तनों का महत्व उपयोगिता तथा कला की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अब उनका वैज्ञानिक महत्व भी है।

●

अपोलो-10 द्वारा चंद्रमा का सर्वेक्षण

(शेषांश पृष्ठ 355 का)

चांद को सबसे निकट से देखा। इतनी दूर से उन्होंने आठ घंटे तक परिक्रमा की। इस दौरान उन्होंने चांद की हजारों तसवीरें लीं और उस का इस दृष्टि से अवलोकन किया कि अपोलो-11 के यात्रियों को चांद पर कहां उतरना चाहिये। वर्तमान कार्यक्रम के अनुसार यह यान 20 जुलाई, 1969 को चांद पर पहुंच जायेगा और चांद पर उतरने वाले पहले आदमी होंगे––नील ए. आर्मस्ट्रांग और एडविन ए. एल्ड्रिन। स्टैफर्ड और सरनन ने उस 'शांत सागर' (सी आफ ट्रांक्विलिटी) को अत्यन्त निकट से देखा, जिसमें अपोलो-11 के यात्री उतरेंगे।

आदेश कक्ष में वापिसी

आठ घन्टे तक परिक्रमा करने के बाद, पूर्व योजनानुसार, चंद्र कक्ष वापिस अंतरिक्ष यान की ओर उड़ चला। जब चन्द्र कक्ष चांद के इर्द-गिर्द घूम रहा था अंतरिक्ष यान (यंग सहित) अपनी कक्ष में चांद की पूर्ववत् परिक्रमा कर रहा था। उस समय चंद्र कक्ष और अंतरिक्ष यान की अधिकतम दूरी 536 किलोमीटर थी। ठीक समय पर चंद्र कक्ष अंतरिक्ष यान से जुड़ गया और जुड़ने के लगभग एक घन्टे बाद स्टैफर्ड और सरनन फिर से आदेश कक्ष में पहुंच गये। फिर चंद्र कक्ष को यान से अलग कर दिया गया। क्योंकि वह वापिस पृथ्वी पर नहीं जा सकता था।

अंतरिक्ष यान ने अब फिर से चांद की परिक्रमायें कीं और अंत में 24 मई, 1969 की सुबह 3 बज कर 27 मिनिट पर पृथ्वी की ओर अपनी यात्रा शुरू कर दी। यात्रा आरम्भ करने के 28 मिनट बाद यान की गति 5,890 किलोमीटर से 9,817 किलोमीटर प्रति घन्टे थी। यात्रियों को 3,96,354 किलोमीटर की यात्रा करनी थी। अपोलो-8 की तुलना में अपोलो-10 का मार्ग लम्बा था।

अपनी वापिसी यात्रा में अपोलो बिना किसी बाधा के पृथ्वी की ओर गया और अन्त में 26 मई, 1969 की शाम को निश्चित समय और निश्चित स्थान पर, प्रशांत महासागर में पैंगो-पैंगो द्वीप से 400 मील पूर्व तीनों यात्रियों सहित धरती पर आ पहुंचा।

अपोलो-10 के यात्री चांद के सबसे निकट पहुंचने वाले अभी तक पहले मानव हैं। उन्होंने वह सब किया जो चांद यात्री करते केवल चांद पर नहीं उतरे। यद्यपि अपोलो-10 की योजना पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया था उसके अंतरिक्ष यान में आधुनिकतम यंत्रों का उपयोग किया गया था परन्तु फिर भी स्टैफर्ड, सरनन और यंग को अपनी यात्रा के दौरान अनेक खतरे उठाने पड़े। यदि चन्द्र यान के रोकने में तीन सेकंड की भी देर हो जाती तो वह चांद से बहुत तेजी से जा टकराता और चूर-चूर हो जाता।

अनोखे अनुभव

अपनी इस अनोखी यात्रा के दौरान यात्रियों ने पृथ्वी और चांद के हजारों रंगीन और सादे चित्र लिये। उन्होंने टेलीविजन पर इन्हें पृथ्वी पर भेजा। पृथ्वी वालों ने भी उनसे बात-चीत की और समय-समय पर उन्हें आवश्यक आदेश देते रहे। यात्रा में उन्होंने खाना खाया और जी-भर कर नींद ली। वे आपस में बात-चीत करते रहते थे और एक दूसरे का मन बहलाने की कोशिश करते थे।

●

● क्या कोई स्तनपायी प्राणी भी विषैला होता है ?

अभी कुछ समय पहले तक वैज्ञानिक यही समझा करते थे कि विष का उपयोग करना केवल सरीसृपों अर्थात रेंगने वाले और निम्न कोटि के जंतुओं तक ही सीमित होता है। लेकिन अब उत्तर अमेरिका की छोटी दुम वाली छछूंदर (शार्ट टेल्ड श्रू) के अध्ययन के उपरान्त उन्होंने अपनी यह धारणा बदल ली है। इसी सिलसिले में ओ. पी. पीयरसन नामक एक वैज्ञानिक ने उपरोक्त छछूंदर की लार-ग्रंथियों की कुछ विशिष्ट कोशिकाओं की संरचना का अध्ययन किया है। उन्होंने इसकी उपजंभिका ग्रंथि (सब-मैक्सिलरी ग्लैंड) को कूटकर उसमें नमक का घोल मिलाया और फिर इस प्रकार प्राप्त द्रव का इंजेक्शन चूहों में लगाया। इस पर चूहों को जल्दी ही अंगघात (पैरेलिसिस) हो गया, फिर आक्षेप (कन्वलजन) हुए और इसके बाद वे मर गए। इन्हीं परीक्षणों के दौरान ऐसे उदाहरण भी मिले जिनमें चूहे के वजन के सत्तर-हजारवें भाग जितनी मात्रा में उपरोक्त द्रव का इंजेक्शन लगाने पर ही वे मर गए। किसी स्तनपायी में सरीसृपों सदृश ये लक्षण देखकर आश्चर्य भी होता है और परेशानी भी। देखना यह है कि अपने जहर से मार देने की यह क्षमता अन्य जंतुओं में भी विद्यमान है क्या?

● वर्णांध लोग रंगों में भेद क्यों नहीं कर पाते ?

आमतौर पर लोग आसानी से किन्हीं दो रंगों में भेद कर सकते हैं और बतला सकते हैं कि वे कौन-कौन से हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दो अथवा अधिक रंगों का अन्तर नहीं बतला सकते।

ऐसे लोगों को वर्णांध (कलर ब्लाईंड) कहा जाता है। ऐसा आंखों की एक विशेष अवस्था के कारण हुआ करता है। यह देखा गया है कि 6.5 प्रतिशत पुरुष और 1 प्रतिशत स्त्रियां वर्णांधता से पीड़ित होती हैं। साधारणतया यह रोग वंशागत हुआ करता है किन्तु कुछ औषधियां भी ऐसी हैं जिनसे अस्थाई तौर पर वर्णांधता हो जाया करती है। वर्णांध लोग आमतौर पर लाल, हरे और पीले या फिर नीले-हरे, नीले और जामनी रंग में भेद नहीं कर पाते। रंग-दृष्टि के बारे में यंग-हेल्महोल्ट्स सिद्धांत के अनुसार आंख में तंत्रिकाओं के तीन समुच्चय होते हैं जोकि श्वेत प्रकाश के तीन प्राथमिक वर्णों, लाल, हरे और नीले-जामनी के प्रति सजग होते हैं। यदि ये तीनों समुच्चय समान रूप से उद्दीप्त होते हैं तो हमें श्वेत रंग का संवेदन प्राप्त होता है। यदि हमारी आंख तक हरे बहुल रंग का प्रकाश पहुंचता है तो यह आंख की हरी तंत्रिकाओं को अन्यों की अपेक्षा अधिक उद्दीप्त करता है और हमें हरे का संवेदन प्राप्त होता है। जब आंख तक पीले रंग का प्रकाश पहुंचता है तो हरे और लाल, दोनों, तंत्रिका-समुच्चय उद्दीप्त हो जाते हैं और हमें पीला दिखाई देता है। अतः लाल, पीले और हरे में भेद करने की क्षमता के लिये हमें लाल और हरे दो प्रकार के तंत्रिका-समुच्चयों पर निर्भर करना होता है। यदि इनमें से कोई एक दोषपूर्ण होता है अथवा मौजूद नहीं होता तो हम इन तीनों रंगों में भेद नहीं कर पाते। इसी प्रकार जितने भी रंग हैं और उनकी जितनी भी कांतियां व छवियां हैं, उनके संवेदन हमें इन वर्ण-तंत्रिकाओं के एक, दो या तीनों समुच्चयों के यथोचित उद्दीपन से प्राप्त होता है। वर्णांधता की कुछ ऐसी बिरली अवस्थाएं भी होती हैं जिनमें व्यक्ति बिल्कुल ही वर्णांध होता है और किसी भी रंग में भेद नहीं कर पाता। ऐसा आंख में दो प्रकार के वर्ण-तंत्रिका समुच्चयों के अभाव के कारण होता है। ऐसे व्यक्ति भी देखे गए हैं जिनकी आंखों में तीनों प्रकार के तंत्रिका-समुच्चयों का अभाव होता है। ऐसे व्यक्ति को साधारण काली-सफेद फिल्मों के अनाकर्षक धूसर (ग्रे) और उसकी विविध छटाएं ही दिखलाई देती हैं।



● जंतुओं में सबसे बड़ी सन्तान किसकी होती है ?

जंतुओं में सबसे बड़ा आकार ह्वेल का होता है जोकि मछली न होकर स्तनपायी जंतु है। ये स्तनपायी हैं क्योंकि ये अंडे न देकर जीवित बच्चे को ही जन्म देते हैं और मादा ह्वेल उसे अपना दूध पिलाकर पालती है। आकार में यह इसलिए बड़े हैं क्योंकि ह्वेल का भार किसी

पूर्ण विकसित हाथी से दस गुना तक होता है। ऐसे वृहदाकार जंतु की संतान का आकार भी काफी बड़ा होना ही चाहिये और वास्तव में ऐसा होता भी है। किसी भी अन्य जंतु के बच्चे की अपेक्षा ह्वेल के बच्चे का भार अधिक होता है। इस प्रकार के जन्म का एक लेखा मौजूद है जिसमें अस्सी फुट लम्बी एक मादा नील (बलू) ह्वेल ने चार टन अर्थात 8960 पौण्ड वजनी बच्चे को जन्म दिया था। निश्चित ही कोई अन्य जंतु इस कीर्तिमान को नहीं पहुंच सकता।

• जमी हुई झीलों के तल में पानी का तापमान क्या होता है ?

आश्चर्यजनक होने पर भी यह एक तथ्य है कि सर्दियों में जिन गहरी झीलों का पानी ऊपर से जम जाता है उनके तल में घोर सर्दियों के दिनों में भी पानी का तापमान 4° सें (लगभग 39° फा.) बना रहता है। क्योंकि झील की सतह पर बर्फ जमी होती है इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि झील के तल का पानी सतह के पानी से कुछ अधिक गर्म होगा। वास्तव में यह बात दैनंदिन जीवन में देखी जाने वाली प्रक्रियाओं के प्रतिकूल है। दैनंदिन जीवन में हम पाते हैं कि गर्म गैसें ऊपर को उठती हैं। (यही कारण है कि वैसे वायु से भारी होने पर भी कार्बन-डाइआक्साइड गर्म होकर चिमनी में ऊपर उठती है और बाहर निकल जाती है।) तो फिर पानी के अपेक्षाकृत गर्म कण ऊपर न उठकर झील के तल में क्यों चले जाते हैं?

अधिकांश पदार्थ, जिनमें वायु भी एक है, गर्म होने पर फलते ! और ठंडे किये जाने पर सिकुड़ते हैं। यही कारण है कि कमरे की गर्म हवा फर्श की बजाय छत की ओर बढ़ती है। लेकिन इस दृष्टि से पानी एक अद्भुत द्रव है। अधिकांश अन्य पदार्थों के समान ठंडा किये जाने पर यह भी सिकुड़ता है लेकिन ऐसा तभी तक होता है जब तक कि यह 4° सें. तापमान तक पहुंचता है। इस तापमान पर पहुंचने पर यह स्थिति उलटने लगती है। जैसे ही तापमान 4° सें. से कम होता है, पानी फिर से फैलना प्रारम्भ करता है और जब इसका तापमान 0° सें. तक पहुंचता है, 4° सें. तापमान की अपेक्षा यह काफी हल्का हो चुका होता है। अतः 4° सें. पर पानी अपने अधिकतम घनत्व पर पहुंच जाता है और इसीलिये झील के तल में जा पहुंचता है।

पानी के इस विचित्र व्यवहार का प्रकृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इनमें सबसे मुख्य यह है कि बर्फ में झीलों और नदियों की सतह पर जमने की क्षमता आ जाती है। यदि ऐसा न होता तो झीलें तल में भी और संभवतया गर्मियों के मौसम में भी अन्दर से जमी रहतीं। इस प्रकार जल-जीवों का सर्वथा नाश हो जाता।

एक बात यह है कि पानी में चट्टानों की सूक्ष्म दरारों में जमा होने की प्रवृत्ति है। जम जाने पर यह इतनी दाब उत्पन्न कर देता है कि दरारें चटक कर खुल जाती हैं। इस प्रकार यह अपक्षय अर्थात छीजन (वैदरिंग) की प्रक्रिया में सहायक होता है जिससे कि पहले बालूकण और अन्ततः मिट्टी बनती है।

प्रो. डी. एन. वाडिया एफ. आर. एस का निधन

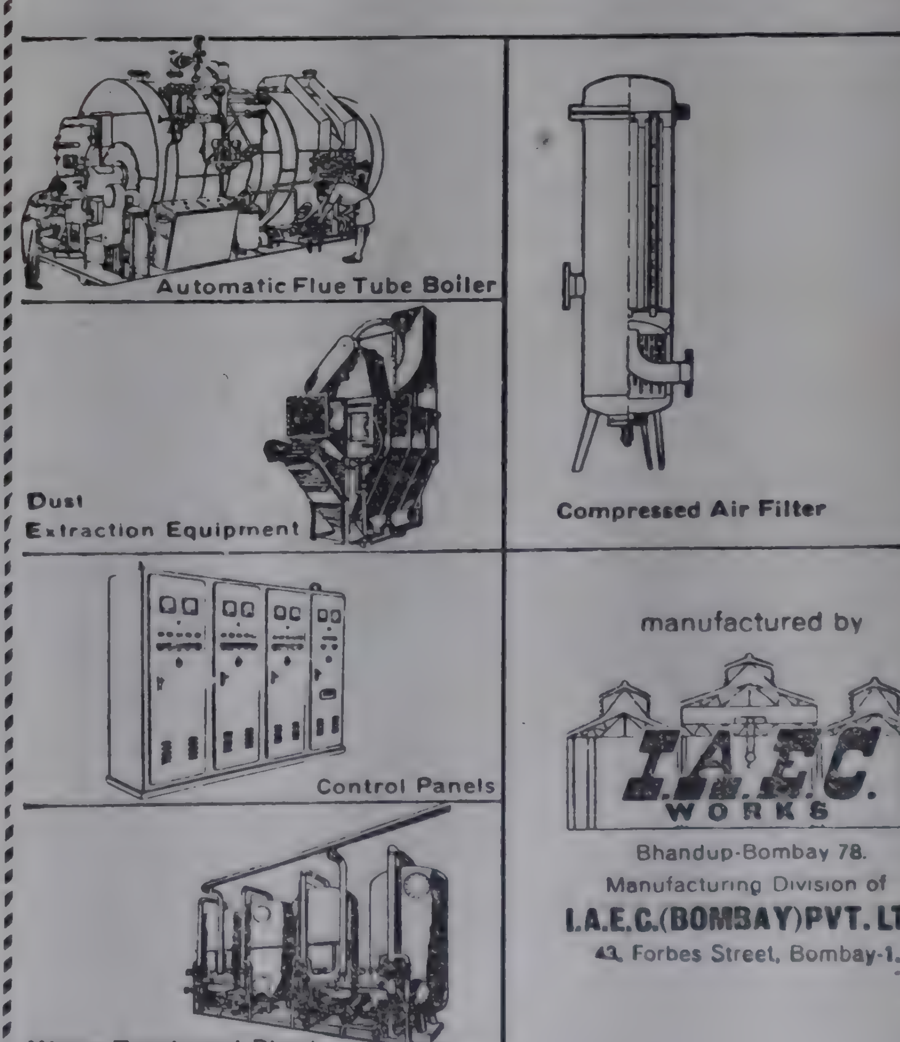
गत 15 जून को राष्ट्रीय प्रोफेसर और परमाणु ऊर्जा आयोग के सलाहकार प्रो. दाराशा नौशीरवान वाडिया का नई दिल्ली में देहावसान हो गया। उनकी आयु 86 वर्ष की थी।

प्रो. वाडिया वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद से अनेक रूपों में सम्बद्ध रहे। वह परिषद की शासी सभा तथा परिषद के बोर्ड के अनेक वर्षों तक सदस्य रहे। राष्ट्रीय महासागर संस्थान की कार्यकारी परिषद तथा महासागर अनुसंधान के लिए भारतीय राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष रहे। इसके अतिरिक्त वह राष्ट्रीय भू-भौतिक अनुसंधान संस्थान, हैदराबाद की कार्यकारी परिषद के सदस्य और भौगर्भिक व खनिज वैज्ञानिक अनुसंधान समिति के अध्यक्ष भी रहे।

प्रो. वाडिया का जन्म 3 अक्तूबर, 1883 को हुआ था। उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय के बड़ौदा कालेज में शिक्षा प्राप्त की और तत्पश्चात 1907 में जम्मू के प्रिन्स आफ वेल्स कालेज में भू-गर्भ विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1920 तक उन्होंने इसी पद पर कार्य किया। 1921 से 39 तक वह "भारतीय भौगर्भिक सर्वेक्षण" में रहे। 1944 तक वह सीलोन सरकार के खनिज सलाहकार भी थे। प्रो. वाडिया ने पीर पंजाल प्रक्षेत्र, हज़ारा, काश्मीर के हिमालय तथा अन्य क्षेत्रों का अत्यन्त महत्वपूर्ण सर्वेक्षण किया था। उन्होंने 'जिआलॉजी आफ इंडिया' शीर्षक से एक पुस्तक तथा खनिज विज्ञान और संरचनात्मक भूगर्भ विज्ञान आदि विषयों पर अनेक लेख आदि लिखे थे।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 29वें अधिवेशन (1942) के वह मुख्य अध्यक्ष व राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान के अध्यक्ष (1945–46) रहे थे। नई दिल्ली में आयोजित अन्तरराष्ट्रीय भौगर्भिक कांग्रेस का 12वां अधिवेशन उन्हीं की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था और अगस्त–सितम्बर, 1968 में हुए इसी कांग्रेस के 13वें अधिवेशन में भाग लेने के लिए उन्हीं के नेतृत्व में भारतीय भू-गर्भ वैज्ञानिकों का एक प्रतिनिधि मण्डल प्राग भेजा गया था।

प्रो. वाडिया रॉयल सोसायटी के फैलो थे। 1934 में उन्हें रॉयल जिओग्राफिकल सोसायटी, लन्दन द्वारा 'बैक पुरस्कार' और 1943 में लन्दन की ही जिओलॉजिकल सोसायटी द्वारा 'लायल पदक' प्रदान किया गया था। भारत सरकार ने 1958 में उन्हें पद्म भूषण से विभूषित किया। 1963 में वह राष्ट्रीय प्रोफेसर नियुक्त हुए थे।


Automatic Flue Tube Boiler
Compressed Air Filter
Dust
Extraction Equipment
Control Panels
Water Treatment Plant
manufactured by
I.A.E.C.
WORKS
Bhandup-Bombay 78.
Manufacturing Division of
I.A.E.C.(BOMBAY)PVT. LTD.
43, Forbes Street, Bombay-1.



जलाशयों से पूरित तिब्बत की उच्चभूमि का विस्तृत चित्र जो कि अपोलो–7 द्वारा लिया गया था।

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित।

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

भाद्र 1891 : अगस्त 1969



भारतीय भाषा यूनिट, कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली



चांद की भूमि पर संयुक्त राज्य अमेरिका का झंडा गाड़ते हुए नील आर्मस्ट्रांग और एडविन एल्ड्रिन


Don't take
Chances
your safe bet is
AJANTA
• STRIP RECORDING CHARTS
• GRAHPS
AND
AJANTA
RECORDING
INKS
CHHENNA CORPN.
P.O. BOX 1728, DELHI-6
PHONE : 272426 GRAMS : GRAPHMAKER

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धनराशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में........................ 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या.......है। मैं...............रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

क्रमांक..............................दिनांक..............................भेज रहा हूं।

पूरा नाम..

पता..

डाकघर..............................जिला....................राज्य...............

हस्ताक्षर..

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स॰ सम्पादक
श्यामसुन्दर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहनचन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

गुलदाऊदी (क्राइसेंथमम) के फूल
(चित्र–राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान, लखनऊ, के सौजन्य से)

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 भाद्र 1891 अगस्त 1969 अंक 8 पूर्णांक 203

विषय-सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपये	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

कपड़े भी रवेदार होते हैं

नन्दलाल जैन

साधारण व्यक्ति के लिये चीनी, नमक, फिटकरी और शोरा जैसे पदार्थ ही रवेदार हैं। उसे यह जानकर आश्चर्य होगा कि कपड़े बनाने वाले विभिन्न प्रकार के रेशे भी रवेदार होते हैं। बीसवीं सदी से पूर्व रबर और रेशों को रवाहीन समझा जाता था और वास्तव में सामान्य अवस्था में ये दिखते भी ऐसे ही हैं। यह तो एक्स-किरणों का वरदान ही समझिये कि इनकी सहायता से वैज्ञानिकों को पदार्थों की संरचना ज्ञात हुई।

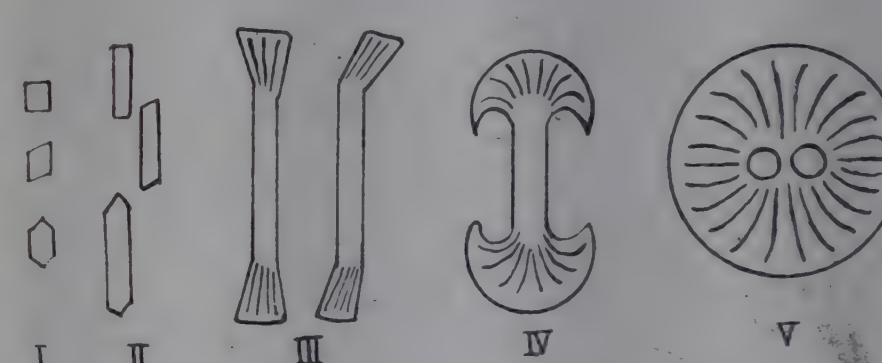
1930-40 के बीच माइक्रोस्कोप और एक्स-किरण-विवर्तन संबंधी परीक्षणों से यह बात भलीभांति प्रमाणित हो गयी कि प्राकृतिक रबर और रेशों में पर्याप्त क्रिस्टलता होती है परन्तु उनमें शत प्रतिशत क्रिस्टलता नहीं होती। शत प्रतिशत क्रिस्टलता तो पदार्थ को कठोर और भंगुर बनाती है। वस्त्रों में लोच और मृदुता उनमें उपस्थित अक्रिस्टलता के कारण ही होती है। यह सही है कि रेशों के विभिन्न गुण उनकी क्रिस्टलता के परिणाम पर निर्भर करते हैं। इसके परिणाम को नियंत्रित कर रेशे के गुणों में परिवर्तन और परिवर्धन सम्भव है। यह नियंत्रण, प्राकृतिक रेशों की तुलना में, नाइलोन आदि संश्लेषित रेशों में सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इसीलिये संश्लेषित वस्त्रों के कुछ गुण प्राकृतिक वस्त्रों से उत्तम होते हैं।

सभी प्रकार के कपड़े रेशेदार पदार्थों से ही बनते हैं। अतः वस्त्रों के गुण रेशेदार पदार्थों की संरचना पर निर्भर करते हैं। रेशों से कपड़ा बनाने की प्रक्रिया में उनकी कताई और बुनाई की जाती है। कताई की क्रिया में रेशे न केवल तनते हैं अपितु वे एक दूसरे के समानान्तर होकर सर्पिल रूप में ऐंठ जाते हैं। बुनाई की क्रिया में उक्त तने और ऐंठे हुए रेशों का विशेष प्रकार का समुच्चयन किया जाता है जिससे कपड़ा बनता है।

आजकल हम तीन प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करते हैं: (1) कपास, रेशम व ऊन जैसे प्राकृतिक रेशों से बने वस्त्र; (2) रेयन, ऐसीटेट आदि परिवर्धित कपास के वस्त्र और (3) नाइलोन, टेरिलीन आदि संश्लेषित रेशों से बने वस्त्र। इन सभी प्रकार के वस्त्रों का प्रकाशीय एवं एक्स-किरण अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ भौतिक और रासायनिक विधियां भी ज्ञात की गई हैं जिनसे रेशों की क्रिस्टलता ज्ञात करने में सहायता मिली है। ये विधियां इस तथ्य पर आधारित हैं कि रवेदार पदार्थ की संरचना रवाहीन पदार्थों की अपेक्षा व्यवस्थित होती है। इस पर विविध अभिकर्मकों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। इन विधियों से क्रिस्टलता का परिमाणात्मक अध्ययन भी संभव है।

स्थायी संरचना

भौतिकीविदों की दृष्टि से, पदार्थ की वही आण्विक संरचना स्थायी होती है जिसमें प्राप्य मुक्त ऊर्जा न्यूनतम रहे। पदार्थ की मणिभीय संरचना इस स्थिति के सर्वथा अनुकूल होती है। यही कारण है कि वह अधिक स्थायी होती है। वस्त्रों के काम आने वाले सभी पदार्थों की यह विशेषता है कि उनके अणु बड़े होते हैं इसलिये वे पूरी तरह से क्रिस्टलित नहीं हो पाते। क्रिस्टलन के समय ही विभिन्न अणु एक दूसरे में अन्तः-ग्रथित हो जाते हैं और अक्रिस्टलीय क्षेत्रों को जन्म देते हैं। क्रिस्टलीय क्षेत्रों में भी छोटी-छोटी क्रिस्टलिकायें (क्रिस्टलाइट) बन जाती हैं परन्तु उनका विस्तार सम्पूर्ण अणु के विस्तार की तुलना में नगण्य होता है। यही नहीं, कभी-कभी क्रिस्टलिकाओं के विस्तार में भी विविधता हो जाती है जिससे रेशेदार पदार्थ प्रायः बहु-आकृतिक हो जाते हैं।



स्फेरुलाइट निर्माण-प्रक्रिया के विविध चरण

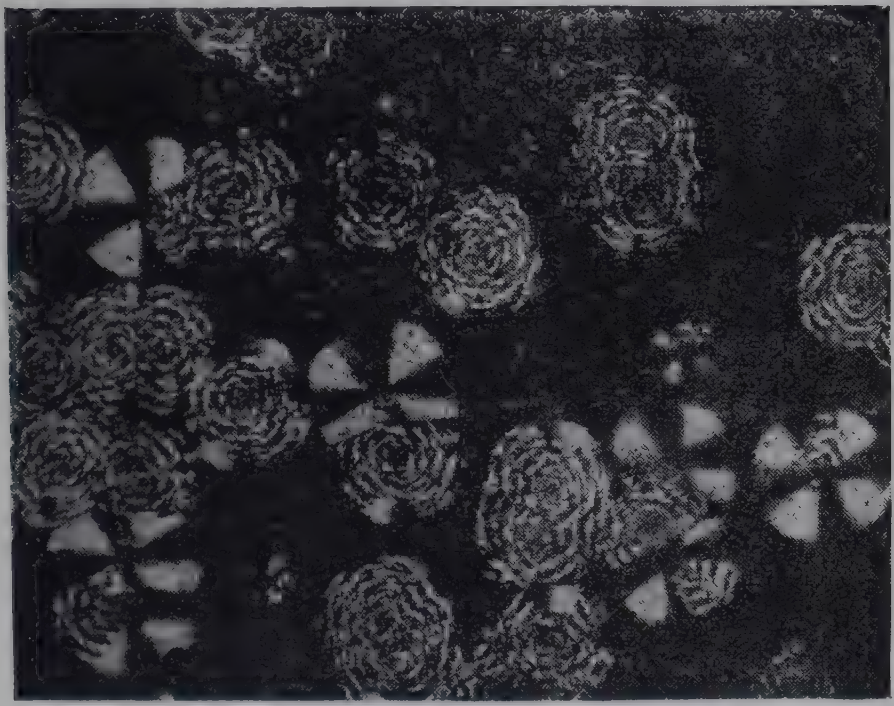
पदार्थों के रवेदार होने के लिये उनकी रासायनिक संरचना ज्यामितीय दृष्टि से 'नियमित' होनी चाहिये। संश्लेषित रेशों की संरचना पर्याप्त रूप से नियमित होती है अतः उनमें क्रिस्टलता भी अधिकतम पाई जाती है। किन्तु रासायनिक सरचना ही क्रिस्टलता का एक मात्र उपादान नहीं है, अणु के घटकों का समीपतम संकुचन भी इसके लिये आवश्यक है। द्वितीयक बंधों का अस्तित्व इसमें सहायक होता है। एक्स-किरण चित्रों से प्राप्त सूचनायें रेशेदार पदार्थों की ऐसी ही आंतरिक आण्विक संरचना को प्रकट करती हैं और समतुल्यता की अभिकल्पना को सत्यापित करती हैं।

सेलूलोज

रासायनिक दृष्टि से कपास में 90-95 प्रतिशत सेलूलोज, 5-7 प्रतिशत मोम, पेक्टीन आदि अपद्रव्य होते हैं। यही सेलूलोज समस्त

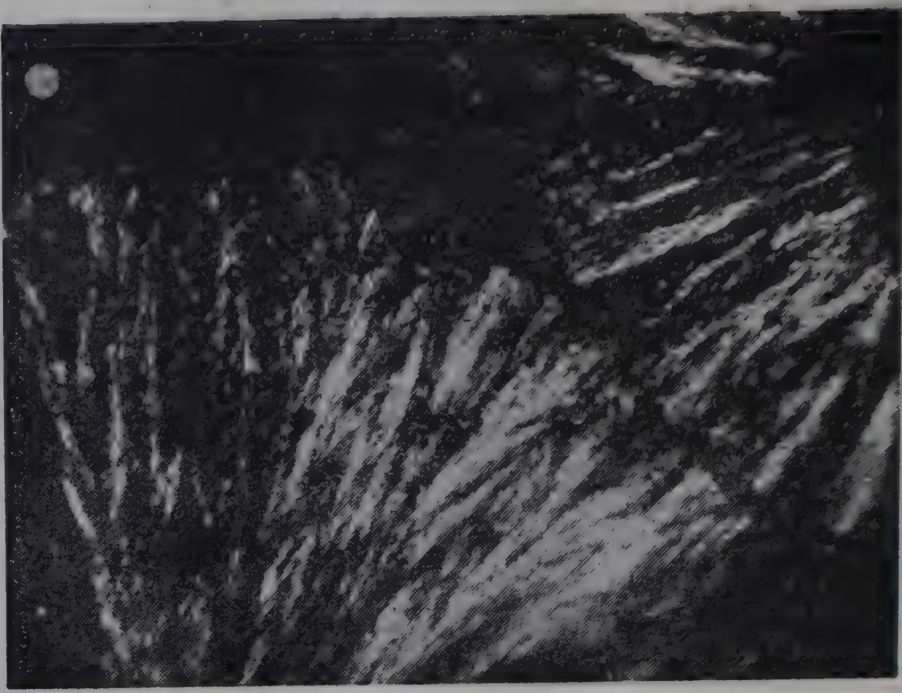
पादप-जगत का प्रमुख अवयव है । इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप से क्रिस्टलों की सूक्ष्मतर आकृतियों के निर्माण की जानकारी प्राप्त हुई है। इन परीक्षणों से पता चला है कि कपास के रेशे दंडाकार या चकती के आकार के होते हैं और उनकी लम्बाई गोलाई के अनुपात में बहुत अधिक होता है। जिस पदार्थ की लम्बाई, गोलाई का अनुपात प्रायः 1000 से कम हो, उसे न तो रेशा ही कह सकते हैं और न उसके वस्त्र ही बन सकते हैं ।

अन्य रेशों के समान सेलूलोज भी पूर्णतः रवेदार नहीं होता। अपने स्रोत के अनुसार उसकी क्रिस्टलता लगभग 25-75 प्रतिशत पाई गई है । यही नहीं, क्रिस्टलता के ज्ञात करने की विधियां भी इसके भिन्न-भिन्न मान बताती हैं । उदाहरणार्थ जहां घनत्व और एक्स-किरण विधि से कपास की क्रिस्टलता 70 प्रतिशत तक पाई गई है, वहां जलीय अपघटन, आक्सीकरण आदि रासायनिक विधियों से यह मान 85 प्रतिशत तक हो जाता है । यह ज्ञात हुआ है कि कपास की क्रिस्टलीय संरचना अपद्रव्यों की उपस्थिति में पूर्णतः विकसित नहीं हो पाती ।



समकेन्द्री वलय पैटर्न

सेलूलोज के अणु बहुत बड़े होते हैं। समझा जाता है कि एक अणु में 20 हजार ग्लूकोज यूनिट होते हैं । इसलिये सेलूलोज रेशों की लम्बाई काफी अधिक होती है परन्तु गोलाई बहुत कम । सेलूलोज के एक ही रेशे में, क्रिस्टलता के अनुरूप, कई क्रिस्टलीय और अक्रिस्टलीय क्षेत्र होंगे। इन अल्पविस्तारी क्रिस्टलों को 'मिसेल' कहते हैं । ये मिसेल अक्रिस्टलीय क्षेत्रों में ग्रथित रहते हैं, अतः सेलूलोज या अन्य रेशों की संरचना को प्रारम्भ में फिंज मिसेली कहा जाता था । अगले पृष्ठ पर कपास का एक्स-किरण चित्र दिया गया है । इसमें काली सी पृष्ठभूमि में एक अक्ष के चारों ओर नियमित वलय या चाप आकृतियां दिख रही हैं । ये सेलूलोज की क्रिस्टलीयता प्रकट करती हैं। इसके साथ ही इसके मध्य में जो अस्पष्ट (डिफ्यूज्ड) पृष्ठभूमि है, वह अक्रिस्टलीय क्षेत्र है। यह देखा गया है कि कपास के रेशों को तानने पर उनकी उक्त चाप-आकृतियां और भी तीक्ष्ण हो जाती हैं ।



डेन्ड्राइटी

अक्रिस्टलीय क्षेत्र

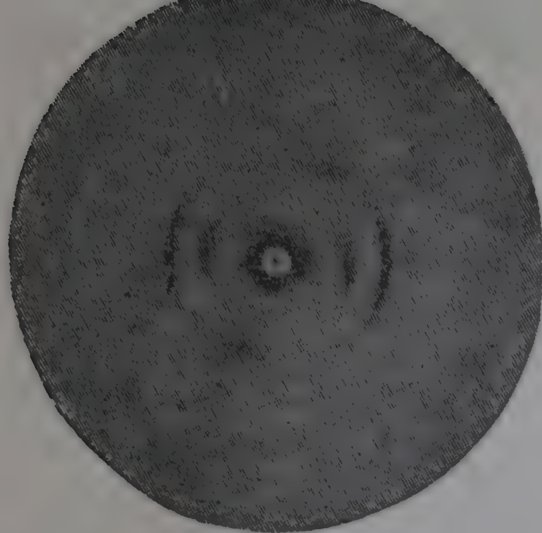
विस्तृत अध्ययनों से यह पता चला है कि जिन क्षेत्रों को हम अक्रिस्टलीय कहते हैं, उनमें केवल 10 प्रतिशत क्षेत्र ही वस्तुतः अक्रिस्टलीय होते हैं, अन्य क्षेत्रों में अल्पतर विस्तार की क्रिस्टलिकायें रहती हैं जो एक्स-किरणों के अवलोकन क्षेत्र में नहीं आतीं। यह क्षेत्र क्रिस्टलीय क्षेत्र की तुलना में अभिकर्मकों से जल्दी प्रभावित होता है। सेलूलोज प्रधान रेमी और अन्य प्राकृतिक रेशों की क्रिस्टलता कपास से अच्छी होती है।

रेशम और ऊन

रेशम का कीड़ा रेशम तैयार करता है जिसका रेशा मूलतः फाइब्रोइन कहलाता है। ये रेशे सेरेसीन नामक गोंद से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। साबुन के पानी में रेशों को उबालने से उनका गोंद घुल जाता है और रेशे मुक्त हो जाते हैं। रेशम कपास की अपेक्षा अधिक चमकदार होता है । इसके एक्स-किरण चित्र से पता चलता है कि इसमें कपास के समान केन्द्रीय अक्ष नहीं होता । लेकिन इसमें भी रवेदार तथा



स्फेरुलाइटी मणिभीकरण



कपास का एक्स-किरण चित्र

पिरामिडी क्रिस्टल छत →



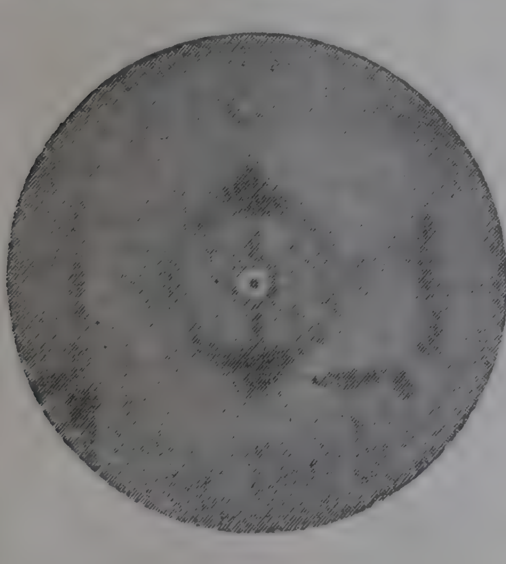
रवाहीन क्षेत्र होते हैं। इसके क्रिस्टलों के सैल-यूनिट की लम्बाई 7° ए. पाई गई है। रेशम का क्रिस्टल-क्षेत्र काफी व्यवस्थित होता है और उसकी संरचना में काफी द्वितीयक बंध पाये जाते हैं। ये ही उसकी सामर्थ्य के प्रमुख कारण हैं।

ऊन की एक्स-किरण संरचना रेशम से कुछ जटिल होती है। इसमें अल्फा और बीटा केरेटीन होते हैं जिनकी मूल संरचनायें रेशम के समान होती हैं। ऊन का एक्स-किरण चित्र बहुत ही अस्पष्ट होता है लेकिन तनी हुई ऊन का चित्र रेशम के समान ही दिखाई देता है।

संश्लेषित रेशे

कपास को विभिन्न रासायनिक अभिकर्मकों से उपचारित कर रेयन, एसीटेट आदि प्राकृतिक परिवर्धित वस्त्र बनाये जाते हैं। इन उपचारों से कपास के अणु अप-बहुलकीकृत होकर छोटे हो जाते हैं। अणुओं के छोटे होने से क्रिस्टलता में कोई विशेष कमी नहीं आती क्योंकि प्रायः सभी अणु एक समान आकार धारण कर और भी अच्छी तरह विन्यासित होने की स्थिति में आ जाते हैं। इनकी क्रिस्टलिकायें सेलूलोज की अपरूप ही समझनी चाहियें। यद्यपि इनका एक्स-किरण चित्र पर्याप्त अस्पष्ट प्रतिभासित होता है लेकिन इसमें भी क्रिस्टल-अक्रिस्टल क्षेत्रों को भलीभांति देखा जा सकता है।

यदि वस्त्र अंशतः क्रिस्टलीय होते हैं, तो उनके क्रिस्टल कैसे होते हैं ? इतने दीर्घाणुओं में क्रिस्टलन की क्रिया कैसे होती है ? पहले प्रश्न का उत्तर तो हमें ध्रुवीय सूक्ष्मदर्शी निरीक्षणों से मिलता है और दूसरे प्रश्न के लिये हमें इलैक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की सहायता लेनी पड़ती है।



नाइलोन का एक्स-किरण चित्र जिसमें उसकी क्रिस्टलता स्पष्ट झलकती है

वस्त्रों के रेशों के क्रिस्टलों की जो विविधता संश्लेषित पदार्थों में प्राप्त हुई है, वह प्राकृतिक रेशों में नहीं होती। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक रेशों के गलनांक आदि गुण ठीक से अभिलक्षित नहीं हो सके हैं अतः उनकी क्रिस्टलन-प्रक्रिया प्रयोग का विषय नहीं बन सकी है।

क्रिस्टलिकायें

एक्स-किरण विवर्तन चित्रों में जो वलय या चमकीले चाप दिखते हैं उनके आधार पर रेशों की क्रिस्टलिकाओं का विस्तार 100-200° ए. प्रतीत होता है। लेकिन प्रकाश प्रकीर्णन विधि से यही विस्तार इससे कोई दस गुना प्राप्त होता है। कई शोधकर्ताओं ने तो इससे 80-100 गुने विस्तार की क्रिस्टलिकायें प्राप्त की हैं। ये क्रिस्टलिकायें दंड, चकती या चौरस-पटल के रूप में हो सकती हैं। यही नहीं, रेशों की पतली परतों के ध्रुवीयण-सूक्ष्मदर्शी परीक्षण से 75,000° ए. तक के विस्तार की क्रिस्टलिकायें प्राप्त हुई हैं जिनका स्थूल आकार स्फेरुलाइटी होता है। वस्त्रों में काम आने वाले प्रायः सभी संश्लेषित पदार्थों के सूक्ष्मदर्शी अध्ययन से स्फेरुलाइट क्रिस्टल प्राप्त हुए हैं। खनिजों व धातुओं के ऐसे क्रिस्टलों का ज्ञान तो बहुत पहले से रहा है, लेकिन रेशों के स्फेरुलाइटी होने की बात सर्वप्रथम 1945 में ही ज्ञात हुई।

साधारणतः स्फेरुलाइटी गोलाकार होता है जिसके मध्य में केन्द्रीय काले क्षेत्र के चारों ओर एक माल्टीज क्रास होता है जहां से विभिन्न क्रिस्टलिकायें त्रिज्या के रूप में चारों ओर फैलती हैं। प्रकाश के परावर्तन की विषम-दैशिकता के अनुरूप ये ऋणात्मक और धनात्मक रूप से दो प्रकार के होते हैं जिन्हें एक दूसरे में विभिन्न स्थितियों में परिवर्तित किया जा सकता है। कई रेशों में तो इनकी अन्य विविधतायें भी देखी गई हैं। उदाहरणार्थ, कभी-कभी टेरिलीन में माल्टीज क्रास टेढ़ा-मेढ़ा होता है।

स्फेरुलाइटों के दीर्घ विस्तार ने रेशों की फ्रिंज मिसेली संरचना को समाप्त कर दिया। प्रश्न यह है कि क्या स्फेरुलाइट रेशों के आधारभूत क्रिस्टल हैं या वे क्रिस्टलिकाओं के समुच्चय के रूप में निर्मित होते हैं? केलर के शोधकार्यों से पता चला है कि ये विभिन्न क्रिस्टलिकाओं के समुच्चयात्मक विन्यास से ही निर्मित होते हैं। ●

मधुमक्खी की यह विचित्र भाषा

कुमकुम और अशोक सेन

संसार में असंख्य जीव हैं। उनमें से अधिकांश अपने सजातीय जीवों से अपनी एक भाषा विशेष द्वारा बातचीत करते हैं। उनकी यह भाषा सांकेतिक भी हो सकती है और ध्वनियुक्त भी। मनुष्य ने इनमें से अनेक जीवों की भाषा को समझने का प्रयास किया है। परन्तु केवल मधुमक्खी की ही भाषा को वह समझ सका है। मधुमक्खी की भाषा को समझने का श्रेय आस्ट्रिया के एक वैज्ञानिक कार्ल वॉन फ्रिश को प्राप्त है। वॉन फ्रिश 'म्यूनिख' में जीव-विज्ञान के अध्यापक थे। एक बार वह अपने बगीचे में बैठे हुए कुछ मिठाई खा रहे थे। खाते-खाते उन्होंने मिठाई की तश्तरी अपने सामने रखी मेज पर रख दी और जीव-विज्ञान की किसी समस्या का हल खोजने में विचारमग्न हो गये। अनायास ही उनका ध्यान उस तश्तरी की ओर गया। उन्होंने देखा कि एक मधुमक्खी उस मिठाई पर बैठी हुई है। कुछ देर में वह उड़ कर चली गई। थोड़ी देर बाद वॉन फ्रिश को कुछ भनभनाहट सी सुनाई दी। उन्होंने देखा कि मधुमक्खियों का झुंड का झुंड उस मिठाई की तश्तरी के ऊपर मंडरा रहा है। मक्खियों के झुंड को देखकर फ्रिश के मस्तिष्क में प्रश्न उठा कि ये सब मक्खियां यहां कैसे पहुंचीं? क्या उस पहली मक्खी ने इन्हें सूचित किया? और यदि उसी ने उन्हें सूचित किया तो किस प्रकार? क्या उनकी भी कोई भाषा होती है? इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने के लिए फ्रिश ने अनेक प्रयोग किए और उन्होंने यह सिद्ध किया कि मधुमक्खियों की भी एक भाषा होती है। जब कभी कोई 'स्काउट' मधुमक्खी किसी फूल का रस चूस कर अपने छत्ते में वापस आती है तो वह तुरन्त अपने साथियों को अपनी भाषा में बताती है कि उनको छत्ते से इतनी दूर, इस दिशा में जाना है और वहां जा कर इस प्रकार के फूल से रस एकत्रित करना है।

वॉन फ्रिश ने प्रयोग करने के लिए एक विशेष प्रकार का छत्ता बनवाया जिसमें उन्होंने एक शीशा भी लगवाया। इस शीशे में से छत्ते के अन्दर मधुमक्खियों को आसानी से देखा जा सकता था। उन्होंने देखा कि जब कभी भी कोई 'स्काउट' मधुमक्खी किसी खाद्य पदार्थ की टोह लेकर वापस लौटती है तो छत्ते में आकर एक विशेष प्रकार का नृत्य करने लगती है। यह नृत्य ही वास्तव में उनकी भाषा है। यह नृत्य दो प्रकार का होता है। चक्रिक और वेगिंग।

नृत्य ही भाषा

चक्रिक नृत्य में 'स्काउट' मधुमक्खी एक ही स्थान पर चक्कर लगाती रहती है। पहले वह एक दिशा में घूमती है और फिर दूसरी दिशा में और इस प्रकार उसके घूमने का पथ अंग्रेजी के अंक '8' की आकृति बनाता है। आरम्भ में 'स्काउट' मधुमक्खी छत्ते में एक ही स्थान पर नृत्य करती है; फिर वह छत्ते के दूसरे भागों में भी जा-जा कर अपनी साथी मधुमक्खियों के साथ नृत्य करती है।

वेगिंग नृत्य बहुत कुछ चक्रिक नृत्य के समान ही होता है। अन्तर केवल यह होता है कि इसमें '8' संख्या के दोनों घेरे एक दूसरे से एक सीधी रेखा द्वारा पृथक से होते हैं। वेगिंग नृत्य में मधुमक्खी पहले कुछ दूर एक सीधी रेखा में दौड़ती है साथ ही वह अपने उदर को उस सीधी रेखा से दोनों ओर हिलाती जाती है। कुछ दूर जाने के बाद वह वापस मुड़ती है। ठीक यही क्रिया वह बार-बार करती जाती है।

छत्ते के अन्दर उपस्थित दूसरी मधुमक्खियां नृत्य करती हुई 'स्काउट' मधुमक्खी के चारों ओर घूमती हैं और फिर स्वयं भी उसी ढंग से नृत्य करने लग जाती हैं। साथ ही वे अपनी श्रृंगिका द्वारा 'स्काउट' के शरीर को स्पर्श भी करती हैं और इस प्रकार उनको भोजन मिलने के स्थान की पूरी सूचना मिल जाती है और वे छत्ते से बाहर निर्दिष्ट दिशा में भोजन प्राप्त करने निकल पड़ती हैं।

नृत्य गति में भेद

वॉन फ्रिश ने प्रयोगों द्वारा यह भी बताया कि उनके नृत्य में तीव्रता या मन्दता आ जाना उनकी भाषा की भावाभिव्यक्ति है। 'स्काउट' यदि यह सूचना लाई है कि अमुक स्थान पर बहुत सारा भोजन प्राप्य है तो छत्ते में वापस आकर वह तीव्र गति से नृत्य करने लगती है। भोजन की मात्रा व प्रकार यदि पर्याप्त और अच्छा नहीं होता तो उसके



मधुमक्खियों का नृत्य ही उनकी भाषा है : (1) चक्रिक नृत्य (2) वेगिंग नृत्य। नृत्य से मधुमक्खियां अपने साथियों को खाद्य पदार्थ की छत्ते से दूरी का ज्ञान कराती हैं।

नृत्य में मन्दता आ जाती है। यदि भोजन उनके योग्य ही नहीं होता तो 'स्काउट' मधुमक्खी छत्ते में वापस लौट चुपचाप बैठ जाती है।

छत्ते से भोजन की दूरी का ज्ञान

'स्काउट' मधुमक्खी अपने साथियों को खाद्य पदार्थ की छत्ते से दूरी की सूचना भी नृत्य द्वारा ही देती है। वॉन फ्रिश ने प्रयोगार्थ एक ही छत्ते की कुछ मधुमक्खियों को दो समूहों में बांटा और दोनों समूहों की मधुमक्खियों को छत्ते से भिन्न-भिन्न दूरी पर भोजन देने का प्रबन्ध किया। प्रथम समूह की मधुमक्खियों के शरीर पर उन्होंने नीला रंग लगाया और दूसरे समूह की मधुमक्खियों के शरीर पर लाल रंग।

नीले रंग वाली मधुमक्खियों का भोजन छत्ते से कुछ ही मीटर दूर था परन्तु लाल रंग वाली मधुमक्खियों का भोजन छत्ते से करीब 300 मीटर दूरी पर रखा गया। प्रयोग में वॉन फ्रिश ने देखा कि नीले रंग वाली 'स्काउट' मधुमक्खी जब छत्ते में वापस आयी तो उसके नृत्य करने का ढंग 'चक्रिक' था जबकि लाल रंग वाली 'स्काउट' मधुमक्खी 'वेगिंग' नृत्य करती थी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कम दूरी को बताने के लिये मधुमक्खियां 'चक्रिक' नृत्य और अधिक दूरी को दर्शाने के लिये 'वेगिंग' नृत्य करती हैं।

वॉन फ्रिश ने धीरे-धीरे पासवाले भोजन को छत्ते से दूर कर दिया और दूरी पर रखे भोजन को वे पास ले आये। इसका परिणाम यह हुआ कि नीले रंग वाली 'स्काउट' मधुमक्खी अब 'वेगिंग' नृत्य करने लगी।

प्रश्न उठता है कि आखिर भिन्न-भिन्न दूरियों को 'स्काउट' मक्खी किस प्रकार बताती है? वेगिंग नृत्य में मधुमक्खी जिस गति से अपने उदर को इधर-उधर हिलाती है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है और शायद उसकी घटी या बढ़ी दर ही मधुमक्खियों की भाषा हो जिससे वे भिन्न-भिन्न दूरी के बारे में बात करती हैं। यह पाया गया है कि यदि भोजन छत्ते से 1000 फुट दूर है तो मधुमक्खी 'वेगिंग' नृत्य के दौरान एक मिनट में करीब 30 बार घूमती है। यदि दूरी 2000 फुट की है तो एक मिनट में वह 12 बार दौड़ कर घूमती है।

आश्चर्य की बात है कि मधुमक्खियां नृत्य की गति का सही-सही अनुमान अपने छत्ते के भीतर अन्धकार तक में लगा लेती हैं। वैज्ञानिकों ने 'वेगिंग' नृत्य की गति को एक प्रयोग द्वारा मापा। इस प्रयोग में मधुमक्खी के उदर पर एक छोटा-सा चुम्बक लगा दिया गया। नृत्य करते समय मधुमक्खी के शरीर के ऊपर एक कुंडली रखी गई। नृत्य के दौरान जिस गति से मधुमक्खी का उदर इधर-उधर हिलता है उसी गति से वह चुम्बक भी गति करता है जिससे कुंडली के विद्युतीय वोल्टेज में उतार-चढ़ाव पैदा होता है। इस उतार-चढ़ाव को ओसीलोग्राम नामक एक यंत्र द्वारा टेपरिकार्डर पर रिकार्ड कर लिया जाता है।

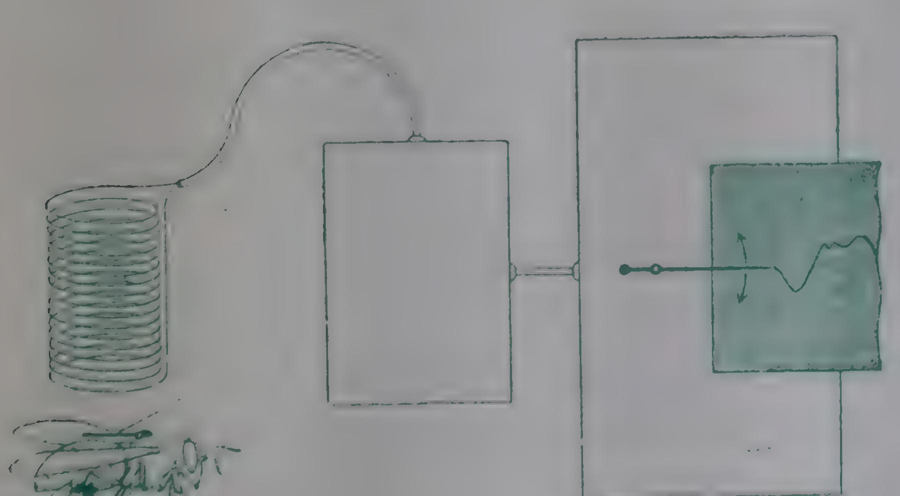
मधुमक्खी नृत्य के दौरान जिस गति से अपने उदर को हिलाती है उसी से भोजन की दूरी का अनुमान साथी मधुमक्खियों को लग जाता है।

कृत्रिम मधुमक्खी और उसका नृत्य

मधुमक्खी की नृत्यमयी भाषा को समझने के लिए कुछ वैज्ञानिकों ने एक कृत्रिम मधुमक्खी का निर्माण किया। यह मधुमक्खी जीवित मधुमक्खियों जैसा ही 'वेगिंग' नृत्य करने के योग्य थी। जब इस कृत्रिम मधुमक्खी को छत्ते में रखकर नृत्य करवाया गया तो छत्ते की दूसरी मधुमक्खियां उत्तेजित हो उठीं और वे भी उसी गति से नृत्य करने लगीं। परन्तु दुर्भाग्यवश कोई भी मधुमक्खी छत्ते से बाहर भोजन की तलाश में नहीं निकलीं। प्रश्न उठता है क्यों?

अवश्य ही कृत्रिम मधुमक्खी के नृत्य में कुछ कमी थी। अतः जीवित मधुमक्खी के 'वेगिंग' नृत्य को दुबारा परखा गया। जिससे पता लगा कि नृत्य के दौरान मधुमक्खियां अपने परों द्वारा कुछ कम्पन भी उत्पन्न करती हैं जिसकी आवृत्ति 250 साइकिल प्रति सेकंड होती है। कृत्रिम मधुमक्खी इस प्रकार का कोई कम्पन कर सकने योग्य नहीं थी।

यह ज्ञात करने के लिए कि कहीं इन कम्पनों से उत्पन्न ध्वनि ही तो मधुमक्खी की भाषा नहीं है नृत्य के दौरान एक माइक्रोफोन उनके छत्ते में लगाया गया। अनुमान सही था। इस प्रकार से उत्पन्न कम्पनों से मधुमक्खी अपने साथियों को वास्तव में ध्वनि संकेत देती है। 'वेगिंग'



ओसीलोग्राम—इससे पता लगाया गया कि 'वेगिंग' नृत्य में मधुमक्खियां अपने शरीर को किस गति के साथ हिलाती हैं। नृत्य की तीव्रता और मन्दता मधुमक्खियों की भाषा का एक अंग होता है।



↑ दर्पण

मधुमक्खियां दिशा ज्ञात करने में आकाश में सूर्य की स्थिति को ही मापदंड मानती हैं। (बायें) भोजन छत्ते और सूर्य की सीध में होने पर भोजन की सूचना लाने वाली 'स्काउट' मधुमक्खी छत्ते में नृत्य के दौरान ऊपर की ओर दौड़ती है। (मध्य) छत्ते के नीचे दर्पण रख देने से 'स्काउट' मधुमक्खी को सूर्य का प्रतिबिम्ब नीचे की ओर दिखाई देता है। जिसे देखकर मधुमक्खी नृत्य के दौरान नीचे की ओर दौड़ने लगती है। (दायें) दर्पण हटा देने पर पहले वाली स्थिति आ जाती है और मधुमक्खी सूर्य की ओर मुंह करके दौड़ती है।

नृत्य में मधुमक्खी द्वारा शरीर को इधर-उधर हिलाने की गति और इन ध्वनि संकेतों में परस्पर एक गहरा सम्बन्ध है।

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि भोजन की छत्ते से दूरी बताने के लिये मधुमक्खियां अपनी भाषा में नृत्य की तीव्रता और ध्वनि संकेतों का प्रयोग करती हैं। मधुमक्खियां इन ध्वनि संकेतों को अपने पैरों द्वारा अनुभव करती हैं क्योंकि उनके कान तो होते ही नहीं।

सूर्य की स्थिति : भोजन की दिशा

मधुमक्खी को रेखागणित, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति, ऊर्ध्वाधर तल और आकाश में सूर्य की स्थिति का खासा ज्ञान होता है। वास्तव में मधुमक्खी आकाश में सूर्य की स्थिति को ही दिशा बताने का माप दंड मानती है। छत्ते में आकर वह उर्ध्वाधर सतह पर ही नृत्य करती है। नृत्य करने की दिशा और आकाश में सूर्य की स्थिति के बीच जो कोण बनता है वही भोजन की दिशा को दर्शाता है।

इस बात की पुष्टि करने के लिये वैज्ञानिकों ने एक प्रयोग किया जिसमें मधुमक्खी का भोजन ठीक सूर्य की ही स्थिति में रखा गया। भोजन की इस स्थिति को व्यक्त करने के लिए मधुमक्खी 'वेगिंग' नृत्य में सदा ऊपर की ओर दौड़ती है। कुछ समय पश्चात् एक दर्पण उनके छत्ते के नीचे इस प्रकार रखा गया जिससे सूर्य का प्रतिबिम्ब मधुमक्खियों को नीचे की ओर से दिखाई देता था। ऐसी अवस्था में मधुमक्खी नृत्य के दौरान नीचे की ओर दौड़ी। कुछ देर बाद जब दर्पण छत्ते के नीचे से हटा लिया गया तो वह मधुमक्खी फिर ऊपर की ओर दौड़ने लगी। इससे छते की दूसरी मधुमक्खियों को उनके भोजन की दिशा का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया।

लेकिन जब सूर्य बादलों में छिप जाता है तो उस समय दिशा का ज्ञान कैसे होता होगा? ऐसे समय में सूर्य की अवरक्त किरणें जो बादल को चीर कर निकल जाती हैं मधुमक्खियों के मार्गदर्शन में सहायता करती हैं। ऐसे समय में मधुमक्खी छत्ते की ऊर्ध्वाधर सतह पर नृत्य न करके छत्ते के द्वार पर क्षैतिज सतह पर नृत्य करती है। नृत्य के दौरान वह उसी दिशा में दौड़ती है जिस दिशा में उसका भोजन होता है। साथ ही परों को फड़फड़ा कर वह ध्वनि और कम्पन उत्पन्न करती है।

(शेषांश पृष्ठ 416 पर)

मानव अंग परिवर्तन के लिए पालीमर का उपयोग

प्रेम सक्सेना

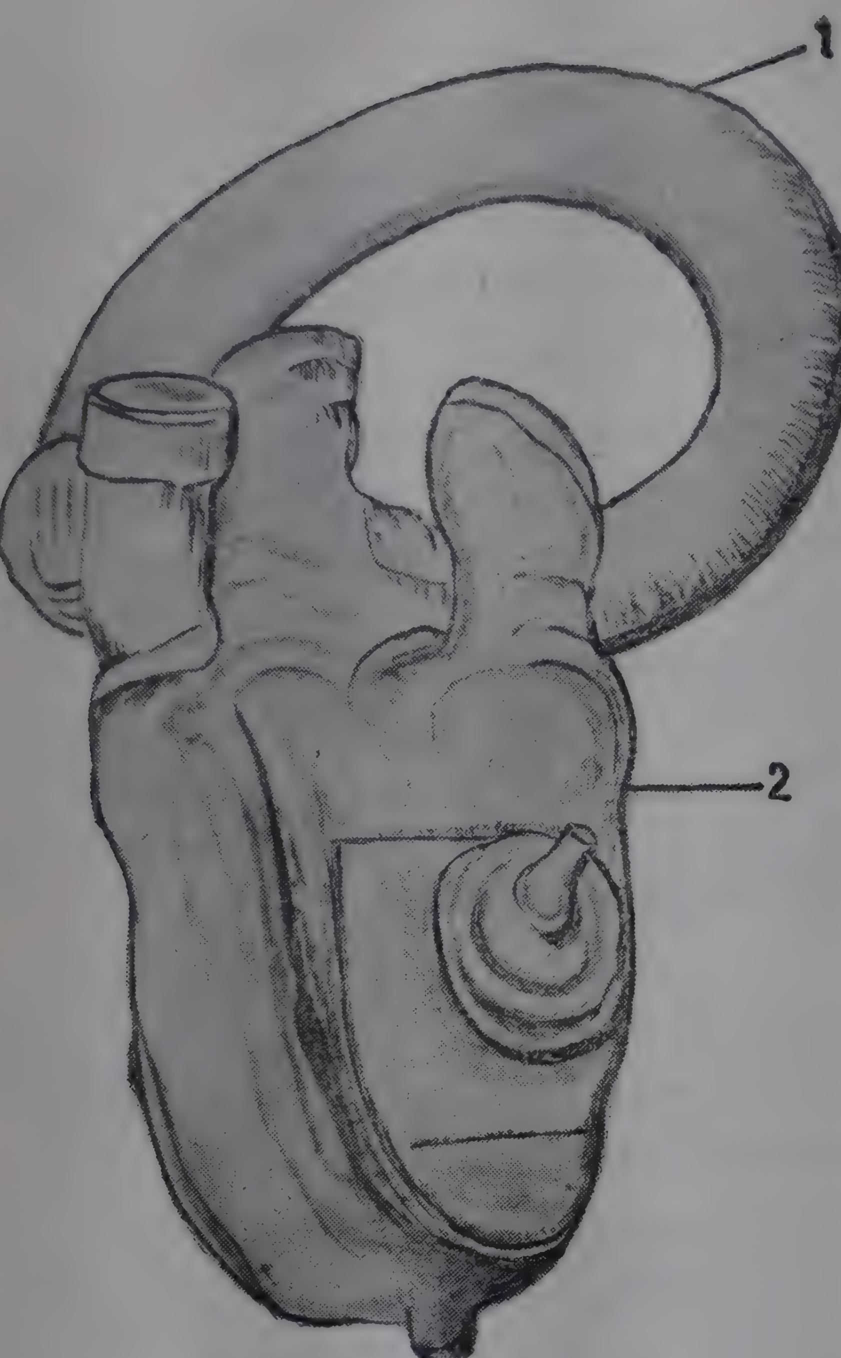
चिकित्सा विज्ञान, विशेषकर उसकी एपोप्लास्टी शाखा ने विगत दो दशकों में भारी उन्नति की है। आज शरीर के लगभग सभी अंगों को, निष्क्रिय हो जाने पर, कृत्रिम अंगों से बदला जा सकता है। भाग्यवश शरीर का वह अंग, जो मानव मस्तिष्क की पहुंच के बाहर है, और जिस पर नियंत्रण पाना आज भी आकाश-कुसुम-सा है, स्वयं मस्तिष्क ही है।

एपोप्लास्टी शल्य चिकित्सा की वह शाखा है, जो मानव अंगों—हृदय, फेफड़े, रक्त वाहिनी धमनियां, वृक्क, नेत्र-गोलक, टांग आदि को कृत्रिम रूप से बदलने में बाहरी सामग्री का उपयोग करती है। डाक्टरों का अनुमान है कि वह दिन अब दूर नहीं है जब पहला व्यक्ति कृत्रिम हृदय धारण कर, कृत्रिम टांगों से शहर की सड़कों पर चलता-फिरता दृष्टिगोचर होगा। उसके सांस लेने के लिए कृत्रिम फुफ्फुस होंगे, उसका रक्त कृत्रिम धमनियों से प्रवाहित हो रहा होगा, कृत्रिम वृक्क उसके शारीरिक विकारों की शुद्धि कर रहे होंगे और वह अपने कृत्रिम नेत्रों से भू-पटल की शोभा का आनन्द ले रहा होगा।

वैसे तो अभी यह सब वैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णित एक कपोल कल्पना के समान ही लगता है, किन्तु यदि देखा जाये तो रोगियों के अंगों को काटकर उनके स्थान पर कृत्रिम अंग लगाना आज प्लास्टिक शल्य-चिकित्सक के लिये साधारण कार्य हो गया है।

अब प्लास्टिक-शल्य-चिकित्सक के पास अंग परिवर्त्तन के लिये प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध है। इनमें सबसे अधिक उपयोगी हैं नाइलोन, डेकरॉन, प्लेक्सी आदि जैसे पॉलीमर। आज दैनिक जीवन में हम इनका उपयोग बहुतायत से कर रहे हैं। रासायनिक रूप से ये अत्यन्त जटिल पदार्थ हैं। इनमें सबसे अधिक जिस पदार्थ का उपयोग किया जाता है, वह है सिलिकोन जिसे लोहे के समान कठोर और तेल के समान स्निग्ध बनाया जा सकता है। इस बाहरी सामग्री के संबंध में बात यह है कि यह मानव शरीर के आंतरिक तंत्रिका-तंत्र के अनुकूल है और शरीर इसे स्वीकार भी कर लेता है। आरम्भ में शल्य चिकित्सकों ने जब कृत्रिम मानव अंग लगाना शुरू किया था उस समय वे उसको बनाने में लकड़ी, हड्डी और हाथीदांत का प्रयोग किया करते थे। किन्तु शरीर इन्हें तुरन्त अस्वीकार कर देता था। फिर उनके स्थान पर धातु का उपयोग किया गया; उसे भी शरीर ने अस्वीकार कर दिया। शरीर की अस्वीकार करने की इस प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाई है संश्लेषित प्लास्टिकों ने।

काफी दिनों से प्राकृतिक गुर्दों के बेकार हो जाने पर उनके स्थान पर कृत्रिम गुर्दे लगाने की आम प्रथा है। वे काफी बड़े होते हैं—कपड़े धोने की मशीन के बराबर। ये शरीर के बाहर लगाये जाते हैं। किन्तु अब एक ऐसा विशेष प्रकार का प्लास्टिक मिल गया है जिसके कृत्रिम वृक्क बनाकर शरीर के अन्दर लगाये जा सकेंगे। इसका नाम पॉली-विनाइल-पाइरो-आयोडीन (पी.वी.पी.) है। स्त्रियों की प्रसाधन सामग्री में इसका पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया जाता है। सिलास्टिक (सिलिकोन का व्यावसायिक नाम) के समान पी.वी.पी. भी शरीर को



सिलिकोन रबर के बने मानव अंग :
(१) फेफड़े ; (२) दिल।

पूर्णरूप से मान्य है। आजकल प्रयोग में आने वाली सेलोफेन की झिल्ली की तुलना में इसकी झिल्ली कृत्रिम वृक्कों में अधिक उपयोगी रहती है।

सिलास्टिक के मान्य अंग

हमारा शरीर बाहरी वस्तुओं को ग्रहण न करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बावजूद इन कृत्रिम वृक्कों को ग्रहण कर लेता है और यह सिलास्टिक की सिलिकोन उपचारित नलिकाओं के कारण सम्भव हो सका है।

जल-कपाल एक मस्तिष्क रोग का नाम है। इस रोग के हो जाने पर मस्तिष्क में 'फालतू' जल भरने लगता है जिससे मस्तिष्क की न केवल कार्य क्षमता कम हो जाती है बल्कि उससे घातक शारीरिक क्षति भी होती है। कभी-कभी तो रोगी की मृत्यु तक हो जाती है किन्तु अब सिलास्टिक नलिकाएं बन जाने से मस्तिष्क के इस अतिरिक्त जल को बाहर निकालने का कार्य सरल हो गया है। आज हजारों व्यक्तियों के सिरों में 45 से 60 से.मी. लम्बी और लगभग 3 से.मी. मोटी नलिकाएं लगी हुई हैं। यह नलिका त्वचा के नीचे कान के पीछे से होकर गले में पहुंचती है, जहां उन्हें ग्रीवा शिरा से मिला दिया जाता है। मस्तिष्क का अतिरिक्त जल इस नलिका मार्ग से बहकर रक्त प्रवाह में पहुंच जाता है, जहां से वह स्वतः ही शरीर के बाहर निकाल दिया जाता है।

जब मस्तिष्क को ढंकने वाला चर्मपत्र (पार्चमेंट) किसी प्रकार क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाता है, उस समय उसके ऊतक और तरल रस फूल कर बाहर निकल आते हैं या बहने लगते हैं। अब ऊतकों को फूलने और रसों को बाहर निकलने से रोकने के लिए डेकरॉन की चढ़ी हुई सिलास्टिक की पट्टियां, जो देखने में मोमी कागज के समान लगती हैं, प्रयोग में लाई जाने लगी हैं।

हृदय में सिलास्टिक के बने कृत्रिम कपाट, महाधमनी तथा अन्य अंग भी सफलता पूर्वक लगाये जा रहे हैं। हृदय को 'वश में करने वाले' हैं वाशिंगटन के डा. चार्ल्स हफनागेल। उन्होंने सबसे पहले सन 1952 में कृत्रिम महाधमनी-कपाट सफलतापूर्वक एक रोगी के हृदय में लगाया था। यह कपाट प्लेक्सीग्लास स्लीव के अन्दर प्लेक्सीग्लास वाल्व का बना हुआ था।

इस संबंध में सबसे ताजा उदाहरण विंडसर के ड्यूक का दिया जा सकता है। कुछ वर्ष पहले शल्य चिकित्सा द्वारा उनके हृदय में डेकरॉन की कृत्रिम धमनी लगाई गई थी।

शल्य-चिकित्सक आज इस स्थिति में पहुंच गया है कि वह बड़ी धमनियों के स्थान पर भी डेकरॉन की बनी हुई इस प्रकार की धमनियां निरन्तर लगा रहा है। एक अन्य युक्ति विद्युत धड़कन यंत्र (इलैक्ट्रिक पेसमेकर) है। यह युक्ति रुक-रुक कर धड़कने वाले हृदय की धड़कन को नियमित करने के लिए उपयोग में लाई जाती है। यह युक्ति आज दस हजार से ऊपर रोगियों में उनकी उदरीय त्वचा के नीचे लगाकर हृदय से तार द्वारा जुड़ी हुई है।

आज अनेक व्यक्ति हैं, जिनके हृदयों में विसकोंसिन विश्वविद्यालय द्वारा विकसित टेफ्लोन के बने हुए तितलीनुमा कपाट काम कर रहे हैं। बताया जाता है अन्य सभी सामग्रियों की तुलना में टेफ्लोन के बने कपाट प्राकृतिक कपाटों के समकक्ष हैं। इनकी सुनम्यता इतनी अधिक है कि ये वर्ष भर में 40 करोड़ बार खुल और मुंद सकते हैं और यही मानव हृदय के धड़कने की वास्तविक गति है। प्लास्टिक के बने अंग कठोर परीक्षा में खरे उतरे हैं।

इस प्रकार आज का प्लास्टिक चिकित्सक नवविकसित संश्लेषित सामग्री का अधिकाधिक उपयोग करके मानव के रोगी अंगों की मरम्मत करने अथवा उन्हें समूचा ही बदल देने में व्यस्त है। ●

भूल सुधार

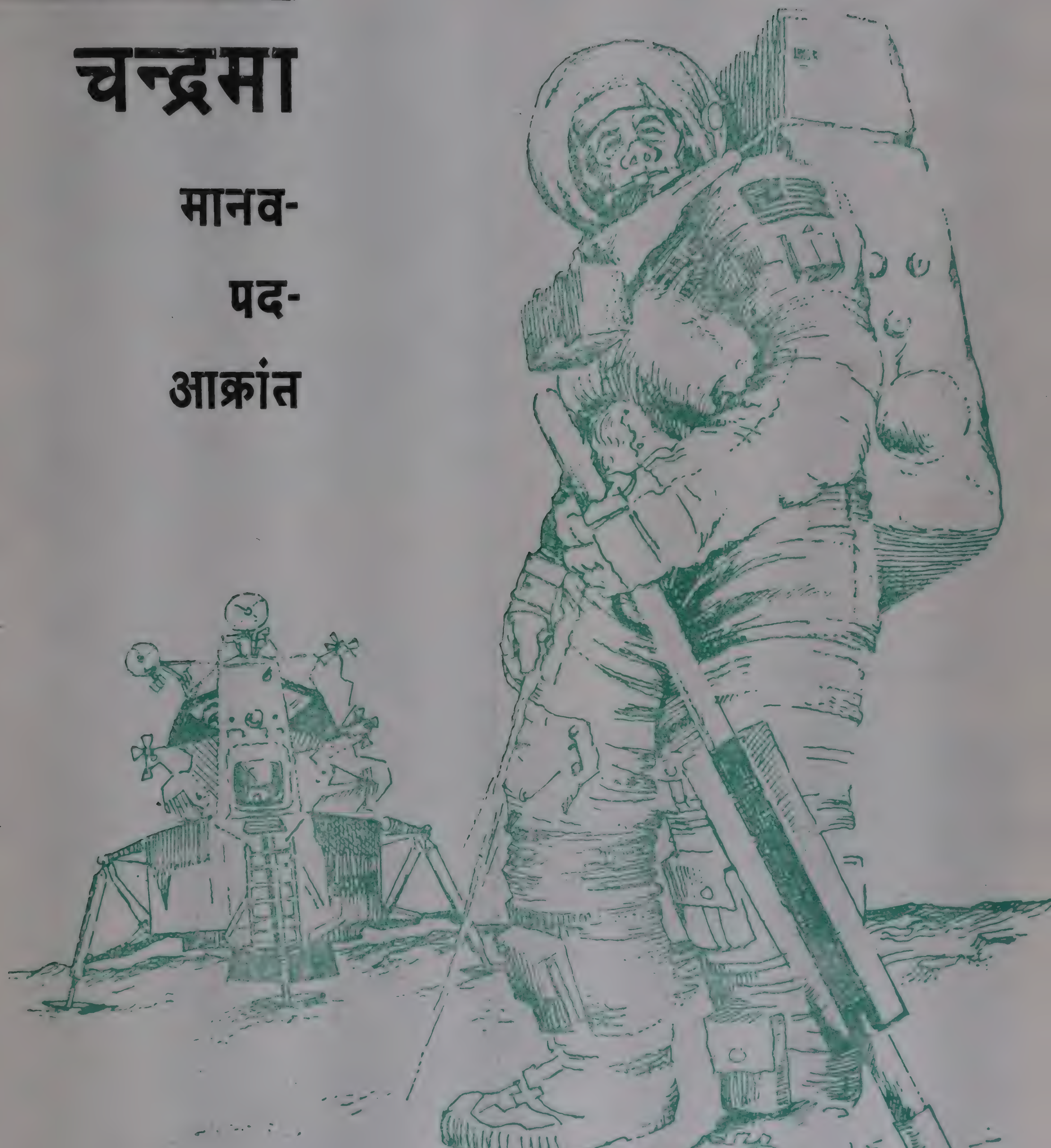
'विज्ञान प्रगति' के जुलाई 1969 अंक में पृष्ठ 365 पर तीसरी पंक्ति में '18 मार्च 1969' को '18 मार्च 1869' पढ़ें। जून 1969 अंक में प्रकाशित लेख 'सृष्टि के छोर पर खड़े क्वासर' में पृष्ठ 328-329 पर विभिन्न क्वासरों को जहां संख्याओं द्वारा व्यक्त किया गया है, त्रुटिवश अंग्रेजी के अक्षर 'C' के स्थान पर 6 छप गया है। उसे कृपया 'C' पढ़ें।

—सम्पादक

अपोलो-11 की सफल उड़ान

चन्द्रमा

मानव-
पद-
आक्रांत



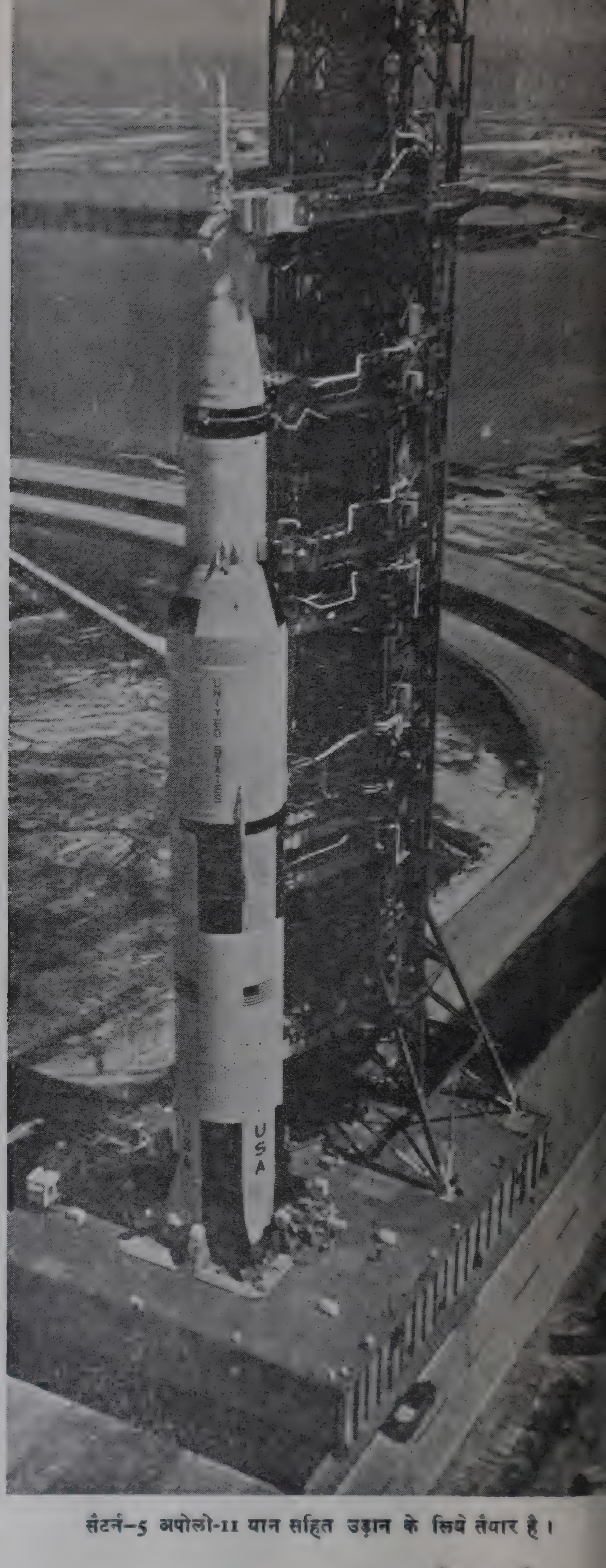
चांद पर सफल पदार्पण

देवेन्द्रनाथ भटनागर

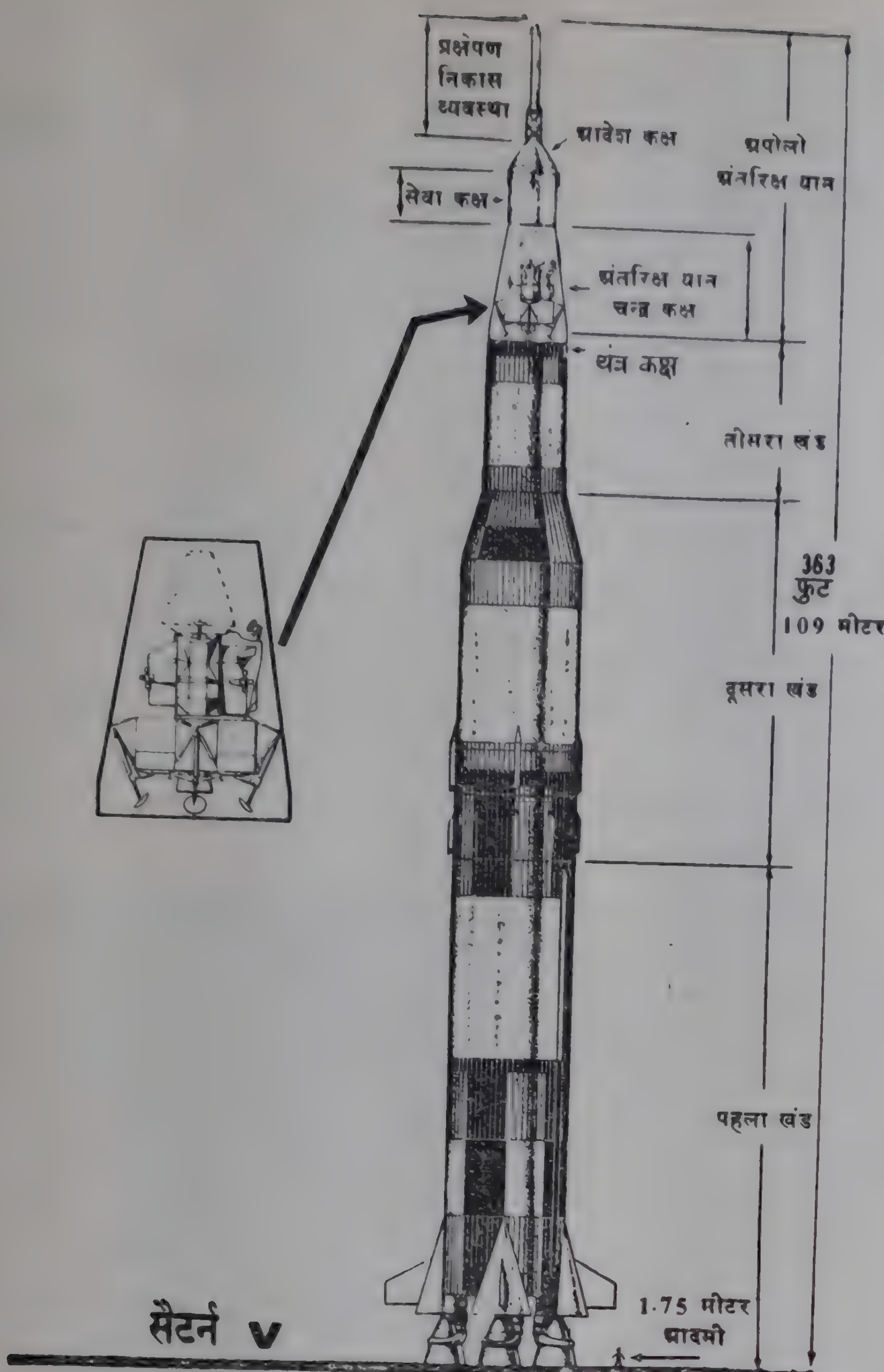
मनुष्य का सदियों का स्वप्न साकार हुआ। 21 जुलाई, 1969 को मानव इतिहास में एक अमर पृष्ठ जोड़ा गया। एक ऐसा पृष्ठ जो न केवल रोमांचकारी है बल्कि अभूतपूर्व भी है। उस दिन भारतीय समय के अनुसार सुबह के 1 बजकर 47 मिनट पर पहला समानव अंतरिक्ष यान चांद पर उतरा और उस दिन सुबह के 8 बजकर 27 मिनट पर मनुष्य ने प्रथम बार चांद की भूमि पर कदम रखा।

अपोलो-11 चन्द्र अभियान के नेता नील ए. आर्मस्ट्रांग चांद की भूमि पर उतरने वाले पहले मानव हैं। उनके चांद पर उतरने के 20 मिनट के बाद उनके सहयोगी एडविन एल्ड्रिन भी चांद की भूमि पर उतरे।

कैप कैनेडी से 16 जुलाई की शाम को भारतीय समय के अनुसार 7 बजकर 2 मिनट पर सैटर्न-5 राकेट की मदद से अपोलो-11 प्रक्षेपित किया गया। लगभग 4,00,000 किलोमीटर की सकुशल यात्रा के बाद यह यान 20-21 जुलाई की रात को चांद के शांति सागर में जा उतरा।



सैटर्न–5 अपोलो-11 यान सहित उड़ान के लिये तैयार है।



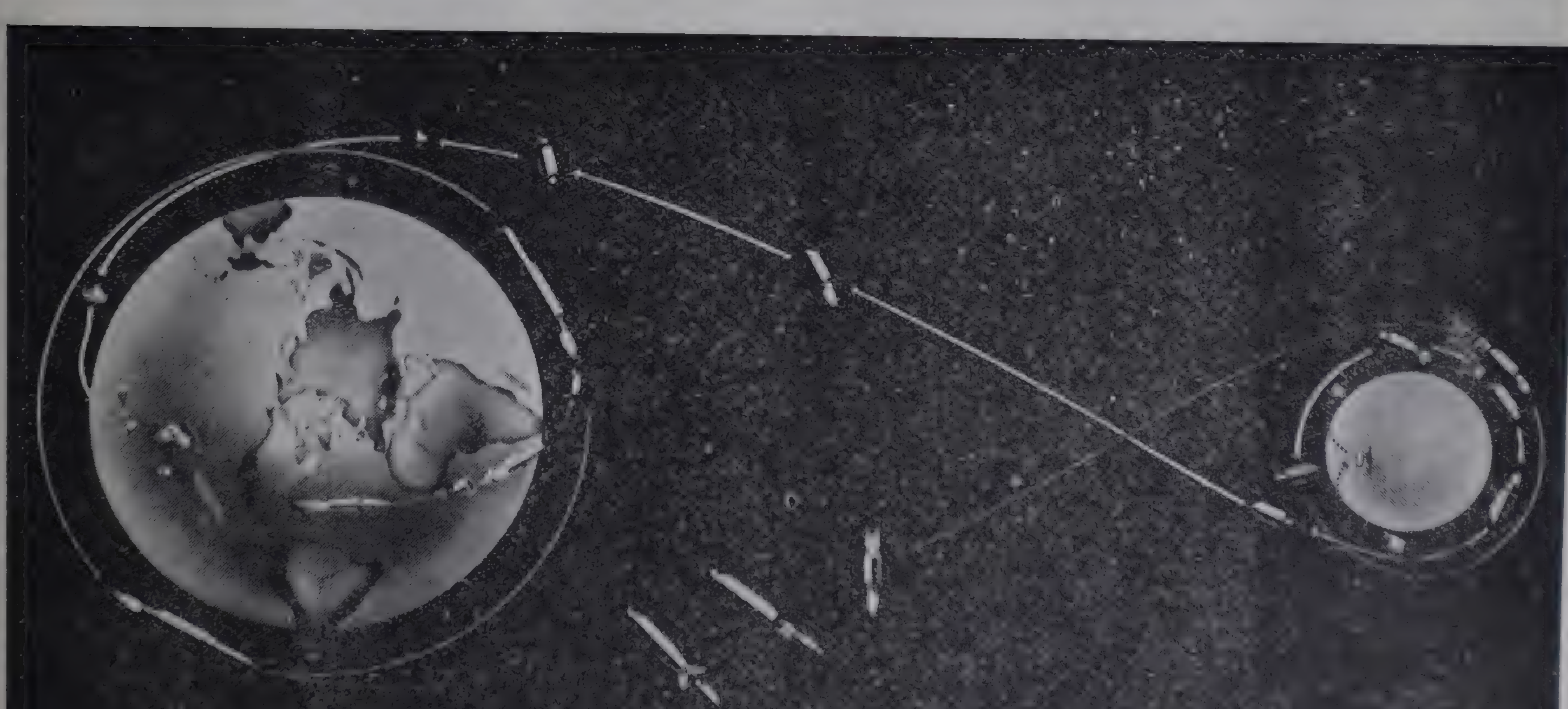
संसार का सबसे विचित्र वाहन

अपोलो-11 की इस साहसिक यात्रा पर जाने वाले तीनों यात्रियों, नील आर्मस्ट्रांग, माइकेल कॉलिन्स और एडविन एल्ड्रिन को 16 जुलाई, 1969 को दिन के दो बजे नींद से उठाकर नाश्ता कराया गया, उनका डाक्टरी मुआयना हुआ और फिर उन्हें अंतरिक्ष सूट पहनाया गया। इसके बाद एक गाड़ी इन्हें प्रक्षेपण स्थल ले गई जहां संसार की सबसे अद्‌भुत सवारी, सैटर्न-5 राकेट, अपोलो यान-11 को चन्द्रमा की ओर ले जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। सैटर्न-5 राकेट अपोलो समेत 3,000 टन भारी और 110 मीटर ऊंचा था। इसकी ऊंचाई 36 मंजिल ऊंची इमारत के बराबर थी। निश्चय ही यह संसार का अब तक सबसे अधिक ताकत वाला राकेट बना था। इसके टैंकों में 40 लाख लिटर ईंधन आसानी से भरा जा सकता था। प्रक्षेपण स्थल पहुंचने के बाद इन तीनों यात्रियों को राकेट के साथ ही लगी एक लिफ्ट द्वारा अंतरिक्ष यान में पहुंचाया गया। यह यान धरती से 99 मीटर की ऊंचाई पर स्थित था। तीनों यात्री अपोलो यान के आदेश कक्ष (कमांड मोड्यूल) में अलग-अलग सीटों पर सवार हो गए और अपनी-अपनी सुरक्षा पेटियां बांध कर मानव इतिहास की सबसे अधिक रोमांचकारी और अभूतपूर्व यात्रा के लिए तैयार हो गए।

इन यात्रियों में नील आर्मस्ट्रांग अभियान के नेता थे। माइकेल कॉलिन्स आदेश कक्ष के चालक और एड़विन एल्ड्रिन चन्द्र कक्ष (ल्यूनर मोड्यूल) के चालक।

राकेट आकाश में उड़ चला

16 जुलाई, 1969 को भारतीय समय के अनुसार शाम के 7 बजकर 2 मिनट पर कान फाड़ देने वाली गड़गड़ाहट के साथ अपोलो ने अपनी 73 घंटे की ऐतिहासिक चन्द्र यात्रा शुरू की। सैटर्न राकेट



अपोलो-11 की चंद्रयात्रा का प्रक्षेप-पथ

निचले भाग से नारंगी और सफेद रंग की विशाल लपटें छोड़ता हुआ ऊपर उठा। शुरू के 150 सेकंड में राकेट ने 13,600 किलोग्राम प्रति सेकंड की दर से ईंधन व्यय किया जिसने 34,00,000 किलोग्राम का प्रघात पैदा किया। सैटर्न राकेट के भार का लगभग 95 प्रतिशत भाग ईंधन होता है। $2\frac{1}{2}$ मिनट में ही यान पृथ्वी से 64 किलोमीटर दूर चला गया और उसने राकेट का प्रथम खंड जो जल चुका था अंध महासागर में गिरा दिया। इस समय यान की गति 8,850 किलोमीटर प्रति घंटे हो गई थी। पहले खंड के गिर जाने से तथा ईंधन के जल जाने से यान का भार केवल एक तिहाई रह गया और इसकी ऊंचाई कुल ऊंचाई की केवल दो तिहाई।

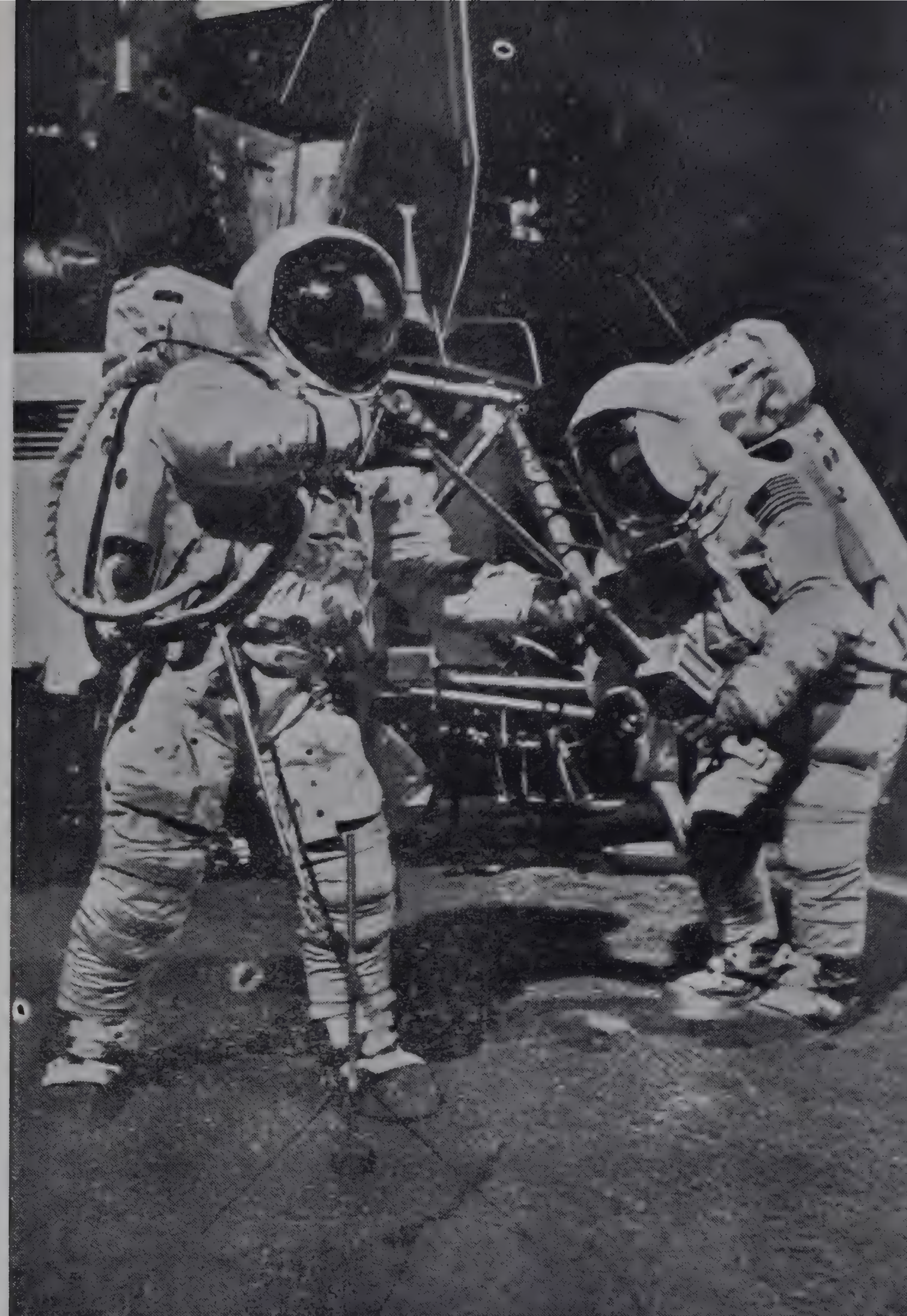
अब राकेट के दूसरे खंड के पांच जे-2 इंजनों को चालू किया गया, जिन्होंने 5,00,000 किलोग्राम प्रघात उत्पन्न किया। इस प्रघात के फलस्वरूप यान अंध महासागर के ऊपर से होता हुआ अफ्रीका की ओर उड़ने लगा। यान की ऊंचाई अब तेजी से बढ़ती जा रही थी। 96 किलोमीटर ऊंचे जाते-जाते स्वचालित व्यवस्था के अनुसार लांच एस्केप टावर जलकर अलग हो गया। दूसरा खंड 6 मिनट तक जलता रहा। इस बीच उसने यान को 183 किलोमीटर ऊपर पहुंचा दिया और 24,000 किलोमीटर प्रति घंटे की गति प्रदान कर दी।

पृथ्वी की परिक्रमा

अब राकेट का केवल तीसरा खंड और अपोलो यान बच गए। ये दोनों, अपोलो-11 सहित सैटर्न-5, के सत्रहवें भाग के बराबर थे। तीसरे खंड, जिसमें एक इंजन होता है, के जलने पर यान की गति बढ़कर 28,000 किलोमीटर प्रति घंटा हो गई और यान परिक्रमा कक्ष में स्थापित हो

चांद पर उतरने वाले प्रथम दो यात्रियों का काल्पनिक चित्र





अपोलो-11 के यात्रियों ने चांद पर पृथ्वी के अनेक यंत्र रखे पर वहां से लाये मिट्टी और चट्टानों के नमूने। चांद की मिट्टी का नमूना विशेष प्रकार के डिब्बों में भरते हुए आर्मस्ट्रांग और एल्ड्रिन।

गया। यान को पृथ्वी की कक्षा में स्थापित करने के लिए तीसरे खंड के पूरी तरह जलने की जरूरत नहीं थी। उनका इंजन केवल 2 मिनट 45 सेकंड तक ही चालू रहा। फिर स्वतः बन्द हो गया। अब तक राकेट को चालू हुए कुल 12 मिनट हुए थे। यात्रा के प्रारम्भ होने के बाद से अब तक यात्री दर्शक मात्र थे पर अब उन्होंने यान के नियंत्रण पैनल, जिसमें 568 स्विच, 71 बल्ब, 40 घटना सूचक यांत्रिक प्रणालियां, और 24 कल-पुर्जे थे, की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया। यान अब प्रत्येक 90 मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा था। उसे पृथ्वी की तीन परिक्रमा करनी थी और फिर चांद की ओर अग्रसर होना था। इस बीच यात्रियों को यह निश्चय कर लेना था कि यान चन्द्रमा की ओर अग्रसर होने के लिए हर तरह से तैयार है या नहीं। इसका निश्चय करने के लिए तीन बातें अत्यन्त आवश्यक थीं : यान की गति बढ़नी चाहिए, उसे एक निश्चित प्रक्षेप-पथ से आगे बढ़ना चाहिए और गति का बढ़ाना तथा प्रक्षेप-पथ पर आगे बढ़ने का कार्य एक साथ एक ही क्षण होना चाहिए।

इस विषय में एक और बात ध्यान देने योग्य है कि अपोलो को सीधे चांद की ओर नहीं दागा जा सकता क्योंकि ऐसा करने से जब तक अपोलो चांद तक पहुंचता चांद पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ 2,65,000 किलोमीटर आगे निकल जाता। इसलिए अपोलो को उसी तरह दागना जरूरी था जैसे शिकारी भागते हुए शिकार को गोली मारता है।

चांद की ओर

यान को वांछित प्रक्षेप-पथ पर निश्चित समय पर स्थापित करने के लिए कम्प्यूटर पृथ्वी-चांद के संदर्भ में अंतरिक्ष यान और प्रक्षेपण झरोखा की स्थिति की गणना करके, यान की उपकरण इकाई को 'आदेश' देता है। इन आदेशों के अनुसार ही चन्द्र गमन के लिए समय तथा प्रक्षेप-पथ चुना जाता है। प्रत्येक 90 मिनट में पृथ्वी की



अपोलो-11 के यात्री (बायें से) : माइकेल कॉलिन्स (आदेश कक्ष के पायलट), नील आर्मस्ट्रांग (अपोलो-11 के कमांडर) और एडविन एल्ड्रिन (चन्द्र कक्ष के पायलट) ।

परिक्रमा करते हुए यात्रियों ने इन सब कल पुर्जों का परीक्षण किया और कम्प्यूटरों से आदेश मिलने पर, उड़ान के समय से लगभग $2\frac{1}{2}$ घंटे बाद, तीसरे खंड के इंजन को पुनः चालू किया । इसने यान को 39,260 किलोमीटर की गति प्रदान की। यह गति यान को पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण 'पकड़' से निकाल कर चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में प्रवेश कराने के लिए पर्याप्त है।

रात्रि के 10 बजकर 13 मिनट पर आदेश-सेवा कक्ष राकेट के तीसरे खंड से अलग हो गया और एडेप्टर, जिसमें चन्द्र कक्ष बन्द रहता है, खुल गया। अब आदेश और सेवा कक्ष मुड़ कर चन्द्र कक्ष से जुड़ गए। यह युग्मन रात्रि के 10 बजकर 23 मिनट पर पूरा हो गया। आदेश-सेवा और चन्द्रकक्ष अब राकेट के तीसरे खंड से पूर्णतया विमुक्त हो गए। (राकेट तथा यान की बनावट आदि के लिए देखिए–विज्ञान प्रगति का फरवरी 1969 अंक)

जुलाई 17, 18 और 19 को यात्रियों ने आराम करने, टेलीविजन पर चित्र भेजने, चित्र खींचने और प्रक्षेप-पथ पर यान को ठीक-ठीक चलाने के अलावा कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं किया। 19 जुलाई को पृथ्वी से 3,20,000 किलोमीटर की दूरी पर पहुंचने पर यान की गति घटकर 3,400 किलोमीटर प्रति घंटा रह गई। धीरे-धीरे यान एक ऐसी जगह पर पहुंच गया जहां चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से अधिक हो गई और उसने यान को अपनी की ओर खींचना शुरू कर दिया । फलस्वरूप अब यान की गति फिर बढ़नी शुरू हो गई। जब यान चन्द्रमा से लगभग 8,000 किलोमीटर दूर रह गया तब राकेट का मुख्य इंजन चालू किया गया, लेकिन इस बार गति बढ़ाने के लिए नहीं वरन् घटाने के लिए। इंजन चालू करने से पहले यान की गति 9,000 किलोमीटर प्रति घंटा थी, और इंजन चालू होने के बाद इसकी गति लगभग 5,750 किलोमीटर प्रति घंटा रह गई। इसी गति पर चलता हुआ यान 19 जुलाई की रात्रि को 10 बजकर 56 मिनट पर चन्द्रमा की दीर्घवृत्ताकार कक्षा में प्रविष्ट हुआ। इस दीर्घवृत्ताकार कक्षा को वृत्ताकार करने के लिए एक बार फिर राकेट का इंजन चालू किया गया। इस समय यान चन्द्रमा से 112 किलोमीटर दूर था। इतनी दूरी पर उसने चांद की परिक्रमा करनी शुरू कर दी। यहां से चन्द्रमा की सतह बिल्कुल साफ दिखलाई पड़ती है। वायुमण्डल के अभाव में चन्द्रमा का दृश्य अत्यन्त सुहावना व स्पष्ट दिखाई देता है।

चांद पर अवतरण

20 जुलाई की सुबह 6 बजकर 51 मिनट पर एल्ड्रिन ने परीक्षण के तौर पर चन्द्र कक्ष में जाने के लिए बना सुरंगनुमा द्वार खोला, लेकिन फिर बन्द कर दिया। लगभग आठ घंटे आराम करने के बाद शाम के 6 बजकर 27 मिनट पर एल्ड्रिन ने चन्द्र कक्ष में प्रवेश किया। इन्हीं के बाद कमांडर आर्मस्ट्रांग चन्द्र कक्ष में घुसे। रात्रि को 11 बज कर 20 मिनट पर चन्द्र कक्ष मुख्य यान से अलग हो गया और कुछ दूर तक मुख्य यान के साथ-साथ चलने के बाद इसने चन्द्रमा पर उतरने के लिए अपना इंजन चालू किया, 21 जुलाई की सुबह 1 बजकर 47 मिनट पर चन्द्र यान चन्द्रमा की सतह पर सकुशल उतर गया। सतह पर उतरने के बाद सबसे पहले दोनों यात्रियों ने अपनी वापिसी यात्रा के लिए चन्द्र कक्ष के उपकरणों का निरीक्षण किया और चन्द्रमा की सतह पर खड़े चन्द्र यान के अन्दर ही कुछ घंटे विश्राम किया। भारतीय समय के अनुसार 8 बजकर 27 मिनट पर आर्मस्ट्रांग ने पहली बार चन्द्रकक्ष का द्वार खोलकर चांद के धरातल पर पैर रखा। इसके लगभग 20 मिनट बाद एल्ड्रिन भी चांद पर उतर आए। चन्द्रमा की सतह पर उतरने

के बाद उन्होंने सर्वप्रथम अपने यान की मशीन की भलीभांति जांच पड़ताल की ।

इस समय ये यात्री एक ऐसी पोशाक पहने थे जो हल्की और लचीली होती है और जिसके अन्दर कृत्रिम वायुमण्डल की व्यवस्था थी इसमें श्वास लेने तथा 260 ग्राम प्रति वर्ग सेन्टीमीटर तक के दबाव के लिए आक्सीजन मौजूद होती है । चन्द्रमा पर वायुमण्डल न होने के कारण यहां तापक्रम का बहुत अधिक उतार-चढ़ाव होता है । यह पोशाक यात्री को उतना ही सुख देती है जितना कोई वातानुकूलित वांछित दाब वाला कमरा । पोशाक में लगे हुए शिरस्त्राण और अन्य उपकरण अल्ट्रावायलेट किरणों, इन्फ्रारेड तथा प्रकाश विकिरणों से अंतरिक्ष यात्रियों की सुरक्षा करते हैं । इस सूट में ऐसी व्यवस्था भी है कि जब अंतरिक्षयात्री यान से बाहर हों तो शरीर से विसर्जित होने वाला मलमूत्र आदि सूट के अन्दर ही जमा होता रहे । यान के अन्दर आने पर सूट में लगे वाल्वों को यान की मलमूत्र विसर्जन व्यवस्था से जोड़ दिया जाता है जिससे सूट के अन्दर एकत्र सारा मलमूत्र स्वतः यान में से बाहर बह जाता है । इसके अलावा इस सूट में लगी एक पेटी में जो 'रजत पेटी' कहलाती है, गैस, बिजली तथा संचार संबंधी उपकरण भी होते हैं । इनमें छोटा सा रेडियो रिसीविंग और ट्रांसमिटिंग स्टेशन भी होता है ।

चन्द्रमा की सतह पर इन दोनों यात्रियों ने कई तरह के कलपुर्जे जैसे भूकम्प वेग मापक यंत्र, लेसर रेंजिंग रिट्रोरिफ्लेक्टर, सीस्मोमीटर आदि लगाए । यह यंत्र इन यात्रियों के पृथ्वी पर लौट आने के भी अनेक वर्षों बाद तक काम करते रहेंगे और चांद सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्य संग्रह करके पृथ्वी को भेजते रहेंगे ।

वापिसी

चन्द्रमा की सतह पर अनेक प्रकार के परीक्षण करने और चन्द्रमा की मिट्टी के नमूने एकत्र कर लेने के बाद 21 जुलाई को रात्रि के 11 बजकर 20 मिनट पर ये यात्री चन्द्रमा से वापिसी यात्रा पर रवाना हुए । चन्द्र कक्ष की टांगों, जिनके सहारे यह चन्द्रमा की सतह पर उतरा था, को प्रक्षेपण स्थल की तरह प्रयोग करके चन्द्र कक्ष अपने इंजनों की सहायता से चन्द्रमा की सतह से ऊपर उठ आया और पूर्व अनुमान के अनुसार चन्द्रमा की कक्षा की परिक्रमा करने वाले आदेश कक्ष से आकर जुड़ गया । यह कार्य शायद चन्द्र यात्रा का सबसे दुरूह कार्य था । कुछ समय बाद चन्द्र कक्ष से निकल कर दोनों यात्री आदेश कक्ष में आ गए और खाली चन्द्र कक्ष को आदेश-सेवा कक्ष से अलग कर दिया गया । फिर चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से दूर जाने के लिए सेवा कक्ष के इंजनों को चालू किया गया । जैसे जैसे यान चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से दूर हो कर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सीमा में प्रवेश करता गया उसकी गति बढ़ती गई ।

पृथ्वी के वायुमंडल में आते-आते यान की गति 39,360 कि.मी. प्रति घंटे हो गई और वायुमण्डल में रगड़ के कारण यान की गोधी परत का ताप 3,095° पहुंच गया । यान के उतरने का स्थान मौसम की



रेडियधर्मी विकिरण, अंतरिक्ष किरणें, सूक्ष्म उल्काएं तथा चांद के अत्यंत ऊंचे और नीचे तापों से अपनी रक्षा करने के लिये चं यात्री को अंतरिक्ष सूट पहनना पड़ता है ।



टेलीविजन कैमरे, जिनसे चांद के चित्र पृथ्वी पर पारेषित किये गये।

खराबी के कारण नियत स्थान से हटाकर हवाई द्वीप के दक्षिण-पश्चिम में 1,520 कि. मी. की दूरी पर तय किया गया। कमांडर आर्मस्ट्रांग ने आदेश कक्ष के नियंत्रण के द्वारा अपने उतरने के कोण में थोड़ा सा परिवर्तन करके यान को नये स्थान की ओर उन्मुख करके उतार लिया। उतरने से कोई 15 मिनट पहले यात्रियों ने सेवा कक्ष को आदेश कक्ष से अलग अन्तरिक्ष में ही छोड़ दिया। उतरने से पहले कोई साढ़े तीन मिनट के लिए संचार साधनों ने काम करना बन्द कर दिया। यान के पैराशूटों के खुलते ही यान की गति कम हो गई और अन्त में 24 तारीख की रात को ठीक 10 बजकर 19 मिनट पर अपनी 195 घंटे 18 मिनट 21 सेकंड की यात्रा, सकुशल समाप्त करके इसने समुद्र में डुबकी ली। इस सारे कार्यक्रम में केवल एक ही खराबी हुई वह यह कि यान सीधा उतरने के बजाय उल्टा उतरा। पर कमांडर आर्मस्ट्रांग ने उसे शीघ्र ही सीधा कर लिया। ग्यारह मिनट के अन्दर ही एक हेलिकॉप्टर और हवाई जहाज यान के ऊपर पहुंच गये। यान को संचार केबल से जोड़ दिया गया। अब आदेश कक्ष का द्वार खोला गया और अंतरिक्ष यात्रियों को कीटाणुरहित पोशाकें दी गईं और यान को चारों ओर से रसायनों से धोया गया ताकि यदि वे चन्द्रमा से किसी भी प्रकार के संक्रामक कीटाणु लाये हों तो पृथ्वी पर न फैल पायें। अन्तरिक्ष यात्री अभी कोई 18 दिनों तक क्वारनटाइन में रहेंगे। वहां डाक्टरी जांच द्वारा यह पड़ताल की जाएगी कि वे अपने साथ चन्द्रमा से कोई संक्रामक कीटाणु तो ले कर नहीं आये। वैसे इसकी संभावना काफी कम है। इसके बाद यात्रियों को हेलिकॉप्टर की सहायता से **होरनेट** पर चढ़ा लिया गया। इस समय 11 बजकर 57 मिनट हुए थे। इन्हें सीधे ही एक 35 फुट लम्बे हवा बन्द कमरे में पहुंचा दिया। गया इस कमरे में जाने के लिए यात्री खुली हवा में केवल 8 कदम चले। इस कमरे ने हवाई द्वीप तक **होरनेट** पर सफर किया। फिर इसे हवाई जहाज द्वारा ह्यूस्टन ले जाया गया। वहां से एक ट्रेलर ट्रक के साथ जुड़ कर यह अंतरिक्ष यान प्रक्षेपण स्थल की प्रयोगशाला तक ले जाया गया। यह कमरा सब सुविधाओं से युक्त है और इसमें एक चिकित्सक और टेक्नीशियन भी हैं।

यात्रियों के साथ ही साथ चन्द्रमा की मिट्टी के नमूनों का भी वैज्ञानिकों को बड़ी बेताबी के साथ इंतजार था। इन नमूनों के पहुंचते ही इन्हें प्रयोगशाला के ऐसे बन्द कमरे जिनमें बड़ी-बड़ी कांच की खिड़कियां लगी हैं, पहुंचा दिया गया। वैज्ञानिकों ने इन खिड़कियों में से चन्द्रमा की मिट्टी को प्रथम बार देखा, परखा। अब इनका परीक्षण होगा जिसमें अलग-अलग देशों के लगभग 142 प्रमुख वैज्ञानिक भाग लेंगे।

अन्तिम समाचारों के अनुसार चन्द्र-यात्री अपने साथ चांद से



चांद के विजेताओं ने सम्पूर्ण मानव जाति की ओर से चांद पर शांति संदेश रखा।



अपोलो-11 का परिचय-चिन्ह

किसी प्रकार के कीटाणु नहीं लाए हैं। वे पूर्णरूप से स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

यह उड़ान अमरीका की 21वीं और विश्व की 33वीं समानव उड़ान थी। पृथ्वी से 3,38,000 किलोमीटर दूर स्थित चन्द्रमा की इस यात्रा की तैयारी में लगभग 8 वर्ष लगे और लगभग 3,50,000 से भी अधिक वैज्ञानिकों, इंजीनियरों व तकनीशियनों ने इसके उपकरणों तथा सुविधाओं का नियोजन, डिजाइनिंग, निर्माण तथा प्रशिक्षण का कार्य किया और लगभग 20,000 अमरीकी फैक्ट्रियों में इसके कल-पुर्जे बनाए गए। शायद इससे पहले पृथ्वी के इतने अधिक स्रोत एक साथ एक कार्य के लिए इतनी सफलतापूर्वक कभी इस्तेमाल नहीं किए गए। मनुष्य की यह सफलता भविष्य के इससे भी कहीं अधिक महत्वाकांक्षी अभियानों का आधार बनेगी इसमें सन्देह नहीं।

अपोलो-11 के यात्री

अपोलो-11 के यात्रियों में नील ए. आर्मस्ट्रांग, माइकेल कॉलिंस और एडविन एल्ड्रिन की बहुत सी बातें एक सी हैं। तीनों ही सन् 1930 में पैदा हुए थे, तीनों का वजन 75 किलोग्राम है तीनों विवाहित हैं और अमरीकी प्रक्षेपण स्थल के पास ही ह्यूस्टन में रहते हैं। तीनों ही बड़े सधे हुए विमान चालक हैं और इससे पूर्व भी अंतरिक्ष यात्रा कर चुके हैं।

आर्मस्ट्रांग 16 मार्च, 1966 को जैमिनी-8 यान के नेता के रूप में अंतरिक्ष में 10 घंटे 42 मिनट तक विचरण कर चुके हैं। जैमिनी-8 में अंतरिक्ष यात्रा करते हुए इन्होंने एगेना राकेट खंड के साथ पहला सफल युग्मन किया था।

पाकोनेटा स्थान पर 5 अगस्त, 1930 को जन्मे, आर्मस्ट्रांग इंजीनियरी पढ़ने के बाद 19 वर्ष में ही नौ सेना में एविएटर हो गए थे और उन्होंने कोरिया के युद्ध में भाग लिया था। बाद में वे यानों की प्रायोगात्मक उड़ान करने लगे। उन्होंने एक्स-15 राकेट वायुयान 60,000 मीटर की ऊंचाई पर 6,400 किलोमीटर प्रति घंटे की गति से उड़ाया। अब तक ये 3,500 घंटों से अधिक की उड़ान कर चुके हैं। सुनहरे केशों तथा नीली आंखों वाले आर्मस्ट्रांग दो बच्चों के पिता हैं। यान चलाने तथा अंतरिक्ष यात्रा करने के अतिरिक्त आर्मस्ट्रांग की हाबी ग्लाइडर में उड़ना भी है।

माइकेल कॉलिन्स 18 जुलाई, 1966 को प्रक्षेपित किए गए जैमिनी-10 यान में अंतरिक्ष यात्रा कर चुके हैं। अपनी यात्रा के दौरान वे दो बार खुले अंतरिक्ष में चले, साथ ही जैमिनी-8 द्वारा छोड़े गए एक एगेना राकेट से युग्मन भी किया।

31 अक्तूबर, 1930 को जन्मे कॉलिन्स 3,800 से अधिक घंटों की उड़ान कर चुके हैं। वे तीन बच्चों के पिता हैं और उनकी हाबी मछली पकड़ना और हेडबाल खेलना है।

एल्ड्रिन चन्द्रमा की परिक्रमा करने वालों में सर्वप्रथम होते यदि इनकी रीढ़ की सर्जरी न हुई होती जिसके कारण यह अपोलो-8 की यात्रा से वंचित रह गए। एल्ड्रिन मेसाच्युसेट्स टैक्नालाजी एस्ट्रोनौटिक्स में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त हैं और इससे पहले भी नवम्बर 1966 में जैमिनी-12 में चार दिन की उड़ान के दौरान तीन बार अपने यान से बाहर निकल कर खुले अंतरिक्ष में भी उड़ान कर चुके हैं।

इनका जन्म 26 जनवरी, 1936 को हुआ था। एल्ड्रिन वायु सेना में थे। कोरिया युद्ध में भाग लिया। अब तक ये वायुयान में 3,300 घंटे की उड़ान कर चुके हैं। एल्ड्रिन तीन बच्चों के पिता हैं। इनकी हाबी है तैरना, नाव चलाना आदि।

अपोलो-11 का वाहन

सैटर्न राकेट

अपोलो की यान सहित लम्बाई	110.35 मीटर
अपोलो का यान सहित भार	29,00,000 किलोग्राम

प्रथम खंड

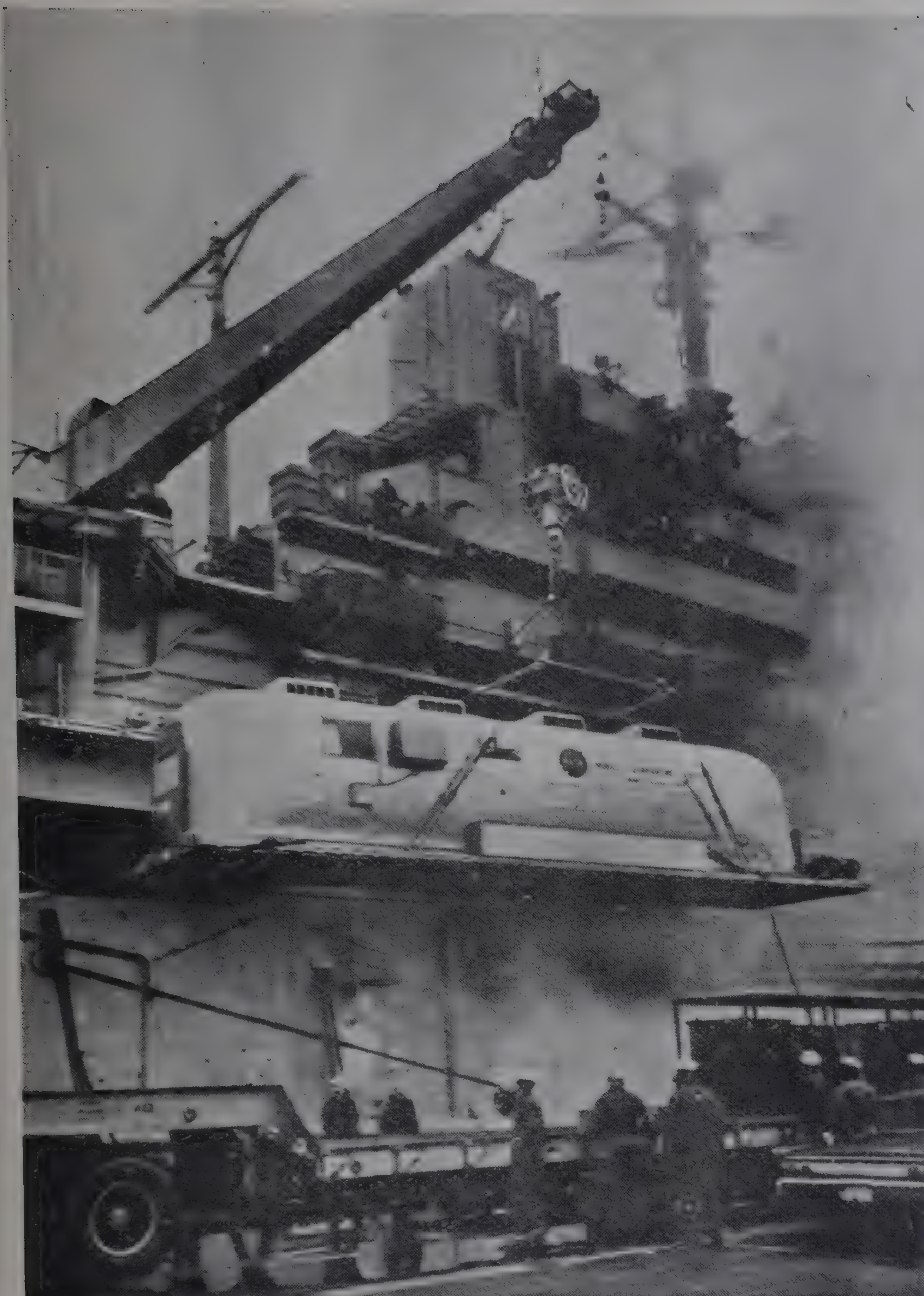
लम्बाई	41.45 मीटर
व्यास	10.05 मीटर
भार	2,242,000 किलोग्राम
इंजन	5 एफ-1 किस्म के
ईंधन टैंक	2
ईंधन	द्रव आक्सीजन और बेहद साफ मिट्टी का तेल
ईंधन की मात्रा	20,80,000 किलोग्राम
इंजनों की प्रघात क्षमता	3,400,000 किलोग्राम

द्वितीय खंड

लम्बाई	24.68 मीटर
व्यास	10.05 मीटर
इंजन	5 जे-2 किस्म के
ईंधन	द्रव आक्सीजन और द्रव हाइड्रोजन
ईंधन की मात्रा	4,41,000 किलोग्राम
इंजनों की प्रघात क्षमता	45,360 किलोग्राम

तीसरा खंड

लम्बाई	17.98 मीटर
व्यास	6.70 मीटर
कुल इंजन	1 जे-2 किस्म का
ईंधन	द्रव आक्सीजन और द्रव हाइड्रोजन
ईंधन की मात्रा	11680 किलोग्राम
इंजन की प्रघात क्षमता	90720 किलोग्राम



चल संघरोध कक्ष :
चांद से धरती पर आते ही यात्रियों को चल संघरोध कक्ष (मोबाइल क्वारनटाइन फैसिलिटी) में बैठा दिया गया। इस कक्ष में ही उन्हें ह्यूस्टन भेजा गया।

भविष्य की योजनायें

इसी वर्ष नवम्बर की 14 तारीख को अपोलो-12 चन्द्र यात्रा करेगा। इसके यात्री चार्ल्स कोनराड और एलन बीन चन्द्रमा पर तूफानों के सागर में उतरेंगे और कमांडर रिचार्ड गोर्डन इसके आदेश-कक्ष को चन्द्रमा की कक्षा में चलाते रहेंगे। ये यात्री दो बार तीन-तीन घंटे के लिए चन्द्रमा की धरती पर तूफानों के सागर में उतरेंगे। भविष्य की अपोलो उड़ानें चन्द्रमा की धरती की ओर अधिक खोजबीन करेंगी। चन्द्रमा की धरती पर चलने के लिये एक चार पहिये वाली बिना छत की सवारी––रोवर का निर्माण किया जा रहा है। इसका निर्माण 1971 में की जाने वाली चन्द्र यात्राओं तक पूरा हो सकेगा। यह भी सम्भव है कि यह सवारी अपोलो-13 के यात्रियों के लिए भी उपलब्ध हो सके। रोवर पर बैठ कर यात्री चन्द्रमा की धरती पर अपने यान से 40-50 किलोमीटर की दूरी तक की सैर कर सकेंगे। इस में दो यात्रियों के बैठने की सुविधा होगी।

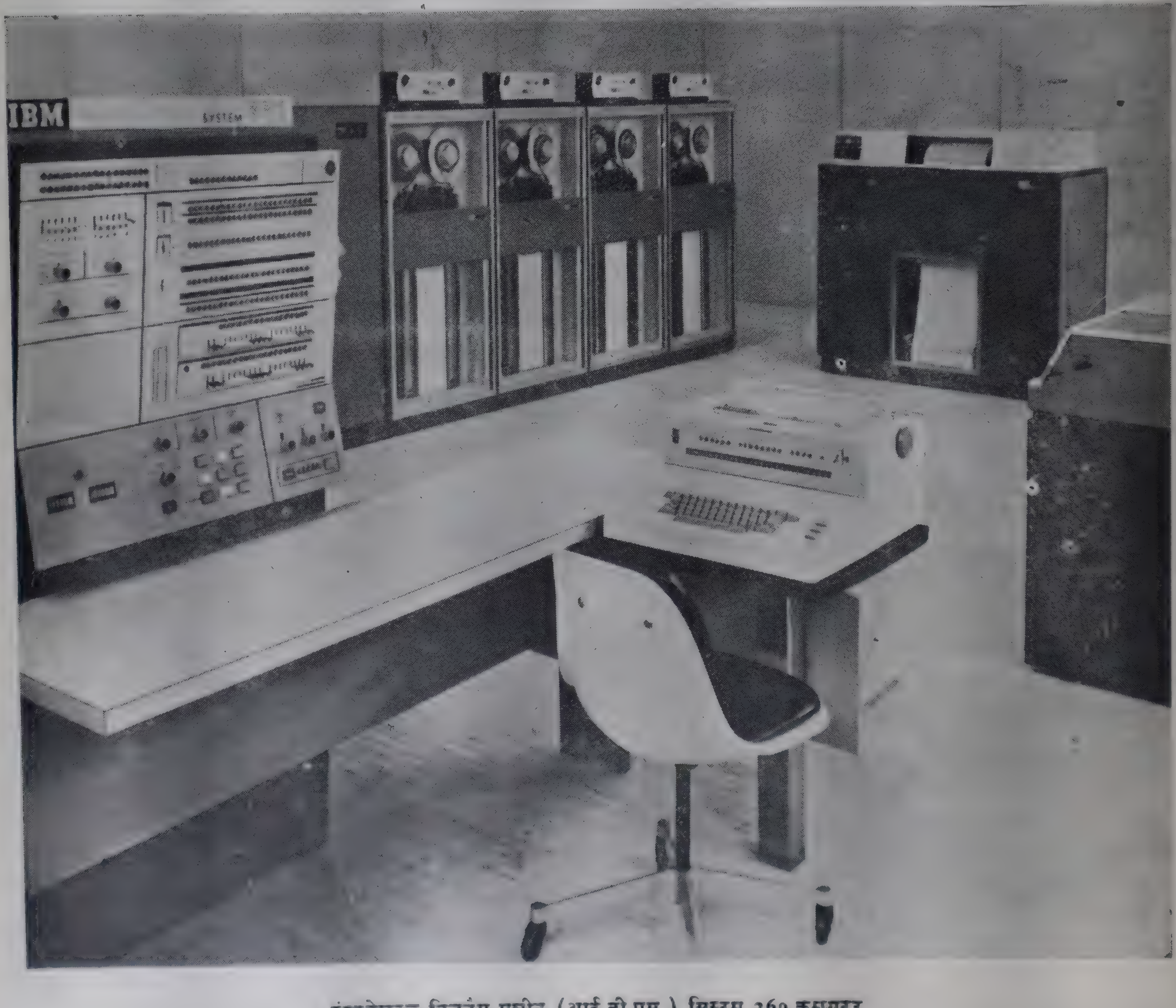
इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य में न केवल चन्द्रमा की वरन् अन्य ग्रहों की अनेकों यात्राएं की जायेंगी पर अपोलो-11 की उड़ान का महत्त्व कभी भी कम नहीं होगा। ●

चन्द्र-यात्रा में कम्प्यूटरों का योगदान

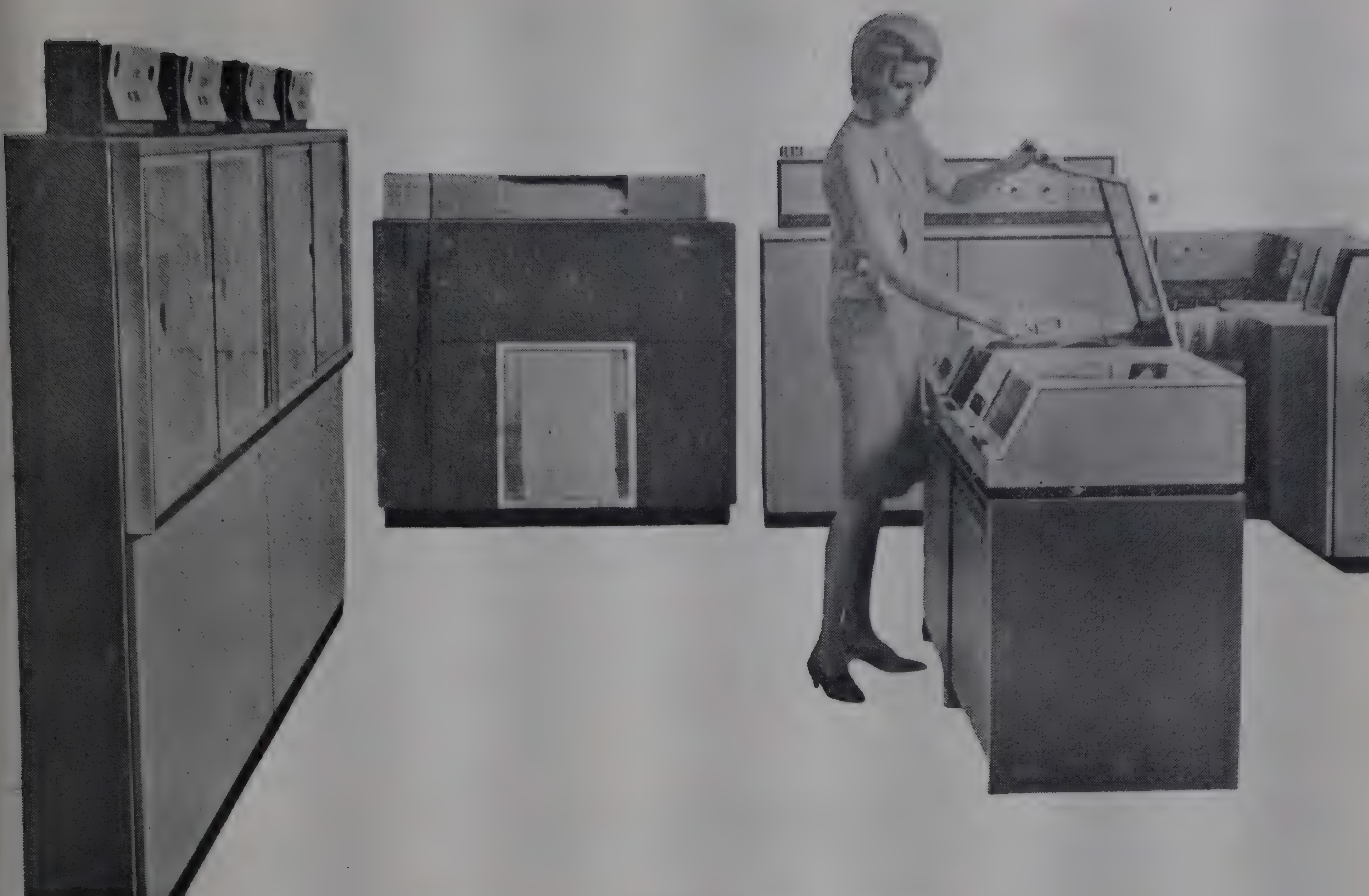
गणना आदि सुगमता से करने के लिए सर्वप्रथम यांत्रिक गणक (गिनतारा) का आविष्कार यद्यपि 2,000 ई. पू. में ही हो चुका था, परन्तु आधुनिक कम्प्यूटर युग का प्रारम्भ 1930 में हुआ, जब बेल टेलीफोन लेबोरेटरी के डा. जार्ज स्टिबिट्ज ने एक ऐसी मशीन का डिजाइन तैयार किया जो कि सम्मिश्र संख्याओं की गणना करने में सक्षम थी। इसके बाद कम्प्यूटर का तेजी से विकास आरम्भ हुआ और गणित ही नहीं चिकित्सा, अंतरिक्ष अनुसंधान तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में इनका उपयोग होने लगा।

हाल ही में अपोलो–11 की चन्द्र-यात्रा में कम्प्यूटरों का विशेष योगदान रहा है। अपोलो–11 के चन्द्रकक्ष में सवार चन्द्र यात्री नील ए. आर्मस्ट्रांग और एडविन ई. एल्ड्रिन ज्यों ही चन्द्रमा पर उतरने वाले थे, ह्यूस्टन स्थित 'नासा मैन्ड स्पेसक्राफ्ट सेन्टर' में 2,39,000 मील दूर चन्द्रमा पर प्रथम बार पदार्पण करने सम्बन्धी आंकड़ों का संसाधन (प्रोसेसिंग) आई. बी. एम. द्वारा निर्मित एक कम्प्यूटर ने किया।

आर्मस्ट्रांग और एल्ड्रिन जब चन्द्रमा से वापस आने लगे तो इसी



इंटरनेशनल बिजनेस मशीन (आई.बी.एम.) सिस्टम 360 कम्प्यूटर



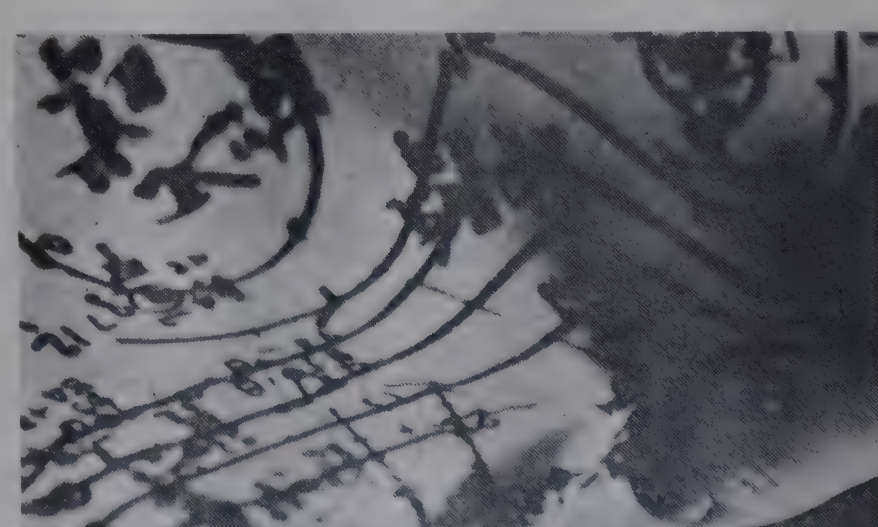
आई.बी.एम. सिस्टम 360 कम्प्यूटर पर कार्य करती हुई महिला ।

कम्प्यूटर ने चंद्र यात्रियों के लिए उनके चन्द्रकक्ष के प्रक्षेपण संबंधी आंकड़ों की गणना की ताकि वे आदेश कक्ष में सवार चन्द्रमा की परिक्रमा कर रहे अपने साथी कॉलिन्स के पास पहुंच सकें और पृथ्वी पर वापस आयें ।

रीयल टाइम कम्प्यूटर कम्प्लेक्स से युक्त कम्प्यूटरों ने उड़ान संबंधी आंकड़ों का निर्धारण व संसाधन किया । अवतरण स्थल पर चन्द्रकक्ष अवरोहण ज्ञात करने के लिए जटिल समीकरण तैयार (प्रोग्राम) की गई थीं। कम्प्यूटर ने चन्द्र कक्ष के कक्षा-पथ की गणना की और फिर चन्द्र कक्ष स्थित व्यवस्थाओं को इस संबंध में निर्देश दिए कि चन्द्रमा पर उतरने के लिए कब और किस प्रकार इंजन चालू करने हैं ।

चन्द्र कक्ष और आदेश कक्ष की रडार द्वारा निर्धारित स्थितियों के आधार पर यह पता लगाकर कम्प्यूटर ने बताया कि ऊपर उठने के इंजन किस प्रकार चलाने हैं । साथ ही साथ कम्प्यूटर द्वारा ही यह भी पता लगाया गया कि आदेश कक्ष को किस प्रकार अपने मार्ग पर चलना है कि चन्द्र कक्ष उससे आकर जुड़ सके ।

इसके अतिरिक्त आई. बी. एम. कम्प्यूटर सिस्टमों ने अपोलो–11 योजना में अन्य भी महत्वपूर्ण काम किए । सैटर्न राकेट का यंत्र कक्ष आई. बी. एम. द्वारा प्रोग्राम व संयोजित किया गया था । यंत्र कक्ष में लगा तिहरे परिपथ वाला ९० पौंड का डिजिटल कम्प्यूटर आई. बी.एम. ने अभिकल्पित किया था और बनाया था । गोडार्ड रीयल टाइम सिस्टम 'नासा' के समस्त संचार-केन्द्रों, रडार और संचार केन्द्रों द्वारा प्रेषित अंतरिक्ष यान संबंधी आंकड़ों की जांच पड़ताल करता है। गोडार्ड सिस्टम के लिए प्रोग्राम आई. बी. एम. ने ही तैयार किये थे ।



आई.बी.एम. सिस्टम 360, माडल 44 द्वारा तैयार किया गया मौसम सम्बन्धी एक मानचित्र ।

ज्यों ही केप कैनेडी स्थित वेहिकल असेम्बली बिल्डिंग में सैटर्न पहुंचा, स्पेस सेन्टर में आई. बी. एम. के सैटर्न प्रक्षेपण कम्प्यूटर कम्प्लेक्स ने उसका परीक्षण आरम्भ कर दिया । जब संयोजित वेहिकल प्रक्षेपण मंच की ओर चला तो उड़ान की तैयारी के लिये जांच-पड़ताल की गई। प्रक्षेपण के प्रथम पांच सेकंड तक इलैक्ट्रानिक व्यवस्था काम करती रही।

जब 110 मीटर ऊंचा सैटर्न प्रक्षेपण मंच से उठा तो आई. बी. एम. यंत्र कक्ष ने राकेट के प्रथम स्टेज से उत्पन्न 75 लाख पौंड के प्रघात को नियंत्रित किया । यंत्र कक्ष के अवस्थिति (इनर्शियल) प्लेटफार्म द्वारा त्वरण व मार्ग आदि का पता लगाया गया और फिर उसकी तुलना वास्तविक उड़ान-मार्ग की योजना से की गई । फिर मार्ग को ठीक करने के लिए प्रति सेकंड 25 आदेश-संकेत भेजे । यंत्र कक्ष के टेलीमीट्री उपस्कर ने उड़ान योजना के निदेशकों द्वारा भेजे गए आदेशों को ग्रहण किया तथा उनके क्रियान्वित होने की सूचना पृथ्वी पर भेजी ।

यंत्र कक्ष ने द्वितीय और तृतीय खंड के लिये आदेश जारी किए, पृथ्वी की कक्षा में यान का नियंत्रण किया और ट्रांसल्यूनर इंजेक्शन के लिए तृतीय स्टेज के पुनर्ज्वलन का पता लगाया ।

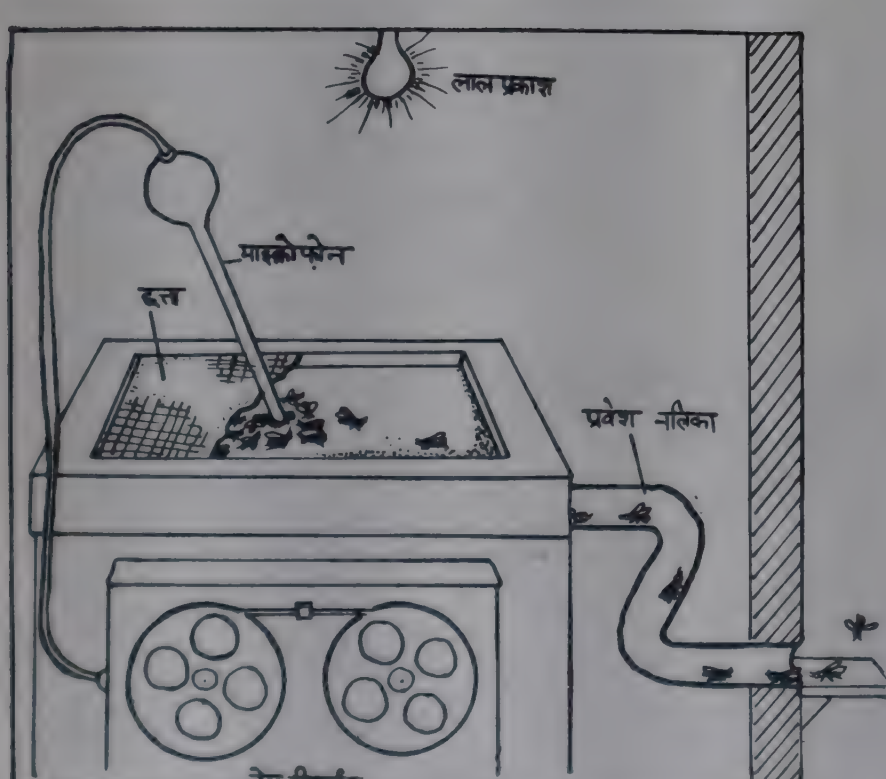
चन्द्र यात्रियों से संचार सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 17 ट्रैकिंग स्टेशन तथा चार जलयान स्थापित किए गए थे । गोडार्ड स्पेस फ्लाइट सेन्टर में आई. बी. एम. कम्प्यूटरों ने इन ट्रैकिंग स्टेशनों के कार्यकरण पर नजर रखी और उनके द्वारा प्राप्त किए गए डिजिटल आंकड़ों को स्थापित किया । ये आंकड़े यान में लगी व्यवस्थाओं के कार्यकरण, यात्रियों की शारीरिक दशा तथा ट्रैकिंग स्टेशनों द्वारा उत्पन्न रडार दर्शी (साइटिंग) के संबंध में थे ।

62 लाख बाइट्स पर आई. बी एम. द्वारा विकसित प्रोग्राम अब तक तैयार किए सबसे बड़े प्रोग्रामों में से हैं । इन्हीं के द्वारा नासा के चिकित्सकों ने चन्द्र यात्रियों की शारीरिक दशा का पता लगाया ।

● ● ●

मधुमक्खी की भाषा

(शेषांश पृष्ठ 400 का)



छत्ते की क्षैतिज अवस्था में 'स्काउट' मधुमक्खियां छत्ते में लौट आने के बाद नृत्य नहीं करतीं परन्तु अपने परों को फड़फड़ा कर कुछ ध्वनि संकेत उत्पन्न करती हैं । इन ध्वनि संकेतों को माइक्रोफोन की सहायता से टेप रिकार्डर पर नोट किया जा सकता है । प्रयोग लाल प्रकाश में करते हैं । लाल प्रकाश का प्रभाव वही होता है जो अंधकार का ।

वास्तव में, इस प्रकार से क्षैतिज सतह पर केवल कुछ अविकसित मक्खियां ही नृत्य करती हैं । मधुमक्खियों में इस प्रकार से नृत्य करने की बात मधुमक्खियों की भाषा के विकास पर प्रकाश डालती है ।

छत्ते की क्षैतिज अवस्था का प्रभाव : यदि छत्ते को क्षैतिज तल में रख दिया जाए तो छत्ते के भीतर कोई ऐसी ऊर्ध्वाधर सतह नहीं रहती जिस पर मधुमक्खी नृत्य कर सके। केवल ऐसी स्थिति में भोजन की दिशा और दूरी की सूचना लेकर आने वाली 'स्काउट' मधुमक्खी नृत्य नहीं करती, बल्कि ध्वनि सिग्नलों द्वारा ही अपनी साथी मधुमक्खियों को खाद्य पदार्थ की स्थिति की सूचना देती है ।

भोजन के प्रकार के बारे में जानकारी : अब प्रश्न उठता है कि स्काउट मक्खी अपने साथियों को इस बात की सूचना कैसे देती है कि उन्हें अमुक फूल से अपना भोजन एकत्रित करना है । जब कोई 'स्काउट' मधुमक्खी किसी फूल के पराग या उसका रस चूस कर अपने छत्ते में वापस आती है तो उसके शरीर पर उस फूल के पराग या रस के कुछ कण चिपक जाते हैं । इन्हीं कणों की सुगन्ध से 'स्काउट' मधुमक्खी के साथियों को यह पता लग जाता है कि उन्हें किस प्रकार के फूल से रस चूस कर लाना है ।

●

स्वतंत्र भारत में विज्ञान के 22 वर्ष

जोगेन्द्र सक्सेना

आज के संदर्भ में विज्ञान का बीजारोपण वास्तव में अंग्रेजों के भारत में आने के बाद ही हुआ। आरम्भिक चरणों में इसको उन अंग्रेज वैज्ञानिकों और इंजीनियरों से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जो यहां पर विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में अनुसंधान करने और अपने-अपने विचारों का प्रतिपादन करने के लिए आए। पशु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मानव-विज्ञान, गणित, भौतिकी, रसायन, ऋतु-विज्ञान, भू-विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए 19वीं शती में यहां कई संगठन स्थापित किए गए। 20वीं शती के आरम्भ में भारत सरकार ने कई महत्वपूर्ण अनुसंधान संस्थान स्थापित किए। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण संस्थान थे, इम्पीरियल (अब इंडियन) एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीटचूट (1905), पूसा, बिहार; (1935 के विनाशकारी भूकम्प के पश्चात 1936 में इसे दिल्ली ले आया गया था)। सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीटचूट फार मेडिकल रिसर्च (1906), कसौली; फौरेस्ट रिसर्च इन्स्टीटचूट (1906), देहरादून; किंग इन्स्टीटचूट फार प्रिवेन्टिव मेडीसिन (1903), मद्रास; पास्चर इन्स्टीटचूट, (1907) कुनूर।

रिसर्च फंड की स्थापना

सन् 1911 में इंडियन रिसर्च फण्ड की स्थापना हुई। इसी को आगे चलकर इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च (आई. सी. एम. आर.) बना दिया गया। विज्ञान के इन विविध क्षेत्रों में पठन-पाठन और अनुसंधान कार्य को नियमित करने और प्रोत्साहन देने के लिए तत्कालीन भारत सरकार के इंगित पर 1902 में बोर्ड आफ साइंटिफिक स्टडीज की स्थापना की गई। 1924 में अपने 22 वर्ष के महत्वपूर्ण कार्यकलाप के पश्चात इस बोर्ड को विघटित कर दिया गया।

विगत दो विश्व युद्धों ने विज्ञान के महत्व को और अधिक स्पष्ट कर दिया और भारत सरकार को उसके विकास में अधिक सक्रिय रुचि लेने के लिए प्रेरित किया। यद्यपि देश में कई विश्वविद्यालयों और संस्थानों में सैद्धान्तिक विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य चल रहे थे, किन्तु देश को तो वास्तव में व्यावहारिक अनुसंधान की अधिक आवश्यकता थी। अतएव, डा. हालैण्ड की अध्यक्षता में 1916 में भारतीय औद्योगिक आयोग की स्थापना की गई। व्यावहारिक अनुसंधान को प्रोत्साहन देने के लिए आयोग ने 1918 में सरकार को अपनी सिफारिशें पेश कीं। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होने तक विशेष प्रगति नहीं हुई। अतएव, 1935 में स्थापित औद्योगिक सूचना और अनुसंधान ब्यूरो के कार्यों को संतोषजनक पाकर सरकार ने उसे ही 1940 में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान बोर्ड में परिवर्तित कर स्व. डा. शांति स्वरूप भटनागर के निदेशन में विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में व्यवस्थित रूप में अनुसंधान की नींव डाली। यही बोर्ड कालान्तर (1942) में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी. एस. आई. आर.) बन गया और तब से अब तक के 27 वर्षों में इसी परिषद् की प्रगति भारत में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान की प्रगति है।

विज्ञान स्वतंत्रता के बाद

वही वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान जो लंगड़ा कर चल रहा था स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्वस्थ और सबल हो गया और लम्बे-लम्बे डग भरकर आगे बढ़ चला। 1947 के बाद के 22 वर्षों में वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। इस समय देश में 70 विश्वविद्यालय हैं, जिनके अंतर्गत 2,700 महाविद्यालयों में लगभग 18 लाख विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इनमें से 8 लाख विज्ञान विषयक विद्यार्थी हैं जो कुल का 45 प्रतिशत हैं। इनके अतिरिक्त जरूरतमंदों को उच्च शिक्षा उपलब्ध करने के लिए संध्याकालीन विद्यालयों, कारस्पोंडेंस कोर्स, समर इंस्टीटचूट, ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम और रेडियो द्वारा शिक्षा की भी व्यवस्था की गई है।

भारत सरकार के अन्तर्गत वैज्ञानिक विभागों और संस्थानों, जैसे भूमिति विभाग, भारतीय भौमिकीय विभाग, भारतीय प्राणी विभाग, मौसम विज्ञान विभाग, भारतीय वन अनुसंधान संस्थान, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, केन्द्रीय जल और विद्युत बोर्ड और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अन्तर्गत अन्य अनेक संस्थानों और प्रयोगशालाओं का भारी विकास हुआ है। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली और भारतीय कृषि-अनुसंधान, नई दिल्ली जैसी स्वशासी संस्थाओं के कार्यों को विस्तृत रूप से बढ़ाया गया है और उन्हें विकास के लिए पर्याप्त धन राशि उपलब्ध की है।

परमाणु ऊर्जा आयोग की स्थापना

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही सरकार ने परमाणु ऊर्जा आयोग (1948) की एक सरकारी विभाग के रूप में स्थापना की। आज यह

आयोग परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इन चारों संगठनों का बजट 1948-49 के 1 करोड़ 10 लाख रुपयों से बढ़ाकर 1959-60 में 13 करोड़ 40 लाख रुपया कर दिया गया। इस प्रकार इनके बजट में 11 वर्ष में 11 गुणा वृद्धि हुई। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने देश में 30 राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की एक शृंखला स्थापित कर दी है। सन् 1953 में स्थापित विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों और निजी वैज्ञानिक संस्थानों को दिए गए सरकारी अनुदानों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इधर विगत वर्षों में वैज्ञानिक और तकनीकी कर्मचारियों की संख्या को बढ़ाने की दिशा में व्यवस्थित रूप से ध्यान दिया गया है। आज वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान का विकास राष्ट्रीय योजनाओं का अंग बन गया है।

वैज्ञानिक अनुसंधान

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान परिषद् के प्रयत्नों के फलस्वरूप आज देश में रासायनिक, यांत्रिक, और सिविल इंजीनियरी वैमानिकी, इलैक्ट्रानिकी, धातु कर्मिकी, भू-भौतिकी, कोयला और पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी, कांच-सिरेमिक और सिलिकेट प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में अनुसंधान की समुचित सुविधाएं उपलब्ध हैं। धातुकर्म कोक के उत्पादन के लिए निकृष्ट अकोकनीय कोयलों का कोकनीय कोयलों से मिश्रण करने हेतु कोयला धोने के कारखानों (कोल वाशरीज) की स्थापना, बेकार अभ्रक से ऊष्मारोधी ईंटों का निर्माण, भैंस के दूध से शिशु आहार का उत्पादन, प्रकाशीय कांच का निर्माण, कुछ ऐसे नये उद्योगों के उदाहरण हैं, जो राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में किए गए अनुसंधानों के फलस्वरूप स्थापित हुए हैं। लोगों को परामर्श देना, नयी विधियों के अनुसार व्यावसायिक पैमाने पर माल तैयार करने वाले उद्योगों को तकनीकी सलाह देना, प्रतिरक्षा संबंधी वैज्ञानिक समस्याओं पर अनुसंधान करना तथा मानक विशिष्टियां तैयार करने में भारतीय मानक संस्था को सहायता देना परिषद् के कुछ सामान्य कार्य हैं। अनेक प्रयोगशालाओं ने बहुत से ऐसे नाजुक यंत्रों के डिजाइन तैयार किए हैं, जिन्हें अन्यथा भारी लागत पर बाहर से मंगाना पड़ता था।



राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पूना

प्रयोगशालाओं की स्थापना से देश के नवयुवक, नवयुवतियों को वैज्ञानिक अनुसंधान करने के लिए स्वर्ण अवसर प्राप्त हुए हैं। उद्योगों को अब इस बात का अहसास होने लगा है कि सरकारी प्रयोगशालाओं में किए जाने वाले अनुसंधानों का उस समय तक कोई लाभ नहीं है जब तक कि उनके परिणामों का उपयोग नहीं किया जाता।

कृषि अनुसंधान

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान जो 1905 में बिहार में स्थापित हुआ किन्तु 1935 में दिल्ली में अपने वर्तमान स्थान पर स्थानांतरित कर दिया गया, आज देश का प्रमुख कृषि अनुसंधान संस्थान माना जाता है। यह तत्संबंधी शाखाओं––स्नातकोत्तर और स्नातकपूर्व, दोनों ही स्तरों में विशेषज्ञ तकनीकी सलाह, ज्ञान और प्रशिक्षण देने का महत्वपूर्ण स्थान है।

पशु चिकित्सा अनुसंधान की ओर इससे भी पहले ध्यान दिया गया था। भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान मुक्तेश्वर, जो 1889 में पूना में स्थापित इम्पीरियल बैक्टीरियोलाजिकल लेबोरेट्री का परिवर्तित नाम है, ने अपने जीवन काल में पशुचिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी कार्य किया है।

वन अनुसंधान संस्थान : 20वीं शती के आरम्भ में जो दूसरा महत्वपूर्ण संस्थान स्थापित किया गया, वह था वन अनुसंधान संस्थान (1906)। इस संस्थान ने वन उत्पादों में सुधार कर उनको व्यावसायिक स्तर पर उपयोग में लाने की दिशा में अग्रणी कार्य किया है। इस संस्थान में वन विज्ञान में विशिष्ट प्रशिक्षण के लिए भी व्यवस्था है।

इनके अतिरिक्त चाय, डेयरी, कपास, लाख आदि में अनुसंधान करने के लिए क्रमशः टोकलाई (असम), बंगलौर, बम्बई और रांची (बिहार) में संस्थान स्थापित किए गए। इन सभी अनुसंधान संस्थानों को व्यवस्थित रूप से संचालित करने और उनमें आपस में समन्वय स्थापित करने के लिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् बनाई गई। इस समय इस परिषद् का काम भारत सरकार, राज्य सरकारों और अन्य निजी संस्थानों को कृषि और पशु चिकित्सा अनुसंधान और प्रशिक्षण आदि में सलाह देना है।

चिकित्सा अनुसंधान

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में 19वीं शती के अन्त में और 20वीं शती के आरम्भ में जो महत्वपूर्ण खोजें की गई उनको बढ़ावा देने के लिए तत्कालीन भारत सरकार ने 1911 में भारतीय अनुसंधान कोष एसोसिएशन की स्थापना की और 5 लाख रुपया वार्षिक अनुदान

भारत में विभिन्न वैज्ञानिक संस्थाओं का विकास

पंजीकृत संस्थाएं, स्थापित वर्ष के अन्त तक	भौतिक-विज्ञान	चिकित्सा-विज्ञान	जीव-विज्ञान	इंजीनियरी और टेक्नोलाजी	सामान्य	संचयी वृद्धि
1900	–	–	–	2	1	4
1910	1	3	1	3	2	10
1920	1	3	2	6	4	16
1930	3	4	5	10	5	27
1940	4	7	9	12	6	38
1950	11	15	15	20	10	71
1960	17	23	25	25	12	104
1963	18	26	25	26	14	110

स्वीकार किया। यही एसोसिएशन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् (आई. सी. एम. आर.) बन गया।

मूलभूत अनुसंधान

पुनर्गठित होने के बाद परिषद् ने जो पहला काम किया वह था, अपनी स्थिति का लेखा-जोखा लेना। उसने अपना कार्य केवल छूत की बीमारियों तक ही सीमित न रखकर और आगे बढ़ाया तथा अन्य संबंधी विषयों, जैसे औद्योगिक औषधि, पर्यावरण, स्वच्छता, मनोवैज्ञानिक औषधि, दंतरोग, प्रसूति और शिशु कल्याण आदि पर ध्यान दिया। इनके साथ-साथ परिषद् ने मूलभूत अनुसंधान को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया।

सन् 1948 में स्थापित परमाणु ऊर्जा आयोग के अन्तर्गत विगत 21 वर्षों में महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। परमाणु ऊर्जा का विकास देश के द्रुतगामी औद्योगीकरण के लिए सस्ती विद्युत शक्ति उपलब्ध करने और कृषि उत्पादन में वृद्धि करने में किया जा रहा है। परमाणु ऊर्जा का अन्य उपयोग विविध क्षेत्रों में रेडियो आइसोटोपों का उपयोग करना है।

प्रतिरक्षा अनुसंधान

प्रतिरक्षा अनुसंधान देश में वैज्ञानिक और औद्योगिक अनु-

1965 में वैज्ञानिक और औद्योगिक कर्मचारियों के आंकड़े

	सरकारी कार्यों में	उच्च शिक्षा संस्थाओं में	उत्पादन उद्योगों में	अन्य सेवाओं में	योग
प्राकृतिक विज्ञान	1,61,000	38,000	68,000	68,000	3,35,000
इंजीनियरी और टेक्नोलाजी	1,63,000	14,000	54,000	9,000	2,40,000
चिकित्सा विज्ञान	50,000	8,500	10,000	25,000	94,000
कृषि विज्ञान	26,000	7,000	–	4,000	37,000
योग	4,00,000	67,500	1,32,000	1,06,000	7,06,000



केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान, लखनऊ

संधान का महत्वपूर्ण अंग है। विज्ञान की सभी शाखाओं का प्रतिरक्षा हेतु किस प्रकार व्यावहारिक उपयोग किया जा सकता है इसका अध्ययन करने के लिए 1948 में प्रतिरक्षा विज्ञान संगठन स्थापित किया गया, तथा अनुसंधान, उत्पादन और जांच पर समन्वित नियंत्रण रखने के लिए प्रतिरक्षा उत्पादन मण्डल स्थापित किया गया।

देश की राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में अनेक रक्षा संबंधी परियोजनाओं पर कार्य किया जा रहा है। 1965 तक सी. एस. आई. आर. ने 250 से भी अधिक रक्षा परियोजनाएं हाथ में लीं जिनमें से 90 पर उस समय उसके अन्तर्गत विविध प्रयोगशालाओं में कार्य चल रहा था। राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के प्रायोगिक संयंत्रों में उस समय सेना के लिए लगभग 30 विभिन्न वस्तुएं नियमित रूप से बनाई जा रही थीं और सामरिक महत्व की अन्य 45 वस्तुओं को तैयार करने के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर ली गई थी।

देश में वैज्ञानिक जागृति की दिशा में निजी वैज्ञानिक संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इनमें से अनेक संस्थाएं अपने निजी अनुसंधान कार्य में व्यस्त हैं। इनमें से उल्लेखनीय संस्थाएं हैं इण्डियन एसोसिएशन फार दी कल्टीवेशन आफ साइंस, कलकत्ता; रमन रिसर्च इन्स्टीटयूट, बंगलौर; बोस रिसर्च इन्स्टीटयूट, कलकत्ता; इण्डियन इन्स्टीटयूट आफ साइंस, बंगलौर; फिजीकल रिसर्च लेबोरेट्री, अहमदाबाद; टाटा इंस्टीटयूट आफ फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई आदि। विज्ञान और तकनीकी के विशिष्ट क्षेत्रों में संस्थाएं स्थापित करने की दिशा में विगत दशाब्द में वृद्धि हुई है। देश में बढ़ते हुए अनुसंधान कार्यों के साथ विभिन्न क्षेत्रों में जिस गति से अति विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना हुई है वह निम्न सारिणी में दर्शायी गई है।

उद्योगों में अनुसंधान

स्वतंत्रता के बाद से अब तक भारतीय उद्योग का अप्रत्याशित विकास हुआ है। भारी, मध्यम और लघु सभी प्रकार के उद्योग द्रुतगति से स्थापित होते चले जा रहे हैं। इस विकास का परिमाण यह हुआ कि देश में मशीनी औजारों का उत्पादन पहले से 100 गुना अधिक बढ़ गया है और आज हम रेल इंजन (लोकोमोटिव) इस्पात की वस्तुओं, इलैक्ट्रानिक यंत्रों और चिकित्सा के लिए रेडियो आइसोटोपों का विदेशों को निर्यात करने लगे हैं।

उद्योगों को ऋण आदि के रूप में सहायता देने के लिए दिल्ली में राष्ट्रीय अनुसंधान विकास निगम (एन. आर. डी. सी.) काम कर रहा है। 1965 में 500 औद्योगिक फर्मों के सर्वेक्षण से यह तथ्य प्रकाश में आया कि उनमें कई फर्में ऐसी हैं जिनमें दिन प्रतिदिन का काम चलाने के लिए निजी प्रयोगशालाएं हैं। उनमें से 50 में अनुसंधान के लिए सुविधाएं उपलब्ध हैं। सबसे अधिक पूंजी धातुकर्म उद्योगों में लगी हुई है और सबसे कम औषधि और रसायन उद्योग में। 1963-64 में निजी उद्योग ने वैज्ञानिक अनुसंधान पर 1 करोड़ 20 लाख रुपया व्यय किया और उसमें 390 वैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं।

इस प्रकार पिछले 22 वर्षों में वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र में शिक्षा बहुत बढ़ी है। गत वर्ष कास्टेशिया के सिलसिले में एकत्रित किए गए आंकड़ों के अनुसार 1965 में जितने व्यक्ति वैज्ञानिक और औद्योगिक सेवाओं में कार्यरत थे उनकी संख्या संलग्न सारिणी में दी गई है।

अनुमानित आंकड़ों के अनुसार 1965-66 में अनुसंधान और विकास पर 84 करोड़ रुपए व्यय किए गए। यह राशि 1964-65 के वर्ष से 20 प्रतिशत अधिक और 1960-61 से दुगुनी थी। विभागीय वितरण के अनुसार इसमें 88 प्रतिशत सरकारी कार्यों पर, 8 प्रतिशत उच्च शिक्षा संस्थानों पर और 4 प्रतिशत उत्पादन उद्योगों पर व्यय किया गया।

इस प्रकार विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में सर्वतोमुखी प्रगति देखकर देश का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि हम कई स्तरों पर और कई युगों में रह रहे हैं। यह सत्य है कि हमारे प्रारम्भिक विकास चरणों ने कई प्रकार की असमानताओं को बढ़ा दिया है। अब इन असमानताओं की खाइयों को पाटना हमारे अध्यवसाय और विज्ञान के सतत और समुचित व्यावहारिक प्रयोग पर ही निर्भर है।

घुमक्कड़ पक्षी

जोगेन्द्र सहगल

हम पक्षियों से परिचित हैं तथा उनके साधारण जीवन के विषय में भी थोड़ा बहुत जानते हैं, किन्तु इनकी कुछ-एक ऐसी अद्‌भुत और उत्कृष्ट विशेषताएं हैं जिनसे सर्वसाधारण भली-भांति परिचित नहीं। इनमें से विशेष उल्लेखनीय है पक्षियों द्वारा परिभ्रमण अथवा देशान्तर-गमन। यह एक प्रकार से ऋतु संबंधी है। परिभ्रामक पक्षी प्रति वर्ष बहुत बड़े परिमाण में भोजन तथा अच्छे मौसम की तलाश में देशान्तर गमन करते हैं।

यद्यपि पक्षियों के अतिरिक्त अन्य जीव जैसे बारहसिंगा, चमगादड़, सालमन, हैरिंग मछलियां तथा तितली, टिड्डे जैसे अन्य जीवों को भी प्रकृति की यह उत्कृष्ट देन प्राप्त है परन्तु इस प्रकार के देशान्तरगमन के क्षेत्र में अभी तक पक्षियों का ही सर्वोत्तम उदाहरण है। समझा जाता है कि पक्षियों की कुल जातियों में लगभग एक तिहाई ऐसी हैं जो परिभ्रमण करती हैं। वैसे उत्तरी गोलार्द्ध के पक्षी दक्षिणी गोलार्द्ध के पक्षियों की तुलना में अधिक भ्रमण प्रिय होते हैं।

प्राचीन काल से ज्ञात

एक ऋतु विशेष में कुछ पक्षी दूर देश चले जाते हैं और ऋतु बदलने पर वापिस आ जाते हैं। यह बात प्राचीन काल में लोगों को ज्ञात थी। विभिन्न खानाबदोश जातियों का स्थान-परिवर्तन पक्षियों के परिभ्रमण द्वारा ही संचालित था। फारस में तो वर्ष के महीनों के नामकरण का भी यही आधार था, जिस माह में जिस प्रकार के पक्षियों की प्रधानता होती अथवा जो पक्षी परिभ्रमण करते उसी के अनुसार उस माह का नाम भी रख दिया जाता था।

सन् 1492 में जब कोलम्बस का जहाज पश्चिम की ओर जा रहा था, उसके कप्तान ने कुछ थल पक्षियों को समुद्र पार उड़ते देखा और अनुमान लगाया कि धरती वहां से समीप ही होनी चाहिए, अतः उसने अपने जहाज की दिशा पश्चिम की अपेक्षा दक्षिण-पश्चिम की ओर, अर्थात जिस ओर पक्षी जा रहे थे, मोड़ दी। इसके परिणामस्वरूप कोलम्बस का जहाज उत्तर अमेरिका की अपेक्षा मध्य अमेरिका के सान नामक स्थान पर जा पहुंचा।

परिभ्रमण की आवश्यकता

पक्षी देशान्तरगमन क्यों करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, किन्तु उनमें से कोई भी पूर्णरूप से सन्तोषजनक नहीं है। वैसे हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि यह गुण पक्षियों को विरासत में अपने पूर्वजों से मिलता है। कुछ पक्षी-शास्त्रियों (ओनीथिलोजिस्ट) इसका कारण दिन का छोटा होना, आहार और ताप में कमी आदि मानते हैं। विभिन्न स्थानों पर अधिक ठण्ड तथा बर्फ आदि के कारण जब पक्षियों को भोजन तथा रहने आदि की असुविधा होने लगती है तो वे अपना निवासस्थान छोड़ ऐसे स्थान की खोज में निकल जाते हैं जहां मौसम अनुकूल हो और उन्हें सुविधापूर्वक पर्याप्त मात्रा में भोजन प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य से पक्षी हजारों मील की यात्रा करते हैं। उत्तरी शीत के दौरान आर्कटिक निवासी, गोल्डन प्लोवर, 8000 मील दूर अर्जेन्टाइना के पम्पास के मैदान में आ पहुंचते हैं। आस्ट्रेलिया का निवासी 'विलसंस पेट्रल' न्यूफाउंडलैंड जा पहुंचता है।

कुछ परिभ्रामक पक्षी केवल दिन में ही यात्रा करते हैं तथा कुछ केवल रात्रि के समय ही। दिन में परिभ्रमण करने वाले अधिकांशतः पक्षी यात्रा के दौरान ही अपने भोजन की खोज करते हैं तथा कभी-कभी उन्हें ऐसा करने के लिए काफी लम्बे फासले तय करने पड़ते हैं। दिन में परिभ्रमण करने वाले पक्षियों में बाराबतासी (स्विफ्ट) तथा अबाबिल (स्वैलो) ऐसे पक्षी हैं जो अपना भोजन उड़ते-उड़ते ही ग्रहण कर लेते हैं। अंजन हंस, ब्राह्मणी, पपीहा इत्यादि उड़ने में बहुत ही दक्ष माने जाते हैं और भोजन की खोज में बहुत बड़े-बड़े फासले तय करने में समर्थ होते हैं।



येलो-बिल्ड कुक्कू



अमेरिकी बगुला (बिटर्न)

रात में परिभ्रमण करने वाले पक्षी अधिकतर छोटे होते हैं, वे रात में उड़ान भरते और दिन भर आराम तथा भोजन की खोज करते हैं। साधारणतः ये पक्षी अधिक तेज नहीं उड़ते और अधिकतर डरपोक या लजालु होते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि अंधकारपूर्ण वातावरण में ये स्वयं को अधिक सुरक्षित समझते हैं। रात्रि परिभ्रामकों में कुक्कू, कुछ प्रकार के बगुले (बिटर्न्स), फुतकी (रेन) आदि मुख्य हैं। इनके



घरेलू फुतकी (हाउस रेन) चिड़िया

अतिरिक्त कुछ ऐसे भी पक्षी हैं जो रात को लम्बे फासले तय करते हैं और दिन में भी थोड़ी बहुत यात्रा जारी रखते हैं।

कितनी ऊंचाई पर उड़ान

विभिन्न पक्षी कितनी ऊंचाई पर तथा किस गति से परिभ्रमण करते हैं, इस संबंध में कई रोचक निरीक्षण किये जा चुके हैं। आधुनिक यंत्रों की सहायता से भिन्न-भिन्न परिभ्रामक–पक्षियों के उड़ने की गति एवं ऊंचाई के विषय में ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह पाया गया है कि काफी गहरे थल पर भी केवल कुछ पक्षी 3,000 फुट से अधिक ऊंचाई पर उड़ान भरते हैं। रात्रि में परिभ्रमण करने वाले पक्षी इससे भी कम — लगभग आधी — ऊंचाई पर उड़ते हैं। कुछ पक्षी विस्तृत जलाशयों के किनारों के समानान्तर उड़ कर उन्हें पार कर जाते हैं।

वायुयान की सहायता द्वारा किये गये अध्ययनों से यह विदित हुआ है कि पैलीकन, हंस, ब्राह्मणी इत्यादि कुछ पक्षी कभी-कभी 8000 से 9000 फुट तक की ऊंचाई पर परिभ्रमण करते हैं। समुद्री तट पर रहने वाले कई जातियों के पक्षी 12,000 फुट की ऊंचाई पर उड़ान करते हैं पर कुछ पक्षी, विशेष रूप से वे जो हिमालय तथा एंडीज जैसे पर्वतों को पार करते हैं, 20 हजार फुट से भी अधिक ऊंचाई पर उड़ते हैं।

अब यह विदित हो चुका है कि अधिकतर परिभ्रामक पक्षियों की उड़ने की गति 32 से 64 किलोमीटर प्रति घंटा होती है। अंजन 30 किलोमीटर प्रति घंटा से भी कम की गति पर यात्रा करते हैं। छोटे-छोटे थलीय पक्षी साधारणतः 30 से 45 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से परिभ्रमण करते हैं जबकि अधिकांश हंस तथा पानी के पक्षी 60 से 80 किलोमीटर प्रति घंटा के हिसाब से उड़ान भरते हैं। मौसम तथा परिस्थितियों के अनुकूल होने पर इनकी गति और भी अधिक अर्थात 80-90 किलोमीटर प्रति घंटा अथवा इससे भी अधिक हो जाती है। कुछ प्रकार के पक्षी जैसे पपीहा, बाराबतासी इससे भी अधिक तीव्र गति वाले होते हैं, परन्तु 160 किलोमीटर प्रति घंटा तक की गति बहुत कम पक्षी प्राप्त करते हैं।

परिभ्रमण के समय एक पक्षी एक दिन में कितने किलोमीटर की यात्रा तय कर पाता है, इसमें भी बहुत असमानता है। रात-दिन मिला कर एक पक्षी लगभग 6 से 11 घंटे उड़ान भरता है। कुछ पक्षी एक दिन में बहुत ही कम उड़ान भरते हैं। कूट (आरी) 30 किलोमीटर प्रति घंटा की गति से उड़ता हुआ आठ घंटे की स्थिर यात्रा में 250 किलोमीटर का फासला तय कर पाता है। गरुड़ 6 घंटे में लगभग 200 किलोमीटर तय कर पाते हैं, बाराबतासी बहुत ही तीव्र तथा स्थिर उड़ान भरने वाला पक्षी है, योरोपीय आतासी एक दिन में 800 किलोमीटर तक का फासला तय करते पाया गया है। परन्तु इस प्रकार की लम्बी उड़ान बहुत कम पक्षियों में पायी जाती है। अधिकतर ऐसा देखा गया है कि सभी पक्षियों को परिभ्रमण के समय उड़ान की कोई विशेष शीघ्रता नहीं होती और बहुत ही कम पक्षी निरन्तर प्रतिदिन उड़ान भरते हैं।



अबाबील चिड़िया

मृत्यु का कारण भी

परिभ्रमण कभी-कभी कुछ पक्षियों के लिए मृत्यु का कारण भी बन जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। हर वर्ष हजारों की तादाद में परिभ्रामक पक्षी अपने लक्ष्य तक पहुंचने में असमर्थ रह जाते हैं। आंधी, तूफान अथवा आकस्मिक ऋतु-परिवर्तन कभी-कभी इन पक्षियों के लिये प्राणघातक सिद्ध होते हैं। हर वर्ष परिभ्रामक पक्षी काफी संख्या में मार्ग-सूचक प्रकाशघरों से, पुलों से, ऊंची इमारतों से, बिजली की तारों इत्यादि से टकरा कर मृत्यु का शिकार होते हैं और कभी-कभी ये पक्षी स्वयं मुठभेड़ में भी मृत्यु को न्योता देते हैं।

प्रत्येक वर्ष अधिकांश परिभ्रामक पक्षी उसी स्थान पर आते हैं जहां गत वर्ष उन्होंने घोंसला बनाया था परन्तु युवा पक्षियों में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं कि जहां उनका गत वर्ष जन्म हुआ था ठीक उसी स्थान पर फिर अगले वर्ष परिभ्रमण करते पहुंचें। फुतकी (हाउस-रैन) तथा दयार अधिकतर प्रत्येक वर्ष उसी स्थान पर आते हैं जहां पिछले वर्ष उन्होंने घोंसला बनाया था। केवल स्थान ही नहीं, बल्कि अबाबिल (कलिफ स्वैलो) जैसे कुछ पक्षी अक्सर प्रत्येक वर्ष एक ही इमारत पर पहुंचते हैं और छोटे-छोटे मिट्टी के घोंसले बनाते हैं। इसके अतिरिक्त इनके आगमन में भी बहुत समानता रहती है। कुछ पक्षी तो लगभग हर वर्ष एक ही तिथि को अपने उत्पत्ति स्थल पर पहुंचते हैं। कई पक्षी जैसे पिलक्या (ग्रे वागटेल) निरन्तर कई वर्ष तक अपने हिमालयी उत्पत्ति स्थान से लगभग 2,000 किलोमीटर का फासला तय कर बंबई के एक ही मैदान में पायी गई है। इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण हैं कि पक्षी हर वर्ष एक ही तिथि को एक स्थान विशेष पर पाये जाते हैं।

उत्पत्ति स्थान (ब्रीडिंग ग्राउंड) पर पहुंचने के पश्चात पक्षी घोंसले बनाते, अंडे देते एवं नन्हे पक्षियों को जन्म देते हैं। कुछ समय तक युवक पक्षी वहीं अपने माता-पिता के साथ रह कर वापिस पैतृक स्थान को पलायन कर जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या पुराने अनुभवशील अभिभावक पक्षी इन नवजात पक्षियों को जिन्होंने पैतृक स्थान पहले कभी देखा नहीं, वापसी यात्रा पर मार्ग-प्रदर्शन करते हैं, या नवजात पक्षी स्वयं बिना किसी वयस्क की सहायता के अपने मार्ग की खोज करते हुये पैतृक स्थान को पहुंच जाते हैं। ऐसा पाया गया है कि नवजात पक्षी प्रथम बार बिना किसी अनुभवशील पक्षी की सहायता के अपने पैतृक स्थान तक सुरक्षित ही पहुंच जाते हैं। ये अनुभवहीन पक्षी, किस प्रकार हजारों मील का फासला तय कर ठीक अपने पैतृक स्थान पर पहुंच जाते हैं, इसका भी अभी तक कोई वैज्ञानिक समाधान नहीं हो सका।

अध्ययन का विषय

पक्षी-परिभ्रमण संबंधी वास्तविकता जानने की केवल यही एक उत्सुकता रह जाती है कि किस प्रकार हर वर्ष पक्षी एक ही ऋतु में, इस परिभ्रमण के लिए उत्तेजित हो जाते हैं। परिभ्रमण की उत्तेजना पक्षियों में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार से होती है। जैसे-जैसे दिन छोटे अथवा बड़े होते जाते हैं, वायु-तापमान तथा वायु-गति में अन्तर आता जाता है, वैसे-वैसे पक्षियों की शारीरिक प्रक्रिया में भी कुछ विशेषता आ जाती है। पक्षी के शरीर में वसा एकत्रित होना आरम्भ हो जाता है जो कि पक्षी को उसकी लम्बी यात्रा के दौरान शक्ति प्रदान करता है। परिभ्रमण का समय निकट आते ही जनेन्द्रियों में भी परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। यह सब किस प्रकार हो जाता है, इसका कारण अभी ज्ञात नहीं है।

बहुत से पक्षी प्रयोगशाला में बन्द पिंजरों में रखे गये, उन्हें पर्याप्त भोजन एवं सुविधाजनक तापमान में भी रखा गया। परन्तु उसके पश्चात भी उनमें परिभ्रमण प्रक्रिया-ज्वर विद्यमान रहा। परिभ्रामक-ऋतु के आते ही उन्हें एक प्रकार से व्याकुलता व्याप्त हो जाती है। वे रात-दिन पिंजड़ों में बेचैनी से फड़फड़ाते हैं जैसे कि कोई आन्तरिक उत्तेजना उन्हें कहीं जाने को बाध्य कर रही हो। वे पिंजडों से बार-बार परिभ्रमण की दिशा की ओर टकराते हैं। ●



• पेट्रोल के 'ग्रॉक्टेन नम्बर' का क्या ग्रर्थ है ?

सामान्यतया अन्तर्दहन इंजन वायु और वाष्पीकृत पेट्रोल के मिश्रण को संपीड़ित करके सही क्षण पर स्पार्क प्लग की सहायता से उसका दहन करता है । कुछ पेट्रोल ऐसे होते हैं जिन्हें यदि बहुत अधिक संपीड़ित किया जाए तो उनमें समय से पहले ही जोरदार प्रस्फोट हो जाते हैं। इसे अंग्रेजी में 'नॉकिंग' कहते हैं और इससे शक्ति का बहुत अधिक ह्रास होता है । अच्छे किस्म का ईंधन होने पर दहन के क्षण पर पिस्टन को निश्चित अवधि पर सहज रूप से धक्का मिलता है । ईंधन से अधिकतम शक्ति प्राप्त करने के लिये वायु और वाष्पीकृत पेट्रोल के मिश्रण को अत्यधिक संपीड़ित किया जाता है । यदि अच्छे नॉक-विरोधी (एन्टी-नॉक) गुणों वाले पेट्रोल का इस्तेमाल नहीं किया जाता तो इंजन बुरी तरह से 'नॉक' करने लगता है ।

पेट्रोल के नॉक करने की प्रवृत्ति को कम करने के दो उपाय हैं : एक तो यह कि ईंधन में धीमे जलने वाले पेट्रोल की प्रतिशत मात्रा बढ़ा दी जाय और दूसरे यह कि ईंधन के दहन की दर को कम करने के लिये किसी उत्प्रेरक का उपयोग किया जाय । इस सिलसिले में अब तक का सबसे बढ़िया उत्प्रेरक टेट्रा-एथिल लेड है ।

पेट्रोल के साथ 'ऑक्टेन नम्बर' इंजन में दहन के समय उसके 'नॉक' करने की क्षमता को सूचित करने के लिये लगाया जाता है । ऊंचा ऑक्टेन नम्बर ऐसे पेट्रोल का सूचक है जिसमें कि निम्न ऑक्टेन नम्बर वाले पेट्रोल की अपेक्षा नॉक करने की प्रवृत्ति कम होती है । ऑक्टेन नम्बर का आकलन करने के लिये आइसो-ऑक्टेन को मानक माना गया है । यह पेट्रोल 'नॉक-विरोधी' गुणों में सर्वोत्तम है । एक अन्य पेट्रोल एन-हेप्टेन है जोकि इस दृष्टि से बेहद घटिया है । शुद्ध आइसो-ऑक्टेन को वैसे ही ऑक्टेन नम्बर 100 दे दिया गया है जबकि एन-हेप्टेन को ऑक्टेन नम्बर 0 दिया गया है । इन दोनों के किसी मिश्रण का ऑक्टेन नम्बर वही होगा जितनी कि उसमें आइसो-ऑक्टेन की प्रतिशत मात्रा होगी । अतः जिस मिश्रण में 85 प्रतिशत आइसो-ऑक्टेन और 15 प्रतिशत एन-हेप्टेन होगा, उसका ऑक्टेन नम्बर 85 होगा । किसी पेट्रोल का ऑक्टेन नम्बर ज्ञात करने के लिये उसका एक मानक इंजन में दहन किया जाता है और फिर उसकी तुलना विभिन्न ज्ञात अनुपात वाले आइसो-ऑक्टेन और एन-हेप्टेन के मिश्रणों से की जाती है । इस प्रकार प्रयोग-अधीन पेट्रोल का ऑक्टेन नम्बर वही होगा जोकि ऐसे ही नॉकिंग गुण वाले किसी पूर्वज्ञात आइसो-ऑक्टेन और एन-हेप्टेन के मिश्रण का होता है ।

अच्छे पेट्रोल वही समझे जाते हैं जिनका ऑक्टेन नम्बर 80 या इससे अधिक होता है । 100 ऑक्टेन वाले पेट्रोल में, जैसा कि विमानों में इस्तेमाल होता है, वैसे ही नॉक-विरोधी गुण होते हैं जैसे कि विशुद्ध आइसो-ऑक्टेन में होते हैं । अब तो रसायनज्ञों ने ऐसे पेट्रोल भी बना लिये हैं जिनमें विशुद्ध आइसो-ऑक्टेन से भी अच्छे नॉक-विरोधी गुण होते हैं ।

• क्या ठोस पदार्थों के कण गतिशील भी होते हैं?

किसी ठोस पदार्थ के अणुओं को यद्यपि गैस व द्रव जैसी गतिशील होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है तो भी वैज्ञानिकों का विचार है कि ठोस-पदार्थ के अणु, अपेक्षाकृत निश्चित कक्षा में आगे-पीछे की ओर गति करके कम्पित होते रहते हैं । फिनाइल की गोली व कपूर सरीखे कुछ ठोस तो वातावरण में खुले रख देने पर वाष्पित ही हो जाते हैं । इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि उनके अणु गतिशील होते हैं और उनमें से कुछ उन्मुक्त होकर वायु में पहुंच जाने में समर्थ हो जाते हैं । किसी ठोस में अणुओं के गतिशील होने का अन्य साक्ष्य इस प्रयोग के दौरान उपलब्ध होता है । जब किसी सोने के खंड को सीसे के किसी खंड के साथ इस प्रकार कस कर बांध दिया जाय कि उनकी सपाट सतहें सटी हुई हों तो सोने के परमाणु सीसे में प्रवेश कर जाते हैं और सीसे के परमाणु सोने में । जब जस्ते और तांबे के दो टुकड़ों को काफी समय तक कस कर बांधे रखा जाता है तो यह हो सकता है कि वे पीतल के बंधन से बंधे पाए जायें । इस प्रकार के उदाहरण इस विचार की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किये जाते हैं कि किसी ठोस के परमाणु वस्तुतः गतिशील होते हैं ।

• अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनने के लिये आपको दीवार से कम–से–कम कितनी दूर रहना होगा?

मनुष्य का कान किन्हीं दो ध्वनियों में तभी भेद कर सकता है जबकि उन ध्वनियों के कान तक पहुंचने में कम से कम सेकंड के दसवें भाग का अंतराल हो। यदि समय का यह अंतराल इससे कम होता है तो कान में यह ध्वनियां इस प्रकार घुलमिल जाती हैं कि एक ही ध्वनि का बोध होता है। जब हम किसी झील के किनारे पर खड़े होकर जोर से चिल्लाते हैं तो इस प्रकार उत्पन्न ध्वनि-ऊर्जा का कुछ अंश दूसरी पार स्थित वस्तुओं से टकरा कर वापस लौटता है जिसे हम प्रतिध्वनि कहते हैं। इस प्रक्रिया में दूरी की महत्वपूर्ण भूमिका है। दूरी इतनी होनी चाहिए कि परावर्तित ध्वनि के हमारे कान तक पहुंचने से पहले ही मूल ध्वनि विलुप्त न हो जाय। अन्यथा प्रतिध्वनि नहीं सुनाई देगी। और चूंकि सामान्यतः ध्वनि की गति 1,120 फुट प्रति सेकंड होती है, सेकंड के दसवें भाग में इसकी गति 112 फुट होगी। अतः प्रतिध्वनि उत्पन्न करने के लिए किसी ध्वनि को कम से कम इतना फासला तो तय करना ही होगा। इस प्रकार किसी दीवार या अन्य परावर्त्ती वस्तु से, हमें कम से कम 56 फुट की दूरी पर स्थित होना होगा जिससे कि ध्वनि के जाने-आने का फासला कम से कम 112 फुट हो सके।

• डीजल इंजन में स्पार्क प्लग के बिना ही ईंधन कैसे जलने लगता है ?

यदि आपने किसी मोटर वाहन के टायर में हवा भरी होगी तो आपने यह अवश्य देखा होगा कि ऐसा करते समय पम्प बहुत गर्म हो जाया करता है। तब सरसरी तौर पर विचार करने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पम्प के गर्म होने का कारण पम्प की नली और पिस्टन के बीच घर्षण का होना है किन्तु फिर जब हम पम्प और टायर को जोड़ने वाली संकरी रबड़ की नलिका को भी छूने पर गर्म पाते हैं तब सोचते हैं कि इसका कारण उपरोक्त घर्षण नहीं है। वास्तव में इसका कारण कुछ और ही है। वायु और अन्य सभी गैसों के परमाणु सदैव गतिशील होते हैं। उनकी गति की दिशा निर्धारित नहीं होती बल्कि वे इधर-उधर प्रत्येक दिशा में गतिशील होते हैं जिससे वे आपस में टकराते भी रहते हैं। ऐसे प्रत्येक टकराव के परिणामस्वरूप गतिजऊर्जा की अति अल्प मात्रा ऊष्मा में बदल जाती है। पम्पिंग की प्रक्रिया में हम थोड़े ही आयतन में अधिकाधिक परमाणु ठूंसते जाते हैं जिससे प्रति सेकंड होने वाले टकरावों की संख्या बहुत बढ़ जाती है और इस प्रकार गतिजऊर्जा के ऊष्मा में परिवर्तित होने की दर भी बढ़ जाती है। बढ़े हुए दाब पर किसी गैस के तापमान बढ़ जाने का वस्तुतः यही कारण होता है। डीजल इंजन वायु और वाष्पित ईंधन को सिलिंडर में अनेक बार संपीड़ित कर इसी सिद्धांत का उपयोग करता है। जब दाब पर्याप्त बढ़ जाता है तो तापमान इतना अधिक हो जाता है कि उससे सिलिंडर में मौजूद मिश्रण जल उठता है।

• एलर्जी क्यों होती है ?

अंग्रेजी के शब्द एलर्जी की व्युत्पति ग्रीक भाषा के दो शब्दों से हुई है जिनका अर्थ होता है 'परिवर्तित प्रतिक्रिया'। एलर्जीधारी व्यक्ति वह होता है जिसमें कुछ वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर होने वाली प्रतिक्रिया साधारण और गैर-एलर्जीधारी व्यक्ति की अपेक्षा सर्वथा विपरीत होती है। बहुत से लोगों को अंडा निर्दोष और पोषक पदार्थ लगता है किन्तु यूरोप में भी कुछ स्त्री-पुरुष और यहां तक कि शिशु भी ऐसे हैं कि जिनके भोजन में अंडे का अल्पांश भी यदि छिपा हो तो उनके शरीर पर पित्ती सी उछल आती है, आंखें सूज जाती हैं और दमे का दौरा तक पड़ जाता है। वैसे ये लोग सामान्य और स्वस्थ होते हैं किन्तु इन्हें अंडों के प्रति एलर्जी होती है।

एलर्जी का आधारभूत कारण सन् 1910 में हेनरी डेल नामक एक अंग्रेज चिकित्सक ने खोज निकाला था और इस काम के लिये उन्हें बाद में नोबल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। डा. डेल ने यह पता लगाया कि हिस्टामीन नामक शरीर का रसायन ही एलर्जी के दौरे का सूत्रपात करता है। ऐसे व्यक्ति के ऊतकों में किसी प्रकार का दोष होता है जिससे एलर्जिक पदार्थों के सम्पर्क में आने पर हिस्टामीन का उत्पादन अत्यधिक मात्रा में होने लगता है और हिस्टामीन के आधिक्य से ऐसे व्यक्ति को खांसी, छींक व सीटीयुक्त कष्टदायी सांस आने के दौरे पड़ने शुरू हो जाते हैं। इस सिलसिले में अभी वैज्ञानिक यह नहीं बता पाये कि कुछ लोग कुछ पदार्थों के प्रति अति संवेदनशील क्यों होते हैं? वे यह तो जानते हैं कि एलर्जी की दशा में क्या होता है किन्तु वे यह नहीं बतला पाए हैं कि ऐसा क्यों होता है। इस क्षेत्र में होने वाले अधिक अनुसंधान से हो सकता है हम एलर्जी की पूर्ण प्रक्रिया को शीघ्र ही समझ पाएं।

• क्या विद्युत-धारा निर्वात में से प्रवाहित हो सकती है ?

यह तो हम जानते ही हैं कि तार में से होकर विद्युत-धारा बहा करती है और यह भी कि तड़ित के रूप में विद्युत वायु में से गुजरती है। प्रश्न यह है कि क्या यह निर्वात में से भी गुजर सकती है? जी हां, निश्चय ही! वायु में से होकर गुजरने में विद्युत-धारा को बहुत कठिनाई अनुभव होती है क्योंकि गतिशील इलैक्ट्रान, जिनके कारण ही विद्युत-धारा बनती है, निरंतर वायु-कणों से टकराते रहते हैं। ऐसा प्रत्येक टकराव उनके प्रवाह में बाधा उत्पन्न करता है; उसी प्रकार जैसे कि भीड़ में से होकर दौड़ने में किसी व्यक्ति को कठिनाई अनुभव होती है। यही कारण है कि रेडियो में लगने वाली साधारण ट्यूबों अर्थात वाल्वों में से हवा निकाल दी जाती है। जिस जगह में से होकर इलैक्ट्रानों को गुजरना होता है उसमें से वायु निकाल देने पर उन्हें गति करने में अधिक सुविधा होती है। बहुत अच्छी प्रकार के निर्वात बना दिये जाने पर टकरावों की संख्या नगण्य हो जाती है और विद्युत-धारा का प्रवाह अत्यधिक दक्षतापूर्वक होता है। •

मक्के की भूसी निकालने की नई विधि

मक्के के गूदे वाले अंश (गुठली) को पीसे बगैर ही उसके ऊपर से छिलके को जो कि सुपाच्य नहीं होता, हटाया जा सकता है। अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिकों द्वारा हाल ही में आयोजित अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ सीरियल केमिस्ट्स की बैठक में इसकी व्याख्या की गई। इस विधि के अन्तर्गत एक सोडियम हाइड्रोक्साइड घोल द्वारा छिलके को गला दिया जाता है, और पोषक तत्वों वाला भीतरी गूदा शेष रह जाता है।

परम्परागत विधियों के अन्तर्गत समूचे मक्के को एक साथ पीस दिया जाता है और उसके बाद चलनी से छान कर छिलके या भूसी को अलग कर दिया जाता है। किन्तु इसमें भूसी के साथ कुछ पोषक अंश भी निकल जाता है। मक्के के दाने का ऊपरी छिलका पोषक तत्व की दृष्टि से व्यर्थ होता है। मक्के का लावा खाने वाले इस अंश से परिचित हैं क्योंकि यह प्रायः दांतों के बीच फंसा रह जाता है। मक्के के दाने के शेष अंश में स्टार्च, तेल, प्रोटीन और अन्य पोषक तत्व पाये जाते हैं।

अधिक प्रोटीनयुक्त जौ की किस्म विकसित

हाल ही में जौ की एक ऐसी किस्म विकसित की गई है, जिसमें लाइसीन नामक एक महत्वपूर्ण एमिनो-एसिड और प्रोटीन की मात्रा बहुत अधिक है। इसका विकास अमेरिकी कृषि विभाग और स्वालोफ, स्वीडन स्थित स्वेडिश बीज संस्थान ने संयुक्त रूप से किया है।

जौ की इस नई किस्म में, जिसे 'हिपरोली' कहते हैं, प्रोटीन में निहित लाइसीन की मात्रा जौ की सामान्य किस्मों की अपेक्षा 20 से 30 प्रतिशत तक अधिक होती है। इसके अतिरिक्त उसमें मिथियोनिन नामक एक अन्य एमिनो-एसिड की मात्रा भी अपेक्षाकृत अधिक होती है।

इस खोज के उपरान्त अधिक पोषक तत्वों वाले जौ के उत्पादन का द्वार उन्मुक्त हो गया है।

लाइसीन उन 20 एमिनो-एसिडों में एक है, जो समस्त पौधा- और जंतु-प्रोटीन का निर्माण करते हैं। साथ ही खाद्यान्नों में यह बहुत ही न्यून मात्रा में पायी जाती है।

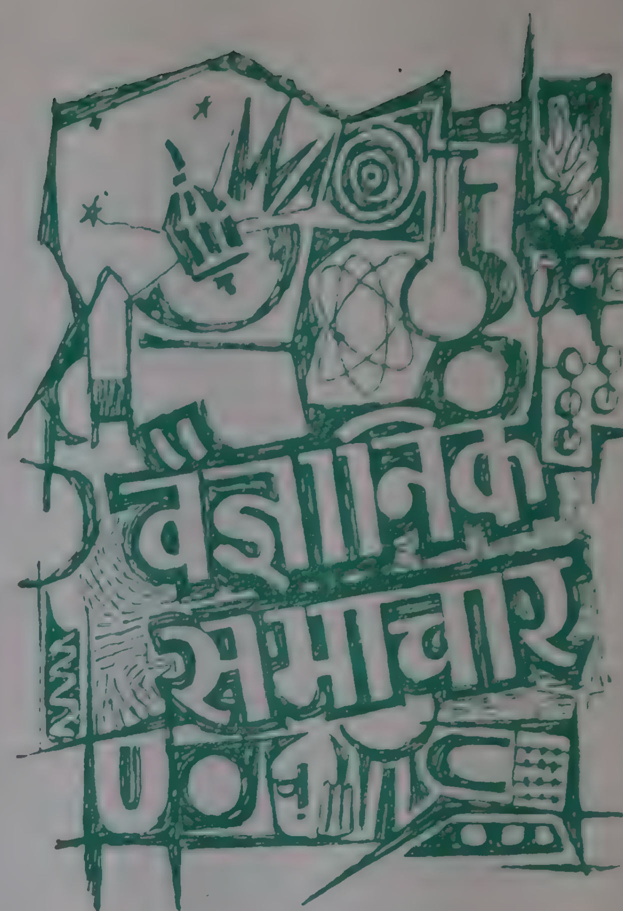
लाइसीन की मात्रा में इस वृद्धि से विश्व के ऐसे विभिन्न भागों के लोगों की आवश्यकता पूरी हो सकेगी, जिनके आहार में जन्तु प्रोटीन का अभाव होता है।

'हिपरोली' में निहित लाइसीन की ऊंची मात्रा की खोज का श्रेय संस्थान के डा. आरने हैगबर्ग, डा. लार्स मंक और डा. कार्ल एरिक कार्लसन को है। हिपरोली किस्म का आयात अमेरिका में सन् 1924 में इथियोपिया से किया गया था।

तड़ित व स्थिर विद्युत से विमानों की रक्षा

तड़ित और स्थिर विद्युत से उड़ते हुए विमानों को विनाशकारी क्षति भी हो सकती है। इंजीनियर लोग आमतौर पर इस समस्या की उपेक्षा ही करते आए हैं। कारण, उनकी यह मान्यता रही है कि धातु विमानों का कबंध (फ्यूजलाज) यात्रियों व इलैक्ट्रानिक उपकरणों को बिना कोई हानि पहुंचाए 200,00 एम्पीयर तक की विद्युतधारा का सुरक्षा पूर्वक संवहन कर सकता है।

परन्तु सन् 1963 में संयुक्त राज्य अमेरिका के एल्कटन (मेरीलैंड) नामक स्थान के निकट एक बोइंग-707 विमान की दुर्घटना ने इंजीनियरों को मानो झकझोर डाला। क्योंकि जांच से मालूम हुआ कि विमान के एक पक्ष (विंग) में स्थित टंकी का ईंधन तड़ित के कारण जल उठा था जिससे विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया था।



इसी प्रकार वाडन्बर्ग बेस से छोड़ी गई प्रथम दो 'मिनिट मैन-1' नामक मिसाइलों के नष्ट होने का कारण और टल्सा और केप केनेडी स्थित थोरग्डेल्टा राकेट के मोटरों के अचानक जल उठने का कारण स्थिर विद्युत समझा जाता है।

अतः इस समस्या पर विचार करने के लिये मियामी बीच नामक स्थान पर इंजीनियरों का एक सम्मेलन बुलाया गया। ब्रिटिश एयरक्राफ्ट कार्पोरेशन के प्रतिनिधि श्री स्टेन्ली रेनाल्ड्स ने विमानों के पक्षों (विंग्स) तथा ईंधन भंडारन क्षेत्रों में बनाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के छेदों की संख्या को डिजाइन की दृष्टि से कुछ चिंता की बात बतलाया। यदि विभिन्न प्रकार के इन छिद्रों के ढक्कन या इन तक पहुंचने के द्वार पर्याप्त रूप से विद्युत-चालक न हुए तो वे खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं।

विद्युत-चालकता की दृष्टि से कंकार्ड विमान के एक छोटे नमूने पर प्रारम्भिक परीक्षण भी किए गए। इनसे ज्ञात हुआ कि इस विमान के पक्षों के आगे की ओर की तेज धार पर तड़ित गिरने की संभावना कम रफ्तार से उड़ने वाले विमानों की अपेक्षा अधिक रहती है। इन परीक्षणों में यह भी ज्ञात हुआ कि यदि तड़ित की वोल्टता बढ़ने के

साथ-साथ विमान पर उसके गिरने की संभावना कम हो जाती है । यद्यपि प्रकृति में होने वाली तड़ित प्रक्रिया उच्च वोल्टता वाली ही होती है तो भी वैज्ञानिक इससे निश्चिन्त नहीं हो सकते, उन्हें तो इस समस्या का समाधान खोजना ही होगा ।

यह भी हो सकता है कि उड़ते हुए विमान की ऊंचाई का भी तड़ित गिरने से सम्बन्ध हो । ब्रिटिश एयर रजिस्ट्रेशन बोर्ड द्वारा पिछले 9 वर्षों में एकत्र किये गए आंकड़ों से यह पता चलता है कि यूरोपीय आकाशों में उड़ने वाले विमानों पर प्रति 2,400 उड़न-घंटों के दौरान एक बार तड़ित गिरती है । लेकिन सागरों पर उड़ान भरने वाले विमानों पर 6,000 उड़न-घंटों में तड़ित एक बार गिरती है । इस प्रकार की अधिकांश यूरोपीय दुर्घटनाएं (83 प्रतिशत) 2,000 फुट से 12,000 फुट की ऊंचाई पर हुईं यद्यपि एक या दो दुर्घटनाएं 20,000 फुट से 30,000 फुट की ऊंचाई पर भी हुईं ।

श्री रेनाल्ड्स ने बताया कि कंकार्ड विमान के फाइबर कांच के रैडोम की परिधि पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर एल्यूमिनियम की पत्ती के 6-6 घेरे लगे होंगे जिससे तड़ित गिरने पर वह कबंध में संवहित हो जायगी । डोम के भीतर लगे रडार के तारों को संरक्षण हेतु एल्यूमिनियम की नलिकाओं में रखा जाता है लेकिन एल्यूमिनियम की नलिकाओं में रखे जाने के कारण रडार की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है इसलिए बाद के कंकार्ड माडलों में इन नलिकाओं को अंडाकार बनाया जायेगा ।

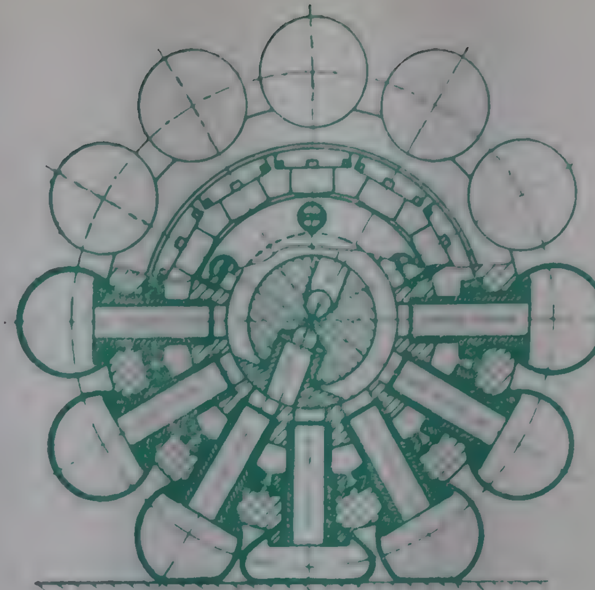
हृदय प्रतिरोपण के पहले 100 मामले

समाचार-पत्र वाले तो अब शायद हृदय-प्रतिरोपण के मामले से इतने चमत्कृत नहीं होते जितने कि प्रारम्भिक दिनों में हुआ करते थे । लेकिन 'मेडिकल वर्ल्ड न्यूज' नामक पत्रिका इस प्रकार के प्रत्येक आपरेशन का विस्तृत लेखा-जोखा रखती है । उपरोक्त पत्रिका के अनुसार 6 दिसम्बर, 1968 को हृदय-प्रतिरोपण के सही 100 मामले हो चुके थे । इनमें से उस तिथि को 43 रोगी जीवित थे जिनमें से 24 के आपरेशन हुए 3 महीने से कुछ ऊपर समय हो गया था । 2 को 6 मास से कुछ अधिक समय हो गया और एक डा. फिलिप ब्लैबर्ग को उस दिन 11 मास से ऊपर (डा. फिलिप ब्लैबर्ग आज भी जीवित हैं) । अब तक आधे से अधिक अर्थात 53 हृदय-प्रतिरोपण के आपरेशन अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका में किए गए थे । इसके बाद कनाडा का नम्बर आता है जहां 14 आपरेशन हुए थे । इसके बाद फ्रांस आता है, जहां 9 प्रतिरोपण हुए थे । अन्य किसी भी देश में तीन से अधिक प्रतिरोपण के आपरेशन नहीं हुए, यहां तक कि दक्षिण अफ्रीका में भी नहीं जहां कि हृदय-प्रतिरोपण की प्रक्रिया का सर्वप्रथम विकास हुआ था ।

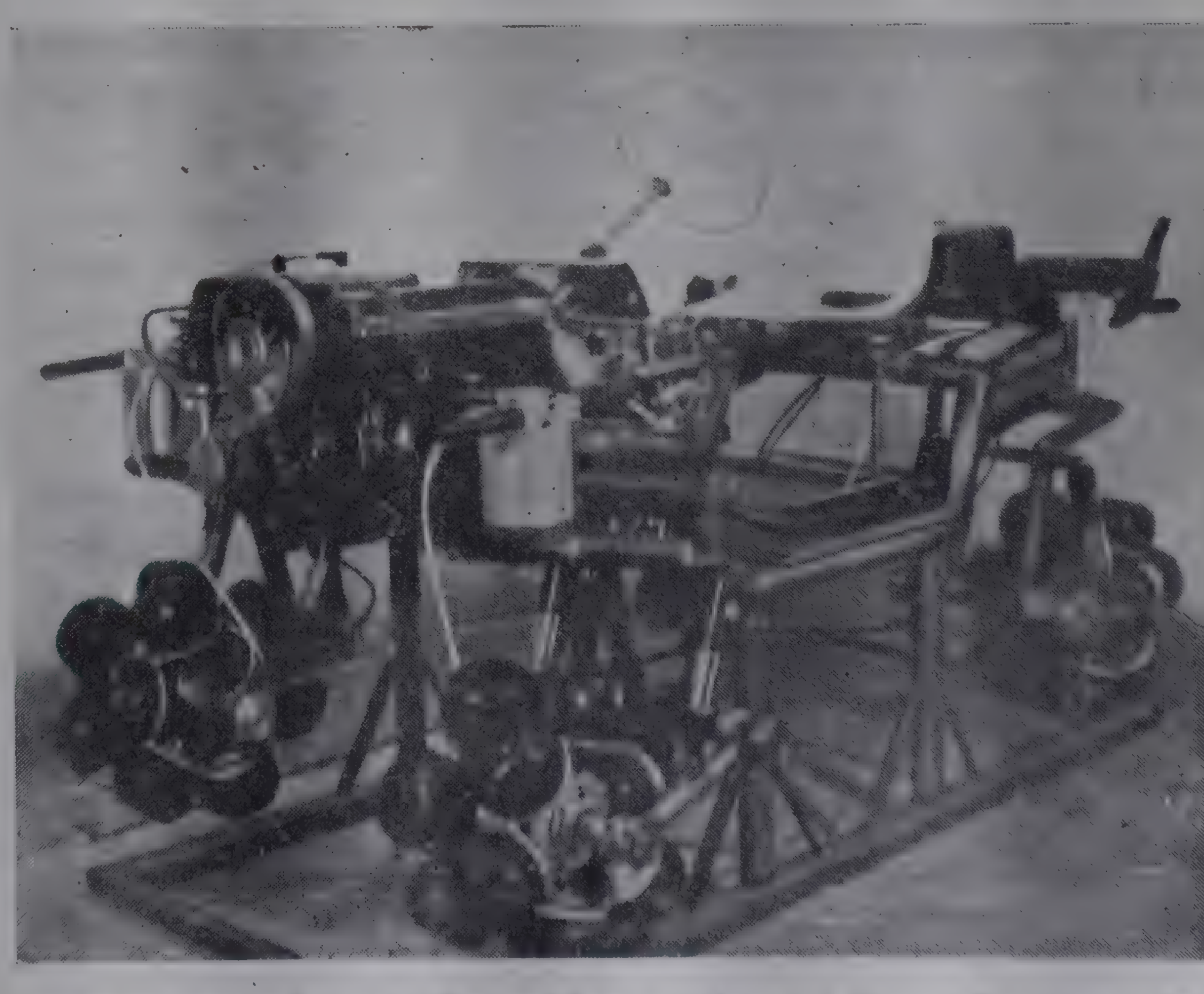
रेगिस्तान के लिए नया वाहन : रोटोपेड

वाहनों को गति देने के लिये एक नई पद्धति चेकोस्लोवाकिया के एक विख्यात मोटरकार इंजीनियर व अनेक पाठ्य पुस्तकों के रचयिता जूलियस मैकर्ल ने विकसित की है । इस पद्धति के अनुसार पहियों के रिम पर रबड़ के अनेक बल्ब लगे होते हैं, जो क्रमानुसार फूलते और पिचकते हैं, जिससे वाहन को गति मिलती है । बल्बों को फुलाने के लिए संपीड़ित वायु का इस्तेमाल होता है जो कि पहियों को हबों में से नियंत्रित मात्रा में नलिकाओं के माध्यम से बल्बों में वितरित की जाती है । इस पद्धति पर आधारित एक नमूने की युक्ति कुछ मास पूर्व लंदन में

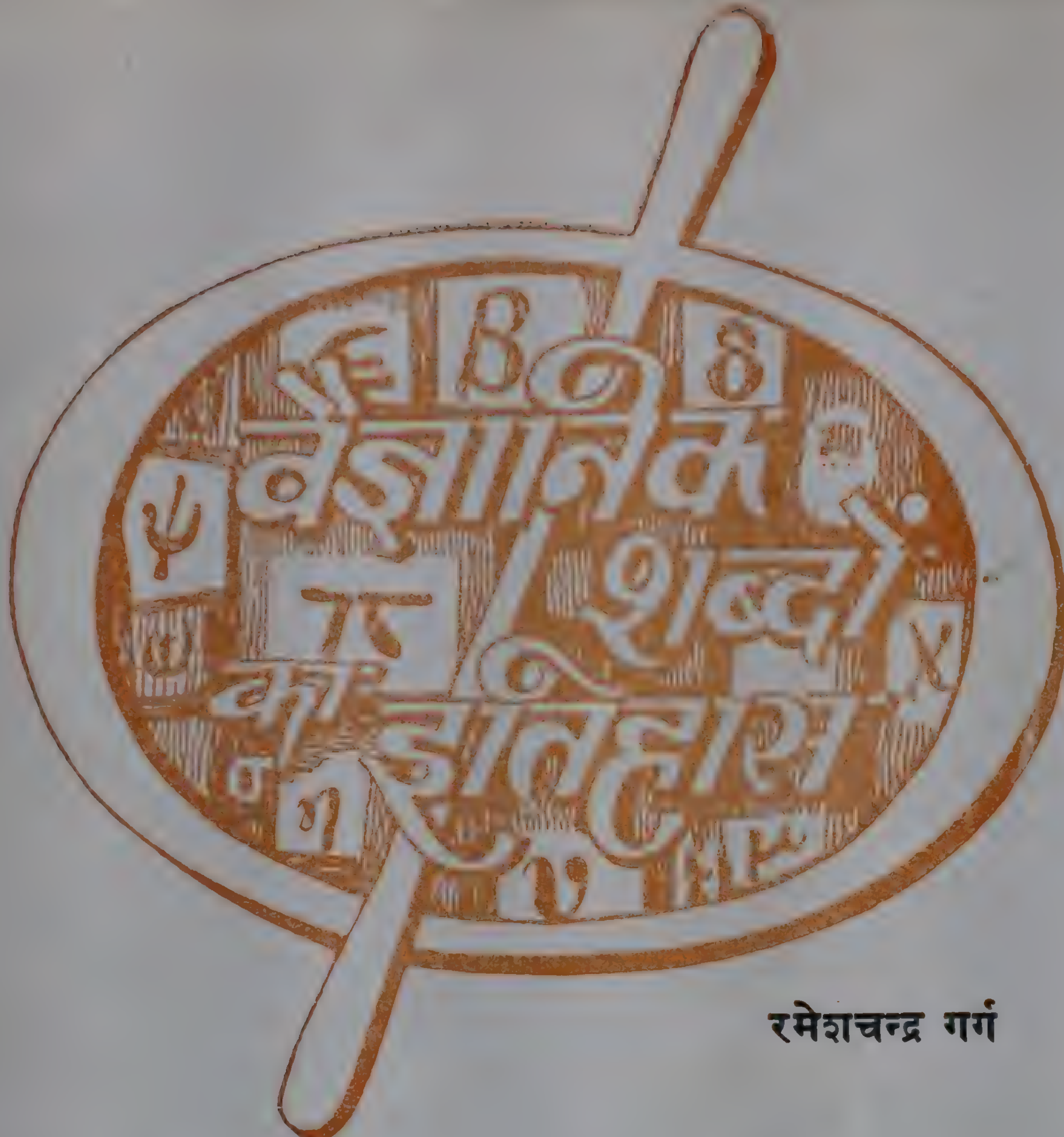
(शेषांश पृष्ठ 431 पर)



रोटोपेड वाहन के एक पहिए की काट जिसमें वायु-वितरण की सरल व्यवस्था देखी जा सकती है ।



रोटोपेड वाहन का आदि रूप । इसमें वायु-संपीडक अन्तर्दहन इंजन से चलता दिखलाया गया है ।



रमेशचन्द्र गर्ग

धमनी

'धमनी' अंग्रेजी के 'आर्टरी' शब्द का समतुल्य है। आर्टरी शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास आप 'विज्ञान प्रगति' के नवम्बर 1967 अंक में पढ़ चुके हैं। आर्टरी के लिए हिन्दी में 'धमनी' शब्द रखा गया क्योंकि यह नाली के समान एक अवकाशयुक्त (जिसमें रिक्त स्थान हो) और सुषिर (जिस में तरल वस्तु रिस सकती हो) वस्तु है। रिक्त होने से तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा कोई द्रव आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाया जा सकता है और सुषिर वस्तु से तात्पर्य है कि इसमें होकर बहने वाला द्रव सुषिरता के कारण रिस कर अन्य अंगों को पहुंच सकता है।

धमनी का सम्बन्ध हृदय से है जो अपनी आकुंचन तथा प्रसार की क्रिया के कारण अपने में विद्यमान रक्त को इनके (धमनियों) द्वारा बाहर दूसरी जगह भेज सकता है; धमनी में रक्त का संवहन होता है, धमनियों में ध्मान या स्पन्दन मिलता है। तात्पर्य यह है कि हृदय की आकुंचन एवं प्रसार की गति की प्रेरणा धमनी छूने पर हमारी अंगुलियों को महसूस होती है। यदि हृदय की गति तेज हो तो हम अपने नेत्रों द्वारा भी शरीर के बाहरी स्तर पर स्थित धमनियों में स्पन्दन देख सकते हैं।

इसलिए धमनी से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार 'आर्टरी' का ही बोध होता है।

चरक नामक आयुर्वेद ग्रन्थ में 'ध्मानाद्धमन्य' अर्थात् जो स्पन्दन करे उसको धमनी कहते हैं, का उल्लेख मिलता है। इसलिए शब्द निर्माण करते समय 'आर्टरी' को धमनी रखा गया। धमनी में शुद्ध रक्त का सम्बन्ध होता है जो रंग में लाल होता है।

शिरा

यह शब्द लैटिन शब्द 'वेना' अर्थात 'ब्लड वैसल' या 'वेन' से बना है। इसकी व्युत्पत्ति का इतिहास आप 'विज्ञान प्रगति' के नवम्बर 1967 अंक में पृष्ठ 388 पर पढ़ चुके हैं।

'वेन' का समतुल्य शब्द हिन्दी में 'शिरा' रखा गया क्योंकि धमनी के समान शिरा भी नली के समान अवकाशयुक्त या सुषिर वस्तु है; इसका भी सम्बन्ध हृदय से है; इसमें भी रक्त का संवहन होता है, परन्तु इसमें धमनियों के समान स्पन्दन नहीं होता।

इसके अतिरिक्त 'चरक' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ में 'सरणात सिरा' जिसके द्वारा द्रव पदार्थ सरण करता हो व धमनी के समान जो नलिका स्पन्दन न करती हो वह शिरा है। शिराओं में होकर रक्त शरीर के विभिन्न अंगों से हृदय को वापस आता है। शिराओं में कपाट होते हैं जो ऊपर की तरफ को खुलते हैं जिससे रक्त के चढ़ते समय तो रक्त उनके द्वारा ऊपर चला जाता है परन्तु वापिस नहीं आ सकता क्योंकि रक्त के वापिस होने पर शिराओं के कपाट बन्द हो जाते हैं और नीचे की तरफ नहीं खुलते। इस प्रकार रक्त आसानी से ऊपर को चढ़ता जाता है। इसलिए 'शिरा' से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार 'वेन' का ही बोध होता है। इसमें अशुद्ध रक्त का संवहन होता है जो रंग में नीला होता है।

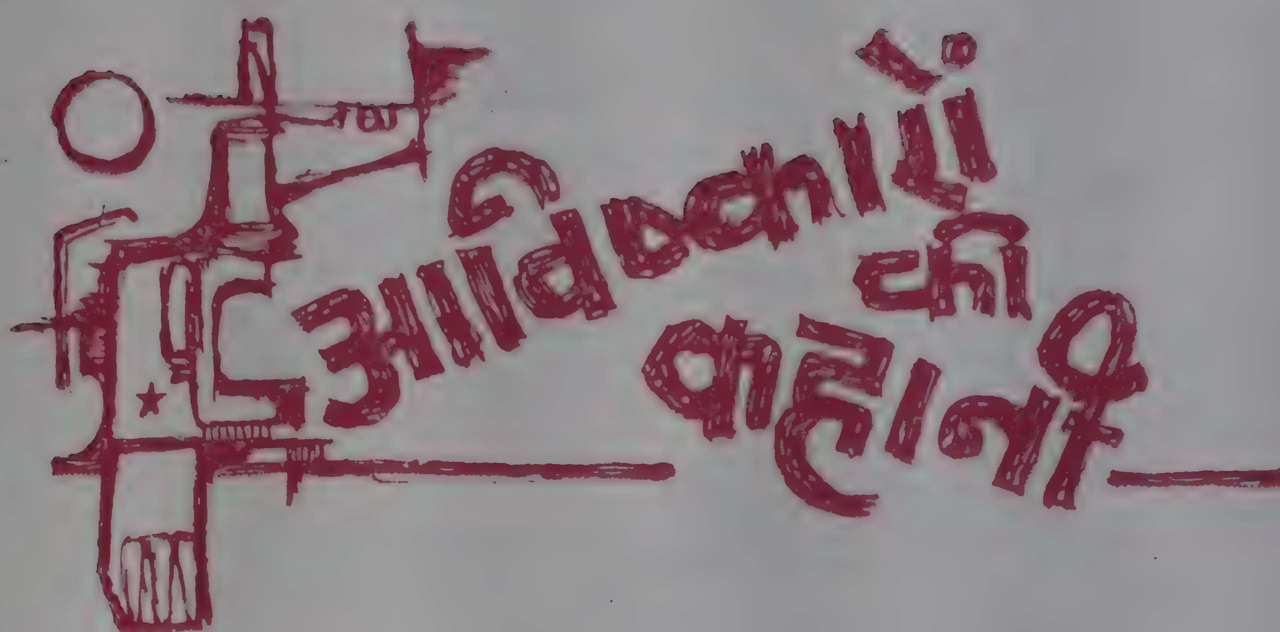
स्नायु

स्नायु अंग्रेजी शब्द 'लिगामेन्ट' का समतुल्य है। (पहले हिन्दी में 'स्नायु' अंग्रेजी शब्द 'नर्व' के लिये प्रचलित रहा है। अब 'नर्व' के लिये हिन्दी में 'तंत्रिका' शब्द का प्रयोग होने लगा है।) लिगामेन्ट शब्द लटिन के 'लिगामेन्ट' अर्थात् एक 'बैन्डेज' से बना है। लैटिन शब्द 'लिगेर' का अर्थ 'बांधना' होता है। लिगेर और प्रत्यय मेन्टम से मिल कर लिगामेन्ट शब्द बना है।

लिगामेन्ट के लिए हिन्दी में स्नायु शब्द रखा गया है क्योंकि आयुर्वेद के मतानुसार 'स्नायु' श्वेत सूत्रमय मजबूत उपधातु है जो शरीर के जोड़ों (सन्धियों) तथा मांसपेशियों को बांधने के काम आती है। आयुर्वेद में धातु संज्ञा सात प्रकार की वस्तुओं को दी गई है। वे धातुएं हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र। अन्य वस्तुओं को 'उपधातु' की संज्ञा दी गई है जिसमें 'स्नायु' एक है। यहां पर सन्धियों (जोड़ों) से तात्पर्य दो या दो से अधिक अस्थियों के मिलने पर बने विभिन्न जोड़ों से है जैसे कंधे का जोड़, कोहनी का जोड़, कूल्हे का जोड़ आदि आदि।

आयुर्वेद ग्रन्थ शार्गधर संहिता में स्नायवो बन्धन प्रोक्ता वेहे मांसास्थिमेवसाम्' पाठ

(शेषांश पृष्ठ 431 पर)



बॉल पाइंट पेन

विजय

आजकल फाउन्टेन पेन दैनिक उपयोग की वस्तु हो गई है। बच्चे भी फाउन्टेन पेन लेने को उत्सुक रहते हैं। लेकिन इससे स्याही अक्सर बाहर निकलने लगती है तथा लिखते समय हाथ खराब हो जाते हैं। इस कमी को दूर करने के विचार ने ही वैज्ञानिकों को बॉल पाइंट पेन के आविष्कार के लिए प्रेरित किया। बॉल पाइंट पेन में स्याही के गिरने, बहने और हाथ तथा कपड़े खराब होने की समस्या नहीं रह जाती।

बॉल बियरिंग

बॉल पाइंट पेन में निब के स्थान पर बॉल बियरिंग होता है जो स्याही को कागज पर चलाता रहता है और कागज पर अपने मार्ग में स्याही छोड़ता चलता है। इसमें प्रयुक्त एक विशेष किस्म की गाढ़ी स्याही प्लास्टिक अथवा धातु की नली में भरी रहती है जिसके गिरने का भय नहीं रहता। इस नली में दुबारा स्याही नहीं भरी जा सकती। समाप्त होने पर पूरी नली को ही बदलना पड़ता है। इस नली को 'रिफिल' कहते हैं।

विशेष स्याही

बॉल पाइंट पेन के लिए स्याही को गाढ़ी करने के लिए उसमें एक विशेष प्रकार का मिश्रण मिलाया जाता है जिससे वह सूखती नहीं और नली की दीवार पर चिपकती भी नहीं। अच्छी स्याही अरंडी का तेल (कैस्टर ऑयल) 45 प्रतिशत, राल 23 प्रतिशत, रिसिनोलिक अम्ल 17 प्रतिशत और रंग का आधार 15 प्रतिशत मिलाकर तैयार की जाती है।

बॉल पाइंट के आविष्कार का विचार बहुत पहले लोगों को सूझ गया था। लेकिन इस के वर्तमान स्वरूप की खोज का श्रेय हंगरी निवासी लेडिस्लोव जे. बीरो और उनके भाई जार्ज को है। जार्ज एक रसायनज्ञ थे। उन दोनों भाइयों ने हंगरी में ही प्रारम्भिक प्रयोग किये और 1938 में अपनी खोज को पेटेन्ट भी करा लिया।

दूसरे महायुद्ध के शुरू में दोनों भाई अर्जेन्टाइना गये और वहां के एक व्यापारी एच. जी. मार्टिन के सहयोग से बड़े पैमाने पर बॉल पाइंट पेन बनाने लगे। लेकिन कुछ समय पश्चात् इसमें एक दोष दृष्टिगत होने लगा। इस पेन से, चाहे वह इस्तेमाल हो रहा हो या न हो रहा हो, स्याही हर समय निकलती रहती थी। बीरो ने अपने सहयोगियों की सहायता से पेन की घुंडी में सुधार कर इस दोष को भी दूर कर दिया।

अन्य सुधार

इसके साथ इसका प्रचलन और तेजी के साथ बढ़ने लगा। आस्ट्रेलिया में स्याही में ग्लाइकोल मिलाकर एक वैज्ञानिक ने इसमें प्रयुक्त होने वाली स्याही को कुछ सुधारा।

आजकल इनके हल्के चलने तथा पेन और पेंसिल दोनों का काम देने के कारण इनका प्रयोग सब जगह बढ़ता जा रहा है। ●

(शेषांश पृष्ठ 428 का)

मिलता है जिसका तात्पर्य है कि 'स्नायु' शरीर में स्थित अस्थि, मांस तथा मेद को बांधने में प्रयुक्त होते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार 'लिगामेन्ट' का कार्य भी यही है। इसलिए शब्द निर्माण करते समय 'लिगामेन्ट' के लिए हिन्दी में 'स्नायु' शब्द रखा गया।

पेशी

पेशी शब्द अंग्रेजी के 'मसल' का समतुल्य है। 'मसल' शब्द लैटिन के 'मस्तुलस' से बना है। लैटिन में 'मस' का अर्थ होता है चूहा आदि। 'मस' 'मस्तुलस' का ही छोटा रूप है। इस शब्द का निर्माण होने का कारण यही हो सकता है कि चूहे के समान त्वचा के नीचे 'मसल' भी हिलता-डुलता है। 'मसल' के लिए हिन्दी का शब्द पेशी निम्न कारणों से रखा गया :

पेशी स्वरूप के सम्बन्ध में विज्ञानेश्वर तथा अन्य ग्रन्थकारों के वचन स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि 'शरीर' में लाल रंग का रेशेदार, आंकुचन तथा प्रसारशील जो ऊतक है, उसके पिण्ड को 'पेशी' के अतिरिक्त कुछ और नहीं कहा जा सकता।

'अनुप्रविश्य पिशितं पेशीभिजते तथा' (सुश्रुत) अर्थात पित्तयुक्त वायु मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में विभक्त करती है। सुश्रुत ने यह स्पष्ट किया है कि गर्भ में विभिन्न अंग किस प्रकार बनते हैं। जैसे गर्भ में यकृत तथा प्लीहा रक्त से फुफ्फुस रक्त के फेन से और उण्डुक रक्त के मल से बनते हैं। रक्त और कफ का जो सारतम भाग होता है, पित्त के द्वारा पकते समय उसमें वायु भी आ जाती है। यही पित्त युक्त वायु मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में विभक्त करती है।

आमाशय

अंग्रेजी के स्टमक शब्द का हिंदी समतुल्य शब्द आमाशय है। स्टाम शब्द ग्रीक के 'स्टोमेकोस' से बना है। 'स्टोमेकोस' शब्द ग्रीक के 'स्टोमा' तथा 'केओ' से बना है जिसका अर्थ क्रमशः 'मुख' तथा 'डालना' है।

आमाशय शब्द 'आम' तथा 'आशय' से मिल कर बना है। 'आम' का अर्थ है अपक्व अन्न अर्थात अन्न शरीर में पचने लायक न बन पाया और जिसका छोटी आंतों द्वारा अवशोषण न हो सके। 'आशय' का अर्थ अधिष्ठान अर्थात रहने का स्थान है। सम्पूर्ण शब्द आमाशय का अर्थ हुआ—वह स्थान जिसमें अपक्व अन्न रहता हो। आयुर्वेद ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में भी आमाशय 'स्टमक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सुश्रुत में 'आमा—नामन्नानामाशयः' का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है जिस आशय में अपक्व अन्न है, वह आमाशय है।

जठर

यह शब्द ग्रीक शब्द 'गैस्टर' अर्थात एक थैली से लिया गया है। 'गैस्ट्रिक' इसका विशेषण है और यह लैटिन के 'गैस्ट्रिक्स' से आया है।

'गैस्ट्रिक' का हिन्दी समतुल्य 'जठर' रखा गया है।

जठर का वही अर्थ है जो आमाशय का है। आयुर्वेद में 'जठराग्नि' का प्रयोग टीकाकारों ने किया है। जिस प्रकार अंग्रेजी में 'स्टमक' तथा 'गैस्ट्रिक' दो शब्द एक ही वस्तु के लिए प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार 'आमाशय' तथा 'जठर' के अर्थ भी एक ही हैं अर्थात जहां पर सेवन किया हुआ अपक्व अन्न रहता हो।

एतदर्थ 'स्टमक' के लिए 'आमाशय' तथा 'गैस्ट्रिक' के लिए 'जठर' शब्द रखे गये हैं।

अंधांत्र (उण्डुक)

अंधांत्र अथवा उण्डुक शब्द अंग्रेजी के 'सीकम' के समतुल्य हैं। सीकम लैटिन के शब्द 'सीकस' अर्थात 'अंधस्थान' से बना है। वृहदान्त्र का प्रारम्भिक भाग एक अंध स्थान के समान है। इसलिए इसका नाम 'सीकम' पड़ा।

उण्डुक का शाब्दिक अर्थ 'पोटली सदृश वस्तु' है। उण्डुक शब्द आयुर्वेद में उसी अंग के लिए हुआ जिसके लिए अंग्रेजी में सीकम प्रयुक्त हुआ है। अंग्रेजी शब्द 'सीकम' का अर्थ भी वही है तथा उसका स्वरूप भी पोटली के समान ही है।

शरीर-रचना-विज्ञान (एनाटमी) में 'सीकम' की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है जो 'अंधांत्र' तथा 'उण्डुक' शब्दों की सार्थकता की द्योतक है।

"'अंधांत्र' अथवा 'उण्डुक', जो वृहदान्त्र का प्रारम्भिक भाग है, एक अंधेरा कोष्ठ है तथा वृहदान्त्र कपाटों के नीचे स्थित है।"

आयुर्वेद में 'मलधरा कला' में 'उण्डुक' का स्वतन्त्र उल्लेख दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मलविभाजन पक्वाशय में होता है किंतु उण्डुक में विशेष रूप से होता है। आधुनिक खोज से भी यही सिद्ध हुआ है कि मलस्थित जल तथा अन्य पोषक द्रव्य का अवशोषण अधिकतर उण्डुक में ही होता है। डा. हेली बर्टन द्वारा लिखित शरीर-क्रिया-विज्ञान की पुस्तक में सीकम अर्थात उण्डुक या अंधांत्र का उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

"वृहदान्त्र के अतिरिक्त भोज्य पदार्थों में स्थित जल तथा पोषक द्रव्यों के अधिकांश भाग का अवशोषण उण्डुक अथवा अंधांत्र में होता है जब वे वृहदान्त्र में से होकर वाहित होते हैं।" इसलिए 'अंधांत्र' तथा 'उण्डुक' से शरीर के उसी भाग का बोध होता है जिसका 'सीकम' से होता है।

वैज्ञानिक समाचार

(शेषांश पृष्ठ 427 का)

हुई लिनपेक्स 69 प्रदर्शनी में दिखलाई गई थी।

इस आविष्कार का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस में वाहन को आगे गति देने के लिये अब पहिये और धरती के बीच के घर्षण पर ही मुख्यतया निर्भर नहीं होना पड़ेगा जिससे बर्फ और रेत पर यात्रा करना बहुत सरल हो जायेगा।

इस पद्धति पर आधारित वाहन के संबंध में श्री मैकर्ल का एक सुझाव यह भी है कि रेगिस्तानी वाहनों के संचालन हेतु वांछित वायुदाब उत्पन्न करने के लिए सौर ऊर्जा का उपयोग किया जा सकता है। रेगिस्तानों में यंत्र के कम्प्रेसर और नलिकाओं को रेतजन्य क्षति से रोकने के लिये बन्द गैस साइकल का उपयोग बल्बों को फुलाने-पिचकाने के लिये किया जा सकता है। ●

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टैक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है। प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिए जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके।

लेखों की शब्द संख्या 1000 से अधिक नहीं होनी चाहिये।

लेख कागज के एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिये। हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं। चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहिये। फोटो ग्लॉसी कागज पर होने चाहिये।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति', भारतीय भाषा यूनिट, पी.आई.डी.बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, के पते पर आनी चाहिये।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिये। इसमें लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हाबी होनी चाहिये।

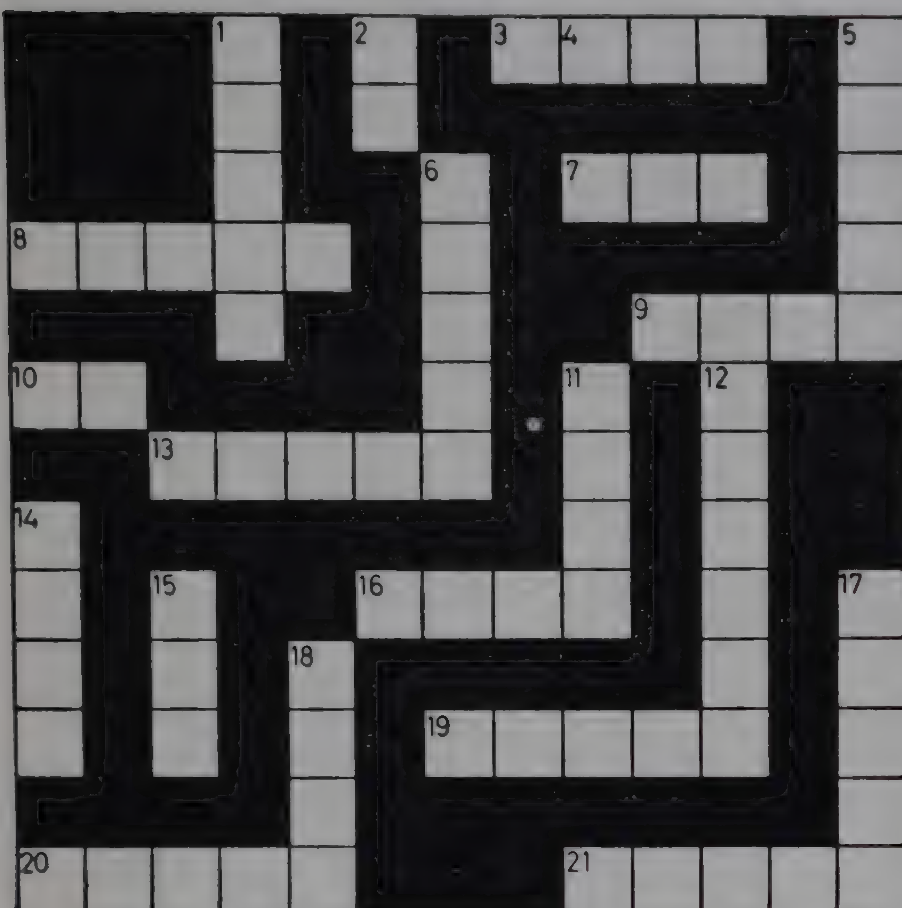
'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है।

• •

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 12

प्रस्तुत कर्त्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बाएं से दाएं

3. इस ग्रह की खोज 1781 में विलियम हरशेल ने की थी।
4. हाइड्रोजन के समस्थानिक-ड्यूटीरियम की खोज के लिए 1933 में नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाला वैज्ञानिक।
7. रेडियो खगोल शास्त्र का जन्मदाता।
8. केमिकल डायनामिक्स के क्षेत्र में अपनी खोजों के लिए 1910 का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाला डच वैज्ञानिक।
9. एक रजत-श्वेत धातु जिसके भौतिक और रासायनिक गुण बहुत कुछ सोडियम से मिलते-जुलते हैं। इसका उपयोग फोटो-इलैक्ट्रिक सैल में उत्प्रेरक के रूप में होता है।
10. एक समुद्री मील।
13. सोलहवीं शती का यह चिकित्सक-दार्शनिक औषधि-रसायन का जन्मदाता कहलाता है।
16. स्टीम बोट का आविष्कारक।
19. पारे और गेलियम के समान द्रवावस्था में रहने वाली एक अन्य धातु।
20. इस भारतीय युवा वैज्ञानिक ने गुरुत्वाकर्षण संबंधी नयी खोज करके अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है।
21. इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप के सिद्धांत की खोज करने वाला वैज्ञानिक।

ऊपर से नीचे

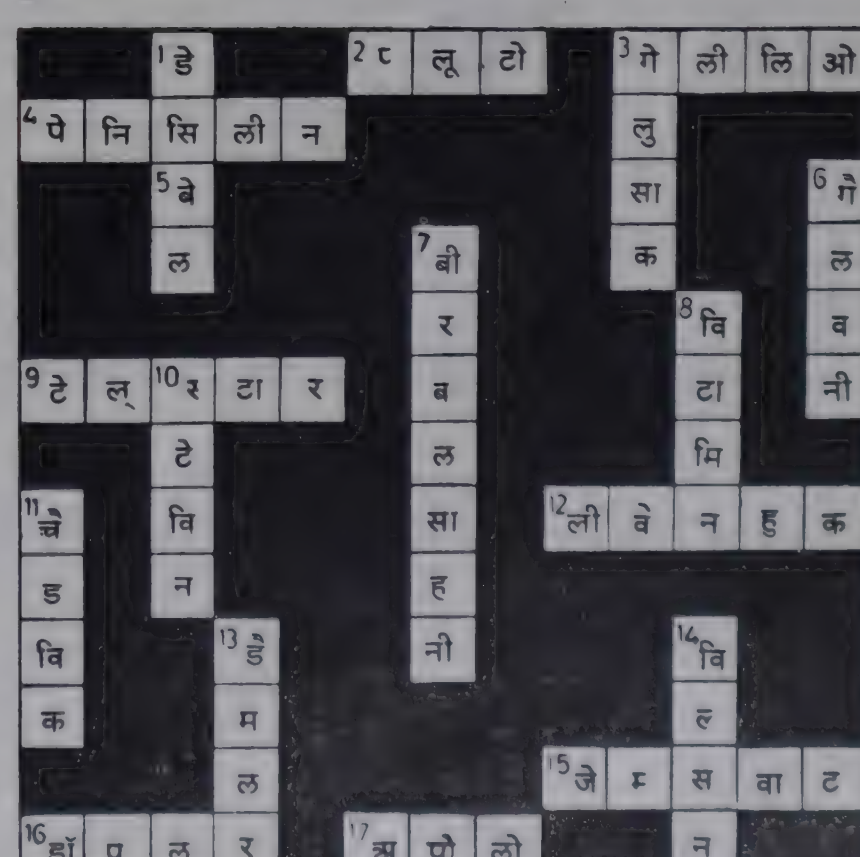
1. यह प्रयोग दर्शाता है कि विभिन्न धातुओं में ताप के संचार की गति भिन्न-भिन्न होती है।
2. प्रकाश के व्यतिकरण की खोज करने वाला वैज्ञानिक।
5. सबसे कठोर धातु।
6. प्रकाश के तरंग सिद्धांत का जन्मदाता।
11. होम्योपैथिक चिकित्सा प्रणाली का जन्मदाता।
12. नवीनतम मनुष्य निर्मित तत्व।
14. विद्युत मात्रा की इकाई इस वैज्ञानिक के नाम पर है।
15. 1840 में इस रसायनज्ञ ने सर्वप्रथम यह बताया था कि फास्फोरस-प्रचुर हड्डियों को खाद के उपयोग में लाया जा सकता है।
17. इंग्लैंड का प्रथम मुद्रक।
18. 1868 में हीलियम की खोज इस रसायनज्ञ ने की थी।

निर्देश—

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा। अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी। आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 11 का हल





अपनी चन्द्र-यात्रा के दौरान 17 जुलाई 1969 को, धरती से 2,50,000 किलोमीटर दूरी से, अपोलो-11 द्वारा भेजे गये कुछ टेलीविजन चित्र। (बायीं ओर) ऊपर—कम्प्यूटर कीबोर्ड; नीचे—इतनी दूरी से लिया गया पृथ्वी का चित्र; (दाहिनी ओर) ऊपर— नील आर्मस्ट्रांग; नीचे—माइकेल कॉलिन्स

हमारे विशिष्ट प्रकाशन

बालक-बालिकाओं को मातृभाषा के माध्यम से विज्ञान का परिचय तथा तकनीकी जानकारी देने की दिशा में हमारे ये अभिनव प्रकाशन विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे।

विज्ञान विनोद पुस्तकमाला

4 से 8 वर्ष तक के बच्चों को सरल कविता के माध्यम से विविध वैज्ञानिक विषयों की जानकारी देने वाली पुस्तकें।
बहुरंगे चित्रों से भरपूर ये पुस्तकें हिन्दी के अतिरिक्त कुछ अन्य भारतीय भाषाओं--
मराठी, बंगला, उर्दू, तेलुगु, गुजराती, मलयालम, कन्नड़--में भी प्रकाशित की जा रही हैं।
प्रत्येक पुस्तक का मूल्य केवल 1.50 रुपया।

कुछ पुस्तकों के शीर्षक

1. जल का चमत्कार
2. बिजली का चमत्कार
3. हवा का चमत्कार
4. चुम्बक का चमत्कार
5. चर्मप्रदायक जन्तु
6. थर्मामीटर का चमत्कार
7. कांच का चमत्कार
8. पेनिसिलीन का चमत्कार
9. टेलीफोन की कथा
10. जलयान की कथा
11. वायुयान की कथा
12. रेडियो की कथा
13. टेलीविजन की कथा

निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से अनेक 'अन्तरराष्ट्रीय बाल-पुस्तक प्रदर्शनी' में पुरस्कृत की जा चुकी हैं।

- 'जल का चमत्कार' हिन्दी, मराठी, गुजराती, मलयालम, कन्नड़, उर्दू और बंगला में;
- 'बिजली का चमत्कार' हिन्दी, मराठी, मलयालम, कन्नड़, उर्दू, बंगला, गुजराती और तेलुगु में;
- 'चुम्बक का चमत्कार' हिन्दी, मराठी, बंगला, कन्नड़ और उर्दू में;
- 'हवा का चमत्कार' हिन्दी, गुजराती, कन्नड़, बंगला और मराठी में;
- 'कांच का चमत्कार' हिन्दी में;
- 'टेलीफोन की कथा' हिन्दी में तथा
- 'चर्मप्रदायक जन्तु' हिन्दी (गद्य) में।

किशोर विज्ञान पुस्तकमाला

8 से 12 वर्ष तक के बच्चों के लिये बहुरंगे चित्रों से युक्त सुबोध गद्य में; प्रत्येक का मूल्य 1.50 रुपया।

1. सागर की कहानी
2. बाल भौतिकी
3. बाल विज्ञान और शिक्षा
4. अनोखा चांद
5. पैट्रोलियम की कहानी

'सागर की कहानी' और 'बाल भौतिकी' प्रकाशित हो चुकी हैं।
अधिक विवरण के लिए पत्र-व्यवहार करें :

व्यवस्थापक :

भारतीय भाषा यूनिट (सी. एस. आई. आर.)
पी. आई. डी. बिल्डिग, हिलसाइड रोड,
नई दिल्ली-12

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए
दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित।

विज्ञान प्रगति

आश्विन 1891
सितम्बर 1969





1965 के भटनागर स्मृति पुरस्कार प्रधान मंत्री द्वारा 28 जुलाई 1969 को, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली, में आयोजित एक विशेष समारोह में वितरित किये गये । पुरस्कार विजेता प्रधान मंत्री, केन्द्रीय शिक्षा मंत्री और परिषद के महानिदेशक के साथ

रसायनशास्त्र के एक पुरस्कार विजेता, डा. आर. सी. मेहरोत्रा प्रधान मंत्री से पुरस्कार प्राप्त करते हुए




Don't take
Chances
your safe bet is
AJANTA
STRIP RECORDING CHARTS
GRAHPS
AND
AJANTA
RECORDING
INKS
CHHENNA CORPN.
P.O. BOX 1728, DELHI - 6
PHONE : 272426 GRAMS : GRAPHMAKER

विज्ञान प्रगति के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये है। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में........................ 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक सख्या....... है। मैं............... रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

क्रमांक.............................. दिनांक............................ भेज रहा हूं।

पूरा नाम...

पता...

डाकघर.............................. जिला.................... राज्य............

हस्ताक्षर..

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 आश्विन 1891 सितम्बर 1969 अंक 9 पूर्णांक 204

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुंदर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

वैल्डिंग की नई विधि :
इलैक्ट्रॉन बीम वैल्डिंग
(चित्र—संयुक्त राज्य सूचना सेवा के सौजन्य से)

विशेष सूचनाएं

विषय-सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपए	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

इलैक्ट्रॉन विवर्त्तन

योगेन्द्रनाथ त्रेहन
और
त्रिपुरारीलाल शर्मा

जब प्रकाश की तरंगें किसी संकीर्ण द्वार से अथवा मार्ग में उपस्थित किसी बाधा के किनारों पर से गुजरती हैं तो उस क्षेत्र में भी फैल जाती हैं, जो उनके मार्ग की सीध में नहीं पड़ता। प्रकाश तरंगों के इस प्रकार फैलने की प्रवृत्ति को ही विवर्त्तन (डिफ्रैक्शन) कहते हैं।

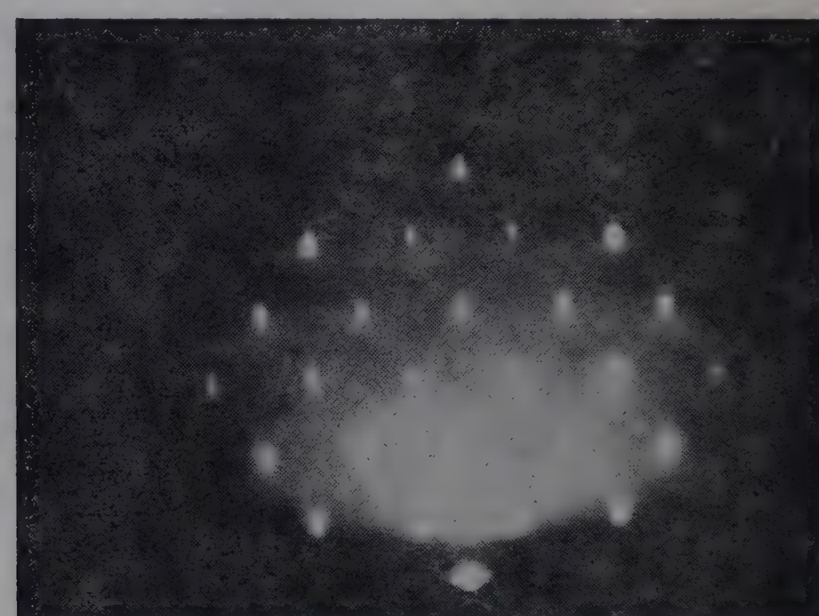
इलैक्ट्रान विवर्त्तन का प्रथम प्रयोग 1927 में हुआ था। अमेरिका में गरमर और डेवीसन तथा इंग्लैण्ड में जी. पी. टामसन और ए. रीड के प्रयोगों के बाद इलैक्ट्रान विवर्त्तन का क्षेत्र भौतिकी अनुसन्धान तक ही सीमित न रहा, बल्कि इसे व्यावहारिक तौर पर एक्स–रे विवर्त्तन का पूरक माना जाने लगा। यह पदार्थ की सतह पर अवस्थित अणुओं की स्थिति के अध्ययन के लिए उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार एक्स किरणें पदार्थ के भीतरी अणुओं की स्थिति के अध्ययन के लिए। अब तो इलैक्ट्रान-विवर्त्तन पदार्थ के आणविक विन्यास के अध्ययन के लिये स्वयं ही एक पूर्ण विधि है।

इलैक्ट्रान-विवर्त्तन कैमरा

इलैक्ट्रान-विवर्त्तन चित्र खींचने के लिए मुख्यतः तीन प्रकार के कैमरे इस्तेमाल किये जाते हैं।

ठण्डे कैथोड वाले : इनमें कैथोड किसी धातु जैसे एल्यूमिनियम अथवा स्टेनलेस स्टील का बना होता है। उसे काम में लाते समय गरम नहीं किया जाता। कैथोड कोष्ठ में निर्वात करीब 5×10^{-8} मिलीमीटर पारे के दाब के बराबर होता है, किन्तु कैमरा कोष्ठ में निर्वात 1×10^{-8} मिलीमीटर होता है। कैथोड कोष्ठ में हवा के कणों में से विद्युत–प्रवाह से इलैक्ट्रान धारा बहने लगती है जो कैमरा कोष्ठ में जाकर विवर्त्तित होती है। इस प्रकार कैमरों को साधारणतया 30 से 70 किलो वोल्ट पर चलाया जाता है।

गर्म कैथोड वाले : इनमें कैथोड टंगस्टन धातु की पतली तार से बना एक फिलामेंट होता है। इस फिलामेंट को गर्म कर एक खास ताप पर रखा जाता है। यह ताप फिलामेंट के तार में विद्युत संचार

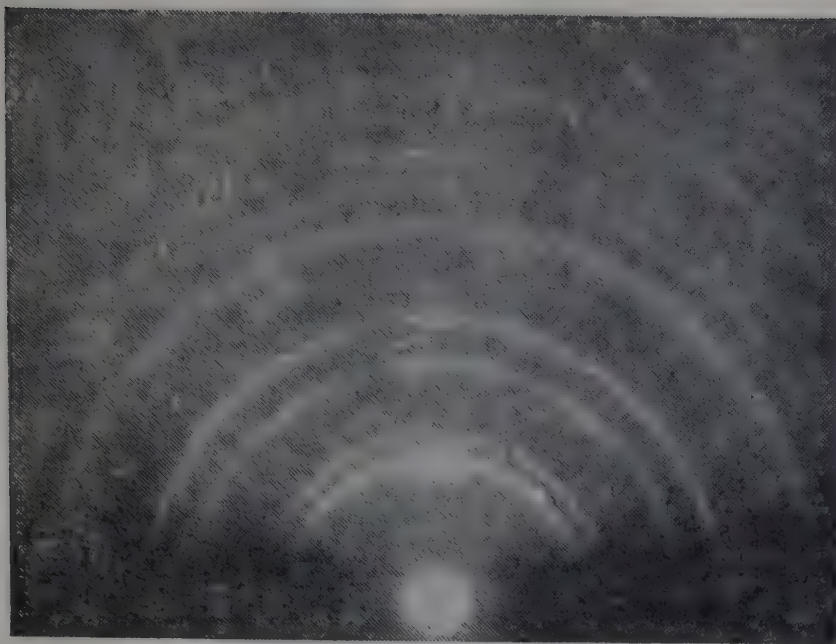


बिन्दु प्रतिरूप

कर प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के कैमरों में निर्वात बहुत अधिक होना चाहिये, नहीं तो फिलामेंट के आक्सीकरण का भय रहता है और फिलामेंट शीघ्र जल जाता है। ये कैमरे किसी भी वोल्टेज, साधारणतया 50 से 200 किलो वोल्ट, पर प्रयुक्त किये जा सकते हैं। कई लाख वोल्टेज पर प्रयुक्त होने वाले कैमरों का भी निर्माण हो चुका है।

अल्प ऊर्जा इलैक्ट्रान-विवर्त्तन कैमरा : इस कैमरे में वोल्टेज तो केवल 10 से 500 वोल्ट तक ही होती है, परन्तु कैमरा कोष्ठ में निर्वात 11^{-8} से 10^{-10} मिलीमीटर होता है। इस विधि से किसी भी ठोस पदार्थ की सतह पर जमी हुई गैसों के बारे में पता लगाया जा सकता है।

इलैक्ट्रान-विवर्त्तन तकनीकों का उपयोग विभिन्न पदार्थों के अध्ययन में किया जाता है। भिन्न प्रकार व भिन्न अणु संरचनाओं वाली वस्तुओं से भिन्न-भिन्न विवर्त्तन प्रतिरूप प्राप्त होते हैं।



वयन प्रतिरूप

इलैक्ट्रान विवर्त्तन प्रतिरूप के प्रकार

इलैक्ट्रान-विवर्त्तन का प्रतिरूप वस्तु में स्थित रवों के प्रकार व अनुस्थिति पर निर्भर करता है। साधारणतः व्यवहार में भिन्न प्रकार के विवर्त्तन प्रतिरूप देखने में आते हैं।

बिन्दु प्रतिरूप : यह मुख्यतः बिन्दुओं के रूप में होता है। इस प्रकार का प्रतिरूप तभी बनता है जब वस्तु में एक ही रवा हो या उसमें स्थित रवे आपस में 2° या 3° तक का कोण बनाते हों।

वयन प्रतिरूप : यह विवर्त्तन प्रतिरूप मुख्यतः वृत के चापों के रूप में या ऐसे वृत अथवा अर्धवृत के रूप में होते हैं जिनकी परिधि की मोटाई एक समान नहीं होती।

संकेन्द्र वृत्ताकार प्रतिरूप : इस प्रकार के विवर्त्तन प्रतिरूप उन वस्तुओं में मिलते हैं जिनके रवों का वितरण पूर्ण रूप से अस्त–व्यस्त होता है। साधारणतः अधिकांश प्रतिरूप इसी प्रकार के होते हैं।

व्यवहार में जो विवर्त्तन प्रतिरूप देखने को मिलते हैं वे उपर्युक्त प्रतिरूपों में किसी एक प्रकार के या मिले जुले होते हैं।

किकूची विवर्त्तन प्रतिरूप : वस्तु में अवस्थित रवों का आकार जब लगभग 10^{-6} से 10^{-5} मिलीमीटर होता है तो इलैक्ट्रानों का प्रकीर्णन गतिक रूप में होता है। इसमें छितराई हुई इलैक्ट्रान धारा की तीव्रता बहुत अधिक होती है और विवर्त्तन प्रतिरूप बहुत अ चमकदार नजर आते हैं। जब रवों का आकार उपर्युक्त माप से ब होता है तो अवशोषण की मात्रा अधिक होने से इलैक्ट्रान धारा प्रकीर्णन का वेग कम हो जाता है, जिससे विवर्त्तन प्रतिरूप तो कु फीके पड़ जाते हैं पर साथ–साथ एक ऐसा प्रतिरूप उभरने लग है, जिसमें काली और चमकदार समान्तर रेखायें अधिक होती हैं इन एक रवे वाले किकूची विवर्त्तन प्रतिरूपों के द्वारा रवों की अनुस्थि का पता लगाया जा सकता है। विवर्त्तन प्रतिरूप में किकूची रे एवं पट्टियों का होना वस्तु में अवस्थित रवों के आदर्श आकार व द्योतक होता है।



संकेन्द्र वृत्ताकार प्रतिरूप



किकूची विवर्त्तन प्रतिरूप

उपयोग

इलैक्ट्रान-विवर्त्तन आधुनिक भौतिकी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसका उपयोग मुख्यतः पदार्थ के रवों का अध्ययन करने में और उनके अणु-विन्यास को समझने के लिए किया जाता है। इलैक्ट्रान पदार्थ में बहुत कम दूरी तक पैठ सकते हैं, इसलिये उनकी ऊपरी सतह का अध्ययन करने में इनका खास महत्व है। इलैक्ट्रान-विवर्त्तन तकनीकों का उपयोग इलैक्ट्रान-विवर्त्तन विधि का ही प्रयोगात्मक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन; गैसीय अवस्था में पदार्थ के अणुओं का अध्ययन; ठोस पदार्थ की ऊपरी सतह पर जमने वाली आक्साइड परतों का व्यापक विश्लेषण; पदार्थ के रवों की अनुस्थिति और संरचना का विवेचन तथा रवों के भीतरी विद्युत चाप के अध्ययन में भी किया जाता है।



उद्योग कर्मियों के स्वास्थ्य संकट

(भाग-I)

एस. एच. ज़ैदी

किसी भी राष्ट्र की प्रगति के लिए औद्योगीकरण अनिवार्य रूप से आवश्यक है, पर इससे उद्योग-कर्मियों के स्वास्थ्य पर काफी कुप्रभाव पड़ता है। अनेक उद्योग ऐसे हैं जिनमें विषैली धातुओं, कार्बनिक यौगिकों व रसायनों का उपयोग किया जाता है। इन विषैले पदार्थों का उद्योग-कर्मियों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

भिन्न उद्योगों में इस्तेमाल होने वाले एक ही रसायन से उत्पन्न रोग-लक्षण भिन्न हो सकते हैं। कभी-कभी विषैला पदार्थ शरीर के ऊतकों में जमा हो जाता है और शरीर पर उसके कोई कुप्रभाव परिलक्षित नहीं होते, कभी, विषैला पदार्थ किसी उप-उत्पाद में परिवर्तित हो जाता है और शरीर के ऊतकों को मूल रसायन की अपेक्षा कहीं अधिक क्षति पहुंचाता है। उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले रसायनों व शरीर पर उनके प्रभाव का अध्ययन 'औद्योगिक विष विज्ञान' के अन्तर्गत किया जाता है। प्रस्तुत लेख में हम भारत के विभिन्न उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले रसायनों व उनसे उत्पन्न रोगों पर विचार करेंगे।

धातुएं और रसायन

विभिन्न उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले बहुत से ऐसे रसायन हैं और बहुत सी ऐसी धातुएं हैं जो कि उद्योग-कर्मियों में विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक रोगों को जन्म देती हैं।

सीसा खनन भारत का एक प्रमुख उद्योग है। सीसा धातु का विषैला प्रभाव गम्भीर होता है। भांड-कर्म, जलयान निर्माण, कोच पेंटिंग तथा झालने का कार्य करने वाले व्यक्तियों को 'सीसा-संकट' का सामना बहुत करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सफेदा, सिंदूर, लैड क्रोमेट, लिथार्ज विद्युत संचायक, तथा रबड़ उद्योग में काम करने वाले व्यक्तियों को भी सीसा विषाक्तता का खतरा बना रहता है। इन उद्योगों में काम करने वाले व्यक्तियों में सांस के साथ

फेफड़ों में तथा अल्प मात्रा में आमाशयान्त्र प्रदेश में सीसा धूलि अथवा सीसा धूम चला जाता है और वहां अवशोषित हो जाता है। 'सीसा-मादकता' के प्रभाव स्वरूप रक्त में सीसा आयनों की सांद्रता बढ़ जाती है। इससे सीसक शूल, रक्ताल्पता, मणिबंध-पात तथा काल-पूर्व ही दंत क्षय हो जाता है। जंतुओं पर किए गए प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि सीसा, वृक्क तथा रुधिर वाहिनियों के लिए विष का काम करता है। इससे धमनीकाठिन्य हो जाता है। यदि रक्त के प्रति 100 ग्राम में सीसे की मात्रा 80 माइक्रोग्राम से अधिक हो जाय तो वह मनुष्य के लिए घातक सिद्ध होती है। लेडटैट्रा-एथिल के त्वचा द्वारा अवशोषित हो जाने पर निद्रानाश, मानसिक संभ्रम, प्रलाप तथा उन्माद रोग हो जाते हैं। सीसा जन्य प्रदूषण आज मनुष्य के लिए चुनौती बना हुआ है और इसीलिए 'सीसा विष विज्ञान' का अध्ययन बहुत अधिक हो रहा है।

थर्मामीटर, बैरोमीटर, विद्युत मीटर, लैम्प, रेडियो वाल्व आदि उद्योगों में काम करने वाले व्यक्ति पारे के कुप्रभावों से ग्रस्त हो जाते हैं। पारा कमरे के ताप पर भी वाष्पीकृत होने लगता है और त्वचा व श्वसन नलिका और पाचन संस्थान द्वारा अवशोषित हो जाता है। पारा धातु एक जीवद्रव्य-विष है। इससे मुख-पाक, अतिक्षोभ्यता तथा कम्प आदि रोग हो जाते हैं। मर्करी फल्मीनेट स्पर्श से त्वक्शोथ हो जाता है और मेथिल व एथिल मर्करी यौगिक तंत्रिका तंत्र को क्षति पहुंचाते हैं। पारे से मस्तिष्क ऊतक शोथ, वृक्क क्षति तथा यकृत सिरोसिस आदि रोग भी हो जाते हैं।

लोहा व इस्पात उद्योग भी एक अति महत्वपूर्ण उद्योग है। संसार भर में पाए जाने वाले लौह अयस्क का चौथाई अंश भारत से प्राप्त होता है। विद्युत चाप वैल्डिग करने वालों को लौह आक्साइड से फेफड़ों का रोग, 'लोहमयता' हो जाता है। यदि वेल्डर 6-10 वर्ष तक लौह आक्साइड के प्रभाव में काम करता रहे, तब कहीं इस रोग का पता लग पाता है। इससे पूर्व तो फेफड़े



पीतल के सांचे में पिघला हुआ पीतल भरने पर जिंक आक्साइड धूम उठता हुआ

में रेडियोग्राफिक परिवर्तन भी नहीं आते। फैरिक लवण यदि रक्त प्रवाह में मिल जाएं तो तुरन्त ही अत्यधिक विषैला प्रभाव दर्शाते हैं।

आर्सेनिक-धूलि श्लेष्मा झिल्ली में क्षोभ उत्पन्न करती है। यह उद्योग-कर्मियों की त्वचा पर जम जाती है और नथुनों, पलकों, ओठों, कानों व गर्दन पर अधिमांस उत्पन्न करती है। आर्सेनिक युक्त धूलि के प्रभाव में अधिक रहने से त्वक् कैंसर भी हो सकता है। आर्सीन एक रंगहीन तथा अत्यधिक विषैली गैस है। आर्सेनिक और आर्सेनिक युक्त पदार्थों की उपस्थिति में जब नवजात हाइड्रोजन उत्पन्न होती है तो यह गैस बनती है। आर्सीन धूम के अभिश्वसन से बहुत तीव्र गति से लाल रुधिर कणिकाएं नष्ट होने लगती हैं और रक्ताल्पता हो जाती है। यह औद्योगिक विषज पीलिया का एक सबसे सामान्य कारण है।

माचिस, चूहा मारक विष, आतिशबाजी, कीटनाशी आदि के निर्माण में फास्फोरस का उपयोग खूब होता है। 1844 में, माचिस उद्योग की स्थापना के बारह वर्ष बाद, जबड़े का सुषुप्ति रोग जिसे साधारणतया 'फॉसी जा' कहा जाता है, का पता लगा। इसका कारण फास्फोरस विषाक्तता ही था। यह एक अति दुःखदायी, दुस्साध्य और चिरकारी रोग था। 1906 में बर्न कन्वेंशन में इस रोग की रोक-थाम के लिए यह निश्चित किया गया कि इन उद्योगों में सफेद फास्फोरस का उपयोग न किया जाए।

रजत यौगिक यदि सांस द्वारा शरी पहुंच जाएं अथवा खा लिए जाएं तो वे रूप में ऊतकों में अवक्षेपित हो जाते इससे त्वचा वर्णकयुक्त हो जाती है जीवन भर वैसी ही बनी रहती है। सि नाइट्रेट, सिल्वर फल्मीनेट और सि सायनाइड आदि रजत यौगिकों से काम क वाले व्यक्तियों को उक्त रोग (रजतमय के होने का खतरा बना रहता है। (जस्ता) यदि जिंक आक्साइड के रूप सांस द्वारा शरीर में पहुंच जाए तो व्य को धातु-धूम-ज्वर (मेटल फ्यूम फीव हो जाता है। यह रोग यद्यपि थोड़े स के लिए होता है, परन्तु अति तीव्र होता है मैग्नीशियम से भी ज्वर हो जाता है वैल्डिग करने और जस्ता चढ़ाने का क करने वालों को यह रोग अक्सर हो जाता है

संसार के मैंगनीज अयस्क उत्पा देशों में भारत का सर्वप्रमुख स्थान है भारत में इस उद्योग में 69,000 व्यि कार्य कर रहे हैं। इन उद्योग-कर्मियों मैंगनीज विषाक्तता का खतरा बना रह है। मांसपेशियों में दर्द, अस्थिर चाल त

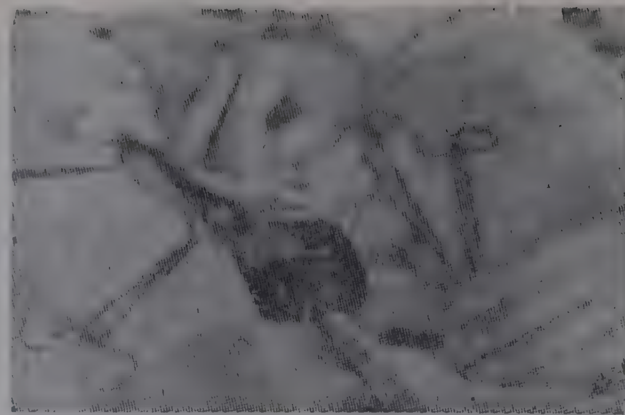


बिना सुरक्षक पोशाक पहने ड्रम में टैट्राएथि लैड भरते हुए दो कर्मी

अनैच्छिक कम्प मैंगनीज विषाक्तता के लक्षण हैं। चिरकारी विषाक्तता से मानसिक तथा तंत्रिका-विकार उत्पन्न हो जाते हैं, और संवेदनशीलता कम हो जाती है। इन कर्मियों को न्युमोनिया बहुत अधिक होता देखा गया है।

विद्युत-लेपन तथा शोधन कार्य में निकिल लवणों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों को अक्सर त्वक्शोथ (निकिल इच) हो जाता है। निकिल कार्बोनिल के अभिश्वसन से रक्तस्रावी श्वसनीफुफ्फुस शोथ हो जाता है। धातु-शोधन की क्रिया में मुक्त हुई निकिल-धूलि से फुफ्फुस और नैजल साइनस में कैंसर हो जाता है। निकिल यौगिकों से भी कैंसर होने की शंका की जाती है। बेरिलियम और इसके यौगिक त्वक्शोथ उत्पन्न करते हैं। क्रोमियम मुख्यतः मिश्र-धातु और दुर्गलनीय वस्तुएं बनाने में इस्तेमाल होता है। इससे भी त्वक्शोथ और स्थानिक व्रणीभवन हो सकता है तथा नैजल म्यूकोसा में सूजन आ सकती है। क्रोमियम धूलि के अभिश्वसन से कैंसर होने का बहुत अधिक भय रहता है। कैड्मियम की परत चढ़े हुए बर्तनों से भी तीव्र विषाक्तता का भय रहता है। कणमय रूप में कैड्मियम के अभिश्वसन से कष्टश्वास, वातस्फीति और प्रोटीन मेह रोग हो जाते हैं। चिकित्सार्थ ऐण्टीमनी के इस्तेमाल से मादकता आ जाती है। पता लगा है कि मानव शिस्टोसोम रुग्णता में इसके उपयोग से हृदय विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सिरेमिक तथा बिल्डिंग उद्योगों में, जहां कोबाल्ट कठोर कारक के रूप में इस्तेमाल होता है, कन्टैक्ट एक्जीमा होता बताया गया है।

भारत में यूरेनियम और थोरियम के भण्डार क्रमशः 30,000 और 50,000 टन के हैं। विद्युत उत्पादन के लिए परमाणु ऊर्जा का उपयोग करने के कारण हमारी यूरेनियम की मांग बढ़ती जा रही है। शरीर में यूरेनियम त्वचा अथवा आमाशयान्त्र प्रदेश द्वारा अवशोषित हो जाता है। यूरेनियम सर्वाधिक विषैले तत्वों में से एक है। हड्डी में अंशतः जमा हुआ



कुछ औद्योगिक विष जननांगों को क्षति पहुंचाते हैं। खरगोश के गर्भाशय पर यह परीक्षण किया जा रहा है कि क्षति कितनी होती है।

यूरेनियम वृक्क नलिका के कोशिका-अस्तर को क्षतिग्रस्त कर देता है। यूरेनियम की मात्रा अधिक होने पर युरीमिया हो जाता है और रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यूरेनियम खनकों में से अधिकांश को श्वसन क्षेत्र का कार्सिनोमा तथा वृषणक्षति हो जाती है।

केरल स्थित इंडियन रेयर अर्थ्स लिमिटेड प्रतिवर्ष 3000 टन मोनाजाइट का संसाधन करता है। थोरियम और लैंथेनम व सीरियम जैसी दुर्लभ मृदा-धातुओं के निष्कर्षण के लिए उपयोग होने वाला मोनाजाइट, एक महत्वपूर्ण खनिज है। अश्ममुद्रण उद्योग में लैंथेनम आक्साइड धूलि और धूम सर-दर्द और मतली उत्पन्न करते हैं तथा बताया गया है कि थोरियम त्वक्शोथ और कैंसर रोग उत्पन्न करता है। इसी प्रकार ऑसमियम, प्लैटिनम सेलीनियम, टेल्यूरियम, थैलियम तथा उनके विभिन्न यौगिकों के भी विषैले गुण होते हैं और ये जटिल प्रकृति के संलक्षण उत्पन्न करते हैं।

कार्बनिक यौगिक

एरोमेटिक कार्बनिक यौगिकों में बैंजीन अपने विषैले प्रभावों के कारण एक विशिष्ट यौगिक है। बैंजीन वाष्प के अभिश्वसन से तीव्र विषाक्तता हो जाती है और व्यक्ति उत्तेजित व अधीर हो जाता है, उसकी बोली लड़खड़ाने लगती है, उसे चक्कर आने लगते हैं तथा निद्रानाश हो जाता है और मतली आने लगती है। इससे अविकसित रक्ताल्पता भी होती पाई गई है। नाइट्रो-बैंजीन, डाईनाइट्रोबजीन और एनिलीन, हीमोग्लोबिन को मीथेमोग्लोबिन में बदल देते हैं। ट्राईनाइट्रोटॉलुईन (टी. एन. टी.) के प्रभावाधीन होने पर व्यक्ति की त्वचा उसे अवशोषित कर लेती है। टी.एन.टी. से त्वक्शोथ, जठरशोथ, पीलिया और रक्ताल्पता आदि रोग हो जाते हैं। फीनॉल भी त्वचा द्वारा अवशोषित हो जाता है और परिणामस्वरूप केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में गड़बड़ी आ जाती है, आक्षेप व कोमा हो जाता है और रोगी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। पिक्रिक अम्ल मुख्य रूप से त्वचा को क्षति पहुंचाता है तथा उसमें विभिन्न प्रकार के विस्फोट उत्पन्न कर देता है। आंखों से इसका स्पर्श होने पर आंखों में सूजन आ जाती है और पीत दृष्टि हो जाती है।

मैथिल अल्कोहल उन अन्य विषैले कार्बनिक यौगिकों में से है जो भारी मात्रा में अभिश्वसन द्वारा ग्रहण कर लिए जाएं तो त्वचा-क्षोभ, मतली व धुंधली दृष्टि और लड़खड़ाती चाल हो जाती है। अत्यधिक विषाक्तता से अन्धता, प्रलाप, कोमा व मृत्यु भी हो जाती है। नाइट्रोग्लिसरीन श्वास द्वारा, मुख द्वारा तथा अवशोषण द्वारा शरीर में पहुंच जाती है। वायु से तनुकरण होने के बाद भी इसके वाष्प काफी प्रभावी रहते हैं। इससे अति तीव्र स्पन्दी सरदर्द, तथा निम्न रक्त चाप हो जाता है और धड़कन होने लगती है। आर्डनेंस फैक्टरी में तथा डायनामाइट और कोर्डाइट से काम करने वाले व्यक्तियों में उक्त रोग लक्षण बहुत पाए जाते हैं।

नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक और हाइड्रोक्लोरिक अम्लों के निर्माण कार्य में संलग्न कर्मियों को इन अम्लों के वाष्पों के प्रभाव में रहना पड़ता है। अम्ल धूमों से दंत अपरदन (डेंटल इरोजन) होना रासायनिक उद्योग का एक प्रमुख संकट रहा है। नाइट्रस धूमों में नाइट्रस आक्साइड और नाइट्रोजन आक्साइड होते हैं। अधिक सान्द्रता में होने पर ये धूम त्वचा, बाल व दांतों को विवर्ण कर देते हैं और नेत्रश्लेष्मला तथा कार्निया का संक्षरण कर देते हैं। अन्त में फुफ्फुसी शोफ हो जाता है और अल्प काल में

(शेषांश पृष्ठ 450 पर)

आयुर्वेद : ऐतिहासिक विकास और वर्तमान स्वरूप

वैद्य भगवान दाश
और
वैद्य दीनदयाल पाण्डे

चरक सूत्र के अनुसार जिस शास्त्र में हितकर, अहितकर, सुखकर तथा दुखकर आयु का वर्णन हो, और जीवन के लिये उपादेय तथा अनुपादेय द्रव्यों के वर्णन के साथ-साथ आयु के प्रमाण तथा लक्षण का वर्णन हो, उस शास्त्र को आयुर्वेद कहा जाता है । यथा–

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

चरक सूत्र–1/41

आयुर्वेद शब्द दो शब्दों के योग से बना है—आयुः और वेद । आयु शब्द का अर्थ जीवन है और विद् धातु से जिससे कि वेद शब्द बना है, कई अर्थ निकलते हैं । ज्ञान, प्राप्ति तथा सत्ता ये तीन विद् धातु के मुख्य अर्थ हैं । ये तीनों ही अर्थ आयुर्वेद शब्द के लिये प्रयुज्य हैं । जिस शास्त्र से जीवन की सत्ता संबंधी ज्ञान उपलब्ध होता है, उसको ही आयुर्वेद कहते हैं । व्यक्तियों के रोगों की प्रतिषेधात्मक तथा उपचारात्मक चिकित्सा के साथ ही साथ, सामाजिक स्वास्थ्य अर्थात समाज समग्र रूप में किस प्रकार स्वस्थ रहे तथा आयु या जीवन के अन्यान्य पहलुओं पर भी विचार आयुर्वेद में किया जाता है ।

हमारे देश में सभी लोग आयुर्वेद से परिचित हैं । विदेशों में भी जैसे कि पाकिस्तान, नेपाल, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, बर्मा और जर्मनी में भी आयुर्वेद का पर्याप्त प्रसार और प्रचार है । श्रीलंका में तो विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन) के अनुरूप एक विश्व आयुर्वेद संगठन खोलने का प्रस्ताव विचाराधीन है ।

ऐतिहासिक विवेचन

आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है । जैसे वेद अनादि हैं, वैसे ही आयुर्वेद भी । जब से प्राणि की सृष्टि हुई तभी से प्राकृतिक कारणों से तथा खाद्य व पेयादि से विभिन्न प्रकार के रोगों की उत्पति हुई और इनकी चिकित्सा के उपाय सोचे गये । ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक मंत्रों का वर्णन मिलता है । सप्तधातु, त्रिदोष तथा पंच महाभूत सिद्धान्तों का मूल इन वेदों में ही है । विभिन्न प्रकार की शल्य-क्रिया, युद्ध में विच्छिन्न अंग–प्रत्यंगों को जोड़ना, अश्मरी (पथरी) जैसी व्याधियों को यंत्रादि से ठीक करने की चर्चा वेदों में है । इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में भी आयुर्वेद समुन्नत था । वेदों में विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियों से दवा बनाने का विधान भी वर्णित है । कुछ रोगों के नाम, मणियां, खनिज तथा प्राणिज पदार्थों का भी वर्णन उनमें है । इसके बाद रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी आयुर्वेद का ज्ञान भरा हुआ है । रामायण में सुषेण नामक एक वैद्य का वर्णन है जिसने लक्ष्मण की शक्तिभेद से उत्पन्न मूर्च्छावस्था को ठीक करने के लिये संजीवनी नामक बूटी का प्रयोग किया



आयुर्वेद शिक्षा की परम्परा
('आल इंडिया इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल साइंसिज' के सौजन्य से)

था । अन्तःसाक्ष्य के आधार पर प्रतीत होता है कि पौराणिक काल में भी आयुर्वेद अत्यधिक विकसित रहा होगा । केवल मनुष्य मात्र की ही चिकित्सा नहीं वरन् प्राणियों व वृक्ष-लताओं आदि की चिकित्सा का भी वर्णन पुराणों में मिलता है ।

आयुर्वेद का आदि प्रणेता ब्रह्मा को माना जाता है । कहा जाता है उन्होने आयुर्वेद संबंधी ज्ञान का अपने दिव्य चक्षु द्वारा स्मरण पूर्वक स्वर्ग लोक तथा मृत्यु लोक में प्रचार किया । उन्होंने आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति को दिया । दक्ष प्रजापति से अश्विनिकुमार तथा अश्विनिकुमारों से इन्द्र को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ । भूलोक से इन्द्र के पास अनेक ऋषि आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने हेतु गये । उनमें भारद्वाज तथा आत्रेय मुख्य हैं । शल्य–शालाक्य के आदि प्रवर्तक भगवान धन्वन्तरि को तो साक्षात विष्णु का ही अवतार माना जाता है । पुराणों तथा आयुर्वेदीय संहिताओं में इस प्रकार के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं ।

चिकित्सा प्रणालियों की जननी भारत

बहुत से विद्वान आयुर्वेद को विश्व की समस्त चिकित्सा प्रणालियों की जननी मानते हैं । उनके अनुसार भारत से यह चिकित्सा प्रणाली यूनानी (ग्रीक) आक्रमणकारियों के साथ ही साथ ग्रीस व अरब पहुंची और वहां से कुछ बदल कर पाश्चात्य जगत में पहुंच गई । यूनानी चिकित्सा प्रणाली के अनुयायियों में आयुर्वेद के लिये काफी श्रद्धा है । चरक, सुश्रुत इत्यादि आयुर्वेद मूल ग्रंथों का अरबी एवं फारसी में अनुवाद किया गया था । इसकी कतिपय अनूदित पाण्डुलिपियां अब भी बगदाद तथा मिस्र के ग्रंथालयों में उपलब्ध हैं । चीन में प्रचलित तद्देशीय चिकित्सा प्रणाली के साथ आयुर्वेद का आदान-प्रदान हुआ है । भारत से जब–जब बौद्ध भिक्षु धर्म-प्रचार के लिये तिब्बत, चीन तथा जापान जाते थे, तब वे अपने साथ आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान भी ले जाते थे । कुछ तिब्बती विद्वान् नालन्दा व तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध भारतीय विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद के अध्ययन हेतु आते थे। बहुत से आयुर्वेदीय ग्रंथ तिब्बती भाषा में अब भी प्राप्य हैं । तिब्बती चिकित्सा प्रणालियों के ग्रंथों और आयुर्वेदीय ग्रंथों में काफी साम्य पाया जाता है ।

तमिलनाडु, केरल, मैसूर आदि दक्षिणी प्रान्तों में एक और चिकित्सा प्रणाली भी प्रचलित है जिसे 'सिद्ध चिकित्सा प्रणाली' कहा जाता है । सूक्ष्म विवेचन से सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि आयुर्वेद व सिद्धचिकित्सा प्रणालियों के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों में कुछ विशेष अन्तर नहीं है । इसका मुख्य कारण संभवतया यह है कि इन दोनों प्रणालियों में ज्ञान का आदान-प्रदान बहुत पुरातन काल से चला आ रहा है ।

कई विद्वान होम्योपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा जैसी आधुनिक चिकित्सा प्रणालियों के भी मूलभूत सिद्धान्त आयुर्वेद में निहित पाते हैं ।

आयुर्वेद की विशेषताएं

आयुर्वेद में मुख्यतः जड़ी-बूटियों का उपयोग बतलाया गया है। वैसे



चरक संहिता के प्रणेता महर्षि चरक

कुछ खनिज तथा प्राणिज वस्तुओं के उपभोग विषय में भी वर्णन मिलता है। अर्वाचीन आयुर्वेदीय ग्रंथों में तो खनिज पदार्थों की व्यवहार विधि का बहुत वर्णन है। इन औषधियों के अलावा आयुर्वेद में वर्णित रोग-चिकित्सा के आधारभूत सिद्धान्त का अपना अलग स्थान है । इसके अनुसार विषाणुओं तथा जीवाणुओं को रोगोत्पादक माना तो जाता है, परन्तु रोगोत्पादन में इनको अधिक महत्व नहीं दिया जाता । अगर शरीरगत धातुओं में कुछ वैषम्य है तो विषाणु और जीवाणु रोग को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । इसलिये आयुर्वेद में जीवाणुओं की अपेक्षा शरीरगत धातु वैषम्य को रोगोत्पत्ति का कारण माना जाता है ।

पथ्यापथ्य का महत्व : आयुर्वेद चिकित्सा में औषधियों के उपयोग के साथ-साथ रोगी के पथ्यापथ्य के प्रति भी विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि मुख्यतः भोजन के वैषम्य से ही रोग की उत्पति होती है ।

रोग प्रतिषेधक चिकित्सा : चिकित्सा के साथ ही साथ रोग उत्पन्न न हों इसकी भी विशेष व्यवस्था आयर्वेद में है। विभिन्न ऋतुओं में, दिवस के विभिन्न भागों में, रात्रि में विभिन्न अवस्था के लोग किस प्रकार का आहार-विहार करें या किन-किन औषधियों का सेवन करें, इसका विवेचन आयुर्वेद की एक महत्वपूर्ण देन है । इसको ऋतुचर्या, दिनचर्या तथा रात्रिचर्या कहा जाता है ।

रसायन प्रयोग विधि : आयुर्वेद में रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थों के सेवन का निषेध तो है ही साथ ही वयःवृद्धि के कारण शरीर में आने वाले प्राकृतिक दौर्बल्य के निवारणार्थ तथा शरीर को सबल व यौवन-युक्त रखने के लिये, आयुर्वेद में रसायन तथा वाजीकरण चिकित्सा का भी विधान है ।

आयुर्वेद के मुख्य ग्रंथ

वर्तमान अवस्था में आयुर्वेद के मुख्य तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं—चरक संहिता, सुश्रुत संहिता तथा अष्टांग संग्रह । इनके अतिरिक्त काश्यप संहिता और हारीत संहिता भी पाए जाते हैं। परन्तु इन नामों से उपलब्ध इन दोनों ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये किन्हीं अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखित हैं, किन्तु ग्रंथों को प्रामाणिक जतलाने के लिये उनमें हारीत तथा काश्यप जैसे प्राचीन महर्षियों को प्रणेता के रूप में नामांकित कर दिया गया है। वैसे, इन दोनों संहिताओं के आदि प्रणेता अग्निवेश के समकालीन थे। अष्टांग हृदय नामक एक और प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है। इसके अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि यह अष्टांग संग्रह नामक ग्रंथ से कोई विशेष पृथक नहीं है।

चरक संहिता : इस के प्रणेता अग्निवेश ही हैं। इनका समय ईसा पूर्व 1300 वर्ष सिद्ध होता है। इन्होंने अपने गुरु आत्रेय के उपदेश से इस ग्रंथ की रचना की। बाद में उपलब्ध ज्ञान की सहायता से चरक नामक एक महर्षि ने इस ग्रंथ का प्रति संस्कार किया। इसलिए इसका नाम चरक संहिता रखा गया। चरक का समय लगभग ईसा पूर्व पांचवीं शती है। कालान्तर में इन ग्रंथों का कुछ अंश अनुपलब्ध हो गया और ईसा पश्चात् दूसरी शती में दृढ़बल नामक एक विद्वान वैद्य ने इस ग्रंथ में कुछ और अध्यायों का समावेश किया। चरक संहिता में कुल 120 अध्याय हैं जोकि आठ भागों में विभक्त हैं। इनमें आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन है। शारीरिक रोगों की औषधों तथा पंच-कर्म प्रणाली से चिकित्सा करने का विधान इसमें अति विस्तृत रूप में दिया गया है। संस्कृत, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में इस ग्रंथ की अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं। इनमें चक्रपाणि तथा गंगाधर द्वारा रचित टीकाएं विशेष महत्वपूर्ण हैं।

सुश्रुत संहिता : इस ग्रंथ का रचना काल ईसा पूर्व दसवीं शती माना जाता है। शल्यशास्त्र के आदि प्रवर्तक भगवान धन्वन्तरि के उपदेश से इस ग्रंथ की रचना हुई। धन्वन्तरि शब्द का अर्थ ही है कि जो शल्यशास्त्र के अन्त तक पहुंच जाय अर्थात शल्यशास्त्र में जो परम निष्णात् हो जाय। इस ग्रंथ में भी 120 अध्याय हैं जो छः भागों में विभक्त हैं। इस ग्रंथ में व्याधियों के कारण व चिकित्सा के साथ मुख्य रूप से शल्य-क्रिया का वर्णन प्राप्त होता है। संधान शल्य कर्म (प्लास्टिक सर्जरी) का प्रचार आज कल बहुत हो रहा है, किन्तु इसके आदि प्रवर्तक भगवान सुश्रुत ही हैं। युद्ध के समय नाक, कान, तथा आंख के पृथक हो जाने पर, उनको किस प्रकार कृत्रिम रूप में शरीर के अन्य अवयवों से मांस लेकर बनाया जा सकता है, इसका वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है। कुछ अन्य प्रसिद्ध शल्य क्रियाओं संबंधी अति आधुनिक तथा उपयोगी बातों की चर्चा इस प्राचीन ग्रंथ में देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है।

वाग्भट कृत ग्रंथ : अष्टांग संग्रह तथा अष्टांग हृदय ये दोनों ग्रंथ वाग्भट नामक एक वैद्य द्वारा तीसरी शती में रचे गये। इनमें चरक, सुश्रुत तथा अन्य शास्त्रकारों के मत एकत्र किये गये हैं। इनमें



चिकित्सा दान में रत महर्षि सुश्रुत

150 अध्याय हैं जो छः भागों में विभक्त हैं। अष्टांग हृदय की विशेषता यह है कि समस्त विषय प्रकरणानुसार उत्तम रूप से विभक्त करके दिये गये हैं। चरक एवं सुश्रुत में प्रकरणानुसार वर्णन तो है परन्तु उनमें सम्पूर्ण विषयों का वर्णन एक ही स्थान पर उपलब्ध नहीं होता। वाग्भट ने इस असुविधा को दूर करके आयुर्वेद के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य किया है। अष्टांग संग्रह में अष्टांग हृदय वर्णित समस्त विषयों का गद्य रूप में वर्णन है। इसके अलावा उसमें यत्र-तत्र कुछ मौलिक बातें भी कही गई हैं।

काश्यप संहिता : नेपाल के राजगुरु पं. हेमराज शर्मा ने वहां के संग्रहालय से महर्षि काश्यप निर्मित वृद्ध जीवक तंत्र नामक एक ग्रंथ की पाण्डुलिपि का प्रकाशन किया। उसमें स्त्री रोग तथा बाल रोग संबंधी चिकित्सा का वर्णन अति विस्तृत रूप में किया गया है। आयुर्वेद संबंधी कुछ मौलिक तत्वों का भी वर्णन उसमें प्राप्त होता है। परन्तु यह पुस्तक अपूर्ण है, बहुत उपयोगी प्रतीत होने पर भी इसकी सम्पूर्ण पाण्डुलिपि अभी तक कहीं से भी प्राप्त नहीं हुई। इस ग्रंथ का समय चरक, सुश्रुत से अति प्राचीन प्रतीत होता है।

भेल संहिता : अग्निवेश कृत चरक संहिता के समसामयिक भेल संहिता की कुछ पाण्डुलिपियां कलकत्ता तथा मद्रास के पुस्तकालयों में मिली हैं। ये मुद्रित रूप में भी प्राप्य हैं। इसमें वर्णित कुछ विषय अति मौलिक मालूम पड़ते हैं, जोकि चरकादि में उपलब्ध नहीं हैं। इस संहिता युग के अनन्तर भी कुछ ग्रंथों का संकलन हुआ है। आयुर्वेद ग्रंथों में यत्र-तत्र वर्णित विषयों का एकत्रीकरण और उनका वर्णित विषयों के अनुसार उपस्थापन इन ग्रंथों के महत्व का द्योतक है। इनमें माधवकर लिखित 'रोग विनिश्चय' शार्गधर कृत 'शार्गधर संहिता' तथा भाव मिश्र कृत 'भाव प्रकाश' प्रधान हैं। इन तीनों को एकत्र रूप में 'लघुत्रयी' कहा जाता है।

रसशास्त्र का प्रादुर्भाव

आयुर्वेदीय चिकित्सा में खनिज निर्मित औषधों का प्रयोग वैद्य लोग प्रचुर मात्रा में करते हैं। खनिज द्रव्यों में पारे को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इन खनिज द्रव्यों का प्रयोग वैदिक युग में भी प्रचलित था। चरक, सुश्रुतादि ग्रंथों में भी खनिज द्रव्यों का प्रयोग उपलब्ध है। परन्तु इन द्रव्यों के विशिष्ट रूप में शोधन, मारण तथा प्रयोग विधि बौद्ध सन्यासी नागार्जुन के समय से ही अधिक प्रचलित हुई। नागार्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि वह पारे का उपयुक्त संस्कार करके, समस्त संसार को दारिद्र रहित बनायेंगे। रस शास्त्र सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें अब भी मिलती हैं। उनमें से कुछ में अष्टादश (अठारह) प्रकार के संस्कार द्वारा पारे से किस प्रकार सोना बनाया जा सकता है, इस का भी वर्णन प्राप्त होता है।

वर्तमान स्वरूप

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त विभिन्न स्वदेशी वस्तुओं तथा विज्ञानों आदि के प्रति देशवासी सजग हुए हैं। आयुर्वेद से अब भी देश के विभिन्न दूरस्थ भागों में लगभग 80 प्रतिशत लोग चिकित्सा का लाभ उठाते हैं। अतः विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार के लिए अधिकाधिक धनराशि का प्रावधान हुआ है। आयुर्वेद में वर्णित जड़ी-बूटियों का परीक्षण वैज्ञानिक ढंग से किया जा रहा है। विभिन्न देशज जड़ी-बूटियों जैसे कि सर्पगंधा, पीला कनेर आदि की उपयोगिता आज के उन्नत पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र को भी मान्य हो चुकी है।

शुद्ध व शास्त्रीय प्रणाली से निर्मित औषधियां उपलब्ध करने के लिये एक भेषज-संहिता का निर्माण विचाराधीन है। वैद्यों की शिक्षा सम्बन्धी स्तर निर्धारण करने तथा उनके अधिकारों की रक्षा करने के लिये भारतीय चिकित्सा और होम्योपैथी केन्द्रीय परिषद् विधेयक संसद के विचाराधीन है। आयुर्वेद के अनुसंधान को और अधिक प्रोत्साहित करने के लिए एक स्वायत्त अनुसंधान परिषद् की स्थापना भी की जा रही है। ●

उद्योग कर्मियों के स्वास्थ्य संकट

(शेषांश पृष्ठ 446 का)

ही (कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों के भीतर) मृत्यु हो जाती है।

प्लास्टिक तथा सेल्युलोज लेकर उत्पादों का दैनिक जीवन में उपयोग बढ़ने से हैलोजनीकृत हाइड्रोकार्बनों का उपयोग भी बहुत बढ़ गया है। इनका उपयोग प्रशीतक, धातुओं के वसारिक्तकारक, अग्निशामक व रबड़ घोलक के रूप में भी होता है। ये अज्वलनशील, अदाह्य और अविस्फोटी होते हैं लेकिन मनुष्य के लिए विषैले होते हैं। उद्योग-कर्मियों को मेथिल क्लोराइड से विषाक्तता होने पर मतली आने लगती है और वमन हो जाता है, गहन तन्द्रा आ जाती है तथा दृष्टि धुंधली हो जाती है। मेथिल ब्रोमाइड, जोकि प्रशीतक, अग्निशामक, कीटनाशक व धूमक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, घातक और प्रच्छन्न विष है। ट्राईक्लोरोएथिलीन एक प्रबल स्वापक (नारकोटिक) है। कृत्रिम मुक्ता उद्योग में काम करने वाले व्यक्ति टैट्राक्लोरोईथेन के प्रभाव में रहते हैं। वे न केवल उसे अभिश्वसन द्वारा ग्रहण करते हैं बल्कि हाथ से उसके साथ काम भी करते हैं। इससे उन्हें बहुतंत्रिकाशोथ हो जाता है। कार्बन टैट्राक्लोराइड, क्लोरेटोन और क्लोरोफार्म यकृत को क्षति पहुंचाते हैं।

सभी पैट्रोलियम उत्पाद स्वापक विष की तरह क्रिया करते हैं। पैट्रोलियम नैफ्था के प्रभाव से सर-दर्द, मतली और क्षोभ हो जाता है। गैसोलीन की अत्यधिक मात्रा, चाहे वह घटनावश ही हो, का परिणाम निपात अथवा कोमा होता है और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। जिन अन्तर्दहन इंजनों में गैसोलीन इस्तेमाल होती है उनकी निकास गैसों में 7 प्रतिशत कार्बन मोनोक्साइड होती है। इस गैस की इतनी मात्रा पांच मिनट में ही घरेलू गैरेज का वातावरण दूषित करने के लिए पर्याप्त होती है। मिट्टी के तेल से स्थानिक त्वचा क्षोभ हो जाता है और यदि पी लिया जाए तो उससे निपात तथा कोमा हो सकता है। इससे हृदय, यकृत और वृक्क को भी क्षति पहुंचती है। ●

उबलते पानी में भी जीवन संभव

ऐसे बहुत ही कम जंतु हैं जो सोद्देश्य गर्म पानी में उतरते हैं। लेकिन ऐसे ही चंद जंतुओं में एफिड्रिड नामक धूसर-से रंग की एक साधारण सी मक्खी भी है। समुद्र तट के आस-पास रहने वाली यह मक्खी अमेरिका और संसार के अन्य भागों में भी पाई जाती है । यह मक्खी ऐसे पानी में भी प्रवेश करती देखी गई है जिसका तापमान 45° और 51° सें. के बीच हो । यह कई कारणों से बड़े मार्के की बात है क्योंकि धरती की अधिकांश सतह का तापमान अपेक्षाकृत कम ही होता है। औसत रूप से यह 12° सें. से अधिक नहीं होता। किंतु कुछ ऐसे बैक्टीरिया भी हैं जिनकी ऊष्मा-प्रतिरोध की क्षमता एफिड्रिड मक्खी से भी लगभग दुगनी है । ये बैक्टीरिया 92° सें. तापमान वाले पानी में भी जीवित रह लेते हैं । कई स्थानों पर पानी का क्वथनांक 92° सें. होता है जैसा कि अमेरिका के येलोस्टोन नेशनल पार्क में स्थित गर्म झरनों जितनी ऊंचाई पर ।

अनेक साक्ष्यों के आधार पर वैज्ञानिकों का यह विचार है कि पृथ्वी अपने शैशव में अब से कहीं अधिक गर्म थी । उनका यह भी विचार है कि पृथ्वी का तापमान फिर से बढ़ना शुरू हो गया है । अतः वैज्ञानिकों ने अब उपरोक्त प्रकार के बैक्टीरिया तथा पारिस्थितिक (इकोलाजिकल) दृष्टि से सम्बद्ध अन्य जीवों का अध्ययन प्रारंभ कर दिया है । इस अध्ययन से वे यह पता लगाना चाहते हैं कि जंतुओं के विकास को और कहां तक आगे बढ़ाया जा सकता है। इस सिलसिले में येलोस्टोन में टॉमस और लुई ब्रॉक नामक दो सूक्ष्मजीव-वैज्ञानिकों (माइक्रोबायोलाजिस्ट्स) द्वारा किये गए अनुसंधान कार्य के परिणाम हाल ही में प्रकाशित किये गए हैं ।

गर्म जल के कुंडों में जीवन का आधार शैवाल (एल्गी) की घनी मोटी परतें होती हैं । नीले-हरे रंग की शैवाल तो 73° और 75° सें. तापमान के बीच भी जीवित रह सकती है । रेडियसक्रिय-टैगिंग प्रयोग करके यह देखा गया है कि एफिड्रिड मक्खी—इसके वयस्क और लार्वा दोनों ही—का भोजन एल्गी और बैक्टीरिया हैं । दूसरी ओर इन मक्खियों को लाल घुन (रेड माइट) खा जाते हैं । विशेषतया पार्टन्युनीला (partnuniella) जीनस के रेड माइट । इसी प्रकार मकड़ी, ड्रैगन–फ्लाई और किल डीयर नामक एक अमेरिकी पक्षी एफिड्रिड मक्खी को समूचा ही डकार जाते हैं । मकड़ी तो वाष्पयुक्त खौलते पानी में जाल बना कर इस मक्खी को फांसती है । किंतु यदि ड्रैगन–फ्लाई भूल से पानी में कुछ गहरी पैठ जाने के कारण भीग जाती है तो लगभग तत्काल मर जाती है।

एफिड्रिड मक्खी के लार्वा के मुकाबले में वयस्क मक्खी गर्मी को अधिक बर्दाश्त कर लेती है । वह खौलते पानी में सचमुच गोता लगाती है और शैवाल समूह से भोजन प्राप्त करती है । गोते के समय उसकी रक्षा वायु के बुदबुदे का घेरा ही करता है।

शैवाल परतों के गर्मजल में भी जीवित रहने का रहस्य संभवतः उनके विभिन्न रंगों में निहित है । उनके ये रंजक पदार्थ क्लोरोफिल के हरे रंग से लेकर फाइटोसाइनिन के नीले और कैरोटिनायडों के पीले अथवा नारंगी जैसे रंगों की विविधता लिए होते हैं। पीले व नारंगी रंग बहुत कम प्रकाश अवशोषित करते हैं और ऊंचे तापमान वाली शैवाल की किस्मों में पाए जाते हैं । बहते पानी वाले जलाशयों में जहां कि पानी का तापमान अपेक्षतया कम होता है, हरे और नीले रंग के शैवाल पाए जाते हैं । ये बहुधा एक-दूसरे के ऊपर स्थित होते हैं । प्रकाश और तापमान में हुआ हल्का सा परिवर्तन लगभग तत्काल गर्म कुंड के जीव तंत्र की संरचना को बदल डालता है ।

अपेक्षतया ठंडे पानी में विभिन्न प्रकार के प्रोटोजुआ, गोल कृमि (निमैटोड), क्रस्टेशिया, मोलस्का और मक्खी को छोड़ अन्य आर्थ्रोपोड पाए जाते हैं। वस्तुतः गर्म स्थलों पर केवल बैक्टीरिया ही पाए जाते हैं । जैसे-जैसे जल का तापमान बढ़ता है उनकी उत्पत्ति की गति भी बढ़ जाती है । इसका कारण संभवतया उनकी अपनी जाति को नष्ट होने से बचाना है। इस बात की भी संभावना है कि ये बैक्टीरिया किसी आदिकालिक जीव के विशिष्ट प्रकार के अवशिष्ट हों ।

बहरापन : कारण और उपचार

चन्द्रकुमार मिश्र

जब कोई व्यक्ति सामान्य रूप से किसी अन्य व्यक्ति की बात या अन्य ध्वनि को नहीं सुन पाता है तो वह बधिर कहलाता है और उसका रोग बधिरता। यह सामान्यतः दो प्रकार का होता है (1) जन्म-जात, जिसके कारण बालक सुन नहीं पाते हैं और (2) अधिक आयु के कारण। अधिक आयु के व्यक्तियों को उनकी आयु या अन्य कारणों से कम सुनाई पड़ता है जिससे उन्हें सामान्य वार्तालाप में कठिनाई होती है।

बधिर : मूर्ख

श्रवण प्रक्रिया से वंचित व्यक्तियों के प्रति सामाजिक व्यंगों की कल्पना आप यों कर सकते हैं कि उन्हें आमतौर से मूर्खों की श्रेणी में रखा जाता था। प्राचीन काल में उन्हें मानसिक रूप से अस्वस्थ भी माना जाता था। 16वीं सदी में बधिरों के प्रति सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन आया और बधिरता को सामाजिक समस्या माना गया। लगभग तभी सर्वप्रथम गेरानिमो कारडानो नामक व्यक्ति ने यह घोषणा की कि वह बधिरों को शिक्षित कर सकता है। इस शिक्षण में उसने चित्रों, चिन्हों तथा लिपि का उपयोग किया।

18वीं सदी में फ्रांस के एबे चार्ल्स माइकेल ने चिन्हों की भाषा को परिपक्व किया तथा विचारों को प्रस्तुत करने के लिए हाथ तथा भुजाओं का उपयोग किया। लगभग इसी समय में सैमुयल नामक एक जर्मन विशेषज्ञ ने बधिरों को ओठों की सहायता से बोलना तथा सुनना सिखलाने का प्रयत्न किया। एक अन्य विधि द्वारा हाथों की अंगुलियों की सहायता से बात कहने तथा सुनने का प्रयत्न किया। अमरीकी वैज्ञानिक ग्राहम बैल ने ओठ चलाने की विधि को और अधिक उपयोगी बनाया। वर्तमान काल में इसी विधि की सहायता से जन्म जात बधिरों को शिक्षा दी जाती है।

इतनी सब प्रगति के उपरान्त भी बधिर समस्या का भावात्मक पक्ष ज्यों का त्यों है क्योंकि वे हास्य ध्वनि, संगीत या अन्य प्राकृतिक ध्वनियों से वंचित रहते हैं। अतः उनके जीवन में उल्लास की कमी रहती है।

कान

उपरोक्त कारणों से बधिरता निदान के प्रयत्नों में कोई शिथिलता नहीं आई है। आगे के प्रयत्नों को जानने के लिए हमें कान की बनावट तथा कार्य प्रणाली जानना आवश्यक है।

कान के तीन मुख्य भाग होते हैं: (1) बाह्य कान (2) मध्य कान तथा (3) आंतरिक कान। बाह्य कान का कार्य अधिक से अधिक ध्वनि तरंगों (ध्वनि के कारण वायु के कण आन्दोलित हो जाते हैं और ध्वनि-तरंगें उत्पन्न होती हैं) को एकत्र करना तथा इस ध्वनि को नली की सहायता से कर्ण पटल तक पहुंचाना होना है। कर्ण पटल नाखून के बराबर पतली तनी झिल्ली का बना होता है। ध्वनि तरंगें इसे धीमे से आन्दोलित कर देती हैं। कर्ण पटल से मिला हुआ मध्य कर्ण होता है जो तीन हड्डियों, हैमर, एनविल और स्टेप्स का बना होता है। कर्ण पटल के कम्पनों से यह कम्पित हो जाता है, साथ ही इन कम्पनों को लगभग 22 गुना प्रवर्धित कर देता है। ये कम्पन एक पतली झिल्ली, जिसे अंडाकार द्वार कहते हैं. से होते हुए आंतरिक कान में पहुंचते हैं। आंतरिक कान में द्रव होता है। द्रव में एक नलिका में स्थित श्रवण संवेदी अवयवों के सिरे होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें 20,000 से लेकर 30,000 तक लोम कोशिकाएं तथा इनको जोड़ने वाले तंत्ररेशे होते हैं।



मनुष्य के कान की ऊर्ध्व-काट : इसमें वाह्य कर्ण (क), मध्य कर्ण (ख), और अन्तःकर्ण (ग) दिखाए गये हैं। 1. कर्ण पटह, 2. मैलियस, 3. स्थूणक, 4. वलयक, 5. मध्यकर्ण गुहा, 6. यूस्टेकिओ नली, 7. कर्णावर्त काक्लिया की संवेदी कोशिकाएं, 8. वृत्ताकार नालें, 9. श्रवण तंत्रिका

प्रत्येक लोम कोशिका ध्वनि की एक आवृत्ति के लिए समस्वरित (ट्यून) होती है। आंतरिक कान में आने वाले कम्पन अपनी आवृत्ति के समान आवृत्ति वाली लोम कोशिकाओं को आन्दोलित कर देते हैं। यदि कोई कम्पन ऐसा होता है जिसकी आवृत्ति के समतुल्य लोम कोशिका नहीं होती तो वह कम्पन वहीं रुक जाता है। इस प्रकार लोम कोशिकाएं ध्वनि को विश्लेषित भी कर देती हैं।

यहां पर एक बात आप और जान लें कि सब प्रकार के कम्पन कर्ण-पटल को आन्दोलित नहीं करते। केवल वे कम्पन ही, जिनकी आवृत्ति 20 से 20,000 के बीच में होती है, पटल को आन्दोलित कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त कम आवृति की ध्वनि के प्रति लोम कोशिका अधिक संवेदनशील नहीं होती है। नहीं तो हमें अपने शरीर के कम्पन भी सुनाई पड़ते।

लोम कोशिकाओं के कम्पन के कारण सम्भवतः अत्यन्त सूक्ष्म

विद्युत धारा उत्पन्न होती है जो श्रवण तंत्रिका के द्वारा मस्तिष्क में पहुंच जाती है और जिसका, मस्तिष्क ध्वनि के रूप में अनुवाद कर लेता है। इस प्रकार हम कान से ध्वनि ग्रहण कर मस्तिष्क से 'सुनते' हैं।

ध्वनि : एक और माध्यम

अभी आपने ऊपर पढ़ा है कि ध्वनि वायु के कणों के माध्यम से कान तक पहुंचती है। इसके अतिरिक्त एक और माध्यम हड्डियां हैं। यदि आप मुंह बंद कर दांत बजायें तो आपको दांत की आवाज सुनाई देगी। यह ध्वनि हड्डियों के माध्यम से आंतरिक कान तक पहुंच जाती है। अतः जो कुछ हम सुनते हैं वह हड्डियों तथा वायु के माध्यम से कान तक पहुंचता है। इसी कारण टेप रिकार्डर की और सामान्य ध्वनि में अन्तर होता है।

कर्ण रोग : सम्भावनाएं तथा निदान

कुछ रोग ऐसे होते हैं जो कान के बाहरी भाग तक सीमित रहते हैं तथा कुछ कान के आंतरिक भाग को प्रभावित करते हैं। ऐसे रोग जिनका प्रभाव केवल बाह्य कान तक रहता है आसानी से ठीक हो जाते हैं; किन्तु जिनका प्रभाव आंतरिक भाग पर पड़ता है वे आसानी से ठीक नहीं हो पाते हैं।

कर्ण नली में प्राकृतिक रूप से एक गाढ़ा द्रव (कान का मैल) निकलता रहता है जो धूल तथा अन्य दूषित पदार्थों को कर्ण पटल तक नहीं जाने देता। यदि यह द्रव एकत्र हो जाता है तो ध्वनि तरंगों के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है और इस प्रकार ध्वनि की तीव्रता कम हो जाती है। जब इस मैल को निकाल दिया जाता है तो ध्वनि फिर से ठीक सुनाई पड़ने लगेगी।

मध्य कान में एक नली रहती है जो गले से मध्य कान तक जाती है। यह नली सामान्यतः बन्द रहती है किन्तु जब हम उबासी लेते हैं, छींकते हैं या कोई पदार्थ लीलते हैं तो यह खुल जाती है और ऐसे समय पर उसमें रोग वाहक कीटाणु प्रवेश कर सकते हैं। ये कीटाणु कान को प्रभावित करते हैं और बधिरता उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न रोग का उपचार एन्टीबायटिकों से सम्भव है। कभी-कभी आयु के अधिक हो जाने पर मध्य कान की हड्डियां धीरे-धीरे कम्पन करना बन्द कर देती हैं, इससे भी बधिरता हो जाती है।

खांसी, चेचक तथा औषधियों से भी

कान के आन्तरिक भाग को खांसी, खसरा, कंठमाला इत्यादि रोग प्रभावित कर बधिरता उत्पन्न कर सकते हैं। इसी कारण यदि गर्भावस्था में मां को खसरा हो जाए या बालक समय से पूर्व उत्पन्न हो तो भी बालक बधिर हो सकता है।

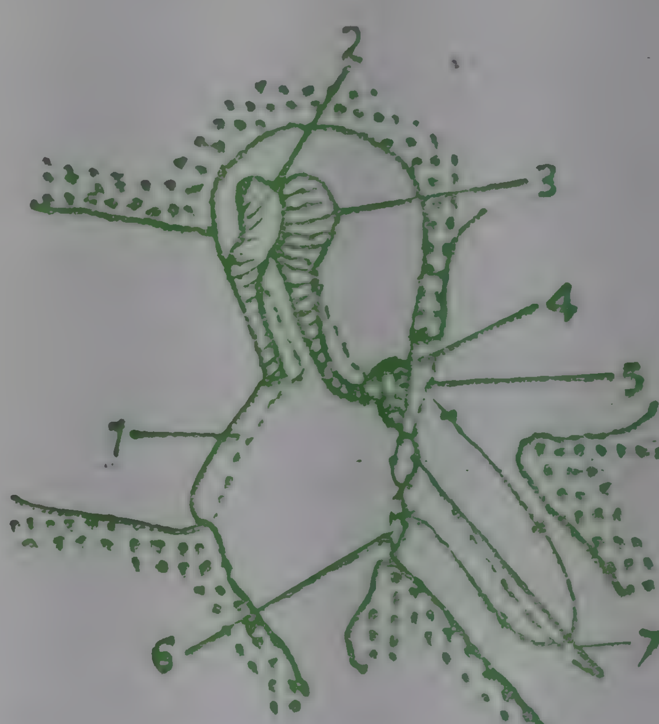
कुछ औषधियां जैसे कुनैन तथा एन्टीबायटिक को अधिक मात्रा में सेवन करने से भी बधिरता उत्पन्न हो सकती है। इसी भांति तीव्र तथा तीखी ध्वनि भी बधिरता उत्पन्न कर सकती है।

संवाहित तथा तांत्रिक बधिरता

मध्य कान में स्टेप्स में कम्पन न होने के कारण उत्पन्न बधिरता को हम **संवाहित बधिरता** तथा आंतरिक कान में उत्पन्न बधिरता को हम **तांत्रिक बधिरता** कहते हैं।

संवाहित बधिरता को शल्य क्रिया से ठीक किया जा सकता है। सन 1930 में प्रथम बार एक झिल्ली आंतरिक कान में आरोपित की गई जिसने वही कार्य किया जो स्टेप्स करता था, किन्तु यह शल्य क्रिया अत्यन्त जटिल तथा खतरनाक थी। सन 1950 में एक अन्य विधि उपयोग में लायी गई जिसमें स्टेप्स 'स्वतंत्र' कर दिया जाता है। इस विधि के परिणाम अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। इसमें स्टेप्स के स्थान पर प्लास्टिक लगा दिया गया। आजकल प्लास्टिक के स्थान पर स्टेनलेस स्टील का उपयोग करते हैं। इधर कुछ वर्षों में शल्य क्रिया में इतनी प्रगति हुई है कि मध्य कान तथा कर्ण पटल को निकाल कर उसमें 'आवश्यक संशोधन' करके उसे फिर आरोपित किया जा सकता है।

यद्यपि संवाहित बधिरता के निदान में अत्यधिक उन्नति हुई है किन्तु तांत्रिक बधिरता के उपचार में विशेष प्रगति नहीं हुई है। ऐलर्जी जन्य या ग्रंथियों की क्रियाओं के कारण उत्पन्न बधिरता का उपचार औषधियों से किया जा सकता है। इसी भांति यदि रक्त नलिकाओं में रक्त रुकने के कारण बधिरता उत्पन्न हो गई हो तो उसका उपचार भी सम्भव है।



अस्थिकाओं की गति : 1. कर्णपटह 2. मैलियस, 3. स्थूणक इन्कस, 4. वलयक स्टेप्स, 5. फेनेस्ट्रा ओवैलिस, 6. फेनेस्ट्रा रोटण्डा, 7. आधार कला।

श्रवण सहाय

यदि पूर्ण रूपेण बधिरता न हो तो श्रवण सहाय (हियरिंग एड) की सहायता से श्रवण प्रक्रिया में सरलता हो जाती है। इसका उपयोग बालक, युवक, वृद्ध सब कर सकते हैं। श्रवण सहाय का कार्य अधिक से अधिक ध्वनि को एकत्र कर बिना व्यय किये कान तक पहुंचाना है। प्राचीन काल में ऐसे भोंपू का उपयोग किया जाता था जिसका मुंह चौड़ा होता था और जो अधिक ध्वनि एकत्र कर नली के सहारे कर्ण पटल तक पहुंचा देता था। कुछ समय तक ऐसी नलिकाओं का उपयोग भी हुआ जो बोलने की ओर चौड़ी तथा सुनने की ओर पतली होती थीं। वार्तालाप के समय इस नली के मुंह पर बोलते थे।

(शेषांश पृष्ठ 460 पर)

अलैक्जैण्डर फॉन हम्बोल्ट

वी. वी. प्रसाद

'दुनियां भर की सूचनाओं और अब तक ज्ञात विज्ञानों के ज्ञान में इस व्यक्ति की बराबरी कोई नहीं कर सकता,' ये शब्द थे जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के, जो उसने बैरन अलैक्जैण्डर फॉन हम्बोल्ट के लिए कहे थे। अलैक्जैण्डर फॉन हम्बोल्ट को फ्रेडरिक हाइनरिख हम्बोल्ट भी कहा जाता है। वास्तव में, हम्बोल्ट ने सभी विज्ञानों का इतना अध्ययन और विकास किया था और अपने ज्ञान के बल पर इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि लोकप्रियता की दृष्टि से यूरोप में नेपोलियन के बाद हम्बोल्ट का ही नाम आता था।

बचपन

विज्ञान के इस पुजारी ने विज्ञान मन्दिर में जो 'ज्ञान-पुष्प' चढ़ाए उनमें से अनेक आज भी महक रहे हैं। विज्ञान की अभिवृद्धि के लिए उसने अपना जीवन न्योछावर कर दिया। इस प्रकृति विज्ञानी का जन्म सितम्बर 14, 1769 को हुआ था। हम्बोल्ट के पिता मेजर अलैक्जैण्डर जार्ज फॉन हम्बोल्ट ने अपने पुत्र को पढ़ाने के लिए एक शिक्षक 'क्रिश्चियन कुंठ' को नियुक्त किया। उस समय हम्बोल्ट की आयु आठ वर्ष थी। 'कुंठ' मस्तिष्क और शरीर के संतुलित विकास में विश्वास करता था। उसने हम्बोल्ट को प्रत्येक वस्तु को अच्छी तरह समझने, उसकी परीक्षा करने और उसके सम्बन्ध में मन में उठी जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न करने की शिक्षा दी। उसने हम्बोल्ट को बताया कि किसी बात को याद-भर कर लेना ही काफी नहीं है। इस प्रकार हम्बोल्ट की जिज्ञासु प्रवृत्ति का विकास हुआ।

प्राकृतिक इतिहास में हम्बोल्ट को प्रारम्भ से ही रुचि थी; तरह-तरह के फूल, पौधे, तितली, और पत्थर आदि संग्रह करना उसका शौक था। उसके इसी शौक के कारण उसे बचपन में लोग 'छोटा भण्डारी' (लिटिल एपोथिकेरी) कहा करते थे। कौन जानता था कि यही 'छोटा भण्डारी' बड़ा होकर लगभग साठ हजार पौधों के नमूने इकट्ठे करके उनका वर्गीकरण करेगा।

जब हम्बोल्ट की आयु चौदह वर्ष थी तो उसके पिता का देहावसान हो गया। अब तक उसने फूल-पौधों तथा जीव-जंतुओं के रेखाचित्र बनाने में दक्षता प्राप्त कर ली थी जिससे आगे चलकर उसे वनस्पति-शास्त्र, जन्तु-विज्ञान और शरीर रचना विज्ञान में अपने अध्ययनों को चित्रान्वित करने में बड़ी सहायता मिली।

प्रेरणा स्रोत

बीस वर्ष की आयु में हम्बोल्ट ने गोटिंजन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। विज्ञान के अध्ययन अनुसंधान के लिए यह विश्वविद्यालय उस समय अपनी ख्याति के उत्कर्ष पर था। यहां हम्बोल्ट ने पुरातत्व-विज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान, प्राकृतिक इतिहास व भौतिक विज्ञान, दर्शन तथा भाषाओं का अध्ययन किया। यहीं हम्बोल्ट का परिचय जार्ज फोर्स्टर से हुआ। जार्ज फोर्स्टर वह व्यक्ति था जो कैप्टेन कुक के साथ जलयान द्वारा विश्व भ्रमण कर चुका था। फोर्स्टर भी एक प्रकृति विज्ञानी था। फोर्स्टर ने हम्बोल्ट को अपनी साहसपूर्ण यात्रा की कहानी सुनाई, अनोखी जगहों, विचित्र प्राकृतिक दृश्यों और प्रकृति वैविध्य की कहानी। इससे हम्बोल्ट में एक नए उत्साह का जागरण हुआ। उसने भी फोर्स्टर की भांति विश्व भर की यात्रा करके प्रकृति के अध्ययन की मन में ठानी। फोर्स्टर के सत्य की खोज और ज्ञान के प्रति प्रेम से हम्बोल्ट को बड़ी प्रेरणा मिली।

कुछ ही दिनों बाद 1790 में हम्बोल्ट ने अपने एक साथी छात्र के साथ दो महीने तक आस-पास के क्षेत्रों की यात्रा की। यात्रा से वापस आने पर उसने एक शोध-लेख लिखा; शीर्षक था—'मिनरालाजिकल आब्जर्वेशन्स आन सम बेसाल्ट्स आफ द राइन' (राइन की कुछ बैसाल्टी चट्टानों का खनिज वैज्ञानिक प्रेक्षण)। अपने इस शोध-लेख में उसने जलवादियों (नेप्चूनिस्टों) के इस सिद्धांत की पुष्टि की थी कि सभी चट्टान जल के अवक्षेपों से बनी हैं।

सहृदय मानव

जब हम्बोल्ट की आयु केवल 22 वर्ष की थी, तो उसे बावेरिया जिले के बैरूथ नामक स्थान पर खानों के अधीक्षक के पद पर नियुक्ति मिली। हम्बोल्ट को इस पद पर खनन-कार्य को सुधारने के लिए नियुक्त किया गया था। हम्बोल्ट ने खनकों के कार्य का निरीक्षण करके उन्हें खनन सम्बन्धी नए निर्देश दिए। फ्राइबर्ग में भी उसके प्रकृति-प्रेम में कोई कमी नहीं आई। खाली समय में वह खान के रास्ते में लगे विभिन्न प्रकार के पौधों का अध्ययन किया करता।

हम्बोल्ट केवल वैज्ञानिक ही नहीं था, वह एक सहृदय मानव भी था; उसे मानव जाति से अत्यधिक प्रेम था। वह सदैव उसके उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहता था। खान अधीक्षक होने के नाते उसने युवा और वृद्ध खनकों की अलग-अलग श्रेणियां बनाईं और उन्हें उनकी आयु और शारीरिक शक्ति के अनुसार उपयुक्त काम दिया। उनकी पेंशन उसने कायम कराई। उसने एक श्वसित्र (रेस्पिरेटर) को विकसित किया जिसकी सहायता से खनक को श्वसन के लिए शुद्ध वायु प्राप्त हो सकती थी। इसके अतिरिक्त उसने एक ऐसा लैम्प बनाया जिससे भूमिगत विस्फोट की सम्भावना बहुत कम हो गई। इस प्रकार उसने गरीब खनकों के जीवन को सुधारने के लिए बहुत कुछ किया।

प्रकृति अध्ययन

जब हम्बोल्ट 27 वर्ष का था तब 1796 में उसकी मां की मृत्यु हो गई और उसे काफी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त हुई। अब विश्व-भ्रमण व प्रकृति-अध्ययन के उसके स्वप्न साकार होने का समय आ गया था। अब उसके पास काफी धन उपलब्ध था। मां की मृत्यु के तीन वर्षोपरांत सन् 1799 में हम्बोल्ट अपने एक प्रकृति विज्ञानी मित्र ए. जे. ए. बोनप्लांड के साथ मेड्रिड की यात्रा को निकल पड़ा। अपनी इस यात्रा का विवरण देते हुए हम्बोल्ट ने लिखा है कि इस यात्रा का उद्देश्य यह ज्ञात करना था कि प्रकृति की विभिन्न शक्तियां एक दूसरे को कैसे प्रभावित करती हैं और भौगोलिक पर्यावरण अपना प्रभाव जन्तुओं और पौधों पर किस ढंग से डालता है। जून 1799 में वे दोनों ला कार्नुआ, स्पेन से युद्धपोत 'पिजारो' पर सवार होकर क्यूबा के लिए रवाना हुए लेकिन पोत पर ज्वर फैल जाने के कारण उन्हें कूमाना (आजकल वेनेजुएला नाम से प्रसिद्ध) नामक स्थान पर उतरना पड़ा। कूमाना में नवम्बर 11-12 की रात्रि को हम्बोल्ट ने उल्का पिण्डों की एक बौछार देखी। यहीं से उल्कापात की आवर्त्तिता संबंधी आधुनिक ज्ञान की अभिवृद्धि का सूत्रपात हुआ।

अपनी इस यात्रा के दौरान हम्बोल्ट और बोनप्लांड ने दक्षिण अमेरिका की नदियों, पर्वतों, पौधों, निवासियों और वहां के आकाश का अध्ययन किया। तीन माह में ही वे करीब 1600 से भी अधिक पौधे एकत्रित कर चुके थे और 600 नई जातियों का पता लगा चुके थे। अपने लक्ष्य की पूर्त्ति में उन्हें अनेक कठिनाइयों और खतरों का सामना करना पड़ा लेकिन कोई खतरा उन्हें अभीष्ट की प्राप्ति के लिए उनके द्वारा अपनाए गए मार्ग से विचलित न कर सका।

कुनैन, ग्वानो और हम्बोल्ट धारा

इसके बाद 1801 में हम्बोल्ट पेरू पहुंचा। इससे उसे एन्डीज को अच्छी तरह देखने का अवसर मिला। एन्डीज को उसने चार बार पार किया। और इस प्रकार उसने एक बार पुनः वनस्पति पर जलवायु के प्रभाव का अध्ययन किया। तदुपरान्त हम्बोल्ट मेक्सिको और संयुक्त राज्य (यूनाइटेड स्टेट्स) के रास्ते होकर यूरोप वापस लौटा। लौटते समय भी उसने प्रकृति अध्ययन जारी रखा। मेक्सिको में हम्बोल्ट ने अपने साथी बोनप्लांड के साथ एक मास तक कुनैन के वृक्ष (सिनकोना ट्री) की परीक्षा की। उस समय भी इस वृक्ष से औषधि प्राप्त की जाती थी। इसके बाद इसकी छाल से प्राप्त होने वाली कुनैन का उपयोग मलेरिया के उपचार में खूब किया गया। समुद्र के किनारे-किनारे उसने ग्वानो का अध्ययन किया। ग्वानो का उपयोग पेरू निवासी उसके उर्वरताकारी गुणों के कारण बहुत पहले से करते आ रहे थे। इसके अतिरिक्त हम्बोल्ट ने वहां के समुद्र की ठण्डी पेरूवियन धारा का सावधानी पूर्वक मापन और प्रेक्षण किया। बाद में समुद्र की इस ठण्डी धारा का नाम हम्बोल्ट के सम्मान में हम्बोल्ट धारा ही रख दिया गया।

मेक्सिको से हम्बोल्ट फिलाडेल्फिया और वाशिंगटन गया जहां वह तत्कालीन राष्ट्रपति जैफरसन तथा उच्च कोटि के वैज्ञानिकों से मिला। इस प्रकार उसने पांच वर्ष यात्रा में ही व्यतीत किए। जब वह वापस लौटा तो उसके पास 35 सन्दूक थे। इन सभी में यात्रा के दौरान उसके द्वारा एकत्र किए गए जीव-जन्तुओं, पौधों, पत्थरों आदि का संग्रह था।

लेखन, अध्ययन-अनुसंधान

यात्रा से लौटकर हम्बोल्ट पेरिस में बस गया। वहां वह वैज्ञानिक विषयों पर भाषण देता व लेख लिखता। बस यही कार्यक्रम चलता रहा। उसने एक पुस्तक 'वायेज टु द इक्विनाक्शल रिजन्स आफ द न्यू कान्टिनेंट' (नए महाद्वीप के विषुवीय क्षेत्रों की जलयात्रा) लिखी। यह पुस्तक उसने फ्रांसीसी भाषा में लिखी थी। इसके अतिरिक्त भी उसने लगभग तीस पुस्तकें जलवायु, ताप और पौधे, खगोल शास्त्र, पादप भूगोल, वनस्पति शास्त्र तथा जंतुओं आदि के विषय में लिखीं। इनमें से अधिकांश पुस्तकें या तो फ्रांसीसी में उसने लिखी थीं या लैटिन में।

इस काल में उसने लेखन कार्य के साथ-साथ अध्ययन-अनुसंधान कार्य भी जारी किया। जोसेफ गे-लुसाक के साथ उसने वायुमण्डल की रासायनिक संरचना तथा उसकी परिशुद्धता की परीक्षा करने की विधि ज्ञात करने के लिए कार्य किया। इस काल में उसने अनेक युवा वैज्ञानिकों की हर सम्भव सहायता की। उसके लेखों-पुस्तकों आदि से उस युग के युवा वैज्ञानिकों को एक नई प्रेरणा मिली थी व उनमें एक नए उत्साह का सृजन हुआ था। इस संदर्भ में डार्विन का नाम उल्लेखनीय है। डार्विन ने हम्बोल्ट की साहसिक यात्रा की सत्यकथाओं को बारंबार पढ़ा था। जिससे उसका काफी मार्गदर्शन हुआ। 'अगासिज' भी हम्बोल्ट की कृपा के कारण ही 1833 में अपने खोज कार्यों को प्रकाशित कर सका था। गास नामक सुप्रसिद्ध गणितज्ञ को हम्बोल्ट ने बादशाह द्वारा हर सम्भव सहायता दिलवाई।

अन्तिम खोज यात्रा

1827 में हम्बोल्ट बर्लिन वापस आ गया और दो वर्ष पश्चात् 60 वर्ष की आयु में उसने अपने जीवन की अन्तिम खोज-यात्रा आरम्भ की। इस यात्रा में उसके दो मित्र सी. जी. डरेनबर्ग और गुस्टाव रोज भी उसके साथ थे। रूस के जार निकोलास ने इन तीनों वैज्ञानिकों को एशिया के उत्तर में यूराल और अल्ताई पर्वतों, चीनी जुंगारिया और कैस्पियन सागर की खोज के लिए भेजा था। इस यात्रा के दौरान हम्बोल्ट ने सोना व प्लैटिनम उत्पादन करने वाली बेड्स का वैज्ञानिक परीक्षण किया, इतर-उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र में हीरों की खोज की, चुम्बकीय प्रेक्षण किए और भौगर्भिक तथा वानस्पतिक संग्रह किए। इस अभियान के अन्तर्गत हम्बोल्ट ने छः माह में 2320 मील की यात्रा सम्पन्न की। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष हम्बोल्ट ने बर्लिन में बिताए। इसी काल में उसने अपनी सबसे महान कृति 'द कास्मास' की रचना की। पांच भागों में यह ग्रन्थ 1845 से 1862 तक प्रकाशित हो पाया। अन्तिम भाग (पांचवां) हम्बोल्ट की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ।

'द कास्मास' के प्रथम दो भाग क्रमशः 1845 और 1847 में

(शेषांश पृष्ठ 469 पर)

कीट समस्या का आदर्श निदान : समग्र नियंत्र

सतीश चंद्र

कीट मानवता के लिए एक गंभीर चुनौती हैं। ये अनेक प्रकार की समस्याएं हमारे समक्ष प्रस्तुत करते रहते हैं। यदि इनका दमन न किया जाए तो इनकी विनाश वृत्ति बढ़ती ही जाती है। इनके दमन के लिए विगत 100 वर्षों में अनेक उन्नत विधियां विकसित की गई हैं। प्रचलित प्रणालियों में रासायनिक, जैविक, भौतिक तथा यांत्रिक एवं कृषि संबंधी उपचार मुख्य हैं। इनमें से रासायनिक नियंत्रण सबसे अधिक सन्तोषजनक सिद्ध हुआ है और व्यापक रूप से लोकप्रिय भी रहा है।

दुर्भाग्यवश कीटों के रासायनिक नियंत्रण के लिए प्रयुक्त होने वाले कीटनाशी रसायन विशुद्ध वरदान के रूप में अधिक दिनों तक नहीं टिक सके। आज 150 से अधिक कीट प्रजातियां कृत्रिम रसायनों के विषैले प्रभाव क्षेत्र का अतिक्रमण कर चुकी हैं, जिसे कीट-वैज्ञानिक 'प्रतिरोध' की संज्ञा देते हैं। कीटों में रसायन-प्रतिरोध की उत्पति वैज्ञानिकों, रसायन व्यवसायियों एवं कृषकों के लिए महत चिन्ता का विषय है। रासायनिक नियंत्रण की एक हानि यह है कि व्यापक प्रभावशीलता के कारण कीटनाशी रसायन क्षतिकारक कीड़ों के साथ-साथ अनेक लाभकारी कीटों का भी हनन करते हैं, जिसके फलस्वरूप 'जैविक सन्तुलन' बिगड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इन रसायनों के घातक अवशेष विविध खाद्य पदार्थों, मिट्टी, पानी आदि पर बहुत समय तक रहते हैं जोकि जनस्वास्थ्य, मवेशी, वन्य पशु, मछली आदि के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध होते हैं। कीट-दमन की रासायनिक प्रणाली में उक्त कुछ दोष अवश्य हैं, परन्तु कीटनाशी रसायनों का प्रयोग प्रारम्भ में कम खर्चीला, सुविधाजनक और शीघ्र ही उत्तम फल देने वाला है और लगभग हर प्रकार के कीड़ों के विरुद्ध प्रभावकारी पाया गया है। इन रसायनों को आसानी से प्राप्त, प्रयुक्त और संचित किया जा सकता है।

कीट-दमन की जैविक विधि में रासायनिक दमन जैसे दुर्गुण नहीं हैं। प्राकृतिक सन्तुलन पर इसका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। एक बार सफल होने पर इसका प्रभाव चिरस्थायी रहता है। जैविक नियंत्रण की व्यावहारिक उपयोगिता आज से लगभग 80 वर्ष पहले कैलिफोर्निया में 'रोडोलिया कार्डिनेलिस' नामक एक परभक्षी भृंग द्वारा नीबू के कीड़े 'आइसेरिया परचेजी' के सफल नियंत्रण से सिद्ध हुई थी जोकि आज तक कायम है। स्वीटमेन ने जैविक विधि द्वारा सम्पन्न 80 विभिन्न विनाशकारी कीड़ों के उत्तम दमन का उल्लेख किया है। परन्तु इन जीवधारियों के जीवनचक्र, स्वभाव, वातावरण से संबंध आदि इतने रहस्यमय हैं कि जैविक नियंत्रण एक कठिन समस्या बन जाता है।

कीट-दमन की भौतिक और यांत्रिक विधि व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त है क्योंकि कृषि संबंधी कार्यों में नियंत्रण के अनुरूप बहुधा परिवर्तन लाना संभव नहीं होता फिर भी फसल की प्रतिरोधी किस्मों के विकास की आधुनिक प्रवृत्ति निश्चय ही शुभ है।

समग्र नियंत्रण

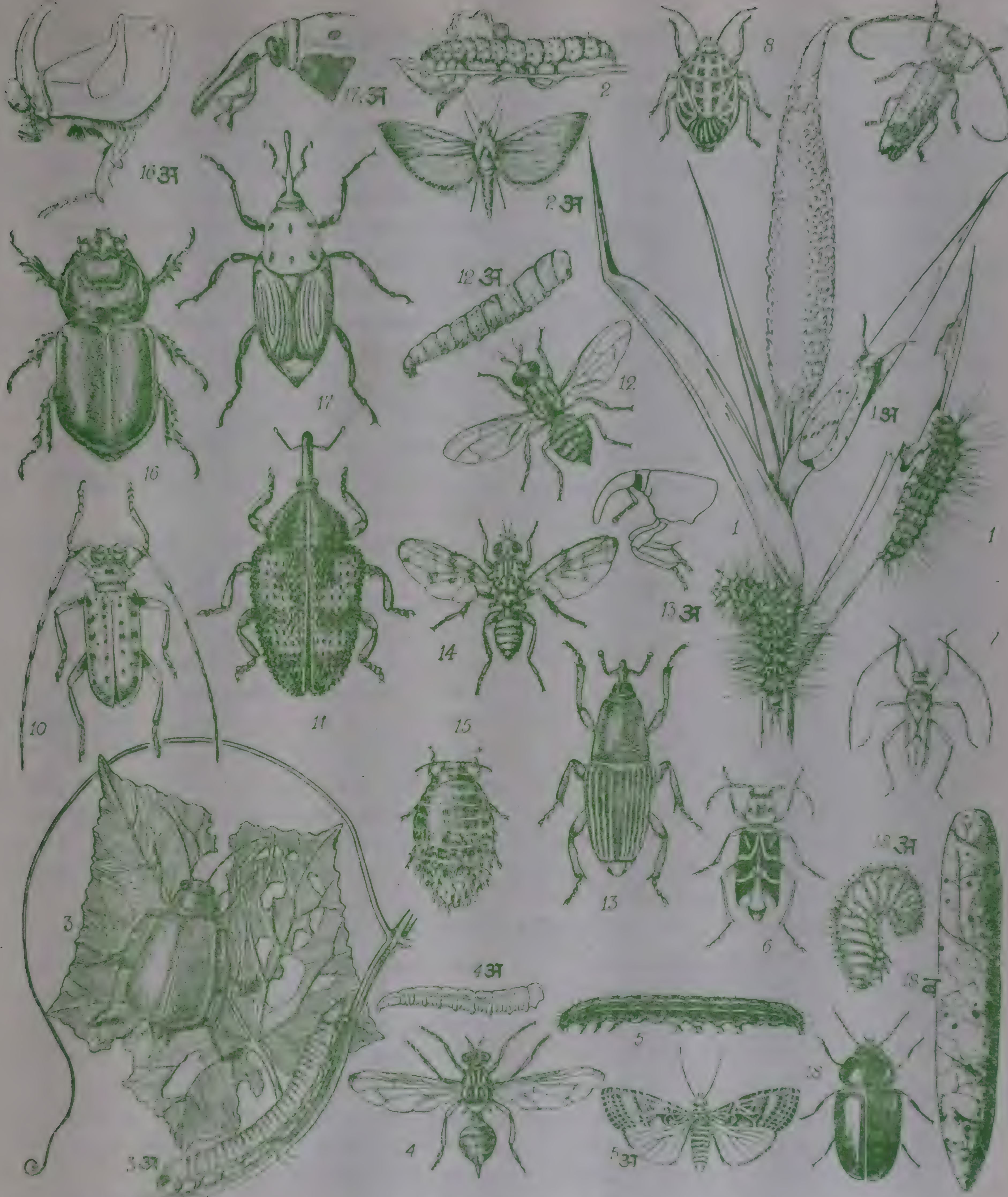
उपर्युक्त विभिन्न साधनों के तुलनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट है कि कीट-दमन की कोई भी विशेष प्रणाली दोषमुक्त नहीं है, परन्तु यह भी सत्य है कि उनकी अपनी-अपनी खूबियां हैं। अब तक के कीट-नियंत्रण के कौशल की प्रधान त्रुटि यह रही है कि हम बहुधा किसी कीट के विरुद्ध एक समय में रासायनिक अथवा जैविक, मुख्य रूप से केवल एक विधि का ही सहारा लेते हैं जिसके फलस्वरूप अन्य विधियों के गुण छूट जाते हैं और प्रयुक्त प्रणाली के दोष आ जाते हैं। इस पृष्ठभूमि में करीब दस वर्ष पहले कीट वैज्ञानिकों में एक नये विचार का सृजन हुआ, कि क्यों न नियंत्रण का एक प्रभावकारी कार्यक्रम बनाया जाय?

कीट-दमन की इस आधुनिक प्रवृत्ति को 'समग्र नियंत्रण' की संज्ञा दी जा सकती है। इसे अंग्रेजी में 'इंटेग्रेटेड कंट्रोल' कहते हैं। यह कोरी कल्पना नहीं, वरन् एक ठोस और व्यावहारिक सत्य के रूप में आज हमारे सामने है। दक्षिण अफ्रीका में 'डायमंड बैक मॉथ', पेरू में कपास के कीड़े और नोवास्कोशिया में सेब के कीड़े, इस पद्धति द्वारा पूर्ण नियंत्रण में लाए जा चुके हैं। 'समग्र नियंत्रण' वास्तव में जैविक दमन को दोषमुक्त कर उसे आदर्श रूप में प्रतिष्ठित करने का ही प्रयास है।

सिद्धांत

कीटों के समग्र नियंत्रण करने के लिए चार बातों का ज्ञान होना आवश्यक है। ईको सिस्टम, कीट-संख्या का घनत्व, कृत्रिम रसायनों का विशिष्ट ढंग से प्रयोग और हानिकर कीटों के प्राकृतिक शत्रु।

किसी क्षेत्र के ईको सिस्टम से वहां के सम्पूर्ण परिवेश का बोध होता है जिसमें अनेक प्रकार के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे और उनके प्राकृतिक



1. बाजरे का रेड हेयरी कैटरपिलर; 1अ. मॉथ; 2. तिल की पत्ती और पौधे का कैटरपिलर; 2अ. मॉथ; 3. ककड़ी की पत्तियों को खाने वाला रेड पम्पकिन बीटल; 3अ; लारवा; 4. क्यूकरबिट फ्रूटफ्लाई; 4अ. मैगट; 5. टुबैको कैटरफिलर 5अ. मॉथ; 6. काफी-तना-वेधक; 7. टी मास्किटो; 8. जेस्मिन बग; 9. स्टेम गर्ड्लर बीटल; 10. संतरा-तना-वेधक; 11. मैंगो स्टोन वीविल; 12. मैंगो फ्रूट फ्लाई (मादा); 12अ. मैगट; 13. बनानगरूट स्टॉक वीविल; 13अ. सिर का पार्श्वदर्शन, 14. बेर फ्रूट फ्लाई; 15. सेब की लोमश लाही; 16. रिनोसेरस बीटल; 16अ. नर के सिर का पार्श्व-दर्शन; 17. रेड पाम वीविल; 17अ. नर के सिर का पार्श्व-दर्शन; 18. सिगरेट बीटल; 18अ. तम्बाकू की पत्तियों से ढका लारवा; 18ब. बीटल के निकास छिद्रों से युक्त क्षत सिगार ।

दुश्मन, मिट्टी, पानी, वायुमंडल आदि का समावेश है । किसी दमन कार्य की स्थायी सफलता के लिए 'ईको सिस्टम' का उत्तम ज्ञान होना आवश्यक है । बहुधा किसी कीट-दमन के दरम्यान हमारा ध्यान केवल संबंधित कीड़े पर रहता है और फलस्वरूप बहुधा विनाशकारी कीटों के साथ-साथ लाभकारी जीवों का भी हनन हो जाता है; परिणाम अन्ततः प्राकृतिक सन्तुलन के संदर्भ में घातक सिद्ध होता है ।

कीट संख्या का घनत्व और कीट-जन्य विनाश समानुपाती हैं । जितना घनत्व अधिक होगा क्षति भी उतनी ही अधिक होगी । उदाहरणार्थ, अमेरिका में यह पाया गया है कि मिट्टी में कजरा पिल्लू की औसत संख्या यदि 1.11 प्रति वर्ग फुट तक हो तो फसल को कोई आर्थिक क्षति नहीं पहुंचती । किसी खास फसल की आर्थिक क्षति कीट का एक घनत्व विशेष, जिसे 'विशिष्ट घनत्व' कहते हैं, होने पर ही आरम्भ होती है । इससे कम घनत्व पर वह कीट क्षतिदायी नहीं सिद्ध होता । परन्तु पौधों, पशुओं अथवा मनुष्यों में रोग फैलाने वाले कीड़े अपेक्षाकृत बहुत कम घनत्व में होने पर ही 'विनाशकारी' की श्रेणी में आ जायेंगे ।

कृषि में कीट-दमन का वास्तविक उद्देश्य कीट-उन्मूलन नहीं बल्कि फसल की क्षति रोकना है । उन्मूलन का सिद्धान्त किसी क्षेत्र में नये प्रवेश पाने वाले कीड़ों के विरुद्ध ही लागू होता है । क्षति की आर्थिक सीमा के संदर्भ में विभिन्न कीड़ों के विशिष्ट घनत्व का निर्धारण वास्तव में बड़ा ही महत्वपूर्ण है । दुर्भाग्यवश इस पहलू पर आर्थिक कीटविदों ने बहुत कम ध्यान दिया है ।

दमन-कार्यक्रम में कृत्रिम रसायनों का या तो विशिष्ट ढंग से प्रयोग करना होता है अथवा विशिष्ट रसायनों का ही व्यवहार करना होता है, जिससे कि संबंधित कीट का उत्तम नियंत्रण भी हो और जैविक तत्वों पर कोई कुप्रभाव न पड़े । अभी तक किसी पूर्णतः आदर्श रसायन का विकास नहीं हो पाया है, इसलिये इस संदर्भ में हम केवल रसायनों के विशिष्ट प्रयोगों की ही चर्चा करेंगे । कृत्रिम रसायनों में विशिष्ट क्रियाशीलता, कीटनाशकों के चुनाव, प्रति एकड़ प्रयोग की मात्रा, व्यवहार करने के समय, स्थान और ढंग आदि के माध्यम से लाई जा सकती है । कुछ रसायन जैसे फोसड्रिन, डियटेरक्स ऐसे हैं जिनकी जहरीली क्रियाशीलता तो विस्तृत है परन्तु इनके घातक अवशेष की अवधि अल्प है । अगर इस छोटी अवधि में हम किसी माध्यम से लाभकारी कीड़ों की सुरक्षा कर सकें तो हमारा उद्देश्य पूरा हो जाता है ।

उदाहरणार्थ ऐल्फैलफा के पिल्लू के परजीवी प्यूपा-अवस्था में कीटनाशक के प्रभाव से मुक्त रहते हैं । फोसड्रिन ऐल्फैलफा लाही के परजीवी या परभक्षी कीट पर कोई दुष्प्रभाव नहीं डालता है । निकोटिन से भी उपयोगी कीड़ों को क्षति नहीं पहुंचती । मेटसिसटोक्स से गोभी की लाही नियंत्रित रहती है और उसके परजीवी या परभक्षी कीट भी अप्रभावित रहते हैं आदि-आदि ।

जीवाणुओं और विषाणुओं से बनाये गये कीटनाशक अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होते हैं, उनके प्रयोग से लाभकारी कीट अप्रभावित रहते हैं । अतः समग्र नियंत्रण में इनका खास महत्व है । व्यापक क्रियाशीलता वाले रसायनों यथा गामा बी. एच. सी., इन्ड्रीन, थायोडन, डियटेरेक्स आदि का प्रयोग बीज अथवा मिट्टी के माध्यम से करके उपयोगी कीड़ों की रक्षा की जा सकती है । कणिका रूप में गामा बी. एच. सी. को सिंचाई के पानी के माध्यम से प्रयुक्त कर धान घड़-छेदक के दमन में अभूतपूर्व सफलता मिली है । कुछ ऐसे भी कीटविष हैं जो पौधों की जड़, तना और पत्तियों द्वारा अवशोषित होकर उसके तंत्र में परिचालित होते हैं और पूर्ण पौधा ही विषयुक्त हो जाता है । ऐसे रसायनों को बीज और मिट्टी के माध्यम से प्रयुक्त कर लाही, लाल मकड़ी, थ्रिप्स आदि कीटों का सफलता-पूर्वक दमन किया जा सकता है । स्पष्ट है कि इससे 'जैविक सन्तुलन' में कोई गड़बड़ी नहीं होगी ।

कीट-दमन के इन कृत्रिम साधनों के अतिरिक्त एक साधन यह भी हो सकता है कि हानिकर कीटों के प्राकृतिक शत्रुओं का संरक्षण किया जाए और उनकी संख्या में वृद्धि हो । इसके लिए उन परजीवी या परभक्षी कीटों के लिए भोजन का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक है । डी बैक (1958) के अनुसार नीबू के बगीचे में स्थायी घास लगा देने से नीबू-माइट्स के जैविक दमन में काफी सुधार हुआ । कुछ परजीवी कीट चींटियों की उपस्थिति सहन नहीं कर पाते हैं और उन्हें हटा देने से उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती हैं । नीबू के क्षतिकारक कीड़े इस विधि द्वारा नियंत्रित किये गये हैं । कुछ विशेष परिस्थितियों में वायुमंडल के तापमान, आपेक्षिक आर्द्रता और प्रकाश की तीव्रता में आवश्यक परिवर्तन करके भी जैविक दमन का प्रभाव बढ़ाया जा सकता है। यूरोप में वनवृक्षों के कतिपय विनाशकारी कीड़ों का दमन चिड़ियों के लिए कृत्रिम घोंसला बनाकर सम्पन्न किया गया है ।

समग्र नियंत्रण का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है । कीटनाशकों के कम मात्रा में और कम बार प्रयोग करने से किसानों को आर्थिक बचत होती है, लाभकारी जीवधारियों की सुरक्षा होती है, दमन का फल स्थायी होता है । इसके सफल प्रयोग की राह में कुछ रोड़े भी हैं । अभी तक किसी भी आदर्श कीटनाशक रसायन का विकास नहीं हो पाया है । निस्सन्देह ऐसे कीटनाशकों का प्रयोग सीमित होगा और इस तरह उनका लाभांश भी । इसके लिये एक सशक्त शोधकार्य की आवश्यकता है जिससे कि विभिन्न जैविक तत्वों का कीट-दमन के संदर्भ में सही मूल्यांकन किया जा सके ।

● ● ●

हमारी कार्यरत अस्थियाँ

भगवतीलाल पगारिया

गति ही जीवन है, यह शाश्वत सत्य हमारे शरीर के सभी अंगों के बारे में सत्य है क्योंकि वे भी तो जीवित हैं। यदि इनमें गति न हो तो ये सजीव कैसे रह सकते हैं। मनुष्य शरीर में लगभग 206 अस्थियां अहर्निश कार्यरत हैं। कुछ व्यक्ति कदाचित् यह सोचते हैं कि अस्थियां तो हमारे शरीर का ढांचा मात्र हैं 'जिन पर मांस आदि टिके हुए हैं और ये निष्क्रिय हैं'। किन्तु वास्तविकता यह है कि हड्डियां शरीर में अत्यन्त कार्यरत हैं। रात-दिन चलने वाली फैक्ट्री के समान ही ये रात-दिन लोहित व श्वेत कणिकाओं का निर्माण करती रहती हैं। प्रति सेकंड रक्त की 30,00,000 (तीस लाख) लोहित कोशिकाएं नष्ट होती रहती हैं। यदि अस्थियां इन कणिकाओं का निर्माण करके इस क्षति की पूर्ति न करें तो मनुष्य रक्ताल्पता का शिकार हो जाता है और अन्त में यह रक्ताल्पता उसकी मृत्यु का कारण बन जाती है। अस्थियों द्वारा निर्मित श्वेत कणिकाएं ही संक्रमण से हमारी रक्षा करती हैं। अस्थियां बिम्बाणुओं (प्लेटलेट्स) का निर्माण करती हैं। ये बिम्बाणु मनुष्य के रक्त आतंचन (क्लाटिंग) के लिये परमावश्यक हैं।

भंडार गृह

शरीर के पोषण के लिये अस्थियां, मज्जा, प्रोटीन और वसा को भंडारित करती हैं। शरीर का अधिकांश कैल्शियम और फास्फोरस अस्थियों में ही रहता है। कैल्शियम शरीर के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कैल्शियम से ही हृदय की धड़कन, पेशियों का संकुचन व चेताओं का स्पन्दन सम्भव है। आपने जो आहार आज किया है उसमें से कैल्शियम मायावी तरीके से अस्थियों में जमा हो जाता है। चेता व रक्त के लिये आवश्यक कैल्शियम यदि हमारे सामान्य आहार में नहीं होता तो हड्डियों से कैल्शियम 'खिचता जाता है'। बच्चों के आहार में यदि दूध जैसा कैल्शियमयुक्त आहार न हो तो उन की हड्डियों में लगातार कैल्शियम कम होता जाता है और एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब उनकी हड्डियां बहुत कोमल हो जाती हैं। परिणामस्वरूप वे मुड़ जाती हैं। अतः कैल्शियम अन्य अंगों के अतिरिक्त स्वयं हड्डियों की दृढ़ता के लिये भी अत्यावश्यक है।

प्रकृति की माया बड़ी विचित्र है। जब इसे अनुभव होने लगता है कि आपके शरीर में दृढ़ हड्डियों की आवश्यकता नहीं तो हड्डियां अपने-आप कमजोर हो जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं करता तो उसकी हड्डियों को दृढ़ रखने वाले खनिज 'अपने आप निकलते चले जाते हैं' और यही कारण है कि शारीरिक श्रम अथवा व्यायाम न करने वाले व्यक्तियों की वृद्धावस्था में हड्डियों के टूटने की अधिक सम्भावना रहती है।

भिन्न-भिन्न भागों में स्थित हड्डियां शरीर की आवश्यकतानुसार कम-ज्यादा दृढ़ होती हैं।

अत्यधिक टिकाऊ वस्तु

हड्डियां अत्यधिक टिकाऊ होती हैं। आर्द्रता और वायु में पड़ी हुई लोहे और इस्पात की बनी हुई वस्तुएं थोड़े ही वर्षों में नष्ट हो जाती हैं। किन्तु अस्थियों पर इनका प्रभाव नहीं होता। पानी में ये अघुलनशील हैं और यही कारण है कि लाखों वर्ष पूर्व के मानव व जंतुओं की अस्थियां इस धरती पर आज भी देखने को मिल जाती हैं।

मानव अस्थि कंकाल इंजीनियरिंग आकल्पन की एक श्रेष्ठ कृति है। अस्थि कंकाल के प्रत्येक भाग का निर्माण प्रकृति ने उस भाग के विशिष्ट कार्यों को ध्यान में रख कर किया है। मस्तिष्क जैसे अंग की सुरक्षा हेतु करोटि अस्थि का आकल्पन किया गया है। करोटि मोटी व मजबूत होती है। शरीर के सबसे ऊपरी भाग में स्थित होने की वजह से मस्तिष्क को खतरा अधिक रहता है। परन्तु उसका रक्षा कवच 'करोटि' उसे क्षति से बचाता है। इसी भांति फेफड़े व हृदय पसलियों से ढके रहते हैं। हड्डियां जहां एक ओर इस्पात से भी अधिक दृढ़ होती हैं वहां दूसरी ओर रबर से भी अधिक नम्य हैं।

प्रत्येक अस्थि की ऊपरी सतह कठोर पदार्थ की बनी होती है। अन्दर से हड्डी कुछ स्पंज जैसी छिद्रयुक्त व मुलायम होती है। ऊपर वाला कठोर भाग मुख्य रूप से कैल्शियम और फास्फोरस होता है। अन्दर का मुलायम भाग अस्थि-मज्जा (बोन मैरो) कहलाता है।

स्त्री और पुरुष में अंतर

स्त्री और पुरुषों की अस्थियों में अन्तर होता है। किसी अस्थि कंकाल में करोटि व श्रोणि को देखकर यह निर्धारित किया जा सकता है कि वह कंकाल स्त्री का है अथवा पुरुष का। पुरुष करोटि की धारिता स्त्री करोटि की धारिता से लगभग 200 घन सेंटीमीटर अधिक होती है। स्त्रियों की श्रोणि अस्थि अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी होती है।



मानव अस्थि कंकाल

कितनी हड्डियां

एक नवजात शिशु में हड्डियों की संख्या लगभग 305 होती है। परन्तु शिशु के वयस्क होते होते यह संख्या केवल 206 रह जाती है। कारण यह है आयु के साथ कई छोटी हड्डियां आपस में मिलकर एक हड्डी का निर्माण कर देती हैं।

अस्थियों की स्थिति व दशा के आधार पर व्यक्ति की आयु का भी अनुमान किया जा सकता है। पांच वर्ष से बारह वर्ष तक समय के समानानुपाती हड्डियों का आकार बढ़ता रहता है। बारह वर्ष से लेकर इक्कीस वर्ष की उम्र तक हड्डियां आपस में जुड़ती हैं। इक्कीस वर्ष की उम्र से लेकर सैंतालीस वर्ष की उम्र तक करोटि की पृथककृत विभिन्न अस्थियां जुड़ती हैं। तीस वर्ष की आयु के पश्चात चपटी हड्डियों में रुधिर प्रवाह बन्द हो जाता है, ये शुष्क और भंजनशील हो जाती हैं और उनकी बनावट भी बदल जाती है।

एक्स किरणों की सहायता द्वारा चिकित्सक बच्चों की अस्थियों को देख यह बता सकता है कि अस्थियों का आकार बढ़ रहा है या नहीं। अस्थियों को विकास के लिये आवश्यक खनिज लवण आदि मिल रहे हैं अथवा नहीं। यदि अस्थियां सामान्य गति से बढ़ नहीं रही हैं, अपने विकास के लिये आवश्यक तत्व शरीर से ग्रहण नहीं कर रही हैं तो निश्चय ही बच्चे का स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता।

आपने देखा होगा कि किसी दुर्घटना में हड्डी टूट जाने पर चिकित्सक हड्डी के टुकड़ों को ठीक बैठाकर प्लास्टर चढ़ा देता है। प्लास्टर चढ़ाने से हड्डी क्यों जुड़ जाती है? कारण यह है कि हड्डी टूटने के कारण बीच में अंतर आ जाता है। हड्डी के टुकड़े बढ़कर इस अंतर को समाप्त कर देते हैं और आपस में जुड़ जाते हैं। प्लास्टर तो इसलिए चढ़ाया जाता है कि हड्डी के टुकड़े ठीक स्थिति में रहे आएं।

बहरापन

(शेषांश पृष्ठ 453 का)

धीरे-धीरे इनका स्थान विद्युत् श्रवण सहायों ने ले लिया। वर्तमान श्रवण सहायों में तीन मुख्य अवयव होते हैं: माइक्रोफोन, जो ध्वनि ऊर्जा को विद्युत् ऊर्जा में परिवर्तित कर देता है; प्रवर्धक, जो इस विद्युत-प्रवर्धित ऊर्जा को बंधित कर देता है; और ग्राहक, जो विद्युत ऊर्जा को ध्वनि में परिवर्तित कर देता है।

आरम्भ में श्रवण सहाय भारी-भरकम हुआ करते थे, किन्तु अब ट्रांजिस्टर की खोज के बाद इनका आकार इतना छोटा हो गया है कि उन्हें चश्मे के फ्रेम में लगाया जा सकता है।

नाड़िक बधिरता में एक कठिनाई यह है कि इसमें कम आवृत्ति की ध्वनि अधिक आवृत्ति की अपेक्षा अधिक सुनाई देती है। इसके कारण ध्वनि विकृत हो जाती है तथा समझने में कठिनाई होती है। अब ऐसे श्रवण सहाय बनाये जा चुके हैं जो इस कठिनाई का निराकरण कर देते हैं। इसी भांति तीव्र ध्वनि (जैसे जेट विमान की ध्वनि या रेल की तीखी सीटी) को कम करने तथा सूक्ष्म ध्वनि को तीव्र करने की प्रक्रिया भी अब इन श्रवण सहायों में होती है। श्रवण सहायों में इतनी प्रगति होने पर भी अभी तक ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अपनी मूलभूत कमियों के कारण उनका लाभ नहीं उठा पाते हैं। समझा जाता है कि ऐसे अन्य अनेक रोग हैं जो मनुष्य को बधिर बना देते हैं पर इन के बारे में हमारी जानकारी अभी बहुत कम है। इन रोगों को ज्ञात करने के लिए अनुसंधान चल रहे हैं। यदि इनकी खोज हो जाये तो बधिरता का पूर्ण-रूपेण उन्मूलन हो सकता है। ●

जीवित-जीवाश्म : स्फीनोडॉन

अनिलकुमार श्रीवास्तव और राममुधि भट्ट

ऐसे बहुत से जीव-जन्तु आज भी हमारे बीच हैं जिनका युगों पहले विलोप हो जाना चाहिए था। लिमुल (सनाल-केकड़ा), अनेक घोंघे, कुछ मकड़ियां, तिलचट्टे, हिम-मक्खियां तथा सीलाकेन्ट-मछली लेटिमेरिया, जीव विकास के सब नियमों की उपेक्षा कर, आज भी लाखों वर्षों पुराने अपने रूप में हैं। दूसरी ओर बहुतेरे प्राचीन जन्तु जो बदलते समय का साथ न दे सके उन्हें या तो बढ़ते समुद्र ने ग्रस लिया या नई शत्रु जातियों ने उनका दमन कर डाला और जो इनसे बच सके वह हिमनदों की चपेट में आ गये। परन्तु जीवित-जीवाश्म दीर्घस्थायी सिद्ध हुए। ऐसा प्रतीत होता है मानो इनकी उत्तर-जीविता की अभिकल्पना इतनी परिपूर्ण थी कि प्रकृति निहत्थी खड़ी की खड़ी रह गई और ये न तो समय के साथ बदल सके और न ही नष्ट हो सके।

मोनोट्रीम और मारसूपियल जन्तु

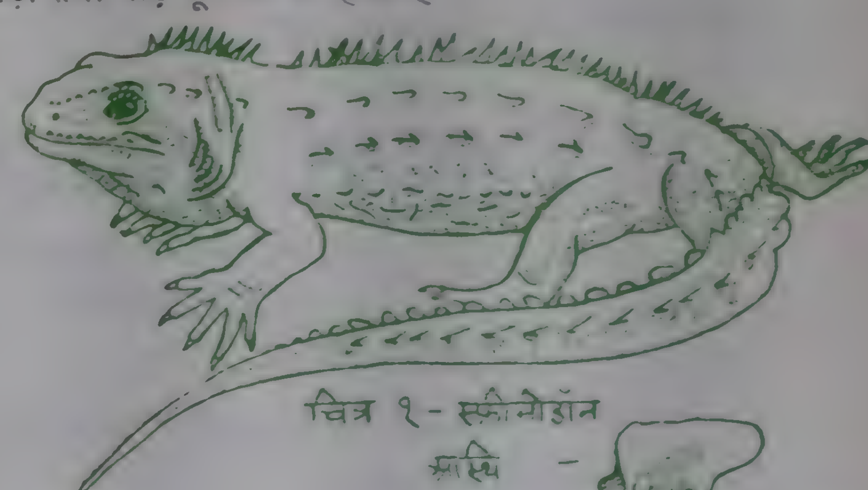
उपर्युक्त जन्तुओं के अतिरिक्त कुछ और भी प्राचीन जन्तु हैं जो आज भी पाये जाते हैं। इनके जीवित रहने के कुछ और ही विशिष्ट कारण हैं। आस्ट्रेलिया जब एशिया से पृथक हुआ तो आस्ट्रेलिया में जो जन्तु चले गये वे मांस-भक्षी नहीं थे और अभिनव मांस-भक्षी स्तनी-प्राणी समुद्र पार करके आस्ट्रेलिया तक जाने में असमर्थ थे, इसी कारण आस्ट्रेलिया में बसने वाले जीवों को वे नष्ट न कर सके। इन्हीं कारणों से मोनोट्रीम (प्लेटिपस और इकिड्ना) तथा मारसूपियल (कंगारू एवं संबंधित स्तनी-प्राणी) आज भी आस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं। जैसा कि शताब्दियों से होता आ रहा था, प्लेटिपस और इकिड्ना स्तनी होते हुए भी अंडे देते हैं और कंगारू इत्यादि अपने अपूर्ण विकसित एवं लघु भ्रूण को जन्म देने के उपरान्त उसे अपने उदर में बनी हुई थैली में रख कर तब तक उसका भरण-पोषण करते हैं जब तक वह बढ़कर शिशु-कंगारू न बन जाय। इसी प्रकार अमेरिका में अपोसम (प्राचीन मारसूपियल) आज भी जीवित है। इसकी उत्तर-जीविता का रहस्य अत्यन्त ही मनोरंजक है। यह शत्रु की आहट पाते ही मुर्दे की भांति चुपचाप पड़ जाता है और शत्रु इसे मृत समझ कर छूते तक नहीं।

स्फीनोडॉन (टुआटरा) सरीसृप-वर्ग का एक अद्भुत जीवित-जीवाश्म है। इसकी अपनी अलग-अलग विशेषतायें हैं। लगभग 20 करोड़ वर्षों से यह प्रकृति-परिवर्तन की यातनाएं सहता हुआ अभी तक विद्यमान है। रिंकोकिफैलिया क्रम का स्फीनोडॉन ही ऐसा जीव है जो उत्तर-जीवी का पद संभाले हुए है।

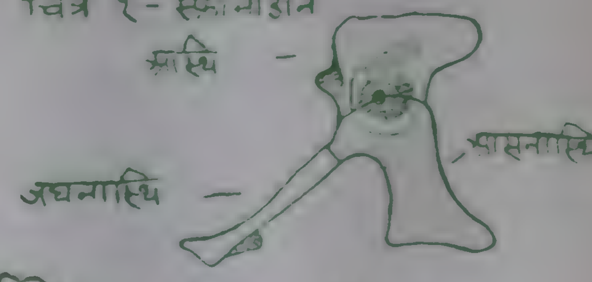
न्यूजीलैंड के पूर्वी छोर से 11 मील दूर, नाइट-द्वीप की चट्टानों में स्फीनोडॉन का निवास स्थान है। एक समय था जब न्यूजीलैंड में यह सरीसृप बहुतायत में पाया जाता था, परन्तु चट्टानों को खोदकर पौधों की जड़ों को खाने वाले सूकरों के प्रवेश ने इनका जीवन दूभर कर दिया और इनकी संख्या दिन-प्रतिदिन घटती गई, यहां तक कि एक प्रकार से इनका विनाश ही हो गया। इस अप्रत्याशित दुर्घटना से जो बच सके वे आज भी जीवित हैं।

भोजन

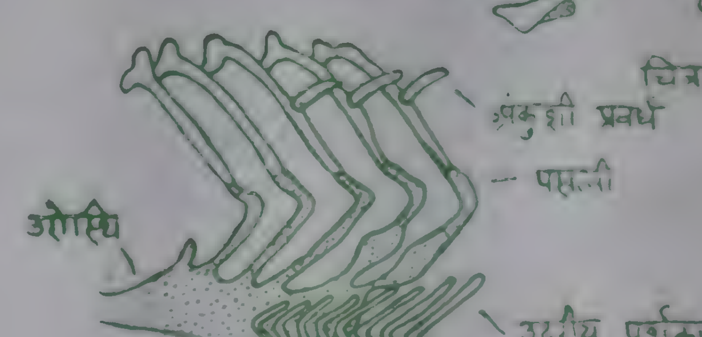
स्फीनोडॉन की लम्बाई लगभग 2 फुट और भार 2 पौंड होता है। यह रात में मेंढकों की भांति ध्वनि उत्पन्न करता है और छोटे घोंघों, छिपकलियों, मक्खियों एवं भृंगों का शिकार करके अपना भरण-पोषण करता है। यह एक लम्बी एवं बगल से दबी पूंछ वाला चतुष्पादी जीव है; इसके प्रत्येक पाद में पांच अंगुलियां होती हैं। स्फीनोडॉन की त्वचा शल्कयुक्त होती है। गर्दन को छोड़कर इसके सिर से पूंछ तक, पृष्ठतल पर, सीधे कांटों की कतार पाई जाती है। इसकी आंखें आकार में बड़ी तथा गाढ़े भूरे रंग की होती हैं।



चित्र १ - स्फीनोडॉन



चित्र 2



चित्र 3

मादा स्फीनोडॉन अपने अगले पंजों से बिल खोदकर अंडों के लिये स्थान बनाती है और तब अंडरोपण करती है । वह एक बार में लगभग एक दर्जन अंडे देती है । अंडे लगभग एक इंच लम्बे व भूरे-धानी रंग के होते हैं । मादा इन्हें मुलायम बालू के कणों तथा पत्तियों से ढके रखती है । अंडों के भीतर भ्रूण-विकास में लगभग एक वर्ष लग जाता है। इस समय तक शिशु-स्फीनोडॉन तैयार हो जाता है और इसकी थूथन पर अंड-कवच को काटने के लिये एक दांत भी बन जाता है, जिसकी सहायता से अंड-कवच को तोड़कर वह बाहर आ जाता है । साधारणतया स्फीनोडॉन में प्रजनन क्रिया प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में ही सम्भव है, परन्तु वैलिंगटन विश्वविद्यालय में प्राणि-विज्ञान के प्रवक्ता डा. एच. डब्लू. डॉबिन 1950 ई. में प्रथम बार स्फीनोडॉन को बन्दी अवस्था में प्रजनन कराने में सफल हुए थे । इसके बाद भी उन्हें दो बार और इस प्रकार की सफलता प्राप्त हुई ।

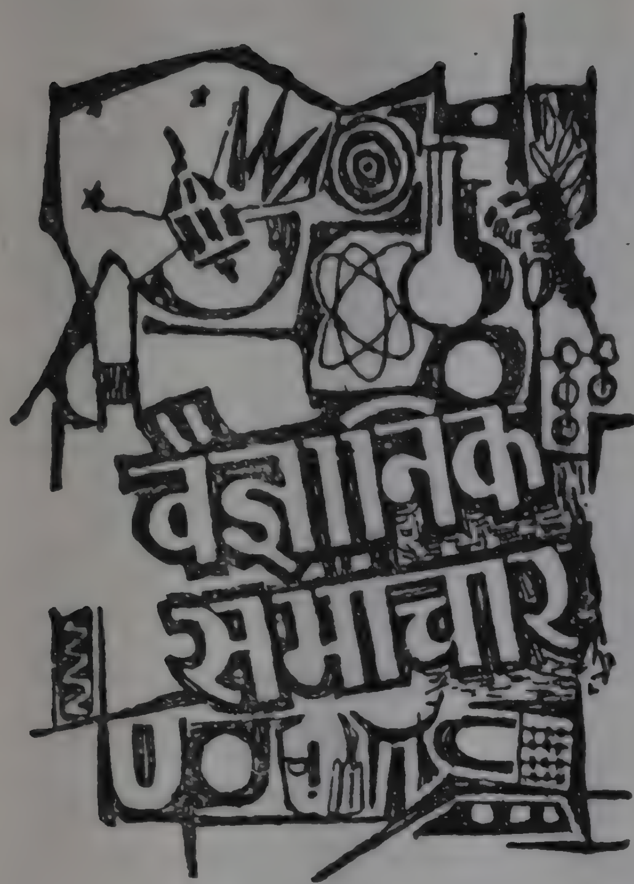
अद्‌भुत जन्तु

स्फीनोडॉन एवं पूर्व–इतिहास डाइनोसौरों में बहुत कुछ समानता पाई गई है । इसमें सरीसृपों एवं पक्षियों के बहुत से गुण एक साथ विद्यमान हैं। स्फीनोडॉन की पसलियों में पक्षियों की भांति ही अंकुशी-प्रवर्ध और बृहदाकार उरोस्थि पाई जाती है। इसके विपरीत सरीसृप वर्ग के क्रोकोडाइल एवं डाइनोसौरों की भांति स्फीनोडॉन में छाती की साधारण पसलियों के साथ-साथ उदर भाग में भी पसलियां पाई जाती हैं । तालू अस्थिर होता है तथा इलियम (अस्थि) सीधी होती है। इसके शीर्ष पर शल्कों से ढका 'पीनियल नेत्र' इसकी वंश परम्परा को और स्पष्ट कर देता है तथा सरीसृप वर्ग के निकटता का प्रमाण उपस्थित करता है । सभी उत्तर-जीवी सरीसृपों में केवल स्फीनोडॉन ही एक ऐसा प्राणी है जिसमें मैथुनांग का अभाव होता है । उपरोक्त गुणों के फलस्वरूप स्फीनोडॉन वैज्ञानिकों की दृष्टि में आश्चर्य का विषय बना हुआ है ।

उत्तर-जीविता का रहस्य

अन्ततः प्रश्न उठता है कि अद्‌भुत स्फीनोडॉन कैसे और क्यों युग-युगान्तरों से अपरिवर्तित और अप्रभावित चला आ रहा है? सम्भवतः इसका द्वीपवासी होना, अर्थात न्यूजीलैंड के एक ओर एक द्वीप पर पड़ा रहना, एक महत्वपूर्ण कारण है । इस पृथक्करण के फलस्वरूप इसके प्रतिस्पर्धी इससे दूर ही रहे और स्फीनोडॉन योग्यतम की उत्तर-जीविता (सरवाइवल आफ द फिटैस्ट) की प्राकृतिक क्रिया से मुक्त हो गया । अब लगभग 50 वर्ष से न्यूजीलैंड सरकार वैधानिक रूप से इनका संरक्षण कर रही है। खोद-खाद करने वाले सूकर इन तक नहीं पहुंच पाते । इस प्रकार प्राणि विकास के उच्चतम शिखर पर आसीन मानव स्वयं हर प्रकार से इनकी रक्षा का प्रयत्न कर रहा है ।

प्राणि–वैज्ञानिकों के लिये जीवित–जीवाश्मों का मूल्य बढ़ता ही जायेगा, क्योंकि ये उन इतिहास–पूर्व प्राणियों के गुणों के बारे में बताते हैं जो भूत के अंधकार में विलीन हो चुके हैं तथा जिनके विषय में हम लोगों का ज्ञान बहुत ही कम है ।



मधुमक्खी के विष द्वारा एक्स-किरणों से रक्षा

एक्स-किरण जन्य दुष्प्रभावों से संरक्षण पाने में मधु-मक्खियों का विष काफी उपयोगी सिद्ध होता है । इस विष का मुख्य रचक एक पॉली पेपटाइड होता है जिसका नाम मेलिटिन (Melittin) है। यह पेपटाइड रुधिर की लाल कणिकाओं और हृदय को प्रभावित करता है ।

इस सिलसिले में चूहों पर प्रयोग किये गए । यह चूहे तीन प्रकार के थे । कुछ में मेलिटिन इंजेक्ट किया गया था और कुछ में मधुमक्खी का शुद्ध विष । बाकी के चूहे तुलना के लिये नियंत्रित रूप में (कंट्रोल्स) रखे गये थे । इन को एक्स-विकिरणों की 850 रैड मात्रा दिए जाने से 24 घंटे पूर्व मेलिटिन अथवा मधुमक्खी के शुद्ध विष के इंजेक्शन दिये गए थे । प्रयोगों के दौरान पाया गया कि जिन चूहों को मेलिटिन दिया गया था वे सभी जीवित रहे । इसकी तुलना में शुद्ध मधु-मक्खी विष से उपचार किये जाने वाले चूहों में से 33-100 प्रतिशत जीवित बचे; 'कंट्रोल' चूहों में बचनेवालों की प्रतिशतता 40-50 थी। विशेष बात यह थी कि मेलिटिन की यह मात्रा उस अधिकतम मात्रा से काफी कम थी जिसे कि वे बर्दाश्त कर पाते हैं ।

विनिमय आयन सेलूलोज से रुधिर भंडारन

जब किसी दाता से रक्त लेकर भंडारित किया जाता है तो उसमें कई रासायनिक पदार्थ मिला दिए जाते हैं ताकि उसका आतंचन न हो जाय। लेकिन ऐसा करने से तब परेशानी अनुभव होती है जब कि ऐसे रक्त का उपयोग शीघ्र ही और बड़ी मात्रा में करना हो । उस समय भंडारित रक्त में मौजूद रासायनिक पदार्थों के कारण हृद्वाहिका और श्वसन तंत्रों तथा यकृत (जिगर) और वृक्कों को हानि पहुंच सकती है ।

अतः उच्च कोटि के रक्त के भंडारन की कोई अच्छी विधि विकसित करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान कार्य किया जाता रहा है । इसी सिलसिले में रूस के बायलो-रशिया प्रदेश के डाक्टरों और रसायनज्ञों ने एक ऐसी विधि विकसित कर ली है जिसमें रक्त में परिरक्षक पदार्थ मिलाए बिना ही बढ़िया रक्त को दीर्घ काल तक भंडारित किया जा सकता है। इस विधि में विनिमय आयन (आयन-एक्सचेंज) सेलूलोज का उपयोग होता है जो कि रक्त में मौजूद कैल्सियम व अन्य आतंचक (कोऐग्यूलेटिंग) पदार्थों को निकाल देता है । इस विधि में भंडारन का काल वही रहता है जो कि अब तक की प्रचलित विधियों में होता है; रक्त की श्वेत और लोहित कोशिकाओं की जीवन-क्षमता (वाएबिलिटी) भी बनी रहती है और रक्त में प्रोटीन की मात्रा भी लगभग अपरिवर्तित रहती है। कैल्सियम निकाल देने से रक्त में एक अन्य वांछित गुण आ जाता है । वह यह कि तब मनुष्य के हृदय पर बिना अतिरिक्त बोझ डाले तीव्र गति से उसके शरीर में रक्त का आधान किया जा सकता है । यहां तक कि रुधिराधान की यह दर आधे घंटे में 1.5 लिटर भी रखी जा सकती है । जब किसी मनुष्य में दुर्घटना आदि के कारण रक्त का बहुत अधिक अभाव हो गया हो, उस समय इस मात्रा में रुधिराधान करने का महत्व सहज ही समझा जा सकता है ।

इस नई विधि का रूस के विभिन्न नगरों में सफल परीक्षण किया जा चुका है ।

वर्ष के अंत तक 479 परमाणु रिएक्टर

हाल ही में इन्टरनेशनल एटामिक एनर्जी एजेन्सी ने अपने सदस्य देशों में विद्यमान परमाणु रिएक्टरों के सर्वेक्षण के परिणाम प्रकाशित किये हैं । इसके अनुसार 1969 के अन्त तक इन सदस्य देशों में 479 रिएक्टर काम करने लगेंगे । इनमें से 105 रिएक्टर जोकि 15 देशों में स्थित हैं, 20,000 मेगावाट विद्युत उत्पादित करते हैं । (एक मेगावाट दस लाख वाट के बराबर होता है ।) बाकी के 374 रिएक्टर अनुसंधान, परीक्षण और प्रशिक्षण के लिये हैं और 48 देशों में स्थित हैं ।

इसी वर्ष जिन विद्युतोत्पादक रिएक्टरों ने काम करना प्रारम्भ किया है, उनमें एक तो मेलेकस (रूस) स्थित प्रयोगात्मक तेज गति वाला ब्रीडर रिएक्टर है जोकि 12 मेगा-वाट विद्युत का उत्पादन करेगा । ब्रीडर रिएक्टर उसे कहते हैं जोकि जितने ईंधन का व्यय करता है उससे अधिक स्वयं ही उत्पन्न भी करता है । दूसरा तारापुर (भारत) में लगाया गया खौलते पानी वाले रिएक्टरों का एक जोड़ा है । इनमें से प्रत्येक की क्षमता 190 मेगावाट की है ।

इस समय निर्माणाधीन प्राजेक्टों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि 1975 तक 21 देशों में 283 विद्युत-उत्पादक रिएक्टर काम करने लगेंगे जोकि लगभग 1 30,000 मेगा-वाट विद्युत उत्पन्न करेंगे ।

अग्निसह पौधों की तलाश

इन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसे पौधों की तलाश जोरों से जारी है जो जल्दी नहीं जलते । कैलिफोर्निया राज्य के शुष्क

क्षेत्रों में आए दिन आगें लगती रहती हैं जिनसे जन, धन, सम्पत्ति व साधनों की अपार क्षति होती है । अत : इस समस्या का समाधान ढूंढने के लिये प्लेजंटन (कैलिफोर्निया) स्थित सॉइल कंजर्वेशन सर्विस के पादप-पदार्थों के परीक्षण केन्द्र में तथा इस प्रकार के अन्य केन्द्रों में प्रयोग किये जा रहे हैं । इन केन्द्रों में अब तक विश्व भर से मंगाए गए 200 से अधिक स्पीशिज पर परीक्षण किये जा चुके हैं । यहां उनकी दहनशीलता आदि की जांच की गई है । प्रयत्न ऐसे पौधों को विकसित करने का किया जा रहा है जो कि जल-विभाजक रेखाओं के समीपवर्ती जले हुए क्षेत्रों की भूमि पर उग कर उसकी खोई हुई खूबसूरती को लौटा लाएंगे अथवा जो ईंधनी-तेल की लाइन के आस-पास बो दिये जाएंगे ताकि रिसता तेल उनमें समा जाए और आग लगने का अंदेशा भी कम रहे अथवा जो शहरी आबादी के चारों ओर रोपित कर दिये जाएंगे ताकि आबादी को आग का खतरा न रहे। इसी प्रकार इनसे वन्य पशुओं के शरण स्थलों की दशा को सुधारा जा सकेगा ।

संतान-निरोधी गोलियों से उच्च रक्तचाप

संतान-निरोध के लिये मौखिक औषधियां खाने वाली औरतें उच्च रक्तचाप से पीड़ित हो सकती हैं––यह स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी मेडिकल सेन्टर में किए गए अनुसंधान के परिणामों से ज्ञात होता है । उच्च रक्तचाप से पीड़ित 100 रोगियों की जांच करने पर यह पता चला कि इनमें से 14 औरतें संतान निरोधी गोलियां खाती थीं और उन सभी को उच्च रक्तचाप की शिकायत गोली खाना शुरू करने के पश्चात हुई थी । जब उन्होंने मौखिक औषधियों का सेवन तीन महीने के लिये बन्द कर दिया तो सभी 14 औरतों की दशा सुधरने लगी । इससे सात रुग्णाओं का रक्तचाप सामान्य हो गया, चार को रक्त-चाप सुधारने के लिये औषधि लेने की जरूरत नहीं रही और तीन को पहले की अपेक्षा काफी कम औषधियों की जरूरत महसूस होने लगी ।

वाइरस अभिरंजन की उन्नत विधि

इन्फ्लूएन्जा, न्युमोनिया, आमवात (रूमेटिज्म) व अर्बुद (ट्यूमर) उत्पन्न करने वाले वाइरसों का अध्ययन करने वालों को जो दिक्कतें दरपेश आती हैं उनमें से एक तो यह है कि इन वायरसों का आकार अत्यन्त सूक्ष्म होता है और दूसरी यह कि कोशिका में प्रवेश करने के उपरांत ये वायरस अपने को इस प्रकार छिपा लेते हैं कि शक्तिशाली इलैक्ट्रान माइक्रोस्कोप के नीचे रखकर भी कोशिका द्रव्य से इनका भेद करना कठिन हो जाता है। अतः अनुसंधान करने वाले पहले किसी रंजक पदार्थ से इन वायरसों को रंग लेते हैं ताकि माइक्रोस्कोप के नीचे कोशिका में कार्यरत वायरसों की गतिविधि आदि का अध्ययन किया जा सके ।

अब रूस में कीव स्थित सूक्ष्म-जीव विज्ञान व वायरस विज्ञान संस्थान के दो वैज्ञानिकों ने वायरस अभिरंजन की एक उन्नत विधि खोज निकाली है । इस विधि में कोशिकाओं में ऐसे सीरम मिला दिए जाते हैं जो प्रोटीन फेरिटिन से युक्त होते हैं। ऐसा करने पर माइक्रोस्कोप के नीचे उपरोक्त वाइरस समूह गहरे धब्बों के रूप में कार्य करते हुए देखे जा सकते हैं ।

तंत्रिकार्त्ति का इलाज शल्य-चिकित्सा से

न्यूरैल्जिया अर्थात तंत्रिकार्त्ति में शरीर की किसी भी तंत्रिका में बड़ी मार्मिक पीड़ा का अनुभव हुआ करता है परन्तु 'न्यूरैल्जिया' शब्द का प्रयोग आमतौर पर आनन की तंत्रिका-आर्त्ति के लिए किया जाता है । इसे हिन्दी में त्रिधारा तंत्रिकार्त्ति भी कहते हैं और अंगरेजी में ट्राइजेमिनल न्यूरैल्जिया अथवा टिक डोलोरर भी कहा जाता है । आनन-तंत्रिका की यह आर्त्ति कई बार दांत की पीड़ा के कारण भी होती है । इससे आनन की पीड़ा के साथ-साथ कई बार सख्त किस्म का सिरदर्द भी हो जाता है । दांत की खराबी के कारण हुई तंत्रिकार्त्ति में दांत की चिकित्सा करवाने से यद्यपि आराम आ जाता है, अन्यथा आनन तंत्रिकार्त्ति का सदा के लिए निवारण बहुत कठिन है । हालांकि इसके उपचार के लिए शस्त्रकर्म युक्त और शस्त्रकर्म रहित दोनों प्रकार की विधियां प्रचलित हैं । किन्तु हाल ही में रूस के एक तंत्रिका शल्यचिकित्सक (न्यूरो-सर्जन) डा. लेव लिवशिट्स व उनके सहयोगियों ने इसके उपचार के लिए एक प्रभावी विधि विकसित की है। डा. लेव ने कई वर्ष पूर्व इस विधि का परीक्षण करना प्रारंभ किया था। इस विधि में त्रिधारा तंत्रिकार्त्ति का उपचार ऊष्ण आसुत जल (डिस्टिल्ड वाटर) से किया जाता है ।

इस विधि में रोगी को पहले एनेस्थेसिया दिया जाता है और फिर उसके गाल में से तंत्रिका मूल तक एक लम्बी सुई का प्रवेश कराया जाता है। तब पिचकारी से तंत्रिका मूल के तन्तुओं में अनेक मिलीलिटर उबलता पानी पहुंचाया जाता है । आसुत जल रासायनिक दृष्टि से अक्रिय होता है अतः इसका निकटवर्त्ती मस्तिष्क ऊतकों, तंत्रिकाओं और रक्त वाहिनियों पर हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता । पानी की गर्मी से पीड़ा का आधार-स्थल तंत्रिका मूल नष्ट हो जाता है ।

इस आपरेशन में सफलता तभी मिल सकती है जब कि सुई अपने उद्दिष्ट स्थल पर बिल्कुल सही पहुंच जाय और इस बात का निश्चय करने के लिए कई बार एक्स-किरण चित्र लिए जाते हैं अथवा इलेक्ट्रो-फिजियोलाजिकल वेरिफायर नामक एक उपकरण इस्तेमाल किया जाता है जोकि विशेष रूप से इसी आपरेशन के लिए तैयार किया गया है।

इस विधि की एक विशेषता यह है कि इसे कार्यान्वित करने के दौरान रोगी को बिल्कुल पीड़ा नहीं होती। यह विधि इतनी सफल रही है कि अब रूस के अनेक नगरों में इसका उपयोग किया जा रहा है ।

•



● प्लूटो अन्य सभी ग्रहों से भिन्न क्या और कैसे है ?

प्लूटो ग्रह की एक विशेषता यह है कि यह सभी ग्रहों की तुलना में सूर्य से सर्वाधिक दूर है। (इसकी औसत दूरी 3 अरब 60 करोड़ मील है।) प्लूटो में अन्य प्रमुख ग्रहों की अपेक्षा कुछ और असाधारण विशेषताएं भी हैं जिनके कारण खगोलशास्त्री इसके अध्ययन में विशेष रुचि लेते रहे हैं। इन विशेषताओं की यहां हम संक्षेप में चर्चा करते हैं।

अन्य सभी मुख्य ग्रहों की अपेक्षा प्लूटो की कक्षा सर्वाधिक दीर्घ-वृत्ताकार है। किसी पूर्ण वृत्त की उत्केन्द्रता (एक्सेंट्रिसिटी) शून्य होती है और धरती की कक्षा की उत्केंद्रता केवल 0.017 है। किन्तु प्लूटो की कक्षा की उत्केंद्रता 0.25 है। कभी-कभी तो यह सूर्य के बहुत निकट पहुंच जाता है और उस समय सूर्य से इसकी दूरी 2 अरब 70 करोड़ मील रह जाती है। वास्तव में जिस समय यह सूर्य के निकटतम होता है, उस समय यह नेप्टचून की तुलना में सूर्य के अधिक निकट होता है और इस प्रकार यह कुछ समय के लिए सूर्य से दूरतम होने की अपनी विशेषता खो बैठता है। इस समय यह नेप्टचून की तुलना में सूर्य के निकट होता जा रहा है लगभग 39 साल तक सूर्य के निकट बना रहेगा।

प्लूटो की एक विशेषता यह भी है कि अन्य बड़े ग्रहों की अपेक्षा इसकी कक्षा सर्वाधिक तिरछी है। यदि सूर्य की एक ही ओर सभी ग्रहों को अपनी-अपनी कक्षा में पंक्तिबद्ध कर दिया जाए तो वे सब एक-के-पीछे-एक स्थित होंगे -- अकेला प्लूटो इसका अपवाद होगा। प्लूटो की कक्षा धरती की कक्षा से 17° तिरछी है और यह अन्य ग्रहों की सामान्य स्थिति से बहुत ऊंचा अथवा बहुत नीचा रह सकता है। (यही कारण है कि नेप्ट्यून की कक्षा को काट कर निकलने पर भी यह उससे टकरा नहीं पायेगा। यह उससे कहीं ऊपर होकर निकल जायगा।)

तीसरी विशेषता : प्लूटो को छोड़ बाकी के आठ ग्रहों को दो वर्गों में रखा जा सकता है; प्रथम, जिसमें कि सूर्य के निकटवर्ती चार ग्रह हैं : बुध (मर्करी), शुक्र (वीनस), पृथ्वी और मंगल (मार्स)। ये सभी छोटे और घने हैं और उनका वायुमंडल थोड़ी दूर तक ही पाया जाता है। दूसरे वर्ग में चार अन्य ग्रह रखे जा सकते हैं। ये हैं बृहस्पति (जुपिटर), शनि (सैटर्न), यूरेनस और नेप्ट्यून। ये विशाल ग्रह हैं, जिनकी सघनता अल्प है और वायुमंडल बहुत विस्तृत।

यदि हम बुध (मर्करी) और शुक्र (वीनस) को छोड़ दें (जोकि सूर्य के इतना निकट हैं कि गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से इनकी गति मंद हो गई है) तो हम कह सकते हैं कि सभी ग्रह अपनी धुरी पर तेजी से घूमते हैं। इनके घूमने (रोटेशन) का काल 10 से 25 घंटे का होता है। लेकिन प्लूटो के निज धुरी पर घूमने का काल 153 घंटे--अर्थात लगभग 7 दिन के बराबर है।

प्रश्न होता है कि प्लूटो में इस प्रकार की अति क्यों पाई जाती है। प्लूटो के बाकी ग्रहों से भिन्न होने का कोई कारण है क्या?

प्लूटो में इस प्रकार की विशेषताएं पाए जाने के सम्बंध में एक रुचिकर सुझाव प्रस्तुत किया गया है। मान लीजिये कि प्रारंभ में प्लूटो ग्रह न होकर, नेप्ट्यून का एक उपग्रह है और किसी अंतरिक्ष दुर्घटना अर्थात किसी प्रस्फोट के कारण यह अपनी उपग्रहीय कक्षा से निकल गया और अपनी स्वयं की ग्रहीय कक्षा में पहुंच गया।

यदि ऐसा हुआ होगा तब तो उस प्रस्फोट की प्रकृति के कारण (यदि वास्तव में यह अंतरिक्ष दुर्घटना कोई प्रस्फोट रही हो, तो) यह एक तिरछी कक्षा में फेंक दिया गया। यह कक्षा ऐसी है जोकि प्लूटो को वापस नेप्ट्यून की ओर ले आती है जहां से कि इसका प्रारंभ हुआ था।

उपग्रह होने की दशा में यह छोटा और संभवतया घना होता, न कि अन्य असली बाह्य ग्रहों की भांति गैस निर्मित वृहदाकार पिंड। और तब यह अपनी धुरी पर उतने ही समय में चक्कर पूरा करता जितने समय में कि यह नेप्ट्यून के गिर्द घूमता है। यह सब नेप्ट्यून के गुरुत्वाकर्षण के कारण हुआ है। सामान्यतया सभी उपग्रहों में ऐसा ही होता है, चंद्रमा के बारे में भी ऐसा ही होता है। उस दशा में प्लूटो का अपनी ही धुरी पर घूमने का काल आसानी से एक सप्ताह होता (हमारे चंद्र का अपनी ही धुरी पर घूमने का काल चार सप्ताह है।) यह स्वाभाविक है कि जब यह नेप्ट्यून से दूर फिंक गया तब इसके अपनी ही धुरी पर घूमने के काल में परिवर्तन नहीं आएगा और अन्ततः इसका घूमने का काल ऐसा होगा जो किसी ग्रह के लिये विचित्र जान पड़ेगा।

लेकिन हम जो मान कर चले हैं, वह मात्र कल्पना है। इस बात का अभी कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है कि प्लूटो कभी नेप्ट्यून का उपग्रह रहा होगा। और यदि रहा भी होगा तो भी हम कह नहीं सकते कि किस प्रकार की अंतरिक्ष दुर्घटना के कारण यह उससे अलग हो गया।

लाल ग्रह--मंगल

आशिष सिन्हा

अभी चन्द्र विजय की उत्तेजना घटी भी नहीं कि महाकाश वैज्ञानिकों की निगाहें धरती से करोड़ों मील दूर मंगल ग्रह की ओर उठ गई। अब चांद के बाद मंगल की बारी है।

धरती से लगभग साढ़े तीन करोड़ मील दूर इस लाल रंग के ग्रह ने सदियों से मनुष्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। इस ग्रह पर जीवन की उपस्थिति का पता लगाने के लिए आज तक न जाने कितने प्रयास किए गए और कितनी कहानियां गढ़ी गई। इतालवी वैज्ञानिक श्पलारेली से लेकर अमरीकी वैज्ञानिक लावेल तक ने इस ग्रह पर जीवन की उपस्थिति को प्रमाण करने के लिए अनेक किस्से गढ़े। मसलन, मंगल ग्रह के उतरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक समान रूप से 'बिछी' नहरें, नहरों के दोनों ओर लहलहाते खेत, नहरों पर तैरती नौकाएं, ऊंची-ऊंची इमारतों वाले अलबेले शहर और शहरों में बसने वाले पूर्ण विकसित तथा सभ्य प्राणी। परंतु आज ज्यों-ज्यों मंगल ग्रह के विषय में हमारी जानकारी अधिक होती जा रही है, पुरानी मान्यताएं, पुरानी धारणाएं तेजी से बदलती जा रही हैं।

मेरिनर-4

मंगल पर जीवन की उपस्थिति का पता लगाने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किए गए। लगभग चार वर्ष पूर्व अमरीका ने एक अंतरिक्षयान, मेरिनर-4 छोड़ा, जो मंगल से 6200 मील की दूरी पर गुजरा। मंगल के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ। मेरिनर-4 ने 228 दिनों में साढ़े तीन करोड़ मील की यात्रा तय की और पृथ्वी पर मंगल के लगभग 20 चित्र भेजे। मेरिनर-4 के चित्रों ने दर्शाया कि मंगल की धरती पर असंख्य बिवर मौजूद हैं। भिन्न-भिन्न आयुवाले इन विवरों का व्यास 75 मील तक पाया गया। मंगल की एक प्रतिशत धरती पर 70 विवर पाए गए। इससे यह अनुमाना गया कि मंगल की धरती देखने में लगभग चांद की धरती की तरह ही होगी क्योंकि चांद में भी पर्याप्त परिमाण में विवर मौजूद हैं।

मंगल पर इतनी बड़ी मात्रा में विवरों के लिए मंगल के 'पड़ोसी' जिम्मेदार हैं। मंगल और बृहस्पति के बीच के क्षेत्र में लगभग 50,000 छुद्र ग्रह (एस्टरायड) हैं जो सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। ये चक्कर लगाते हुए कभी-कभी बहक कर मंगल से टकराते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वहां विवरों का निर्माण होता है। यह अनुमान किया गया है कि अतीत में कभी नियमित रूप से ये क्षुद्र ग्रह मंगल से टकराते थे।

मेरिनर से लिए गए चित्रों से मंगल ग्रह पर वनस्पति या जीवन का कोई चिन्ह या संकेत नहीं मिला। मेरिनर-4 ने यह प्रमाणित कर दिया कि इस ग्रह पर मौजूद वायुमंडल किसी भी तरह के जीवन के अनुकूल नहीं। साथ ही मेरिनर-4 ने यह भी प्रमाणित किया कि इस ग्रह पर चुम्बकीय क्षेत्र नहीं है।

मेरिनर-4 की उड़ान के बाद भी मंगल पर जीवन की खोज करने वाले वैज्ञानिक निराश नहीं हुए। कोलोरेडो स्टेट यूनिवर्सिटी के वनस्पतिशास्त्री अध्यापक फ्रैंक बी. सेलिसबरी ने कुछ वर्ष पूर्व अपने प्रयोगों द्वारा यह दर्शाया कि काफी ऊंचाई से निरीक्षण करने पर पृथ्वी पर भी जीवन की उपस्थिति का पता नहीं चलता। उन्होंने 10,000 फुट की ऊंचाई पर उड़ते हुए एक वायुयान से पृथ्वी के अनेक रंगीन चित्र खींचे। इन चित्रों से भी पृथ्वी पर जीवन का आभास नहीं मिलता। अध्यापक सेलिसबरी ने यह दलील दी कि मेरिनर-4 द्वारा खींचे गए मंगल के केवल 20 चित्र मंगल पर जीवन का संकेत कैसे दे पाते और विशेषकर जब कि दूरी अपेक्षाकृत बहुत अधिक हो।

मेरिनर 6 और 7

मंगल पर जीवन अनुसंधान के सिलसिले में अब तक किए गए कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य चन्द ही दिन पहले हुआ, जब अमरीकी

अंतरिक्षयान मेरिनर-6 और 7 ने मंगल ग्रह के सिर्फ 2,000 मील ऊपर से उड़ानें भरी। इन दोनों अंतरिक्ष यानों ने एक बार फिर प्रमाणित किया कि साधारणतया 'जीवन' शब्द के संबध में हमारी जैसी धारण है, वैसी कोई चीज मंगल पर नहीं है। वहां न तो मनुष्य है और न उससे उन्नत कोई और जीव। वहां वनस्पति हीन, नदी, पर्वत, नहर, नगर, समुद्रहीन मंगल ग्रह के सीने पर सैकड़ों-हजारों विवर के सिवा और कुछ नहीं है। पृथ्वी पर जीवन की जो परिभाषा है उसके अनुसार नाट्रोजन मनुष्य के लिए एक मौलिक उपादान है। परन्तु मंगल के वायुमंडल में नाइट्रोजन मौजूद नहीं है।

पृथ्वी से टेलिस्कोप द्वारा देखने पर मंगल के चारों ओर नीलाभ मेघ की झलक देखने को मिलती है पर मेरिनर–6 ने संकेत दिया है कि इस तरह की कोई चीज वहां मौजूद नहीं है। मंगल पर नहर का वहम पैदा करने वाली रेखायें वास्तव में मंगल पृष्ठ पर पडने वाली रंगीन छायाएं हैं।

मेरिनर–6 द्वारा भेजे गए चित्रों के अध्ययन के बाद अमरीकी वैज्ञानिक डा. राबर्ट लोटन का कहना है 'मंगल की सतह पर विशाल विवरों को देखने पर पता चलता है कि अतीत में मंगल, पृथ्वी की तरह पानी से ढका नहीं था। अतः वहां जीवन की कोई सम्भावना नहीं है।'

मेरिनर–7 ने मंगल के दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश के उपर से उड़ाने भरीं। इस यान ने मंगल के दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश के बर्फ से ढंकी विवर के कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण चित्र भेजे। इन चित्रों से ध्रुवीय प्रदेश की गोलाई, उसके इधरउधर बिखरे बर्फ के टुकड़े और ध्रुवीय प्रदेश के पास फैले गहरे नारंगी रंग के रेगिस्तान साफ झलकते हैं।

मंगल के ध्रुव प्रदेश क्या वास्तव में बर्फ से ढके हैं? क्या ये जमी हुए कार्बन डायआक्साइड गैस नहीं हैं? कुछ वैज्ञानिकों का ख्याल है कि इस ग्रह के ध्रुवीय प्रदेश में बर्फ नहीं है। वह जमी हुई कार्बन डायआक्साइड गैस है। ऐसा होने से वहां जीवन की सम्भावना प्रायः निश्चित रूप से घट जाती है।

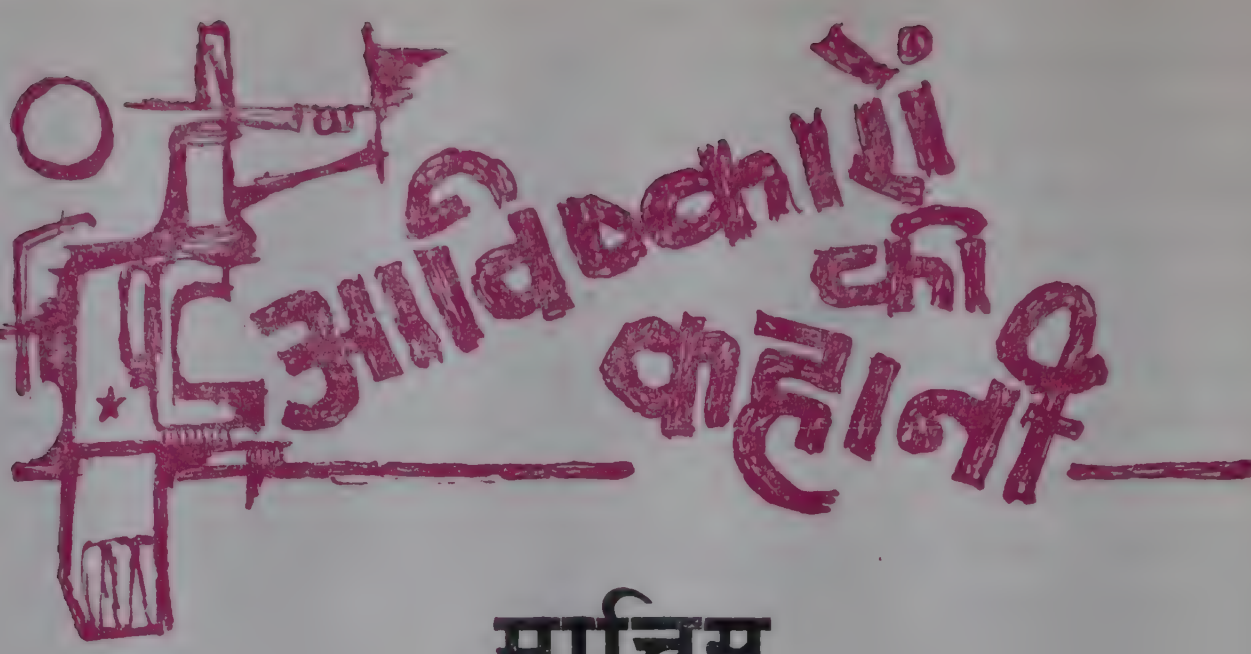
जेट प्रोपेलशन प्रयोगशाला के अध्यक्ष अध्यापक जार्ज पिमेलटन ने कहा कि मेरिनर –7 ने यह संकेत दिया है कि मंगल ग्रह के दक्षिणी-ध्रुवीय प्रदेश में मीथेन और अमोनिया मौजूद हैं। मंगल पर मीथेन का पता चलना अपने आप में एक नई बात है। समझा जाता है कि पृथ्वी पर जीवन के विकास के मूल में यही गैस थी। अतः अध्यापक जार्ज पिमेलटन के मुताबिक वहां जीवन की संभावना को नकारा नहीं जा सकता चाहे वह बहुत ही सूक्ष्म जीव के रूप में क्यों न हो।

दूर से लिए गए मंगल के चित्रों से इसके दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश में नीले रंग का एक क्षेत्र नजर आता है। अगर यह नीला क्षेत्र जल वाष्प हो तो वहां जीवन का अस्तित्व, चाहे वह किसी भी रूप में हो पाने की सम्भावना वैज्ञानिक रखते हैं यद्यपि मेरिनर–6 ने स्पष्ट संकेत दिया है मंगल ग्रह पर नाइट्रोजन का अभाव है। नाइट्रोजन जीवन के लिए एक अनिवार्य अवयव है।

मंगल पर जीवन की उपस्थिति के विषय में विचार करते हुए जीवन विज्ञान के गवेषकों ने एक बहुत ही मौलिक प्रश्न हमारे सामने रक्खा है। पृथ्वी पर जीवन शब्द की जो परिभाषा है क्या वही अंतिम परिभाषा है? क्या सिर्फ एक ही प्रकार का जीवन सम्भव है? जिन परिस्थितियों में इस पृथ्वी पर जीवन का अविर्भाव हुआ है, जिन रासायनिक विधियों से गुजर कर पृथ्वी पर जीवन पनपा है, क्या वे ही एकमात्र विधि हैं? अन्य रासायनिक भौतिक अवस्था में कहीं और जीवन नहीं पनप सकता? उदाहरण के तौर पर उनका कहना है कि पृथ्वी पर बहुत से ऐसे सूक्ष्म जीव (माईक्रो आरगनिज्म) हैं जो अस्वाभाविक परिस्थितियों अर्थात् निम्नतम ताप पर भी जीवित रहते हैं। कुछ कीड़ों को कभी भी ठंड का आभास नहीं होता क्योंकि वे ग्लिसराल का इस्तेमाल करते हैं जिसे 'एन्टीफ्रीज' कहा गया है। हो सकता है मंगल पर भी इसी तरह के कुछ सूक्ष्म जीव हो जो वहां अत्यधिक ठंड में भी किसी एन्टीफ्रीज के सहारे जीवत रह सकें। ऐसा भी तो हो सकता है कि मंगल पर हजारों करोड़ों वर्ष पहले जीवन पनपा हो और अभी भी उस प्रथम जीव का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई सूक्ष्म जीवन वहां मिल जाए। वास्तव में मंगल पर अगर चन्द सूक्ष्म जीव मिल जाए तो जीव विज्ञान के क्षेत्र में क्रांति आ सकती है।

मंगल के चारों ओर घूमने वाली दो बहुत ही छोटे-छोटे उपग्रह 'डीमोस,' और 'फोबोस' के विषय में रूसी खगोलज्ञ आयोसिफ शुक्लोभोस्की का कहना है कि ये दो उपग्रह वास्तव में मंगल निवासियों द्वारा बनाए गए नकली उपग्रह है। वे कहते हैं, हजारों करोड़ों वर्ष पहले पूर्ण विकसित मंगल निवासियों को जब पता चला कि शीघ्र ही उनका विनाश होने वाला है तो वे अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक ये दो उपग्रह छोड़े जो वास्तव में संग्रहालय हैं। ऐसा उन लोगों ने इसलिए किया ताकि भविष्य में मंगल पर या किसी अन्य ग्रह पर पनपने वाली सभ्यता मंगल के स्वर्णिम इतिहास को जान सके। उनके अनुमान की सच्चाई का पता तभी लगा सकता है कि जब 'डीमोस' और 'फोबोस' के विषय में हम निश्चित जानकारी प्राप्त कर सकें।

बहरहाल, मंगल ग्रह पर अनुसंधान कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है, वहां जीवन की उपस्थिति के आसार कम नजर आ रहे हैं। इस ग्रह ने सदियों से खगोल वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इस ग्रह के संबंध में न जाने कितनी कहानियां गढ़ी गई। वहां जीवन की उपस्थिति के प्रश्न पर न जाने कितने कल्पनायें की गई। इस ग्रह के संबंध में पुरानी धारणाएं, पुरानी मान्यताएं आज तेजी से बदल रही हैं। फिर भी इसके संबंध में हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं है। अभी भी कुछ प्रश्न निरन्तर रहे हैं। अभी भी कुछ जानना बाकी है। हो सकता है एक दिन चांद ही की तरह कोई समानव अंतरिक्ष यान मंगल की धरती पर उतरेगा और मंगल के सीने में छुपे हर राज से हम वाकिफ होंगे। हो सकता है तब हम निश्चित रूप से जान पाएंगे, मंगल पर जीवन है या नहीं। अतीत में वहां कोई सभ्यता पनपी थी या नहीं। इसका उत्तर सम्भवतः 'नहीं' होगा। क्या वैज्ञानिक निराश होंगे? शायद हों, शायद नहीं।



माचिस

हरिकृष्ण देवसरे

सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक माचिस की कितनी बार जरूरत पड़ती है, यह सभी जानते हैं। माचिस की एक छोटी-सी तीली कितनी भयानक आग उगल सकती है, यह भी किसी से छिपा नहीं है। वैसे इसे दियासलाई भी कहते हैं।

जरा सोचो उस जमाने की बात जब माचिस नहीं थी तो लोग बांस की तीलियों तथा पत्थर से पत्थर को रगड़ कर आग पैदा करते थे। फिर धीरे-धीरे और भी कई तरीके निकले। परन्तु माचिस की खोज सन् 1820 के आस-पास हुई। इससे पहले सन् 1805 में ज्यां चांसेल ने यह पता लगाया कि यदि एक लकड़ी की तीली पर शक्कर और पोटैशियम क्लोरेट को गोंद के साथ लगा कर गंधक के तेजाब में डाला जाए तो वह जल उठती है। किन्तु रगड़ कर माचिस जलाने की ईजाद जान वाकर नाम के एक रसायनशास्त्री ने की। वाकर की एक छोटी-सी प्रयोगशाला थी जिसमें वह काम करता था।

एक घटना

एक दिन वह कुछ ऐसे पदार्थों का घोल तैयार कर रहा था जो आग जल्दी पकड़ते थे। उन पदार्थों के घोल को गाढ़ा करने के लिए उसने लकड़ी का एक टुकड़ा उठाया और चलाता रहा। जब घोल गाढ़ा हो गया तो वाकर ने उस लकड़ी के टुकड़े को घोल में से निकाल कर फेंक दिया। उस लकड़ी पर भी थोड़ा गाढ़ा घोल चिपटा रह गया था। पर वाकर ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। और वह फिर अपने काम में लग गया। जब काम पूरा हो गया तो कमरा ठीक करते समय वही लकड़ी का टुकड़ा उसके हाथ फिर लगा। अब तक उस में लगा "मसाला" सूख चुका था। उसने उसे उठा कर दूसरी तरफ फेंक दिया। पर, लकड़ी के उस टुकड़े के पत्थर पर गिरते ही एक विचित्र घटना घटी, जोर की चिट-चिट की आवाज हुई, धुंए का एक गुबार उठा और लकड़ी जलने लगी।

पहली माचिस

वाकर ने जो कुछ देखा वह बहुत आश्चर्यजनक था। उसने तुरन्त समझ लिया कि यह उस घोल के सूखने तथा पत्थर पर रगड़ने का परिणाम है।

इस तरह सबसे पहली 'रगड़ से जलने वाली' माचिस का जन्म हुआ। इसके बाद तो उसने लकड़ी के ढेरों टुकड़े उस घोल में डुबाए, सुखाए और रगड़ से जला-जला कर देखे। उसने रेगमाल कागज (सैंड पेपर) के टुकड़े पर उस तीली को रगड़ा तो वह तुरन्त जल उठी।

व्यापारिक उपयोग

बस फिर क्या था। वाकर व्यापारी तो था ही। उसने दो आदमी इस काम के लिए नौकर रखे। एक माचिस की तीलियां तैयार करता और दूसरा डिब्बियों में उन तीलियों को भरता। अगस्त 1887 में वाकर ने जनता के उपयोग के लिए माचिस बेचना आरम्भ कर दिया। हर डिब्बी में पचास तीलियां होती थीं तथा साथ में रेगमाल कागज का एक टुकड़ा मिलता था।

वाकर के ही समय में एक अन्य आविष्कारक भी माचिस बनाने के काम में लगा हुआ था। उसका नाम आइजक होल्डन था। वह ग्लासगो का रहने वाला था। वह एक स्थानीय स्कूल में अध्यापक था और हर रोज सुबह चार बजे उठ कर पुस्तकों का अध्ययन किया करता था। उन दिनों दीपक जलाने के लिये वही पुराना तरीका था एक लोहे के टुकड़े को पत्थर पर घिसते तथा चिंगारी को एक कपड़े पर लेकर जलाते। इस कार्य से होल्डन को बहुत

झुंझलाहट होती।

वह रसायन शास्त्र का अध्यापक था और इसलिए उसने इस परेशानी से मुक्ति का उपाय खोजने का निश्चय किया। अनेक प्रयोग आदि करने के बाद उसने पाया कि अगर गंधक में कुछ अन्य रसायन मिलाकर लकड़ी पर लगाए जाएं तो वह न केवल उसमें चिपक जाएगा बल्कि रगड़ने पर लकड़ी धीरे-धीरे आग भी पकड़ेगी। उसने अपना प्रयोग किया। जैसे ही लकड़ी जली कि चिट-चिट की आवाज के साथ नीले रंग के धुंए का बादल उठा और लकड़ी ने आग पकड़ ली। होल्डन ने इस प्रयोग से समझ लिया कि उसने समस्या का हल प्राप्त कर लिया है।

'लुसिफर्स' निर्माण

लेकिन होल्डन तो अध्यापक मात्र था, इसलिए उसने अपनी माचिस के आविष्कार को व्यापार का रूप नहीं दिया। एक दिन होल्डन ने स्कूल में अपने शिष्यों को विस्तार के साथ अपने इस आविष्कार के बारे में बताया। उस कक्षा में एक ऐसा बालक था जिसका पिता लन्दन में रसायनों की दुकान करता था। उस बालक ने भाषण के पूरे नोट्स लिए और अपने पिता को भेज दिए। उसने माचिस बनाने का काम आरम्भ किया और उसका नाम रखा 'लुसिफर्स'। यह लैटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है 'प्रकाश'। जब ये माचिसें लन्दन के बाजार में बिकीं तो उसे खूब लाभ हुआ।

दोष

वाकर और होल्डन दोनों की ही माचिसों में खतरा यह था कि जरा से दबाव, रगड़ या पटकने से उनके जलने का भय रहता था। अगर तेज धूप में या आग के पास उन्हें ले जाते तो भी वे जल उठतीं। इसलिए माचिस बनाने वालों के साथ-साथ उनका उपयोग करने वालों के लिए भी सदैव खतरा बना रहता। एक और खराबी इनमें यह थी कि इनमें इस्तेमाल होने वाले पीले गंधक तथा पीले फासफोरस के प्रयोग से लोगों को बीमारी होने लगी थी। इसका उपाय सन् 1855 में एक स्वीडिश रसायनज्ञ लुँडस्टार्म ने ढूंढ़ निकाला। उसने पीले फासफोरस के स्थान पर लाल फासफोरस का उपयोग करने की सलाह दी। परन्तु 1898 तक पीले गंधक और पीले फासफोरस का ही उपयोग होता रहा। अतः इस पर कानूनी रोक लगाई गई। इसके बाद बनने वाली माचिसों में तीलियों में लगने वाले मसाले में लाल फासफोरस का इस्तेमाल किया जाने लगा। इससे माचिस बिलकुल सुरक्षित हो गयी और उसे सेफ्टी मैच कहा गया।

वर्तमान विधि

माचिस की तीलियां बहुत ही नरम लकड़ी की बनाई जाती हैं। लकड़ी के टुकड़ों को पहले एक घोल में डुबाया जाता है जिससे तीलियां टेढ़ी-मेढ़ी न हों तथा रगड़ने पर टूट कर गिरें नहीं। इन लकड़ी के टुकड़ों से मशीन द्वारा चौकोर तीलियां काटी जाती हैं जो कि एक घंटे में लगभग एक लाख तीलियां तैयार करती हैं। तीलियां जब तैयार होती हैं उस समय उन्हें मोम के घोल में भी भिगोया जाता है जिससे वे जल्दी आग पकड़ सकें। इसके बाद इन पर मसाला लगाया जाता है तथा सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। सूखने के बाद ये डिब्बियों में भरी जाती हैं। अब ये सारा काम मशीनों द्वारा होता है। दुनियां के सभी बड़े देशों में माचिसों के बहुत बड़े-बड़े कारखाने हैं।

अब छोटी तथा खिलौनानुमा माचिसें भी बनने लगीं। आजकल इन्हें विज्ञापन का भी एक साधन बना लिया गया है। छोटे से वैज्ञानिक सिद्धान्त पर बनी इन छोटी-सी डिब्बियों का जादू कितने कमाल का है!

अलैक्जैण्डर फॉन हम्बोल्ट

(शेषांश पृष्ठ 455 का)

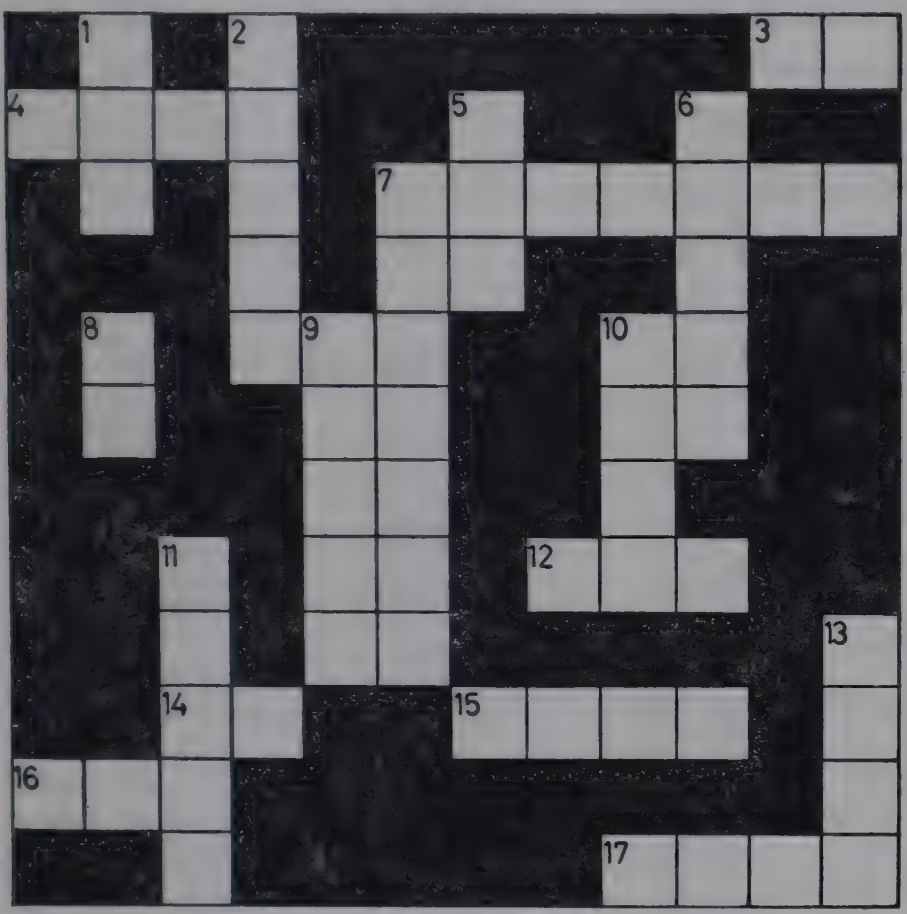
प्रकाशित हुए थे। ये दोनों भाग हम्बोल्ट ने जर्मन और फ्रांसीसी दोनों भाषाओं में लिखे थे। लेकिन तुरन्त ही उन दोनों का संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो गया। अन्तिम भाग हम्बोल्ट ने 89 वर्ष की आयु में पूर्ण किया और उसी वर्ष उसका देहावसान भी हो गया, मानो महाकाल उस अन्तिम भाग के सम्पूर्ण होने की ही प्रतीक्षा कर रहा था। इस अन्तिम भाग में उसने अपने वैज्ञानिक और विचारक के विचारों और प्रेक्षणों का समन्वय किया था। वह एक ऐसा वैज्ञानिक था जिस का मानव-विज्ञान, खगोलशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, भूगर्भशास्त्र, चुम्बकत्व, मौसम विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान और जन्तु विज्ञान को योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

इस महान वैज्ञानिक-विचारक का देहावसान 6 मई, 1859 को हुआ। गेटे ने सत्य ही कहा था, वैज्ञानिक जानकारी में इस व्यक्ति का मुकाबला उस समय कोई कर सकता।

विज्ञान वर्ग पहेली क्रमांक-13

(खगोल वर्ग पहेली)

प्रस्तुतकर्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बायें से दायें

3. सबसे चमकदार ग्रह
4. अठारहवीं शताब्दी के इस राजस्थानी शासक ने दिल्ली एवं जयपुर की सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक वेधशालाओं का निर्माण किया था।
7. सेण्टोरी तारा मंडल का सबसे चमकदार तारा।
12. ई. पू. दूसरी शताब्दी का सुप्रसिद्ध ग्रीक-मिश्री नक्षत्रविद्।
14. इस ग्रह के चारों ओर के वलय आकाश में एक सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करते हैं।
15. परावर्ती टेलिस्कोप का आविष्कारक।
16. सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्री। ब्रह्मांड विकास के 'बिग बैंग सिद्धान्त' प्रतिपादक।
17. क्वासी-स्टैलर रेडियोसोर्स (तारक-सम रेडियो स्त्रोत) का संक्षिप्त नाम।

ऊपर से नीचे

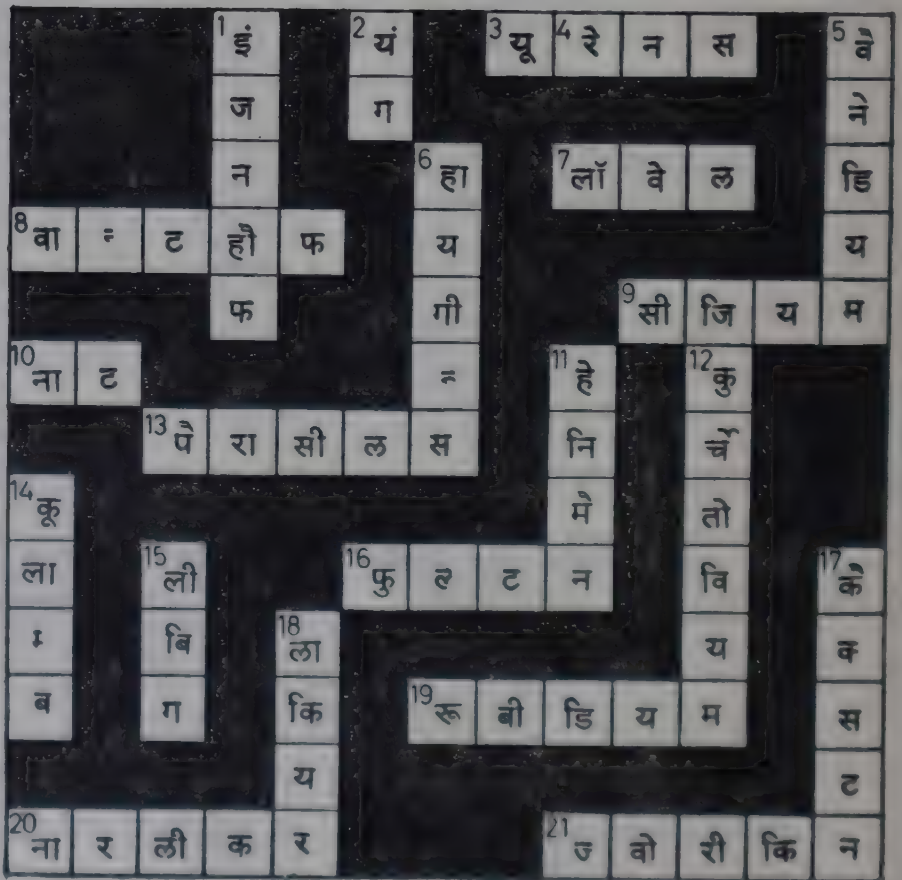
1. सुप्रसिद्ध अंग्रेज खगोलशास्त्री। सन् 1968 के कलिंग पुरस्कार का विजेता।
2. सबसे बड़ा ग्रह।
5. टूट कर गिरते हुए ताराओं जैसी प्रकाश की वह रेखाएं जो सहसा रात्रि को आकाश में दिखाई देती हैं।
6. हमारी नीहारिका 'आकाशगंगा' की पड़ोसी नीहारिका।
7. सर्वप्रथम पृथ्वी की परिधि की लम्बाई मापने वाला ई. पू. तीसरी शताब्दी का ग्रीक वैज्ञानिक।
8. सुप्रसिद्ध धूमकेतु जो सन् 1910 में दृष्टिगोचर हुआ था तथा पुनः सन् 1985 में दिखाई देगा।
9. पांचवी शती का प्रसिद्ध भारतीय गणितज्ञ एवं नक्षत्रविद।
10. वरुण ग्रह की खोज करने वाला जर्मन नक्षत्रविद्।
11. खगोलशास्त्र में दूरी नापने की इकाई।
13. संसार की सबसे बड़ी दूरबीन अमेरिका की इस वेधशाला में है।

निर्देश

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जायेगा। अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जायेगी। आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जायेगा।

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 12 का हल



कैमरा फिल्म घर पर धोइए

अनन्तलाल सोनी

घर पर कैमरा फिल्म धोने के लिए चीनी मिट्टी अथवा कांच की बनी हुई तीन बड़े आकार की गहरे पेंदे वाली ट्रे, दो गहरे रंग की भूरी अथवा नीली कांच की बड़ी बोतलें, एक थर्मामीटर, अंधेरा कमरा बनाने के लिए काले अथवा किसी गहरे रंग का कपड़ा और निम्न रसायनों की आवश्यकता होती है :

'मेटाल' 5 ग्रेन, सोडियम सल्फाईट 60 ग्रेन, हाइड्रोक्विनोन 8 ग्रेन, पोटैशियम कार्बोनेट 75 ग्रेन और पोटैशियम ब्रोमाईड 1.5 ग्रेन।

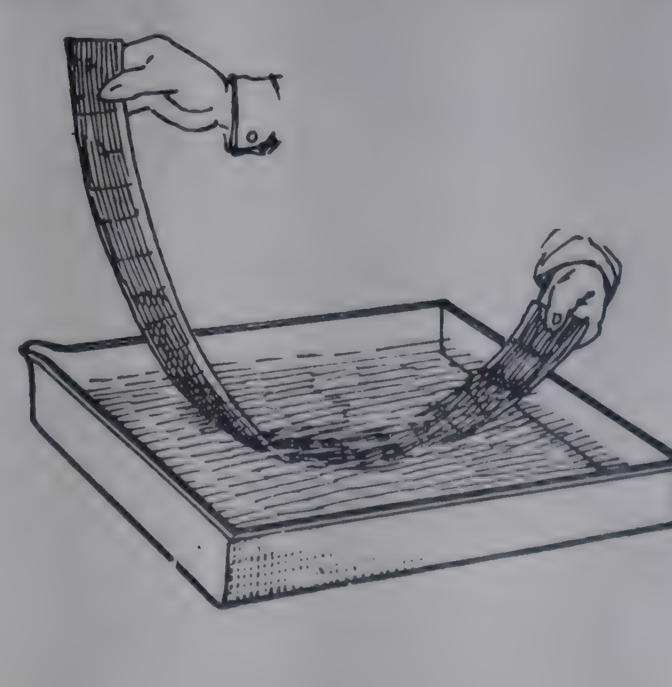
रसायनों की उक्त मात्रा तीन चार रीलों को धोने के लिए पर्याप्त है।

उक्त वस्तुओं को इसी क्रम में क्रमशः एक-एक करके 27 सी. सी. पानी से भरी एक बोतल में डालकर हिलाते जाइये। एक वस्तु के घुल जाने पर दूसरी डालिये इस प्रकार सभी वस्तुओं को डाल कर जो घोल प्राप्त हो उसे रख दीजिए। इस प्रकार प्राप्त घोल व्यक्तकारी (डेवेलपर) कहलाता है। दूसरी बोतल में लगभग $3\frac{1}{2}$ औंस पानी डाल कर 14 ग्राम सोडियम थायोसल्फेट (जिसे हाईपो कहते हैं) डाल कर हिलाइए। अब बोतलों को सुरक्षित स्थान पर रख दीजिए।

रील धोने की तैयारी

उक्त तीनों ट्रे को साफ पानी से धोकर क्रमशः जमा कर रख दो। पहली ट्रे में 18 डिग्री से लेकर 20 डिग्री के मध्य तक का ठंडा पानी भर दीजिए। दूसरी में व्यक्तकारी तथा तीसरी ट्रे में हाईपो का घोल रखिए। इस तरह आपकी धोने की लगभग सब तैयारी हो गई है। अब फिल्म धोने का काम अंधेरे कक्ष में कीजिए।

स्मरण रहे जहां से आप रील को खोल रहे हैं वह अन्त में चिपकी हुई है अतः उसे बहुत धीरे-धीरे तथा सावधानी से खोलना चाहिये। इसके अलावा भी वह रील मुड़ी हुई रहने के कारण स्प्रिंग के समान कभी हाथ से छूट कर गिर सकती है। यदि वह किसी द्रव में गिर गई तो खराब हो सकती है। अतः बहुत ध्यान से उसे खोलिये और अन्तिम सिरे को धीरे से खींच कर फाड़ दीजिए। अब कागज को रील से अलग कर दीजिए।



साथ ही यह भी ध्यान रहे कि हाथ सूखे होने चाहिये। यह कार्य गीले हाथों से नहीं करना चाहिए। देखिये नीचे दिखाये गये चित्र को।

इस रील को पहली ट्रे में (पानी में) लगभग डेढ़ मिनट तक ऊपर नीचे चलाइये। चलाने का एक विशेष तरीका होता है जैसा कि नीचे चित्र में दिखाया गया है।

जब रील पूरी तरह से पानी में भीग जाए और कुछ नरम पड़ जाए तथा डेढ़ मिनट का समय भी पूरा हो जाए तो उसे उस ट्रे में से निकाल कर दूसरी ट्रे, जिसमें व्यक्तकारी है, में डाल कर उसी प्रकार ऊपर नीचे करते जाइये जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

व्यक्तकारी में रील 4 मिनट तक इसी क्रम में ऊपर नीचे चलाते रहिए। यदि आपने सभी कार्य ऊपर दिखाये गए तरीके से सही किया है तथा उक्त मसालों का तोल आदि भी सही है तो आपकी रील उक्त समय में सही रूप में धुल जायेगी।

व्यक्तकारी में से रील को निकाल लें। फिर पानी ट्रे में दो तीन बार ऊपर नीचे करके हाईपो में डाल कर उसी तरीके से लगभग 15 मिनट तक चलाते जाइये। इसके बाद आप रोशनी में रील को देख सकते हैं। इस रील को पुनः दो-तीन बार शुद्ध पानी में धोकर किसी हुक की सहायता से स्वतंत्र रूप से लटका दीजिए तथा एक हुक को रील के नीचे भी लगा दीजिए ताकि रील मुड़े नहीं। रील धोते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं से रोशनी तो नहीं आ रही है।

तोलते समय अथवा किसी भी अन्य समय यदि हाईपो का क्रिस्टल अथवा पानी की बूंद आपके व्यक्तकारी में गिर गई तो वह खराब हो जाएगा और रील नहीं धुल सकेगी। यही बात रील धोते समय भी ध्यान में रखनी चाहिये कि कहीं अंधेरे में हाईपो के छींटे व्यक्तकारी में तो नहीं गिर गये हैं। ●

N C. E. R. T. PUBLICATIONS

RESEARCH STUDIES & MONOGRAPHS

The First Mental Measurement Handbook for India	Rs. 8.30
Second National Survey of Sec. Teachers in India	Rs. 8.90
Child Development—A Symposium	Rs. 15.00
Teaching Reading —A Challenge	Rs. 4.00
Achievement Motive in Primary School Boys	Rs. 11.00
Wastage and Stagnation in Primary and Middle Schools in India	Rs. 10.80
Second All India Educational Survey	Rs. 24.00
Paper in the Sociology of Education in India	Rs. 8.75
The Mirror-Tracing Test as a Measure of Social Maladaptation (CIE No. 66)	Rs. 2.40
The Main Recommendations of the Report of the Education Commission	Rs. 2.25

YEARS BOOKS

First Year Book (1961) : A Review of Education in India (1947-61) Revised Edition Part I	Rs. 17.00
First Year Book : A Review of Education in India (1947-61) Revised Edition & State Programme Part II	Rs. 22.00
Second Year Book (1964) Elementary Education	Rs. 25.00
Third Year Book (1967) Educational Research	Rs. 14.50

NSTRUCTIONAL MATERIAL

General Science for primary Schools : A Teacher's Handbook of Activities Vol. I (Bound Cover) Rs. 4.00 Vol. II	Rs. 3.35
Vol. II ,, Rs. 5.00 Vol. III	Rs. 7.00
General Science : A Handbook of Activities for classes VI-VIII	Rs. 9.50
Unit on Electricity	Rs. 2.40

SUPPLEMENTARY READING MATERIAL

Bharat Ki Kathayan (Hindi)	Rs. 1.55
Raja Ram Mohan Ray	Rs. 1.20
Zarathustra	Rs. 0.80
The Universe	Rs. 6.50
Weapons Old & New	Rs. 2.25
Food for All	Rs. 2.85
Drama in Schools	Rs. 2.90
Life and Work of Meghnad Saha	Rs. 1.70
Legends of India	Rs. 3.00
Gautama Budha	Rs. 1.00
Judicial Review & Education	Rs. 1.00
Jesus Christ	Rs. 0.50
Sir Syed Ahmed Khan	Rs. 0.50
Akbar	Rs. 1.00

JOURNALS

Schools Science : A Quarterly Journal (March, June, Sept. & Dec.)	Single Copy	Rs. 2.00
	Annual	Rs. 8.00
Indian Educational Review—Half Yearly.	Single Copy	Rs. 6.00
	Annual	Rs. 10.00
NIE Journal : A Bi-monthly Educational Journal.	Single Copy	Rs. 1.50
Annual Subscription for Teachers.		Rs. 6.00
For Others.		Rs. 8.00

PLEASE ASK FOR A FREE CATALOGUE.

For Orders and Enquiries please write to

BUSINESS MANAGER

PUBLICATION UNIT, N. C. E. R. T.

71, 1, NAJAFGARH ROAD,

NEW DELHI 15.

OR

LOCAL BOOK SELLERS.



DID YOU
EVER TASTE
LAUGHTER?
FANTA ORANGE TASTES
SO GOOD, IT'S FUN
TO BE THIRSTY.
FANTA IS A PRODUCT OF THE COCA-COLA COMPANY
FANTA IS A REGISTERED TRADE MARK OF THE COCA-COLA COMPANY
CMCR 3-203

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित।

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

कार्तिक 1891 : अक्तूबर 1969

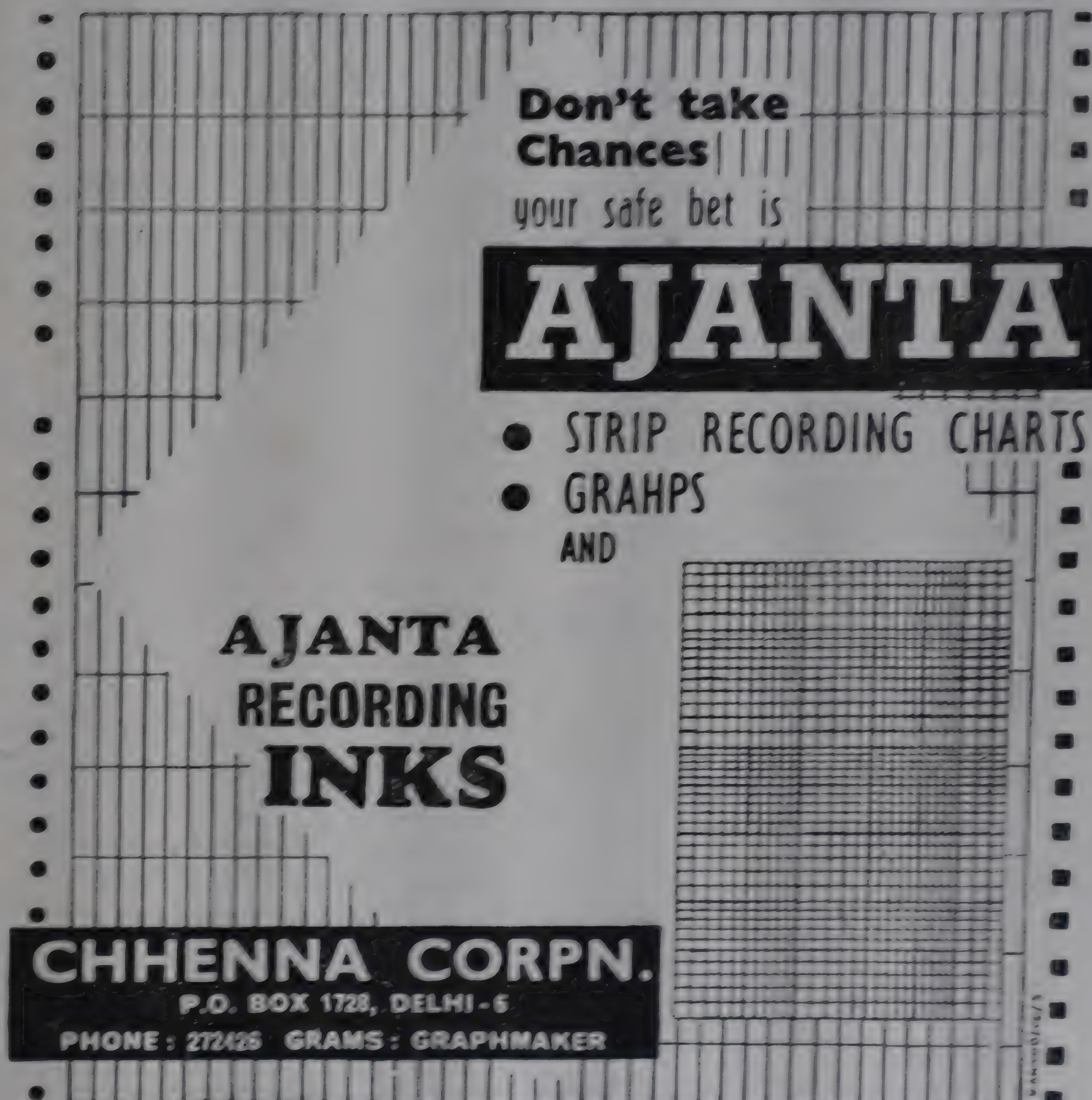


भारतीय भाषा यूनिट, कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च



1965 के भटनागर स्मृति पुरस्कार वितरण समारोह के दो अन्य चित्र : (ऊपर) रसायनशास्त्र के पुरस्कार के हिस्सेदार प्रो. साधन बसु, प्रधान मंत्री से पुरस्कार प्राप्त करते हुए। (नीचे) श्री ए. एस. राव, इंजीनियरी का पुरस्कार प्राप्त करते हुए




Don't take
Chances
your safe bet is
AJANTA
• STRIP RECORDING CHARTS
• GRAHPS
AND
AJANTA
RECORDING
INKS
CHHENNA CORPN.
P.O. BOX 1728, DELHI-6
PHONE: 272426 GRAMS: GRAPHMAKER

'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये हैं। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे हैं। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में.......................... 196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या......है। मैं...............रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

क्रमांक.................................दिनांक.............................भेज रहा हूं।

पूरा नाम...

पता...

डाकघर.................................जिला.......................राज्य...........

हस्ताक्षर...

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुंदर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

आधुनिक टैक्नोलाजी के बदलते हुए प्रतिरूप (कलाकार की दृष्टि में)

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 कार्तिक 1891 अक्तूबर 1969 अंक 10 पूर्णांक 205

विषय-सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपए	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली

सैमुअल रुबेन :

जिनके आविष्कार तकनीकी प्रगति के आधार स्तम्भ हैं

चन्द्रकुमार मिश्र

बात द्वितीय महायुद्ध की है। अमरीकी सैनिक अधिकारियों को दक्षिण-पूर्व एशिया स्थित सैनिक कमाण्ड से सूचना मिली कि जो बैटरियां फ्लैशलाइट संचालित करने के लिए भेजी गई थीं वे अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पा रही हैं। अधिकांश बैटरियां इन देशों की भीषण गर्मी तथा अधिक वर्षा के फलस्वरूप शीघ्र बेकार हो जाती हैं। अमरीकी सैन्य अधिकारियों ने शीघ्र ही एक ऐसे वैज्ञानिक से संबंध स्थापित किया जो अकेले ही अनुसंधान कार्य में रत था। उस वैज्ञानिक ने अमरीकी अधिकारियों की समस्या को समझा तथा शीघ्र ही एक ऐसी बैटरी का निर्माण कर लिया जो भीषण गर्मी और नमी सहन कर सकती थी।

यह बैटरी जो 'सील्ड मरकरी बैटरी' कहलायी, एक नए सिद्धांत पर आधारित थी। सूखी बैटरियां ऐसे पदार्थों की बनी होती हैं जो ताप अधिक होने पर आपस में क्रिया कर गैसें उत्पन्न करने लगते हैं। इससे बैटरियां कार्य नहीं कर पातीं। अतः इस समस्या को सुलझाने के लिए किसी ऐसे विद्युत रासायनिक युग्म की आवश्यकता थी जो ऊष्मा पाकर भी गैस उत्पन्न न करे। यद्यपि अनेक वैज्ञानिक इस सिद्धांत से परिचित थे और इस की घोषणा भी कर चुके थे तो भी वे मानते थे कि इस सिद्धांत के अनुसार कार्य करने वाली बैटरी बन ही नहीं सकती। परन्तु सैमुअल रुबेन नामक वैज्ञानिक ने इसी सिद्धांत का उपयोग करके सूखी बैटरी बना डाली। यह बैटरी उस काल की अन्य बैटरियों से चार-गुनी शक्तिशाली थी और अंत तक प्रारम्भ का विभव बनाए रखती थी। इस बैटरी में एक नवीन विद्युत रासायनिक युग्म—पारद ग्रेफाइट युग्म—का उपयोग किया गया था तथा यह बैटरी वायुरहित इस्पात के खोल में बंद की गई थी। इस बैटरी पर जलवायु के अतिरिक्त गुरुत्व तथा वेग का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इस बैटरी को आशातीत सफलता मिली और इसने जस्ते व कार्बन की बैटरियों को बेकार सिद्ध कर दिया। आश्चर्य की बात यह है कि सैमुअल रुबेन ने सुरक्षा मंत्रालय को युद्ध की अवधि तक के लिए बिना धन लिए पेटेन्ट भी दे दिया।

सैम रुबेन एक ऐसे आविष्कारक हैं जिनका जन्म सम्भवतः आविष्कार के लिए ही हुआ है। इस वैज्ञानिक को किसी महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त न हुई थी किन्तु स्वाध्याय के बल पर ही अर्जित इनके ज्ञान की सीमा नहीं है।

बचपन से ही प्रेरणा

सैम रुबेन का जन्म अमेरिका में सन् 1900 ई. में हुआ था। बचपन से ही उनकी रुचि विज्ञान तथा वैज्ञानिक पुस्तकें पढ़ने में थी। बालोपयोगी विज्ञान की पुस्तकों ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि उन्होंने वैज्ञानिक बनने का ध्येय निश्चित कर लिया।

रुबेन को ब्रिटिश वैज्ञानिक माइकेल फैराडे की पुस्तकें—विशेषकर विद्युत-रसायन विषय पर उनकी पुस्तक, अधिक अच्छी लगती थी। बचपन में उन्हें केवल एक कार्य रहा करता—पुस्तकालय से पुस्तकें लाना,

उन्हें पढ़ना तथा समझने का प्रयत्न करना। वह उन पुस्तकों में लिखे विवरणानुसार प्रयोग करते और अपने नतीजों की पुस्तकों में दिए नतीजों से तुलना करते ।

मूल सिद्धान्तों का ज्ञान

इस स्वाध्याय से उन्हें भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धांतों का आवश्यक ज्ञान हो गया जिसके फलस्वरूप उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश भी मिल गया किन्तु एकाएक पिता की मृत्यु हो जाने से उन्हें पढ़ाई छोड़ नौकरी करनी पड़ी। यहां उनके भाग्य ने उनका साथ दिया। रुबेन के अफसर ने उनके गुणों का सही मूल्यांकन कर उनका मार्ग प्रशस्त किया।

ये मार्ग दर्शक थे कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भौतिकीविद् बरगेन डेविस। आचार्य डेविस अपने विद्यार्थियों के अच्छे से अच्छे कार्य से भी कभी संतुष्ट न होते थे। विद्यार्थियों की कार्यक्षमता मापने का उनका मापदण्ड अत्यधिक ऊंचा था। पर रुबेन ने आचार्य डेविस का मन मोह लिया। आचार्य डेविस ने सैम के लिए पाठ्यक्रम की रूपरेखा बनायी तथा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का उपयोग करने की अनुमति दे दी। सैम की प्रगति से संतुष्ट होकर डेविस ने मैलकाम क्लीफेन नामक एक व्यवसायी को रुबेन के लिए प्रयोगशाला स्थापित करने और उन्हें आर्थिक सहायता देने के लिए राजी कर दिया।

प्रथम आविष्कार

तीन वर्ष के सतत परिश्रम के उपरांत उन्होंने एक ऐसे यंत्र का निर्माण कर लिया जिसने उन्हें आविष्कारकों की श्रेणी में ला खड़ा किया ।

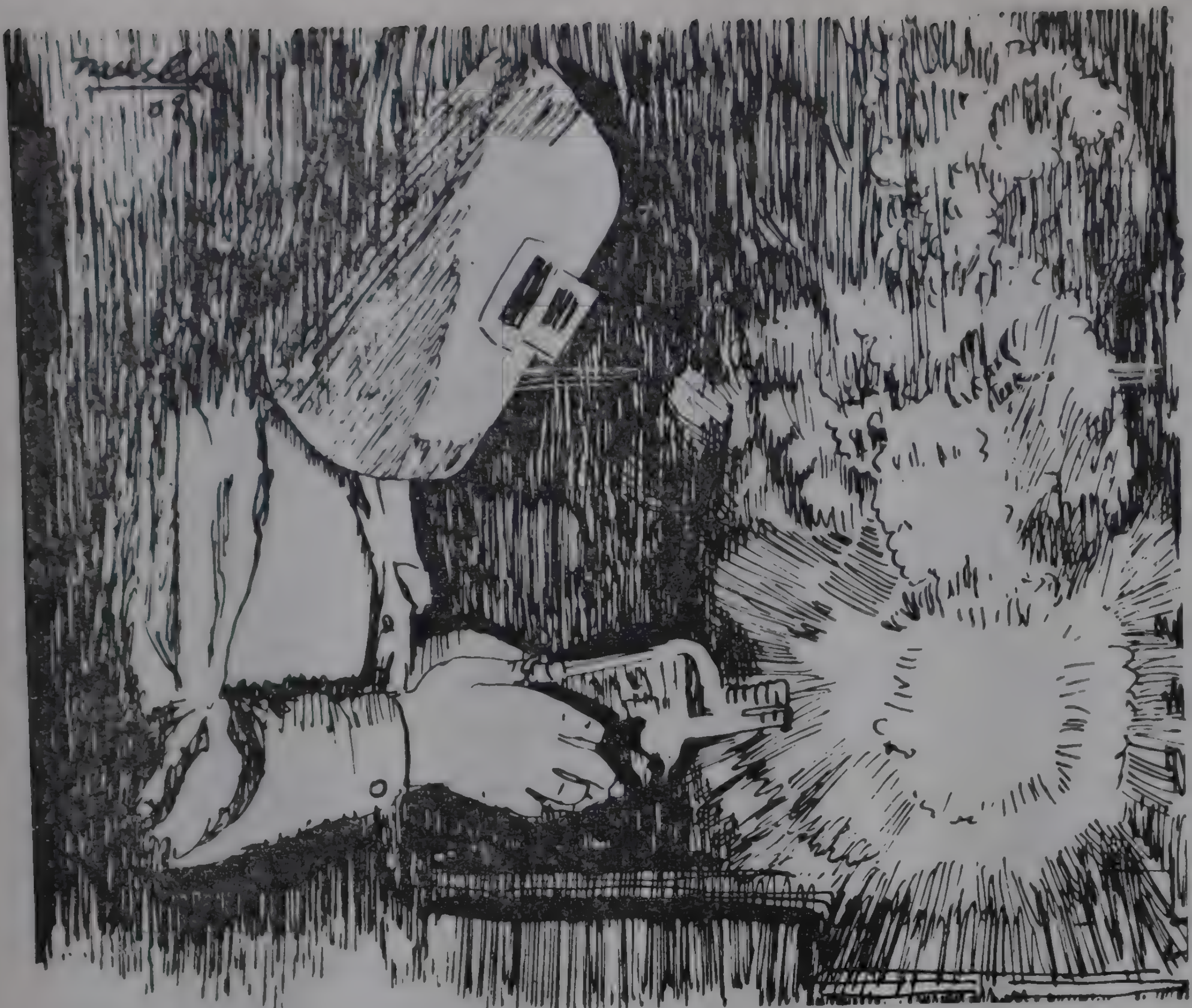
यह यंत्र ठोस पट्टिका परिशोधक था जो घरों में इस्तेमाल होने वाली प्रत्यावर्ती विद्युत (ए.सी.) को एकदिश विद्युत (डी.सी.) में परिवर्तित कर देता था। उन दिनों रेडियो के लिए स्टोरेज बैटरी का उपयोग होता था जिन्हें चार्ज करने के लिए कारखानों में ले जाना पड़ता था। इस प्रकार रेडियो का उपयोग करने वालों को बहुत कठिनाई होती थी। इस नवीन उपज्ञा ने उनकी एक बड़ी समस्या का निराकरण कर दिया। अब वे रेडियो की बैटरी को घर की विद्युत से ही चार्ज कर सकते थे।

इस आविष्कार के उपरांत तो उन्होंने नवीन आविष्कारों का तांता बाँध दिया।

उन्होंने शीघ्र गर्म हो जाने वाले रेडियो वाल्व बनाए जो उस समय प्रयुक्त होने वाले वाल्वों से बहुत बढ़िया थे। आविष्कारों की उनकी इस शृंखला में प्रकाश-विद्युत सेल का महत्वपूर्ण स्थान है। इन सेलों तथा अन्य उपकरणों की सहायता से प्रकाश को ध्वनि में परिवर्तित किया जा सकता है। इन सेलों का उपयोग करके ही ध्वनियुक्त सिने चित्रों का निर्माण सम्भव हो सका। इनके उपरान्त रुबेन ने अधिक क्षमता वाले परिशोधक विद्युत संधारित्र, अधिक ऊष्मा सहन करने वाले तार तथा वेल्डर बनाए।

इन आविष्कारों से रुबेन को धन तो अवश्य प्राप्त हुआ किन्तु कोई विशेष ख्याति न मिली क्योंकि व्यापारिक स्तर पर इन वस्तुओं का निर्माण कुछ अन्य व्यक्ति करते थे जो कि व्यापारिक कारणों से ही रुबेन को गुप्त रखना चाहते थे। पर द्वितीय महायुद्ध में बन्द पारद बैटरी (सील्ड मरकरी बैटरी) से इन्हें पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई।

उनकी इस बैटरी के सिद्धांत पर ही अन्य छोटी किन्तु शक्तिशाली बैटरियों का निर्माण हुआ है। ये बैटरियां विद्युतचालित कलाई-घड़ी, स्वचालित कैमरे, टेपरिकार्डर, तथा विद्युत शेवर को विद्युत प्रदान करती हैं। इनका उपयोग चिकित्सा जगत में भी हो रहा है। श्रवण-यंत्रों, हृदय की गति को संतुलित रखने वाले पेस-मेकर नामक आदि यंत्रों में इनका अत्यधिक उपयोग हो रहा है। ●



उद्योग कर्मियों के स्वास्थ्य संकट

(भाग 2)

एस. एच. जैदी

['विज्ञान प्रगति' के पिछले अंक में, प्रस्तुत लेख के प्रथम भाग में, आप विभिन्न उद्योगों में प्रयुक्त धातुओं, रसायनों और कार्बनिक यौगिकों से उद्योग कर्मियों को होने वाले रोगों के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत है, भाग 2 में उद्योगों में गैसों, धूलि अभिश्वसन तथा विकिरणों द्वारा जन्य रोगों और कृषकों को होने वाले व्यावसायिक रोगों तथा खाद्य विषाक्तता का विवरण–

—सम्पादक]

हानिकर गैसें साधारणतया श्वासावरोधी होती हैं, लेकिन अभिश्वसन द्वारा अधिक मात्रा में ग्रहण कर लेने पर ये मृत्यु का कारण भी बन सकती हैं। कार्बन मोनोक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, और हाइड्रोजन सायनाइड गैसें रासायनिक श्वासावरोधियों की भांति क्रिया करती हैं। ये शरीर-ऊतकों में विद्यमान लोहे से संयुक्त हो जाती हैं और कोशिका-श्वसन में बाधा डालती हैं। वात्या भट्टी पर काम करने वाले तथा जेनेरेटिंग संयंत्रों की सफाई, चार्ज तथा मरम्मत करने वाले व्यक्तियों को कार्बन मोनोक्साइड विषाक्तता का खतरा बहुत अधिक रहता है। चक्कर आना, वक्ष में पीड़ा होना तथा अकस्मात मूर्च्छा आ जाना इस विषाक्तता के लक्षण हैं। गम्भीर श्वासावरोध होने पर रोगी अक्सर 36 घंटे के भीतर ही मृत्यु का ग्रास हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करती है और बहुधा इससे श्वसन-अंगघात हो जाता है। यह आंख में क्षोभ भी उत्पन्न करती है। सभी ज्ञात विषों में हाइड्रोजन सायनाइड सर्वाधिक तीव्रता से क्रिया करने वाला विष है। यह फेफड़ों, भोजन नली तथा त्वचा द्वारा बहुत जल्दी अवशोषित हो जाता है। सायनाइड विषाक्तता से श्वसन क्रिया बंद हो जाती है और कुछ सेकंडों में ही मृत्यु हो जाती है।

अमोनिया, सल्फर डाइआक्साइड, नाइट्रस धूम, क्लोरीन, फ्लुओरीन, फास्जीन और निकिल कार्बोनिल आदि क्षोभकारी गैसें उद्योगकर्मियों की आंखों और त्वचा में क्षोभ उत्पन्न करती हैं। दुर्घटनावश यदि द्रव सल्फर डाइआक्साइड आंख में पड़ जाए तो आंख में फुल्ली आ जाती है। अमोनिया वाष्प श्वसन तंत्र तथा आंखों में क्षोभ उत्पन्न करते हैं। नाइट्रोजन डाइआक्साइड पहले तो क्षोभ उत्पन्न करती है फिर व्यक्ति को कमजोरी, सर दर्द, मतली तथा श्यावता होने लगती है, उदर में दर्द होता है और चक्कर आने लगते हैं। गम्भीर विषाक्तता होने पर आक्षेप और फुफ्फुसी शोफ हो जाता है। इससे मृत्यु भी हो सकती है। फास्जीन जन्य मादकता से भी फुफ्फुसी शोफ हो जाता है। क्लोरीन से गला रुद्ध हो जाता है तथा घबरा-

हट होने लगती है। फ्लुओरीन यौगिकों से चिरकारी विषाक्तता होने पर दांत चितकबरे हो जाते हैं। यह रोग फ्लुओरोसिस कहलाता है। डाईऐथिल पैरा-नाइट्रोफेनिल थायोनो-फास्फेट जैसी गैसें तंत्रिका तंत्र पर क्रिया करती हैं और आक्षेप उत्पन्न करती हैं।

धूलि अभिश्वसन जन्य रोग

आधुनिक उद्योगों में अनेक प्रकार का कच्चा माल काम में आता है। कच्चे माल से काम करने वाले उद्योग कर्मियों को कच्चे माल की धूल के प्रभावाधीन रहना ही पड़ता है। विभिन्न प्रकार की धूलियों के अभिश्वसन से फुफ्फुसधूलिमयता नामक रोग हो जाता है। फुफ्फुसधूलिमयता अनेक प्रकार की होती है। उदाहरणार्थ, सिलिका-धूलि के कारण उत्पन्न हुई फुफ्फुसधूलिमयता 'सिकतामयता' कहलाती है और ऐस्बेस्टॉस धूलि जन्य फुफ्फुस धूलिमयता 'ऐस्बेस्टोसिस'। सिकतामयता के रोगी संसार के सभी देशों में पाए जाते हैं और इसी रोग के कारण बहुत से व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फ्लिंट, बलुआपत्थर, ग्रेनाइट आदि का उपयोग करने वाले उद्योगों तथा पौटरी, स्वर्ण-खनन, स्लेट-उत्खनन, लोहा और इस्पात ढलाई तथा रिफैक्टरी उद्योगों में काम करने वालों को सिकतामयता सबसे ज्यादा होती है। लगातार आठ वर्ष से अधिक समय तक सिलिका धूलि के अभिश्वसन से सिकतामयता रोग हो जाता है। प्रारंभ में श्वसनीशोथ के लक्षण प्रकट होते हैं और अधिक समय तक सिलिका धूलि के प्रभाव में रहने पर रोगी पूर्णतः असमर्थ हो जाता है, हृदय बड़ा हो जाता है और हृदय गत्यवरोध भी हो जाता है। पाया गया है कि सिकतामयता के रोगियों में से 75 प्रतिशत को यक्ष्मा रोग भी हो जाता है और उस रोग जटिलता में ही वे काल को प्राप्त होते हैं। सिकतामयता के संबंध में काफी अध्ययन-अनुसंधान कार्य हुआ है, काफी ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है, और सिलिका धूलि को उड़ने से रोकने के लिए काफी उपाय किए भी जाते हैं, परन्तु फिर भी सिकतामयता व्यावसायिक संकटों में से एक प्रमुख समस्या है।

ऐस्बेस्टोसिस नामक रोग उत्पन्न करने वाले ऐस्बेस्टॉस में मैग्नीशियम और लोहे के सिलिकेट होते हैं। चादरों, टाइलों, ब्रेक-अस्तर तथा पृथक्कारक के रूप में विभिन्न औद्योगिक कार्यों में ऐस्बेस्टॉस का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐस्बेस्टॉस से अनेक प्रकार के अन्य पदार्थ भी प्राप्त होते हैं, जो वाणिज्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐस्बेस्टॉस के उपयोग से उत्पन्न होने वाले स्वास्थ्य संकटों के बारे में प्रारम्भ में तो किसी का ध्यान ही नहीं गया। बाद में 1928 में सीलेर ने ऐस्बेस्टोसिस और फुफ्फुसीय-तंतुमयता का संबंध स्थापित किया। ऐस्बेस्टोसिस के सबसे मुख्य उपद्रव फेफड़ा-कैंसर और मीजोथीलियोमा हैं। ऐस्बेस्टोसिस एक गंभीर रोग है। ऐस्बेस्टॉस कर्मियों में मृत्युदर और अस्वस्थता अधिक होती है। बेरिलियम अभिश्वसन जन्य रोग 'बेरिलियोसिस' एक अन्य महत्वपूर्ण रोग है, जो कि फेफड़ों के ऊतकों को क्षति पहुंचाता है। कोयला-धूल, टाल्क, सिलिमेनाइट और सेलीनियम के अभिश्वसन से भी फुफ्फुसधूलिमयता हो जाती है। इन धूलियों द्वारा जन्य फुफ्फुसधूलि-

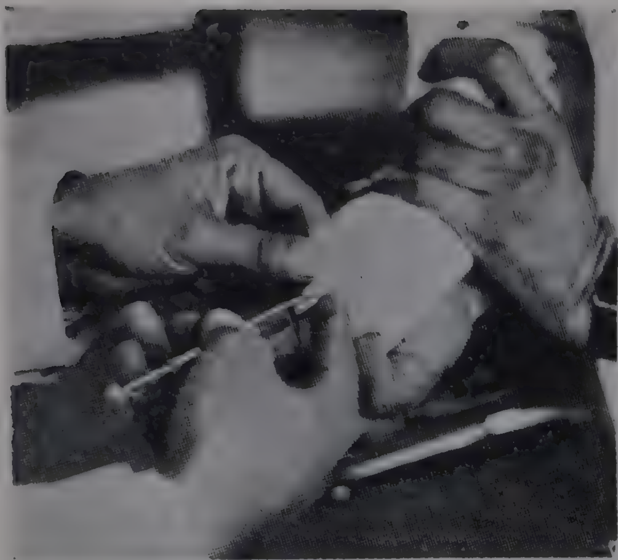


मस्तिष्क को प्रभावित करने वाली सीसा तथा मैंगनीज जैसी धातुओं के विषवैज्ञानिक अध्ययनों में मनोभेषज-गुण-वैज्ञानिक परीक्षण किए जाते हैं ताकि आचरण-परिवर्तन का पता चल सके।

A. बांस के पास एक चूहा सावधान होकर बैठा हुआ है।

B. थोड़ा प्रशिक्षित चूहा बांस पर चढ़ रहा है।

C. पूर्णतया प्रशिक्षित चूहा, जोकि बांस पर चढ़ गया है।



गिनी पिग को औद्योगिक विष का टीका लगाया जा रहा है ।

मयता सिकतामयता या ऐस्बेस्टोसिस जितना अशक्त करने वाली नहीं होती । अभ्रक (माइका) सामरिक महत्व का पदार्थ समझा जाता है । माइका धूलि से भी फुफ्फुसधूलिमयता हो जाती है ।

अनुसंधान के लिए नया क्षेत्र

धूलि-संकट की समस्याओं के अध्ययन से एक नया अनुसंधान क्षेत्र खुल गया है। अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग नए धूलि-संकटों से बचने के लिए किया जा सकता है। कुछ सिरेमिक संयंत्रों में, संभव है, बेरिलियम के साथ सिलिका धूलि भी कर्मियों के श्वास के साथ शरीर में पहुंच जाए और इसी प्रकार ऐस्बेस्टॉस के साथ क्वार्ट्ज पहुंच सकता है। धूलि संरचना में हुए इन परिवर्तनों से जटिल प्रकृति के व अज्ञात रोग लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं ।

औद्योगीकरण के फलस्वरूप मनुष्य अब 2000 से भी अधिक खनिजों के प्रभावाधीन रहता है, जिनमें लगभग 500 सिलिका यौगिक हैं । इनमें से 10 प्रतिशत से भी कम का अध्ययन किया गया है । स्वास्थ्य संकट उत्पन्न करने में अन्य यौगिकों का क्या योग रहता है यह अभी भी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है ।

विकिरण जन्य संकट

उद्योगों में एक्स-किरणों के व्यापक उपयोग ने मनुष्य के लिए एक नया स्वास्थ्य संकट उपस्थित कर दिया है । एक्स किरणों के प्रभावाधीन रहने पर व्यक्ति को त्वक्शोथ हो जाता है, जो बहुधा कार्सिनोमा को जन्म देता है । इसके अतिरिक्त मोतियाबिंदु, व रक्ताल्पता हो जाती है तथा ऐसे गम्भीर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जो वर्धमान हृदयपात का कारण बनते हैं । सभी रेडियधर्मी तत्वों में रेडियम सर्वाधिक हानिकर तत्व है । यह लगातार उच्च वेगवान द्रव्याणु उत्सर्जित करता रहता है । ये द्रव्याणु अस्थि मज्जा को प्रभावित करते हैं तथा अविकासी अरक्तता उत्पन्न करने की इनकी प्रवृत्ति होती है । मीजोथोरियम और रेडियोथोरियम, व रेडियम और जिंक सल्फाइड युक्त ज्योतिष्मान पेंट से काम करने वाले व्यक्तियों को फेफड़ों का कार्सिनोमा होता पाया गया है । परमाणु के विखण्डन से उत्पन्न कृत्रिम रेडियधर्मिता के साथ इतनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है कि जो मनुष्य के जीवन के लिए घातक होती है। नाभिकीय ऊर्जा शरीर को बीटा और गामा किरणों के रूप में क्षति पहुंचाती है। बीटा किरणें केवल त्वचा को ही क्षति पहुंचाती हैं। गामा किरणों के प्रभावाधीन रहने पर व्यक्ति को कोई तकलीफ महसूस नहीं होती । अधिक समय तक रेडियधर्मी धूल के प्रभाव में रहने से कैंसर और ल्यूकेमिया हो जाता है । इससे जीनी-क्षति भी हो सकती है जो कि आने वाली पीढ़ियों में गंभीर रूप धारण करके प्रकट होती है ।

कृषि संबंधी संकट

फसलों की रक्षा के लिए कीटनाशकों के अंधाधुंध इस्तेमाल ने कृषकों को अनेक रोग दिए हैं। डी. डी. टी, लिंडेन, डाइएल्ड्रिन और एल्ड्रिन आदि कीटनाशी सबसे अधिक इस्तेमाल होते हैं। इनसे रक्ताल्पता होने की शंका रहती है । कृन्तक प्राणियों (रोडेन्ट्स) के नियंत्रण के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले थैलियम से 'पाद पात' हो जाता है तथा व्यक्ति के बाल बहुत तेजी से उड़ने लगते हैं । सागौन की लकड़ी से काम करने वाले व्यक्तियों के पादप जन्य रसायन लैपकाकोल से कन्टैक्ट एक्जीमा हो जाता है। पार्सनिप, पार्सले और सेलरी आदि खाद्य वनस्पतियों में फ्यूरोकुमारिन (बर्गेप्टेन और जैंथोटाक्सिन) नामक रसायन होता है जिससे बहुधा त्वचा में सूजन आ जाती है और अतिवर्णकता हो जाती है । कुछ पादप हारमोनों द्वारा जन्य मादकता से हृदय के कार्य में गड़बड़ी आ जाती है ।

फल, वनस्पति, अंडे, दूध तथा अनाज में भी कीटनाशी तथा कवकनाशी अल्प मात्रा में विद्यमान पाए गए हैं और अधिक मात्रा में इनको खाने से मनुष्य व जंतुओं में विषालुता हो जाती है, जिससे तंत्रिका तंत्र में अतिउत्तेज्यता हो जाती है और मस्तिष्क तथा अन्य अंगों को क्षति पहुंचती है । बंद गोभी अधिक खाने वाली गायों के दूध का सेवन करने से गलगण्ड हो जाता है। ऐस्ट्रोजन से, बहुत अधिक संदूषित मांस तथा मुर्गी आदि से स्त्रियों को स्तन का कैंसर हो सकता है । अजैलिया और ओलिएण्डर पौधों से एकत्रित शहद विषाक्त हो सकता है । कुछ व्यावसायिक रोगों का हाल ही में पता लगा है । ये रोग हैं : इक्षुधूलिमयता, फुफ्फुसकार्पासिता और कृषक फुफ्फुस । इक्षुधूलिमयता रोग खोई से होता है । खोई का उपयोग हमारे देश में कागज तथा रोघन बोर्ड बनाने के लिए होता है । जीवरासायनिक अध्ययनों से पता चला है कि खोई का कार्बोहाइड्रेट अंश, और कवक अथवा जीवाणु संदूषक इस रोग के विकास में योग देते हैं । प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि कपास, पटसन और सन आदि के रेशों के प्रभाव में रहने वाले उद्योगकर्मियों के फेफड़ों की संवातन क्रिया में गड़बड़ी आ जाती है ।

खाद्य विषाक्तता

खाद्य विषाक्तता या तो धातु के बर्त्तनों द्वारा अथवा दुर्घटनावश या जानबूझ कर अज्ञात अथवा संदेहास्पद विषाक्तता वाले रसायनों के खाद्य पदार्थ में मिल जाने पर अथवा जीवाणुसंदूषण द्वारा होती है। सीसा, तांबा, एल्यूमिनियम, कैड्मियम और जस्ता चढ़े लोहे के बर्त्तन, खाद्य तथा पेय पदार्थों को विषाक्त बना सकते हैं । इसी लिए मक्खन और पनीर के पैकेटों में वंग की पत्नी का उपयोग अपेक्षित नहीं है। खाद्य पदार्थों को आकर्षक बनाने के लिए रंगों का इस्तेमाल किया जाता है । इनमें से कुछ रंग ऐसे हैं जो कि

(शेषांश पृष्ठ 506 पर)

फूल भी आपके इशारे पर खिलेंगे

जोगेन्द्र सक्सेना

यह क्या कम आश्चर्य की बात नहीं है कि येरुसलम (इजराइल) स्थित हिब्रू विश्व-विद्यालय के वैज्ञानिकों ने फूलों के खिलने के नियम को ही बदल कर रख दिया है। अब आप उन्हें जब चाहें 'खिल-खिला कर हंसते हुए' देख सकते हैं और विश्व के जिन भागों में उनके फूलने की ऋतु नहीं होती वहां उन्हें भेज सकते हैं। अथवा जिन दिनों ऐसे फूलों की मांग अत्यधिक हो उन दिनों उनको तैयार करके मन चाहा धन कमा सकते हैं।

कट फ्लावर

इजराइल में कृषि विज्ञान की 'कट-फ्लावर' नामक एक नवीन शाखा का उदय हुआ है। इसका विकास कितनी तेजी से हो रहा है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि जहां कट फ्लावर का निर्यात 1965-65 में 5,30,000 डालर मूल्य का हुआ था वहां 1967-58 में यह बढ़कर 20 लाख डालर हो गया है। प्राध्यापक अब्राहम हालेवी, जो विश्वविद्यालय के कृषि संकाय में पादप-वैज्ञानिक ह, इस फन के माहिर हैं।

पादप-विज्ञान में इजराइल अन्य देशों से बहुत आगे है। इस छोटे से देश के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न ऋतुएं पाई जाने के कारण यहां पर वर्ष भर में लगभग 2500 किस्म के पौधे फूलते हैं जब कि ब्रिटिश द्वीप समूह में यही संख्या 1500 है। उदाहरण के तौर पर प्राध्यापक अब्राहम का कहना है कि येरुसलम के चार-पांच मील के घेरे में ही आपको ऐसे 1,000 पौधे मिल जाएंगे जिन के लगभग 70 विभिन्न परिवार हैं।

प्राध्यापक हालेवी और उनके सहयोगी श्री जोसेफ शोउब आजकल एक ऐसी किस्म के फूलों पर अनुसंधान कर रहे हैं जो बहुत सुन्दर है और जिसका नाम 'बेथलेहम का तारा' (**स्टार आफ बेथलेहमम; आरिथोगालम अराबीकम**) है। यह पहला देशज पौधा है, जिसका इजराइली वैज्ञानिकों ने विस्तृत अध्ययन किया है और जिसके विषय में वे अब इतना तक बताने की स्थिति में हैं कि इसमें कौन से ऐसे तत्व हैं जिनके कारण वे फूलते हैं। ये फूल प्रायः मार्च के दूसरे पखवाड़े में खिला करते हैं। किन्तु अब वैज्ञानिकों ने इस के खिलने का मौसम बदल दिया है।

बहुत से देशों में नवम्बर से मार्च तक की अवधि में फूलने वाले पौधों की बड़ी कमी रहती है और इस कारण उन दिनों उनकी मांग बहुत अधिक बढ़ जाती है। अतएव वैज्ञानिक इस फूल के पौधे को विभिन्न तापमानों पर रख कर इसके पुष्पित होने के समय को बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका उद्देश्य इसे दिसम्बर के महीने में पुष्पित कराना है क्योंकि 'बेथलेहम का तारा' फूल बड़े दिनों (क्रिसमस) में बड़ा सुहावना लगता है।

व्यापारिक परीक्षण

विश्वविद्यालय में अनुसंधान के सफल हो जाने के बाद अब येरुसलम से 40 कि.मी. दक्षिण-पश्चिम में स्थित लाहिश क्षेत्र में इस फूल पर व्यावसायिक स्तर पर परीक्षण किए जा रहे हैं। इससे आज से लगभग 20 वर्ष पहले इजराइली वैज्ञानिकों का ध्यान इस पुष्प की ओर आकर्षित हुआ था। इन दिनों अमरीकी प्राध्यापक जे. ई. डिन्समोर ने प्राचीन येरुसलम नगर में टावर आफ डेविड के निकट से इस फूल को प्राप्त किया और इसकी कुछ कलियां इजराइली पुष्प-वैज्ञानिकों को भेंट कीं। फलस्वरूप आज इजराइल में जितने भी इस प्रकार के पुष्प पाए जाते हैं, वे सब इन्हीं कलियों की बदौलत हैं।

अन्य फूलों की खोज

इजराइल में 'स्टार आफ बेथलेहम' जंगलों में जगह-जगह खिलता नजर नहीं आता। अतएव प्राध्यापक हालेवी और उनके साथी अब नेबुलस के आस-पास और बेथलेहम के पहाड़ों में इसको खोज निकालने की चेष्टा कर रहे हैं। इसके साथ ही वे अन्य प्रकार के देशज फूलों को भी खोज निकालने की चेष्टा कर रहे हैं। इनमें हल्के पीले-बैंगनी रंग का **'समारियन इरिस'** नामक फूल सर्वाधिक सुन्दर है जिसके विषय में, उनका कहना है 'ऐसा सुन्दर पुष्प मैंने पहले कभी नहीं देखा।'

जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने 'बेथलेहम का तारा' नामक पुष्प के खिलने के समय को बदल दिया है उसी प्रकार वे अब एक अन्य पुष्प **इक्सोलीरियोन मोन्टानम** के खिलने के क्रम को भी बदलने की चेष्टा कर रहे हैं। इस नीले पर्वतीय पुष्प पर मूलभूत कार्य पूरा हो चुका है और संभव है इस वर्ष इसका निर्यात भी किया जा सके। तो भी वैज्ञानिक इसका क्रिया-विज्ञान (फिजियोलाजिकल) की दृष्टि से अध्ययन करने में जुटे हुए हैं।

इजराइल के फूलों के अतिरिक्त प्रो. हालेवी अब विदेशी फूलों के खिलने के क्रम को भी बदलने की चेष्टा कर रहे हैं। **फ्रीशिया, अनेमोने** और **ग्लेडियोलस** कुछ ऐसे ही पुष्प हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक डहलिया और गुल-दाउदी (क्राइसेंथमम) जैसे पुष्पों के खिले रहने के 'दिन' को घटाने अथवा बढ़ाने की चेष्टा में भी लगे हुए हैं। ●

उत्परिवर्तन : कृषकों के लिए वरदान

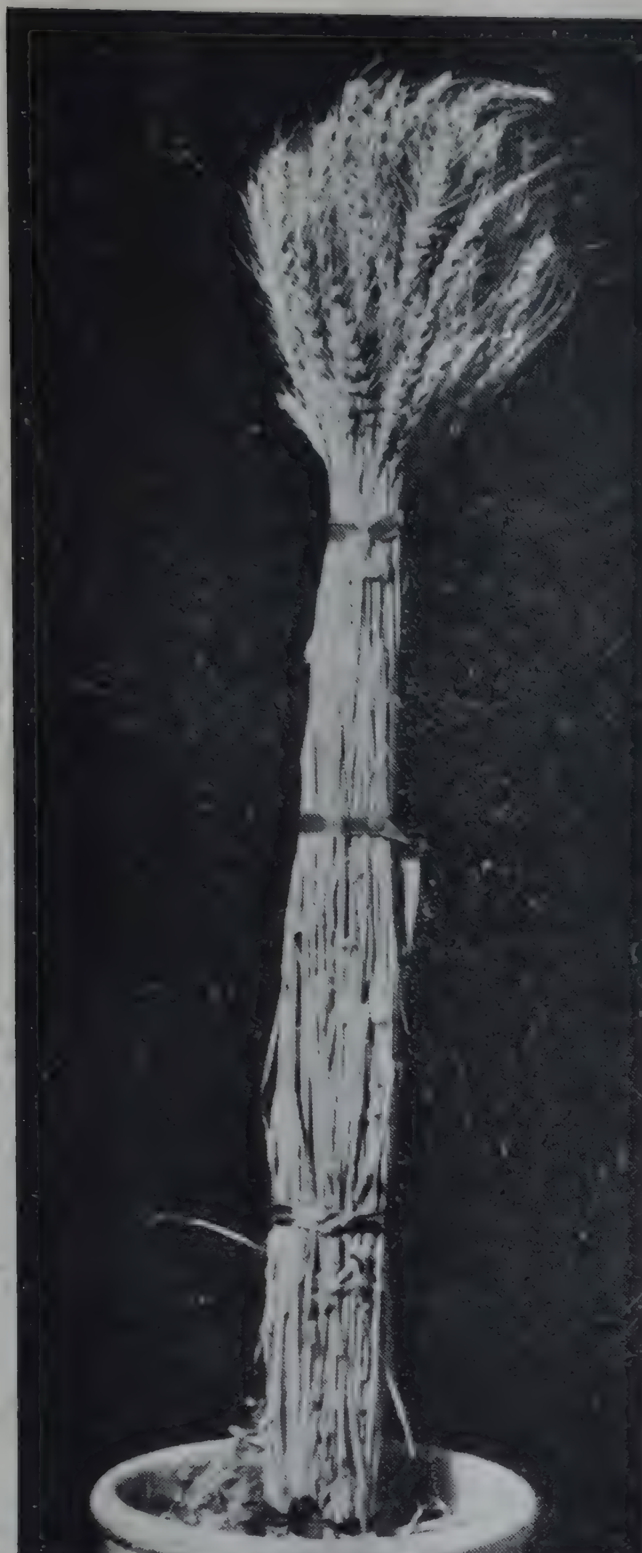
बलराम शर्मा

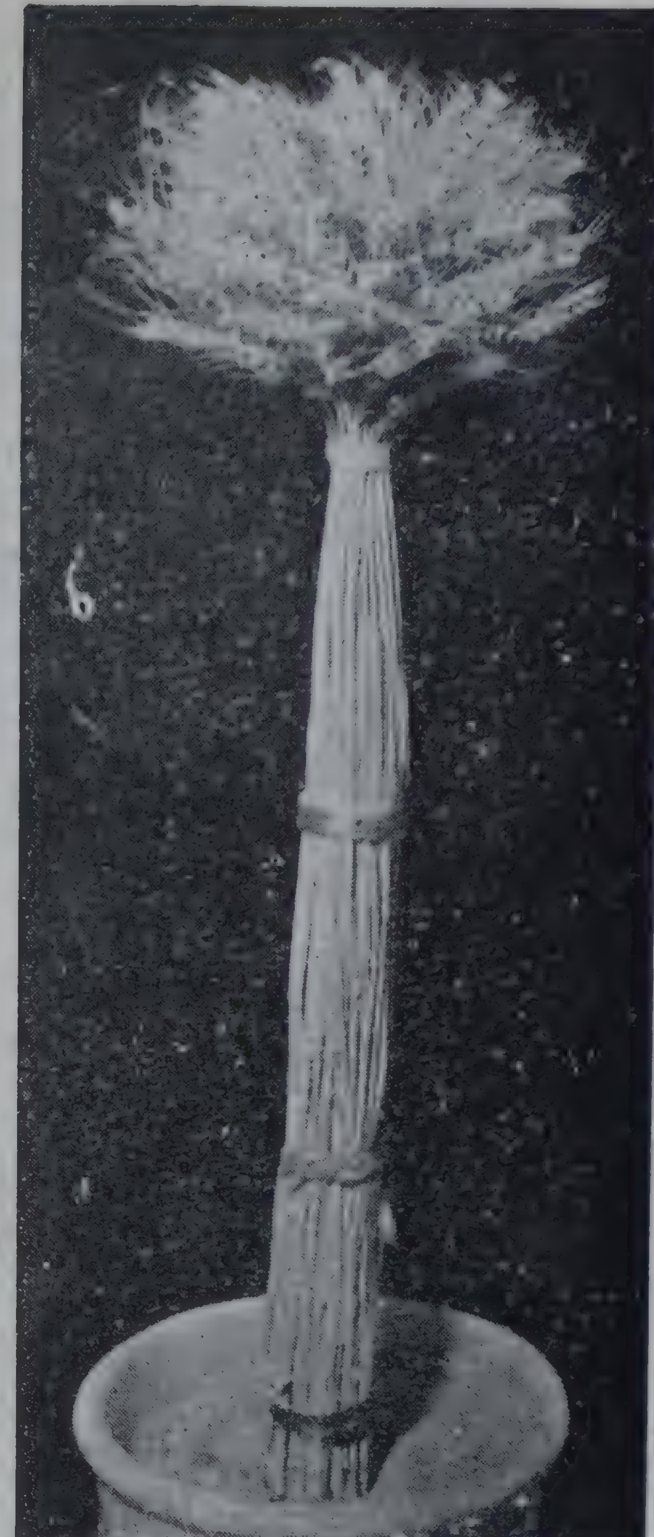
विगत कुछ वर्षों में अन्न-उत्पादन के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व प्रगति से ऐसा आभास मिलने लगा है कि साधन सीमित होते हुए भी हम काफी अन्न उत्पादन करने की क्षमता रखते हैं, और न केवल देश-वासियों के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न कर सकते हैं बल्कि उसका निर्यात भी कर सकते हैं।

अन्नोत्पादन में यह वृद्धि उन्नत बीजों के फलस्वरूप हुई है। परन्तु प्रश्न उठते हैं कि उन्नत बीज कहां से आए? क्या इससे पूर्व ऐसे बीज उपलब्ध नहीं थे? यदि ये बीज पुराने प्रचलित किस्म के बीजों से ही विकसित हुए तो किस प्रकार? ये परिवर्तन प्रकृति जन्य थे अथवा वैज्ञानिकों के प्रयत्नों का परिणाम थे आदि ?

'विज्ञान प्रगति' के 'आनुवंशिकी विशेषांक' (मई 1969) में आप पढ़ चुके हैं कि प्रत्येक जीव, चाहे वह पौधा हो अथवा जन्तु कोशिकाओं से मिलकर बना होता है। कोशिकाओं में क्रोमोसोम होते हैं और क्रोमो-सोमों में जीन। प्रत्येक जीव के लिए इन क्रोमोसोमों की एक निश्चित संख्या होती है। जीन जीवों के गुण निर्धारक तत्व होते हैं। उदाहरणार्थ कोई पौधा लम्बा है अथवा बौना, उसकी पत्तियां छोटी हैं अथवा बड़ी, उसके बीज अधिक पैदावार देने वाले हैं अथवा कम, आदि सभी बातें उसके जीनों पर निर्भर करती हैं। जीन में किसी प्रकार का परिवर्तन आ जाए तो वह जीव के गुणों को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ यदि किसी पौधे की लम्बाई को निर्धारित करने वाले जीन में किसी प्रकार कोई परिवर्तन आ जाता है तो हो सकता है कि भविष्य में वह पौधा बौना रह जाए या और अधिक लम्बा भी हो सकता है। यह परिवर्तन जीव के किसी भी जीन में हो सकता है और उसके गुणों को प्रभावित कर सकता है। वैज्ञानिक भाषा में इस परिवर्तन को 'उत्परिवर्तन' कहा जाता है। इस प्रकार 'उत्परिवर्तन' वह प्रक्रम है जिसके द्वारा जीवों के गुणों में परिवर्तन आ जाता है। इसके परिणामस्वरूप गेहूं के पौधे में दाने का रंग लाल से सफेद हो सकता है, गुलाब में पंखुड़ियां गुलाबी रंग से पीले में परिवर्तित हो सकती हैं, आदि, आदि।

उत्परिवर्तन प्रकृति का एक परम आवश्यक नियम है। यही कारण है कि अपने चारों ओर हम प्राणियों की अनेक जातियां, प्रजातियां, किस्में, उपकिस्में देखते हैं। यही नहीं हरेक उपकिस्म में भी सभी सदस्य एक समान नहीं होते हैं। एक ही माता-पिता की संतानें (जुड़वां को छोड़ कर) एक जैसी नहीं होतीं। एक ही गेहूं के पौधे से प्राप्त सभी बीजों को यदि बोया जाए तो उनसे प्राप्त पौधों की बारीकी से जांच करने पर पता चलेगा कि प्रत्येक पौधा एक या अधिक गुणों में अन्य पौधों से भिन्न है। ऊपर से देखने पर एक जैसे दीखने वाले पौधों के रासायनिक गुण अलग-अलग हो सकते हैं, उनकी उत्पादन क्षमता भिन्न हो सकती है, विभिन्न प्रकार की बीमारियों अथवा कीड़ों से बचने की उनकी क्षमता में अन्तर हो सकता है। और यह सब होता है उत्परिवर्तनों द्वारा पैदा किए गए गुणों के विभिन्न प्रकार के मिश्रणों के कारण। इस प्रकार सारे जीवन की विविधता का एक मुख्य रहस्य उत्परिवर्तन ही है। और यह प्रक्रम भी उतना ही प्राचीन है जितना कि पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व। यह प्रादुर्भाव का अनिवार्य साधन तथा जैविक उन्नति का





(बाएं से) एक जीनी बौना गेहूं, और दो जीनी बौना गेहूं

आधार है। नई किस्में तैयार करने के लिए भी वैज्ञानिकों को उत्परिवर्तन का ही आश्रय लेना पड़ता है।

गेहूं में "बौना" उत्परिवर्तन

कुछ समय पहले तक एक आम धारणा थी कि पौधा जितना लम्बा-तगड़ा होगा उतनी ही पैदावार अधिक होगी। इस धारणा में बुनियादी रूप से कोई गलती भी नहीं थी। परन्तु जब अधिकाधिक रासायनिक खादों का प्रचुर मात्रा में सिंचाई के साथ प्रयोग किया जाने लगा तो पता चला कि अधिक मात्रा में खाद-पानी देने से पौधे अत्यधिक लम्बे हो जाते हैं और स्वयं अपना भार सहारने में असमर्थ होने के कारण गिर पड़ते हैं। परिणामस्वरूप पैदावार बढ़ने की बजाय कम हो जाती है। अतः आवश्यकता थी ऐसी किस्म की जिसमें तना इतना मोटा अथवा मजबूत हो कि काफी अधिक खाद-पानी देने पर भी पौधा गिरे नहीं और पौधों को दिए गए पोषण का उपयोग बाल तथा दाने के विकास में पूरा-पूरा हो सके।

सन् 1946 में जापान में कार्य कर रहे एक अमरीकी कृषि-विशेषज्ञ डा. एस.सी. सालमोन ने देखा कि जापानी किसान छोटी किस्म का गेहूं उगाते हैं। जापानी खेती अधिक खाद-पानी के प्रयोग के लिए काफी अरसे से प्रसिद्ध है। डा. सालमोन ने देखा कि ये पौधे करीब 2 फुट से अधिक लम्बे नहीं होते, जबकि आमतौर पर गेहूं उन परिस्थितियों में 3-3.5 फुट तक लम्बा हो कर गिर जाता था। इसके साथ ही इसका तना काफी मजबूत था और यही कारण था कि ये पौधे गिरते नहीं थे। इससे भी अद्भुत गुण उनमें यह पाया गया कि पौधे छोटे होने के बावजूद प्रत्येक पौधे में शाखाएं अनगिनत संख्या में फूट निकलती थीं, अतः प्रत्येक पौधे में बालें काफी बड़ी संख्या में मिलती थीं। आमतौर पर गेहूं को 6 से 10 इंच की दूरी पर लाइनों में बोया जाता था, परन्तु जापानी किसान इन बौनी किस्मों को लगभग 20 इंच के फासले पर बोते थे। फिर भी खेत बालों से ढका रहता था। डा. सालमोन इन किस्मों के कुछ बीज अपने साथ अमरीका ले आए।

उत्परिवर्तन भारत में

इन किस्मों से संयुक्त राज्य अमरीका में डा. ओ. ए. बोगल ने और मैक्सिको में डा. नॉरमन ई. बोरलाग ने कुछ नई किस्में तैयार कीं;

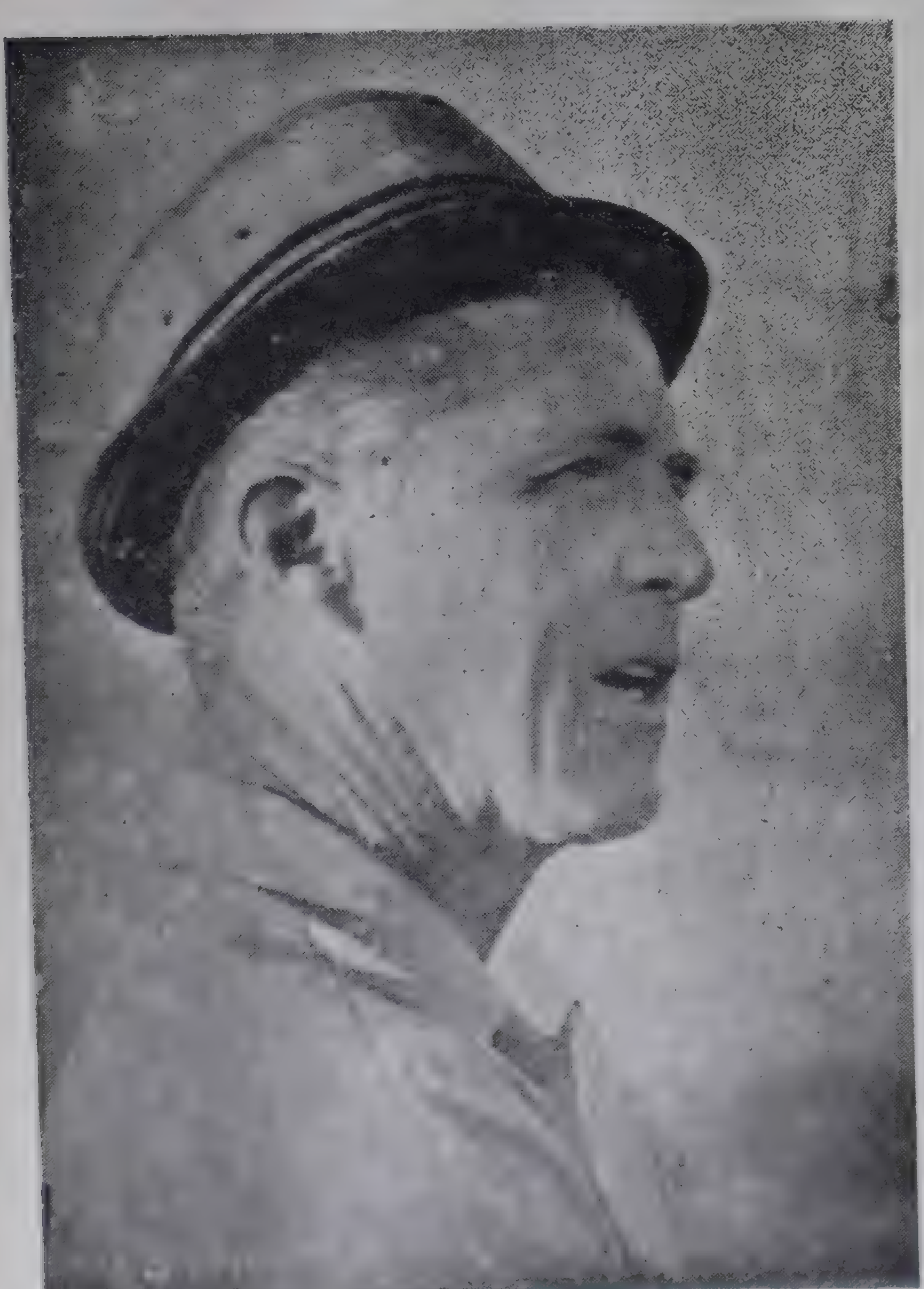
क्योंकि जापानी किस्में हर परिस्थितियों में आदर्श साबित नहीं हो सकती थीं। उनका विकास जिन परिस्थितियों में हुआ था, ठीक उसी प्रकार की मिट्टी, जलवायु आदि मिलना वहां संभव नहीं था। अतः जापानी किस्मों में से केवल एक गुण, 'बौनापन' निकाल कर संकरण द्वारा स्थानीय किस्मों में स्थानान्तरित कर दिया गया। अपने प्रयत्नों में डा. वोगल तथा डा. बोरलाग दोनों ही सफल हुए।

डा. वोगल की प्रसिद्ध किस्म 'गाइनेस' अमरीकी परिस्थितियों में बहुत सफल सिद्ध हुई और 120 मन प्रति एकड़ तक गेहूं की पैदावार दी, जो अभी तक का विश्व रेकार्ड है। डा. वोगल की किस्म में नए सद्‌गुणों के साथ-साथ भारतीय परिस्थितियों के हिसाब से कुछ अवगुण भी थे। यह किस्म उत्तरी अमरीका की शीतोष्ण जलवायु के लिए तैयार की गई थी जहां गर्मियों में दिन 16 घंटे से भी लम्बा होता है, जबकि भारत तथा अन्य उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में गेहूं सर्दियों में पैदा किया जाता है और उस समय सूरज की रोशनी केवल 10-12 घंटे ही उपलब्ध होती है।

बौने गेहूं का भारत में आगमन

डा. बोरलाग ने बौनेपन के गुण को लघु-दिवसीय (छोटे दिन वाले) गुण के साथ बिठा कर नई किस्म तैयार की। उन्होंने जो किस्में तैयार कीं, उनमें प्रमुख थीं सोनोरा 64, सोनोरा-63, लरमारोजो आदि। भारतीय परिस्थितियों के लिए इसी प्रकार के गुणों से युक्त किस्मों की आवश्यकता थी। अतः ये किस्में भारत में मंगाई गईं और इनसे आशातीत सफलता मिली।

डा. नॉरमन बोरलाग



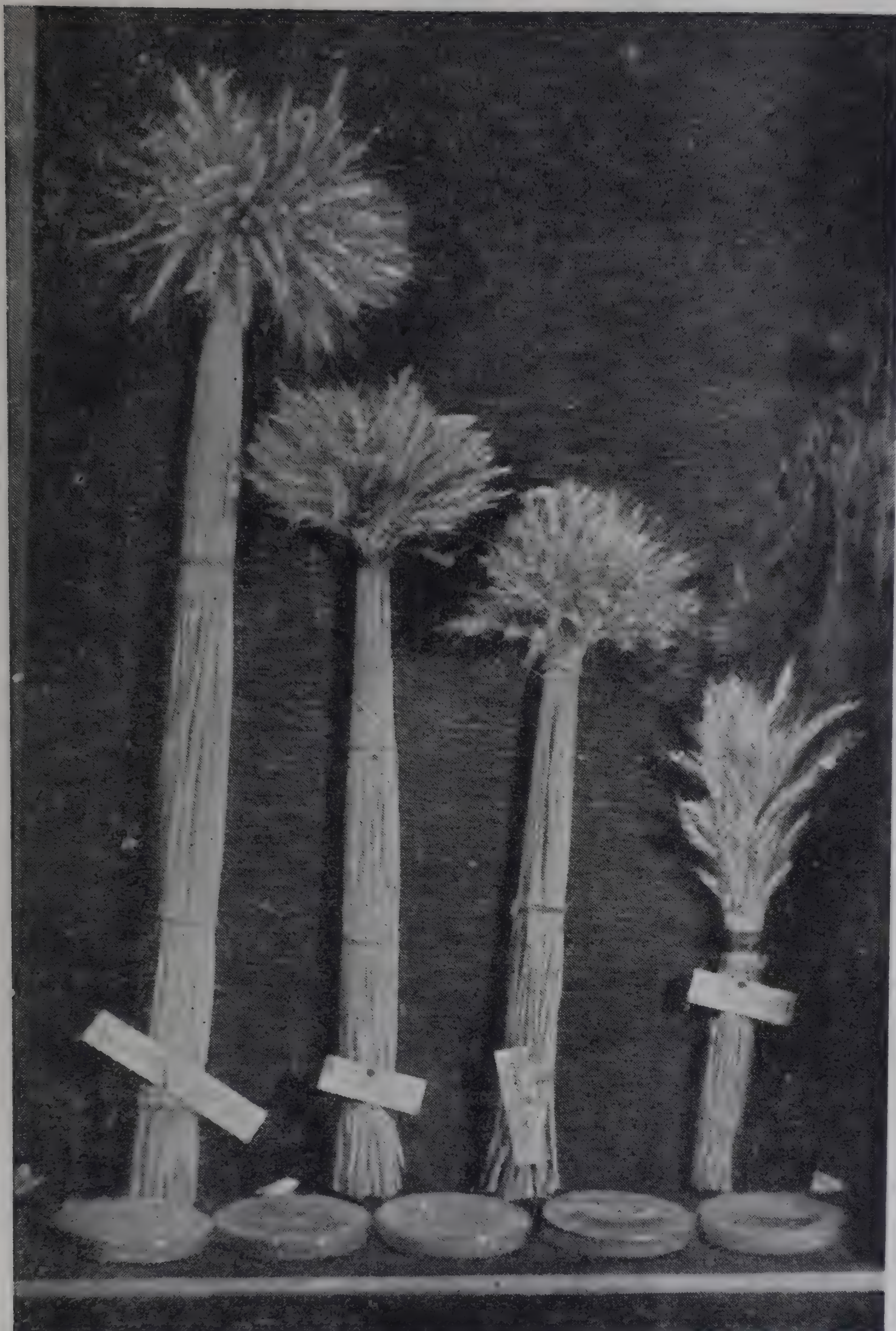


तीन जीनी बौना गेहूं

लेकिन उत्परिवर्तनों की शाश्वत श्रृंखला को तो आगे बढ़ना था। शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि मैक्सिकन गेहूं ज्यादातर लाल रंग के होते हैं, जबकि भारतीय उपभोक्ता सफेद गेहूं ज्यादा पसन्द करते हैं, और सफेद गेहूं की बिक्री भी अधिक मूल्य पर होती है। इसलिए उत्पादकों व कृषकों द्वारा अधिक उपज देने वाले सफेद बौने गेहूं की मांग किया जाना स्वाभाविक ही था।

बहुगुणीय रंग परिवर्तन

इस समस्या को लेकर दिल्ली-स्थित पूसा इन्स्टीटयूट में डा. एम.



(बाएं से) गेहूं की एन. बी.—824, सोनालिका, शरबती सोनोरा और एच. डी. एम. 66-1634 किस्में।

एस. स्वामिनाथन ने कार्य शुरू किया। उत्परिवर्तनों के जितने भी उदाहरण ऊपर दिए गए हैं उनमें प्राकृतिक उत्परिवर्तन ही शामिल हैं। लेकिन उत्परिवर्तन कृत्रिम रूप से भी पैदा किए जा सकते हैं। इनके लिए रेडियधर्मी तत्व, तथा रेडियधर्मी किरणों जैसे कि एक्स-किरणों, गामा-किरणों आदि का उपयोग किया जाता है। इनके अलावा विशेष प्रकार के रासायनिक पदार्थों द्वारा भी उत्परिवर्तन किया जा सकता है।

पूसा इन्स्टीटयूट के प्रयोगों में सोनोरा-64 पर गामा-किरणों का प्रयोग किया गया, जिसके परिणामस्वरूप कुछ पौधे ऐसे प्राप्त हुए जिनमें गेहूं का रंग लाल से उत्परिवर्तित होकर सफेद हो गया था। विश्लेषण करने पर पता लगा कि इन पौधों के रंग में सुधार होने के साथ-साथ गेहूं में प्रोटीन की मात्रा भी बढ़ गई है। फिर क्या था, अगले वर्षों में इस नई किस्म का मूल्यांकन देश के विभिन्न भागों में किया गया और आगे चल कर यह 'शरबती सोनोरा' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस लेख में आपने उत्परिवर्तनों का महत्व केवल एक फसल में देखा। गेहूं के अलावा अन्य फसलों के विकास में उत्परिवर्तनों का क्या योगदान रहा है, यह आप अगले अंक में पढ़ेंगे।

सूर्य और उसका परिवार

राधाकान्त भारती

पुराने जमाने के लोगों ने पृथ्वी को ही सब ग्रहों में विशाल तथा सूर्य-परिवार के मुखिया के रूप में, सौर मंडल का केन्द्र मान रखा था। अब से केवल चार सौ वर्ष पहले तक संसार के लोग यही मानते रहे कि पृथ्वी ही सबसे विशाल और संपन्न लोक है तथा सूर्य और अन्य तारे उसकी परिक्रमा करते हैं। लेकिन अब विज्ञान की मदद से यह बात मालूम हो चुकी है कि पृथ्वी सौर मंडल के केन्द्र में स्थित प्रधान ग्रह नहीं है, बल्कि सौर परिवार का एक छोटा सा सदस्य है। ब्रह्मांड के अपरिमित विस्तार तथा सूर्य की विशालता की तुलना में पृथ्वी एक बहुत छोटा ग्रह, 12650 किलोमीटर व्यास का एक गोला है; और सूर्य से 14,96,64,000 कि.मी. दूर है। सौर परिवार के ही कुछ सदस्य आकार में पृथ्वी से कई गुना अधिक विशाल हैं। सूर्य के आकार का अनुमान आप इस बात से लगा सकते हैं कि यदि सौर-परिवार के सभी ग्रह आप में मिल जाएं तो भी सूर्य का विस्तार उनसे कई गुना अधिक रहेगा। परंतु ब्रह्मांड में मात्र सूर्य ही अकेला विशाल तारा नहीं है। साफ रात्रि में आकाश में दीखने वाले अगणित तारों के बड़े समूह में, जिसे आकाश गंगा कहते हैं, सूर्य से भी बहुत अधिक प्रकाश वाले व विशाल अनेक तारे हैं और उनके भी अपने परिवार हैं। इस प्रकार ब्रह्मांड की विशालता और आकाश गंगा के असीम विस्तार के सामने हमारी पृथ्वी मात्र एक धूलिकण के समान है।

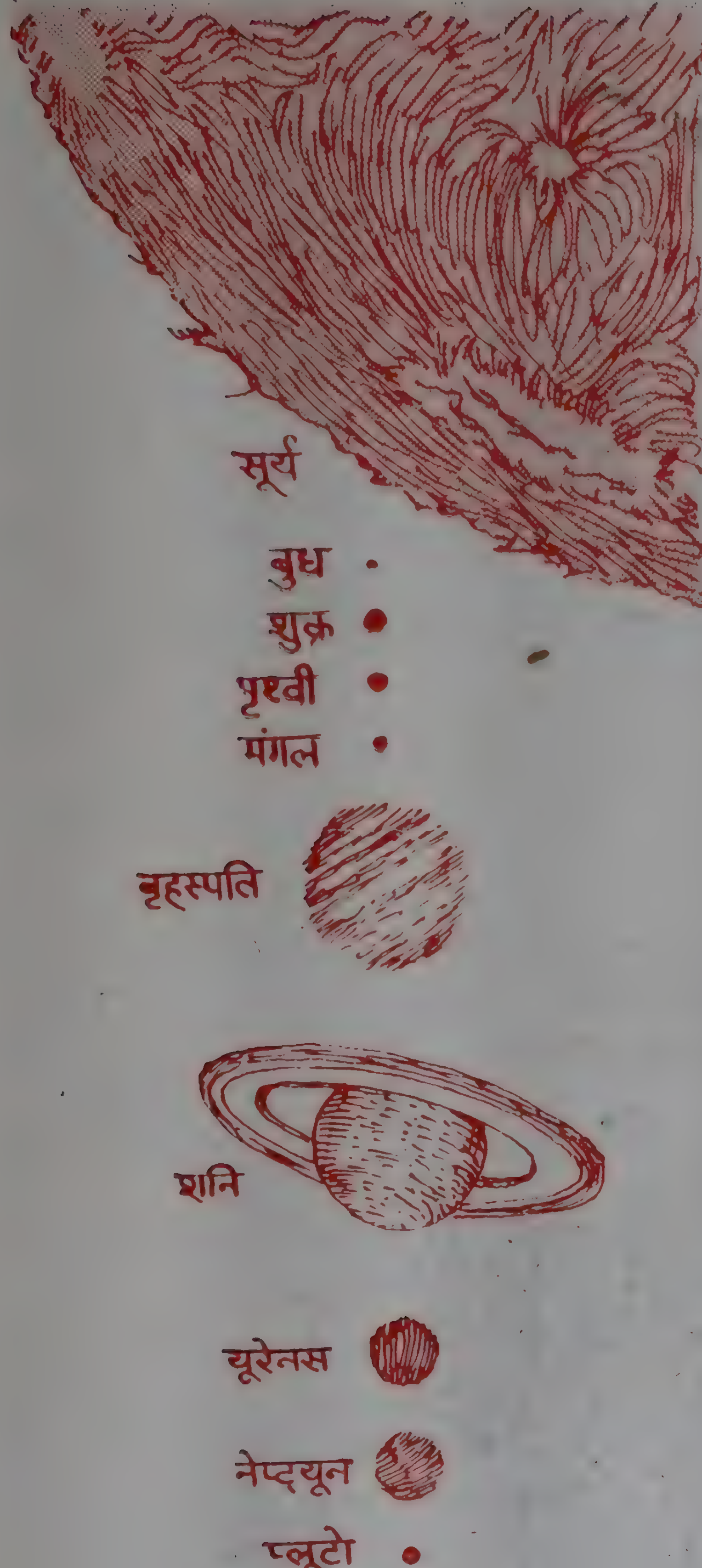
सूर्य

पृथ्वी पर के समस्त प्राणियों के जीवन के लिए प्रकाश और गर्मी आवश्यक है—इसके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता। धरती को प्रकाश और ऊष्मा सूर्य से मिलती है। यदि यह प्रकाश और ऊष्मा न मिले तो संपूर्ण धरातल ठंडा होकर जम जाए और यहां से जीवन का नामोनिशान मिट जाए।

वास्तव में सूर्य ही धरती के जीवधारियों का जीवनदाता है। इसलिए प्राचीन-काल से मानव सूरज को देवता के रूप में पूजता आया है। सूर्य आग का एक विशाल गोला है जिसका व्यास 13,84,000 किलोमीटर है। तथा यह पृथ्वी से 3,33,000 गुना अधिक वजनी है। सूर्य के तल पर का औसत ताप (6000° सें.) इतना है कि सभी ठोस वस्तुओं को गैस के रूप में परिणत कर सकता है।

प्रश्न उठता है कि सूर्य में इतनी भीषण ऊष्मा कहां से और कैसे आई? सूर्य को जलते हुए कोयले की भांति प्रज्ज्वलित आग का गोला नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में वह कभी का जल कर राख हो गया होता। अनुमान किया जाता है कि सूर्य में यह अपरिमित ऊष्मा उसमें हो रही विभिन्न क्रियाओं के द्वारा निरन्तर उत्पन्न होती रहती है। इस प्रसंग में यह मान्यता है कि सूर्य की ऊष्मा का स्रोत उसकी रेडियम-धर्मिता है, जिसके द्वारा विभिन्न तत्वों की प्रतिक्रिया से भीषण ताप उत्पन्न हुआ करता है।

शक्तिशाली दूरबीन के द्वारा देखने पर सूर्य दहकते हुए आग के



सौरमण्डल के ग्रहों के तुलनात्मक आकार

गोले की तरह नहीं दीखता बल्कि चमकते हुए एक बड़े थाल की तरह शांत नजर आता है जिसमें कई जगह पर छेद के जैसे छोटे-छोटे काले धब्बे हैं जो 'सन स्पॉट' या सूर्य के धब्बे कहलाते हैं। ये धब्बे समयानुसार संख्या में घटते-बढ़ते रहते हैं। सूर्य में धब्बों के घटने-बढ़ने से ताप में भी अंतर आता है और उसका असर पृथ्वी के मौसम पर भी होता है। अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि ये धब्बे ग्यारह वर्ष की अवधि में घटते-बढ़ते हैं।

सूर्य और उसके चारों ओर घूमने वाले ग्रह तथा उपग्रह (उपग्रह ग्रह के चारों ओर घूमते हैं, जैसे पृथ्वी का उपग्रह चांद) के समूह को सौर मंडल या सौर परिवार कहा जाता है। सूर्य के इस परिवार में नौ ग्रह, तथा इकतीस उपग्रह तथा अनेक ग्रहखंड (एस्ट्रायाड्स) हैं। सूर्य के चारों ओर घूमने वाले नौ ग्रह: बुध (मरकरी), शुक्र (वीनस), पृथ्वी, मंगल (मार्स), बृहस्पति (जुपिटर), शनि (सैटर्न), यूरेनस, नेप्ट्यून और प्लूटो हैं। इन ग्रहों का आकार-प्रकार, स्थिति तथा सूर्य से इनकी दूरी में बहुत भिन्नता है। आइए इनका परिचय एक-एक कर के प्राप्त करें।

बुध

सूर्य के सबसे निकट स्थित ग्रह बुध है। यह सूर्य के चारों ओर 576 लाख कि.मी. की दूरी पर अंडाकार कक्षा में 48 कि.मी. प्रति सेकंड की गति से घूम रहा है। बुध ग्रह का व्यास केवल 4800 कि.मी. है। अपनी धुरी पर यह अत्यंत मंद गति से घूमता है। फलस्वरूप बुध का एक दिन हमारी पृथ्वी के 88 दिनों के समय के बराबर है। इतने ही समय में वह सूर्य का एक चक्कर लगा लेता है। बुध का कोई वायुमंडल नहीं है और न वहां जल है, इससे जिस ओर धूप रहती है वहां भीषण गर्मी पड़ती है और दूसरी ओर अंधकार में अत्यधिक ठंड रहती है। सूर्य के अत्यन्त निकट रहने के कारण बुध ग्रह को सूर्योदय के झुटपुटे में ही देखा जा सकता है।

शुक्र (वीनस)

शुक्र पृथ्वी का पड़ोसी है। सूर्य से इसकी दूरी 1072 लाख कि.मी. है। शुक्र ग्रह अपने आकार-प्रकार में पृथ्वी से बहुत अधिक मिलता-जुलता है। इसका व्यास 12000 कि.मी. है। वहां धरती के समान ही रात-दिन होते हैं और यह लगभग 225 दिनों में सूर्य की परिक्रमा पूरी कर लेता है। अपनी तेज चमक के कारण आकाश में यह अलग स्पष्ट दिखाई देता है। शुक्र इतना चमकदार इस कारण से दिखाई देता है कि इसके वायुमंडल में गैसीय अवस्था फैले हुए बादल प्रकाश को परावर्त्तित कर देते हैं।

मंगल (मार्स)

क्रमानुसार सौर परिवार में बुध और शुक्र के बाद स्वयं पृथ्वी स्थित है, इसके उपरांत चौथे ग्रह के रूप में पृथ्वी का दूसरा पड़ोसी मंगल है। इसका व्यास 6828 कि.मी. और सूर्य से दूरी 17,48,00,000 कि.मी. है। 687 दिनों में यह सूर्य की परिक्रमा कर पाता है। पृथ्वी के चांद की तरह इसके दो उपग्रह **फोबोस** और **डीमोस** हैं। इस ग्रह की चमक में लालिमा रहती है जो वहां पर फैले विस्तृत मरुस्थल का प्रतिबिंब है। मंगल ग्रह का अपना हलका सा वायुमंडल भी है। अनुमान है कि वहां जल का अभाव है। पृथ्वी के सबसे निकट रहने के कारण इस ग्रह के धरातल को दूरबीन की सहायता से हम अधिक साफ देख पाते हैं। उसके तल पर अनेक आड़ी-तिरछी लकीरें दिखाई पड़ती हैं। इस संबंध में यह अनुमान किया जाता रहा है कि वहां प्राणियों का निवास है। परंतु यह अभी अनुमान मात्र है।

बृहस्पति (जुपिटर)

सौर मंडल के सभी ग्रहों में बृहस्पति सब से विशाल ग्रह है। व्यास में यह पृथ्वी से ग्यारह गुना बड़ा है। इसका व्यास 1,42,000 कि.मी. है और इसका एक वर्ष पृथ्वी के 11.9 वर्ष के बराबर होता है। विशाल आकृति के बावजूद इसकी चपटी सतह इस बात का संकेत है कि यह ग्रह अभी तक गैसीय स्थिति में है। दूरबीन से देखने पर बृहस्पति ग्रह में कई रंगीन पट्टियां नजर आती हैं जो शीघ्रता से अपना रूप बदलती रहती हैं। अनुमान है कि ये पट्टियां उसके वायुमंडल में उपस्थित मीथेन गैस के बादलों से बनती हैं। इन बादलों में 250° फा. के ताप का अनुमान है। चूंकि बृहस्पति सूर्य से अधिक दूर है, इसलिए वहां अधिक ताप की संभावना नहीं है, फिर भी आकार में बड़े होने की वजह से वहां उष्णता शेष है। अपनी विशाल आकृति के अनुरूप बृहस्पति के बारह उपग्रह हैं।

शनि (सैटर्न)

शनि ग्रह यद्यपि आकार में बृहस्पति से कुछ छोटा है पर अन्य बातों में इनमें काफी समानता है। इसका व्यास 75,000 मील है। चारों ओर से बादलों के घने आवरण से ढके होने के कारण हम अब तक इसके वास्तविक रूप को नहीं देख पाए हैं। सूर्य से काफी दूर होने के कारण इस ठंडे ग्रह में मीथेन और अमोनिया गैस फैली है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

बृहस्पति के बाद सबसे अधिक उपग्रह इसी को प्राप्त हैं, जिनकी संख्या नौ है। इसके अलावा शनि ग्रह की सबसे बड़ी विशेषता इसके चतुर्दिक मंडलाकार फैला हुआ एक विचित्र घेरा है। दूरबीन से देखते पर मंडलाकार घेरे के बीच स्थित शनि सहज ही पहचाना जा सकता है। चतुर्दिक फैली यह गोल आकृति कोई ठोस सतह नहीं है बल्कि उल्काखंड जैसे अनेक टुकड़ों का समूह है। किनारे पर यह समूह मात्र दस मील के करीब मोटा है परन्तु चौड़ाई में यह 42 हजार मील के विस्तार में फैला है।

यूरेनस, नेप्ट्यून और प्लूटो

ये तीन सदस्य सौर मंडल के बाहरी किनारे पर स्थित हैं। सूर्य से अत्यधिक दूरी पर रहने के कारण इनकी चमक बड़ी मंद है। यूरेनस सूर्य से 2,66,00,00,000 कि.मी. दूर है और इसका व्यास 48,000 कि.मी. है। नेप्ट्यून की सूर्य से दूरी 4,46,40,00,000 कि.मी. है और व्यास 448,00 कि.मी. है। सूर्य से सबसे अधिक दूरी 3,70,00,00,000 मील पर स्थित ग्रह प्लूटो का पता बहुत बाद (1930) में लगा। इस कारण से यह बिना दूरबीन की सहायता के नहीं देखे जा सकते। इसलिए दूरबीन के आविष्कार के बाद ही वैज्ञानिक इसका पता पा सके। 1781 में हरशेल ने यूरेनस का और 1946 में गैली ने नेप्ट्यून का पता लगाया था।

ये नौ ग्रह और इकतीस उपग्रह सौर मंडल के सदस्य हैं, परंतु मात्र इन्हीं से सौर परिवार पूर्ण नहीं हो जाता। इनके अलावा भी ग्रह खंड (प्लेनेटाइड्स), पुच्छल तारे तथा उल्काखंड (मीटिआर) भी सौर परिवार के छोटे सदस्य हैं, जो इधर-उधर फैले हैं।

ग्रहखंड

अठारहवीं शती तक लोगों का अनुमान था कि बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल के मध्य अवश्य कोई अज्ञात ग्रह है। इस अज्ञात ग्रह को ढूंढ़ निकालने के लिए खोजकार्य किया गया और परिणामस्वरूप अब तक एक नहीं, बल्कि उस स्थान पर लगभग दो हजार ग्रहखंडों का पता लग चुका है। ये बहुसंख्यक ग्रहखंड मंगल और बृहस्पति के मध्य स्थित हैं। संख्या में अनेक होते हुए भी ये ग्रहखंड सौर परिवार के नियमों का पालन करते हैं और ग्रहों की तरह अपनी कक्षा पर गतिमान होकर सूर्य की परिक्रमा करते हैं। आकार में ये अत्यंत छोटे हैं तथा इन में से अधिकांश का व्यास मात्र कुछ मीलों का है। इनमें सबसे बड़े ग्रह-खंड का व्यास मात्र 490 मील है। अनुमान है कि इन लघु खंडों में कोई वायुमंडल नहीं है और न जल है – ये मात्र चट्टानी टुकड़े हैं जो एक समूह में सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं।

धूमकेतु या पुच्छल तारा

झाड़ू की तरह दीखने वाले ये धूमकेतु ब्रह्मांड में एकत्रित छोटे टुकड़ों, गैस और धूल के समूह हैं जो विशाल मंडलाकार परिधि में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। सूर्य की परिक्रमा करने का इनका पथ तथा उस पर इनकी गति कभी एक सी नहीं रहती, फलस्वरूप इनकी स्थिति सौर मंडल के ग्रहों से बिल्कुल भिन्न है। सौर मंडल में इस प्रकार के छोटे बड़े कई धूमकेतु हैं, जिनमें से दो-चार प्रति वर्ष दिखलाई पड़ते हैं। अब तक का सबसे बड़ा धूमकेतु 1910 में दिखलाई पड़ा था।

उल्काएं और उल्काखंड

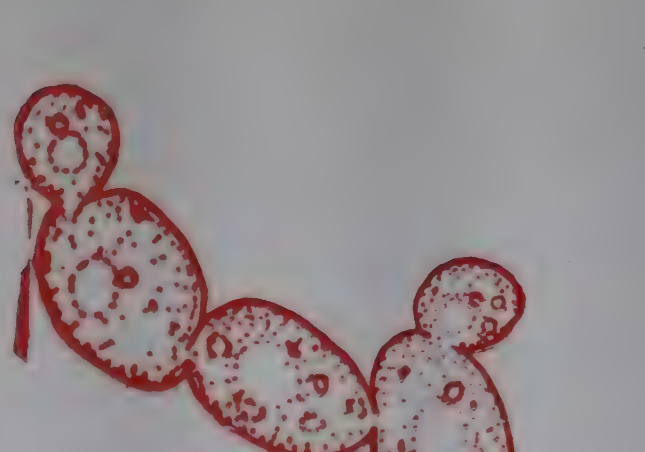
साफ आसमान वाली तारों भरी रात में हम उल्कापात का दृश्य देख सकते हैं। बोलचाल की भाषा में इसे तारा टूटना कहा जाता है परंतु वास्तव में ये ऐसे टुकड़े हैं जो धूमकेतु या अन्य ग्रहों से छिटक कर पृथ्वी की ओर अग्रसर होते हैं। पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते ही घर्षण के कारण तप्त होकर ये जल उठते हैं और तब टूटकर गिरते हुए तारे की तरह दीख पड़ते हैं। इनमें से अधिकतर बीच में ही जल कर राख हो जाते हैं – ये उल्काखंड कहलाते हैं।

• • •

सूक्ष्म जीवों का उद्योगों में योगदान

हरीश कुमार

मनुष्य को संसार में दो वस्तुओं का आभास स्वतः होता है : एक है नीला आकाश, दूसरा हरियाली। हरियाली में बड़े-बड़े पेड़, नीम, पीपल, शीशम, आम आदि होते हैं। छोटे फूल वाले पौधे भी इसी समूह के ही सदस्य हैं। इन सब के परे, असंख्य ऐसे सूक्ष्म-जीव भी हैं जो हम को खाली आंख से नहीं दिखाई देते। फिर भी वे हम सबके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनकी शक्ति लगभग अपार है। इनकी तुलना परमाणु ऊर्जा से की जा सकती है। इन्हें जिस किसी कार्य के लिए इस्तेमाल किया जाये, ये आश्चर्यजनक परिणाम पेश करते हैं। साथ ही, यह सूक्ष्म जीव न केवल इन्सान और पशु-पक्षियों को ही कष्ट देते हैं, बल्कि पौधों का भी सर्वनाश कर डालते हैं। सैकड़ों वर्ष पूर्व आयरलैंड में 'पोटेटोब्लाइट' द्वारा आलू की सम्पूर्ण फसल नष्ट हो जाने की घटना इतिहास प्रसिद्ध है। **फाइटोप्थोरा इनफैस्टेन्स** द्वारा उत्पन्न पोटेटोब्लाइट महान अकाल का कारण सिद्ध हुआ जिसमें लाखों व्यक्ति जान से हाथ धो बैठे और असंख्य परिवार मूल देश, आयरलैंड से उखड़कर अन्य देशों में जा बसे।



मुकुलन द्वारा उत्पन्न खमीर कोशिकाओं (स्यूडोमाइसीलियम) की एक श्रृंखला

सूक्ष्मजीव शक्ति का वह रूप है, जिसे मनुष्य केवल सूक्ष्मदर्शी के द्वारा ही देख पाता है। इनकी रचना एक-कोशीय अथवा बहु-कोशीय होती है। इनके मध्य में एक बहुत ही छोटी सी रचना पाई जाती है जिसे केन्द्रक कहते हैं। इसी केन्द्रक द्वारा ये जीव अपने सम्पूर्ण कार्यों को नियंत्रित करते हैं। कीटाणु हमारे लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने कि खाद्य पदार्थ। आज ऐसे अनेक उद्योग हैं जो सूक्ष्म जीवियों पर ही निर्भर हैं। मदिरा, पनीर, अम्ल (ऑग्जैलिक, साइट्रिक ग्लूटोनिक, गैलिक आदि)। ग्लिसरोल वसा, प्रोटीन, विटैमिन, ऐन्टीबायोटिक आदि उद्योगों तथा कृषि में जहां एक ओर भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव विज्ञान आदि का योग है वहां सूक्ष्मजीव-विज्ञान का योग भी कम नहीं है।

प्राचीन काल से ही वाहित मल (सीवेज) को कृषि में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। यह सदैव से ही पेड़-पौधों के लिए एक ऐसा पदार्थ रहा है, जिसमें उनके लिए सभी आवश्यक तत्व उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। इस वाहित मल में नील-हरित शैवाल तथा **रोडोस्पाइरिलम** जैसे कुछ स्वतंत्र सूक्ष्म जीव मौजूद होते हैं। इसमें उपस्थित **क्लोस्ट्रीडियम** तथा **ऐजोटोबैक्टर** जैसे कुछ जीव अकार्बनिक पदार्थों को कार्बनिक पदार्थों में बदल कर उन्हें पौधों के लिए ग्रहणीय बना देते हैं। यही कारण है कि आज संसार के सभी कृषि प्रधान देशों में वाहित मल को एकत्रित करने के लिए वाहित मल केन्द्र बना दिए गए हैं। इनसे उर्वरकों की कमी की पूर्ति काफी हद तक की जा सके।

वायु में उपस्थित नाइट्रोजन जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्व है परन्तु इसे न तो जन्तु और न ही अधिकांश पेड़-पौधे सीधे रूप से ग्रहण कर सकते हैं। जन्तु तो नाइट्रोजन की प्राप्ति विभिन्न प्रकार के पौधों का भक्षण करके कर लेते हैं, पर पेड़-पौधे नाइट्रोजन की प्राप्ति के लिए सूक्ष्मजीवों पर आश्रित हैं। सूक्ष्मजीव मृदा में उपस्थित विभिन्न प्रकार के नाइट्रोजन यौगिकों को नाइट्रेटों में परणित कर देते हैं और पौधे इन्हें ग्रहण कर लेते हैं।

लेग्युमिनोसी कुल के पौधों की जड़ों में एक विशेष प्रकार की गांठें पाई जाती हैं। इन गांठों में **ऐजेटोबैक्टर** तथा **बैसिलस रेडीसिकोला**

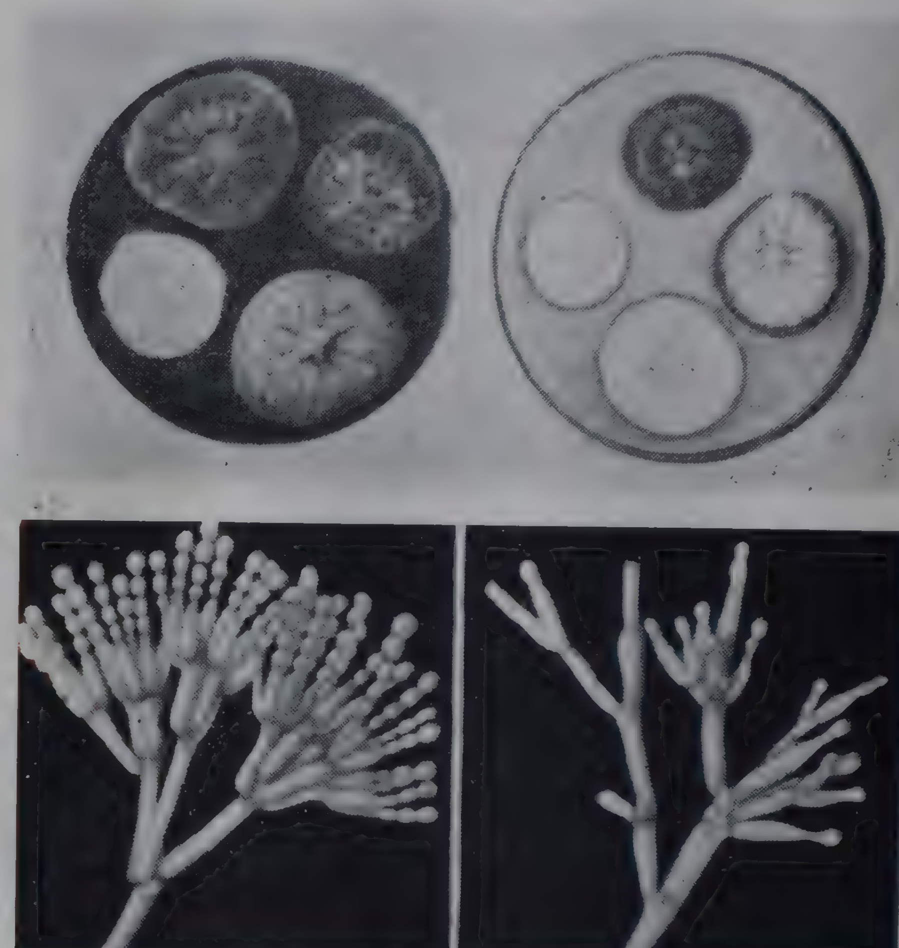
वास करते हैं। ये सूक्ष्मजीव भी मृदा में उपस्थित नाइट्रोजन यौगिकों को नाइट्रेटों में परिवर्तित कर देते हैं जिससे भूमि की उर्वरता कायम रहती है।

नाइट्रोजनीकरण तथा ह्यूमीकरण दो ऐसी क्रियायें हैं जो सूक्ष्म-जीवों के द्वारा ही होती हैं और इन क्रियायों के फलस्वरूप प्राप्त पदार्थ कृषि व्यवसाय में उर्वरक के रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं।

अमोनियाकरण की क्रिया में कुछ अमोनिया नाइट्रेट और नाइट्रो-जन में परिवर्तित हो जाती है और यह परिवर्तन जैविक आक्सीकरण के द्वारा होता है। यह क्रिया प्रायः दो चरणों में होती है। पहले अमोनिया नाइट्राइटों में परिवर्तित होती है। इसमें अविकल्पी स्वपोषित जीव जैसे **नाइट्रोसोमोनस** जीवाणु भाग लेते हैं।



ऐस्पेरजिलस नाइगर



पेनिसिलियम क्राइसोजेनम : (ऊपर) विभेदों की विविधता दर्शाने वाली कोलोनी; (नीचे) विभेदों में शाखायनन की विविधता दर्शाने वाले कोनिडीओफोर।



ऐस्पेरजिलस टेरियस

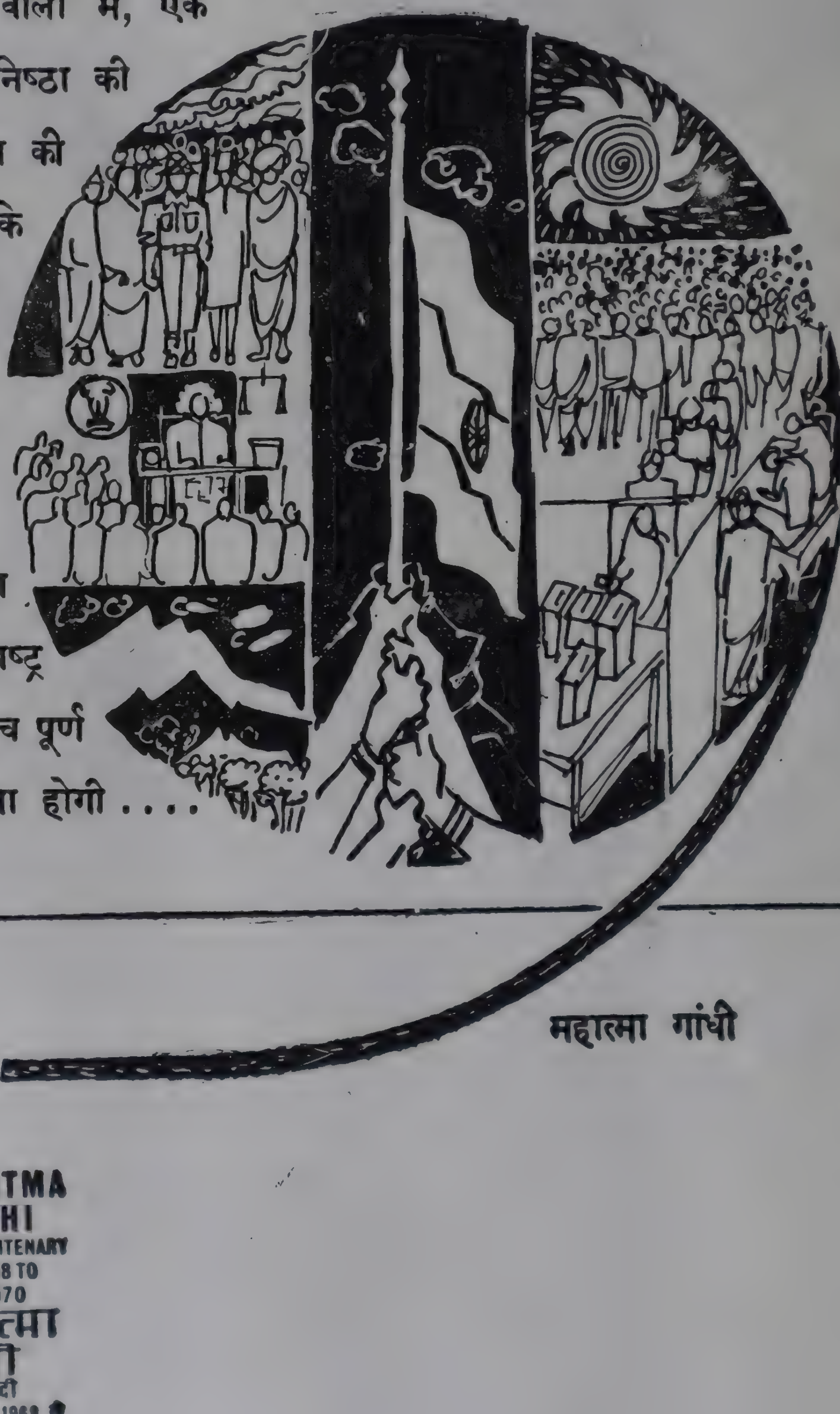
फिर नाइट्रोबैक्टर नाइट्राइटों को नाइट्रेटों में बदल देते हैं। ह्यूमीकरण की क्रिया में सड़े-गले कार्बनिक पदार्थ कुछ ही समय में सूक्ष्मजीवों की क्रिया के फलस्वरूप काले-भूरे रंग की मिट्टी में परि-वर्तित हो जाते हैं तथा उसमें उपस्थित पौधों के भोज्य पदार्थ पौधों के ग्रहण करने योग्य बन जाते हैं। इस क्रिया को सफल बनाने का श्रेय विभिन्न प्रकार के मृदाजीवों को ही है।

मदिरा उद्योग

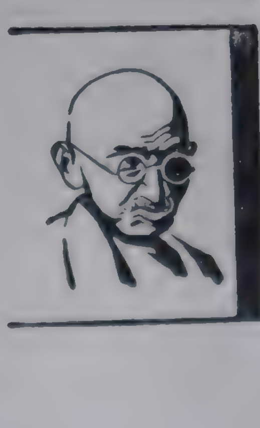
मनुष्य कई हजार वर्षों से मदिरा पान करता आ रहा है और कई देशों की अर्थ व्यवस्था तो केवल इसी पर आधारित है। यीस्ट तथा विभिन्न मोल्डों के द्वारा मदिरा का निर्माण किया जाता है। मदिरा-निर्माण पूर्ण रूप से अलकोहली किण्वन पर आधारित है।

एक राष्ट्र :
एक कौम

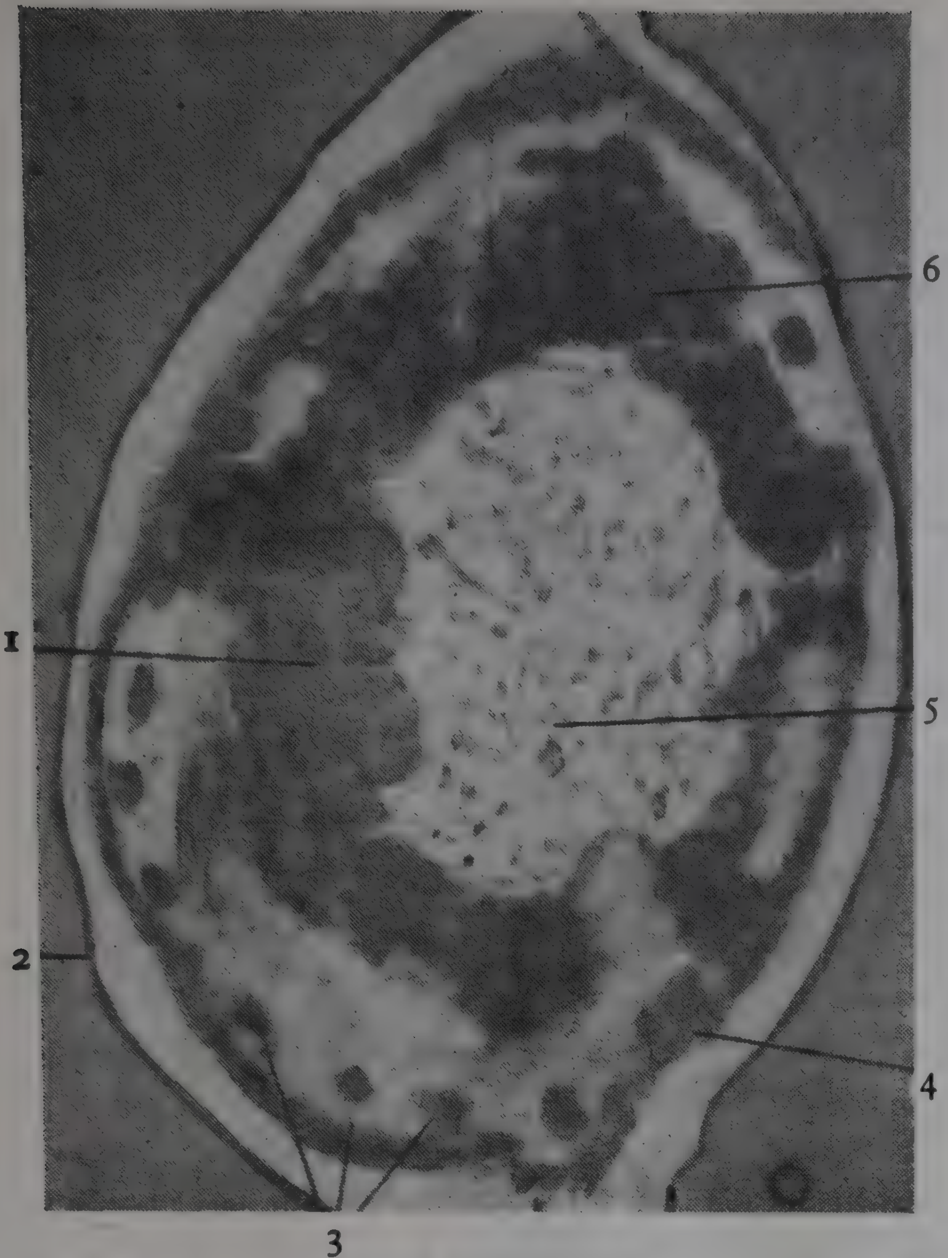
एक देश के रहने वालों में, एक झण्डे और उसके प्रति निष्ठा की शपथ लेने वालों में समानता की डोर इतनी मजबूत होती है कि जो लोग भारत को एक राष्ट्र मानते हैं, उनके सामने बहुमत और अल्पमत का सवाल ही पैदा नहीं होता। सभी को समान अवसर प्राप्त हैं। सभी बराबर हैं....हमारा देश धर्म-निरपेक्ष और लोकतंत्रीय राष्ट्र होगा, जिसमें सभी लोगों के बीच पूर्ण एकता और प्रेम की भावना होगी....



महात्मा गांधी



MAHATMA GANDHI
BIRTH CENTENARY
OCT. 2, 1968 TO
FEB. 22, 1970
महात्मा गांधी
जन्म शताब्दी
अक्तूबर 2, 1968 से
फरवरी 22, 1970



सैकरोमाइसिस सरविसियल का इलैक्ट्रान माइक्रोग्राफ :
1. केन्द्रक; 2. कोशिका भित्ति; 3. माइटोकोंड्रिया ;
4. कोशिकाद्रव्यी झिल्ली; 5. रिक्तिका (वैकुओल);
6. भण्डारकणिका.

बेकरी उद्योग भी किण्वन के सिद्धांत पर आधारित है । आटा, मैदा, सूजी आदि में यीस्ट तथा विभिन्न प्रकार के मोल्डों के द्वारा ही खमीर उत्पन्न होता है ।

अम्लों का निर्माण

विभिन्न प्रकार के अम्लों के निर्माण में सूक्ष्मजीव विशेष रूप से भाग लेते हैं । आग्जैलिक तथा साइट्रिक अम्लों का निर्माण विभिन्न प्रकार के मोल्डों की जैव-रासायनिक क्रियाओं पर आधारित है । 1891 ई. में व्हीमर ने किण्वनीकरण द्वारा विभिन्न प्रकार की शर्कराओं से **एस्परजिलस नाइगर** नामक मोल्ड को प्रयोग में लाकर आग्जैलिक अम्ल का निर्माण किया था । कुछ ही समय पश्चात् 1893 ई. में इसी वैज्ञानिक ने इसी विधि से सिटरोमाइसीज द्वारा साइट्रिक अम्ल तैयार किया ।

अब किण्वनीकरण विधि से ही उपर्युक्त अम्लों के साथ-साथ ग्लूकोनिक, लैक्टिक, गैलिक तथा आइटेकोनिक अम्लों का निर्माण हो रहा है । इसमें सन्देह नहीं कि इन सब अम्लों की निर्माण विधि लगभग एक है परन्तु प्रत्येक अम्लों के निर्माण में विभिन्न सूक्ष्मजीवों का प्रयोग होता है । ग्लूकोनिक अम्ल के निर्माण में **पैनीसीलियम क्राइसोजीनम** लैक्टिक अम्ल के लिए **राइजोफस औराइजी**, गैलिक अम्ल के लिए **ऐस्परजिलस गैलोमाइसिस** तथा आइटेकोनिक अम्ल के लिए **ऐस्परजिलस टीरयस** का प्रयोग होता है ।

1869 ई. में लुइ पास्चुर ने अल्कोहली किण्वन द्वारा यीस्ट से ग्लिसरोल को व्यापारिक स्तर पर बनाने का प्रयत्न किया । इस विधि में वह 3 प्रतिशत से अधिक ग्लिसराल न प्राप्त कर सके । परन्तु 1919 में लुडेक नामक जर्मन वैज्ञानिक ने क्षारीय माध्यम में शक्कर के घोल का किण्वन किया और उससे 25 प्रतिशत ग्लिसराल प्राप्त किया ।

वसा संश्लेषण

मनुष्य के भोजन के मुख्य अंश हैं वसा तथा प्रोटीन । कृत्रिम रूप से वसा की संश्लेषण-विधि में अनेक प्रकार के सूक्ष्मजीव प्रयोग में लाए जाते हैं । 1935 ई. में अमेरिकी वैज्ञानिक लाकवुड तथा वार्ड ने ग्लूकोज के द्वारा वसा का निर्माण किया और इस विधि में उन्होंने **पैनीसीलियम जावानिकम** नामक मोल्ड का प्रयोग किया । परन्तु कुछ समय पश्चात् उसके साथ-साथ अन्य सूक्ष्मजीव भी उपयोग में लाए गए । इनमें एन्डोमाइसिस वरनेलिस तथा औइडियम लैक्टीस उल्लेखनीय हैं ।

वसा की भांति प्रोटीन का संश्लेषण भी विभिन्न प्रकार के सूक्ष्मजीवों द्वारा किया जाता है । प्रोटीन संश्लेषण में **टोरयूलोप्सिस जीनस** का एक सूक्ष्मजीव 1943 के बाद प्रयुक्त किया जाने लगा । इस सूक्ष्मजीव से महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी । पहले **सैक्रोमाइसिस सेरवाइसे** नामक मोल्ड को प्रयोग में लाया जाता था तथा इस विधि द्वारा प्राप्त प्रोटीन फूड यीस्ट के नाम से प्रसिद्ध थी । परन्तु फूड यीस्ट में लगभग 45 प्रतिशत शुद्ध प्रोटीन होती है । यह विभिन्न प्रकार के पेस्ट्रियों, बिस्कुटों आदि के निर्माण में काम आती है ।

विटामिन उद्योग ने आज औद्योगिक दृष्टि से विशेष स्थान प्राप्त किया है । विभिन्न प्रकार के विटामिनों को बनाने का श्रेय सूक्ष्मजीवों को ही है ।

सूक्ष्मजीवों से उत्पन्न संक्रामक रोगों की रोकथाम का श्रेय एन्टीबायोटिक औषधियों को है जो स्वयं सूक्ष्मजीवों से तैयार की जाती हैं । प्रसिद्ध एन्टीबायोटिक पैनीसिलीन, एक सूक्ष्मजीव **पैनीसिलियम नोटेटम** की ही देन है । पैनीसिलीन के अतिरिक्त अन्य एन्टीबायोटिक औषधियां मोल्डों की सहायता से ही नहीं, अन्य सूक्ष्मजीवों से भी प्राप्त होती हैं । **स्ट्रेप्टोमाईसिस** नामक सूक्ष्मजीव की अनमोल देन हैं; स्ट्रेप्टोमाइसिन, यूरोमाइसन, क्लोरोमाइसिटीन ।

इन्हीं सब एन्टीबायोटिकों की सहायता से संक्रामक रोगों की रोकथाम की जा रही है । हालांकि विज्ञान की महत्वपूर्ण प्रगति हो चुकी है, फिर भी मनुष्य तथा पशुओं के ऐसे रोग हैं, जिनसे छुटकारा पाने के लिए कोई विशेष एन्टीबायोटिक औषधियां उपलब्ध नहीं हैं । इस लक्ष्य की ओर अग्रसर वैज्ञानिक नई-नई एन्टीबायोटिक औषधियों की खोज के लिए अनुसंधान कार्य में रत हैं ।

जीवित-जीवाश्म (भाग 2) लेटिमेरिया

अनिलकुमार श्रीवास्तव
और
रामसुधि भट्ट

सभी जीवित-जीवाश्मों में अद्भुत, सीलाकांथ वर्ग का लेटिमेरिया मत्स्य पिछले लगभग 30 करोड़ वर्षों से किस प्रकार जीवित चला आ रहा है, यह हमारे सम्मुख अब भी एक प्रश्न बना हुआ है। इसका कंकाल बिल्कुल चूना-पत्थर वाले उन जीवाश्मों के समान है जिनको काल बहुत पहले ही अपने अंक में समेट चुका है। जीवन कितना दृढ़ और चमत्कारी है इसका आभास हमें लेटिमेरिया को देखने मात्र से ही हो जाता है।

वैज्ञानिक संसार में लेटिमेरिया का इतिहास सन् 1938 के दिसंबर की दूसरी तिथि से प्रारंभ होता है। दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका के ईस्ट लंदन नामक एक बंदरगाह पर कुमारी कार्टन लेटिमर, जो एक स्थानीय संग्रहालय की अध्यक्षा थीं, मछुओं द्वारा लाई गई मछलियों के एक ढेर का निरीक्षण कर रही थीं। उस ढेर में उन्हें एक ऐसी मछली दिखाई पड़ी जो अन्य सभी से भिन्न और अद्भुत थी। इसकी लम्बाई 1.5 मीटर, भार लगभग 58 कि. ग्राम तथा शरीर लौह-नील वर्ण का था। इसके जबड़े बहुत ही शक्तिशाली दिखाई पड़ते थे, तथा पख (फिन) गद्देदार। कुमारी लेटिमर इसे पहचानने में असमर्थ थीं; अतः उन्होंने इसका एक चित्र बनाया तथा उसे दक्षिण अफ्रीका में ग्राहम्सटाउन स्थित र्होड्स विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध मत्स्य-विशारद प्रोफेसर जे. एल. बी. स्मिथ के पास भेज दिया।

प्रोफेसर स्मिथ इस मत्स्य को देखते ही चकित रह गए। उन्हीं के शब्दों में उनका उद्गार इस प्रकार है: "एक डाइनोसौर को गलियों में चलता देख कर मुझे इतना ही अचम्भा होता जितना आज इसे देखकर हो रहा है।" यह एक ऐसी मछली है जिसे डाइनोसौरों के साथ ही लुप्त हुआ समझा जाता था। वैज्ञानिकों को इसका ज्ञान करोड़ों वर्ष पहले के जीवाश्म-चिन्हों से ही था। प्रोफेसर स्मिथ ने पूर्ण अध्ययन के उपरान्त इसकी पहचान की तथा उसका नाम कुमारी लेटिमर के आदर में **लेटिमेरिया** रखा। इसका जातीय नाम **चालूमनी** रखा गया क्योंकि प्रथम बार यह चालूमना नदी के मुहाने से प्राप्त हुई थी। प्रोफेसर स्मिथ के नाम पर 'स्मिथ' शब्द अंत में जोड़ दिया गया। और इस प्रकार अंतर-राष्ट्रीय स्तर पर अब इसका नाम **लेटिमेरिया चालूमनी** स्मिथ है।

जन्तु जगत के इतिहास में लेटिमेरिया का ज्ञान बीसवीं शती की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। इस खोज से सम्पूर्ण संसार में सनसनी फैल गई। लेटिमेरिया एक ऐसी विलुप्त मछली का निकटतम जीवित संबंधी है जिसे सभी रीढ़वाले थलीय प्राणियों का पूर्वज माना जाता है।

प्रोफेसर स्मिथ तथा उनकी पत्नी दोनों निरंतर लेटिमेरिया की खोज का प्रयास करते रहे। अन्त में सन् 1952 ई. में एक दिन उन्हें सफलता मिल ही गई। कोमोरो द्वीप पर एक मछुए ने एक बार फिर यह आश्चर्यजनक मछली पकड़ी। तीसरी बार सीलाकांथ वर्ग की एक मछली 24 सितम्बर, 1953 को अन्जाउन द्वीप के हौमादी हसानी नामक एक मछुए को प्राप्त हुई। इस मछली का रंग भूरा था जिस पर सफेद धब्बे भी थे तथा इसकी आंखें स्फुदीप्त थीं। प्रथम बार प्राप्त लेटिमेरिया से यह मत्स्य कुछ भिन्न लगता था और इसी भिन्नता के आधार पर पैरिस (फ्रांस) स्थित प्राकृतिक-इतिहास संग्रहालय के



लेटिमेरिया चालूमनी स्मिथ : 1. नासा नली, 2. प्रच्छाद ढक्कन, 3. चक्राभ शल्क, 4. अग्र पृष्ठ पख, 5. पश्च पृष्ठ पख, 6. पुच्छ पख, 7. गुदा पख 8. श्रोणि पख, 9. अंस पख.

प्रोफेसर जैक मिलो ने अनुमान लगाया कि लेटिमेरिया में व्यक्तिगत परिवर्तन की अनोखी क्षमता है। उपरोक्त क्रम में सन् 1954 के जनवरी माह की 29 तथा 30 और फरवरी माह की पहली तारीख को क्रमानुसार इस प्रकार के तीन और मत्स्य प्राप्त हुए। अब तक कुल 28 लेटिमेरिया पकड़े गए हैं। इसमें प्रायः सभी लेटिमेरिया मेडागास्कर क्षेत्र के समुद्र से ही प्राप्त हुए हैं। ये समुद्र में 260 मीटर से 600 मीटर तक की गहराई में पकड़े गए हैं। इनका प्राप्ति-समय था सितम्बर से फरवरी तक। बड़े से बड़े लेटिमेरिया का भार 209 पौंड तथा छोटे-से-छोटे का भार 43 पौंड के लगभग है। लेटिमेरिया वर्ष के कुछ सीमित महीनों में ही प्राप्त हो पाया है, इस कारण इसके पूर्ण जीवन इतिहास का ज्ञान अभी तक नहीं हो सका है।

शारीरिक बनावट

लेटिमेरिया को सीलाकांथ वर्ग में माना जाता है। सीलाकांथ (Coel गुहा + Canth कांटा) नाम इनके मेरुदंड के तंत्रकीय कंटकों के खोखले होने के कारण रखा गया है। लेटिमेरिया का सिर अनुपात में कुछ बड़ा परन्तु आकार में अन्य मछलियों की ही भांति होता है। मुंह के समीप मोटा सीमांत-वलन पाया जाता है। इस मछली में दो नासा-द्वार पाए जाते हैं जिसमें अग्र नासा-द्वार एक नलिका के सिरे पर खुलता है। इसी क्षेत्र में तीन जोड़े छिद्र और पाए जाते हैं जो कि एक मध्य-स्थित 'रोस्ट्रल' अंग में खुलते हैं। इनकी आंखें बड़ी होती हैं तथा इनमें श्वास-रंध्रों का अभाव होता है। लेटिमेरिया का शरीर बड़े-बड़े चक्राभ शल्कों से ढका रहता है जिनकी सतह पर एक 'इनेमल' रहता है। इनमें पृष्ठ पखों की संख्या दो होती है तथा पुच्छ पख समपालिपुच्छी (डिफाइसेरसल) होती है—जिसमें एक ऊपरी तथा एक अधरपालि और थोड़ा अलग एक अंतस्थ-पालिका पाई जाती है।

लेटिमेरिया में पखों का अभिविन्यास एक-दूसरे से भिन्न होता है। यह भिन्नता कुछ ऐसी महत्वपूर्ण है कि पाद-विकास सम्बन्धी सभी प्रकार के शारीरिक समस्याओं को नई दिशा देती है। इससे आभास होता है कि आदि मत्स्यों के पख किस प्रकार थलीय रीढ़वाले जीवों के पाद में विकसित हुए। लेटिमेरिया का हृदय, हृदय-विकास की पूर्व 'सामान्यता' (नारमेलिटी) के लिए प्रसिद्ध है। **एक्टीनोप्टरीजाई** वर्ग में अग्न्याशय विसरित अवस्था में तथा डिप्नोई और साइक्लोस्टो में आंतरिक होता है जो आदि-अवस्था का द्योतक है। लेटिमेरिया में पूर्ण-विकसित अग्न्याशय का होना प्रमाणित करता है कि सम्भवतः अग्न्याशय प्रारम्भिक अवस्था में पूर्ण विकसित था।

भ्रूण का अभाव

जितने भी लेटिमेरिया अब तक प्राप्त हुए हैं प्रायः सभी नर थे। केवल दो मादा 12 नवंबर, 1954 तथा 1 जनवरी, 1960 को पकड़ी गई थीं। परन्तु दुर्भाग्यवश दोनों में निषेचित अंडों अथवा भ्रूणों का अभाव था। जो मादा 1954 में प्राप्त हुई वह केवल 4 घंटे ही जीवित रह सकी। इसकी मृत्यु का कारण, प्रोफेसर मिलो के अनुसार, तीव्र प्रकाश के प्रति अधिक संवेदनशीलता था।

संसार के वैज्ञानिक एक जीवित शिशु लेटिमेरिया को प्राप्त करने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं। संभवतः इसी में जीव-विकास के इतिहास का सूत्र छिपा होगा—क्योंकि भ्रूण अपने विकास काल में बहुत से शारीरिक तथा आकारीय परिवर्तनों से होता हुआ पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होता है। लेटिमेरिया का भ्रूण करोड़ों वर्षों पहले के जीवन का सजीव चित्र उपस्थित कर सकता है। लेटिमेरिया का जीवन इतिहास प्रजाति-आवर्तन नियम के अनुसार पूर्व-ऐतिहासिक जीवों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकता है।

लेटिमेरिया किस प्रकार अपने सभी समकालीन प्राणियों, जो आज विलुप्त हो चुके हैं, का साथ छोड़कर आज भी जीवित है, वैज्ञानिकों के सम्मुख एक समस्या है। यह देखा गया है कि लेटिमेरिया पानी की विशिष्ट गहराइयों में भिन्न-भिन्न तापक्रमों पर निवास करती है, और शायद यही कारण है कि यह काल की यातनाओं से बच गई एवं आज भी अपने को सुरक्षित रखे हुए है। ●

गेहूं के दाने, बेन दहिर और सम्राट शिरहाम

विज्ञान प्रगति के अप्रैल 1969 अंक में पृष्ठ 122 पर आप शतरंज खेल के आविष्कारक बेन दहिर द्वारा सम्राट शिरहाम से पुरस्कार स्वरूप मांगे गए गेहूँ के दानों के विषय में पढ़ चुके हैं। बेन दहिर ने पहले कोष्ठक में एक, दूसरे कोष्ठक में दो, तीसरे में चार, चौथे में आठ और इसी प्रकार संख्या दुगनी करते हुए चौसठ कोष्ठकों में गेहूँ के दाने मांगे थे। इन दानों की कुल संख्या 18,446,744, 073,709, 551,615 थी। परन्तु गेहूँ की यह संख्या किस प्रकार ज्ञात हुई। यहां यह स्पष्ट है कि शतरंज के कोष्ठकों में गेहूँ के दानों की संख्याएं चौसठ पदोंवाली एक गुणोत्तर श्रेणी बनाती हैं। गुणोत्तर श्रेणी वह होती है जिसके किसी भी पद को एक निश्चित संख्या, जिसे साधारण निष्पत्ति कहते हैं, से गुणा करने पर उस पद से अगला पद प्राप्त हो जाए। इस प्रकार गेहूँ की संख्या ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित गुणोत्तर श्रेणी का योग ज्ञात करना चाहिए :

$1+2+4+8+16+32+$...............64 पदों तक। यदि श्रेणी के प्रथम पद को 'अ', पदों की संख्या को 'न' और साधारण निष्पत्ति को 'प' मान लिया जाए तो गणितीय सूत्र के अनुसार गुणोत्तर श्रेणी का

योग $\frac{अ\ (प^{न}-1)}{प-1}$ होता है।

प्रस्तुत श्रेणी में $अ=1$, $प=2$ और $न=64$ है।

(साधारण निष्पत्ति इस श्रेणी में 2 इसलिए है कि प्रत्येक पद पूर्ववर्त्ती पद का दुगना है। यदि निष्पत्ति तीन हो और प्रथम पद 2 तो श्रेणी इस प्रकार होगी 2,6,18,54...............)

गेहूं के दानों की संख्या वही होगी जो उक्त श्रेणी का योग है।

$$\text{गुणोत्तर श्रेणी का योग} = \frac{अ\ (प^{न}-1)}{प-1}$$

$$= \frac{1\ (2^{64}-1)}{2-1}$$

$$= 2^{64}-1$$

$$= 18,446,744,073,709,551,615$$

$(2^{64}-1)$ को साधारण अंकगणितीय विधि द्वारा भी हल किया जा सकता है और लघुगणक सारणी की सहायता से भी। क्या आप अनुमान कर सकते हैं कि उक्त गेहूं के दानों को रखने के लिए कितने बड़े भंडार की आवश्यकता होगी? साधारणतया एक घनमीटर आयतन वाले बर्त्तन में लगभग 15,000,000 गेहूं के दाने आते हैं। तो उक्त गेहूं के दानों के लिए भंडार का आयतन लगभग

$\frac{18,000,000,000,000,000,000}{15,000,000}$ होना चाहिए। (यहां गणना की सुविधा के लिए 18 के आगे के सभी अंकों के स्थान पर शून्य रख दिया गया है)। अर्थात् इतने गेहूँ के भंडारन हेतु 1200,000,000,000 घन मीटर आयतन का भंडार चाहिए। इस प्रकार यदि भंडार गृह 20 मीटर चौड़ा और 4 मीटर ऊंचा हो तो उसकी लम्बाई

$\frac{1,200,000,000,000}{20 \times 4}$ अर्थात् 15,000,000,000 मीटर अथवा 15,000,000 किलोमीटर होगी। क्या इतना विशाल भंडार पृथ्वी पर बनाना सम्भव है। खैर! भंडार की बात छोड़िए क्या इतना गेहूँ सम्राट शिरहाम दे सकता था? कदापि नहीं, क्योंकि इतनी तो विश्व भर की भी गेहूं की पैदावार नहीं थी।

—पूर्णचन्द्र दीक्षित

मानव व कपियों पर मद्यपान का प्रभाव

थोड़ा सा मद्यपान करने पर मेध्यवनर (चिम्पैंजी) शीघ्र नशे में आ जाते हैं किंतु फिर भी वह नशे मे बेहोश नहीं होते। दूसरी ओर मद्यपान करने पर ओरांग-ऊटान में तो नशे के लक्षण ही दिखलाई नहीं देते। कम-से-कम अमेरिका के न्यूजर्सी राज्य स्थित रगर्स विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए प्रयोगाधीन चिम्पैंजियों और ओरांग-ऊटानों के अध्ययन से तो यही परिणाम प्राप्त हुए हैं।

इसी विश्वविद्यालय में किए गए परीक्षणों में यह प्रकट होता है कि मानव और कपि (एप) के शरीर पर मद्य द्वारा हुई प्रक्रिया में आधारभूत अन्तर है। तो भी अनुसंधाताओं का विचार है कि मानव और कपि के शराब पीने के पैटर्न में एक प्रकार का साम्य अवश्य है। मानव के समान चिम्पैंजी भी बड़े उत्साह से मद्यपान करता है, विशेषतया तब जब कि उस में फलों का रस मिलाया गया हो। मादा की अपेक्षा नर-चिम्पैंजी अधिक मद्यपान कर बैठता है और फलस्वरूप उसकी अपेक्षा जल्दी-जल्दी नशे में धुत्त होता रहता है। इससे वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पुरुष में मद्यपान की लत के अपेक्षतया अधिक पाए जाने का संबंध शायद नर और मादा की विशिष्ट शरीर-क्रियाओं से हो।

यह भी देखा गया कि 39 वर्ष की आयु तक (निस्संदेह किसी चिम्पैंजी के लिए इतनी आयु काफी वृद्धावस्था है) तो चिम्पैंजी मद्य की अधिकाधिक मात्रा का पान करता है और उसके पश्चात यह मात्रा एकाएक कम होने लगती है। इसी प्रकार वृद्ध मानव भी कम शराब पीने लगते हैं।

बच्चों के लिए नई उड़न कार

हाल ही में ब्रिटेन की एक फर्म ने सात मील प्रति घंटे की गति से उडने वाली एक छोटी कार का निर्माण किया है। किन्तु यह कार धरती की सतह से केवल तीन इंच की ऊंचाई पर उड़ेगी।

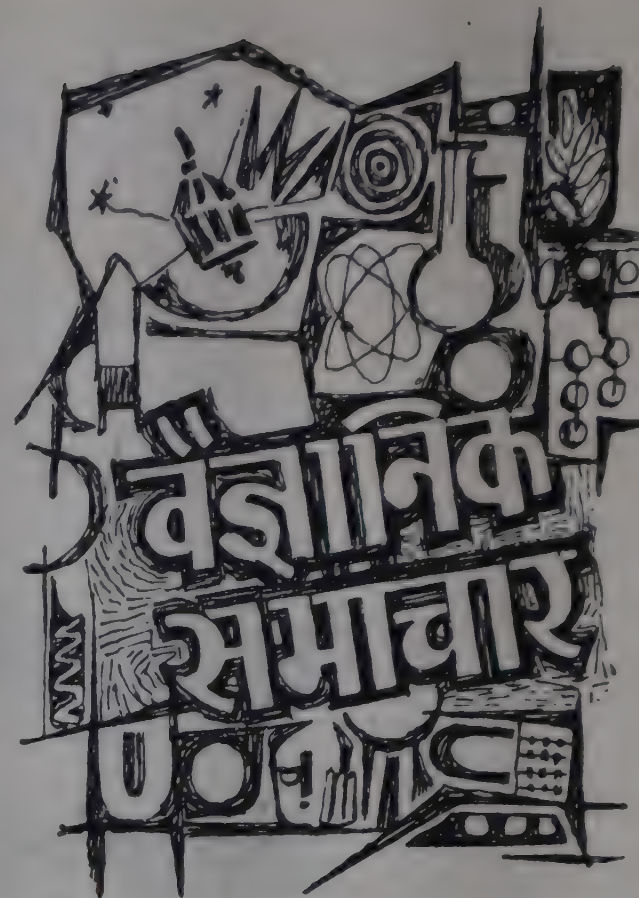
देखने में यह 'उड़न कार' बच्चों के खेलने की कार के समान दिखती है। यह छः फुट लम्बी और तीन फुट चौड़ी है। इसका वजन 95 पौंड है। ऐसा कोई भी व्यक्ति जिस का वजन 95 पौंड से कम है इस वाहन में बैठ सकता है। इसका संचालन चार अश्व-शक्ति के पेट्रोल इंजन मे होता है। इंग्लैंड में इसकी कीमत लगभग 100 पौंड है। काफी हल्की होने के कारण इसे साधारण मोटर-कारों में ढोया जा सकता है। दैनंदिन जीवन में भी यह काफी उपयोगी हो सकती है।

तरल फल बनाने की विधि विकसित

देश में सोडा, लैमन, कोकाकोला आदि तथा फलों के रस के आधार पर बने अमादक पेयों (साफ्ट ड्रिंक्स) की खपत दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के आरम्भ में जहां इनका उत्पादन 3500 मीट्रिक टन होता था वहां तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त में यह 60,000 मीट्रिक टन से भी अधिक हो चुका था।

इस उद्योग की बढ़ोतरी के साथ-साथ ऐसे पेयों की खपत भी बढ़ती जा रही है जिन्हें 'तरल फल' (लिक्विड फ्रूट्स) कहा जाता है। इस प्रकार के फल बनाने की कोई मानक विधि अब तक देश में विकसित नहीं हो पाई थी। किन्तु अब मैसूर स्थित केंद्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान (सी. एफ. टी. आर. आई.) ने केला, अमरूद, आम, अंगूर और सेब से 'तरल फल' तैयार करने की मानक विधि विकसित कर ली है।

इस विधि के अनुसार फलों में से रस प्राप्त करने के लिए संस्थान ने एक पेपटिक एन्जाइम विकसित किया है। यह एन्जाइम फलों की कोशिका भित्तियों पर प्रतिक्रिया कर उन्हें विलीन कर देता है। इस कारण से ही ऐसे फल को 'तरल फल' कहा जाता है। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें पानी और शर्करा का उपयोग नहीं किया

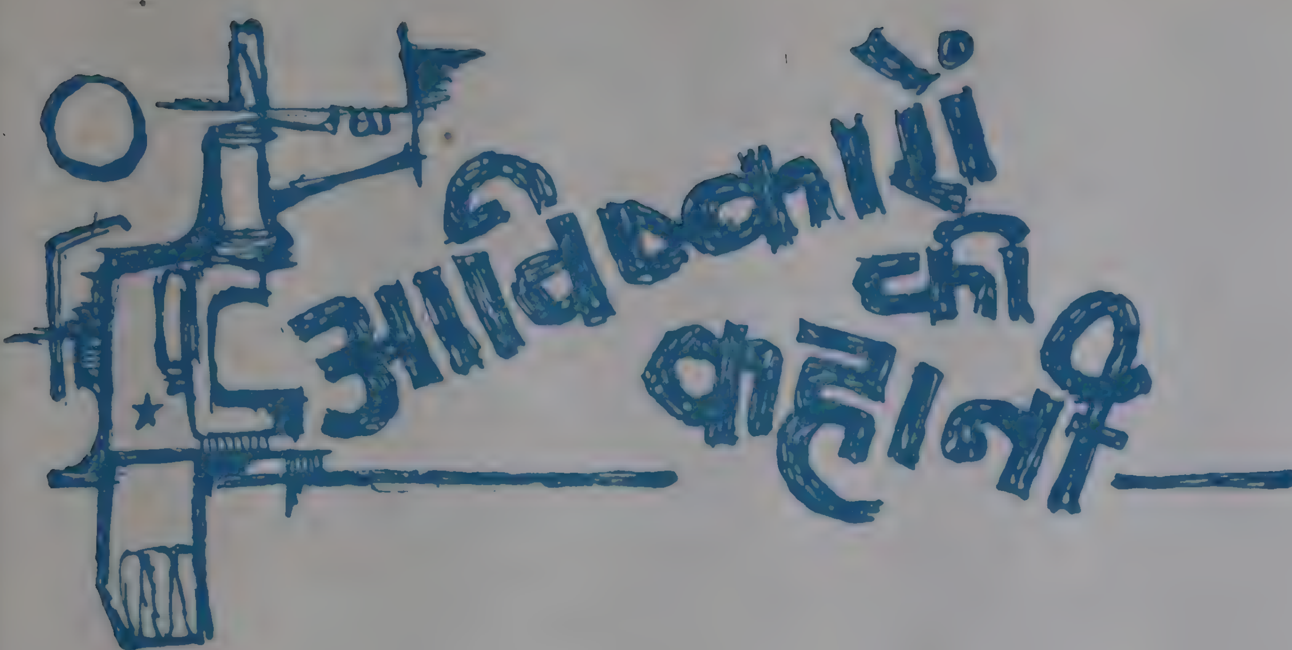


जाता। साथ ही इस प्रकार प्राप्त फलों में प्राकृतिक पोषक तत्त्व भी नष्ट नहीं होते और उनकी स्वाभाविक महक भी बनी रहती है।

फलों का रस प्राप्त करने की इस विधि की जानकारी हैदराबाद (आन्ध्र) और चल-कुड़ी (केरल) की दो कंपनियों को दी जा चुकी है ताकि वे इसका व्यापारिक स्तर पर उपयोग करें।

अंग-प्रतिरोपण सहायी रुधिर का नया तत्व

रुधिर की लाल कणिकाएं शरीर के ऊतकों को आक्सीजन उपलब्ध करती हैं, यह हम सब जानते हैं। परन्तु हाल ही में स्वीडन और अमेरिका के अनुसंधाताओं ने एक ऐसी प्रक्रिया का पता लगाया है जिसके अनुसार लाल कणिकाओं द्वारा ऊतकों को किए जाने वाले आक्सीजन के स्थानांतरण को नियंत्रित किया जा सकेगा। इसका अभिप्राय यह है कि रुधिरकोषों (ब्लड बैंक्स) में भंडारित किए गए रुधिर को अब फिर से ताजा किया जा सकेगा, रुधिराधान के समय दिए जाने वाले रुधिर की मात्रा में कटौती की जा सकेगी और रक्ताल्पता (एनीमिया) के उपचार में सुधार भी किया जा सकेगा। (शेषांश पृष्ठ 507 पर)



सिलाई की मशीन

हरिकृष्ण देवसरे

पुराने जमाने में लोग हाथ से ही कपड़े सिलते थे। आज भी सिलते हैं किन्तु हाथ की सिलाई और मशीन की सिलाई में दो खास भेद हैं। मशीन की सिलाई हाथ के बजाय अधिक साफ और सुन्दर होती है और वह कम मेहनत और कम समय में पूरी हो जाती है।

रोचक खोज

सिलाई मशीन के आविष्कार की कहानी बहुत रोचक है। अमरीका के मेसाचुसेट्स राज्य के स्पेन्सर नामक स्थान का निवासी एलियस होव बहुत साधारण हैसियत का आदमी था। वह एक कारखाने में नौकर था। किन्तु आमदनी बहुत कम थी, इस कारण खर्च नहीं चल पाता था। उसकी पत्नी भी घर का खर्च चलाने में मदद करती थी। वह रात-दिन हाथ से कपड़े सिलती और इस तरह पैसे कमाती। जब रात में होव घर वापस आता और अपनी पत्नी को कपड़े सिलने में व्यस्त पाता तो बहुत दुखी होता। वह सोचता कि काश एक ऐसी मशीन बन जाती जो जल्दी-जल्दी कपड़े सिल कर तैयार कर दे।

होव अपनी लगन और धुन का पक्का था। वह हर पल सोचने लगा कि ऐसी मशीन कैसे बनाई जाए? धीरे-धीरे उसने अपने प्रयोग शुरू किए। उसने मशीन का एक ढांचा बनाया।

पहले उसने एक सुई का इस्तेमाल किया जो दोनों ओर से नुकीली थी। उस के बीचोंबीच एक छेद था, जिसमें धागा डालते थे। किन्तु इस के लिए मोटे धागे का इस्तेमाल करना पड़ता था, पतला धागा टूट जाता था। फिर उसने दो धागे उपयोग में लाने की तरकीब सोच निकाली। एक धागा मुड़ी हुई सुई में पड़ा रहता था और दूसरा शटल में। इस प्रकार होव की सिलाई मशीन तैयार हो गयी।

होव इस मशीन को जनता के पास पहुंचाना चाहता था। किन्तु वह इतना गरीब था कि बड़ी मुश्किल से यह एक मशीन बना पाया था। हां, उसे यह विश्वास अवश्य था कि लोग जैसे ही उसके इस महान आविष्कार को देखेंगे, वे इसे अवश्य स्वीकार करेंगे। इन्हीं दिनों कैम्ब्रिज के एक धनी व्यक्ति से होव की जानपहचान हुई। उसने होव को आर्थिक सहायता दी। फिर क्या था, होव ने सुविधाएं प्राप्त कर सन् 1844 में एक बढ़िया मशीन तैयार की।

दर्जियों द्वारा विरोध

जब सिलाई मशीन पहली बार जनता के सामने आई तो हाथ से सिलाई करके अपनी रोजी कमाने वाले दर्जियों ने इसका बहुत विरोध किया। परेशान हो कर एलियस होव अपनी मशीन ले कर इंग्लैंड आया। यहां उसकी कोई इज्जत नहीं हुई। वह भूखा मरने लगा। अन्त में उसे अपनी मशीन एम॰ एम॰ टामस नामक एक व्यक्ति को 250 पौंड में बेचनी पड़ी। टामस ने सन् 1846 में इस मशीन की रजिस्ट्री करा ली और होव को अपने यहां नौकर रख लिया। परन्तु होव का मन नहीं लगा और वह अमरीका लौट आया। यहां आने पर उसे मालूम हुआ कि दूसरे लोग उसकी मशीन की नकल करके खूब लाभ कमा रहे हैं।

सिंगर ने सन् 1851 में एक मशीन की रजिस्ट्री कराई थी। होव को यह बात बुरी लगी। उसने मुकदमा लड़ा और उसकी जीत हुई। वास्तव में होव ने ही वह पहली सिलाई मशीन बनाई थी जिसे लोगों ने इस्तेमाल के लिए खरीदा था और यही कारण है कि सिलाई मशीन के आविष्कारक के रूप में लोग उसे ही जानते हैं। हालांकि होव से पहले अमरीका में रेवरेंड जान एडम्स डौज तथा वाल्टर हण्टर ने भी सिलाई मशीन बनाई थी पर न तो वे उनकी रजिस्ट्री करा पाए थे और न होव को इन आविष्कारों के बारे में पता ही था।

महत्वपूर्ण सुधार

इसके बाद आइजक मेरिट सिंगर ने सिलाई मशीन में कुछ महत्वपूर्ण सुधार किए। उन्होंने कपड़ा खिसकाने वाली प्लेट को सुई के ठीक नीचे लगाया जिससे कपड़ा आगे खिसकता जाए। उन्होंने सुई के लिए एक सीधी छड़ का इस्तेमाल किया तथा घूमने वाली छड़ हटा दी। इसके अलावा उन्होंने मशीन को हाथ से घुमा कर चलाने की बजाय, पैरों से चलाने के लिए पैडल लगाए इससे सिलाई मशीन बहुत सरल और आरामदायक हो गयी। जनता ने सिंगर

के इन सुधारों का स्वागत किया। तब सिंगर ने सिलाई मशीन बनाने की एक कम्पनी खोल ली और बाद में तो वह सारे विश्व में विख्यात हुई। इसी कम्पनी ने 1888 में बिजली से चलने वाली मशीन भी बनाई। उसके बाद मशीनों में दिन पर दिन सुधार हुए और इस समय लगभग 4000 भिन्न-भिन्न किस्मों की मशीनें चल रही हैं। मोटे से मोटे कपड़े से लेकर, चमड़े तक की महीन, मोटी तथा साधारण सिलाई की मशीनों के अलावा नक्काशी, कढ़ाई, फीता बुनने वाली, बनियान, ऊनी स्वेटर बुनने आदि के लिए मशीनें उपलब्ध हैं। घुमावदार बखिया करना हो, रफू करना हो, मोनो-ग्राम बनाना हो, चांदी या सोने के तारों से जरी का काम करना हो, सब कुछ मशीनों से हो जाता है। हाथ से, पैरों से तथा बिजली से चलने वाली अनेक प्रकार की मशीनें मिलती हैं।

अब तो इनकी रचना इतनी सरल हो गई है कि छोटामोटी खराबी को गृहणियां स्वयं ही ठीक कर लेती हैं। मशीनों की सिलाई की गति में भी काफी उन्नति हुई है। आरंभ में बढ़िया सिलाई मशीन एक मिनट में 200 टांके लगाती थी, किन्तु अब 1500 टांके लगाती हैं। इनकी प्रगति के कारण सिलाई तथा कढ़ाई कला को काफी प्रोत्साहन तथा विकसित होने का अवसर मिला है। जहां एक से एक बढ़िया डिजाइन के कपड़े सिलने तथा काढ़े जाने लगे वहीं उनको सिखाने के लिए अनेक पुस्तकें लिखी गयीं और स्कूल खुले।

दूसरी ओर सिलाई मशीनों की उपयोगिता और लोकप्रियता के कारण उनकी कीमत इतनी हो गयी कि साधारण सम्पन्न परिवार भी खरीद सकते हैं। दर्जियों को भी मशीनों की सहायता से अपने धन्धे में बहुत लाभ पहुंचा।

इस दिशा में बराबर उन्नति हो रही है। एक ही मशीन से, उसमें अलग-अलग पुर्जे लगा कर कई तरह के काम लिए जा सकते हैं। हो सकता है आगे इस दिशा में और भी कुछ महत्वपूर्ण उन्नति हो। किन्तु इतना तो निश्चित है कि छोटी-सी सुई से जो काम काफी समय में तथा परिश्रम के साथ पूरा होता था, अब मशीन द्वारा पल भर में हो जाता है।

स्वास्थ्य संकट

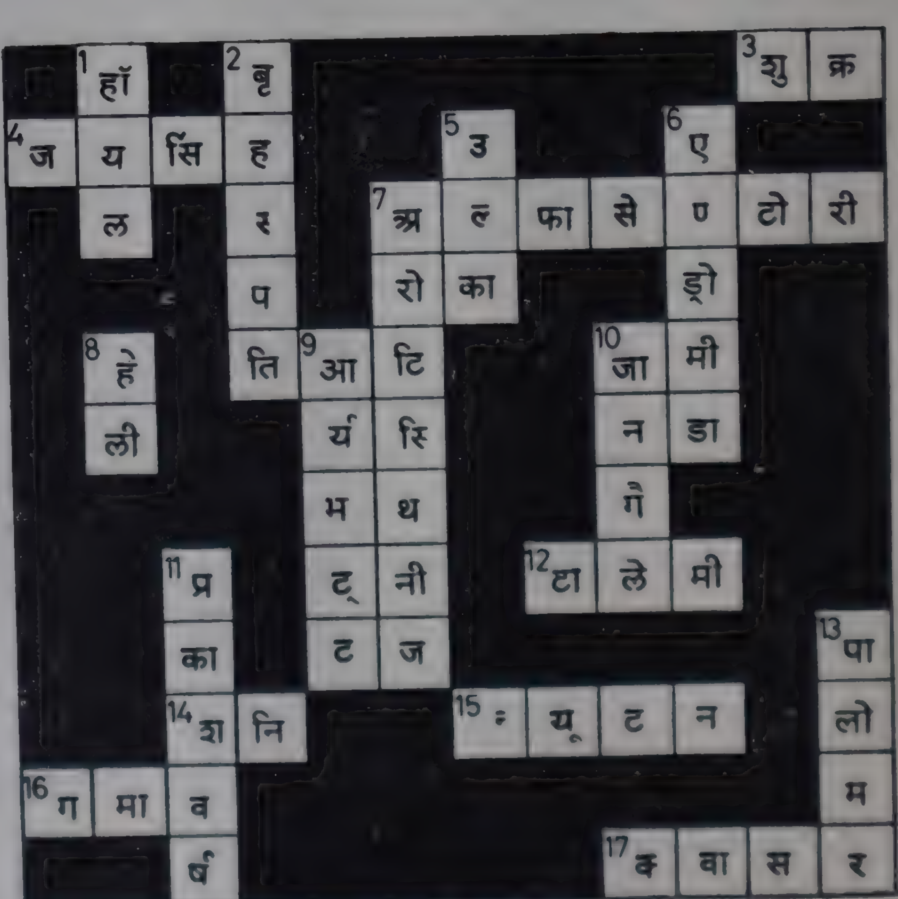
(शेषांश पृष्ठ 486 का)

कैंसर भी उत्पन्न कर सकते हैं। खाद्य पदार्थों में मिलाए जाने वाले सुगंध, परिरक्षक, ऐण्टी-आक्सीडेंट, पायसीकारक तथा स्थायीकारी पदार्थ भी विषैले हो सकते हैं। इनके बारे में अभी और अधिक खोजकार्य होना शेष है। ताजे अथवा डिब्बाबंद खाद्य पदार्थ के विसंक्रमण के लिए उसका किरणीयन करना भी हानिकर होता है। खाद्यों को मीठा बनाने के लिए इस्तेमाल होने वाले सैकरीन और सोडियम साइक्लामेट जैसे पदार्थों के अंधा-धुंध उपयोग से जन्य विषाक्तता के बारे में भी संदेह प्रकट किए गए हैं।

हर उद्योग के अपने अलग-अलग प्रकार के स्वास्थ्य संकट हैं। अतः यह आवश्यक है आधुनिक उद्योगों की योजना में उद्योग-कर्मियों के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। यदि उद्योगकर्मियों का स्वास्थ्य उत्तम रहेगा तो निश्चय ही उत्पादकता भी बढ़ेगी और देश की आर्थिक प्रगति तीव्र गति से होगी। ●

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक-13 का हल



वैज्ञानिक समाचार

(शेषांश पृष्ठ. 504 का)

ये परिणाम रुधिर-परिरक्षण पर हाल ही में स्वीडन में हुई एक अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रकट किए गए हैं। इस खोज का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि अब अंग-प्रतिरोपण किए गए रोगियों का जोखिम कुछ कम हो जाएगा क्योंकि अब ऐसे रोगियों में उत्पन्न होने वाले ऐसे 'प्रतिपिंडों' (एंटीबॉडीज) के उत्पादन पर नियंत्रण रखा जा सकेगा जो कि आधान किए गए रुधिर का प्रतिरोध करने लगते हैं और जिनसे प्रतिरोपित अंगों को भारी क्षति पहुंचती है।

यह नई प्रक्रिया डी. पी. जी. नामक एक पदार्थ पर आधारित है जो कि आक्सीजन के समान ही हीमोग्लोबिन द्वारा अवशोषित होता है। (हीमोग्लोबिन रुधिर की लाल कणिकाओं में मौजूद प्रोटीनमय रंजक पदार्थ होता है।) भंडारित किए गए रुधिर की प्रभावकारिता में कुछ समय के पश्चात् कुछ कमी आ जाया करती है। परीक्षणों में देखा गया है कि नई विधि से ऐसे रुधिर के खोए हुए प्रभाव को सुधारा जा सकता है।

स्वाद की अनुभूति ध्वनि से सम्बद्ध

चाय, कॉफी, बीयर और व्हिस्की जसे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न पेय उस समय सर्वाधिक स्वादिष्ट लगते हैं जब कि पीने वाला किसी वाद्य अथवा ध्वनि-उत्पादक यंत्र से एक विशिष्ट आवृत्ति पर उत्पन्न ध्वनि को भी सुन रहा हो। जब ध्वनि को अधिक अथवा कम किया जाता है तो पेय के स्वाद में भी परिवर्तन आ जाता है और वह कम स्वादिष्ट लगने लगता है।

उपरोक्त परिणामों की घोषणा हाल में मनोविज्ञान पर आम्स्टरडाम में हुए एक सम्मेलन में डेन्मार्क के एक मनोवैज्ञानिक डा. क्रिस्टियन होल्ट-हान्सन ने की है। उनका कहना है कि परीक्षणों से यह सिद्ध होता है कि ध्वनि और स्वाद की अनुभूतियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

डा. क्रिस्टियन का कहना है कि प्रत्येक पेय की अपनी एक विशिष्ट 'अनुकूल तान' (हारमनी टोन) होती है। उदाहरणार्थ साफ्ट बीयर की 'तान' स्ट्रांग बीयर की 'तान' से पृथक होती है। इस सिलसले में जिन व्यक्तियों पर परीक्षण किये गये उन्होंने वे 'तान शैलियां' (टोन-पैटर्न) चुनीं जो उन्हें सर्वाधिक अनुकूल लगीं। उनमें से बहुसंख्यक ने एक जैसी 'तान शैली' ही चुनी। और यह भी देखा गया कि उनमें से अधिकांश ने एक ही प्रकार के पेय के लिए वही 'अनुकूल तान' भी चुनीं।

उड़ते विमानों की ऊंचाई : धरती पर स्वतः सूचना

विमानों के लिए एक ऐसा ऊंचाई-मापी यंत्र विकसित किया गया है जिससे विमान चालक को तो विमान की ऊंचाई का ज्ञान हो ही जाता है, साथ ही इस की सूचना स्वयमेव भूमि पर स्थित विमान-परिवहन का नियंत्रण करने वालों को भी हो जाती है। 'एन्कोडिंग आल्टीमीटर' नामक इस युक्ति का विकास अमेरिका के इन्टरकांटीनेन्टल डाइनैमिक्स कार्पोरेशन ने किया है।

प्रचलित ऊंचाई-मापकों में उड़ान के दौरान चालकों को अपन विमान की ऊंचाई भूमि पर स्थित नियंत्रकों को बतलाते रहना होता है लेकिन इस नवीन युक्ति से चालक को इस प्रकार के ध्यान बंटाने वाले संदेश अब धरती वालों को नहीं भेजने पड़ा करेंगे।

इस नई युक्ति द्वारा दी जाने वाली ऊंचाई संबंधी सूचना चालक के कक्ष में तो प्रचलित किस्म के से यंत्र-पटल पर प्रदर्शित हो जाती है। साथ ही विमान की ऊंचाई और विमान का पहचान-क्रमांक (आइडेंटिफिकेशन नम्बर) अथवा उड़ान-क्रमांक (फ्लाईट नम्बर) इलैक्ट्रानिक यंत्रों द्वारा भूमि स्थित कम्प्युटरों को भेज दिए जाते हैं जो कि विमान परिवहन नियंत्रण में लगे रडारस्कोपों पर छप जाते हैं।

रडार के पर्दे पर दीखने वाले ब्लिपों के बराबर में ही विमान का पहचान-क्रमांक और ऊंचाई एक टैग पर छपी हुई दिखलाई जाती है। जब विमान और ऊंचा जाता है अथवा नीचे आता है, ब्लिपों के समकक्ष दिखने वाले टैगों में भी विवरण स्वतः बदल जाता है।

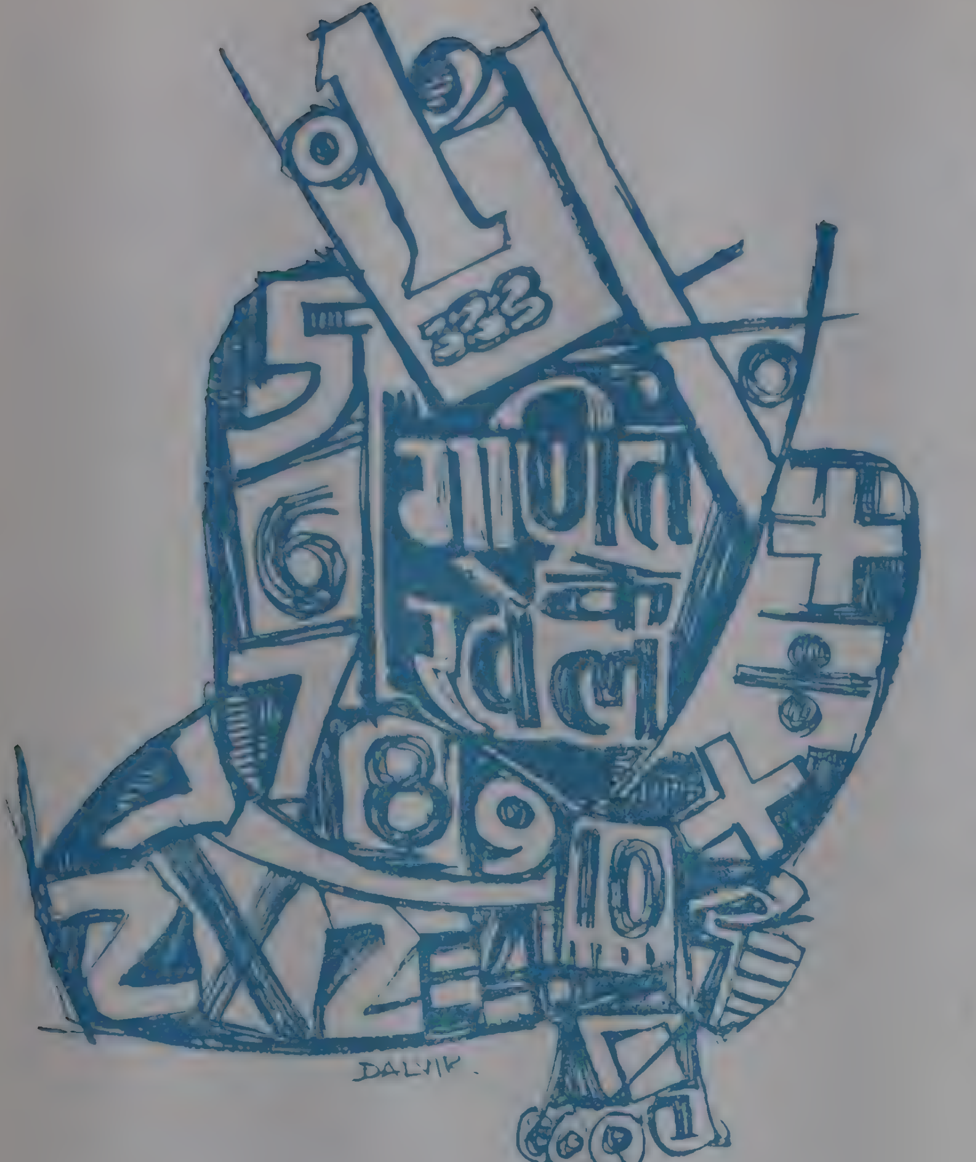
आर. सी. सी. राइफल से भी बढ़िया टैंक-तोड़ हथियार

रणक्षेत्र में मौजूद टैंकों और अन्य बख्तर-बंद वाहनों को नष्ट करना पैदल सैनिक के लिए एक समस्या बनी हुई थी। परन्तु बाद में रिकॉयल-लैस राइफल के आविष्कार ने इस समस्या को काफी हद तक सुलझाया। फिर भी सैनिकों को एक ऐसे शस्त्र की आवश्यकता प्रतीत होती रही जो कि रिकॉयल-लैस राइफल से भी अधिक कारगर हो और जिसे पैदल सैनिक भी आसानी से इधर-उधर ले जा सके।

हाल ही में सं. रा. अमेरिका में ऐसे एक टैंक-तोड़ हथियार का विकास किया गया है जिसे सैनिक साधारण बंदूक की तरह कंधे पर टेक कर दाग सकता है। इसका नाम 'ड्रैगन' रखा गया है। यह निर्देशित प्रक्षेपक पद्धति (गाइडेड मिसाइल सिस्टम) पर आधारित है और इसकी परास (रेंज), शुद्धता व भार अब तक प्रचलित 90-मि. मी. की रिकॉयल-लैस राइफल से कहीं अधिक बढ़कर है। ड्रैगन का भार लगभग 27 पौण्ड है और सैनिक इसकी एक ही गोली से शत्रु के टैंक को बर्बाद कर सकता है।

ड्रैगन के मुख्य दो अंग हैं: गोली (राउंड) और ट्रैकर। राउंड को जिस डिब्बे में रखा जाता है वह ढुलाई के डिब्बे के साथ-साथ रिकायल-लैस प्रक्षेपक (लांचर) का काम भी करता है। ट्रैकर में एक दूरबीन (टेलिस्कोप), एक सेंसर युक्ति और एक अदद इलैक्ट्रानिक यंत्रों का बंडल होता है।

ड्रैगन को दागना बहुत सरल है। सैनिक इसकी दूरबीन में से लक्ष्य को देखता है और मिसाइल छोड़ देता है। 'लक्ष्य' के बर्बाद हो जाने पर वह ट्रैकर निकाल लेता है और लांचर को फेंक दिया जाता है। ट्रैकर को शीघ्र ही दूसरे राउंड के साथ जोड़ कर तत्काल उसे दुबारा इस्तेमाल किया जा सकता है। ●



घनमूल और पंचमूल ज्ञात करना

यदि आपसे कोई पूछे कि 8 का घनमूल क्या होगा, तो आप तुरन्त उत्तर देंगे कि 2। परन्तु यह आपने कैसे ज्ञात किया? आप जानते हैं कि 2 का घन $2 \times 2 \times 2 = 8$ होता है। इसलिए आपने तुरन्त बता दिया कि 8 का घनमूल 2 होगा। परन्तु बड़ी संख्याओं का घनमूल इतनी सरलता से आप पता नहीं लगा सकते। उदाहरण के लिए यदि आपको 531441 का घनमूल ज्ञात करना हो तो आप चक्कर में आ जाएंगे। परन्तु परेशान होने की आवश्यकता नहीं। इसके लिए एक अति साधारण तरकीब है। यदि आप आगे दी गई तरकीब से अपने साथियों को घनमूल निकालकर दिखाएंगे तो वे आपकी बुद्धि की कुशाग्रता का लोहा मान जाएंगे। परन्तु इसके लिए आपको 1 से 10 तक की संख्याओं के घन फल याद रखने होंगे। इन संख्याओं के घनफल संलग्न सारणी में दिए जा रहे हैं।

संख्या	घनफल	पांचवीं घात
1	1	1 लाख
2	8	30 लाख
3	27	2 करोड़ 40 लाख
4	64	10 करोड़
5	125	30 करोड़
6	216	77 करोड़ 70 लाख
7	343	1 अरब 50 करोड़
8	512	3 अरब
9	729	6 अरब
10	1,000	10 अरब

मूल ज्ञात करने की कुंजी

इस सारणी के आधार पर आप पलक झपकते घनमूल बता सकते हैं। गणित का जादू दिखाने के लिए अब आप अपने किसी साथी से 1 से 100 तक की किसी भी संख्या का घनफल ज्ञात करके बताने के लिए कहिए, और आप उसके द्वारा बताई गई संख्या का घनमूल बता दीजिए।

मान लीजिए कि आपको 531441 संख्या बताई गई। इसका आपको घनमूल ज्ञात करना है। इसके लिए संख्या के प्रथम तीन अंकों (अर्थात् 531) पर ध्यान दीजिए अंतिम तीन अंकों (अर्थात् 441) को छोड़ दीजिए। सारणी देखकर आप पता लगा सकते हैं कि 531, संख्या 8 के घनफल (512) से अधिक और 9 के घनफल (729) से कम है। अतः 8 और 9 में से छोटी संख्या 8 को ले लीजिए। यह अभीष्ट संख्या का प्रथम अंक है। दूसरा अंक ज्ञात करने के लिए यह देखिए कि घनफल 531441 का अंतिम अंक (अर्थात् 1) सारणी में दी गई किस संख्या के घनफल के अंतिम अंक से मिलता है। जिस अंक से मिलता है वही अभीष्ट संख्या का दूसरा अंक है। इस प्रकार यहां दूसरा अंक 1 होगा और 531441 का घनमूल 81 होगा।

एक अन्य उदाहरण देखिए। मान लीजिए संख्या 103823 बताई गई है, जिसका घनमूल आपको बताना है। इसके प्रथम तीन अंक (अर्थात् 103) को देखिए। यह 4 के घनफल (64) से अधिक और 5 के घन फल (125) से कम है। अतः संख्या 40 और 50 के बीच होनी चाहिए। अर्थात् संख्या का प्रथम अंक (दहाईवाला) 4 होगा। अब अभीष्ट संख्या (अर्थात् 103823 का घनमूल) का इकाई वाला अंक ज्ञात करने के लिए यह देखना है कि घनफल (103823) का अंतिम अंक (3) सारणी में दिए गए घनफलों में से किसके अंतिम अंक से मिलता है। आप जानते हैं कि यह अंक संख्या 7 के घन फल (343) का अंतिम अंक है अतः अभीष्ट संख्या का इकाई वाला अंक 7 ही होगा। इस प्रकार 103823 का घनमूल 47 हुआ।

ऊपर दी गई सारणी के तीसरे काल में पांचवीं घात शीर्षक से कुछ संख्याएं दी गई हैं। इन संख्याओं का उपयोग पंचममूल ज्ञात करने के लिए किया जाता है। आप अपने मित्रों से कहिए कि अब आप एक और भी कठिन प्रश्न हल कर के दिखाएंगे। और किसी भी दो अंकों की संख्या की पांचवीं घात को हल करने पर प्राप्त संख्या पूछिए। मान लीजिए कि आपको 9,50,99,00,499 संख्या बताई गई है। आप को इसका पंचममूल ज्ञात करना है। यह संख्या 6 अरब से अधिक है और 10 अरब से कम। अतः सारणी के अनुसार इसका पंचममूल 90 और 100 के बीच होना चाहिए अर्थात् पंचममूल का प्रथम अंक (दहाई वाला अंक) 9 होगा। दूसरा अंक (इकाई वाला) वही होगा जो पांचवीं घात वाली संख्या का अन्तिम अंक है। यहां 9,50,99,00,499 का अंतिम अंक 9 है अतः पंचममूल का दूसरा अंक भी 9 होगा और इस प्रकार 9,50, 99,00,499 का पंचम मूल 99 हुआ। उपर्युक्त विधि से आप घनमूल और पंचममूल ज्ञात करके अपने मित्रों को चकित कर सकते हैं। ●



इंजेक्शन क्या है और कितने प्रकार का होता है ?

वह प्रक्रिया जिससे जन्तुओं––विशेषतया मानव––में तरल प्रविष्ट कराए जाते हैं, इंजेक्शन अर्थात अंतःक्षेपण कहलाती है। साधारणतया तरलों का प्रवेश पिचकारी (सिरिंज) से किया जाता है। पिचकारी में एक नलिका (बैरल) होती है व एक झोंकनी (प्लंजर)। नलिका पर घन सेंटीमीटर अंकित होते हैं और उसका सिरा इस प्रकार का होता है कि स्टेनलेस स्टील की सुई के हब में उसे बिठाया जा सकता है। कुछ पिचकारियां विशेष प्रकार की होती हैं। टुबरकुलीन पिचकारी एलर्जी परीक्षण के लिए इस्तेमाल होती है। इस पर अंशांकन घन से. मी. के सौंवें भाग तक में किया गया होता है। इन्सुलिन पिचकारी भी ऐसी ही एक विशेष प्रकार की पिचकारी है। इसकी नलिका पर अंशांकन तो होता ही है; साथ ही, इसका धातु का बना सिरा इस प्रकार का बनाया जाता है कि उसे एक-चौथाई घुमाने से ही नलिका में सुई की तालाबंदी हो जाती है। इस प्रकार की युक्ति को 'ल्युअर लाक' कहा जाता है।

सामान्यतया इंजेक्शन तीन प्रकार के होते हैं। त्वचा के नीचे के कोमल ऊतकों में दिए जाने वाले इंजेक्शन को अधस्त्वक (हाइपोडर्मिक) इंजेक्शन कहा जाता है। इस प्रकार के इंजेक्शन विभिन्न प्रकार के बारबिटुरेटों व मारफीन जैसे प्रचलित शामक (सिडेटिव्ज) प्रविष्ट करने, टाइफायड, पीत ज्वर (येलो फीवर) व टिटेनस जैसे संक्रामक रोगों के लिए सामान्य संरोप (इनाकुलम) प्रविष्ट करने; और एलर्जी प्रतिरोधी संरोपों––जैसे कि चिथड़ों के अत्यन्त सूक्ष्म रेशों अर्थात चीरतृण

(रैंगवीड) अथवा वृक्षों और विभिन्न प्रकार की घासों के परागों से उत्पन्न एलर्जी का प्रतिरोध करने वाले संरोपों को प्रविष्ट कराने के लिए किया जाता है।

दूसरे प्रकार का अंतःक्षेपण अंतःपेशीय (इन्ट्रा-मस्क्यूलर) होता है। अंतःपेशीय अंतःक्षेपण द्वारा अपेक्षाकृत अधिक पीड़ादायी और लम्बे समय तक कार्य करने वाली औषधियां प्रविष्ट कराई जाती हैं। बी-काम्प्लेक्स विटामिन, पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन जैसे एन्टीबायोटिक, भारी धातुएं जैसे कि पारद युक्त मूत्रल पदार्थ (मरक्यूरियल डाइयूरेटिक्स) और स्त्री- व पुं- हारमोन जैसे तेल-निलंबन (आयल सस्पेन्शंज) इसी प्रकार की औषधियां हैं।

तीसरे प्रकार का इंजेक्शन वह होता है जो शिरा में दिया जाता है अर्थात यह अन्तःशिरा (इन्ट्रावीनस) होता है। शिरा द्वारा प्रविष्ट कराए जाने वाले विलयन शरीर-क्रियात्मक (फिजियोलाजिकल) होते हैं ताकि रुधिर से उनकी संगति बैठ सके। ये विलयन कांच की निर्जीवाणुक बोतलों में भरे होते हैं जिनमें वायु ग्रहण नलिका (एयर-इनटेक ट्यूब) व प्रवाह नापने के लिए बूंद कोष्ठ (ड्रिप चेम्बर) लगे होते हैं। ये विलयन प्लास्टिक नलिका के माध्यम से गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से शिराओं में पहुंचाए जाते हैं। प्लास्टिक की नलिका को उपयोग के बाद फेंक दिया जाता है। रुधिर के आयतन में आई हुई कमी की प्लाज्मा द्वारा पूर्ति करने और शरीर के इलैक्ट्रोलाइटों को बनाए रखने में अन्तः शिरा इंजेक्शन अत्यन्त उपयोगी होते हैं।

● इनॉकुलेशन किसे कहते हैं ?

वह प्रक्रिया जिसमें किसी सम्वर्ध माध्यम (कल्चर मीडियम) में कोई सूक्ष्मजीव अथवा सूक्ष्मजीव के निलम्ब (सस्पेन्शन) को प्रविष्ट कराया जाता है, संरोपण (इनॉकुलेशन) कहलाती है। सम्वर्ध माध्यम कई प्रकार का हो सकता है, जैसे कि (1) ऐसा विलेय जिसमें कि सूक्ष्मजीवों के उपयुक्त पोषक पदार्थ हों या ऐगार मिला हुआ पोषक विलेय; (2) कोई कोशिका निलम्ब (ऊतक सम्वर्ध); (3) भ्रूणयुक्त अंड सम्वर्ध (एम्ब्रियोनेटेड एग कल्चर); अथवा (4) जन्तु–जैसे कि चूहे, गिनी पिग, हैम्स्टर, बन्दर, पक्षी या मानव। जंतुओं का उपयोग आमतौर पर सूक्ष्मजीवों के विरुद्ध प्रतिरक्षा की व्यवस्था को गतिशील बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। यह एक प्रकार से 'वैक्सीनेशन' का ही दूसरा रूप है और आमतौर पर 'इनॉकुलेशन' और 'वैक्सीनेशन' इन दो शब्दों का प्रयोग समानार्थक के रूप में किया जाता है। यह दोनों प्रक्रियाएं विशिष्ट सूक्ष्मजीवों के विरुद्ध कृत्रिम किन्तु सक्रिय रोगक्षमता उत्पन्न करती हैं यद्यपि इनसे प्राप्त संरक्षण का समय विभिन्न सूक्ष्मजीवों के लिए अलग-अलग होता है।

इनॉकुलेशन वह प्राकृतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी रोग के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त किया जाता है। जब किसी मनुष्य में किसी रोग के प्रबल लक्षण प्रकट नहीं हुए होते हैं, उस समय मनुष्य पर उन सूक्ष्म जीवों का प्रहार-सा कराया जाता है। शरीर की संरक्षात्मक व्यवस्था, विशेषतया शरीर में प्रतिपिंडों (एन्टी-बॉडीज) की उत्पत्ति, सूक्ष्मजीवों के इस प्रकार के हल्के अथवा नगण्य से प्रहार से उत्तेजित हो उठती है। इसके उदाहरण के रूप में यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि अधिकांश वयस्कों में पोलियो के प्रतिपिंड पाए जाते हैं यद्यपि उन्हें यह रोग कभी नहीं हुआ होता।

किसी सम्वर्ध माध्यम में जानबूझ कर सूक्ष्मजीवों का आरोपण करने और विविध प्रकार की औद्योगिक प्रक्रियाओं में खमीर उठाने वाले बैक्टीरिया, यीस्टों और मोल्डों के प्रवेश कराने को भी 'इनॉकुलेशन' कहते हैं। ऐसी औद्योगिक प्रक्रियाओं में इन सूक्ष्मजीवों की रासायनिक प्रतिक्रियात्मकता का उपयोग होता है।

● 'वैक्सीनेशन' (टीका) का क्या अभिप्राय है ?

मूल रूप में यह शब्द चेचक के विरुद्ध 'वैक्सिनिया' अर्थात गोशीतला वायरस का इंजेक्शन लगा कर सक्रिय रोगक्षमता उत्पन्न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। किन्तु अब इस के अर्थ का विस्तार हो चुका है और अब रोगक्षमता (इम्युनिटी) उत्पन्न करने की कई विधियां भी इसके अर्थ में सम्मिलित हैं। इन विधियों में किसी वैक्सीन अथवा जैव तत्व (बायोलाजिकल) का उपयोग किया जाता है और यह रोगक्षमीकरण निष्क्रिय (पैसिव) और सक्रिय (ऐक्टिव) दोनों प्रकार का हो सकता है। सक्रिय रोगक्षमीकरण से अभिप्राय किसी विशिष्ट प्रतिपिंड प्रेरक (ऐन्टीबाडी इंडयूसर) के प्रवेश के उपरान्त मानव अथवा जंतु में प्रतिपिंड उत्पादन से है। प्रतिपिंड-प्रेरक को प्रतिजन (अंग्रेजी में 'ऐन्टीजन') कहा जाता है। और जब एक व्यक्ति में पहले से उत्पन्न प्रतिपिंड को किसी अन्य व्यक्ति में स्थानान्तरित कर दिया जाता है तो उसे निष्क्रिय रोगक्षमीकरण कहा जाता है। बहुत बार तो रोग हो जाने पर स्वतः ही प्रतिपिंडों का उत्पादन होने लगता है। अतः इसे प्राकृतिक 'सक्रिय रोगक्षमीकरण' कह सकते हैं। अब तो कई रोगों के निरोध के लिए वैक्सीनें उपलब्ध हैं। रोहिणी (डिफ्थीरिया), कूकर खांसी, टिटेनस, टाइफायड ज्वर, खसरा, कनपेड़, अलर्क (रैबीज), पोलियोमाइलिटिस, हैजा, टाइफस कुछ ऐसे ही रोग हैं। वैक्सीनेशन का उपयोग दो बातों के लिए होता है; या तो किसी रोग से बचाव के लिए निरोधक के रूप में या फिर रोग की गति को अनुकूल मोड़ देने के लिए। वैक्सीन ऐसी होनी चाहिए जो कि खतरे से खाली और प्रभावी होने के साथ-साथ जिसके निवेश में कठिनाई न हो। किसी भी वैक्सीन का प्रभाव व्यक्ति-व्यक्ति के अनुरूप अलग-अलग होता है। यह उसकी आयु के अनुरूप तो बदलता ही है साथ ही यह रोग विशेष पर भी निर्भर करता है।

● ● ●

साहित्य परिचय

धान्यों की सघन खेती

लेखक : डा॰ अम्बिका सिंह, डा॰ बनारसी लाल और ओम प्रकाश गुप्त; सम्पादक : प्रबोधचन्द्र पाठक और श्यामकान्त बलकुन्दी; प्रकाशक : दि फर्टिलाइजर एसोसिएशन आफ इण्डिया, 85 सुन्दर नगर, नयी दिल्ली-11; प्रथम संस्करण : जुलाई 1969; पृष्ठ संख्या : 95; मूल्य : 5 रुपये ।

•

•

•

•

प्रस्तुत पुस्तक में दी गई एक सारणी के अनुसार हमारे देश की कुल आबादी का लगभग 70 प्रतिशत कृषि में लगा हुआ है जब कि अमेरिका में आबादी का केवल 6 प्रतिशत ही कृषि कार्य में संलग्न है । इस पर भी, हम जानते हैं कि अमेरिका में इतना अधिक अन्न उत्पन्न होता है कि प्रति वर्ष लाखों टन विदेशों को निर्यात होता है जब कि इसके विपरीत हमें तीन पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद अन्न का आयात करना पड़ रहा है ।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने देश की बढ़ती हुई आबादी को ध्यान में रखते हुए अन्नोत्पादन में अभिवृद्धि करने के प्रश्न पर समुचित रूप से विचार किया है । पुस्तक 9 अध्यायों पर आधारित है जिनमें से पहले चार में 'भारत में कृषि', 'फसलें सफलतापूर्वक कैसे उगाएं?', 'भारी पैदावार देने वाली किस्मों की खेती के कार्यक्रम', तथा 'धान्यों की सघन खेती' पर प्रकाश डाला गया है ।

'फसलें सफलतापूर्वक कैसे उगाएं?' शीर्षक अध्याय में फसल उत्पादन के व्यापक आधारभूत सिद्धांतों से सम्बद्ध अनुभवजन्य व्यावहारिक बातें किसानों के लाभार्थ बतलाई गई हैं । बोने के लिए सही फसल व उसकी सही किस्म का चुनाव, अच्छे बीज का चुनाव, बीज के उपचार, भूमि की तैयारी, बीज की बुआई, खाद और उर्वरक का प्रयोग, सिंचाई और जल-निकास, निराई-गुड़ाई और खरपतवारों की रोकथाम पर उपयोगी सूत्र प्रस्तुत किए गए हैं ।

'धान्यों की सघन खेती' पुस्तक का शीर्षक तो है ही; साथ ही एक अध्याय का शीर्षक भी है जिसमें सघन खेती का तात्पर्य, इसके महत्व और ऐसी खेती के लिए आवश्यक उपादानों पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है । पुस्तक में अनेक उपयोगी सारणियां दी गई हैं जिनसे विषय सुस्पष्ट हो जाता है । ऐसी ही एक सारणी इस अध्याय में दी गई है जिसमें भारत के विभिन्न उत्तरी प्रदेशों में धान्यों की सघन खेती करने के लिए सुझाए गए कुछ एक-वर्षीय फसल-चक्र दिए गए हैं । इससे लाभ उठाकर निस्संदेह किसान लोग एक ही साल में किसी खेत में दो या दो से अधिक धान्यों की फसलें प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रारंभिक चार अध्यायों में वर्तमान संदर्भ में खेती के व्यापक सिद्धांतों से पाठक को परिचित कराने के उपरांत बाकी के पांच अध्यायों में पांच विशिष्ट अन्नों की काश्त की विस्तृत चर्चा की गई है । ये विशिष्ट फसलें गेहूं, धान, मक्का, ज्वार और बाजरा की हैं। इनमें इन फसलों पर एक सुनिश्चित व्यावहारिक पैटर्न के अनुसार विचार हुआ है । विभिन्न अन्नों की उन्नत किस्मों का विकास, उनकी खेती के उन्नत तरीके, खेत की तैयारी, बुआई, खाद व उर्वरक का प्रयोग, उनकी सिंचाई, निराई-गुड़ाई और खरपतवारों की रोकथाम, उनमें लगने वाली विशिष्ट बीमारियों की रोकथाम के साथ-साथ फसल की कटाई और गहाई के उपयोगी तरीके बतलाए गए हैं । यथास्थान चित्रों के समावेश से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है ।

यह पुस्तक फर्टिलाइजर एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित 'खाद पत्रिका' मासिक के संपादक की सूझबूझ की परिचायक है । योजनाबद्ध रूप में ऐसे जनोपयोगी लेखों की श्रृंखला प्रकाशित करना जिन्हें बाद में सरलतापूर्वक पुस्तकाकार किया जा सके आज के युग की आवश्यकता के सर्वाधिक अनुरूप है । सुबोध भाषा-शैली और बड़े टाईप में छपी यह नयनाभिराम एवं उपयोगी पुस्तक निस्संदेह किसानों और विस्तार-कार्यकर्त्ताओं का पथप्रदर्शन करेगी ।

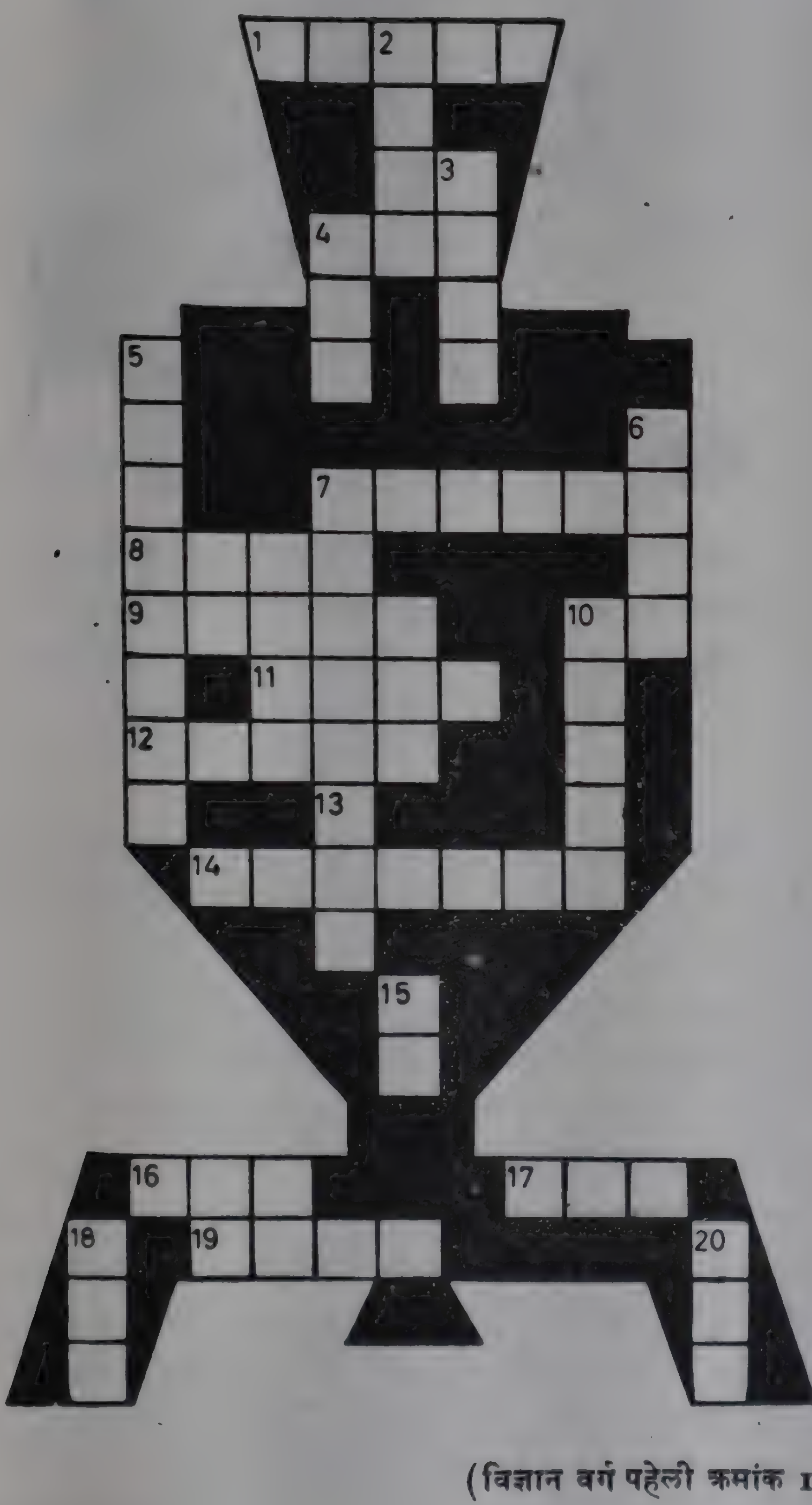
•

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक-14

(अंतरिक्ष विज्ञान)

प्रस्तुतकर्ता—सुरेन्द्र एस. वर्मा



बाएं से दाएं

1– चांद पर पदार्पण करने वाला पहला व्यक्ति ।

4– अपोलो-12 के नियंत्रण कक्ष का चालक ।

7– अपोलो अन्तरिक्ष यानों के चन्द्रकक्ष का आविष्कारक ।

8– चन्द्रमा की सतह पर रूस का यह मानव रहित यान बिना झटके सर्वप्रथम उतरा था ।

9– अपोलो-11 के नियंत्रण कक्ष का नाम ।

11– प्रथम अंतरिक्ष यात्री ने इसी अंतरिक्ष यान में पृथ्वी का चक्कर लगाया था ।

12– सोवियत रूस के वैज्ञानिकों द्वारा आकाश में स्थापित सर्वप्रथम भू-उपग्रह ।

14– पहला अमरीकी कृत्रिम उपग्रह ।

16– अमेरिका के प्रथम दो अंतरिक्ष यात्रियों ने इस यान में यात्रा की थी ।

17– अपोलो-11 के आदेश कक्ष का चालक ।

19– खुले अंतरिक्ष में यान से बाहर निकलकर विचरण करने वाला प्रथम व्यक्ति ।

ऊपर से नीचे

2– अपोलो-10 के अंतरिक्ष यात्रियों का नेता ।

3– अपोलो-12 के चन्द्र यात्रियों का नेता ।

4– इस अमेरिकी वैज्ञानिक ने द्रव-ईंधन चालित सर्वप्रथम राकेट का निर्माण किया था ।

5– यह रूसी वैज्ञानिक राकेट विज्ञान का जन्मदाता कहलाता है ।

6– अपोलो-11 को छोड़ने के लिए इस राकेट का प्रयोग किया गया था ।

10– अपोलो-11 चन्द्रमा के इसी भाग में उतरा था ।

13– अपोलो-11 के यात्रियों द्वारा चंद्रमा की सतह पर छोड़ा गया यह उपकरण वैज्ञानिकों को चंद्रमा एवं पृथ्वी की सही दूरी ज्ञात करने में सहायता करेगा ।

15– अमेरिका का अंतरिक्ष कार्यक्रम इस एजेंसी द्वारा चलाया जाता है ।

18– चन्द्रमा पर मानव को ले जाने वाले चन्द्रयान का नाम ।

20– आधुनिक राकेट टैक्नोलाजी के विकास में इस वैज्ञानिक का विशिष्ट योगदान है ।

निर्देश—

हरेक रिक्त कोष्ठक में एक अक्षर भरा जाएगा । अनुस्वार और मात्रा अक्षर के साथ भरी जाएगी । आधा अक्षर अलग कोष्ठक में भरा जाएगा ।

(विज्ञान वर्ग पहेली क्रमांक 13 का हल पृष्ठ 506 पर देखिये ।)

जेट-चालित

उड़न पेटी

युद्ध क्षेत्र में एक अथवा दो सैनिकों को शीघ्रता से एक स्थल से दूसरे में ले जाने के लिए पिछले कई वर्षों से विभिन्न प्रकार के यंत्र विकसित किये जाते रहे हैं। इन पर आदमी दो तरह से आसीन होते हैं। या तो वह कुर्सीनुमा यंत्र पर बैठते हैं या फिर खूंटे सदृश एक छड़ को पकड़कर प्लेटफार्म पर खड़े होकर स्थानान्तरित होते हैं। लेकिन इन दोनों में एक प्रकार से आकार का ही भेद है जिसका वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इन दोनों आकार के यंत्रों को बोल-चाल की वैज्ञानिक भाषा में 'उड़न-पेटियां' अर्थात 'फ्लाइंग बेल्ट्स' कहते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से इन यंत्रों में भेद इन के नोदन (प्रोपल्शन) के प्रकार से होता है। आमतौर पर उड़न-पेटियां अब तक राकेटों से चलाई जाती थीं। लेकिन अब अमेरिका के बेल एयरो सिस्टम्स कम्पनी ने जेट इंजन से चलने वाली प्रथम 'उड़न-पेटी' विकसित की है। जहां राकेट-पेटी की अधिकतम 'सहनशीलता' (एंड्योरेंस) लगभग 10 सेकंड थी और उसका अधिकतम परास (रेंज) लगभग 260 मीटर था, वहां इस पेटी की 'सहनशीलता' कई मिनट होगी और परास कई मील होगा। (निर्धारित समय और गति पर किसी विमान के वायु में स्थित रहने की अधिकतम अवधि को 'एंड्योरेंस' कहते हैं।)

यह 'जेट-पेटी' दो आकारों में उपलब्ध हैं। एक में तो चालक-यात्री एक प्लैटफार्म पर खड़ा होता है और दूसरे में वह ऐसी कुर्सी पर बैठता है जिसकी पीठ में इंजन और विभिन्न नलिकाएं लगी होती हैं। इस नई व्यवस्था में नोदन के लिए एक छोटे बाइ-पास टर्बो-जेट इंजन का उपयोग होता है जिसकी लम्बाई दो फुट और व्यास एक फुट होता है। इसमें ईंधन की खपत कम होती है तथा इसमें प्रघात (थ्रस्ट) और भार का अनुपात ऊंचा होता है। इसके इंजन में जे.पी-4 तथा ऐसे ही अन्य मिट्टी के तेल की किस्म के जेट-ईंधन इस्तेमाल होते हैं। यह ईंधनी तेल पारदर्शी प्लास्टिक की टंकियों में होता है जो कि इंजन को घेरे रहती हैं।

बाइ-पास इंजन में ग्रहण की गई वायु का कुछ अंश इंजन को घेरने वाले एक कक्ष में पहुंचने पर विक्षेपित (डिफ्लेक्ट) हो जाता है। यह वायु बाद में नलिका की प्रधान वायु में जाकर मिल जाती है। इसका उद्देश्य वायु से इंजन को गर्म होने से रोकना है ताकि गर्मी चालक-यात्री व ईंधन की टंकियों तक न पहुंच पाए।

जेट इंजन द्वारा उत्पन्न प्रघात को दो नॉजिलों के माध्यम से बराबर बांट दिया जाता है। ये दोनों नॉजिल चालक के दोनों कंधों के निकट स्थित होते हैं और इनका रुख नीचे की ओर होता है। उड़ान प्रारम्भ करने के लिए हैंडल की मूठ को घुमाकर प्रघात बढ़ाया जाता है। हाथ और बांह की गति से प्रघात-नॉजिलों के सम्यक् संचालन द्वारा उड़ान के दौरान नियंत्रण रखा जाता है।

ईंधन की पारदर्शी टंकियों को चालक उड़ान के दौरान भी देख सकता है और इस प्रकार उसे टंकियों में तेल की मात्रा का ज्ञान होता रहता है। जब तेल एक पूर्वनिर्धारित सीमा तक कम हो जाता है तो चालक के लौह टोप में लगी घंटी बजने लगती है। तेल की दोनों ओर की टंकियां आपस में संबद्ध होती हैं और उनमें एक छन्ना (इंटीग्रल फिल्टर) भी लगा होता है। इससे युद्ध क्षेत्र में होने पर भी उनमें तेल भरा जा सकता है।



नकली जेट–पेटी पहने हुए एक हवाबाज। हवाबाज फाइबर ग्लास का बना एक जांघिया पहने हुए है। जेट-पेटी का अधिकांश बोझ इस जांघिये के कारण चालक के कूल्हों पर पड़ता है और उसे कोई विशेष कष्ट नहीं होता।

इंजन को चालू करने के लिए शॉटगन की गोली जितने आकार के एक प्रस्फोटक चार्ज (कारतूस) को दागना होता है। यह चार्ज एक ठोस नोदक को जलाता है जो कि टर्बाइन को घुमाता है व जेट ईंधन का दहन करता है। इंजन को चालू करने के लिए कारतूस-व्यवस्था (कार्ट्रिज स्टार्टर सिस्टम) होने से चालक वांछित स्थान पर उतरने के पश्चात् इंजन को फिर चालू कर सकता है। वास्तव में उस के पास वैसे जितने कारतूस होंगे उतनी बार ही वह इंजन को फिर से चालू कर सकेगा। कारतूस के विस्फोट से निकलने वाली गैस से इंजन गति में आ जाता है और इससे एक उत्प्रेरक पर्दा (कैटेलिस्ट स्क्रीन) भी गर्म हो उठता है जिससे ईंधन का दहन प्रारम्भ हो जाता है। •

प्रैक्टीकल काम सिखाने वाली सचित्र टैक्निकल इन्डस्ट्रियल पुस्तकें

(लगभग सभी पुस्तकें ग्राई. टी. ग्राई. व ग्रन्य टैक्निकल इंस्टिट्यूशनों के स्वीकृत सिलेबस के ग्रनुसार लिखी गई हैं)

→ ट्रांजिस्टर ←

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	24.00
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजायन	15.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	12.00
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सर्किट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

→ रेडियो ←

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	6.00
सर्किट डायग्राम्ज आफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	4.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	3.00
बिना बिजली का रेडियो	1.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

→ इलैक्ट्रिकल ←

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15.00
इलैक्ट्रिक गाइड (पृष्ठ 824)	10.50
इलैक्ट्रिक वायरिंग (पृष्ठ 296)	4.50
इलैक्ट्रिक लाइटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स आल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वैल्डिंग	6.00
आल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल आरमेचर वाइंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए. सी. मोटर वाइंडिंग सचित्र	12.00
आरमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
आई.टी.आई.इलै. सौल्व्ड पेपर्स (इंगलिश)	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00
इलै. इन्जीनियरिंग मौखिक प्रश्नोत्तर	4.50
ऐलीमेन्ट्री इलै. टैक्स्ट बुक	10.50
प्रैक्टीकल इलैक्ट्रीसिटी	10.50
I.T.I. इलै. सोल्व्ड पेपर्स हिन्दी	3.75
इलै. मोटर रिपेयर	8.25

→ वर्कशाप खराद सम्बन्धी ←

मशीनिस्ट गाइड (आई.टी.आई.)	16.50
कास्ट आयरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
फाउन्ड्री एण्ड मोल्डिंग	12.00
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज और उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिंग और सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिंग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25
माडर्न वेल्डिंग प्रैक्टिस	16.50

→ आटोमोबाइल व मोटर ←

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुअल सम्पूर्ण	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर हिंदी, उर्दू, गुरमुखी	6.00
मोटर ड्राइविंग	4.50
मोटरकार ओवरहालिंग	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
आधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूटर व आटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
ऑटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटरकार प्राइमर	1.50
खेती और ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00
ऑटो डीजल मैकेनिक टीचर	24.75
ट्रैक्टर गाइड तीनों भाग	21.75

→ फर्नीचर ←

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटलॉग	60.00
न्यू फर्नीचर कैटलॉग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
आधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुअल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6.75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्प्लीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

→ सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण ←

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी आर्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजायन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिंदी, अंग्रेजी)	5.25

→ गेट ग्रिल जाली ←

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
आयरन फर्नीचर	12.00
लेटेस्ट डिजाईन गेट ग्रिल रेलिंग	34.50
टॉप डिजायन विन्डी ग्रिल	8.25

→ लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन ←

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (अंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक आफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

→ विविध ←

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजायन	3.75
आयल व गैस इंजन गाइड	15.00
आयल इंजन गाइड	6.00
सिनेमा मशीन आपरेटर्स गाइड	8.25

→ एअर कन्डीशनिंग ←

रैफ्रीजरेटर गाइड	8.25
आइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एअर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देख लें। डाक खर्च ग्राहक को देना होगा।

1-1969

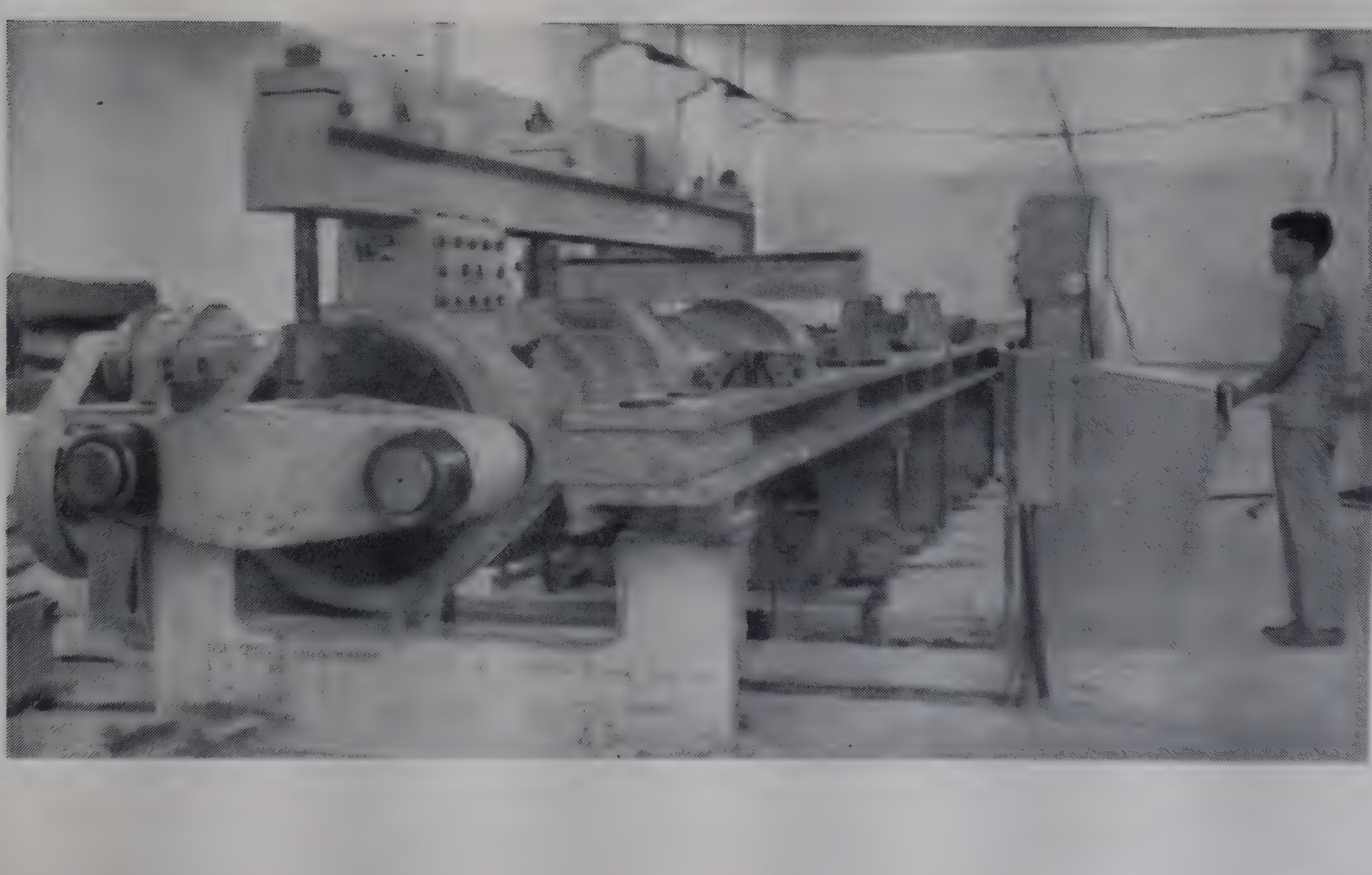
देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

फोन नं. 261030, 264191, 265403



ऊपर : केन्द्रीय खनन अनुसंधान केन्द्र (सी. एम. आर. एस.), धनबाद में एनीमोमीटरों और वेलोमीटरों का परीक्षण किया जा रहा है

नीचे : तार की बनी रस्सियों की तन्यता मापने के लिये केन्द्रीय खनन अनुसंधान केन्द्र, धनबाद में इस्तेमाल की जाने वाली 500 मीट्रिक टन की क्षैतिज तन्यतामापी मशीन



कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित ।

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

अग्रहायण 1891 : नवम्बर 1969

बाल विशेषांक



'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी **वैज्ञानिक मासिक** पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये हैं। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद् के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में.............................196

से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या.......है। मैं...............रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर

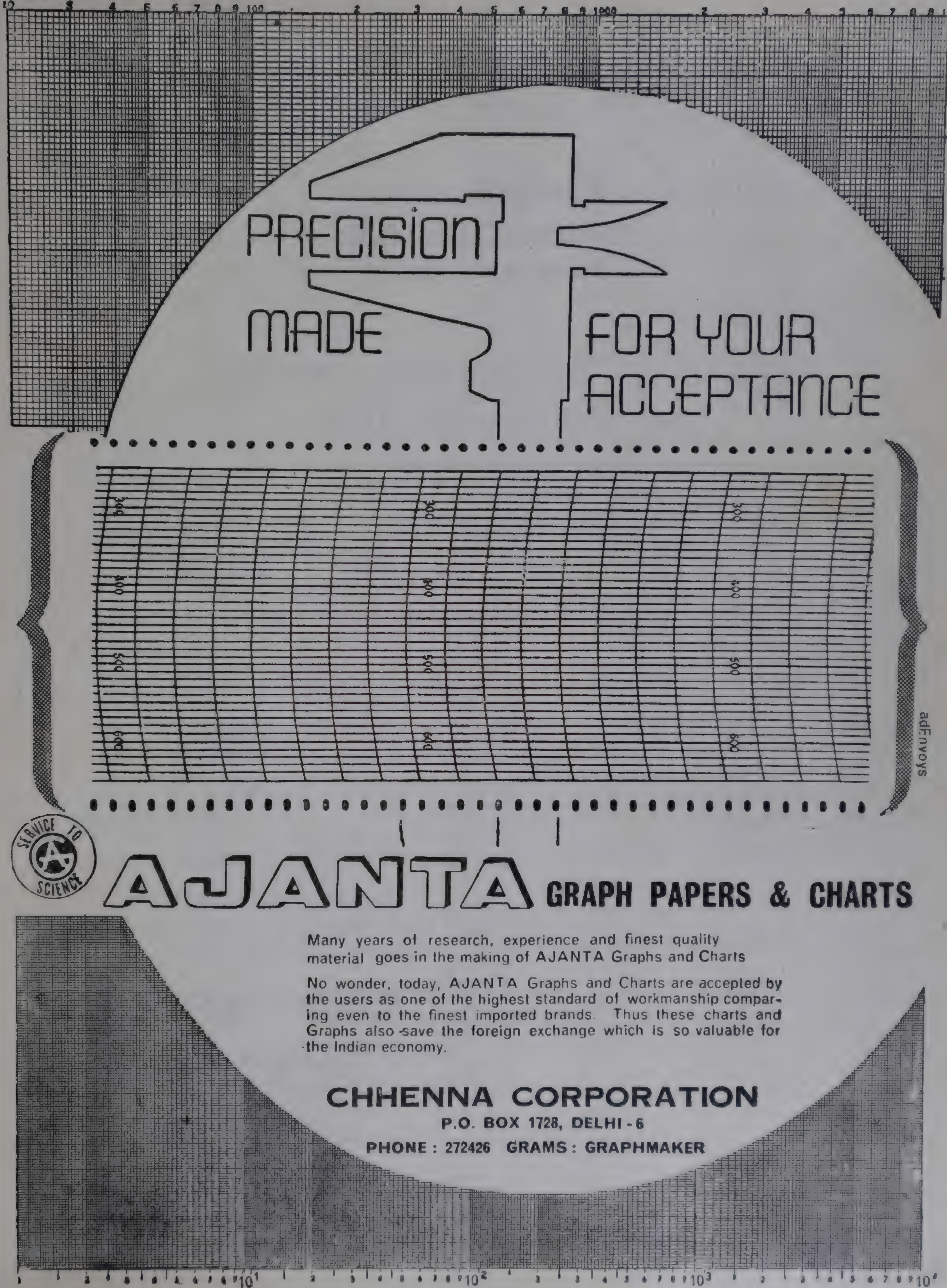
क्रमांक..................दिनांक..........को सेक्रेटरी, सी. एस. आई. आर, नई दिल्ली के नाम से भेज रहा हूं।

पूरा नाम..

पता...

डाकघर.................................जिला.....................राज्य..............

हस्ताक्षर...


PRECISION
MADE
FOR YOUR
ACCEPTANCE
SERVICE TO SCIENCE
AJANTA GRAPH PAPERS & CHARTS
Many years of research, experience and finest quality material goes in the making of AJANTA Graphs and Charts
No wonder, today, AJANTA Graphs and Charts are accepted by the users as one of the highest standard of workmanship comparing even to the finest imported brands. Thus these charts and Graphs also save the foreign exchange which is so valuable for the Indian economy.
CHHENNA CORPORATION
P.O. BOX 1728, DELHI - 6
PHONE : 272426 GRAMS : GRAPHMAKER
adEnvoys

व्यवस्थापक
कृष्णमुरारी अग्रवाल
टेलीफोन : 585359

स. सम्पादक
श्यामसुंदर शर्मा

सम्पादन सहायक
मनमोहन चन्द्र मिश्र, हेमचन्द्र कौशिक

चित्रकार
दलवीर वर्मा

मुखचित्र परिचय

चांद पर चन्द्रयान से
उतरता हुआ आर्मस्ट्रांग

विशेष सूचनाएं

विज्ञान प्रगति

वर्ष 18 अग्रहायण 1891 नवम्बर 1969 अंक 11 पूर्णांक 206

विषय-सूची

मूल्य :

वार्षिक	प्रति अंक
5 रुपए	50 पैसे

भारतीय भाषा यूनिट

कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली



राज निवास

दिल्ली

17 नवम्बर, 1969

विज्ञान प्रगति के अंक नियमित रूप से मेरे पास आते हैं। मैं समझता हूं कि यह पत्रिका विज्ञान को जनसाधारण में लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। कालेज के विद्यार्थियों के लिए यह विशेषकर उपयोगी है।

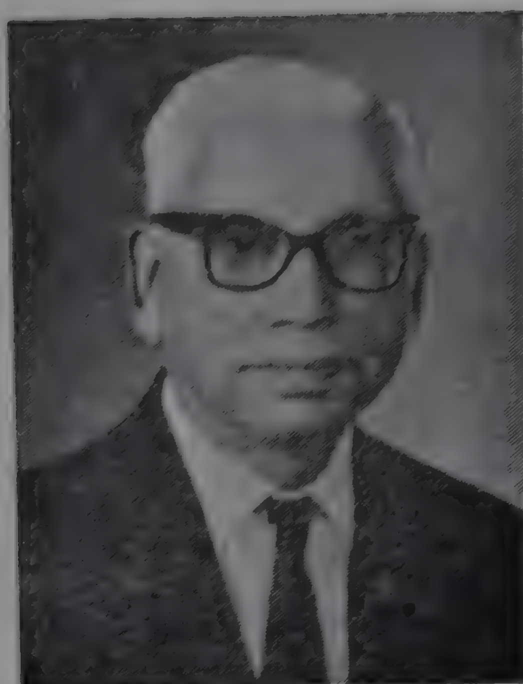
देश में वैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए ऐसी पत्रिकाओं की नितान्त आवश्यकता है।

पत्रिका आकर्षक है। साज-सज्जा तथा उत्तम छपाई के साथ-साथ यह हर दृष्टि से उपयोगी है।

इस पत्रिका की और अधिक उन्नति के लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूं।

(ह.) आदित्य नाथ झा

उप-राज्यपाल



महापौर कार्यालय

नगर निगम

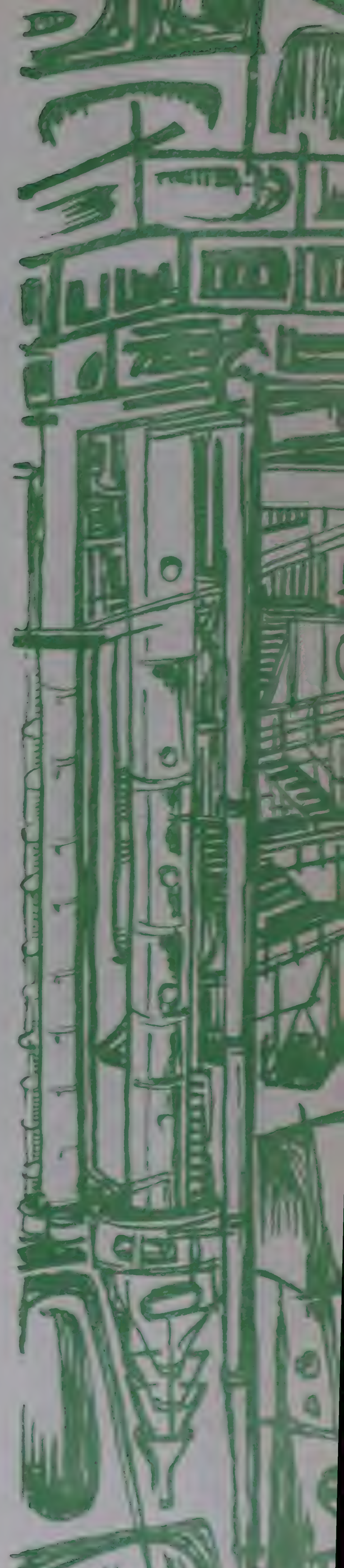
टाउन हाल

दिल्ली

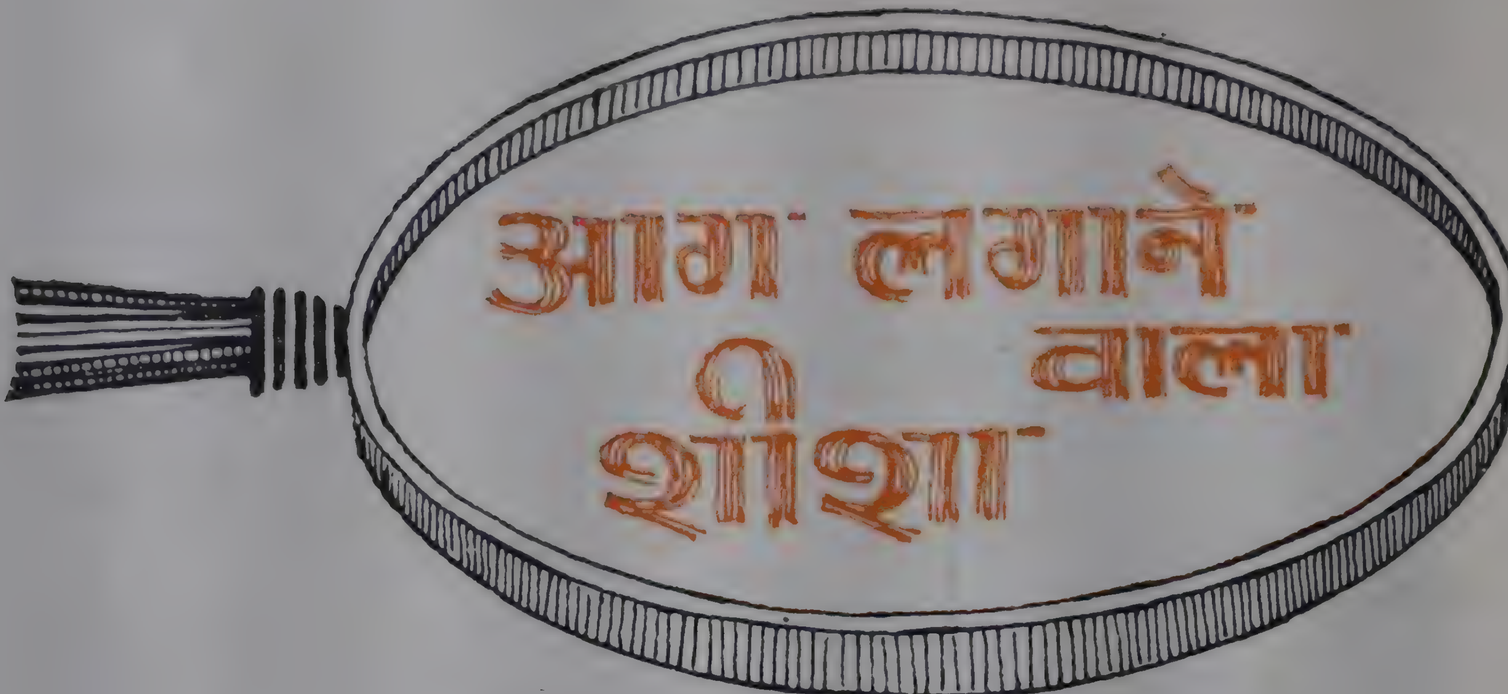
क्रमांक : 1151–म
दिनांक : 25–10–69

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि 14 नवम्बर 'बाल दिवस' के अवसर पर 'विज्ञान प्रगति' का 'बाल विशेषांक' प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे 'विज्ञान प्रगति' के कुछ अंकों को देखने का अवसर मिला है और मैं समझता हूँ कि देश में विज्ञान का वातावरण बनाने में यह पत्रिका ठोस काम कर रही है । देश में वैज्ञानिक वातावरण का सृजन तभी हो सकता है जबकि विज्ञान में बालकों की रुचि बढ़े । इस कार्य के लिए सरल व सुबोध भाषा में वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध होना अत्यावश्यक है। 'विज्ञान प्रगति' का 'बाल विशेषांक' प्रकाशित करना निःसंदेह इस दिशा में एक सराहनीय कदम है । मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत विशेषांक बालकों के लिए एक निधि सिद्ध होगी ।

(ह.) हंसराज गुप्त
महापौर



आग लगाने वाला शीशा

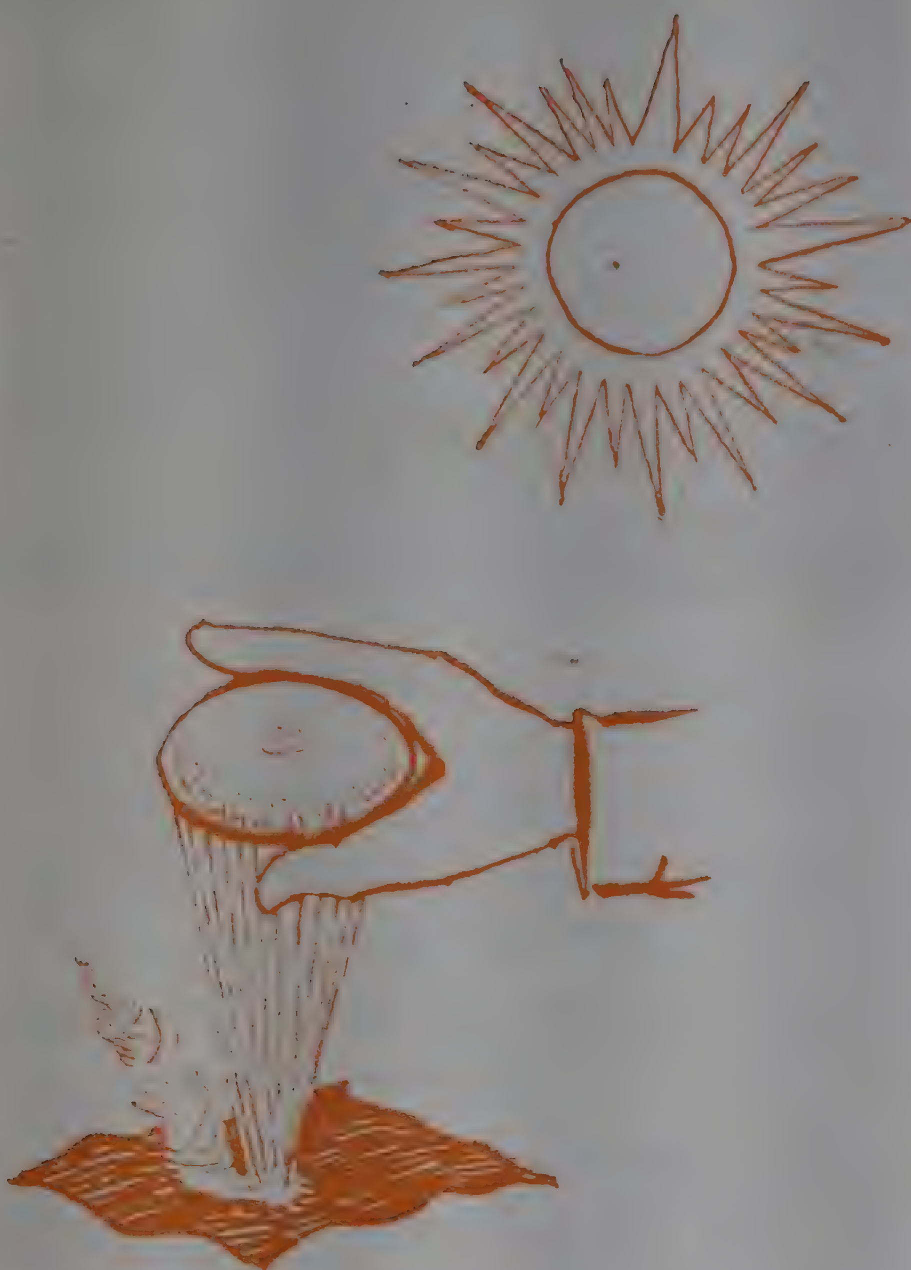


अनिल धूप में बैठा हुआ कागज जला रहा था । उसके पास न तो माचिस ही थी और न ही जलता हुआ कोयला । उसके पास तो शीशे का केवल एक गोल टुकड़ा था । उसकी छोटी बहिन विजया यह देख कर हैरान थी कि अनिल ने किस प्रकार कागज को जलाया । उसकी समझ में न आया कि आखिर अनिल ने कागजों में आग कैसे लगा दी ? जब अनिल दूसरा कागज जलाने लगा तो विजया बड़े ध्यान से उसकी ओर देख रही थी । अनिल ने शीशे के गोल टुकड़े को सूरज की ओर किया और कागज पर शीशे की सहायता से रोशनी डाली । शीशे को कुछ आगे पीछे किया । फिर शीशे को एक जगह पकड़े रहा । अब विजया ने देखा कि कागज पर बीच में एक बहुत छोटे से गोल-गोल घेरे में सूरज की रोशनी पड़ रही थी । अब अनिल शीशे को आगे पीछे भी नहीं कर रहा था । इस स्थिति में अभी मुश्किल से एक मिनट भी नहीं हुआ था कि कागज में से धुआं निकलना शुरू हो गया । कागज ठीक उसी जगह से जलना शुरू हुआ था जहां कि सूरज की तेज रोशनी पड़ रही थी ।

विजया ने सोचा, क्यों न मैं भी एक कागज जला कर देखूं । वह तुरन्त दौड़ी-दौड़ी गई और शीशे का एक गोल टुकड़ा उठा लाई । उसने जमीन पर एक कागज रखा और शीशे की सहायता से उसे जलाने की कोशिश करने लगी । लेकिन कागज था कि जलने का नाम ही न लेता था । उसने सोचा जरूर यह कागज खराब है । इसलिए अब दूसरा कागज उसने रखा । मगर वह भी न जला । उसने सोचा कि भैया जरूर कोई जादू करता है जो इतनी जल्दी कागज जलने लगता है ।

अनिल के स्कूल जाने का समय हो गया था इसलिए वह अपने शीशे के टुकड़े को विजया को देकर स्कूल चला गया । विजया ने उस शीशे से जो कागज जला कर देखा तो वह जलने लगा । उसने सोचा भैया के शीशे से तो बड़ी जल्दी कागज जल गया, जरूर मेरा शीशा ही खराब है ।

उसने दोनों कांच के टुकड़ों को लौट पलट कर ध्यान से देखा तो पता लगा अनिल वाला कांच का टुकड़ा बीच में से मोटा और किनारों पर पतला था । लेकिन उसका अपना शीशे का टुकड़ा वैसा न था । वह तो बिल्कुल एकसार था; न कहीं से मोटा, न कहीं से पतला । अब वह जान गई कि पेट फूले कांच से कागज जलाए जा सकते हैं ।



पेट फूले कांच से कागज जलाते हुए

कुछ देर बाद विजया अन्दर कमरे में पेट फूला कांच रखने गयी। मेज पर अखबार रखा हुआ था। ज्यों ही उसने अखबार पर पेट फूला कांच रखा, वह आश्चर्य से चिल्लाई, "मां ! मां ! देखो जादू! देखो! इस पेट फूले कांच में से देखने पर अखबार के अक्षर कितने बड़े-बड़े दिखने लगते हैं।"

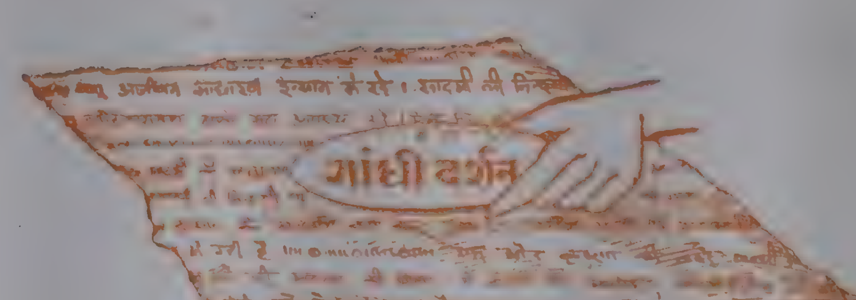
विजया के चाचा जी की कलाई घड़ी खराब हो गई थी। शाम को जब वह घड़ी ठीक कराने के लिए बाजार जाने लगे तो विजया भी साथ चल पड़ी। घड़ीसाज की दुकान पर जब पहुंचे तो उसने घड़ी खोली और आंख पर एक छोटी सी नली लगाई जिसके दूसरे सिरे पर कांच लगा हुआ था। विजया ने पूछा, "चाचा जी ! घड़ीसाज ने यह नली आंख से क्यों लगाई है?" चाचा जी ने उसे समझाया कि इस नली के एक सिरे पर जो कांच लगा हुआ है उससे चीजें बड़ी दिखाई देती हैं।

"...तो चाचा जी यह भी पेट फूला कांच है क्या?" विजया ने पूछा।

"हां, बिल्कुल ठीक पहचाना तुमने। यह पेट फूला कांच ही है। लेकिन इसका नाम यह नहीं है। इसे कॉनवैक्स लेंस (उत्तल ताल) कहते हैं। सरल सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) भी इसे ही कहते हैं।"

अनिल के स्कूल चले जाने के बाद इतनी सब बातें जान कर वह बहुत खुश थी। वह सोच रही थी कि भैया अब स्कूल से वापस आ गया होगा; वह घर पहुंचते ही पेट फूले कांच को अखबार पर रख कर भैया को उसका जादू दिखाएगी। और घर पहुंचते ही उसने ऐसा ही किया भी। लेकिन अनिल को यह देख कर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि आज वह अपनी विज्ञान कक्षा में कॉनवैक्स लेंस के बारे में ही पढ़ कर आया था। उसके गुरु जी ने उसे यह लेंस दिखाया भी था। उन्होंने बताया था कि इससे चीजें बड़ी दिखाई देती हैं। उसने विजया को बताया कि उसके गुरु जी ने तो कक्षा के विद्यार्थियों को इस लेंस की पूरी कहानी भी सुनाई थी। और वही कहानी अब वह विजया को सुनाने लगा : "लगभग 300 साल से भी

आग लगाने वाले शीशे से अखबार के अक्षर मोटे दिखने लगे हैं

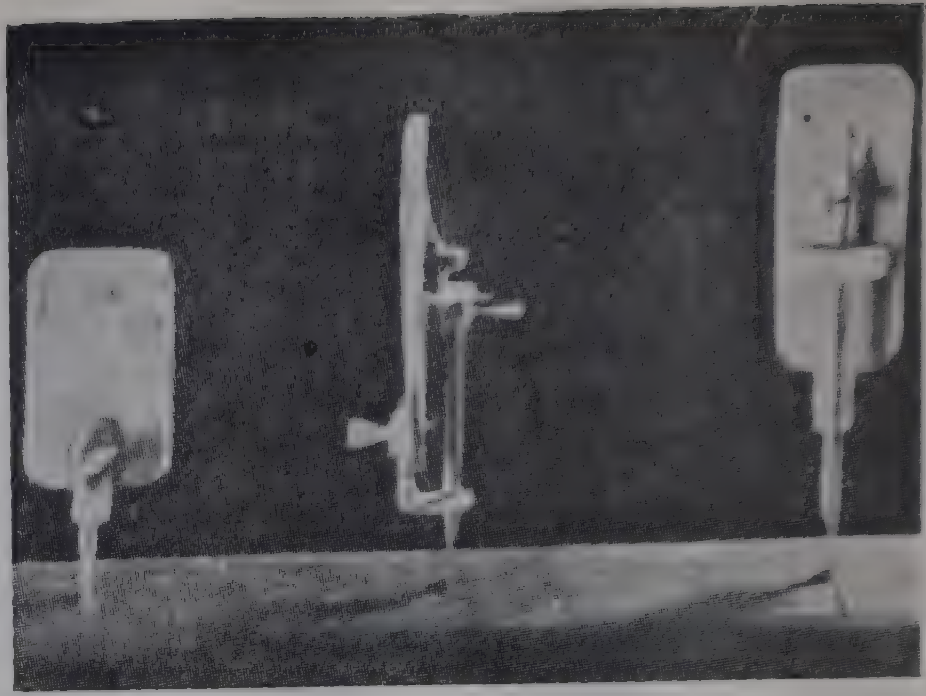


ग्रधिक हो गए। हालैण्ड देश में एक लड़का रहता था, जिसका नाम था ल्यूवानहुक। वह एक मामूली सा विद्यार्थी था। पढ़ने-लिखने में उसका ग्रधिक ध्यान भी न लगता था। ग्रतः बीच में ही पढ़ाई छोड़कर उसने दुकान कर ली। तरह-तरह के कांच के टुकड़े इकट्ठे करने का उसे शौक था। जहां कहीं भी कांच का टुकड़ा उसे पड़ा दिखाई देता वह उसे उठा लेता ग्रौर ग्रांख पर लगा कर उसके ग्रार-पार देखा करता। एक दिन ग्रचानक उसके हाथ एक ऐसा कांच का टुकड़ा लगा जिसमें से देखने पर उसे वस्तुएं बड़ी दीखीं। उसने उस टुकड़े को बहुत सम्भाल कर रखा। जब उसने देखा कि यह कांच का टुकड़ा बीच में से मोटा ग्रौर किनारों पर पतला है तो उसे भी एक ऐसा टुकड़ा

एन्टानी वान ल्यूवानहुक



बनाने की बात सूझी। तुरन्त उसने एक ग्रन्य कांच के टुकड़े को घिसकर बीच में से मोटा ग्रौर किनारों पर पतला कर लिया ग्रौर जब उसने उसके ग्रार-पार देखा तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा



ल्यूवानहुक द्वारा बनाए गए छोटे सूक्ष्मदर्शी

क्योंकि इससे भी वस्तुएं बड़ी दिखाई दी थीं। ग्रब तो ल्यूवानहुक हर समय कांच के टुकड़े घिसने में ही लगा रहता। लोग उसे पागल समझते। लेकिन वह ग्रपनी धुन में मस्त रहता ग्रौर किसी की परवाह न करता। वह 91 वर्ष की ग्रायु तक जीवित रहा ग्रौर सारी जिन्दगी यूंही कांच के टुकड़ों से खेलता रहा। उसने ग्रनेक माइक्रोस्कोप बनाए जिनसे बहुत छोटी-छोटी वस्तुएं भी काफी बड़ी दिखाई देती थीं। उससे इतनी छोटी वस्तुएं भी बड़ी-बड़ी देखी जा सकती थीं जो केवल ग्रांख से दिखाई ही न देती थीं।"

ग्रनिल कहानी समाप्त कर चुका था परन्तु विजया मानों स्वप्न देख रही थी। ग्रनिल उठ कर भी चला गया फिर भी वह यूं ही बैठी रही। वह स्वयं भी ग्रब एक माइक्रोस्कोप बनाने का विचार कर रही थी।

कार्क की कहानी

अशोक सेन

कार्क शब्द हम सबने सुना है। शीशी पर लगी डाट को हम सब जानते हैं। यह डाट कार्क की ही होती है। इसीलिये बहुत से लोग डाट को कार्क कहते हैं। कार्क से डाट ही नहीं बनती, बैडमिन्टन की 'चिड़िया' भी कार्क की बनी होती है। वह कार्क के एक टुकड़े में छेद कर उसमें बतख के परों को लगा कर बनायी जाती है। इसके अलावा और भी बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनमें कार्क का उपयोग किया जाता है। आओ, हम तुम्हें बतायें कि कार्क क्या है और कहां से आती है।

कार्क, एक वृक्ष की छाल होती है। इस पेड़ का नाम है। 'कार्क ओक' वैज्ञानिक इसे क्यूरकस सुबर कहते हैं। यह वृक्ष अधिकतर भूमध्य सागरीय प्रदेशों में पाया जाता है। संसार में सबसे अधिक कार्क, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इटली आदि देशों में, जो कि भूमध्य सागर के तट पर स्थित हैं, पाया जाता है।

जब यह वृक्ष करीब 15-20 साल का हो जाता है तो इसके तने और मोटी-मोटी शाखाओं पर से छाल उतारना शुरू कर देते हैं। वृक्ष की आयु 100 से 150 वर्ष तक होती है। एक बार छाल उतार लेने के बाद वृक्ष पर फिर से नई छाल आ जाती है। लगभग 8 साल के बाद वृक्ष पर से दुबारा छाल उतारी जा सकती है। यह वृक्ष जीवन भर कार्क का निर्माण करता रहता है।

कार्क के वृक्ष पर से छाल हर आदमी नहीं उतार सकता। यह काम कुशल कारीगर ही कर सकते हैं। छाल उतारने के लिये पहले पेड़ में दो स्थानों पर एक तेज औजार से छेद कर लिये जाते हैं। एक खड़ा चीरा लगा कर उन छेदों को मिला दिया जाता है। बाद में इस खड़े चीरे पर से छाल उसी प्रकार उतार ली जाती है जैसे तुम कमीज उतार देते हो। एक अच्छे पेड़ से एक बार में करीब 1,000 किलो-ग्राम तक छाल उतारी जा सकती है। एक कुशल कारीगर एक दिन में करीब 200 किलो तक छाल उतार सकता है। पेड़ से उतारने के बाद कार्क सुखायी जाती है फिर उसे उबाल कर साफ किया जाता है और दुबारा सुखाया जाता है।

कार्क एक बहुगुणी पदार्थ है और इसी कारण यह एक महत्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है। आओ! तुम्हें इसके कुछ गुण भी बताएं।

कार्क तन्तुमय नहीं होती। उसकी सूखी हुई कोशिकाओं को सूक्ष्मदर्शी के नीचे देखकर 1665



कार्क के पेड़ से छाल उतारी जा रही है



कार्क के वृक्ष पर सब से पहली बार ऐसी छाल आती है जैसे चित्र के ऊपरी भाग में दिखाई गई है। इस छाल को उतारने के बाद ऐसी छाल आती है जैसी चित्र में नीचे दिखाई गई है

में अंग्रेज वैज्ञानिक राबर्ट हुक ने कोशिका की संरचना का पता लगाया था। कार्क की खोखली कोशिकाओं को देख कर उसे मधुमक्खियों के छत्तों का अन्दाजा हुआ था। कार्क बहुत हल्की होती है। इसका आपेक्षिक घनत्व केवल 0.25 ही होता है। पानी के ऊपर यह आसानी से तैर सकती है और इसीलिए आजकल तैराकी के अनेक उपकरणों में कार्क का उपयोग किया जाता है। 'लाइफ बैल्ट' उनमें से एक है।

कार्क बहुत अधिक दाब सह सकती है। दबाने पर वह थोड़ी दब जाती है। दाब हटा देने के बाद वह अपना आकार पुनः प्राप्त कर लेती है।

देखने में कार्क छिद्र युक्त होती है पर उसमें कोई भी द्रव नहीं रिस सकता। इसीलिये शराब, तेल और दूसरे द्रवों से भरी बोतलों पर आमतौर से कार्क की ही डाट लगायी जाती है।

कार्क की ऊष्मा चालकता बहुत कम होती है। यह कुचालक पदार्थ है। उसमें गर्मी प्रवाहित नहीं होती। वास्तव में ऐसा कार्क की कोशिकाओं के भीतर भरी वायु के कारण होता है। इसीलिये ठण्डे प्रदेशों में लोग अपने घरों की दीवारों और छतों पर कार्क की परतें लगाते हैं। इससे उनके मकान सर्दियों में भी ठंडे नहीं होते।

कार्क में कम्पन और ध्वनि अवशोषित करने की बहुत अधिक क्षमता होती है। अपने इन गुणों के कारण कार्क का प्रयोग बड़ी-बड़ी इमारतों के फर्श बनाने में किया जाता है जिससे चलने-फिरने में शोर अधिक नहीं होता।



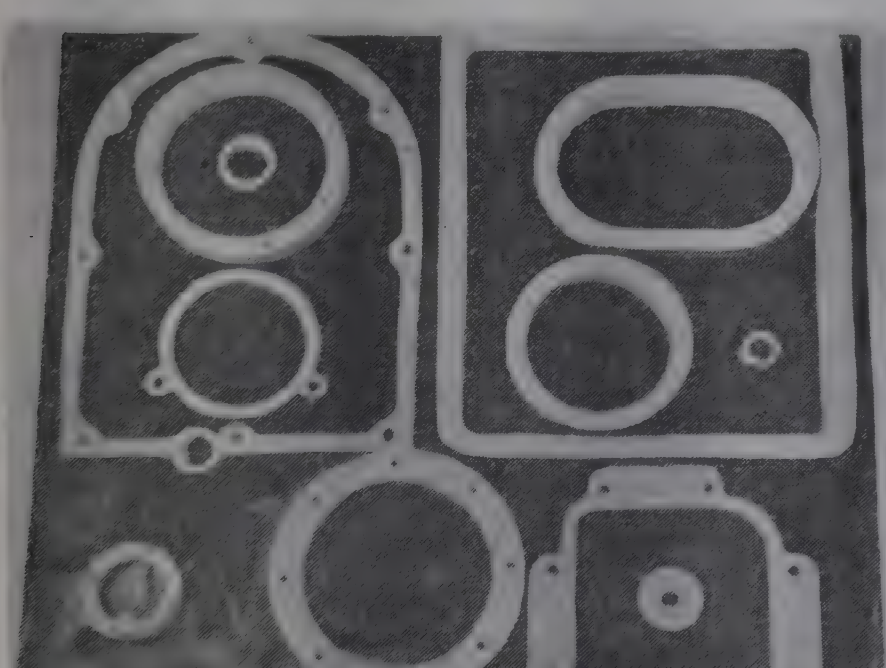
राबर्ट हुक ने 300 साल पहले कार्क को सूक्ष्मदर्शी से देखने के बाद पौधे की कोशिकाओं का यह चित्र बनाया था

कार्क बहुत स्थायी पदार्थ है। इस पर वर्षा, धूप, हवा का प्रभाव नहीं पड़ता। इसी कारण जंगल में गिर जाने वाले कार्क के पेड़ वर्षों तक सड़ते नहीं।

कार्क पर खनिज तेल, कार्बनिक द्रवों तथा कार्बन डाईआक्साइड, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन जैसी गैसों का तथा बहुत से अन्य रासायनिक पदार्थों का प्रभाव नहीं होता। प्रयोगशालाओं में अनेक रसायनों की शीशियों पर कार्क की ही डाट लगाई जाती है। कार्क, ब्रोमीन, आयोडीन और क्लोरीन से शीघ्र प्रभावित हो जाती है।

कार्क का प्रयोग मनुष्य प्राचीन काल से करता चला आया है। ईसा से पूर्व भी रोम और यूनान में बड़ी-बड़ी नदियों को पार करने के लिये लोग कार्क को ही अपने शरीर पर बांध लेते थे, जिससे वे डूबते नहीं थे।

कुछ मशीनों के भागों को सील करने के लिए भी कार्क से बने गैस्केटों का इस्तेमाल किया जाता है





पानी में डूबने से बचने के लिए यह कार्क से भरी जाकट पहनी जाती है

कार्क का उपयोग उस समय बहुत तेजी से बढ़ा जब जर्मनी में कांच की बोतलों और शीशियों का उत्पादन शुरू हुआ। आज कार्क बहुत उपयोगी वस्तु बन गयी है। यह गर्मी को रोकने और धक्के सहने के लिये अनेक यंत्रों और उपकरणों में इस्तेमाल की जाती है।

कार्क के वृक्ष का सबसे बड़ा शत्रु आग है। जरा सी आग लगने पर कार्क का मीलों लम्बा चौड़ा जंगल कुछ ही क्षणों में जल कर राख हो जाता है इसलिए ज्वलनशील वस्तुओं का प्रयोग ऐसे स्थान पर नहीं करते।

• • •

कम्प्यूटर : सेवक भी स्वामी भी

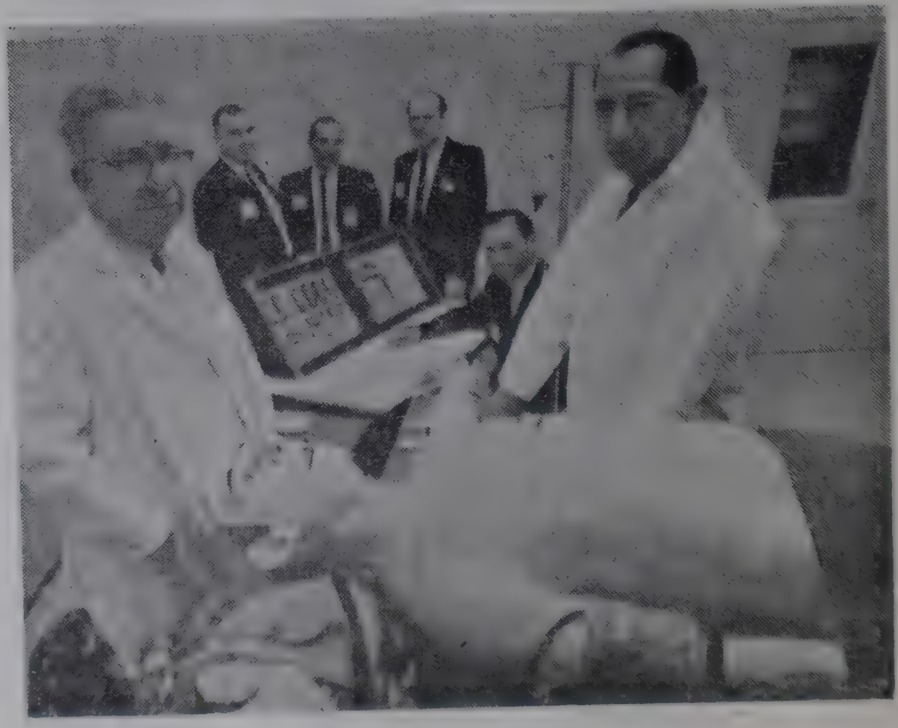
बच्चो! आज तुम्हारा परिचय एक ऐसी मशीन से कराते हैं जो कठिन से कठिन सवाल भी चुटकी बजाते ही हल कर देती है। कोई भी प्रश्न उसको दो, वह बड़ी आसानी से उसका हल निकाल कर तुम्हें दे देगी। जानते हो यह मशीन क्या है ? इस मशीन को अंग्रेजी में कम्प्यूटर और हिन्दी में संगणक कहते हैं।

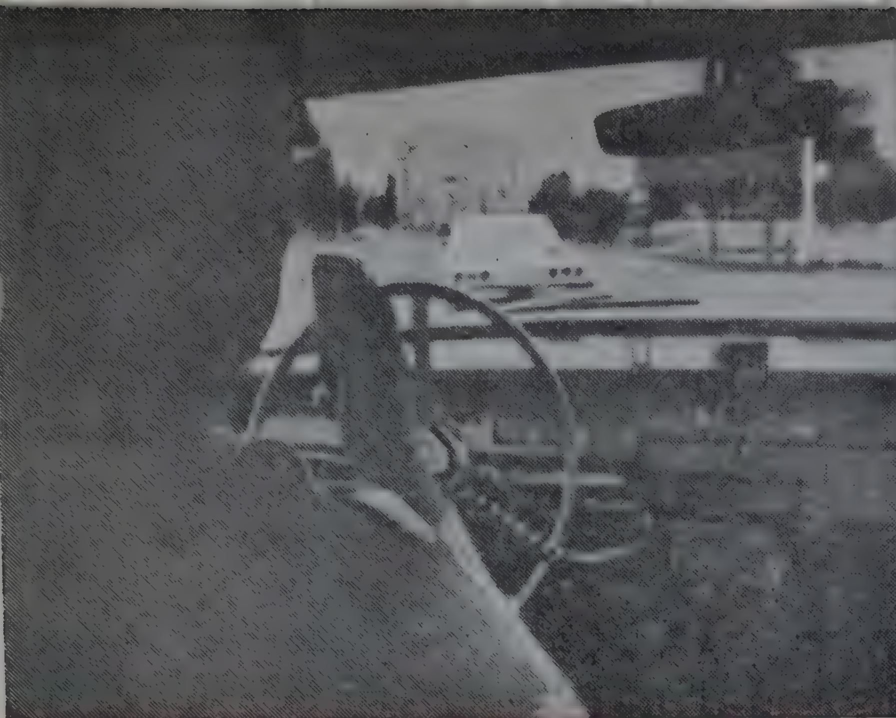
दुकानों पर पहले जो काम मुनीम लोग किया करते थे, वही काम आज कम्प्यूटर करते हैं। जहाँ कोई ग्राहक आया, मुनीम जी ने सामान देने के बाद हिसाब लगाया और दाम बता दिये। यही हाल आज कम्प्यूटर का है। हमारे यहाँ, याने अपने देश भारत में तो कम्प्यूटर अभी कम ही हैं। अन्य देशों में जैसे अमरीका आदि में तो छोटे-छोटे कामों में भी इनका प्रयोग हो रहा है। तुम्हें यह जान कर अचम्भा होगा कि कम्प्यूटर केवल मुनीम जी का ही काम नहीं करते बल्कि अब वे और बहुत से काम करने लगे हैं। कुछ कम्प्यूटर तो आदमी के समान काम करते हैं, उन में अपना मस्तिष्क होता है, अपने हाथ होते हैं, अपनी शक्ति होती है। वे पढ़ सकते हैं, बात कर सकते हैं, ताश खेल सकते हैं, शतरंज खेलते हैं।

कम्प्यूटर ऐसे भी होते हैं जो स्वयं ही काम नहीं करते बल्कि दूसरी मशीनों पर हुक्म चलाते और उनसे काम लेते हैं। उनका अपना एक व्यक्तित्व होता है। वे नई-नई बातें सीखते हैं और बुद्धिमानी से काम करते हैं। वे एक सम्पूर्ण मशीन होते हैं। उन्हें बनाता तो मनुष्य ही है किन्तु वे इसके बाद ऐसे-ऐसे करतब दिखाते हैं कि देख कर स्वयं आदमी भी दांतों तले उंगली दबा लेता है। होटलों के बिल बना कर दे देना, बड़ी-बड़ी दुकानों में रोजाना की बिक्री का हिसाब लगा देना, ये सब तो इनके ऐसे काम हैं, जैसे बच्चों का खेल हो। इनके सच्चे कमाल का लाभ तो कुछ इन्जीनियर और वैज्ञानिक ही उठाते हैं।

एक इन्जीनियर को बहुत बड़ा पुल बनाना है और उसके लिये सब तरह का हिसाब तैयार

यह कोई रोगी मनुष्य नहीं है, यह तो रोगी कम्प्यूटर है। यह दवाओं तथा चिकित्सा की वही प्रतिक्रिया दिखाता है जो कि मनुष्य को वह दवा देने पर होती।







(ऊपर-बाएं) पुलिस अफसर आगे जा रही कार के लाइसेंस की पड़ताल का आदेश वायरलैस द्वारा देता है। (ऊपर-दाएं) कम्प्यूटर यह पड़ताल करता है कि इस नम्बर की कार चोरी तो नहीं गई है। (नीचे-बाएं) कम्प्यूटर कक्ष। (नीचे-दाएं) कम्प्यूटर से जवाब मिलते ही पुलिस अफसर कार को रोककर उसके ड्राइवर से पूछताछ करता है।



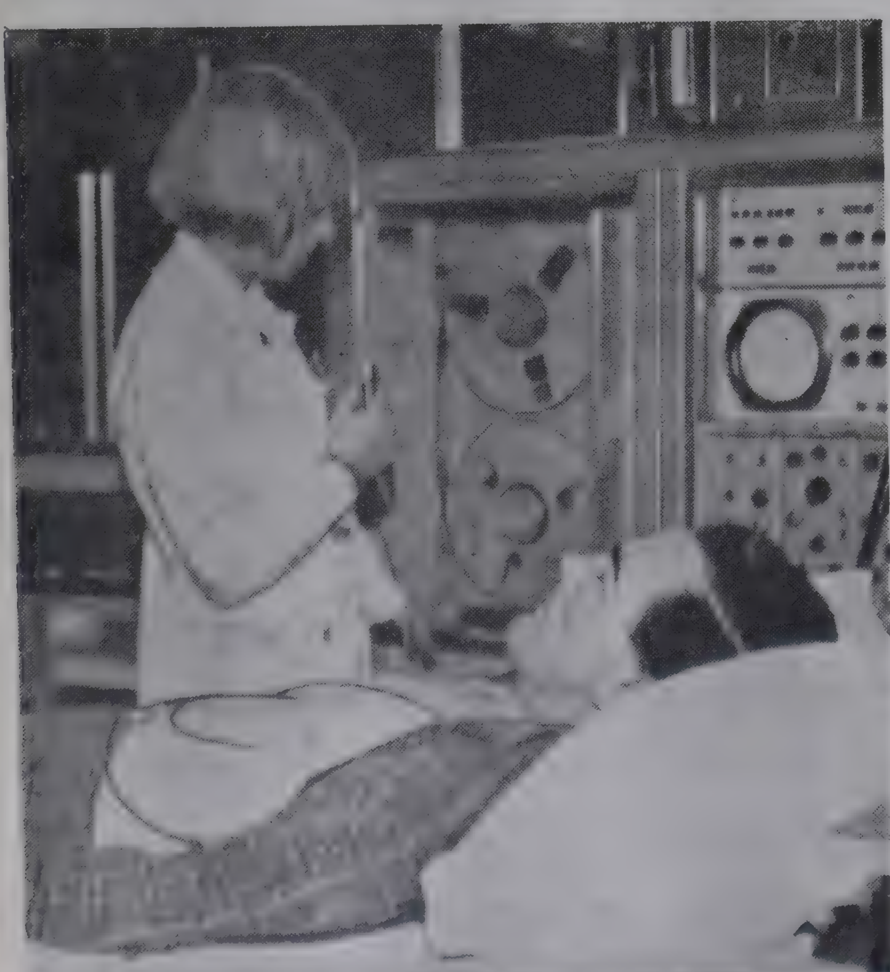


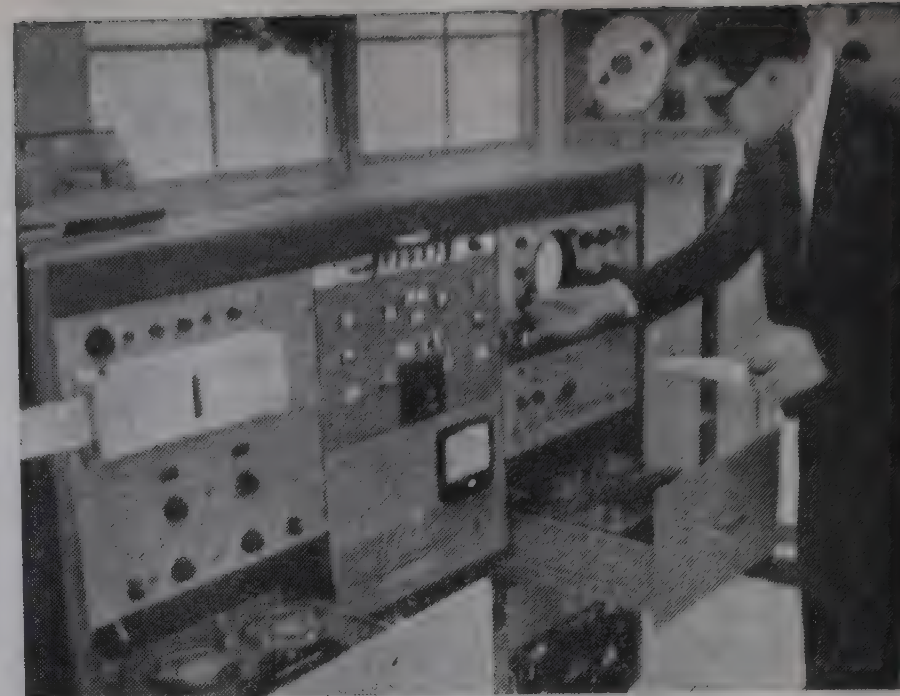
करना है; ईंट, चूना, पत्थर, सीमेंट, रेत, लोहा आदि का। अगर वह इन सबका अकेला हिसाब लगाने बैठे तो पागल हो जाये। लेकिन थोड़ा कम्प्यूटर से निवेदन करो और हिसाब चुटकी बजाते तैयार है। चांद और राकेट का ही मामला ले लो। लाखों मील का सफर और हजारों मील फी घंटा की रफ्तार, पल-पल का हिसाब। अंतरिक्ष में लाखों मील की यात्रा का यदि जोड़, बाकी, गुणा, भाग करके हिसाब लगाने बैठोगे तो ब्रह्मा जी की पूरी जन्म-पत्री तैयार हो जायेगी। फिर भी हिसाब पूरा नहीं हो पायेगा और हिसाब तो जानते ही हो, ऐसी भेजा खाली करने वाली चीज है कि जरा सिफर इधर से उधर हुआ नहीं कि बस! सब करा कराया चौपट। आपने राकेट भेजा तो है चांद पर किन्तु वह चला जाएगा अनन्त अन्तरिक्ष में कहीं और। और वहां पहुंच कर किस ग्रह के चारों ओर चक्कर काटने लगे, कौन जाने। कहो! कितना टेढ़ा खेल है इस हिसाब का, किन्तु, कम्प्यूटर की शरण में गए और सब मामला ठीक। क्या मजाल कि जरा भी इधर-उधर हो जाये। तुम्हें मालूम होगा अपोलो-11 का पूरा कार्यक्रम कम्प्यूटरों ने ही तैयार किया था और कम्प्यूटर ने ही यह बताया

था कि किस समय यान को कितनी गति से चलना है और किस ओर जाना है। तभी तो मानव निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चन्द्रमा पर पहुंच सका।

तो ऐसा है कम्प्यूटर का चमत्कार। ये हिसाबी-किताबी और दिमागी, बुद्धिमान, शक्तिशाली कम्प्यूटर अंग्रेजी में डिजिटल (अंक अथवा अंगुल संबंधी) कम्प्यूटर कहलाते हैं। ये हुए श्रीमान कम्प्यूटर। क्योंकि श्रीमान के समान ही ये भारी भरकम काम करते हैं, जैसे, दफ्तरों, व्यापार संगठनों आदि के बड़े-बड़े हिसाब-किताब रखना, इंजीनियरों की समस्याओं को हल करना आदि। एक श्रीमती कम्प्यूटर भी हैं और यह कहलाती है ऐनेलाग अथवा गुण सदृश संगणक। जिस प्रकार घर में श्रीमतीजी का काम हल्का-फुलका सा होता है, जैसे घर में किस-किस चीज की जरूरत है, क्या चीज फालतू है, किसकी शादी करनी है, किसे क्या देना है, किससे क्या लेना है, आदि। इसी प्रकार के काम श्रीमती कम्प्यूटर भी करती हैं। जैसे लड़के-लड़-

हृदय के रोगों का पता लगाने में भी कम्प्यूटर मदद करता है





रोगी के हृदय के बारे में टेलीफोन पर भेजी गई सूचना का विश्लेषण यह कम्प्यूटर करता है

कियों की शादी तय करना, उनके अलग-अलग गुण देखना, उनका मिलान करना, उनके स्वभावों का मिलान करना और फिर उनके गुण और स्वभाव के सादृश्य के आधार पर यह बता देना कि इस लड़की का उस लड़के से और उस लड़के का इस लड़की से विवाह होना चाहिए। इस प्रकार के काम करके ये श्रीमती कम्प्यूटर मां-बाप की बहुत सी तकलीफें बचा देती हैं जो उन्हें लड़के-लड़कियों को देखने में और उनकी शादी तय करने में उठानी पड़ती है। आधुनिक अस्पतालों में भी अब कम्प्यूटरों का इस्तेमाल बहुत बढ़ गया है। रोगी की परीक्षा भी अब चिकित्सक इस श्रीमती कम्प्यूटर अर्थात ऐनेलाग कम्प्यूटर द्वारा कर सकते हैं। इस प्रकार कम्प्यूटरों का उपयोग अब हर क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिक एक से एक अच्छा कम्प्यूटर बना रहे हैं।

हमने ऊपर बताया है कि कम्प्यूटरों में 'मस्तिष्क' की कमी नहीं होती। बल्कि यूं समझो कि उनका दिमाग आला दर्जे का होता है। किस बात का क्या उत्तर देना है यह उन्हें खूब आता है। जिस प्रश्न का उत्तर उनके पास होता है वह तो वे तुरंत दे ही देते हैं, किन्तु जिसका उन्हें

नहीं आता उसके लिये वे बड़े विनीत भाव से कह देते हैं, क्षमा कीजिये, बस।

अब तुम यह सोचते होगे कि ये कम्प्यूटर शायद आदमी ही की तरह बात करते होंगे आमने-सामने बैठ कर। किन्तु बात यह नहीं है। कम्प्यूटर आखिर मशीन ही तो है, आदमी की बनाई हुई। वह बोलते नहीं पर बात करते हैं, टाइप राइटर द्वारा। उनके अन्दर इलैक्ट्रानिक ब्रेन (विद्युत मस्तिष्क) लगा होता है जो सोचने, समझने और विश्लेषण करने के बाद उत्तर देने का काम करता है और टाइपराइटर उत्तर टाइप करने का। इस काम के लिये एक विशेष प्रकार के कार्ड होते हैं। इन पर अपना प्रश्न टाइप करके कम्प्यूटर के अन्दर रख देते हैं। कम्प्यूटर के अन्दर कार्ड किस प्रकार रखे जाते हैं, इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, यह भी सब सीखना पड़ता है।

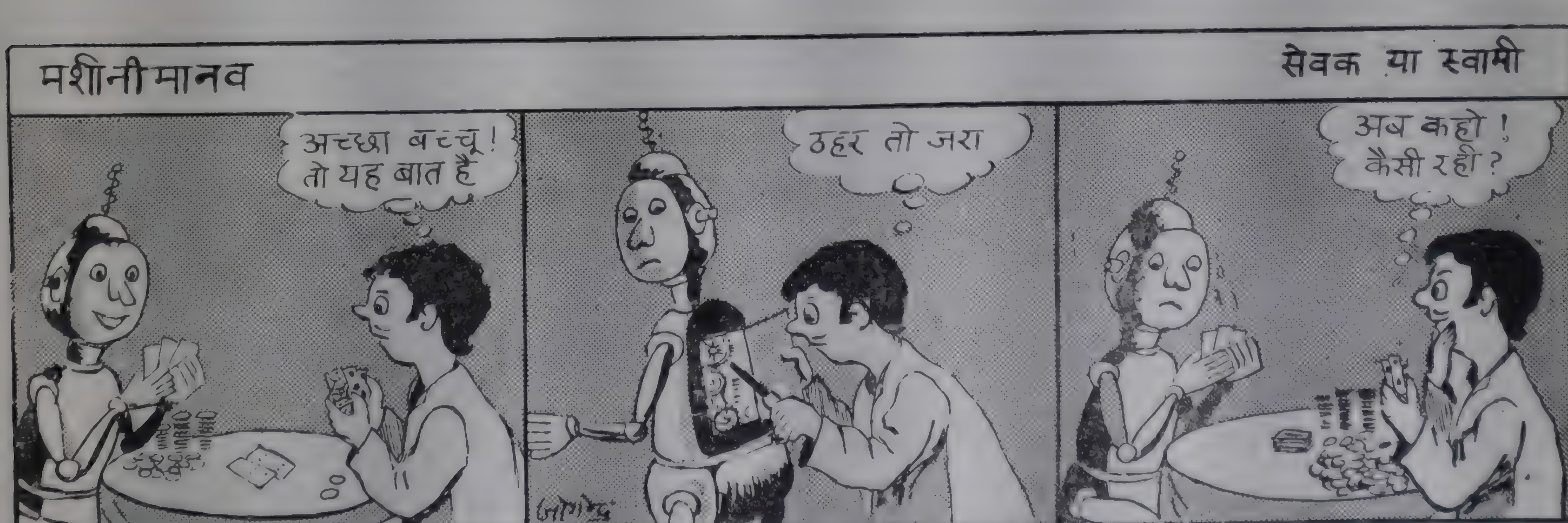
कम्प्यूटर में कार्ड रख देने के बाद वह उस पर लिखे प्रश्न की जांच करता है, कि प्रश्न ठीक है या नहीं। अगर प्रश्न ठीक नहीं है तो कुछ देर बाद आपको टाइप किया हुआ उत्तर मिल जायेगा कि प्रश्न ठीक नहीं है। वर्ना उसका जो उत्तर होगा वह आपके सामने आ जायेगा, टाइप किया हुआ।



यह कम्प्यूटर मनुष्य द्वारा बोली जाने वाली कुछ मूल ध्वनियों को उत्पन्न कर सकता है। इससे सम्भव है बहुत जल्दी ही आदमी की तरह बोलने वाले कम्प्यूटर भी बन जाएं।

यदि किसी कारण प्रश्न ऐसा हुआ जो कम्प्यूटर महोदय को नहीं आता तो वह साफ कह देगा: 'क्षमा करिये, मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हूं।'

केवल इतना ही नहीं। कम्प्यूटर अब धीरे-धीरे खुफिया पुलिस का भी काम करने लगे हैं। ऐसे हैं ये कम्प्यूटर, सेवक भी और शासक भी। लेकिन फिर भी, मानव की कृति मानव के नियंत्रण में। फिलहाल तो!



अद्भुत पेड़-पौधे

फ्लोरिडा, अमेरिका में यह बरगद का वृक्ष अपने ढंग का अनोखा है । इसकी तने जैसी जड़ें इसके तने को सहारा देती हैं । →





उत्तरी आस्ट्रेलिया का एक विशालकाय गोरख इमली का वृक्ष । यह पेड़ दो हजार साल पुराना है । इसका खोखला तना किसी समय नगर जेल की तरह काम में लाया जाता था ।

↑ ऐडीनियम वृक्षों के तनों में पानी भरा होता है और ये सूखा पड़ने पर बहुत समय तक हरे रह जाते हैं ।

संसार का सबसे बड़ा और सबसे भारी यह बीज दुहरा नारियल कहलाता है । यह वास्तव में नारियल नहीं होता बल्कि सीकेलिस ताड़ का फल होता है । इसका वजन 40 पौंड तक हो सकता है । →



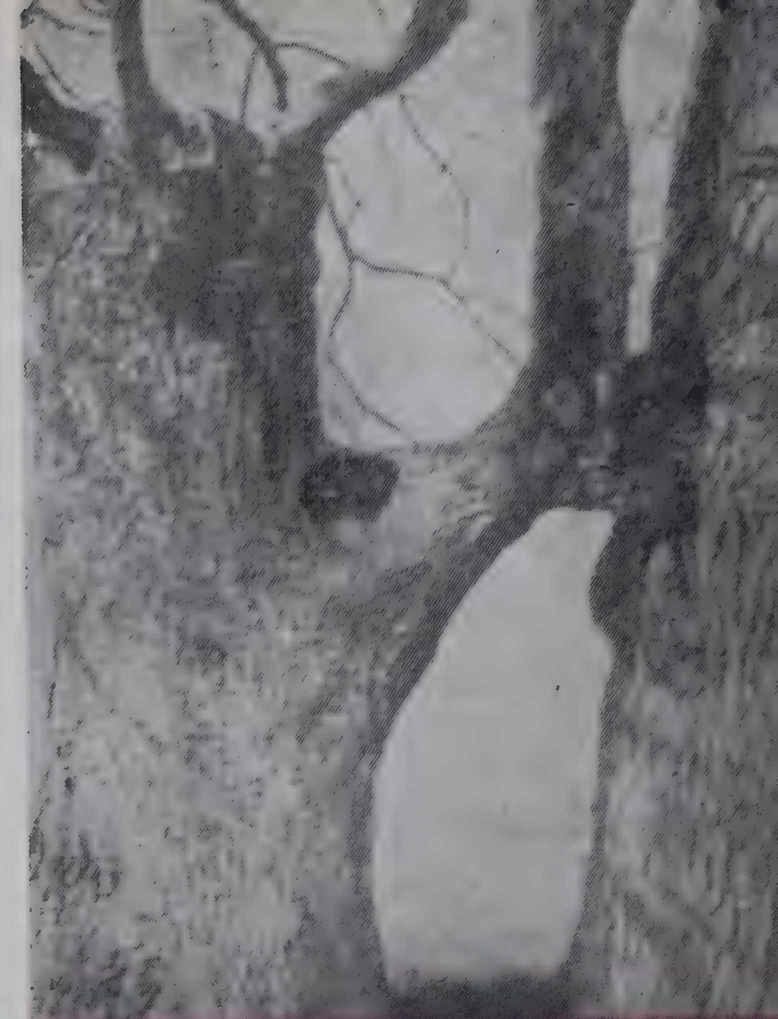


↑ केतकी का यह वृक्ष ऐसा लगता है मानों चल रहा हो।



बालसा वृक्ष की लकड़ी कार्क से भी हल्की होती है। यहां एक व्यक्ति बालसा के 15 फुट लम्बे और 20 इंच व्यास के लट्ठे को ↓ बड़े आराम से उठाए लिए जा रहा है।





इंग्लैंड में पास-पास उग रहे ये दो ऐलम वृक्ष ↑ आपस में जुड़कर एक हो गए हैं।

आस्ट्रेलिया का बोतल-वृक्ष। इसके तने में पानी भरा रहता है। यह बिना वर्षा के बहुत अधिक समय तक रह सकता है। ↓



चार दिल वाली मछली

आपको आश्चर्य होता है। ठीक ही है, बात है भी आश्चर्य की। भला, किसी जन्तु के चार दिल भी हो सकते हैं। आज तक तो कोई ऐसा जन्तु न सुना, न देखा। हम आपको बताते हैं एक ऐसी मछली के बारे में, जिसके चार दिल होते हैं, जीभ पर दांत होते हैं और जो स्वयं को इस तरह लपेट लेती है जैसे कि रस्सी में गांठ लगाई जाती है। और भी बड़ा आश्चर्य यह है कि इस मछली के पेट नहीं होता, नथुना भी केवल एक ही होता है। महीनों तक यदि इसे भोजन न मिले तो भी यह जीवित रह सकती है। इस मछली का नाम है—'हैगफिश'। वैज्ञानिक लिन्ने ने इसे आंतों के कीड़ों (इंटेस्टाइनल वर्म) के वर्ग में रखा था। मछेरे

अनोखे जन्तु

इसे अक्सर श्लेष्मी ईल (स्लाइम ईल) कहते हैं। इस मछली को गोश्त के रूप में खाया नहीं जाता। क्योंकि इसका स्वाद मछली के तेल जैसा होता है और इसके शरीर का गठन रबड़ जैसा। मछली खाने वाले जानवर भी इसे खाना पसंद नहीं करते। जीव वैज्ञानिकों के लिये हैगफिश बड़ा रोचक विषय है। रीढ़धारी जन्तुओं व मछलियों में यह मछली सबसे छोटा जन्तु है।

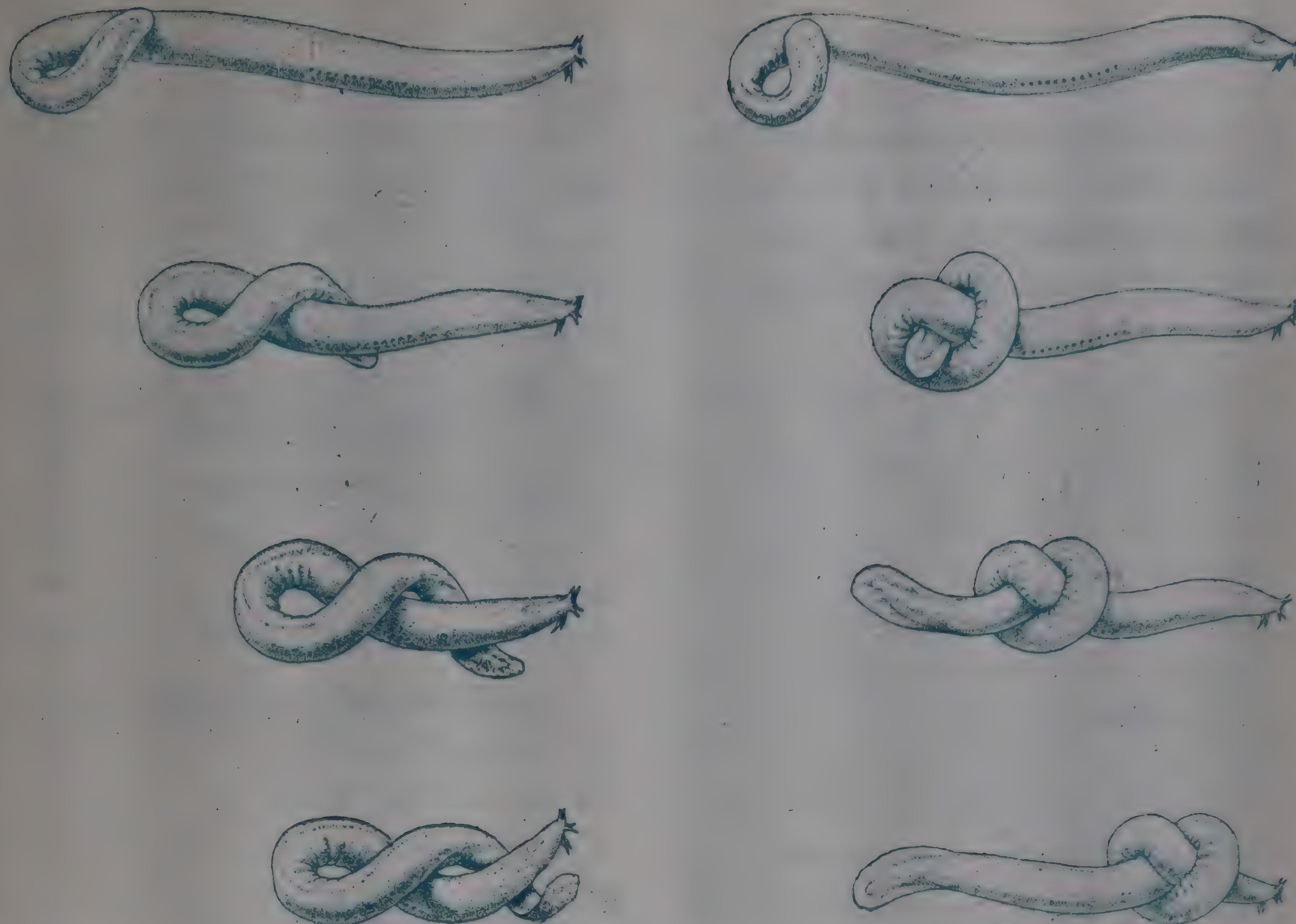
यह रक्त चूसने वाले 'लेम्प्रे' जन्तुओं की श्रेणी में आती है। यह अपने शिकार (साधारणतया मरी हुई मछली) के शरीर में अन्दर घुस जाती है और उसके शरीर के भीतरी अंग व मांस आदि सब चट कर डालती है। रह जाता है, केवल हड्डियों और खाल का खोखला।



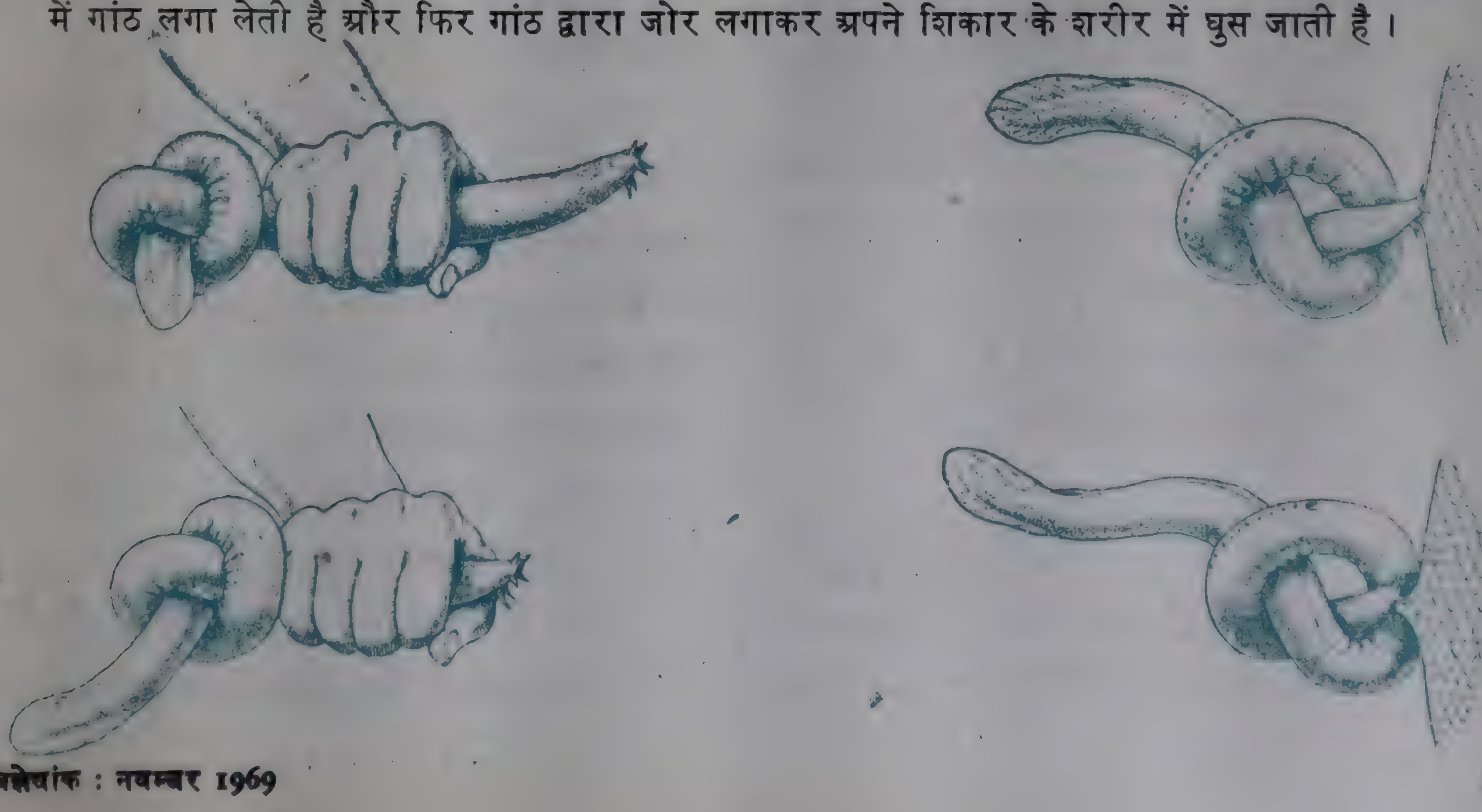
हैगफिश की जीभ पर दांत होते हैं

हैगफिश का अध्ययन यद्यपि काफी अरसे से किया जा रहा है लेकिन फिर भी यह वैज्ञानिकों के लिए एक अनबूझ पहेली बनी हुई है। इसकी प्रजनन विधि वैज्ञानिकों के लिए एक गूढ़ रहस्य है। लगभग एक शती पूर्व (1864 में) कोपनहेगन एकेडेमी आफ साइंस ने एक पुरस्कार की घोषणा की थी। हैगफिश की प्रजनन विधि की खोज के लिए ही इस पुरस्कार की घोषणा की गई थी। अभी तक कोई भी वैज्ञानिक इस पुरस्कार को प्राप्त न कर सका है।

हैगफिश समुद्र में रहती है। समुद्र के ऐसे स्थान पर यह रहती है जहां पानी ठंडा और काफी खारा होता है। इसकी लगभग 24 जातियां पाई जाती हैं। यह उत्तरी अमेरिका में अलास्का से बाजा



(ऊपर बाएं) हैगफिश बहुत लचीली होती है और अंग्रेजी के 8 का आकार बना लेती है। (ऊपर दाएं) यह अपने शरीर में गांठ भी लगा सकती है। जब इसके शरीर पर कोई गंद जमा हो जाती है तो पूंछ से सिर की ओर गांठ को बढ़ाकर यह उस से छुटकारा पाती है। (नीचे बाएं) अपने दुश्मन की पकड़ से छूटने के लिए भी यह गांठ लगाकर जोर लगाती है। (नीचे दाएं) अपने शिकार के शरीर में घुसने के लिए भी यह पहले अपने शरीर में गांठ लगा लेती है और फिर गांठ द्वारा जोर लगाकर अपने शिकार के शरीर में घुस जाती है।

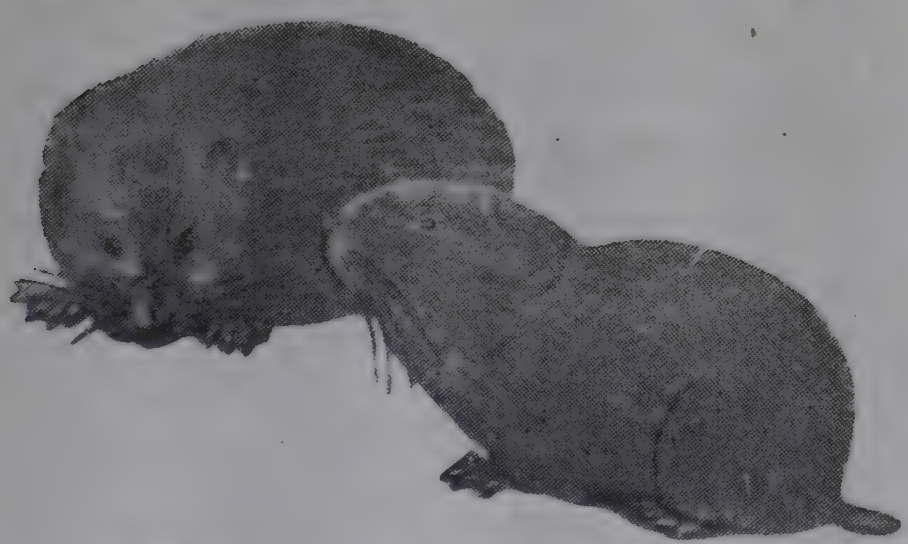


केलीफोर्निया तक समुद्र में 60 फुट से 1800 फुट की गहराई तक पाई जाती है।

यह बहुत सुस्त व आलसी मछली होती है। यह अपना अधिकतर समय समुद्र में यूं ही चुपचाप पड़ी रह कर बिताती है। लेकिन जब यह भूखी होती है तो यह बड़ी तीव्र गति से सांप की तरह लहराती हुई तैरती है।

आत्महत्या करने वाले जीव

यूरोप के उत्तरी भाग में एक देश है नार्वे। वहां के ऊंचे पहाड़ों पर, जहां पेड़ पैदा नहीं होते, चूहे जैसा एक जन्तु होता है 'लेमिंग'। लेमिंग घास और बहुत छोटे पौधे खाकर, उन्हीं से अपना गुजारा करता है। लेमिंग मादा बहुत बच्चे देती है, जिससे इनकी आबादी बहुत तेजी से बढ़ जाती है। कुछ दिन बाद उनकी आबादी इतनी अधिक हो जाती है कि सारे पहाड़ों में लेमिंगों के कारण तिल भर भी जगह नहीं बचती। फिर ये एकाएक झुंडों में पहाड़ों से उतरते हैं और समुद्र की ओर चल पड़ते हैं।



रास्ते में बाज, उल्लू झपट्टा मार कर हजारों लेमिंग खा जाते हैं, लाखों नदी नालों में डूब जाते हैं, करोड़ों भूख से मर जाते हैं, बाकी समुद्र की ओर बढ़े ही चले जाते हैं और वहां पानी में डूब कर मर जाते हैं।

सबसे भयानक जंतु—छछूंदर

अजीब जन्तुओं में छछूंदर को शामिल करना तुम्हें ठीक नहीं लगेगा। तुम कहोगे छछूंदर में क्या अनोखी बात है? वह तो चूहों के समान घरों में फिरती रहती है और अनाज खाती है या कपड़े, कागज वगैरह कुतरती है? पर तुम्हें नहीं मालूम कि छछूंदर अपने से दुगने बड़े जीवों तक को मार कर खा जाती है। सांप, चूहे को खाता है पर वह छछूंदर से डरता है। क्यों? यह नेवले की तरह सांप पर हमला कर बैठती है और मौका पड़ने पर उसकी हड्डियां तक खा जाती है। चूहे तो उससे बहुत डरते हैं। बिल्ली भी उसे नहीं खाती।

छछूंदर कीड़े-मकोड़े, कानखजूरा सब खा जाती है। वह खाने में इतनी तेज होती है कि दूसरी छछूंदर को भी नहीं छोड़ती। इसीलिये मादा छछूंदर अपने बच्चों को बिल से जल्दी भगा देती है।

सांप की तरह छोटी पूंछ की छछूंदर की थूक पैदा करने वाली ग्रंथि में भी एक जहर होता है। जब यह किसी जन्तु के शरीर में दांत गड़ाती है तो वह जहर शिकार के शरीर में पहुंच जाता है। इससे शिकार अंधा हो जाता है। उसका दम घुटने लगता है और उसके अंग बेकार हो जाते हैं। जब शिकार लड़ ही नहीं पाता तो छछूंदर उसकी हड्डियां तक खा जाती है।

उत्तरी अमेरिका में पायी जाने वाली 2 इंच लम्बी छछूंदर संसार का सबसे छोटा स्तनपायी जीव है।

कभी न मरने वाले जीव

कहते हैं जो इस दुनिया में जन्मा है, वह मरेगा भी। पर कुछ ऐसे जीव हैं जिन्होंने भीष्म पितामह की तरह मौत को जीत लिया है। वे कभी मरते नहीं। ये हैं अमीबा, पैरामीसियम, यूग्लीना आदि एक-कोशीय जीव। इनमें नर और मादा नहीं होते। इसलिए इनके बच्चे नहीं होते। यदि इनका अन्त आ जाता है तो ये टूट कर दो बन जाते हैं और इस प्रकार इनका अन्त इनका जन्म सिद्ध होता है।



पानी के तल का तनाव

चन्द्रकुमार मिश्र

बच्चो! हम तुम्हें दो अच्छे से जादू के खेल बतलाते हैं। इसे तुम अपने मित्रों के सामने करके उन्हें आश्चर्य चकित कर दोगे। दोनों ही पानी और द्रवों के एक विशेष गुण पर आधारित हैं, जिसके बारे में तुम्हें इसी लेख में बाद में बतलाया जाएगा।

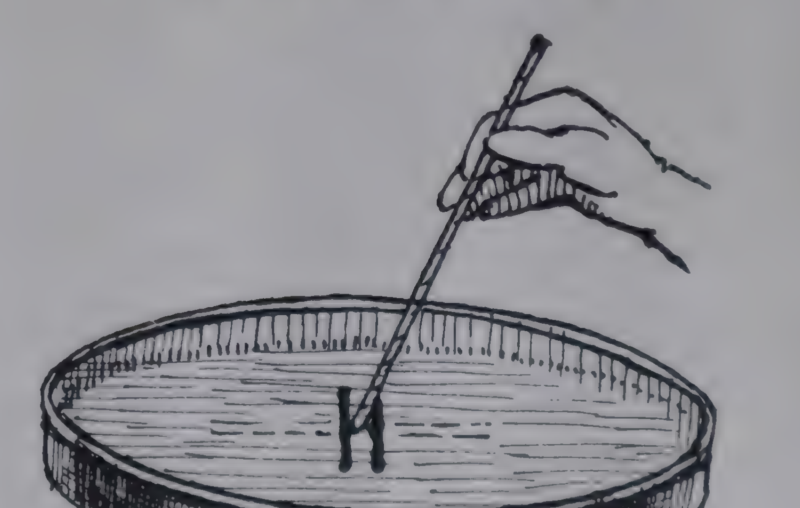
पहले खेल के लिए पानी भरा बर्तन, एक गीला साबुन का टुकड़ा, थोड़ी सी शकर, दियासलाई की दो सीकें और कोका कोला, या लैमन इत्यादि पीने वाली नलकी इकट्ठा कर लो। अब पानी भरे बर्तन में नलकी का एक सिरा डुबो लो फिर उसे शकर में डुबो लो, इससे कुछ शकर नलकी के अन्दर पहुंच जायेगी। नलकी के सिरे पर बाहर लगी शकर को पोंछ डालो। अब इसी प्रकार नलकी का दूसरा सिरा साबुन के टुकड़े से छुआओ, जिससे कि कुछ साबुन नलकी के भीतर चला जाये। बस यह जादू की छड़ी बन गई।

अब पानी भरे बर्तन में दो दियासलाई की सीकें तैराओ, और फिर नलकी का साबुन वाला सिरा इन दोनों सीकों के बीच के पानी में डुबाओ। तुम देखोगे कि सींके दूर हट जाती हैं जैसे कि वे जीवित हों।

खेल तो तुम्हें बहुत अच्छा लगा होगा लेकिन जरा यह भी तो सोचो ऐसा होता क्यों है? इसका कारण यह है कि द्रव के अणु एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। अतः वे सब कम से कम जगह में रहना चाहते हैं। इस कारण से द्रव की ऊपरी सतह पर सदैव खिचाव सा बना रहता है, मानो वह एक खिची हुई झिल्ली हो। जब साबुन वाला सिरा पानी में डुबोया जाता है तो साबुन पानी में घुल जाता है। साबुन के घुलने के कारण दोनों सीकों के बीच पानी की सतह का खिंचाव कम हो जाता है, जबकि सींकों के बाहर की सतह पर खिंचाव पहले जैसा ही बना रहता है। इस कारण सींकों के बीच साबुन के घोल की सतह फैलती है। फलस्वरूप सीकें एक दूसरे से दूर भाग जाती हैं।

जब शकर वाला सिरा डुबोया जाता है तो वह सोख्ते की तरह पानी की सतह के कुछ अणुओं को सोख लेती है, इस कारण सीकों के बीच की सतह का खिंचाव शेष सतह के खिंचाव से अधिक हो जाता है और सींकें फिर से पास खिंच आती हैं।

नलकी का शकर वाला सिरा सींकों के बीच में रखने पर सींकें पास आ जाती हैं



इसी गुण पर ग्राधारित एक ग्रौर प्रयोग भी है। इसके लिए भी पानी भरा बर्तन ग्रौर कुछ कपूर के टुकड़े चाहिए। पहले इन कपूर के टुकड़ों को जोड़ कर बिच्छू के ग्राकार का बना लो। फिर इसे पानी में डालो। कुछ देर में तुम देखोगे कि यह बिच्छू पानी में इधर-उधर भाग रहा है जैसे कि जीवित हो। इसका भी कारण द्रव की सतह का खिचाव ही है। कपूर चूंकि बिच्छू के आकार का है, इसलिए कहीं पर चौड़ा ग्रौर कहीं पर पतला होगा, इस कारण पानी में कहीं कम घुलेगा कहीं ज्यादा। कपूर के घुलने के कारण



नलकी का साबुन वाला सिरा सींकों के बीच में रखने पर सींकें दूर भागती हैं

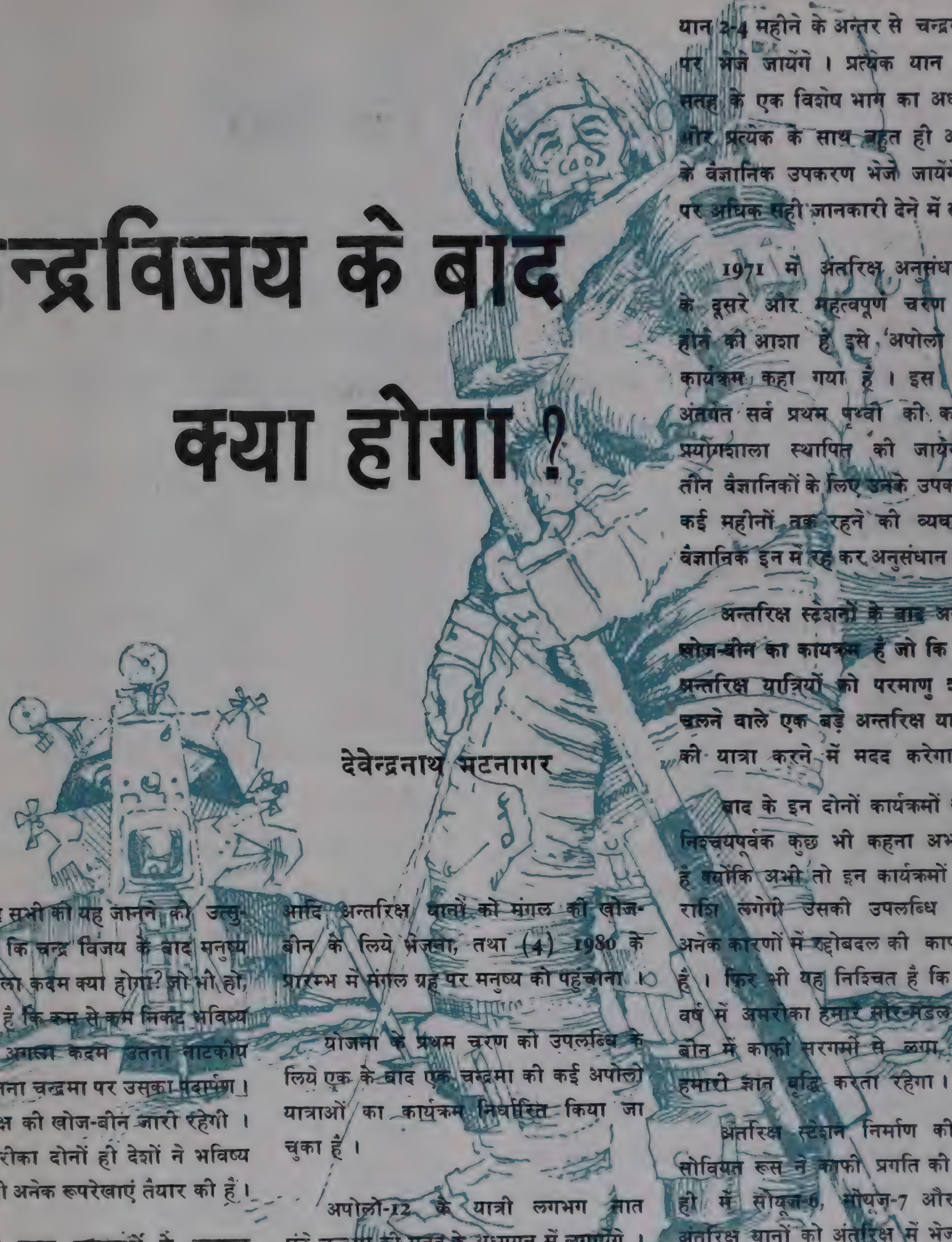
द्रव की सतह का खिचाव कम हो जाता है। जहां पर कपूर कम घुला, या घुला ही न होगा वहां पर खिचाव अधिक होगा, और जहां पर ग्रधिक कपूर घुला है, वहां कम होगा। इस कारण बिच्छू उस ग्रोर खिचेगा जिस ग्रोर कपूर कम घुला है। किन्तु जैसे ही कपूर का बिच्छू वहां पर घुलना प्रारम्भ होगा वह उस ग्रोर को खिच जाएगा जहां पानी में कपूर बिल्कुल नहीं घुला है ग्रौर इस तरह कपूर नाचता रहेगा। यह क्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक पानी में सारा कपूर ग्रच्छी तरह नहीं घुल जाता।

ग्राविष्कार ग्रौर ग्राविष्कारक

नीचे बाईं ग्रोर कुछ मशीनों व दैनिक उपयोग की वस्तुग्रों के नाम दिए गए हैं ग्रौर दाईं ग्रोर उन वैज्ञानिकों के नाम हैं जिन्होंने उन वस्तुग्रों का ग्राविष्कार किया। इन नामों को ऐसे क्रम में रखिए कि ग्राविष्कार के सामने उसके ग्राविष्कारक का नाम ग्रा जाए। सही उत्तर पृष्ठ 549 पर देखिए।

1. रेडियो	लिपरशी
2. टेलीफोन	ज्वोरीकिन
3. सिलाई मशीन	बैरन कार्लड्रैस
4. टेलीग्राफ	ल्यूवानहुक
5. ग्रामोफोन	जॉन वाकर
6. टाइपराइटर	ऐडीसन
7. बाल पाइंट पेन	ब्रेथरले
8. चश्मा	गटेनबर्ग
9. हवाई जहाज	जेम्स वाट
10. छापाखाना	रोजर बेकन
11. स्टेनलैस स्टील	बायरो ग्रौर जार्ज
12. बिजली का बल्ब	वाटरमैन
13. स्टीम इंजन	फिनले मोर्स
14. माचिस	एलियस हौव
15. पेनिसिलीन	मारकोनी
16. साइकिल	ग्राह्म बेल
17. टेलीविजन	शोल्स, ग्लाइडन ग्रौर सोल्स
18. सूक्ष्मदर्शी	राइट बन्धु
19. दूरदर्शी	ग्रलेक्जेण्डर फ्लैमिंग
20. फाउन्टेन पेन	ऐडीसन

चन्द्रविजय के बाद क्या होगा ?



देवेन्द्रनाथ भटनागर

आज शायद सभी को यह जानने की उत्सुकता है कि चन्द्र विजय के बाद मनुष्य का अगला कदम क्या होगा? जो भी हो, इतना निश्चित है कि कम से कम निकट भविष्य में मनुष्य का अगला कदम उतना नाटकीय नहीं होगा, जितना चन्द्रमा पर उसका पदार्पण। लेकिन अन्तरिक्ष की खोज-बीन जारी रहेगी। रूस और अमरीका दोनों ही देशों ने भविष्य के कार्यक्रमों की अनेक रूपरेखाएं तैयार की हैं।

अब तक प्राप्त सूचनाओं के अनुसार अमरीका द्वारा अन्तरिक्ष अन्वेषण का कार्यक्रम निम्न भागों में सम्पन्न करने की योजना है: (1) चन्द्रमा की सतह का और अधिक अन्वेषण व अध्ययन और वहां मनुष्य के ठहरने व अध्ययन करने के लिए उपयुक्त स्थान का निर्माण, (2) अन्तरिक्ष स्टेशन का निर्माण, जो कम से कम एक वर्ष तक पृथ्वी की कक्षा में स्थित रहेगा, (3) मेरिनर तथा वाईकिंग आदि अन्तरिक्ष यानों को मंगल की खोज-बीन के लिये भेजना, तथा (4) 1980 के प्रारम्भ में मंगल ग्रह पर मनुष्य को पहुंचाना।

योजना के प्रथम चरण की उपलब्धि के लिये एक के बाद एक चन्द्रमा की कई अपोलो यात्राओं का कार्यक्रम निर्धारित किया जा चुका है।

अपोलो-12 के यात्री लगभग सात घंटे चन्द्रमा की सतह के अध्ययन में लगायेंगे। वे दो बार चन्द्र यान छोड़ कर चन्द्रमा की सतह पर घूमेंगे और अनेक वैज्ञानिक उपकरण चन्द्रमा की सतह पर लगायेंगे। ये यात्री भी अपने साथ चन्द्रमा की चट्टानों और मिट्टी के नमूने लायेंगे। चार्ल्स कोनराड और एलन बीन चन्द्रमा की सतह पर उतरेंगे और रिचर्ड गोर्डन चन्द्रमा की कक्षा में कमान कक्ष में बैठे हुए चक्कर लगाते रहेंगे।

अपोलो-12 के बाद और कई अपोलो यान 2-4 महीने के अन्तर से चन्द्रमा की यात्रा पर भेजे जायेंगे। प्रत्येक यान चन्द्रमा की सतह के एक विशेष भाग का अध्ययन करेगा और प्रत्येक के साथ बहुत ही अच्छी किस्म के वैज्ञानिक उपकरण भेजे जायेंगे, जो पृथ्वी पर अधिक सही जानकारी देने में समर्थ होंगे।

1971 में अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यक्रम के दूसरे और महत्वपूर्ण चरण के प्रारम्भ होने की आशा है इसे 'अपोलो एप्लीकेशन' कार्यक्रम कहा गया है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत सर्व प्रथम पृथ्वी की कक्षा में एक प्रयोगशाला स्थापित की जायेगी। इनमें तीन वैज्ञानिकों के लिए उनके उपकरणों समेत, कई महीनों तक रहने की व्यवस्था होगी। वैज्ञानिक इन में रह कर अनुसंधान कार्य करेंगे।

अन्तरिक्ष स्टेशनों के बाद अन्य ग्रहों की खोज-बीन का कार्यक्रम है जो कि अन्त में छः अन्तरिक्ष यात्रियों को परमाणु शक्ति द्वारा चलने वाले एक बड़े अन्तरिक्ष यान में मंगल की यात्रा करने में मदद करेगा।

बाद के इन दोनों कार्यक्रमों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना अभी मुश्किल है क्योंकि अभी तो इन कार्यक्रमों में जो धन-राशि लगेगी उसकी उपलब्धि और अन्य अनेक कारणों में रद्दोबदल की काफी गुंजायश है। फिर भी यह निश्चित है कि अगले दस वर्ष में अमरीका हमारे सौर-मंडल की खोज-बीन में काफी सरगर्मी से लगा रहेगा और हमारी ज्ञान वृद्धि करता रहेगा।

अंतरिक्ष स्टेशन निर्माण की दिशा में सोवियत रूस ने काफी प्रगति की है। हाल ही में सोयूज-6, सोयूज-7 और सोयूज-8 अंतरिक्ष यानों को अंतरिक्ष में भेज कर और दो यानों को परस्पर जोड़ कर सोवियत रूस ने यह सिद्ध कर दिया है कि अंतरिक्ष स्टेशन का निर्माण करना कोई कठिन कार्य नहीं है। ये अंतरिक्ष स्टेशन, वास्तव में, पृथ्वी के गिर्द परिक्रमा करती हुई प्रयोगशालाएं ही होंगी। इन प्रयोगशालाओं में ऐसे बहुत से कार्य किए जा सकेंगे जो कि पृथ्वी पर, वायु की उपस्थिति के कारण, नहीं किए जा सकते।

पौधों का रसोईघर

तुम सभी जानते हो कि तुम्हारा खाना रसोईघर में बनता है। बाजार से दाल, सब्जी, गेहूं, चावल आदि सभी खाने की चीजें आती हैं और उन्हें रसोईघर में चूल्हे, अंगीठी या स्टोव पर एक बर्तन में रख कर पकाया जाता है। उनमें तरह-तरह के मसाले डाले जाते हैं ताकि वे खाने में स्वादिष्ट लगें और शरीर में पहुंच कर आसानी से पच जाएं।

हमारे खाने की सभी वस्तुएं पौधों से प्राप्त होती हैं। तुम में से कुछ मांसाहारी कह सकते हैं कि मांस तो पौधों से प्राप्त नहीं होता। तो भई, वे जानवर जिनका तुम मांस खाते हो अपना भोजन पौधों से ही पाते हैं। इस प्रकार हमारा भोजन पौधे ही हैं।

अब तुम सोच रहे होगे कि पौधे भी तो जीवित हैं। वे अपना भोजन कहां से प्राप्त करते हैं? वह तो बाजार जा कर अपने खाने की चीजें नहीं ला सकते। बात यह है कि पौधों को अपना भोजन पाने के लिए हमारी तरह इधर-उधर बाजार में मारे-मारे नहीं फिरना पड़ता। वे तो अपना भोजन खुद तैयार करते हैं। सूरज की रोशनी से वे ऊर्जा प्राप्त करते हैं। वायुमंडल से कार्बन डाईआक्साइड गैस प्राप्त करते हैं और धरती से पानी तथा खनिज पदार्थ प्राप्त करते हैं। इन सब चीजों को लेकर अपना भोजन तैयार करते हैं, पत्तियों में। ये पत्तियां ही तो पौधों का रसोईघर होती हैं। हरेक पत्ती पौधे के लिए भोजन तैयार करती है।

तुमने देखा होगा कि अधिकतर पौधों की पत्तियां हरी होती हैं। जानते हो ये हरी क्यों होती हैं? इनमें एक हरे रंग का पदार्थ भरा होता है। इस हरे रंग के पदार्थ का नाम है 'क्लोरोफिल'। बस यह क्लोरोफिल ही पत्तियों को 'रसोईघर' बनाता है। जिन पत्तियों में यह नहीं होता वे रसोईघर का काम नहीं कर सकतीं, वे पौधे के लिए भोजन तैयार नहीं कर सकतीं।

हम जो भोजन करते हैं, उसका अधिकांश भाग शकर में बदल जाता है। यह शकर ही वसा या चर्बी के रूप में जमा हो जाती है। यह शकर ही हमारे शरीर को बहुत से काम करने के लिए ऊर्जा प्रदान करती है। हर काम करने में शरीर शकर को व्यय करता है।

हमारी तरह पौधों को भी शकर की जरूरत होती है। तरह-तरह की क्रियाओं के लिए पौधे शकर का उपयोग करते हैं। यह शकर पौधे अपने रसोईघर अर्थात पत्तियों में तैयार करते हैं। इसके लिए उन्हें केवल कार्बन डाईआक्साइड और पानी व धूप की जरूरत होती है।

पत्तियों में तैयार हुई यह शकर पौधे में जगह-जगह जाकर काम करती है। जितनी शकर पौधे के लिए जरूरी होती, वह तो खर्च हो जाती है। जो फालतू होती है, वह मांड़ (स्टार्च) में बदल जाती है और पौधे में जमा हो जाती है। पौधे में शकर से वसा (चर्बी) बन जाती है। यह वसा पौधों में बीजों में जमा होती है। सरसों का तेल, जैतून का तेल इस वसा के उदाहरण हैं। लेकिन पौधों का काम केवल शकर से नहीं चल पाता। अधिक मजबूत बनने के लिए, बड़ा और स्वस्थ होने के लिए पौधे को एक और प्रकार के भोजन पदार्थ की जरूरत होती है। इसे प्रोटीन कहते हैं। हमारे लिए



हरी पत्ती पौधों का रसोईघर होती हैं। पौधों का भोजन तैयार करने के लिए उसे पानी (5) और खनिज (6) पदार्थ पृथ्वी से मिलते हैं, कार्बनडाई-आक्साइड (7) वायुमण्डल से मिलती है, ऊर्जा सूर्य (1, 2) से मिलती है। क्लोरोफिल (3) हरी पत्ती में मौजूद होता है। भोजन बनाने की क्रिया (प्रकाश-संश्लेषण) में पत्तियों से आक्सीजन गैस निकलती है। पत्ती में बनी मांड़ और शकर (8) पौधे में भण्डारित हो जाती है।

भी प्रोटीन बहुत जरूरी हैं। प्रोटीन तैयार करने के लिए रसोईघर (पत्तियों) में कुछ और 'मसालों' की जरूरत होती है। ये 'मसाले' हैं नाइट्रोजन, गंधक और फास्फोरस। ये तत्व (मसाले) मिट्टी में उपस्थित होते हैं। पानी में घुले हुए इन तत्वों को पौधे की जड़ें सोख लेती हैं और तने व शाखाओं से हो कर ये पौधे के रसोईघर में पहुंच जाते हैं। वहां कार्बन डाईआक्साइड और सूरज की रोशनी पहले से मौजूद होती है। पौधे के रसोईघर की छत व दीवारों (पत्तियों की सतह) पर छोटे-छोटे छेद होते हैं। इन्हीं से होकर कार्बन डाईआक्साइड पत्ती में पहुंचती है। बस, अब सारी वस्तुएं रसोईघर में पहुंच जाती हैं तो रसोईघर में ये प्रोटीन बनते हैं।

अब तुम समझ गए होगे कि पौधे अपना भोजन कैसे तैयार करते हैं। यह केवल पौधों के भोजन की ही कहानी नहीं है, बल्कि हमारे भोजन की भी कहानी है। क्योंकि हमारा भोजन तो पौधे ही हैं न। पत्तियों में भोजन तैयार होने की क्रिया 'फोटोसिंथेसिस' या प्रकाश-संश्लेषण कहलाती है। भोजन तैयार करने की इस क्रिया में पौधे कार्बन डाईआक्साइड ग्रहण करते हैं और आक्सीजन निकालते हैं। जितनी कार्बन डाईआक्साइड ये लेते हैं ठीक उतनी ही आक्सीजन निकालते हैं।

कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं जो अपना भोजन स्वयं तैयार नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें हरा पदार्थ 'क्लोरोफिल' नहीं होता। ये पौधे दूसरे पौधों द्वारा तैयार किए गए भोजन को ले लेते हैं। कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं जो मांस खाते हैं। इन पौधों की पत्तियां खास तरह की होती हैं। ज्यों ही कोई कीड़ा या पतंगा इनके पास से गुजरता है ये उसे अपनी पत्तियों में फंसा लेते हैं और उसे हजम कर जाते हैं। ये पौधे हैं ब्लेडरवर्ट, सनड्यू, पिचर प्लांट और वीनस फ्लाई ट्रेप आदि। •

टेलीविजन कैसे काम करता है ?

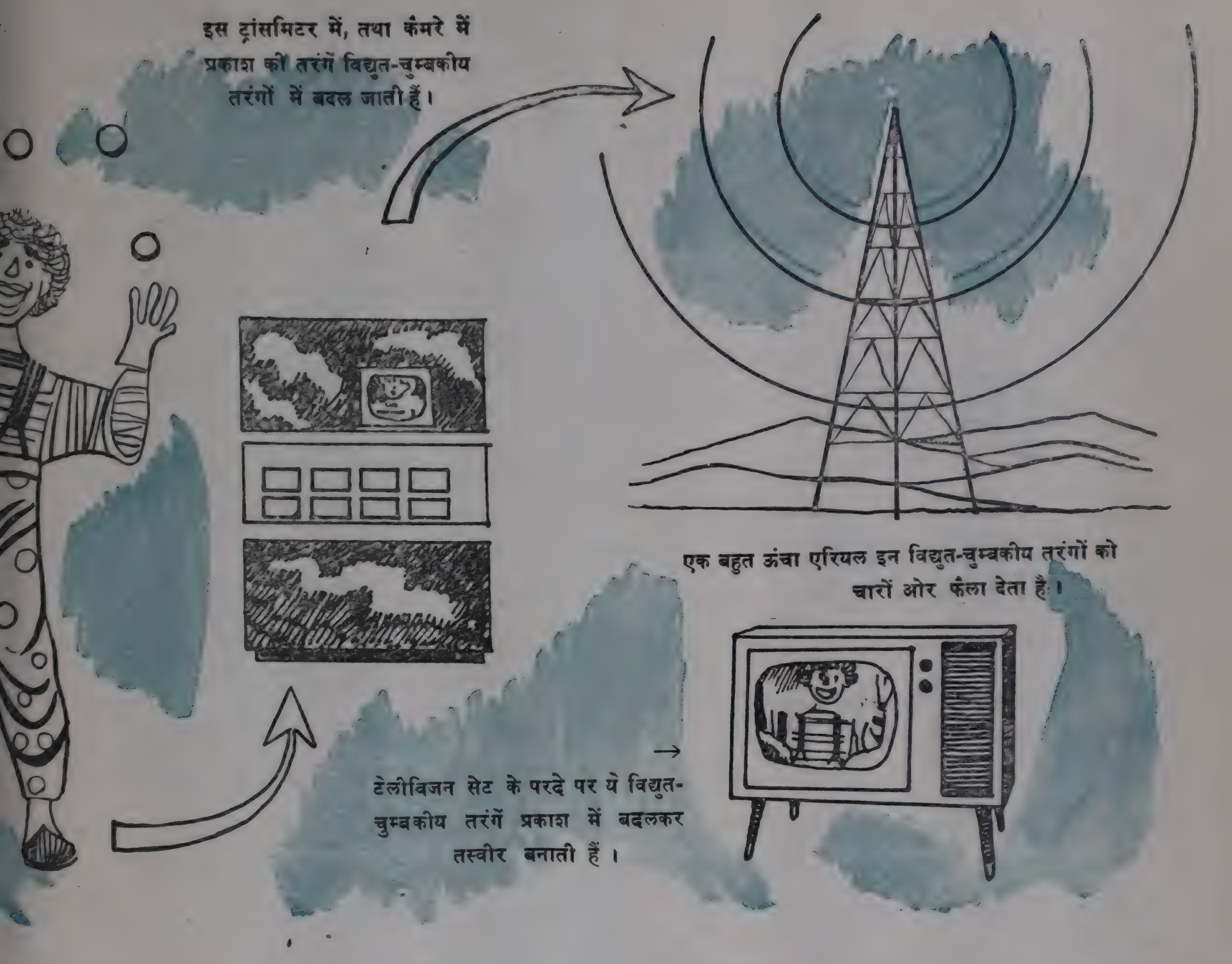
टेलीविजन कैमरा





टेलीविजन स्टूडियो में कोई ड्रामा खेला जा रहा है और मीलों दूर आप उसे अपने घर में बैठे टेलीविजन के पर्दे पर देख रहे हैं। ये चलती-फिरती तस्वीरें टेलीविजन के पर्दे पर कैसे दिखाई देती हैं? स्टूडियो से टेलीविजन के पर्दे तक पहुंचने में इन्हें समय लगभग बिल्कुल नहीं लगता। यह प्रति सैकण्ड तीन लाख कि. मी. की गति से चलती हैं। लेकिन ये तस्वीरें अपना रूप बदल कर चलती हैं।

टेलीविजन प्रसारण के लिए एक विशेष प्रकार का कैमरा इस्तेमाल किया जाता है। साधारण कैमरे और सिनेमा कैमरे में तो फिल्म इस्तेमाल की जाती है। वस्तु से आने वाला प्रकाश कैमरे के लेंस में से होता हुआ फिल्म पर पड़ता है और वहां वस्तु का चित्र बनाता है। परन्तु टेलीविजन कैमरे में फिल्म के स्थान पर एक विशेष प्रकार का पर्दा इस्तेमाल किया जाता है। इस पर्दे पर विशेष प्रकार का रासायनिक पदार्थ लगा होता है। इस रसायन की खास बात यह है कि जब इस पर प्रकाश पड़ता है तो यह उस प्रकाश को बिजली में बदल देता है। इस प्रकार वस्तु से आने वाला प्रकाश टेली-विजन कैमरे के लैंसों से होता हुआ जब इस पर्दे पर पड़ता है तो तुरन्त ही बिजली में बदल जाता है। तेज प्रकाश से अधिक शक्तिशाली बिजली पैदा होती



है और मन्द प्रकाश से कम शक्ति वाली । इस प्रकार टेलीविजन कैमरे में वस्तु की एक 'बिजली की तस्वीर' (विद्युतीय चित्र) बन जाती है। इन बिजली की तरंगों को फिर और अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है। अब ये शक्तिशाली बिजली की तरंगें एक बहुत ऊंचे टेलीविजन एरियल द्वारा आकाश में फैल जाती है।

साथ ही एक माइक्रोफोन आवाज की तरंगों को ग्रहण कर रहा होता है। ये आवाज की तरंगें भी प्रकाश की भांति बिजली में बदल जाती हैं और तस्वीर वाली बिजली की तरंगों के साथ-साथ ये भी आकाश में फैल जाती हैं।

जब आप अपना टेलीविजन सैट चालू करते हैं तो आपके टेलीविजन का एरियल इन दोनों प्रकार की बिजली की तरंगों को पकड़ लेता है और एक तार द्वारा उन्हें टेलीविजन सैट में पहुंचा देता है। यहां कैमरे वाली बिजली की तरंगें प्रकाश की तरंगों में बदल जाती हैं और पर्दे पर हमें तस्वीरें दिखाई देती हैं। माइक्रोफोन वाली बिजली की तरंगें यहां आवाज में बदल जाती हैं। यही आवाज टेलीविजन के लाउडस्पीकर से आती हुई हमें सुनाई देती है। इस प्रकार स्टूडियो में हो रहे नाटक को अथवा संगीत कार्यक्रम को हम मीलों दूर बैठे हुए देख सुन लेते हैं। •

तुम भी चांद पर जाओगे?

रत्नाम्बर जोशी

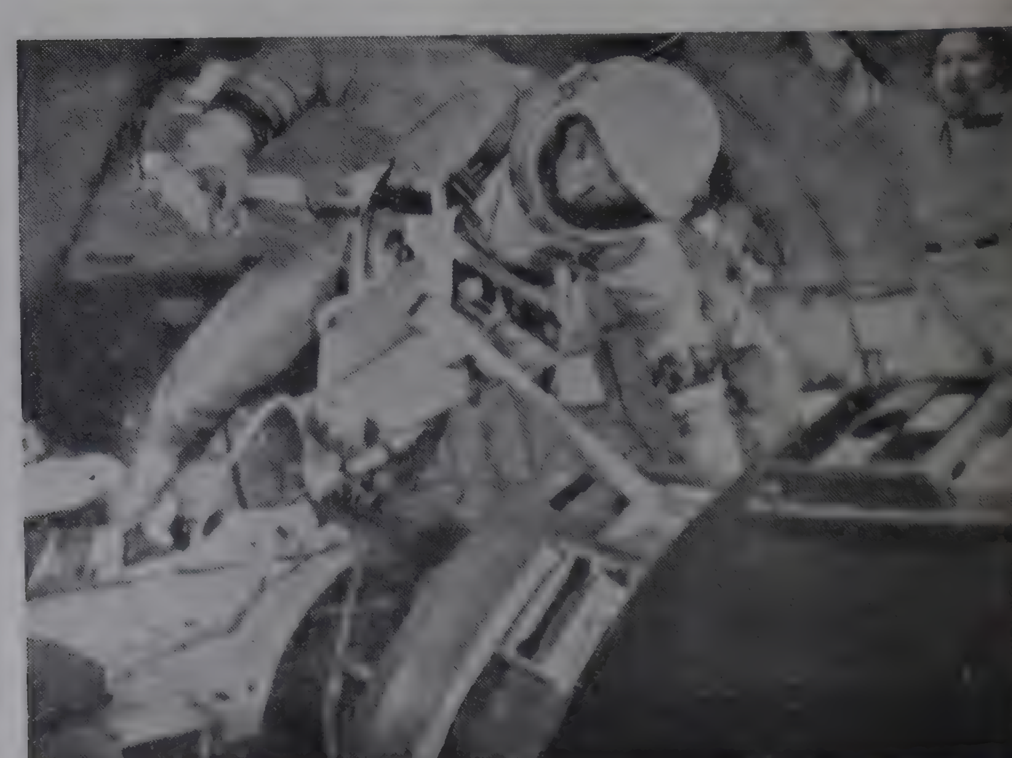
अगर तुम चांद पर जाना चाहते हो तो तुम्हें बहुत सी परीक्षाएं पास करनी होंगी। ये परीक्षाएं बहुत कठिन होती हैं। जानते हो जो आदमी चांद पर गए थे, उन्होंने कितने दिन पहले से अभ्यास शुरू किया था और कितनी परीक्षाएं उन्हें पास करनी पड़ी थीं? केवल इन्हें ही नहीं, जितने भी यात्री अंतरिक्ष में भेजे जाते हैं उन सभी को ट्रेनिंग दी जाती है। उसके बाद, परीक्षा में पास होने पर ही वे यात्रा पर जा पाते हैं। यही नहीं, उन्हें बहुत कुछ पढ़ना भी पड़ता है। जिस प्रकार तुम स्कूल जाकर कक्षा में पढ़ते हो, उसी तरह अंतरिक्ष यात्रियों का भी स्कूल लगता है वहां बड़े-बड़े वैज्ञानिक उन्हें पढ़ाते हैं।

अंतरिक्ष यात्रा के लिए वही आदमी चुने जाते हैं जो बहुत हृष्ट-पुष्ट होते हैं, बहुत तेज बुद्धि वाले होते हैं, हिम्मत वाले होते हैं और यान में लगे यंत्रों का ठीक प्रकार संचालन कर सकते हैं।

पूर्वाभ्यास

अंतरिक्ष यात्रियों को अंतरिक्ष यात्रा में आने वाले खतरों का सामना करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। जिन खतरों की यात्रा के दौरान

हवाई जहाज के भीतर अंतरिक्ष यात्री भारहीनता की अवस्था में काम करने का अभ्यास करते हुए





पानी के तालाब में अंतरिक्ष यात्री को डुबोकर उसके शरीर का घनत्व ज्ञात किया जाता है

संभावना होती है, उन्हें पृथ्वी पर प्रयोगशाला में उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार ये यात्री उनके अभ्यस्त हो जाते हैं। कभी तो यात्री को एक मशीन में बैठा कर मशीन को तेजी से घुमाया जाता है, कभी उसे घड़ी के दोलक (पेन्डुलम) की तरह हिलाया जाता है, कभी फिरकनी की तरह घुमाया जाता है, कभी एक दिशा में, कभी दूसरी दिशा में। यह सब इसलिए किया जाता है कि यात्रा के दौरान यात्रियों को इन सब स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है।

भारहीनता का अभ्यास

इसके अतिरिक्त यात्रियों को एक जेट हवाई जहाज में बैठा कर एक विशेष मार्ग में उड़ाया जाता है। इस प्रकार उड़ाने से कुछ देर के लिए यात्री भारहीन हो जाता है, यानी उसका भार ही नहीं रहता। या यूं कहें कि तब आदमी और कागज दोनों, भार की दृष्टि से एक जैसे हो जाते हैं। इस भारहीनता की अवस्था में यात्री को यंत्रों का संचालन करना पड़ता है तथा और भी आवश्यक काम करने की शिक्षा दी जाती है।

इस प्रकार वह भारहीनता की अवस्था में काम करना सीख जाता है। इस अवस्था में भोजन करना तथा पानी पीना भी बहुत मुश्किल होता है। अतः इसके लिए भी उन्हें प्रशिक्षित किया जाता है कि वहां भोजन किस प्रकार करें। इनका भोजन भी विशेष प्रकार का होता है। सब कुछ पहले से ही तैयार करके प्लास्टिक की ट्यूबों व थैलियों में बंद होता है। पृथ्वी पर भी विशेष प्रकार का सूट पहनाकर उनसे काम कराया जाता है ताकि अंतरिक्ष यात्रा के समय सूट पहनने पर कोई असुविधा न महसूस करें।

अंतरिक्ष यात्रा के उम्मीदवारों को एक सेन्ट्रीफ्यूज में बैठा दिया जाता है और सेन्ट्रीफ्यूज को तेजी से घुमाया जाता है। जब सेन्ट्रीफ्यूज घूमता है तो अन्दर बैठे हुए आदमी का वजन कई गुना बढ़

जाता है। इसका उस के शरीर पर, खास तौर से हृदय पर, काफी प्रभाव पड़ता है। कुछ देर घुमाने के बाद यात्री को निकाल कर उसके शरीर की परीक्षा की जाती है।

डाक्टरी जांच

अंतरिक्ष यात्री पर एक और मजेदार परीक्षण किया जाता है। उसे पानी से भरे एक तालाब में डुबोया जाता है और यह ज्ञात किया जाता है कि उस के डूबने से पानी की कितनी मात्रा हटी है। इस प्रकार उस यात्री के शरीर का घनत्व ज्ञात किया जाता है।

प्रशिक्षण पाने वालों की शारीरिक क्षमता का हर तरह ठीक होना आवश्यक है। इसीलिये सबसे पहले बड़ी बारीकी से चिकित्सक उनके शरीर की परीक्षा करते हैं। प्रत्येक अंग की डाक्टरी जांच बहुत ही अच्छी तरह से की जाती है। साथ ही मनोवैज्ञानिक जांच भी होती है।

इन सब परीक्षाओं के बाद यात्री की पढ़ाई-लिखाई शुरू होती है। वे सुबह-शाम नियमानुसार कक्षा में अध्ययन करते हैं। लेकिन पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ व्यायाम, खेल-कूद तथा ऊपर दिए गए इम्तिहान भी चलते रहते हैं।

अंतरिक्ष यात्रा के बाद अमरीकी अंतरिक्ष यात्री समुद्र में उतारे जा रहे हैं। पानी से बाहर निकलने का अभ्यास करते हुए अंतरिक्ष यात्री।





चन्द्रमा की परिस्थितियों को पृथ्वी पर पैदा करके चन्द्र यात्री को वहां काम करने का प्रशिक्षण दिया जाता है।

अध्ययन

कक्षा में खगोल शास्त्र, ऊपरी वातावरण, यान उड़ान की तकनीकें आदि जटिल विषयों का अध्ययन परीक्षणार्थियों का काफी समय लेता है। कक्षा कार्य के पूरक के रूप में व्यावहारिक ज्ञान के लिये उसी परिस्थिति के स्थानों में भी घुमाने ले जाया जाता है। अध्ययन में भूगर्भशास्त्र पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें चट्टानों का ज्ञान कराया जाता है और उनका परीक्षण सिखाया जाता है।

पिछले दिनों जो यात्री चन्द्रमा पर गए थे उन्हें चन्द्रमा के बारे में अब तक ज्ञात पूरी जानकारी दी गई थी।

इसके साथ-साथ यान सम्बन्धी बातें सिखाई जाती हैं। हर व्यक्ति को अलग-अलग बातों का विशेषज्ञ बनाया जाता है। इतना सब कुछ सीखने के बाद आदमी अंतरिक्ष यात्रा के काबिल बनता है।

स्टेनलैस स्टील कैसे बना ?

रोजाना हमारे काम में आने वाली वस्तुओं में स्टेनलैस स्टील का प्रमुख स्थान है। स्टेनलैस स्टील के न केवल बर्तन बनते हैं बल्कि और भी छोटी-बड़ी अनेक वस्तुएं बनती हैं। ब्लेड बनते हैं, घड़ियों के केस बनते हैं और यहां तक कि विमान बनाने में भी इसका उपयोग किया जाता है। यह देखने में जितना चमकदार, सुन्दर व हल्का होता है उतना ही मजबूत व टिकाऊ भी होता है। यही कारण है कि यह दिन प्रतिदिन अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। स्टेनलैस स्टील सबसे पहले ब्रेयरले ने बनाया था।

बात सन् 1912 की है। इंग्लैण्ड निवासी ब्रेयरले ऐसी धातु बनाना चाहता था जिसकी बनी हुई राइफलों की नली में जंग न लगे। उसने तरह-तरह के प्रयोग किए। स्टील के साथ विभिन्न धातुएं मिला कर मिश्र धातुएं बनाईं, उनका अच्छी तरह अध्ययन किया। लेकिन कोई नतीजा न निकला। आखिर एक दिन उसने स्टील के साथ क्रोमियम की कुछ मात्रा मिला कर देखी। इससे स्टील कुछ सख्त हो गया। और कोई खास बात उस समय ब्रेयरले को उसमें नजर नहीं आई। अतः यह मिली हुई धातुयें बाहर फेंक दी गईं। लगभग पन्द्रह दिन बाद अचानक उसका ध्यान बाहर पड़े कूड़े के ढेर पर गया। यह वही स्टील और क्रोमियम का मिश्रण था जो चांदी की तरह चमक रहा है। उस पर जंग भी नहीं लगी थी। ब्रेयरले ने उसके टुकड़े की एक छुरी बनाई और उसे मिट्टी में दाब दिया। लगभग एक महीने बाद उसने वह छुरी निकाली फिर भी उस पर जंग नहीं लगा था। बल्कि वह पहले की तरह ही खूब चमक रही थी क्योंकि वह स्टेनलैस स्टील की बनी थी।

स्टेनलैस स्टील बनाने में ब्रेयरले के साथ क्रिश्चियन डेन्सीजेन तथा फ्रेडरिक एम. बैकेट ने भी काम किया था।

स्टेनलैस स्टील कार्बन, क्रोमियम, आक्सीजन, निकिल, वैनेडियम, मैंगनीज, टाइटेनियम, कोलम्बियम, मोलिब्डेनम आदि धातुओं की मिलीजुली धातु है। जिसमें कार्बन क्रोमियम और आक्सीजन मिल कर रक्षावरण बना लेते हैं और निकिल से जंग नहीं लगती। इन सब धातुओं के अलग-अलग अनुपात से अलग-अलग तरह का स्टेनलैस स्टील बनता है जिसका उपयोग हवाई जहाज के कल पुर्जों, तेजाब तथा रंग भरने के बर्तनों, हजामत के ब्लेडों, फर्नीचर, भट्टियों की दीवारों तथा खाने-पीने के बर्तनों में होता है।

मजबूत, हल्का और ऊंचे तापक्रम को सहने की शक्ति होने के कारण स्टेनलैस स्टील का उपयोग आज के युग में दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है और वह दिन दूर नहीं जब कि घर-घर में धातु की प्रत्येक चीज का स्थान स्टेनलैस स्टील ले लेगा।

उत्तर : आविष्कार और आविष्कारक

1. मारकोनी, 2. ग्राह्म बेल, 3. ऐलियस हौव, 4. फिनले मोर्स, 5. ऐडीसन, 6. शोल्स, ग्लाइडन और सोल्स, 7. बायरो और जार्ज, 8. रोजर बेकन, 9. राइट बन्धु, 10. गटेनबर्ग, 11. ब्रेयरले, 12. ऐडीसन, 13. जेम्सवाट, 14. जान वाकर, 15. अलैक्जेण्डर फ्लैमिंग, 16. बैरन कार्ल ड्रैस, 17. ज्वोरीकिन, 18. ल्यूवानहुक, 19. लिपरशी, 20. वाटरमैन।

"अगले चौबीस घंटों के मौसम के बारे में अनुमान है कि दिल्ली और उसके आस-पास आकाश में बादल छाए रहेंगे। एक दो बार हल्की वर्षा होने की भी सम्भावना है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार में मौसम साफ रहेगा।" विवेक रेडियो पर मौसम का यह पूर्वानुमान बड़े ध्यान से सुन रहा था। यूं सुनता तो वह रोज ही था लेकिन आज यह सुनकर उसके मन में एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ। रेडियो से प्रसारण करने वाले व्यक्ति मौसम का

पिचकारी से बैरोमीटर बनाइए

तत्त्वदर्शी बंसल

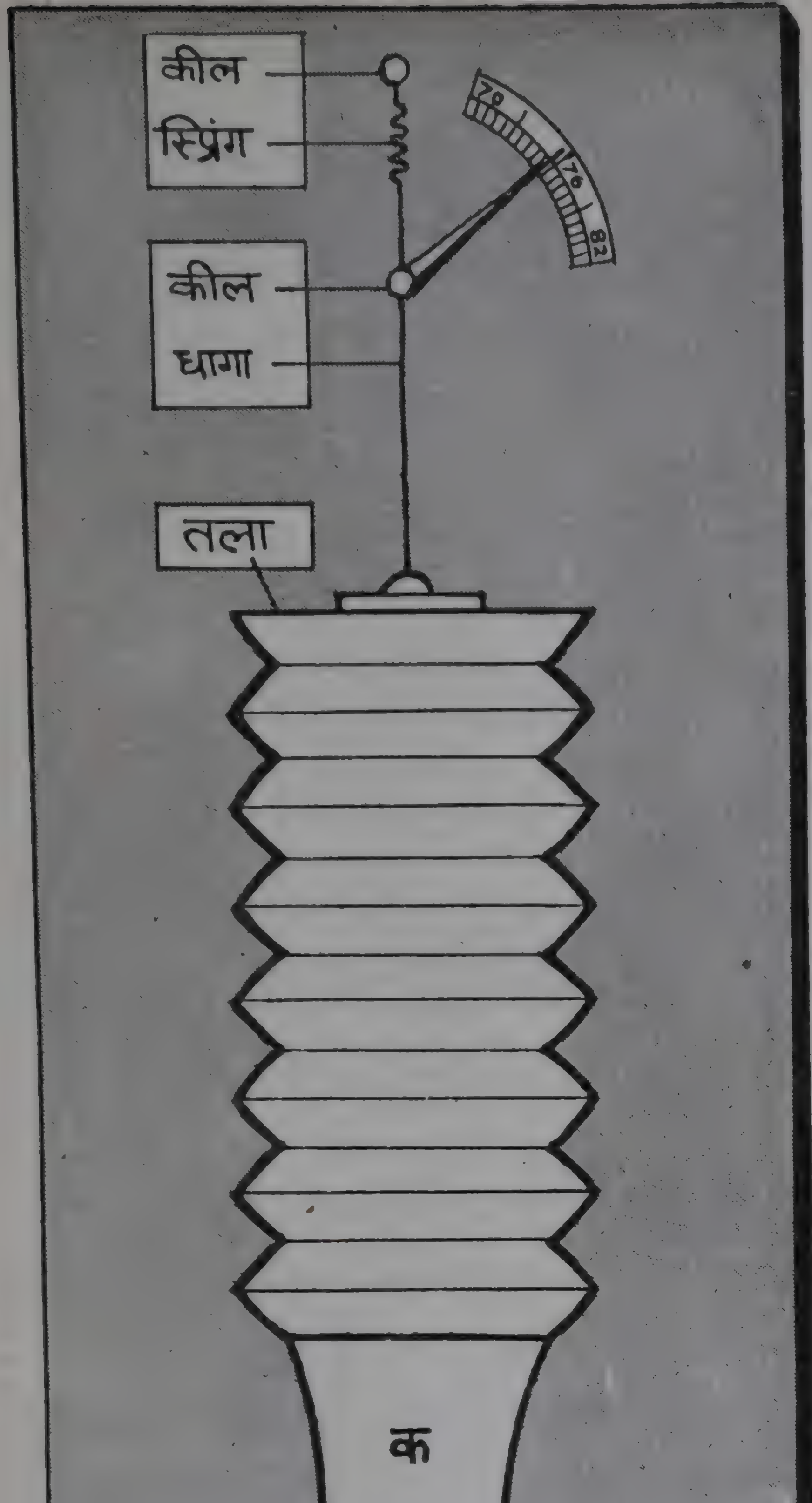
अनुमान किस प्रकार लगाते हैं। पास ही उसके पापा बैठे थे। उसने पूछा, "पापा जी! ये रेडियो स्टेशन वाले लोग कैसे पता लगा लेते हैं कि कल बारिश होगी, या आंधी आयेगी या मौसम साफ रहेगा?"

"रेडियो स्टेशन वाले मौसम का पता नहीं करते", उसके पापा ने कहा, "इस काम के लिए बड़े-बड़े शहरों में मौसम कार्यालय होते हैं। वहां वैज्ञानिक तरह-तरह के उपकरणों की सहायता से मौसम का अनुमान लगाते हैं। इनमें मुख्य उपकरण हैं: वायु-दाब मापी (बैरोमीटर), वायु वेग मापी (एनीमोमीटर), मौसम रडार तथा रेडियो सांदे आदि। वायु दाब मापी से वायु का दाब मापा जाता है और वायु वेग मापी से वायु का वेग। मौसम रडार से आंधी तूफान का पता लगाया जाता है और रेडियो सांदे से बहुत ऊंचाई पर हवा का वेग और उसकी दिशा का पता लगाया जाता है। इससे हवाई जहाज के चालक पहले ही सतर्क हो जाते हैं।

"वायु दाब मापी तो तुम स्वयं बना सकते हो और उससे वायु का दाब माप कर मौसम के बारे में अनुमान भी लगा सकते हो। बैरोमीटर दो प्रकार के होते हैं: एक तो पारे के स्तम्भ वाले और दूसरे निर्द्रव (अर्थात् जिसमें द्रव नहीं होता)। निर्द्रव बैरोमीटर को एनीरॉयड बैरोमीटर कहते हैं। निर्द्रव बैरोमीटर बनाना तो बड़ा आसान काम है।

"अबकी बार होली पर जो प्लास्टिक की धौंकनीनुमा पिचकारी तुम लाए थे उसे ले आओ और देखो! ड्यूरोफिक्स और मोम भी लेते आना।"

विवेक बड़ा प्रसन्न था। सोच रहा था कि अब वह भी मौसम का पूर्वानुमान किया करेगा और बहुत जल्दी ही वह सारा सामान इकट्ठा करके ले आया। अब उसके पापा ने उसे बैरोमीटर बनाने की तरकीब बताई। "पहले मोम को गरम करके पिघला लो और इस पिघले हुए मोम में पिचकारी के आगे के भाग में लगी पतली नली को डुबो कर निकाल लो। फिर कुछ देर के लिए पिचकारी को रख दो। इससे पिचकारी की नली का मुंह बन्द हो जाएगा और पिचकारी के अन्दर जो हवा है वह अन्दर ही बन्द हो जाएगी। वह बाहर नहीं आ सकेगी और बाहर की हवा अन्दर नहीं जा सकेगी। जब वायुमंडल की हवा का दाब बढ़ेगा तो पिचकारी के अन्दर की हवा पर दबाव बढ़ेगा और पिचकारी कुछ सिकुड़ जाएगी। और,



"ले आए विवेक । तो अब इस तख्ते पर पिचकारी को लिटा दो और पिचकारी को तख्ते के 'क' स्थान पर कस कर बांध दो ताकि वह ऊपर नीचे न खिसके । पिचकारी के पेंदे में धागे को ड्यूरोफिक्स से अच्छी तरह चिपका दो और धागे को एक कील पर एक लपेट देकर उसके दूसरे सिरे को स्प्रिंग के एक सिरे से बांध दो । स्प्रिंग को खींचकर तख्ते पर लगी दूसरी कील से अटका दो । धागे में जो कील तुमने लगाई थी उसके सिरे पर तुम एक आलपिन, कील से 90° का कोण बनाती हुई बांध दो । जब वायु दाब कम होगा तो पिचकारी फैलेगी और धागा ढीला होगा । लेकिन स्प्रिंग उसे तुरन्त खींचकर तान देगा । धागा खिंचने से उसमें लिपटी कील घूमेगी और कील घूमने की वजह से आलपिन घूमेगी, जिसकी सहायता से तुम दाब माप सकते हो ।

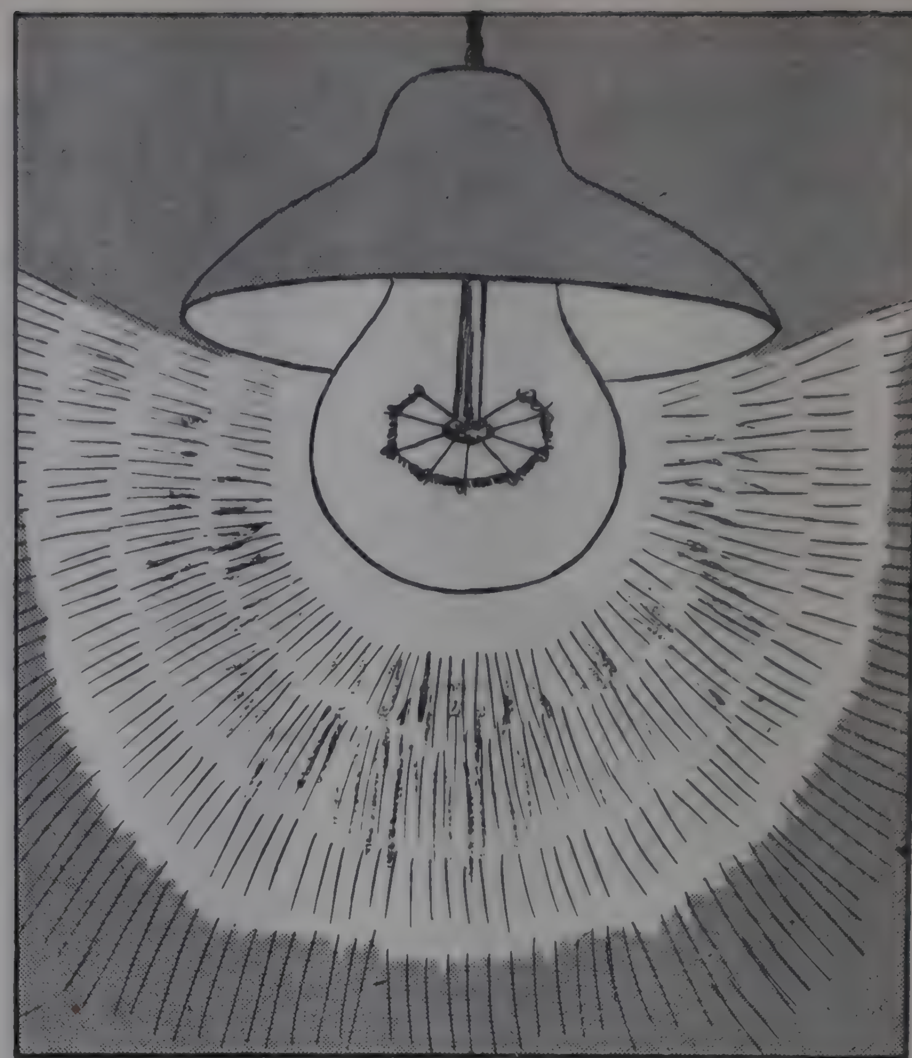
"लेकिन वायु दाब मापने से पहले तो तुम्हें एक डायल बनाकर आलपिन के पीछे तख्ते पर लगाना होगा । इसके लिए तुम अपने विज्ञान अध्यापक की सहायता लेना । तख्ते पर आलपिन के नीचे एक सफेद कागज चिपका लो । तुम्हारे स्कूल में तो बैरोमीटर होगा ही । अपने विज्ञान अध्यापक की सहायता से इस कागज पर विभिन्न वायु दाब पर आलपिन की स्थिति के निशान कागज पर लगाओ और प्रत्येक निशान पर वायु दाब लिख लो । जब आलपिन 760 मि.मी. से कम वायु दाब दर्शाए तो इसका अर्थ है कि तेज हवा चलेगी और यदि आकाश में बादल हैं तो वर्षा होने की सम्भावना है । बस बन गया तुम्हारा निर्द्रव बैरोमीटर । अब तुम भी मौसम का पूर्वानुमान कर सकते हो ।"

जब वायुमंडल का दाब कम होगा तो वह फैल जाएगी । अच्छा देखो! ऐसा करो, कि एक छोटा सा लकड़ी का हल्का सा तख्ता, दो कीलें, एक टाइपराइटर का स्प्रिंग और एक मजबूत धागा और ले आओ ।

विवेक ने सब कुछ अच्छी तरह समझ लिया था । बड़ी जल्दी उसने बैरोमीटर बना लिया और दूसरे दिन वह उसे अपने विज्ञान अध्यापक के पास ले गया । उन्होंने तीन चार दिन स्कूल के बैरोमीटर

(शेषांश पृष्ठ 556 पर)

तुम जानते हो इस वर्ष जुलाई माह में (21 तारीख को) एक बहुत बड़ी घटना घटी थी। उस दिन आदमी पहली बार चांद पर उतरा था। चांद पर उतरने वाले व्यक्ति थे आर्मस्ट्रांग और एल्ड्रिन। वहां इन्होंने ऐसे बहुत से यंत्र रखे जिनसे धरती पर बैठे हुये वैज्ञानिकों को भविष्य में चांद के बारे में अपने आप जानकारियां मिलती रहेंगी। इन यंत्रों में शायद सबसे महत्वपूर्ण था लेसर परावर्तक। उसके रखने के कुछ समय बाद ही धरती से वैज्ञानिकों ने लेसर किरणों द्वारा संकेत भेजे जो उस परावर्तक से टकरा कर लौट आये।

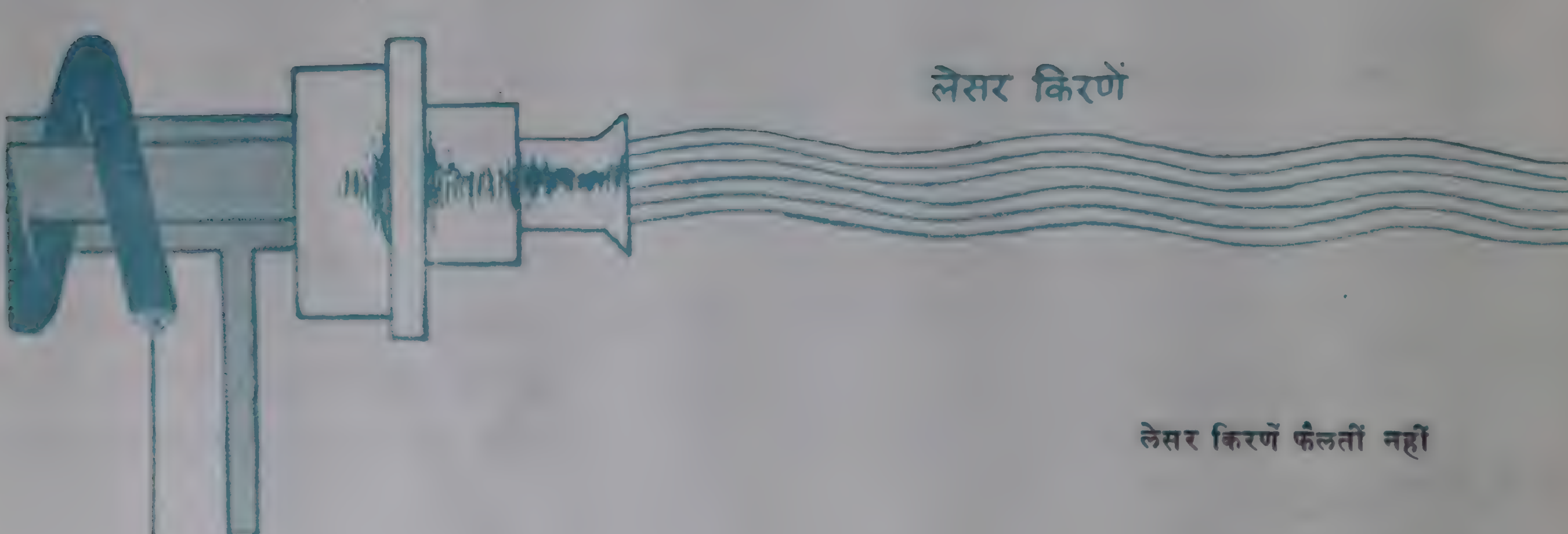


साधारण बल्ब का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है।

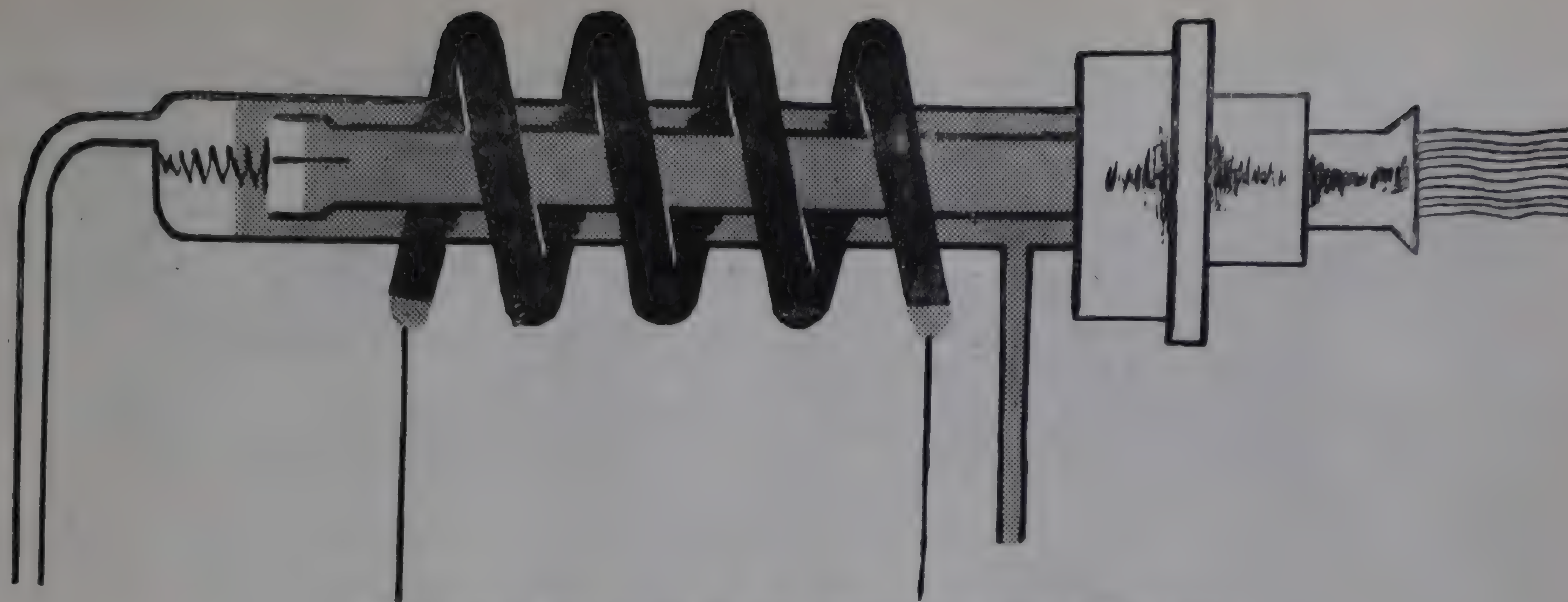
चमत्कारी लेसर किरणें

लेसर किरणें ऐसी चमत्कारी किरणें हैं जिनसे चांद या ग्रहों तक केवल संदेश ही नहीं भेजे जा सकते, उनसे बिना कैंची-चाकू के आपरेशन किया जा सकता है, संसार की सबसे कठोर वस्तु, 'हीरे' को काटा जा सकता है और आने वाले मौसम का पता लगाया जा सकता है। उनकी सहायता से अंधे आदमी भी 'देख' सकते हैं। लेसर किरणें की 'टार्च' की मदद से अंधे आदमी को राह में पड़े रोड़े-पत्थरों या अन्य वस्तुओं का पता चल जाता है।

लेसर किरणों का शायद सबसे महत्वपूर्ण गुण है उनका न फैलना। तुमने देखा होगा कि बिजली

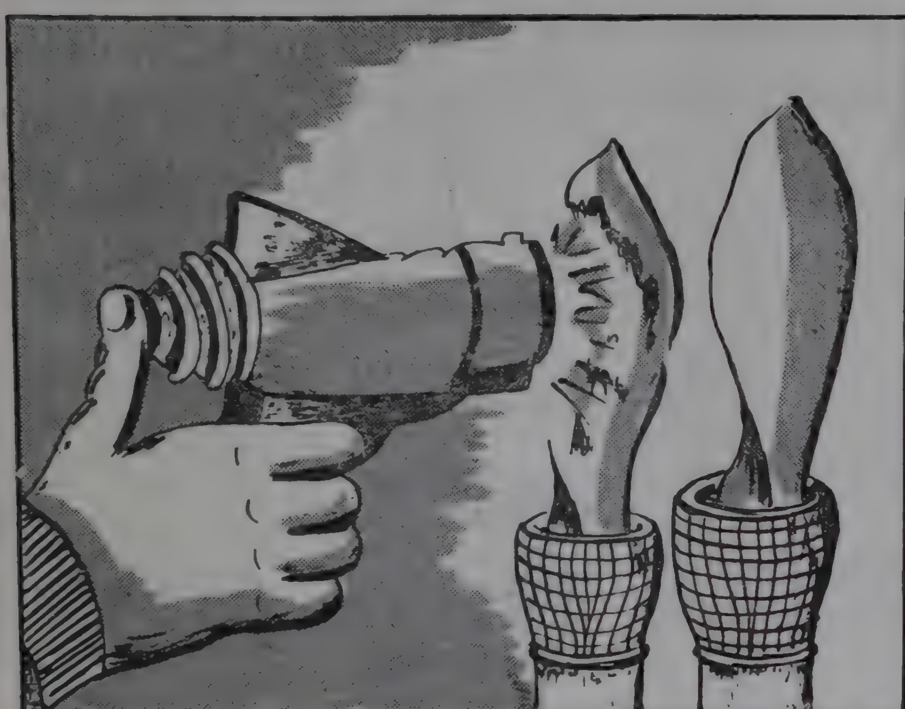


लेसर किरणें फैलतीं नहीं



लेसर किरणें उत्पन्न करने की सबसे अधिक प्रचलित युक्ति है लाल लेज़र

के बल्ब का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। जैसे-जैसे बल्ब से दूरी बढ़ती जाती है प्रकाश का फैलाव

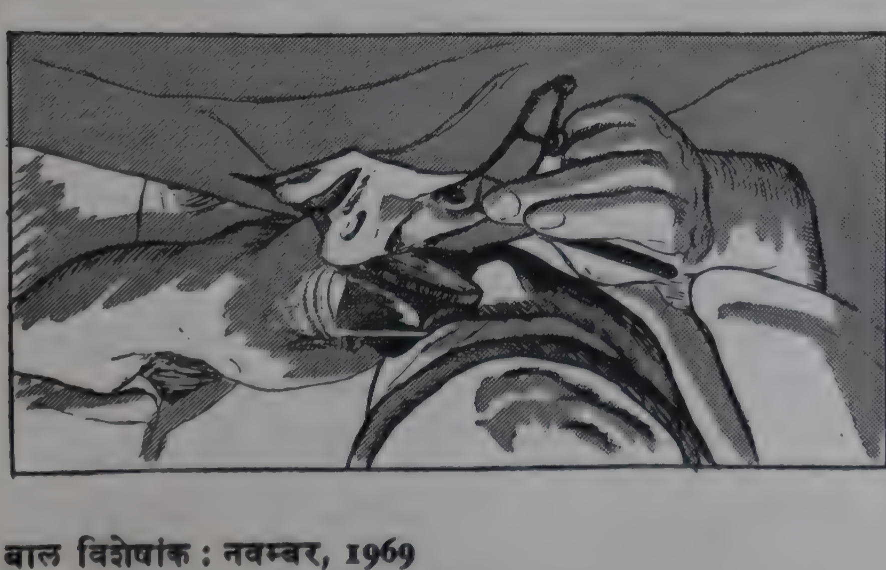


ऊपर : लेसर किरणें वस्तुओं के रंग भी पहचान सकती हैं। व्यवस्थित कर देने पर वे एक खास रंग के गुब्बारों को ही फोड़ती हैं, अन्य रंगों के गुब्बारों को नहीं।

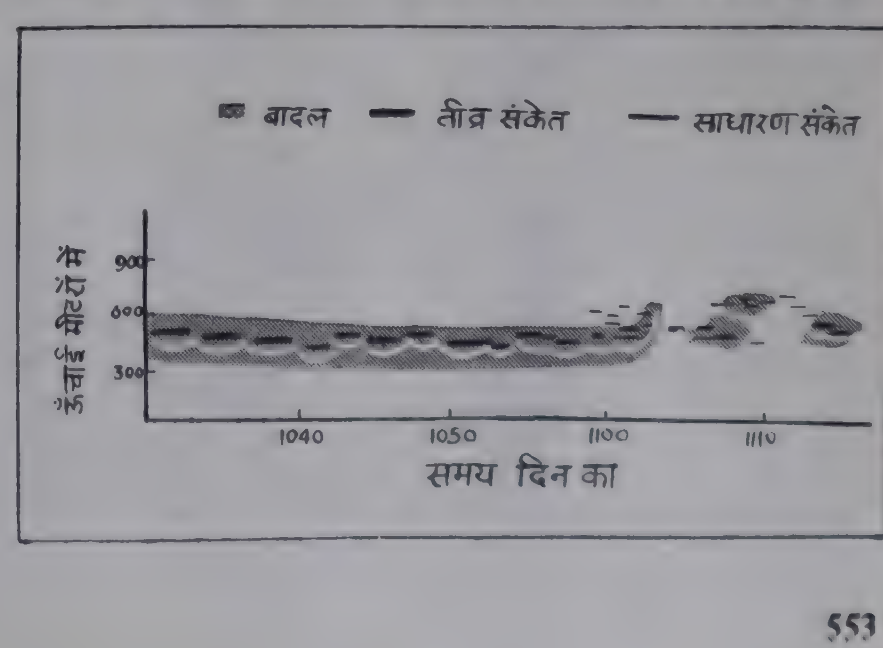
भी बढ़ता जाता है। पर लेसर किरणों का फैलाव बहुत कम होता है। एक मील तक जाने पर ये कुछ इंच ही फैलती हैं। चांद तक जाने पर भी ये केवल 3 मील ही फैली थीं। (तुम्हें मालूम है कि चांद धरती से 3,84,556 किलोमीटर दूर है।) इतनी दूर तक भेजे जाने पर साधारण प्रकाश हजारों मील फैल जाता।

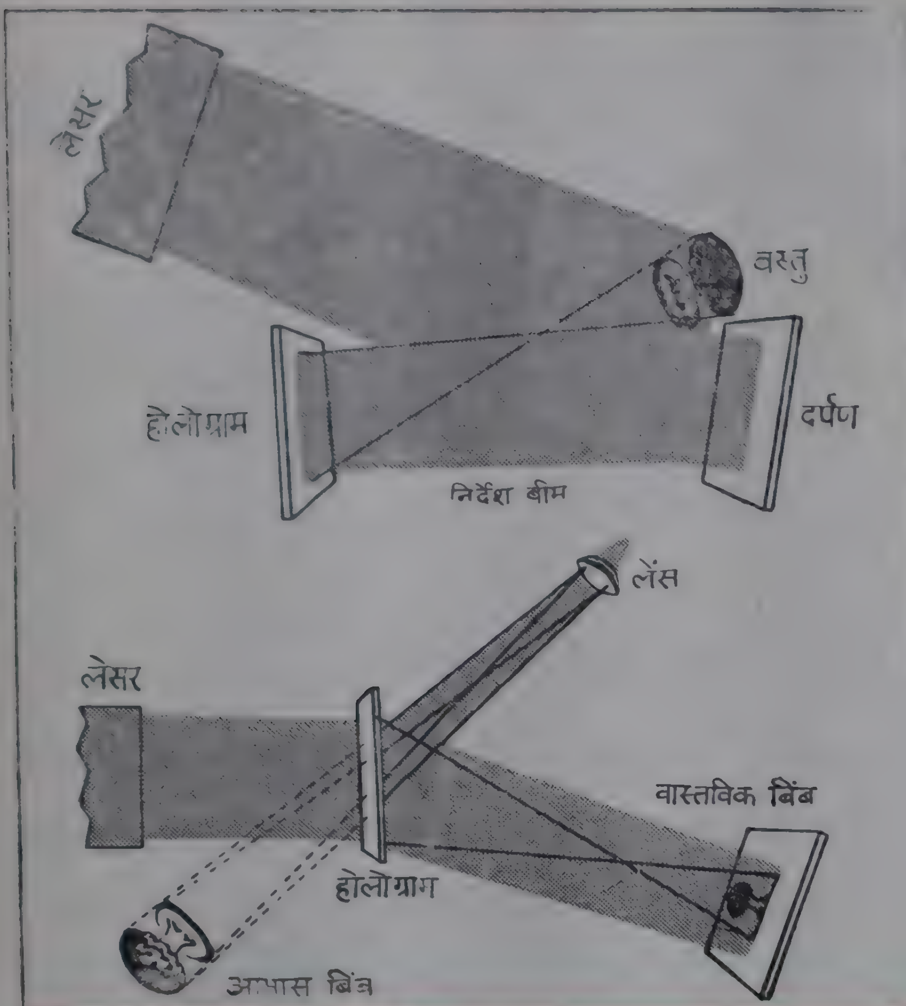
लेसर प्रकाश की संसक्त किरणें होती हैं जब कि प्रकाश की साधारण किरणें असंसक्त। संसक्त और असंसक्त किरणों में वही फर्क है जो एक अनुशासित फौज और बेतरतीब भीड़ में। फौज के सब सैनिक मिलकर कार्य करते हैं। वे एक-दूसरे की मदद करते हैं। भीड़ में जिस का दिल जो चाहता है वह करता है। लोगों को अपने साथियों की परवाह नहीं होती।

नीचे : लेसर किरणों से आंख जैसे नाजुक अंग का भी आपरेशन किया जा सकता है।



बादलों का पता भी लेसर किरणों से लगाया जा सकता है।

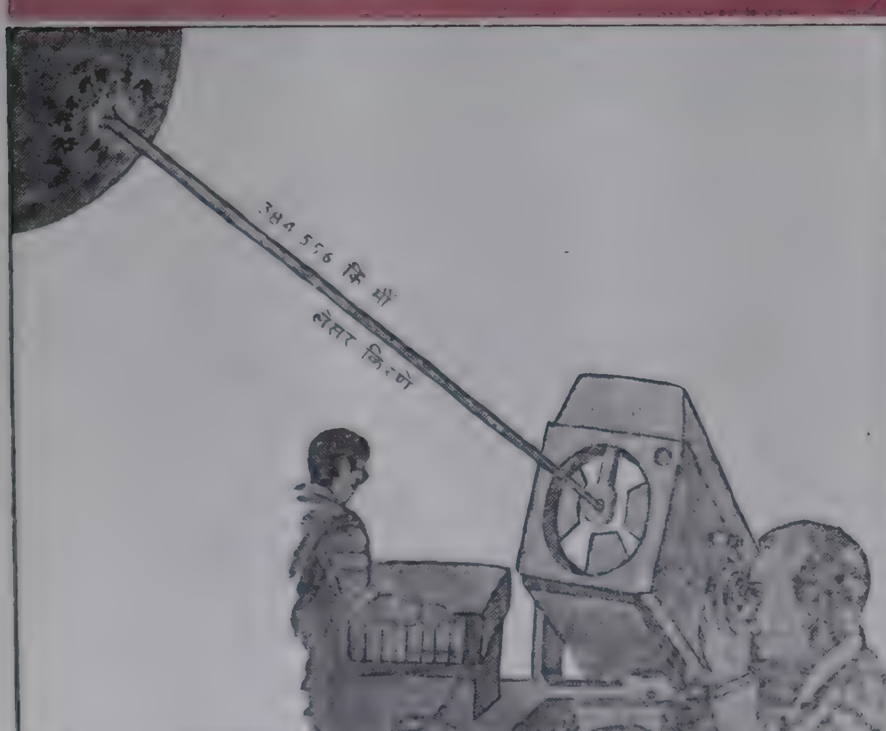




होलोग्राफी में लेसर किरणों की मदद से वस्तुओं के वास्तविक बिम्ब प्राप्त किये जा सकते हैं।

लेसर विशेष प्रकार की युक्तियों से उत्पन्न की जाती है। इनमें सबसे अधिक प्रचलित है लाल। तुम जानते हो कि लाल एक मूल्यवान खनिज है जिसका रंग लाल होता है और जो गहने आदि में इस्तेमाल किया जाता है। लाल, एल्यूमिनियम का आक्साइड है पर उसमें बहुत थोड़ी मात्रा में क्रोमियम भी उपस्थित होता है। यह क्रोमियम ही साधारण प्रकाश किरणों को लेसर किरणों में परिवर्तित करना आरम्भ करता हैं। आजकल लाल के स्थान पर गैलियम आर्सेनाइड जैसे पदार्थ तथा अमोनियम और कार्बन-डाईआक्साइड जैसी गैसों से भरी विशेष प्रकार की नलियां भी काम में लाई जाने लगी हैं।

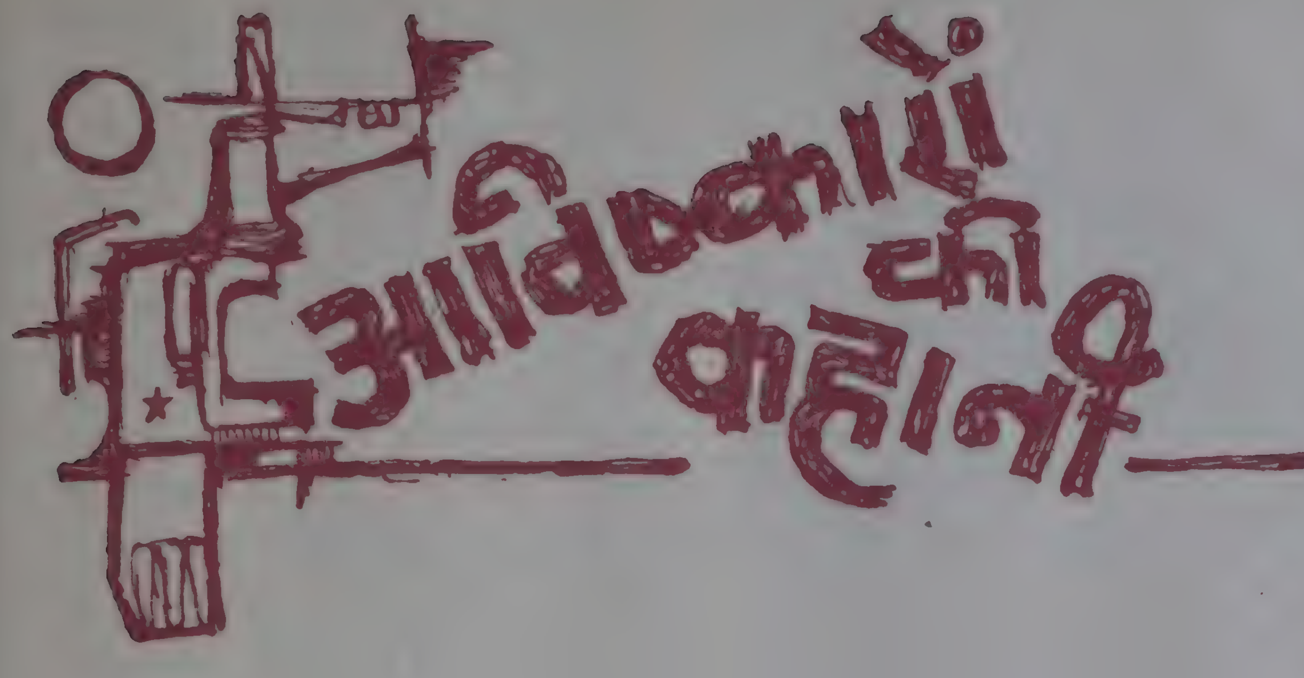
वैज्ञानिकों ने लेसर किरणों की मदद से चांद के बारे में अनेक जानकारियां प्राप्त की हैं।



(चित्र–श्री जोगेन्द्र सक्सेना के सौजन्य से)

इन चमत्कारी किरणों की खोज अमेरिका के वैज्ञानिक चार्ल्स टाउन्स ने की थी। उन्हें इस खोज के लिये 1964 में भौतिक शास्त्र का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया था।

•



सुई

हरिकृष्ण देवसरे

स्कूल जाने की जल्दी हो और चाहे निकर में बटन लगाना हो व कापी सिलनी हो, उस समय अगर सुई न मिले तो तुम झुंझलाते हो। बेचारी नन्हीं-सी सुई को तुम कोसते हो। पर उस समय तुम यह भी महसूस करते होगे कि जो काम सुई कर सकती है, उसे तलवार नहीं कर सकती।

सुई का इस्तेमाल पुराने जमाने से हो रहा है। जब मनुष्य आज की तरह सभ्य नहीं था और पत्थर के औजारों से काम करता था उस समय पत्थर की सुई बनती थी। पुराने जमाने की सुइयों के नमूनों में पत्थर के अलावा मछली के कांटे, तथा अन्य वस्तुओं से बनी सुइयां भी मिली हैं। इनमें से कुछ में धागा डालने के लिए छेद भी बना हुआ मिला है। कुछ सुइयों में ये छेद बीचोंबीच थे और कुछ में किनारे पर। कुछ तो बिना छेद की सुइयां भी मिली हैं।

लेकिन आजकल की सुइयां, पुराने जमाने की सुइयों से बिलकुल भिन्न हैं। वे पहले से अधिक मजबूत, सुडौल और उपयोगी हैं। देखने में तो सुई बहुत छोटी-सी वस्तु लगती है, किन्तु यह जितनी उपयोगी है, उतना ही श्रम इसको बनाने में लगता है। एक छोटी सुई बनाने में पूरी लम्बी-चौड़ी क्रिया करनी पड़ती है।

अच्छी सुइयां स्टेनलैस इस्पात के तारों से बनती हैं। पहले इस्पात को गर्म करके पतला और लम्बा बनाया जाता है। जब ये छड़ें आधा इंच मोटी तैयार हो जाती हैं तो उससे तार बनाते हैं। तार बनाने के लिए लोहे की डाई इस्तेमाल की जाती है, जिसमें बने छेदों से तार को खींच-खींच कर आवश्यकतानुसार उसे पतला बनाते हैं। जिस मोटाई की सुई बनानी होती है, उस आकार का तार तैयार कर लेने पर उसे सुई की लम्बाई के नाप के टुकड़ों में काट लिया जाता है। काटने के बाद ये टुकड़े कुछ टेढ़े हो जाते हैं इसलिए इन्हें इतना गरम किया जाता है कि वे लाल हो जाएं। गर्म होने पर उन्हें लोहे की एक प्लेट पर, एक छड़ के सहारे दबा कर गोल बनाया जाता है।

जब ये टुकड़े ठंडे हो जाते हैं तो इन्हें धार रखने वाले पत्थर पर रख कर नुकीला बनाया जाता है। यह काम मशीनों से होता है। धार रखने वाले पत्थर का पहिया जोर से घूमता रहता है। सुई का टुकड़ा मशीन के सहारे उस के पास आता है और नुकीला बन कर एक अन्य मशीन में गिर जाता है। यह दूसरी मशीन सुई के बीच के हिस्से को, छेद बनाने के लिए, दबा कर उसमें गडढा बना देती है। इसके बाद सुइयों में छेद कर दिया जाता है तथा उन्हें तोड़ कर दो कर लिया जाता है। इस प्रकार स्टेनलैस स्टील के एक टुकड़े से एक बार में दो सुइयां तैयार होती हैं।

इन तैयार सुइयों को एक बार फिर पूरी तरह लाल व गर्म किया जाता है। इसके बाद उन्हें पानी में एकदम डाल कर ठंडा कर लिया जाता है जिससे ये काफी कठोर हो जाती हैं। अब इन पर पालिश की जाती है तथा इनकी नोक को तेज बनाया जाता है। यह पालिश कुरून पत्थर और नरम साबुन के पाउडर से की जाती है। एक बड़े कैनवास की चादर पर हजारों सुइयाँ यह पाउडर मिलाकर रख दी जाती हैं और इन पर रोलर मशीन उस समय तक खूब घुमाई जाती है जब तक सभी सुइयां खूब चमकने नहीं लगतीं। कई बार सुइयों पर मशीनों की सहायता से निकिल पालिश भी की जाती है।

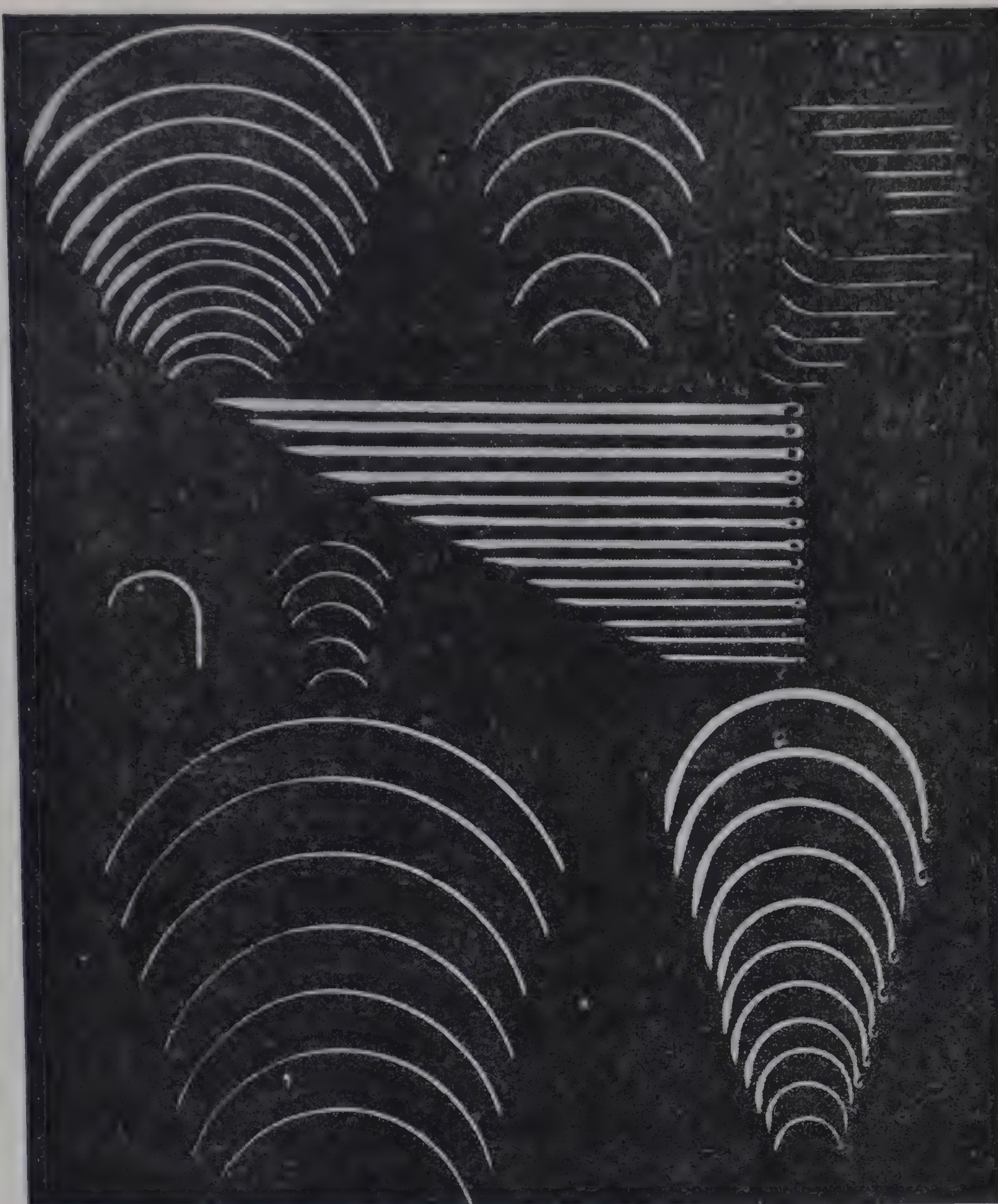
ये तो हुई इन सुइयों की कहानी जो कपड़े सिलती हैं। कपड़े की मशीन की सुइयां भी इसी तरह तैयार होती हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि इन में धागा डालने के लिए छेद नीचे की ओर, यानी नोक के ठीक ऊपर बनाया जाता है तथा ऊपर का हिस्सा मोटा एवं चौकोर बनाते हैं जिससे वह सिलाई मशीन में फिट हो सके।

सिरिंज की सुइयां

किन्तु जरा उस सुई के बारे में सोचो जिसे कम्पाउंडर इंजेक्शन के लिए

इस्तेमाल करते हैं। कुछ लोग तो इंजेक्शन को ही सुई कहते हैं। बच्चे तो इंजेक्शन की सिरिंज देखते ही रोने लगते हैं। लेकिन क्या उस की सुई भी वैसी ही होती है, जैसी कपड़ा सिलने की होती है? नहीं, उसमें अन्तर होता है। पहली विशेषता तो यह होती है कि ये सुइयां अन्दर से खोखली होती हैं जिससे दवा निकलकर बाहर आती है। दूसरी बात यह है कि इनकी नोक विशेष प्रकार से काटी गई होती है। जिस तरह तुम लकड़ी की कलम छील कर बनाते हो, ठीक उसी तरह इन सुइयों की नोक बनाई जाती है।

इंजेक्शन की सुइयों में भी कुछ सुइयां इतनी पतली होती हैं कि वे तार की तरह मुड़ जाती हैं। मसूड़ों आदि में इंजेक्शन लगाने के समय मुड़ने वाली सुई इस्तेमाल करते हैं। इन सुइयों के अलावा और विशेष प्रकार की सुइयां होती हैं जो आपरेशन के बाद चमड़ी सिलने के काम आती हैं। इनमें एक तो सामान्य किस्म की होती है दूसरी दांतेदार होती है। इन सुइयों के साथ सिलने के लिए उन सामग्रियों का उपयोग होता है जिनसे अन्दर के घाव सिले जाते हैं और ये घाव ठीक होने के साथ ही घुल भी जाती है। ●



(चित्र: श्री अशोक सेन के सौजन्य से)

घाव में टाँके लगाने के काम में आने वाली तरह-तरह की सुइयाँ

पिचकारी से बैरोमीटर

(शेषांश पृष्ठ 551 का)

से वायु दाब देख कर विवेक के बैरोमीटर के डायल पर चिह्न लगा दिए। वह रोज दिन में कई बार उससे वायु दाब नापता और मौसम का अनुमान लगा कर रेडियो से प्रसारित होने वाले मौसम के अनुमान से मिलान करता। अक्सर उसका अनुमान वही होता जो रेडियो से प्रसारित होता। ●

जब सूर्य से पवन हारा

एक बार पवन (हवा) और सूरज में बहस छिड़ गई। सूरज कहता मैं अधिक बलवान हूं, हवा कहती मैं तुमसे अधिक बलवान हूं। इसी प्रकार दोनों अपनी-अपनी ताकत की शेखी बघारते रहे। आखिर सूरज को एक उपाय सूझा। उसने कहा अभी निश्चय हो जायेगा कि कौन अधिक बलवान है। देखो, वह जो सामने खुले मैदान में काला दुशाला ओढ़े साधु बैठा है उसका दुशाला हम में से जो भी उतार दे वही अधिक बलवान है। हवा ने यह शर्त मान ली। पहले हवा की बारी थी। हवा ने चलना शुरू किया। पहले धीरे चली, फिर तेज, फिर और तेज। लेकिन हवा जितनी तेज चलती साधु उतना ही अधिक कस कर दुशाले को अपने शरीर पर लपेट लेता। और हवा अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी साधु के दुशाले को न उतरवा सकी। आखिर थक कर हवा ने चलना बन्द कर दिया।

हवा चलने पर दुशाले को लपेटता हुआ साधु

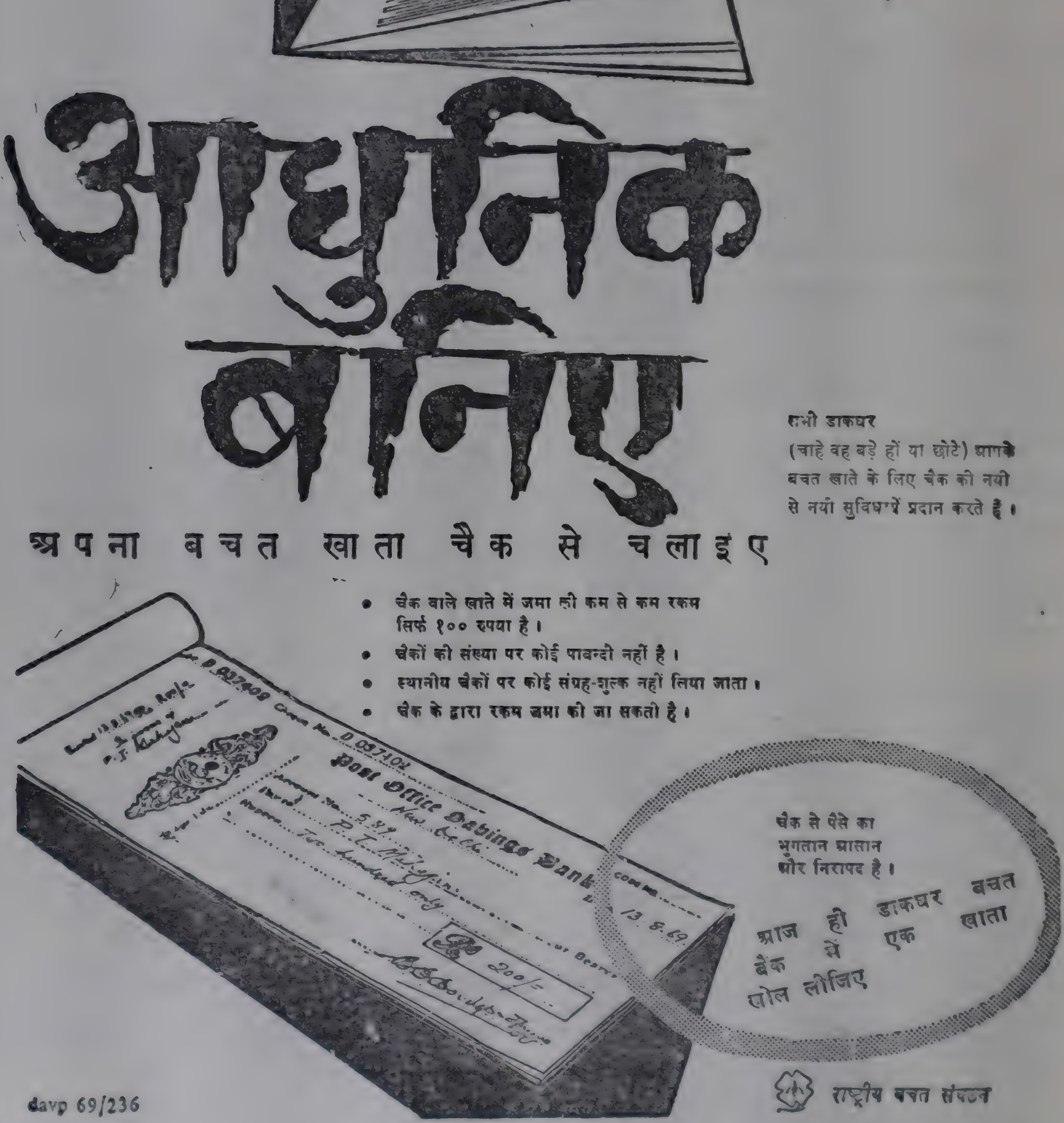


अब आई सूरज की बारी। सूरज ने अपना प्रकाश तेज किया, साधु को कुछ गर्मी महसूस हुई और उसने दुशाले को कुछ ढीला किया। जब सूरज की तेजी अधिक बढ़ी तो साधु को बड़ी गर्मी महसूस हुई, उसने दुशाला उतार फेंका। इस प्रकार सूरज की जीत हुई।

यह कहानी तुमने पहले भी सुनी होगी। लेकिन क्या तुमने यह जानने की कोशिश की कि सूरज की गर्मी साधु तक किस प्रकार पहुंची। सूरज तो पृथ्वी से बहुत दूर है। इतना दूर कि यदि कोई जहाज 1000 मील प्रति घंटा की गति से सूर्य की ओर को उड़े और लगातार उड़ता ही रहे तो उसे पृथ्वी से सूर्य तक पहुंचने में 10 वर्ष से भी अधिक समय लगेगा। लेकिन सूर्य तक पहुंचना सम्भव नहीं है।

तुमने अनुभव किया होगा कि धूप में पहुंचते ही कुछ गर्मी महसूस होने लगती है। तुमने यह भी देखा होगा कि जब लोहे की छड़ को एक सिरे पर गर्म किया जाता है तो उसका दूसरा सिरा भी गर्म हो जाता है। इसमें गर्मी छड़ के एक कण से दूसरे कण में, दूसरे से तीसरे में पहुंचती है। और इसी प्रकार छड़ के दूसरे सिरे तक पहुंच जाती है। उष्मा (गर्मी) के चलने की यह क्रिया 'संचालन' कहलाती है।

संवाहन द्वारा जब गर्मी चलती है तो पदार्थ गर्म होकर अपने स्थान से हट जाता है और उसके स्थान पर ठंडा पदार्थ गर्म होने के लिए आ जाता है। तभी तो पानी गर्म करने पर नीचे का पानी


INDIAN
POST OFFICE SAVINGS BANK
PASSBOOK
आधुनिक बनिए
सभी डाकघर
(चाहे वह बड़े हों या छोटे) आपके
बचत खाते के लिए चैक की नयी
से नयी सुविधाएँ प्रदान करते हैं।
अपना बचत खाता चैक से चलाइए
• चैक वाले खाते में जमा की कम से कम रकम
सिर्फ १०० रुपया है।
• चैकों की संख्या पर कोई पाबन्दी नहीं है।
• स्थानीय चैकों पर कोई संग्रह-शुल्क नहीं लिया जाता।
• चैक के द्वारा रकम जमा की जा सकती है।
Post Office Savings Bank
चैक से पैसे का
भुगतान आसान
और निरापद है।
आज ही डाकघर बचत
बैंक में एक खाता
खोल लीजिए
davp 69/236
राष्ट्रीय बचत संगठन



धूप तेज होने पर साधू ने दुशाला उतार दिया।

ऊपर को उठता हुआ नजर आता है। जब काफी गर्म हो जाता है तो वह उबलने लगता है।

लेकिन सूर्य से गर्मी न तो संचालन से आ सकती है और न संवाहन से ही। क्योंकि इन विधियों से गर्मी के चलने के लिए माध्यम की जरूरत होती है। पृथ्वी के ऊपर वायु बहुत थोड़ी ऊंचाई तक ही है उसके बाद तो कुछ भी नहीं, शून्य ही शून्य है। सूर्य से गर्मी तरंगों (लहरों) के रूप में आती है इन लहरों को चलने के लिए हवा या और किसी भी माध्यम की जरूरत नहीं होती।

सर्दियों में कमरा गर्म करने के लिए बिजली का हीटर इस्तेमाल किया जाता है। यदि तुम हीटर के सामने बैठ जाओ तो गर्मी का तुम्हें अनुभव होगा। यह गर्मी तुम्हारे पास तक लहरों के रूप में विकिरण द्वारा पहुंचती है। विकिरण द्वारा गर्मी के चलने के लिए किसी भी माध्यम (हवा, पानी आदि) की जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि सूरज की गर्मी हम तक पहुंच पाती है। जानते हो गर्मी इस प्रकार कितनी तेजी से चलती है? इसकी गति होती है, 1,86,000 मील प्रति सैकण्ड। अर्थात् यह प्रकाश की गति से ही चलती है। प्रकाश भी तरंगों (लहरों) के रूप में चलता है और विकिरण द्वारा गर्मी भी तरंगों के रूप में ही चलती है।

तुम सोच रहे होगे कि जब विकिरण द्वारा गर्मी के चलने के लिए किसी माध्यम की जरूरत ही नहीं होती तो फिर कमरे में हीटर से हम तक गर्मी विकिरण द्वारा किस प्रकार पहुंचती है, क्योंकि कमरे में तो हवा होती है। बात यह है कि हीटर के पास की हवा तो गर्म होकर ऊपर उठ जाती है लेकिन तुम तो हीटर के सामने बैठे हुए हो, इसलिए तुम्हारे पास हीटर की गर्मी विकिरण द्वारा ही आती है। हां, अगर तुम कोयले की अंगीठी के ऊपर हाथ रख कर ताप रहे हो तो तुम्हारे हाथों तक गर्मी विकिरण द्वारा नहीं संवाहन द्वारा पहुंच रही है।

तुमने देखा होगा कि दर्पण (मुंह देखने के शीशे) पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है तो वह लौट जाता

लकड़ी जलाकर थोड़ी दूर बैठकर हाथ तापता हुआ एक लड़का। यहां गर्मी विकिरण द्वारा उसके पास पहुंच रही है।





बीकर में नीचे का पानी गरम होकर ऊपर को उठता है और ऊपर का ठंडा पानी उसके स्थान पर आ जाता है। यह संवाहन क्रिया कहलाती है।

है। यही बात विकिरण से चलने वाली गर्मी के साथ है। जब गर्मी किसी चिकनी चमकदार सतह पर पड़ती है तो उसका अधिकांश भाग लौट जाता है। थोड़ी सी मात्रा वह वस्तु सोख लेती है। लेकिन जब यही गर्मी बेचमकदार, खुरदरी और रूखी सतह पर पड़ती है तो इसकी बहुत थोड़ी मात्रा वापस लौटती है शेष वह बेचमकदार वस्तु सोख लेती है।

गर्मी के सोखने का सम्बन्ध रंग से भी है। किसी वस्तु का जितना अधिक गहरा रंग होगा वह उतनी अधिक गर्मी सोखेगी। इसीलिए गर्मी के मौसम में सफेद कपड़े सबसे अच्छे रहते हैं। क्योंकि वे गर्मी को वापस लौटा देते हैं और उसकी बहुत थोड़ी मात्रा ही वे सोख पाते हैं।

अब तुम समझ गए होगे कि सूर्य द्वारा तेजी दिखाने पर साधु को अपना काला दुशाला क्यों उतारना पड़ा। सिर्फ इसलिए कि सूर्य की गर्मी तरंगों के रूप में साधु तक पहुंची। दुशाले ने उसे सोख लिया। तब लगी साधु को गर्मी, और उसने उतार फेंका दुशाले को। इसी लिए तो सूर्य की विजय हुई, और पवन की हार।



गणित पहेलियां

(1)

एक लड़का जंगल में चला जा रहा था कि उसे एक बूढ़ा दिखाई दिया। कुछ देर में बूढ़ा उसके पास आया और उससे बातें करने लगा। बातों-बातों में बूढ़े ने उसे बताया कि इस जंगल में एक पेड़ है। इस पेड़ की यह विशेषता है कि इसकी जड़ में यदि कोई व्यक्ति अपना धन रख दे तो वह थोड़ी देर में दुगना हो जाता है। लड़का बोला, "मुझे भी वह पेड़ दिखा दो न !" बूढ़े ने कहा, "मैं तुम्हें तभी वह पेड़ दिखाऊंगा जब तुम यह वायदा करोगे कि धन दुगना होने पर तुम मुझे 1 रु. 20 पैसे दोगे।" लड़का राजी हो गया।



अब बूढ़ा लड़के को उस पेड़ के पास ले गया। रामू के पास जितने भी पैसे थे, सब उसने पेड़ की जड़ में रख दिए। बूढ़े ने कहा, "तुम आंख मींच कर सौ तक गिनती गिनो। तुम्हारे पैसे दुगने हो जाएंगे।" रामू ने ऐसा ही किया। सौ तक गिनती गिनने के बाद जब उसने अपने पैसे देखे तो वास्तव में दुगने थे। अपने वायदे के अनुसार उसने 1 रु. 20 पैसे बूढ़े को दे दिए। बाकी पैसे उसने दोबारा पेड़ की जड़ में रखे और फिर सौ तक गिनती गिनी। पैसे फिर दुगने हो गए और बूढ़े को उसे फिर 1 रु. 20 पैसे देने पड़े। जब तीसरी बार उसने फिर ऐसा ही किया और बूढ़े को 1 रु. 20 पैसे दिए तो वह बेचारा हैरान रह गया। अब उसके पास एक भी पैसा न बचा था। क्या तुम बता सकते हो कि लड़के के पास शुरू में कितने पैसे थे ?

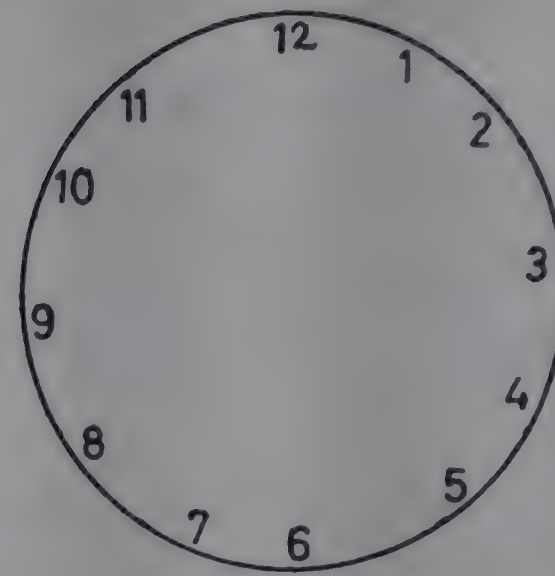
(2)

हरी ने माचिस की डिब्बी की सारी सींकें निकाल कर मेज पर रख दीं। माचिस की सींकों की संख्या 48 थी। उसने उन्हें तीन ढेरियों में रख दिया। अब जितनी सींकें दूसरी ढेरी में थीं उतनी उसने पहली ढेरी में से निकाल कर दूसरी में मिला दीं। इस प्रकार दूसरी ढेरी में पहले की अपेक्षा दुगुनी सींकें हो गईं। फिर जितनी सींकें तीसरी ढेरी में थीं उतनी उसने दूसरी ढेरी से निकालीं और तीसरी ढेरी में मिला दीं। और फिर इसी प्रकार जितनी सींकें पहली ढेरी में थीं उतनी सींकें तीसरी ढेरी से निकाल कर पहली में मिला दीं। इस प्रकार तीन बार अदल-बदल करने में प्रत्येक ढेरी में 16 सींकें हो गईं। बताओ प्रारम्भ में उसने हर ढेरी में कितनी सींकें रखी थीं ? (उत्तर पृष्ठ 571 पर)

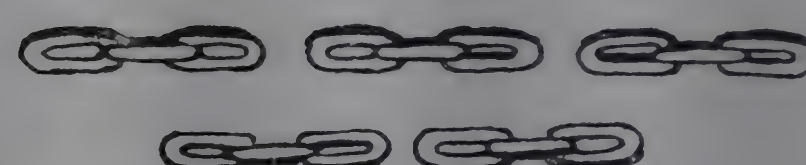
लेखकों से निवेदन

- 'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टैक्नोलोजी से संबद्ध रोचक लेख आमंत्रित करती है। प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है। 'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किए जाते हैं।
- लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिए जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सकें।
- लेखों की शब्द संख्या 1500 से अधिक नहीं होनी चाहिए।
- उन पुस्तकों/पत्रिकाओं का उल्लेख अवश्य करें जिनकी सहायता से वह लेख तैयार किया गया हो।
- लेख कागज की एक ओर तिहाई हाशिया छोड़कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिए। हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किए हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा रहेगी।
- सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किए जाते हैं। चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिए जाने चाहियें। फोटो ग्लौसी कागज पर होने चाहियें।
- लेख और समालोचना के लिए पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति', भारतीय भाषा यूनिट, पी आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12 के पते पर आनी चाहियें।
- लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिए। इसमें लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, कार्य, अनुसंधान या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हॉबी होनी चाहिए।
- 'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है।

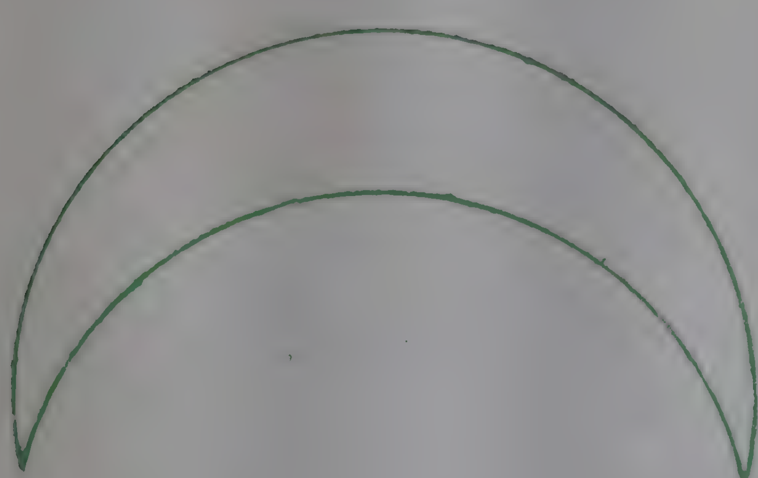
दिमागी कसरत कीजिए



3. साथ के चित्र में दिखाए घड़ी के डायल को किसी भी आकृति के छः भागों में इस प्रकार विभाजित कीजिए कि प्रत्येक भाग में आने वाली संख्याओं का योग समान हो।



1. साथ में दी गई अर्द्धचन्द्राकार आकृति को केवल दो सरल रेखाएं खींच कर छः भागों में विभाजित कीजिए।



4. एक लोहार के पास पांच भागों में टूटी हुई एक लोहे की जंजीर लाई गई और उससे उसे जोड़ने के लिए कहा गया। जंजीर के प्रत्येक भाग में तीन-तीन कुन्दे थे। लोहार सोचने लगा कि जंजीर को जोड़ने के लिए उसे कितने कुन्दे खोलने चाहियें। अन्त में उसने तय किया कि वह चार कुन्दे खोलेगा। बताइए क्या और भी कम कुन्दे खोल कर जंजीर को जोड़ा जा सकता था?

2. 12 माचिस की तीलियों से एक ऐसी आकृति बनाइए जिसका क्षेत्रफल चार तीलियों से बने वर्ग से पांच गुना हो। अब तीलियों को इस प्रकार व्यवस्थित कीजिए कि उनसे बनी आकृति का क्षेत्रफल चार तीलियों से बने वर्ग का केवल चार गुना हो।

5. एक कमाण्डर के साथ 24 सिपाही थे। कमाण्डर ने सिपाहियों को हुक्म दिया, "छः पंक्तियों में इस प्रकार खड़े हो कि प्रत्येक पंक्ति में पांच सिपाही हों।" बताइए सिपाही किस प्रकार खड़े हों?

(उत्तर पृष्ठ 568 पर देखिए)

• आकाश नीला क्यों दिखाई देता है ?

जिसे हम नीला आकाश कहते हैं वह वास्तव में हवा ही है। ऐसी हवा जिस में धूल के अनगिनत कण मौजूद हैं। ये छोटे-छोटे धूल के कण हवा में तैरते रहते हैं। इन कणों के कारण ही आकाश नीले रंग का दिखता है।

सूर्य से जो प्रकाश हमें मिलता है उसमें बैंगनी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल रंग का प्रकाश मौजूद होता है लेकिन ये रंग हमें अलग-अलग नहीं दिखाई देते। इन सब रंगों की किरणें मिल कर हमें सफेद प्रकाश के रूप में दिखाई देती हैं। हां, सूर्य के प्रकाश के अलग-अलग रंग हमें कभी-कभी वर्षा के बाद आकाश में दिखने वाले इन्द्रधनुष में देखने को मिलते हैं।

सूर्य के प्रकाश में उपस्थित लाल, नारंगी और पीले रंग की प्रकाश किरणें सूर्य से चल कर पृथ्वी पर बिना किसी बाधा या परिवर्तन के पहुंच जाती हैं। ये धूल के कणों से टकरा कर इधर-उधर नहीं बिखरतीं। बैंगनी, नीली और हरी किरणें इनसे कुछ भिन्न होती हैं। ये वायु में मौजूद धूल के कणों से टकरा कर इधर-उधर चारों ओर छितर जाती हैं और आकाश को नीला रंग प्रदान करती हैं। बैंगनी, नीले और हरे प्रकाश का मिला-जुला प्रभाव नीला ही होता है।



• समुद्र का पानी खारा क्यों होता है ?

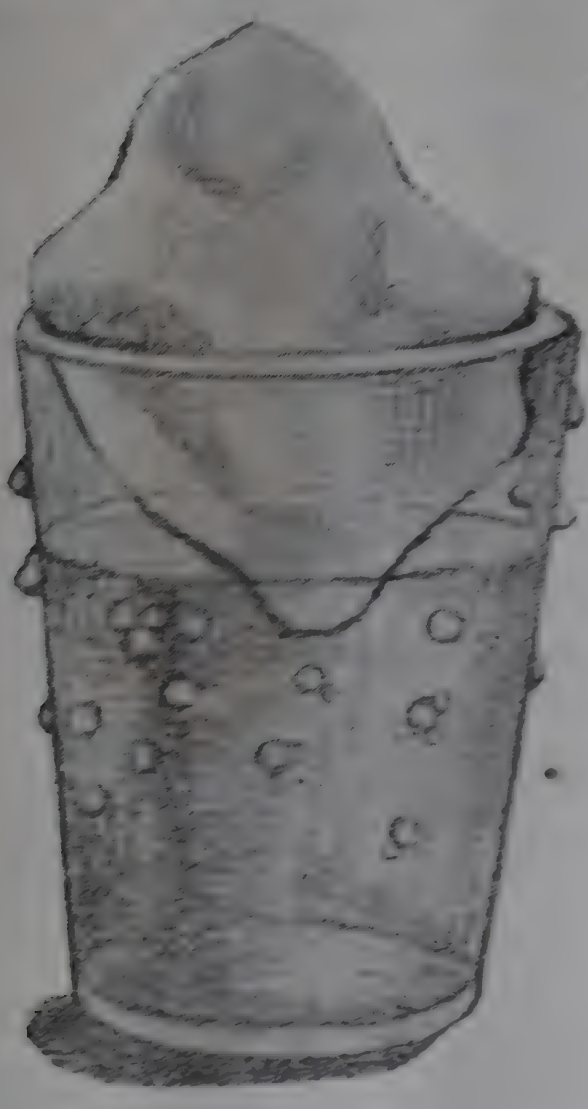
पृथ्वी पर मिट्टी में, चट्टानों में कुछ लवण मौजूद होते हैं। लवण साधारण नमक जैसे पदार्थ होते हैं। नदियां अपने रास्ते में जिन चट्टानों को छूती हुई चलती हैं, उनके बहुत से पत्थरों को अपने तेज बहाव के साथ बहा ले जाती हैं। लहरों के थपेड़े खा-खाकर तथा आपस में या इधर-उधर नदी के किनारों से टकराकर ये पत्थर चकनाचूर हो जाते हैं। चट्टानों से जब नदी का पानी टकराता है, तो वह पत्थर बहा ले जाने के अतिरिक्त उनमें मौजूद लवणों को घोल लेता है। चट्टानों के अलावा जहां भी रास्ते में नदी का पानी लवणों वाली धरती को छूता है, अपने में लवणों को घोल लेता है। ये नदियां समुद्र में जाकर गिरती हैं। समुद्र की लहरें भी जब किनारे पर आकर टकराती हैं तो अपने साथ लवण घोल ले जाती हैं।

इस प्रकार समुद्र में लवण जमा हो जाते हैं और पानी को खारा बना देते हैं।

• बर्फ का ठण्डा पानी भरने पर गिलास को 'पसीना' क्यों आने लगता है ?

एक गिलास में बर्फ डला हुआ ठण्डा पानी डालो। गिलास को हाथ में ले कर देखो। वह भी ठण्डा हो गया है। अरे ! यह क्या? बर्फ डालते ही गिलास को तो 'पसीना' आने लगा, यह तो बाहर से भीग गया। जानते हो क्यों ? उत्तर बहुत आसान है।

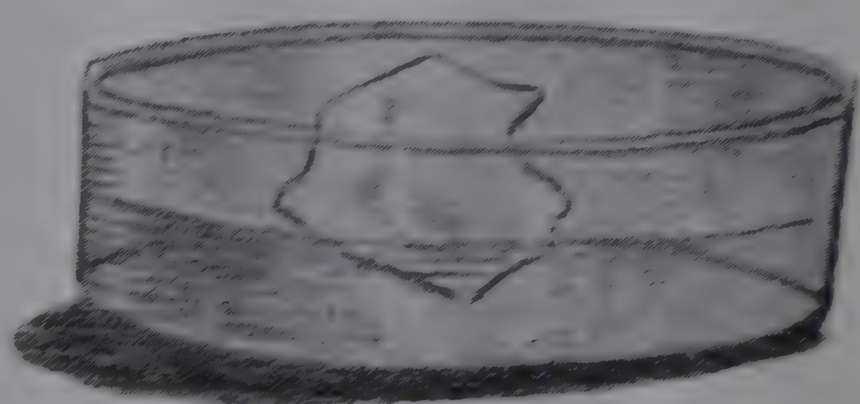
तुम्हारे ठण्डे गिलास के चारों ओर की हवा गिलास की अपेक्षा गरम है। तुम जानते हो वायुमण्डल की हवा में थोड़ा-बहुत पानी जरूर होता है। तुम इस पानी को देख नहीं सकते। यह भाप के रूप में हवा में मिला होता है न, इसीलिए बस। जब यही



पानी की भाप ठण्डे गिलास को छूती है तो फौरन पानी बन जाती है। यही पानी तो गिलास के बाहर चारों ओर दिखाई देता है। तुम जान गए न, कि बर्फ 'पेट' में पहुंचते ही गिलास को 'पसीना' क्यों आ जाता है।

• बर्फ पानी पर क्यों तैरता है ?

एक गिलास में बर्फ का एक टुकड़ा रखो। अब गिलास में पानी डालो। तुम देखोगे कि ज्यों-ज्यों पानी डाला जाता है बर्फ का टुकड़ा ऊपर उठता जाता है। वह पानी की सतह पर ही रहता है, उसमें डूबता नहीं। जरा सोचो ऐसा क्यों होता है ?



तुम जानते हो बर्फ पानी की ठोस अवस्था है। पानी को ठण्डा करके जब जमाया जाता है तो बर्फ बन जाती है। लेकिन इस क्रिया में एक बात खास यह है कि बर्फ पानी से अधिक जगह घेरती है। तुमने अखबारों में पढ़ा होगा और बहुतों ने देखा भी होगा कि सर्दी के दिनों में जब कभी ताप बहुत कम हो जाता है और नलों का पानी जम कर बर्फ बन जाता है, तो नल फटने लगते हैं। क्योंकि बर्फ पानी से ज्यादा जगह घेरता है। तुम जानते हो कि एक कि.ग्रा. रुई एक कि.ग्रा. लोहे के मुकाबले कितनी अधिक जगह घेरती है। लोहे का एक कि.ग्रा. का बाट छोटा सा होता है परन्तु एक कि.ग्रा. रुई की गठरी खूब बड़ी बनती है। रुई हल्की होती है न ! इस प्रकार बराबर वजन की दो वस्तुओं में जो अधिक जगह घेरे वह हल्की होगी।

पानी और बर्फ में, बर्फ पानी से अधिक जगह घेरता है। इसलिए वह पानी से हल्का होता है और इसी कारण पानी में तैरता रहता है।

• सर्दी के दिनों में नाक से बाहर निकला सांस क्यों दिखाई देता है ? गर्मियों में क्यों नहीं दिखाई देता?

सर्दियों में वायुमण्डल बहुत ठण्डा होता है; हवा बहुत ठण्डी होती है। ऐसे मौसम में जब तुम सांस बाहर निकालते हो तो वह कुहरे जैसी दिखाई देती है। जो सांस तुम बाहर निकालते हो वह फेफड़ों से ग्राती है। वह गरम होती है ग्रौर उसमें भाप के रूप में पानी मौजूद होता है। गर्मी के दिनों में पानी की भाप मिली हुई गरम सांस तुम्हारे चारों ग्रोर की वायु में तुरन्त मिल जाती है, इसलिए तुम ग्रपनी सांस की हवा को ग्रलग नहीं देख सकते। लेकिन सर्दी के दिनों में सांस की हवा की नमी (भाप) नथुनों से बाहर निकलते ही ठण्डी हो कर पानी बन जाती है। तुम्हारी गरम व नम सांस को बाहर की ठण्डी हवा पानी की बहुत छोटी-छोटी बुंदकियों में बदल देती है। यही बुँदकियाँ तुम्हें दिखाई देती हैं।

सही उत्तर बताओ

नीचे बाईं ओर कुछ राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं व अनुसंधान संस्थानों के नाम दिए हुए हैं और दायीं ओर कुछ स्थानों के। स्थानों के नामों को इस प्रकार व्यवस्थित कीजिए कि प्रयोगशाला या संस्थान के आगे उस नगर का नाम आ जाए, जहां वह स्थित है।

(सही उत्तर पृष्ठ 571 पर देखिए)

1.	राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला	बम्बई
2.	भारतीय प्रायौगिक चिकित्सा संस्थान	नई दिल्ली
3.	राष्ट्रीय वैमानिक प्रयोगशाला	हैदराबाद
4.	केन्द्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान	बम्बई
5.	राष्ट्रीय भू-भौतिक अनुसंधान संस्थान	पूना
6.	केन्द्रीय भवन अनुसंधान संस्थान	नई दिल्ली
7.	टाटा सैद्धांतिक अनुसंधान संस्थान	दुर्गापुर
8.	राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला	मद्रास
9.	भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान	बम्बई
10.	तुम्बा विषुवत रेखीय राकेट प्रक्षेपण केन्द्र	ऋषिकेश
11.	केन्द्रीय नमक व समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान	रुड़की
12.	भारतीय औषधि व भेषज लिमिटेड	जमशेदपुर
13.	कैंसर अनुसंधान संस्थान	धनबाद
14.	केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिक अनुसंधान संस्थान	जियलगोड़ा
15.	भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र	तुम्बा
16.	केन्द्रीय खनन अनुसंधान केन्द्र	बम्बई
17.	राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला	कलकत्ता
18.	केन्द्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान	बंगलौर
19.	हाफकिन संस्थान	नई दिल्ली
20.	केन्द्रीय यांत्रिक इंजीनियरी अनुसंधान संस्थान	पिम्परी
21.	हिन्दुस्तान ऐंटीबायोटिक्स	मैसूर
22.	केन्द्रीय चमड़ा अनुसंधान संस्थान	भावनगर

उत्तर : दिमागी कसरत

1



4

केवल एक टुकड़े के तीन कुन्दों को खोल कर जंजीर जोड़ी जा सकती है ।

5



2



3



हम पानी क्यों पीते हैं ?

तुम कहोगे, प्यास लगती है इसलिए पीते हैं। लेकिन भई ! प्यास तुम्हें क्यों लगती है ? बात यह है कि हमारा शरीर यूं तो बहुत से तत्वों से मिलकर बना है। लेकिन पानी सब से अधिक मात्रा में हमारे शरीर में है। तुम्हें जान कर आश्चर्य होगा कि शरीर के पूरे वजन का लगभग दो-तिहाई भाग पानी ही तो है। अगर तुम्हारा वजन 36 कि.ग्रा. है तो उसमें से 24 कि.ग्रा. पानी ही है, बाकी 12 कि.ग्रा. में अन्य सभी तत्व हैं या यूं कहें कि 36 कि.ग्रा. वजन वाले लड़के के शरीर में 24 लिटर पानी भरा होता है। अगर यह पानी निकाल दिया जाए तो शरीर मुर्दा हो जाए। यह पानी ही तो उसका जीवन है। तुम सोच रहे होगे इतना सारा पानी शरीर में कहां भरा होता है, पेट में तो आ नहीं सकता।

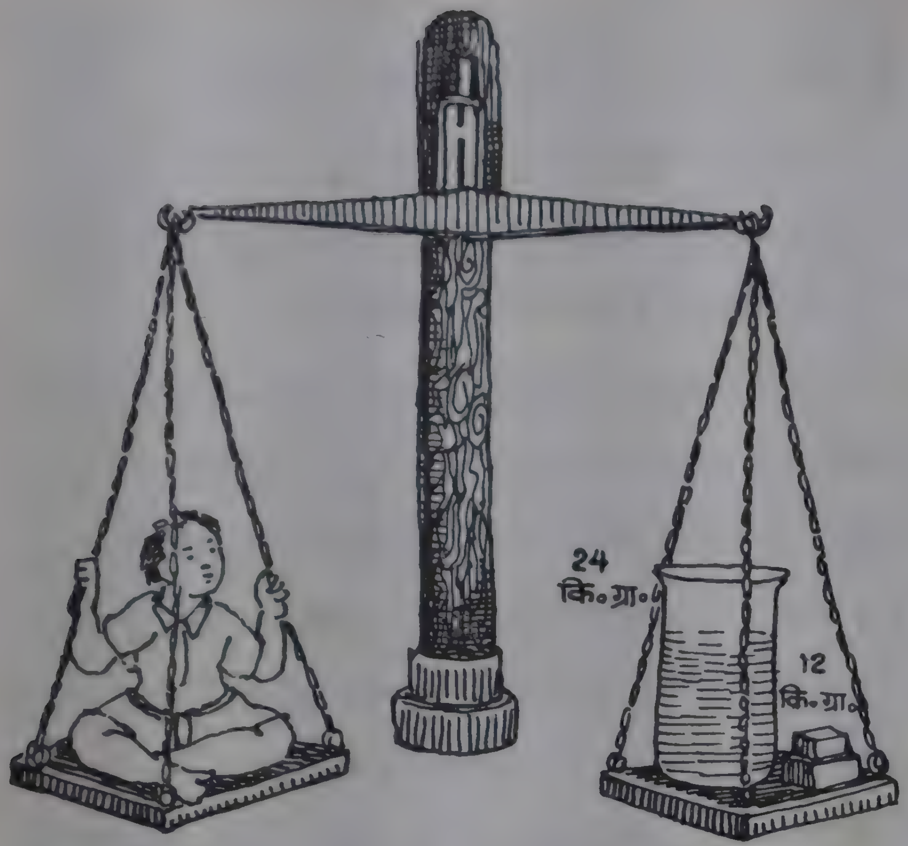
पानी शरीर के हर अंग में भरा होता है। जिसे तुम रक्त या खून कहते हो वह मुख्य रूप से पानी ही है। अन्य तत्व तो उसमें बहुत ही कम मात्रा में होते हैं। त्वचा में भी पानी होता है, हड्डियों में भी पानी होता है। हड्डी में पानी की मात्रा ज्ञात करने के लिए तुम चाहो तो एक प्रयोग भी कर सकते हो। किसी मांस विक्रेता से एक हड्डी ले आओ और उसे ध्यानपूर्वक बिलकुल ठीक-ठीक तोल लो। फिर उसे अंगीठी के ऊपर लटका कर सुखाओ। तीन-चार घंटे सुखाने के बाद उसे फिर तोलो। तुम देखोगे कि हड्डी का वजन कम हो गया। जितना वजन कम हुआ हड्डी में उतना पानी ही था जो कि भाप बन कर उड़ गया।

शरीर के दो-तिहाई भाग को ही बनाने के लिए पानी की जरूरत नहीं होती, बल्कि शरीर के ठीक प्रकार से काम करने के लिए भी पानी जरूरी होता है। तभी तो, प्यास लगने पर कितनी बेचैनी होती है। एक आदमी के शरीर में लगभग 5 लिटर रक्त होता है। रक्त का 90 प्रतिशत अंश पानी ही तो है। मुंह से निकलने वाली लार तथा जिगर से निकलने वाला पित्त मुख्य रूप से पानी ही होता है।

एक स्वस्थ व्यक्ति दिन में लगभग $2\frac{1}{2}$-3 लिटर पानी पीता है। पानी पीने की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि कोई आदमी कितनी मेहनत करता है। ज्यादा मेहनत करने वाला ज्यादा पानी पीता है और कम काम करने वाला आदमी कम पानी



हड्डी में भी पानी होता है। अंगीठी के ऊपर हड्डी को सुखाने से उसके भार में कमी आ जाती है क्योंकि पानी उसमें से भाप बनकर निकल जाता है।



हमारे शरीर का दो-तिहाई अंश पानी ही होता है ।

पीता है । गर्मी के मौसम में पानी अधिक पिया जाता है और सर्दियों में कम । जानते हो क्यों ? गर्मियों में पसीने के द्वारा बहुत सा पानी शरीर से निकल जाता है । एक साल में एक आदमी लगभग 900-1100 लिटर पानी पीता है ।

हम जितना पानी पीते हैं उसका बहुत थोड़ा भाग शरीर में रह पाता है । बाकी पानी तीन प्रकार से शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है: मूत्र द्वारा, सांस द्वारा और पसीने द्वारा । हमारी पीठ के निचले भाग में रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर सेम के बीज की शक्ल के, लेकिन सेम के बीज से बहुत बड़े, दो अंग होते हैं । ये गुर्दे कहलाते हैं । गुर्दे हमारे शरीर के छन्ने हैं । फालतू पानी तथा रक्त से आए कुछ अन्य व्यर्थ पदार्थों को गुर्दे एक द्रव रूप में बदल देते हैं। यह द्रव मूत्र कहलाता है और मूत्राशय में जा कर जमा हो जाता है । इस व्यर्थ द्रव को शरीर से बाहर निकालने के लिए ही हम दिन में अनेक बार मूत्र त्याग करते हैं । प्रति दिन लगभग एक लिटर पानी मूत्र के रूप में शरीर से निकल जाता है । इसके साथ इसमें घुल कर शरीर के बहुत से व्यर्थ पदार्थ भी निकल जाते हैं। ये व्यर्थ पदार्थ अगर शरीर में रह जाएं तो आदमी के लिए मुसीबत हो जाए । बीमारी उसका पीछा ही न छोड़े ।

एक अन्य प्रकार से भी पानी शरीर से बाहर निकलता है । हम जो सांस बाहर निकालते हैं उसमें पानी मौजूद होता है, नमी के रूप में । यह नमी हमें सांस में केवल सर्दियों में ही दिखाई देती है गर्मियों में नहीं । सांस द्वारा प्रति दिन हम लगभग 250 ग्राम पानी शरीर से बाहर निकालते हैं ।

त्वचा द्वारा भी शरीर से पानी बाहर निकलता है। गर्मी के दिनों में हमें जो पसीना आता है वह मुख्य रूप से पानी ही होता है । पसीना आना भी हमारे लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि इसमें लवण व अन्य व्यर्थ पदार्थ घुल कर त्वचा के मार्ग से बाहर निकल जाते हैं । इस प्रकार प्रति दिन लगभग 1 लिटर पानी शरीर से बाहर निकल जाता है । पसीना शरीर को शीतल भी बनाए रखता है । पानी हमें स्वस्थ बनाए रखने के लिए बहुत जरूरी है ।

उत्तर : गणित पहेलियां

1. अंत में बूढ़े को 1.20 पैसे देने के बाद लड़के के पास कुछ न बचा इसलिए तीसरी बार पैसे दुगने होने से पूर्व उसके पास 0.60 पैसे थे। यह 0.60 पैसे उसके पास बूढ़े को दूसरी बार 1.20 पैसे देने के बाद बचे थे। अर्थात दूसरी बार दुगने होने पर उसके पास 1.20+0.60=1.80 पैसे थे जो कि 0.90 पैसे के दुगने थे। यह 0.90 पैसे उसके पास तब बचे थे जब पहली बार पैसे दुगने होने पर बूढ़े को 1.20 पैसे दिए थे अर्थात पहली बार पैसे दुगने होने पर बूढ़े के पास 0.90+1.20=2.10 पैसे थे। यह 2.10 पैसे उसे अपने पैसों के दुगना करने पर प्राप्त हुए थे। इसलिए लड़के के पास प्रारम्भ में $2.10 \times \frac{1}{2} = 1.05$ पैसे थे।

2. स्पष्ट है कि अंत में हर ढेरी में 16 सींकें रह जाती हैं क्योंकि सींकों की कुल संख्या 48 है।

अंत में हरी ने तीसरी ढेरी से निकाल कर पहली ढेरी में इतनी सींकें मिलाई थीं जितनी उसमें पहले से ही मौजूद थीं। अतः इस आखिरी फेर-बदल से पहले पहली ढेरी में $16 \times \frac{1}{2} = 8$ सींकें थीं और तीसरी में 16+8=24 थीं और शेष 16 दूसरी में थीं। अतः अंतिम फेर-बदल से पूर्व सींकों की संख्या इस प्रकार थी :

पहली ढेरी	दूसरी ढेरी	तीसरी ढेरी
8	16	24

इससे पहले हरी ने दूसरी ढेरी से उतनी ही सींकें तीसरी ढेरी में मिलायी थीं जितनी तीसरी में पहले से थीं। अर्थात अब तीसरी ढेरी में सींकों की संख्या पहले से दुगनी है। अतः इस अदला-बदली से पहले ढेरियों में सींकों की संख्या इस प्रकार थी :

पहली ढेरी	दूसरी ढेरी	तीसरी ढेरी
8	28	12

सबसे पहली फेर-बदल में दूसरी ढेरी के बराबर संख्या में सींकें पहली ढेरी से निकाल कर दूसरी में मिलाई गई थीं। अर्थात प्रारम्भ में दूसरी ढेरी में सींकों की संख्या अब से आधी अर्थात 14 थी। अतः प्रारम्भ में ढेरियों में सींकों की संख्या इस प्रकार थी :

प्रथम ढेरी	दूसरी ढेरी	तीसरी ढेरी
22	14	12

सही उत्तर : प्रयोगशालाएं

1. पूना, 2. कलकत्ता, 3. बंगलौर, 4. जियलगोड़ा, 5. हैदराबाद, 6. रुड़की, 7. बम्बई, 8. नई दिल्ली, 9. नई दिल्ली, 10. तुम्बा, 11. भावनगर, 12. ऋषिकेश, 13. बम्बई, 14. मैसूर, 15. बम्बई, 16. धनबाद, 17. जमशेदपुर, 18. नई दिल्ली, 19. बम्बई, 20. दुर्गापुर, 21. पिम्परी, 22. मद्रास।

प्रैक्टीकल काम सिखाने वाली सचित्र टैक्निकल इन्डस्ट्रियल पुस्तकें

(लगभग सभी पुस्तकें आई. टी. आई. व अन्य टैक्निकल इंस्टिट्यूशनों के स्वीकृत सिलेबस के अनुसार लिखी गई हैं)

→ ट्रांजिस्टर ←

विजय ट्रांजिस्टर गाइड	24.00
रेडियो तथा ट्रांजिस्टर रेडियो सर्विसिंग	15.75
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर रिसीवर डिजायन	15.00
ट्रांजिस्टर डेटा व सर्किट	12.00
सर्विसिंग ट्रांजिस्टर रेडियो	7.50
प्रैक्टीकल ट्रांजिस्टर सर्किट्स	7.50
लोकल ट्रांजिस्टर रिसीवर	4.50
ट्रांजिस्टर रेडियो	4.50
ट्रांजिस्टर रिसीवर	6.75

→ रेडियो ←

बृहत् रेडियो विज्ञान	15.00
रेडियो सर्विसिंग (रेडियो मैकेनिक)	8.25
वायरलैस रेडियो गाइड	6.00
सर्किट डायग्राम्ज आफ रेडियो	8.25
रेडियो मास्टर	4.50
घरेलू बिजली तथा रेडियो मास्टर	3.00
पारिभाषिक रेडियो शब्दकोष	3.00
बिना बिजली का रेडियो	1.50
रेडियो पाकेट बुक एन्ड वाल्व डेटा	8.25
एम्प्लीफायर लाउडस्पीकर बनाना	1.50
रेडियो फिजिक्स	25.50
हर प्रकार के सस्ते रेडियो बनाना	1.50

→ इलैक्ट्रिकल ←

इलैक्ट्रिकल इन्जीनियरिंग बुक	15.00
इलैक्ट्रिक गाइड (पृष्ठ 824)	10.50
इलैक्ट्रिक वायरिंग (पृष्ठ 296)	4.50
इलैक्ट्रिक लाइटिंग	8.25
इलैक्ट्रिक बैट्रीज	4.50
इलैक्ट्रिक मीटर्ज	8.25
इलैक्ट्रिक सुपरवाइजरी शिक्षा	6.00
इलैक्ट्रिक मोटर्स	8.25
इलैक्ट्रिक मोटर्स आल्टरनेटर्स	16.50
इलैक्ट्रिक वैल्डिंग	6.00
आल्टरनेटिंग करेन्ट (पृ. 992)	16.50
लाइनमैन वायरमैन गाइड	16.50
छोटे डायनेमो इलैक्ट्रिक मोटर बनाना	4.50
टांका लगाने का ज्ञान	2.50
भारतीय बिजली नियम	2.50
प्रैक्टीकल आरमेचर वाइंडिंग	8.25
प्रैक्टीकल ए. सी. मोटर वाइंडिंग सचित्र	12.00
आरमेचर वाइन्डर्स गाइड	15.00
ट्रान्सफार्मर गाइड	6.00
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
ए. सी. जनरेटर्स	8.25
आई.टी.आई.इलै. सौल्व्ड पेपर्स (इंगलिश)	3.00
बिजली मास्टर	4.50
इलैक्ट्रिक तथा गैस वैल्डिंग	12.00
गैस वैल्डिंग	6.00
इलैक्ट्रोप्लेटिंग	4.50
सचित्र इलैक्ट्रोनिक्स इन्जी. कोर्स	12.00
इलै. इन्जीनियरिंग मौखिक प्रश्नोत्तर	4.50
ऐलीमेन्ट्री इलै. टैक्स्ट बुक	10.50
प्रैक्टीकल इलैक्ट्रीसिटी	10.50
ITI इलै. सोल्ड पे. हिन्दी (1960-69)	3.75
इलै. मोटर रिपेयर	8.25

→ वर्कशाप खराद सम्बन्धी ←

मशीनिस्ट गाइड (आई.टी.आई.)	16.50
कास्ट आयरन वैल्डिंग	4.50
जनरल मैकेनिक गाइड	12.00
वर्कशाप प्रैक्टिस	12.00
मशीन शाप प्रैक्टिस	15.00
फिटर मैकेनिक	6.00
खराद शिक्षा (टर्नर गाइड)	4.50
वर्कशाप गाइड (फिटर ट्रेनिंग)	4.50
मिलिंग मशीन	8.25
मशीन शाप ट्रेनिंग	10.00
फाउन्ड्री एण्ड मोल्डिंग	12.00
शीट मेटल वर्क	8.25
लेथ वर्क	6.75
फाउन्ड्री प्रैक्टिस (ढलाई का काम)	8.25
फाउन्ड्री वर्क	4.50
मशीन टूल्ज और उसके प्रयोग	12.00
ब्लैकस्मिथी (लोहार) I.T.I. के सिलेबस	4.50
प्लम्बिंग और सेनीटेशन	6.00
ट्यूबवैल व पम्पिंग गाइड	4.50
सर्वे इंजीनियरिंग बुक	12.00
खराद तथा वर्कशाप ज्ञान	9.00
पैटर्न मेकिंग	8.25
माडर्न वैल्डिंग प्रैक्टिस	16.50

→ आटोमोबाइल व मोटर ←

माडर्न मोटरकार ट्रेनिंग मैनुअल सम्पूर्ण	24.75
मोटरकार इंजीनियरिंग (प्रथम भाग)	8.25
मोटरकार इन्जन (पावर यूनिट)	8.25
मोटरकार सर्विसिंग (तीसरा भाग)	8.25
मोटरकार इन्स्ट्रक्टर	15.00
मोटर मैकेनिक टीचर हिंदी, उर्दू, गुरमुखी	6.00
मोटर ड्राइविंग	4.50
मोटरकार ओवरहालिंग	6.00
मोटर प्रश्नोत्तर	6.00
आधुनिक टिपिकल मोटर गाइड	4.50
स्कूटर व आटोसाइकिल गाइड	4.50
मोटर साईकिल गाइड	4.50
आॅटोमोबाइल इन्जीनियरिंग	12.00
डीजल इन्जन गाइड	12.00
मोटरकार प्राइमर	1.50
खेती और ट्रैक्टर (ट्रैक्टर गाइड)	8.25
मोटरकार वायरिंग	6.00
आॅटो डीजल मैकेनिक टीचर	24.75
ट्रैक्टर गाइड तीनों भाग	24.75

→ फर्नीचर ←

माडर्न स्टील फर्नीचर कैटलॉग	60.00
न्यू फर्नीचर कैटलॉग	25.50
फर्नीचर बुक	12.00
आधुनिक फर्नीचर डिजायन बुक	12.00
बढ़ई का काम	6.00
कारपेन्ट्री मैनुअल	4.50
कारपेन्ट्री मास्टर	6.75
मशीन वुड वर्किंग	6.00
टिम्बर कैलकुलेटर कम्प्लीट (मीट्रिक)	6.00
फर्नीचर पालिश	2.50
स्कूल फर्नीचर	8.25
जन्त्री पैमाइश चोब इंचों में (गुटका)	2.25

→ सिविल इंजीनियरिंग व गृह-निर्माण ←

मिस्त्री डिजायन बुक	34.50
बिल्डिंग कन्सट्रक्शन हैन्ड बुक	34.50
भवन निर्माण कला	12.00
राजगीरी शिक्षा	6.00
नक्काशी आर्ट शिक्षा	6.00
विश्वकर्मा प्रकाश	7.50
सीमेन्ट की जालियों के डिजायन	6.00
मारबल चिप्स के डिजायन	16.50
सर्वे इन्जीनियरिंग बुक	12.00
लोकास्ट हाउसिंग टैक्निक (हिंदी, अंग्रेजी)	5.25

→ गेट ग्रिल जाली ←

न्यू गेट ग्रिल रेलिंग कैटलॉग	40.50
डिजायन गेट ग्रिल जाली	6.00
आयरन फर्नीचर	12.00
लेटेस्ट डिजाईन गेट ग्रिल रेलिंग	34.50
टॉप डिजायन विन्डी ग्रिल	8.25

→ लोको विज्ञान तथा स्टीम इंजन ←

लोको शैड फिटर गाइड	15.00
लोकोफिटर एन्ड फोरमैन (अंग्रेजी)	16.25
कैरिज एन्ड वैगन गाइड	8.25
रेलवे ट्रेन लाइटिंग	6.00
स्टीम बायलर्स तथा इन्जन	8.25
स्टीम इन्जीनियर्स गाइड	12.00
हैन्ड बुक आफ स्टीम इन्जीनियर	20.25

→ विविध ←

हैन्डलूम गाइड	15.00
वीविंग गाइड	4.50
वीविंग कैलकुलेशन	2.25
कपड़े की बनावट व डिजायन	3.75
आयल व गैस इंजन गाइड	15.00
आयल इंजन गाइड	6.00
सिनेमा मशीन आपरेटर्स गाइड	8.25

→ एअर कन्डीशनिंग ←

रैफ्रीजरेटर गाइड	8.25
आइस प्लान्ट (बर्फ मशीन)	4.50
एअर कन्डीशनिंग गाइड	12.75

पुस्तकें खरीदते समय देहाती पुस्तक भंडार का नाम जरूर देख लें। डाक खर्च ग्राहक को देना होगा।

11—1969

देहाती पुस्तक भंडार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6 फो. नं. 261030, 264191, 265403


DID YOU EVER TASTE LAUGHTER?
FANTA ORANGE TASTES SO GOOD, IT'S FUN TO BE THIRSTY.
FANTA IS A PRODUCT OF THE COCA-COLA COMPANY

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित।

Regd. No. D-464

विज्ञान प्रगति

'गांधी और विज्ञान' अंक

पौष 1891 : दिसम्बर 1969

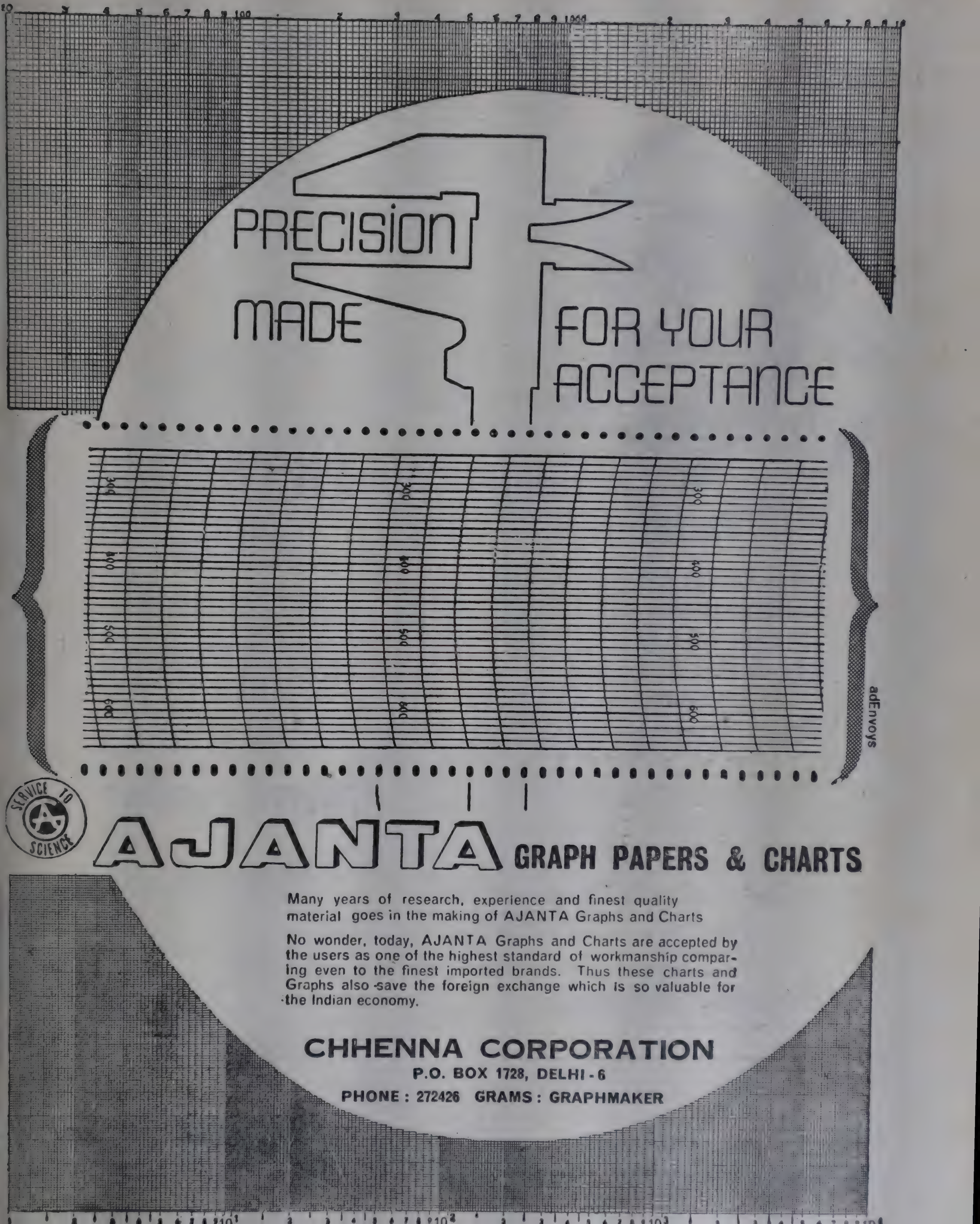


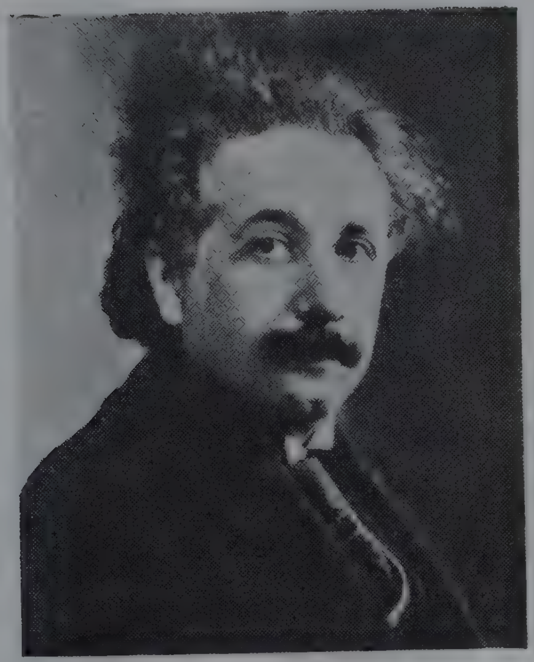


(बाल विभाग 'गांधी दर्शन')

गांधी जी सूक्ष्मदर्शी में से कोढ़ के जीवाणु (बैसिलस लेप्री) का अवलोकन करते हुए




PRECISION
MADE
FOR YOUR
ACCEPTANCE
adEnvoys
SERVICE TO SCIENCE
AJANTA GRAPH PAPERS & CHARTS
Many years of research, experience and finest quality material goes in the making of AJANTA Graphs and Charts
No wonder, today, AJANTA Graphs and Charts are accepted by the users as one of the highest standard of workmanship comparing even to the finest imported brands. Thus these charts and Graphs also save the foreign exchange which is so valuable for the Indian economy.
CHHENNA CORPORATION
P.O. BOX 1728, DELHI - 6
PHONE : 272426 GRAMS : GRAPHMAKER



वे जनता के नेता थे और उनके नेतृत्व को किसी दूसरे सहारे की आवश्यकता न थी। उस राजनयिक की सफलता का श्रेय कोई पराकृत अथवा अभियन्त्रित माध्यम नहीं, उनका अपना विश्वसनीय व्यक्तित्व था। इस विजेता सेनानी ने कभी बल का प्रयोग शिरोधार्य नहीं किया। विवेक और विनम्रता के साथ क्रान्ति और दृढ़ गाम्भीर्य से युक्त इस महापुरुष ने अपने देशवासियों की समुन्नति और उनके विकास हेतु अपनी सामर्थ्य अर्पित कर दी। यूरोप की पाशविकता के सम्मुख सहज मनुष्यों को गौरव प्रदान करते हुए वह स्वयं श्रेष्ठातिश्रेष्ठ होते गये।

आगामी पीढ़ियां संभवतः विश्वास भी न कर सकेंगी कि रक्त-मांस निर्मित किसी ऐसी मानवीय आकृति ने कभी इसी वसुधा पर विचरण किया था।

—अलबर्ट ए. आइंस्टीन



मैं विज्ञान की हर ऐसी चीज का स्वागत करूंगा जो सबके लाभ के लिये होगी ।

—मो. क. गांधी



महापौर कार्यालय
नगर निगम
टाउन हाल
दिल्ली

क्रमांक : 1152-म
दिनांक : 25-10-69

आज जबकि सारा संसार गांधी जन्म शताब्दी समारोह मनाकर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है, 'विज्ञान प्रगति' की ओर से गांधीजी के विज्ञान सम्बन्धी विचारों को परिशिष्ट रूप में समाहित करना युक्तिसंगत ही कहा जा सकता है। समग्र जीवन के प्रति गांधीजी का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण था और उसमें विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि तभी सार्थक माने जाते थे जबकि वे जनजीवन से अभिन्न रूप से गुथे हुए होते। आज विज्ञान इस तीव्र गति से उन्नति कर रहा है कि उसके विकास के प्रत्येक अवस्थान का लगभग तत्काल आज के मानव-जीवन पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में गांधीजी की विज्ञान सम्बन्धी दृष्टि से अवगत होना उस महामानव को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करना होगा।

जन-साधारण को आधारभूत वैज्ञानिक तथ्यों से परिचित कराके 'विज्ञान प्रगति' सराहनीय कार्य कर रहा है। आशा है वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् का यह हिन्दी जनोपयोगी मुख पत्र भविष्य में भी इसी प्रकार के और भी उपयोगी विशेषांक प्रकाशित करता रहेगा।

ह. हंसराज गुप्त
महापौर

वैज्ञानिकों का दायित्व



12 जुलाई, 1927 को सायंकाल गांधीजी और उनके दल के सदस्य इंडियन इंस्टीटयूट आफ साइंसेज पहुंचे, जहां संस्थान के छात्रों, अध्यापकों और कर्मचारियों ने उनका स्वागत किया। संस्थान के निदेशक डा. सी. स्मिथ गांधीजी को संस्थान के विभिन्न विभागों—विद्युत, रसायन और जीव-रसायन विभागों—में ले गए और उनमें किए जाने वाले कार्य से उन्हें परिचित कराया। इसके पश्चात् गांधीजी सभा-स्थल पर आए जहां छात्रों की ओर से उन्हें थैली भेंट की जाने वाली थी। एक छात्र ने एक छोटा सा भाषण किया और फिर छात्रों की ओर से गांधीजी को 325 रु. की थैली भेंट की गई। इसके उपरांत गांधीजी ने थैली आदि के लिए छात्रों का धन्यवाद करते हुए अंगरेजी में एक संक्षिप्त भाषण किया। उस भाषण के कुछ अंश का भावानुवाद यहां उद्धृत किया जा रहा है। देश में प्रजातंत्रात्मक राज-व्यवस्था होने के कारण आज भी वैज्ञानिक शोधकार्य करने वाली संस्थाओं को प्रशासन आदि की ओर से अनुदान आदि के रूप में जो धन प्राप्त होता है वह, एक प्रकार से, अन्ततः जनता से ही प्राप्त होता है। अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं अपने कार्य के लिए जनता के प्रति ही उत्तरदायी हैं। इस परिप्रेक्ष्य में 42 वर्ष पूर्व उपरोक्त संस्थान में प्रकट किए गए गांधीजी के उद्‌गार आज भी वैज्ञानिक अनुसंधाताओं के लिए मननीय हैं।

—सम्पादक

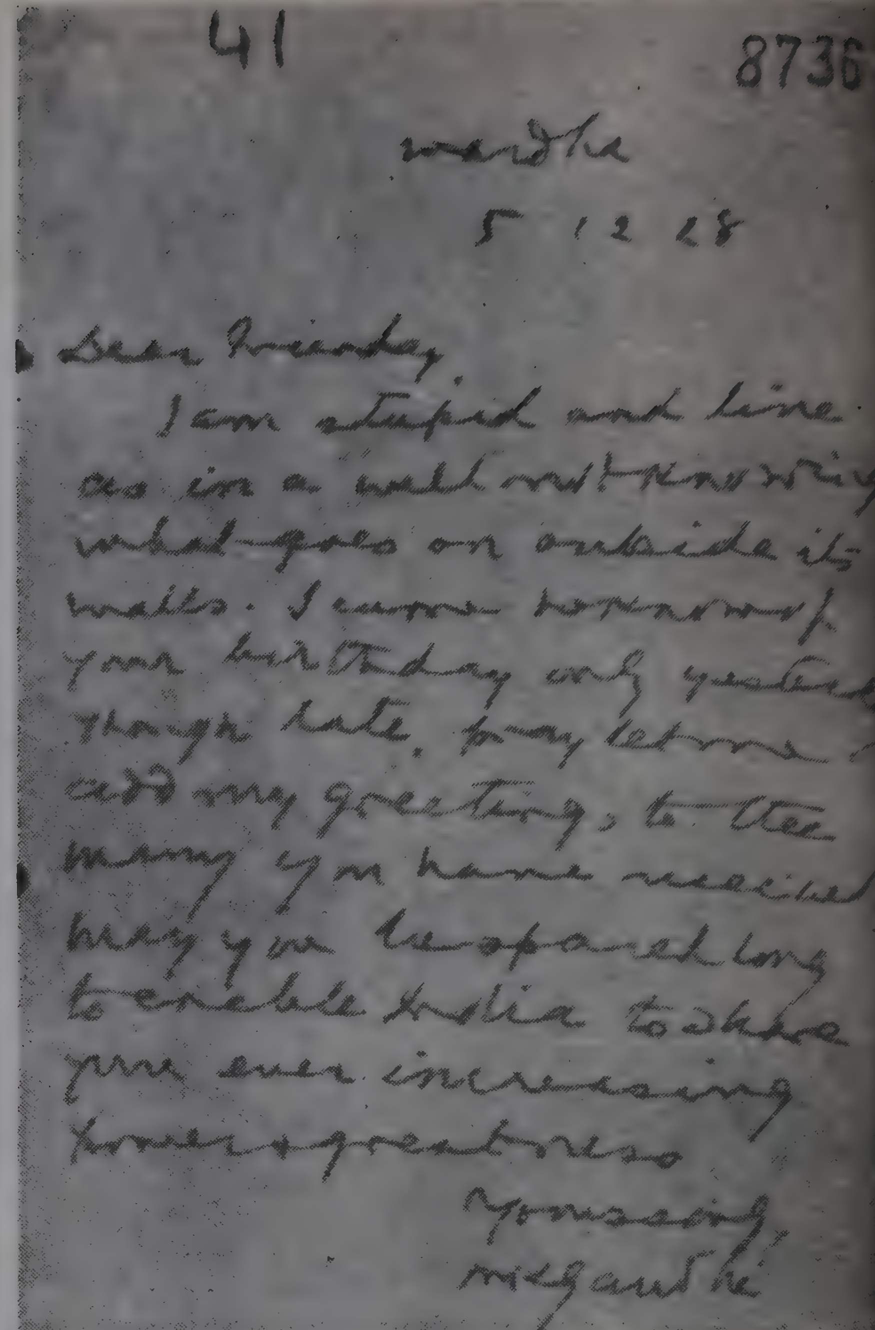
इस संस्थान में मेरे जैसे देहाती के लिए कोई स्थान नहीं है। इसे देखकर मारे आश्चर्य और आतंक के मैं तो मूक बनकर रह जाता हूं।

और इस समय मुझे कुछ अधिक कहने की इच्छा भी नहीं है। मुझे केवल यही कहना है कि ये विशाल प्रयोगशालाएं और बिजली के जो उपकरण यहां रखे हैं, ये सब लाखों लोगों के श्रम—अनचाहे और जबरी श्रम—के कारण यहां हैं। न तो टाटा का तीस लाख रुपया कहीं बाहर से आया और न मैसूर राज्य की ओर से मिला धन कहीं और से आया—बल्कि यह सब उन्हीं लाखों श्रमिकों की बेगार का परिणाम है।

यदि हम ग्रामीणों से मिलें और उन्हें यह बतलाएं कि उनका पैसा हम किस प्रकार ऐसे भवन बनाने और संयंत्र लगाने पर व्यय कर रहे हैं जिनका स्वयं उन्हें कोई लाभ नहीं होने वाला बल्कि उनकी आने वाली संतानों को ही शायद उनसे कुछ लाभ होगा तो वे हमारी बात नहीं समझेंगे। बल्कि वे हम से मुंह मोड़ लेंगे। किंतु हम उनका विश्वास प्राप्त करने की कोशिश नहीं करते बल्कि उनके दिए धन का इस प्रकार व्यय करना अपना अधिकार समझते हैं और यह भूल जाते हैं कि 'प्रतिनिधित्व नहीं तो टैक्स भी नहीं' (नो टैक्सेशन विदाऊट रिप्रेजेन्टेशन) का नियम उन पर भी लागू होता है। यदि आप सचमुच यह नियम उन पर लागू करेंगे और उनको हिसाब देने की अपनी जिम्मेदारी को समझेंगे तो आप पाएंगे कि इस प्रकार की मिलनियों का एक और पहलू भी है। तब आप यह अनुभव करेंगे कि आपके हृदयों में उनके लिए छोटा-सा नहीं अपितु बहुत बड़ा स्थान है और जिसे आप यदि सदैव

(शेषांश पृष्ठ 592 पर)

वैज्ञानिकों से पत्र-व्यवहार


41 8736

Wardha
5 12 28

Dear friend,
I am stupid and live as in a well not knowing what goes on outside its walls. I came to know of your birthday only yesterday. Though late, pray let me add my greetings to the many you have received. May you be spared long to enable India to share your ever increasing power & greatness.
Yours sincerely,
M K Gandhi

डा. जगदीश चन्द्र बोस को गांधी जी द्वारा लिखे गये एक पोस्ट कार्ड की फोटो प्रतिलिपि

डा. पी. सी. रॉय को दिनांक 9-9-1918 को लिखा पत्र

(यह पत्र गांधीजी ने डा. राय के उस पत्र के उत्तर में लिखा था, जिसमें डा. राय ने कहा था कि दूध के कुछ तत्त्व अन्य पदार्थों में मिल जाते हैं, पर दूध की कमी किसी दूसरे पदार्थ से भली भांति पूरी नहीं की जा सकती। डा. राय ने एक पुराने मित्र के नाते गांधीजी से दूध शुरू करने का आग्रह किया था।)

प्रिय डाक्टर राय !

दूध का प्रश्न मेरे लिये इतना सीधा नहीं है, जितना आपने बताया है। यह बात नहीं कि बछड़ों के प्रति सद्भाव मुझे बीमारी में दूध लेने से रोकता है।...

क्या आप अपने बताये हुये तेलों में से किसी को इतना विशुद्ध बना सकते हैं कि वह सुपाच्य बन जाये ? आप जानते हैं कि अमेरिका के रसायन शास्त्रियों ने बिनौले के तेल को इसी तरह साफ किया है। बिनौले का तेल विशुद्ध बनाये बिना खाया नहीं जा सकता। परन्तु अब लोग उसे बेधड़क खाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ इस हद तक वे उसे विशुद्ध कर सके हैं परन्तु यह तो अनुपात का सवाल हुआ।

भवदीय

मो. क. गांधी

डा. पी. सी. राय को 27 अगस्त, 1918 को लिखा पत्र

प्रिय डाक्टर राय !

....

क्या आपके ध्यान में घी या मक्खन और दूध का स्थान लेने वाला कोई वनस्पति जन्य पदार्थ है ? हो, तो कृपा करके बताइये। अधिक अच्छा तो यह होगा कि कोई ऐसा पदार्थ मिल सके तो मुझे भेज दीजिये। मैंने सुना है कि उत्तर में महुए के कोमल बीजों से घी बनाया जाता है। वह साधारण घी जैसा नहीं होता परन्तु जैतून के तेल जैसा ही होता है। इस मामले में, हो सके तो, मुझे जानकारी दीजिये।

हृदय से आपका

मो. क. गांधी

BOSE INSTITUTE
Director: SIR J. C. BOSE F.R.S.
Tel. Address—Bostute
Telephone No. 1309 Barabazar.

93, UPPER CIRCULAR ROAD
Calcutta, the 8th Dec. 1928

58

S.N. 13777

Dear Mahatmaji,

I remember how prominent a part you took on the foundation of my Institute eleven years ago. What I hoped then has become amply fulfilled and it is through the blessings of Providence that it has been possible to revive the great traditions of India as a home of learning and thus win honour for our country. I am deeply touched by your message of benediction.

Hoping that your health will soon be re-established,

I remain,

Your sincere friend,

J.C. Bose

गांधीजी के पत्र के प्रत्युत्तर में डा. बोस द्वारा लिखे गये पत्र की फोटो प्रतिलिपि

रामन और राह्म से विचार-विनिमय

लोगों की यह आम धारणा है कि गांधीजी वैज्ञानिकों के सम्पर्क में बहुत कम आते थे। पर तथ्य कुछ और है। यहां हम कुछ लब्ध प्रतिष्ठ वैज्ञानिकों के साथ गांधीजी की रोचक वार्ता के कुछ अंश दे रहे हैं। —संपादक

वर्ष 1936 का एक अपराह्न।

भारत के नोबल पुरस्कार विजेता चन्द्रशेखर वेंकट रामन के यहां एक बार स्विटजरलैण्ड के प्रतिष्ठित जीव-वैज्ञानिक प्रोफेसर राह्म पधारे। रामन उन्हें महात्मा गांधी के पास ले गए और उनसे उनका परिचय कराया—'प्रोफेसर राह्म ने एक ऐसे कीट की खोज की है जो अन्न-जल के बिना लगातार 12 वर्षों तक जीवित रह सकता है। अब इस दिशा में और अधिक जीव-वैज्ञानिक अध्ययन हेतु आप भारत आए हैं।'

गांधीजी का जीवन उपवासों में बीतता था। अतः उन्होंने उक्त विचित्र कीट के अध्ययन में रुचि प्रदर्शित करते हुए कहा—'जब आपको इसके वास्तविक रहस्य का ज्ञान हो जाए तो कृपया मुझे सूचित कीजिएगा।'

'वैज्ञानिक होने के साथ ही मेरी आस्था धर्म में भी है। मेरे यहां आने का उद्देश्य आप से कुछ प्रश्नों का समाधान प्राप्त करना है।' जीव-वैज्ञानिक के अनुरोध को बापू ने स्वीकार कर लिया और फिर प्रोफेसर राह्म ने एक साथ ईसाई धर्म से लेकर ईश्वर की सत्ता तक न जाने कितने प्रश्न खड़े कर दिए।

महात्मा बोले, 'धर्मों के विषय में मैं (आप वैज्ञानिकों की भांति) खुले दिमाग से ही सोचता हूं। ईसाई धर्म को ही लीजिए—मैं उसकी कट्टरता का विरोध करता हूं। उन्हें इस पर भी आपत्ति है कि हमारे पास इतने अधिक देवता हैं। किसी अपरोक्ष सत्ता के विषय में हमारी धारणायें भिन्न हैं।'

विदेशी वैज्ञानिक ने दूसरा प्रश्न किया, 'यदि हम ईश्वर जैसी किसी वस्तु के विषय में एकमत नहीं हो सकते, तो क्या इतना भी नहीं कर सकते कि ज्ञान-विज्ञान की सीमा को देखते हुए निरीश्वरवाद अथवा नास्तिकता को अपने मध्य न आने दें।'

चन्द्रशेखर वेंकट रामन यहां तक चुप थे। किन्तु अब उनकी बारी थी। उन्होंने कहा, 'आपके प्रश्न का उत्तर मैं दूंगा। यदि कोई वस्तु वास्तव में 'है' तो हमें उसका दर्शन होना चाहिए और यदि 'नहीं है' तो उसे देखने या पाने की बात ही निरर्थक है। मैं एक वैज्ञानिक हूं और मुझे लोग नास्तिक समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं है। मैं जहां तक विज्ञान को समझ सका हूं, दिन-प्रतिदिन तारक-विज्ञान तथा भौतिकी के क्षेत्र में होने वाली महत्वपूर्ण खोजें हमें उसी अपरोक्ष की ओर रही हैं। हमारा प्रत्येक अनुसन्धान किसी चिरन्तन सत्य पर पड़े एक आवरण को उठा देता है और फिर हम उजले आवरण की ओर बढ़ते हैं। अतः नास्तिकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हम वैज्ञानिक सबसे अधिक ईश्वरवादी हैं।'

रामन ने आगे कहा, 'अब रही धर्मों की एकता। यह 'एकता' सभी धर्मों में संभव नहीं। सम्पूर्ण सहमति का आधार हमें विज्ञान ही प्रदान कर सकता है। विज्ञान से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति समान है।'

'तो आप यह कहना चाहते हैं कि जो लोग विज्ञान से सम्बन्धित नहीं हैं, वे परस्पर समान नहीं। मैं ऐसा कैसे मान लूं।' गांधीजी ने कहा।

भौतिक शास्त्र के ज्ञाता रामन को एक चुटीले व्यंग का अवसर मिला। उन्होंने कहा, 'क्यों न आप सब वैज्ञानिक ही बन जाएं।'

'इस प्रकार तो' गांधीजी ने कहा, 'आप विज्ञान की कालिमा विश्व को दिखाएंगे। हम सब वैज्ञानिक नहीं बन सकते, जिस प्रकार सब इस्लाम ग्रहण नहीं कर सकते।'

और तब महात्मा गांधी से नोबल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक ने विज्ञान की महत्ता इन शब्दों में वर्णित की :

"विज्ञान और कुछ नहीं, केवल सत्य की खोज है—यह सत्य न केवल भौतिक है; तर्क, मनोविज्ञान, मानवीय व्यवहार सभी कसौटियों पर खरा उतरता है। सबसे अधिक 'वैज्ञानिक' तो वह मस्तिष्क है जो मिथ्या-असत्य का प्रतिहार करने में संवेदनशील हो। विज्ञान तो बुलन्दी के साथ बानगी देता है कि तथ्यहीनता को शिरोधार्य न किया जाए।

"इस समय तक की हमारी सबसे बड़ी वैज्ञानिक खोज यह है कि मनुष्य तथा निम्न जन्तुओं की जीवन-क्रिया में परस्पर कोई भेद नहीं है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रजाति का अस्तित्व बनाए और बढ़ाए रखने के लिए जन्म ले रहा है और इस प्रक्रिया में अपने योगदान स्वरूप वह स्वयं अपने को बलिदान कर देता है।"

महात्मा गांधी, डा. रामन और डा. राह्म की इस मुलाकात से कई वर्ष पूर्व यही बात डा. हेनरी डुमण्ड नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अपनी पुस्तक 'दि नेचुरल ला इन दि स्पिरिचुअल वर्ल्ड' में कही थी। और क्या गीता भी यही नहीं कहती।

कहीं न कहीं एक ऐसी रेखा अवश्य है जहां विज्ञान और ज्ञान परस्पर एक भूमि पर खड़े दिखाई देते हैं।

—'क्रिश्चियन मिशन्स' से

अपनी भाषा बोलने में ग्लानि क्यों?

मैं चाहूंगा कि साहित्य में रुचि रखने वाला प्रत्येक युवक और युवती जितना चाहे उतनी अंगरेजी व अन्य विश्व-भाषाएं सीखें और फिर यह अपेक्षा करूंगा कि एक बोस, एक राय अथवा स्वयं कवि (रवीन्द्रनाथ) के समान अपनी विद्वत्ता का लाभ वह भारत और विश्व को पहुंचाए। लेकिन मैं नहीं चाहता कि एक भी भारतीय अपनी मातृ भाषा भूल जाय अथवा उसकी उपेक्षा करे अथवा उसके कारण ग्लानि अनुभव करे अथवा यह अनुभव करे कि वह अपनी भाषा में सोच नहीं सकता अथवा श्रेष्ठ विचारों को अपनी-अपनी भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता।

—यंग इंडिया 1-6-1921

वैज्ञानिकों को प्रत्युत्तर

एक दिन तीसरे पहर विख्यात बंगाली वैज्ञानिक डा. प्रफुल्लचंद्र राय साबरमती आश्रम में आए। गांधीजी को देखते ही बोले: 'तो आपने दूध लेना छोड़ दिया?' विटामिनों की आवश्यकता के विषय में और भी कुछ कहा।

गांधीजी ने उनकी बात में सुधार करते हुए कहा, 'छोड़ा नहीं है, फिलहाल बन्द कर दिया है। परन्तु आपको दंतमंजनों के बारे में क्या अपने ही ये शब्द याद नहीं हैं कि हम अपने बंगाल केमिकल वर्क्स में ये दन्तमंजन केवल मूर्खों के लिए तैयार करते हैं? अपने लिए तो मुझे पिसी हुई खड़िया मिट्टी काफी मालूम होती है।' यही बात वैज्ञानिक सिद्धान्तों की है, उन पर पूरा विश्वास मूर्ख ही रखते हैं, बुद्धिमान उन्हें सोच-समझ कर मानते हैं। आज ही मैं एक लेख पढ़ रहा था, जिसमें विटामिनों के सिद्धान्त को चुनौती दी गई है।

बंगाली विद्वान को यह मजाक इतना पसन्द आया कि उन्होंने उसका खण्डन नहीं किया और दूसरे विषयों पर बात करने लगे।

स्वभाषा से उन्नति

मान लीजिए कि पिछले पचास वर्षों से हम अपनी ही भाषाओं में शिक्षा ग्रहण कर रहे होते; तब क्या होता? उस दशा में आज भारत स्वतंत्र होता, हमारे शिक्षित लोग तब अपने ही देश में परदेसी न होते वरन् राष्ट्र की आत्मा से वार्त्ता कर रहे होते; वे दरिद्रतम लोगों के बीच काम कर रहे होते, और इन पचास वर्षों में उन्होंने जो कुछ सीखा होता वह राष्ट्र की धरोहर बन चुका होता। आज दशा यह है कि हमारी पत्नियां भी हमारे श्रेष्ठ विचारों में साझेदार नहीं हैं। तनिक प्रो. बोस व प्रो. राय और उनके उज्ज्वल अनुसंधानों की ओर देखिए। क्या यह लज्जा की बात नहीं कि उनके अनुसंधान जन-जन की सांझी सम्पत्ति नहीं बन पाए हैं!

'अहिंसक' शहद

गांधीजी को अपने मित्रों में 'अहिंसक' शहद का विज्ञापन करने का शौक था। एक बार जब उन्होंने एक मित्र से ऐसे शहद का जिक्र किया, तो उसने उनसे पूछा कि इस शब्द से आपका मतलब क्या है? गांधीजी का जवाब यह था:

'वैज्ञानिक मधुमक्खी-पालकों द्वारा वैज्ञानिक ढंग से निकाला हुआ शहद है। वे मक्खियां पालते हैं और उन्हें मारे बिना उनसे शहद इकट्ठा करवाते हैं। इसीलिए मैं उसे निर्दोष या अहिंसक शहद कहता हूं। यह ऐसा उद्योग है जिसमें विस्तार की बड़ी गुंजाइश है।'

मित्र ने शंका प्रकट की, 'लेकिन क्या आप इसे सर्वथा अहिंसक कह सकते हैं? आप मक्खी से वैसे ही शहद छीन लेते हैं जैसे बछड़े से दूध।'

गांधीजी बोले, 'आप ठीक कहते हैं, परन्तु दुनिया का काम पूरी तरह तर्क से नहीं चलता। स्वयं जीवन में कुछ न कुछ हिंसा रहती ही है और हमें कम से कम हिंसा का मार्ग पसन्द करना पड़ता है। आप मानेंगे कि शाकाहार तक में हिंसा है। इसी तरह, मुझे शहद चाहिए तो मुझे मक्खी से दोस्ती करके जितना भी शहद वह पैदा करके दे सकती है उतना उससे पैदा करवाना है। साथ ही यह बात भी है कि वैज्ञानिक मक्खी-पालन में मक्खी को उसके शहद से पूरी तरह कभी वंचित नहीं किया जाता।'

विज्ञान—संजीवनी बूटी

अनेक व्यक्तियों को यह भ्रांति है कि गांधीजी विज्ञान (प्राकृतिक विज्ञान) के विरोधी थे और वे विज्ञान की शिक्षा का प्रसार नहीं करना चाहते थे। पर वास्तविकता कुछ और है। प्रस्तुत लेख में पढ़िए गांधीजी के वैज्ञानिक अनुसंधान और विज्ञान की शिक्षा के बारे में विचार, स्वयं उन्हीं के शब्दों में।

—संपादक

भारत में और जैसा कि मुझे यूरोप और अमेरिका से प्राप्त होने वाले पत्रों से विदित होता है, भारत के बाहर तो और भी अधिक व्यापक रूप से यह भ्रममूलक धारणा फैली हुई है कि मैं विज्ञान का विरोधी हूं, उसका शत्रु हूं। इस तरह के आरोप से अधिक मिथ्या कोई अन्य आरोप हो ही नहीं सकता। यह बिलकुल सच है कि जो बात मैं, आपसे अभी कहने वाला हूं, अगर विज्ञान के साथ यह बात न हो तो मैं उस तरह के विज्ञान का प्रशंसक नहीं हूं। मेरी राय में अगर हम विज्ञान का उचित उपयोग करें तो, विज्ञान हमारे लिए संजीवन बूटी है। किन्तु संसार में अपने भ्रमण के दौरान मैंने विज्ञान का इतना दुरुपयोग होते देखा है कि प्रायः कई बार मुझे ऐसी बातें कहनी पड़ी हैं या मैंने कही हैं जिनसे लोग सोच सकते हैं कि मैं विज्ञान का विरोधी हूं। मेरी नम्र राय में वैज्ञानिक शोध की सीमायें हैं और वैज्ञानिक शोध की जो सीमाएं मैं मानता हूं, वे मानवता के विचार से मानता हूं।

अभी हाल ही में मैं एक मित्र के साथ विज्ञान के उपयोग के बारे में चर्चा कर रहा था। उस समय मैंने अपने जीवन का एक किस्सा उनको सुनाया। आपको भी सुनाता हूं। उनसे मैंने कहा कि मेरे जीवन में एक ऐसा समय भी आया था कि जब मैंने करीब-करीब डाक्टरी पढ़ने का निश्चय कर लिया था और मैंने उन्हें यह भी बताया कि अगर मैंने डाक्टरी पढ़ी होती तो शायद मैं एक विख्यात चिकित्सक या विख्यात सर्जन या दोनों ही हो गया होता। कारण, मैं वास्तव में डाक्टरी की इन दोनों शाखाओं का प्रेमी हूं, और मुझे लगता है कि मैं डाक्टर के रूप में बहुत सेवा कर सकता था। लेकिन जब मेरे एक डाक्टर दोस्त ने बताया—और वह एक अच्छे डाक्टर थे—कि मुझे चीर-फाड़ करनी पड़ेगी, तब मेरा मन घृणा से भर गया और उस तरफ से बिलकुल हट गया।

शायद आप में से कुछ लोग मेरी इस बात पर हँसें, लेकिन मैं चाहता हूं कि मैं जो कह रहा हूं उस पर आप हँसें नहीं बल्कि ध्यान से विचार करें। मुझे लगता है कि हम पृथ्वी पर इसलिए जन्मे हैं कि हम अपने सृष्टा की आराधना करें, अपने को पहचानें, दूसरे शब्दों में आत्मानुभूति करें और इस तरह अपने प्रारब्ध को जानें। मेरी राय में चीर-फाड़ हमारे भौतिक उत्थान में रत्ती-भर भी सहायक नहीं होता। चीर-फाड़ से उस व्यक्ति को जिसके शरीर में कोई कष्ट है, शायद कुछ राहत मिल सकती है। हालांकि कुछ डाक्टरों ने मुझे बताया कि यह बात पूर्ण रूप से सही नहीं है। लेकिन मैं यह बात आपसे सच्चे दिल से कहना चाहता हूं कि मैं शरीर को जीवित रखने के उपायों पर प्रतिबन्ध लगाने में विश्वास करता हूं। शरीर का क्या भरोसा? यह क्षण भंगुर है और किसी भी समय छूट जा सकता है। कर्नल मैडाक के कुशल हाथों द्वारा किए गए उस आपरेशन से तो चंगा हो कर मैं निकल आया, लेकिन मेरे अच्छे हो जाने के बाद इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि बिजली गिर जाने से या किसी दुर्घटना में पड़कर मेरी मृत्यु नहीं हो जाएगी। ऐसी स्थिति में मैं समझता हूं कि इस बात का पता लगाना चाहिए कि हमारे लिये उचित क्या है—संयम रखना अथवा कोई बंधन न मानना।

विज्ञान के उपाय की सीमा

वैज्ञानिक अनुसंधान और विज्ञान के उपयोगों के ऊपर मैं जो सीमाएं लगाना चाहता हूं उसका यह तो मैंने केवल एक उदाहरण ही दिया है। इसलिए मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा—जैसा कि मैंने भारत के बहुत-सारे छात्रों से कहा है और चूंकि मुझे छात्र जगत का विश्वास प्राप्त होने और भारत भर में हजारों-लाखों छात्रों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त है, इसलिए मैं उनसे कहने में संकोच नहीं करूंगा कि 'उन्हें जीवन में कम से कम एक चीज के बारे में निश्चित होना चाहिए, अर्थात इस बारे में, कि वे इस दुनिया में किस लिए आये हैं।' मैं यही विचार पूरी नम्रता के साथ प्रोफेसरों और शिक्षकों के सामने रखता हूं और यही कारण है कि मैंने आधुनिक सभ्यता की—मैं पश्चिमी सभ्यता नहीं कहूंगा, हालांकि वर्तमान स्थिति में ये दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं—भौतिकवादी प्रकृति के बारे में और उसके विरुद्ध अक्सर लिखा और कहा है। लेकिन एक दूसरा पहलू भी है जो मैं आपके सामने रखना चाहूंगा। बहुत से छात्र ज्ञानार्जन के लिए विज्ञान नहीं पढ़ते, बल्कि विज्ञान पढ़कर नौकरी मिलेगी, इसलिए पढ़ते हैं। यह बात विज्ञान की शिक्षा लेने वाले कालेजों के छात्रों के बारे में ही नहीं बल्कि सभी कालेजों के छात्रों के बारे में सच है। लेकिन यह देखते हुए कि विज्ञान उन कुछ चीजों में से

है जिसमें विचार और प्रयोग की यथार्थता पर आग्रह रखना होता है, मैं आपको यह चेतावनी देना चाहता हूं । वह औरों की अपेक्षा आप ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे ।

ज्वलंत उदाहरण

मैं चाहूंगा कि हमारे अपने देश में जो दो महान वैज्ञानिक हुए हैं, उन्हें आप सामने रखें । ये दोनों हैं डा. जगदीशचन्द्र बोस तथा डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय । कम से कम विज्ञान के छात्रों के लिए तो ये जाने-माने नाम हैं । मेरा विश्वास है कि समस्त शिक्षित भारत के लिए ये नाम सुपरिचित हैं । इन दोनों ने 'विज्ञान के लिए विज्ञान' का उद्देश्य निश्चित किया और हम जानते हैं कि उनकी क्या उपलब्धियां हैं । उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि विज्ञान पढ़कर उन्हें धन या यश के रूप में क्या मिलेगा । उन्होंने विज्ञान के लिए विज्ञान का अध्ययन किया । सर जगदीशचन्द्र बोस ने एक बार मुझे बताया कि विज्ञान के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो । उस सिलसिले में मैंने कुछ नहीं कहा था, उससे बहुत पहले ही उन्होंने अपनी हद तक विज्ञान की सीमाएं स्वीकार कर ली थीं । मैं उनके कथन के आधार पर कह रहा हूं कि उनकी तमाम वैज्ञानिक खोज का उद्देश्य यही रहा है कि उस के सहारे हम अपने सृष्टा के और निकट पहुंच सकें ।

छात्रों की समस्या

लेकिन भारत के छात्रों के सामने एक भारी समस्या है । इस तरह की शिक्षा या उच्चतर शिक्षा पाने वाले छात्र मध्य वर्ग के परिवारों से आते हैं । यह हमारा और देश का दुर्भाग्य है कि मध्य वर्ग के लोग अपने हाथ का इस्तेमाल करना लगभग भूल चुके हैं और मैं मानता हूं कि अगर कोई लड़का अपनी आस्तीन चढ़ा कर सड़क पर काम करने वाले किसी मामूली मजदूर की तरह परिश्रम नहीं कर सकता तो उस लड़के के लिए विज्ञान के रहस्यों या वैज्ञानिक क्रिया-कलापों से प्राप्त होने वाले आनन्द को समझना असम्भव है ।

जब मैं रसायनशास्त्र पढ़ता था उस समय की मुझे अच्छी तरह याद है । मुझे वह सबसे नीरस विषय लगता था । अब मैं जानता हूं कि यह कितना दिलचस्प विषय है । हालांकि मैं अपने सभी शिक्षकों का भक्त हूं, लेकिन मैं कहना चाहता हूं कि इसमें मेरी गलती नहीं थी, मेरे शिक्षक की थी । उन्होंने मुझसे बड़े-बड़े और विकट लगने वाले नाम जबानी याद करने को कहा––जबकि मुझे यह भी नहीं मालूम था कि उनके मतलब क्या हैं । विभिन्न धातुएं भी उन्होंने मुझे कभी नहीं दिखाईं । मुझे बस हर चीज जबानी याद करनी पड़ी । वे अपने सावधानी से लिखे गए बड़े-बड़े नोट्स लाते थे और हमारे सामने पढ़ देते थे । हमें उनको लिख लेना और याद करना होता था । मैंने इसका विरोध किया और उसी एक विषय में फेल हो गया । और स्थिति यह हुई कि वे तो शायद मैट्रिकुलेशन परीक्षा में बैठने के लिए मुझे प्रमाण-पत्र भी नहीं देते । भाग्यवश, मैं उस समय बीमार था, उन्हें मुझ पर दया आ गई और उन्होंने प्रमाण-पत्र दे दिया । अगर ऐसा न होता तो वे रसायनशास्त्र के पर्चे में पास न होने के लिए अपने को दोष न देकर वास्तव में मुझे दोष देते और मुझे परीक्षा में बैठने से रोक लेते ।

व्यावहारिक ज्ञान व विज्ञान

अतः प्रोफेसर और शिक्षक––श्रीमान, मैं आपको और आपकी जाति को इनमें शामिल नहीं करता––भारतीय शिक्षक और प्रोफेसर तथा छात्र सभी एक ही नाव पर सवार हैं । विज्ञान मूलतः उन चीजों में से है जिसमें जब तक आपको व्यावहारिक ज्ञान न हो और आप उसका व्यावहारिक प्रयोग न करें, केवल सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं है । मैं नहीं जानता कि आप लोग किस हद तक व्यावहारिक प्रयोग करते हैं और किस हद तक आनन्द लेते हैं । अगर आप सही भावना से विज्ञान पढ़ते हैं तो मेरी राय में हमारे विचार और काम को सटीक बनाने में इससे अधिक महत्वपूर्ण व सहायक और कोई वस्तु नहीं है । जब तक हमारे दिमाग और हमारे हाथ मिल कर साथ-साथ नहीं चलेंगे तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे । दुर्भाग्यवश, हम कालेजों में पढ़ने वाले लोग भूल जाते हैं कि असली भारत गांवों में है, नगरों में नहीं ।

भारत में 7,00,000 गांव हैं और उदार शिक्षा प्राप्त करने वाले आप जैसे लोगों से अपेक्षा की जाती है कि आप इस शिक्षा को या इस शिक्षा के फल को गांवों में ले जायेंगे। अपने वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार गांवों के लोगों में आप कैसे करेंगे? क्या आप गांवों को ध्यान में रखते हुए विज्ञान पढ़ रहे हैं, और क्या आप इतने कुशल और व्यावहारिक बन सकेंगे कि इतने शानदार सामान वाले शानदार कालेजों में जो ज्ञान आप प्राप्त करते हैं, उसका उपयोग गांवों के लाभ के लिए करें ।

चरखा

और अन्त में मैं एक ऐसे यंत्र की बात आपके सामने रखता हूं जिस पर आप अपने वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग कर सकते हैं, और वह यंत्र है मामूली चीज––चरखा । भारत के सात लाख गांव आज भी इसी सीधे-सादे यंत्र के अभाव में दिन-प्रतिदिन विपन्न होते जा रहे हैं । सिर्फ एक सदी पहले भारत के घर-घर में चरखा था और उस समय भारत वैसा काहिल देश नहीं था, जैसा कि आज है । तब उसके किसान जो कुल जनसंख्या के 85 प्रतिशत हैं, साल में कम से कम चार महीने बेकार रहने को मजबूर नहीं थे । यह मैं नहीं बता रहा हूं, यह मेरी बनाई हुई बात नहीं है । यह एक अर्थशास्त्री श्री हिजिन बाटमक का कथन है । उन्होंने इधर 'कर-समिति' के सामने वक्तव्य दिया है और उनका कहना है कि भारत की बढ़ती हुई गरीबी घटने के बजाय तब तक बढ़ती रहेगी जब तक कि भारत के करोड़ों लोगों के पास कोई सहायक धंधा नहीं होगा । अब आप अपने वैज्ञानिक साधनों के सहारे पता चलाइए कि ऐसा कौन सा सहायक धंधा हो सकता है जो 1900 मील लम्बे और 1500 मील चौड़े धरातल पर फैले हुए 7,00,000 गांवों की जरूरतों को पूरा कर सकता है । मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि आप मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि केवल चरखा ही ऐसा कर सकने में समर्थ है ।

"मैं मशीन नहीं मशीनी भावना के विरुद्ध हूं"

मो. क. गांधी

मैं यह कहना चाहूंगा कि मेरी दृष्टि में अर्थशास्त्र तथा दर्शन विज्ञान एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। ऐसी आर्थिक उन्नति को मैं प्रश्रय नहीं देता जिसमें एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र दूसरे व्यक्ति अथवा राष्ट्र के हाथों कठपुतली बन जाये।

किसी भी यांत्रिक व्यवस्था का ध्येय मनुष्य के जीवन को सुखकर तथा मानसिक एवं नैतिक दृष्टि से समर्थ बनाना होना चाहिए।

बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करना मनुष्य का एक स्वाभाविक मोह हुआ करता है। यदि हम मान भी लें कि मशीनों का सहारा लेकर हम समस्त मनुष्य जाति के लिए आवश्यक सामग्री जुटा सकते हैं तो भी यह निश्चित है कि कोई मशीन किसी क्षेत्र विशेष में ही उत्पादन की मात्रा बढ़ा सकती है और इस प्रकार मशीनों से समान रूप से लाभान्वित होने के लिए हमें उत्पादों के वितरण की समस्या हल करने की ओर उत्पादन से भी अधिक ध्यान देना पड़ता है। दूसरी ओर यदि ये मशीनें प्रत्येक क्षेत्र में समान रूप से पहुंच जायें तो उत्पादन भी सभी स्थान पर समान हो जायेगा और फिर इस प्रकार उत्पादित वस्तुओं की कहीं मांग ही न रह जाएगी। इस प्रकार बड़े पैमाने पर उत्पादन की गति को पुनः मन्द करना होता है और आरम्भ में अत्यावश्यक जान पड़ने वाली मशीन आगे चलकर अपना महत्व खोने लगती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं किसी भी प्रकार के मशीनीकरण के विरुद्ध हूं। ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि सर्वसाधारण ने अपने रहन-सहन का स्तर उन्नत करने के लिए कोई न कोई योजनायें न गढ़ी हों। मशीनों का आज भी अपना स्थान है जो स्वाभाविक भी है।

मेरा तात्पर्य केवल इतना है कि मशीनें हमारे बीच जो भूमिका निभायें उससे मानवीय श्रम की गरिमा कायम रहनी चाहिए। खेत की गोड़ाई तो एक साधारण हल से भी हो जाती है–किन्तु उन्नत किस्म का हल हो तो यह एक अच्छी बात है। जो भी यांत्रिक विकास इस दिशा में हों, वे स्तुत्य हैं।

सुन्दर तो यह हो कि मशीनों का उपयोग हम तब करें जब हमारे सम्मुख अधिक महत्वपूर्ण दूसरे काम आकर खड़े हो जायें। ऐसी दशा में अधिक श्रम मांगने वाले अपेक्षाकृत कम महत्व के कार्य को मशीन से किया जा सकता है। उद्देश्य यह होना चाहिए कि मशीन मनुष्य को वह अवसर प्रदान करे जिससे कि मनुष्य अपने समय और श्रम का और अधिक सुन्दर सदुपयोग कर सके।

मैं मशीन नहीं, 'मशीन की भावना' के विरुद्ध हूं। यह भावना श्रम की बचत न होकर श्रम का सदुपयोग होनी चाहिए। मशीन कितनी ही उच्च कोटि की, कितनी ही अधिक उत्पादन क्षमता की और कितनी ही बड़ी क्यों न हो, मनुष्य से आगे नहीं जा सकती। मनुष्य एक बहुत बड़ी प्राणि जाति का नाम है और इस अर्थ में जो मनुष्य है, उसे गतिमान रहना चाहिए और देखना चाहिए कि उसके पांवों की संचारण क्षमता कहीं मशीन उससे छीन न ले।

मशीन हमारी गति को प्रगति दे सकती है। उदाहरण के लिए सिंगर सिलाई मशीन को लीजिये। यह अब तक के कुछ महत्वपूर्ण उपयोगी आविष्कारों में से एक है और इसके आविष्कार की अपनी कहानी भी बड़ी मनोरम है। श्री सिंगर अपनी पत्नी के हाथों को दिन-प्रतिदिन फर के कपड़ों की सिलाई में व्यस्त और परेशान देखते थे। उसके प्रति अपने प्रेमवश उन्होंने सिंगर सिलाई मशीन का विकास किया, जिससे कि वे पत्नी को अनावश्यक श्रम से मुक्ति दिला सकें। इस प्रकार उन्होंने इस मशीन द्वारा न केवल अपनी पत्नी का श्रम बचाया बल्कि उन सभी लोगों की सेवा की जो सिलाई मशीन को खरीद सकते हैं।

श्रम के उपयोग का तरीका सदैव परिस्थितियों के अनुसार एक परिवर्तन मांगता है और मनुष्य को चाहिए कि वह इसकी ओर विशेष ध्यान दे। इस दृष्टि से मशीन की भूमिका बेजोड़ है। काम करने के लिए हमें आकर्षक आदर्श परिस्थितियां और सुरुचि के अनुकूल वातावरण तो चाहिये ही। सिंगर सिलाई मशीन के आविष्कार के पीछे प्रेम की भावना थी और मनुष्य को सुखी बनाने का संकल्प था। मशीन ऐसी न हो जो एक मनुष्य को एक हजार मनुष्यों की क्षमता प्रदान कर दे और शेष नौ सौ निन्यानबे उस क्षमता से वंचित रह जायें।

मैं साधारण किस्म की ऐसी मशीनों के पक्ष में हूं जिनसे लोगों की बेकारी और बेरोजगार दूर हो सके और वे सुस्त होकर न बैठें। अपनी क्षमता के अनुसार मैं ने स्वयं सूत कातने का चरखा जनता के सामने रखा है और जहां तक मुझसे बन पड़ा है, भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हर संभव सुधार मैंने उसमें करने का प्रयत्न किया है।

औद्योगीकरण में मशीन की अपनी भूमिका है। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं। किन्तु इसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम उत्पादन अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करें। मैं समझता हूं कि जो भी मशीनें इस आवश्यकता की पूर्ति करेंगी उन्हें हमारे करोड़ों ग्रामीण तक अपनाने को उत्सुक रहेंगे। भले वे मशीनें अत्यन्त आधुनिकतम ही क्यों न हों, उनका स्वागत करना चाहिए। ●

खाद्यान्नों की पौष्टिकता : गांधीजी का अभिमत

गेहूं की पौष्टिकता

बिजली की चक्की में अनाज तेजी से पीसा जाता है। इससे उसमें रहे हुए प्रोटीन, स्टार्च, रेशे (सैल्युलोज) और खनिज क्षार बदल जाते हैं और आटे के गरम होने से उसमें की चरबी का तत्व उड़ जाता है। आटे को गूंधकर काम में लेने लायक बनाने में उसमें आटे के वजन का आधा पानी ही समा सकता है, जिसका नतीजा यह होता है कि उसमें का स्टार्च फूलता नहीं। चूंकि उसमें पानी कम समाता है, भोजन कम पौष्टिक बनता है। पूर्व में गूंधे हुए आटे से रोटी या पूरी बेली जाती है, जो आसानी से पकायी या सेकी जा सकती है, पर उसके बदले वह घी या तेल में तली जाती ह। ऐसा करने से उसके दोनों तरफ एक पतली पपड़ी उठ आती है। पश्चिम में रोटी को पोची व छेदवाली बनाने के लिए आटे में खमीर डाला जाता है। पर यह भी पूरी पौष्टिक नहीं होती, न उतनी स्वास्थ्यप्रद ही होती है जितनी कि वह कही जाती है। क्योंकि खमीर के उठने से उसके विटामिन तथा दूसरे तत्व नष्ट हो जाते हैं। अतः इस पुराने रिवाज से बनाया हुआ भोजन न तो जायकेदार होता है, न स्वास्थ्यप्रद; न वह पौष्टिक होता है, न आसानी से पचने लायक। जो थोड़ा बहुत पचता है, उसके लिए भी पित्तरस, जठर और 'पेन्क्रियाज' में से निकलने वाले पाचक रसों की बहुत ज्यादा परिमाण में जरूरत पड़ती है। आम लोग इस बात को जानते हैं, इसका सबूत यह है कि यह भोजन बीमार आदमी को नहीं दिया जाता। बिस्कुट भी इससे बेहतर नहीं कहे जा सकते। आसानी से पचने लायक न होने से वे कब्ज पैदा करते हैं, जो सभी रोगों की जड़ है। इसके अलावा, आटा गूंधने से पहले छाना जाता है और चोकर उससे अलग कर दिया जाता है, यह भी एक नुकसान है। आटे में छोटे-छोटे जन्तु आसानी से व शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं, इससे वह ज्यादा समय के लिए नहीं रखा जा सकता और उसके लाने ले जाने में और इस्तेमाल में वह काफी घट जाता है, जिससे उसका उपयोग बहुत महँगा पड़ता है।

सभी अनाजों की—खासकर गेहूं, बाजरा व ज्वार की—पोषणशक्ति बढ़ाने और उसमें से खूब आरोग्यदायक आहार बनाने के लिए लम्बे समय से प्रयोग करके तय की हुई प्रणाली से ऊपर की सभी कमियां दूर की जा सकती हैं।

नये तरीके के अनुसार गेहूं की अमुक मात्रा के साथ उसका साढ़े तीन गुना पानी मिलाया जाय, अर्थात एक कटोरी भरकर गेहूं और साढ़े-तीन कटोरी भरकर पानी लिया जाय, या वजन से 1 रतल गेहूं के साथ 4 रतल पानी मिलाया जाय। उसे हलकी आंच पर धीरे-धीरे उबाला जाय। उबलने से पहले इच्छा हो तो चम्मच भर शक्कर या गुड़ मिलाया जा सकता है। यदि सादा बरतन हो तो उस पर ढक्कन रखा जाय। उबालने से पहले यदि गेहूं को 12 से 18 घंटे तक पानी में भिगोकर रखा जाय तो लकड़ी कम जलेगी। यदि प्रेशर कुकर (दबाकर ढंका जा सके ऐसा पकाने का खास बरतन) काम में लिया जाय, तो गेहूं और पानी का प्रमाण तोल से $1:1\frac{3}{4}$ हो; यानी एक सेर गेहूं में पौने दो सेर पानी मिलायें। गेहूं की जाति के अनुसार भी पानी का परिमाण कम-ज्यादा हो सकता है। इस प्रकार पकाने या उबालने में करीब दो रतल पानी भाप बनकर उड़ जाता है और स्टार्च, चोकर और दूसरे तत्व पानी पीकर फूल जाते हैं तथा गेहूं सत्त्व वाले बनते हैं। इस प्रकार थोड़ा पानी बचे, तब तक उबालने का काम चालू रखना चाहिए। ठंडे होने से पहले गेहूं बचे हुए पानी को भी सोख लेंगे। इतना गरम भी न करें कि सारा पानी उड़ जाय, क्योंकि उससे गेहूं को पूरा पानी नहीं मिलेगा। न बरतन के बचे हुए पानी को फेंका ही जाय; क्योंकि फेंकने का अर्थ है गेहूं के उन तत्वों का नष्ट होना जो पानी में घुल जाते हैं। जब गेहूं पूरी तरह पक जायें, (जो दानों के फूलने से या दबाकर उनकी नरमी देखने से मालूम हो जाएगा), तो स्वादिष्ट बनाने के लिए उनमें थोड़ा नमक भी डाला जा सकता है।

—हरिजन सेवक

सोयाबीन

यह याद रखना चाहिए कि सोयाबीन एक अत्यन्त पौष्टिक आहार है। जितने खाद्य-पदार्थों का हमें पता है, उनमें सोयाबीन सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि उसमें कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम और क्षारों, प्रोटीन तथा चर्बी की मात्रा अधिक होती है। उससे मिलने वाली शक्ति का परिमाण प्रति पौंड 2,100 कैलोरी होता है, जबकि गेहूं का 1750 और चने का 1530 होता है। सोयाबीन में 40 प्रतिशत प्रोटीन और 4.3 प्रतिशत चर्बी तथा अंडे में 14.8 प्रतिशत प्रोटीन और 10.5 प्रतिशत चर्बी होती है। अतः सोयाबीन को प्रोटीन तथा चर्बीदार सामान्य भोजन के अलावा नहीं खाना चाहिए। गेहूं और घी की मात्रा भी कम कर देनी चाहिए और दाल को तो एकदम निकाल देना चाहिए क्योंकि सोयाबीन खुद ही एक अत्यन्त पौष्टिक दाल है।

लोग पूछताछ कर रहे हैं कि सोयाबीन कहां मिलती है, कैसे बोई जाती है और किस-किस रीति से पकाई जाती है। मैं बड़ोदा राज्य के फूड सर्वे आफिस से प्रकाशित एक गुजराती पत्रिका के मुख्य-मुख्य अंशों का

स्वतंत्र अनुवाद नीचे देता हूं। उसका मूल्य 1 पैसा है।

"सोयाबीन का पौधा एक फुट से लेकर सवा फुट तक ऊंचा होता है। हरएक फली में औसतन तीन दाने होते हैं। इसकी बहुत किस्में हैं। सोयाबीन सफेद, पीली, कुछ काली-सी और रंग-बिरंगी आदि अनेक तरह की होती है। पीली में प्रोटीन और चर्बी की मात्रा सबसे अधिक होती है। इस किस्म की सोयाबीन मांस और अंडे से अधिक पोषक होती है। चीनी लोग सोयाबीन को चावल के साथ खाते हैं। साधारण आटे के साथ इस का आटा मिला कर चपातियां भी बना सकते हैं। मिश्रण इस तरह किया जाय कि एक हिस्सा सोयाबीन का आटा हो और पांच हिस्से गेहूं का।

"सोयाबीन की खेती से जमीन अच्छी उपजाऊ हो जाती है। कारण यह है कि दूसरे पौधों की तरह जमीन से नाइट्रोजन लेने के बजाय सोयाबीन का पौधा उसे हवा से लेता है और इस तरह जमीन को ज़रखेज बनाता है।

"सोयाबीन दरअसल सभी किस्म की जमीनों में पैदा होती है। सबसे ज्यादा वह उस जमीन में पनपती है, जो कपास या अनाज की फसलों के लिए मुआफिक पड़ती है। नोनिया जमीन में अगर सोयाबीन बोई जाय तो वह जमीन सुधर जाती है। ऐसी जमीन में खाद अधिक देना चाहिए। बिजबिजाया हुआ गोबर, घास, पत्तियां और गोबर के घूरे का खाद सोयाबीन की खेती के लिए बहुत ही मुफीद है।

"सोयाबीन के लिए ऐसी जगह अनुकूल पड़ती है, जो न बहुत गर्म हो न बहुत सर्द। जहां 40 इंच से अधिक वर्षा नहीं होती, वहां इसका पौधा खूब पनपता है। उसे ऐसी जमीन में नहीं बोना चाहिए, जो पानी से तर रहती हो। यों आम तौर पर सोयाबीन को पहली बारिश पड़ने के बाद बोते हैं, पर वह किसी भी मौसम में बोई जा सकती है। अगर जमीन जल्दी-जल्दी खुश्क हो जाती हो तो खुश्क मौसम में हफ्ते में एक या दो बार उसे पानी की जरूरत पड़ती है।

"जमीन सबसे अच्छी तो गर्मियों में तैयार होती है। उसे खूब अच्छी तरह जोत डाला जाय और उस पर तेज धूप पड़ने दी जाय। फिर ढेलों को तोड़-तोड़कर मिट्टी को खूब महीन कर दिया जाय।

"दो-दो, तीन-तीन फुट के फासले की पंक्तियों में इसका बीज बोना चाहिए। पौधे कतारों में तीन-तीन, चार-चार इंच की दूरी पर होने चाहिए। इसकी निराई बार-बार होनी चाहिए।

"एक एकड़ जमीन में दस सेर से लेकर पन्द्रह सेर तक बीज लगता है। बीज दो इंच से ज्यादा गहरा नहीं बोना चाहिए। एक एकड़ के लिए दस गाड़ी खाद की जरूरत पड़ेगी।

"अंकुर निकल आने के बाद हलके हल से इसकी ठीक तरह से निराई होनी चाहिए। जमीन की सारी ऊपरी परत तोड़ देनी चाहिए।

"बोने के चार महीने बाद इसकी फलियां तोड़ने लायक हो जाती हैं। पत्तियां ज्यों ही पीली-पीली पड़ने और झड़ने लगें, त्यों ही फलियों को तोड़ लेना चाहिए। छीमियों के मुंह खुल जाने और उनमें से दाने झड़-झड़कर मिट्टी में मिल जाने तक छीमियां पौधों में नहीं लगी रहने देनी चाहिए।"

मूंगफली की खली

प्रो. डी. एल. सहस्रबुद्धे ने मूंगफली की खली पर अपनी जो सम्मति प्रकट की है, उसे एक मित्र ने मेरे पास भेजा। मूंगफली की खली को अवश्य आजमाना चाहिए।

आहार में सोयाबीन का उपयोग करने के लिए काफी उपदेश दिया जा रहा है, पर मूंगफली की तरफ जिसकी खेती हिन्दुस्तान में काफी मात्रा में होती है, उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि देना चाहिए। मूंगफली आहार की दृष्टि से बहुत मूल्यवान वस्तु है। मूंगफली स्वयं सहज में पच जाय ऐसी चीज नहीं है और अक्सर पाचन में यह गड़बड़ पैदा करती है। इसका कारण यह है कि इसमें तेल की मात्रा बहुत अधिक यानि पचास प्रतिशत होती है। मूंगफली के दानों को अच्छी तरह साफ करके उनमें से तेल निकाल लिया जाय, तो जो खली बाकी बचेगी वह मनुष्य के लिए बहुत पौष्टिक आहार का काम देगी और कोई नुकसान नहीं पहुंचाएगी। मूंगफली की खली का और सोयाबीन का पृथक्करण इस प्रकार है:

	मूंगफली की खली%	**सोयाबीन%**
आर्द्रता	8	8
प्रोटीन	49	43
कार्बोहाइड्रेट	24	19.5
चर्बी	10	20
रेशे	4	5
खनिज द्रव्य	5	4.5

मूंगफली की खली सोयाबीन की तुलना में बहुत अच्छी उतरती है। प्रोटीन और खनिज द्रव्य, जो अन्न के आवश्यक तत्व हैं, सोयाबीन की अपेक्षा मूंगफली की खली में अधिक होते हैं। 'एमिनो एसिड' के जो आवश्यक तत्व हैं, वे भी सोयाबीन के प्रोटीन से मूंगफली के प्रोटीन में अधिक होते हैं:

जरूरी एमिनो एसिड	**मूंगफली प्रोटीन%**	**सोयाबीन प्रोटीन%**
टिरोडाइन	5.5	1.86
एग्रिनाइन	13.5	5.12
हिस्टीडीन	1.88	1.39
लाइसिन	5.50	2.71
इस्टाइन	0.85	——

मूंगफली की खली खाने से अगर पित्त बढ़ता हो, तो थोड़ा सा गुड़ या जरा सा 'सोडा-बाई-कार्ब साथ लेने से पित्त बन्द हो जाएगा,

मूंगफली की खली का स्वाद बहुत अच्छा होता है। और खली को गरम करके अच्छी तरह बन्द किए हुए बरतन में रख दें, तो वह काफी मुद्दत तक वैसी ही रह सकती है।

मूंगफली की खली की मिठाई और खाने की दूसरी कई सामान्य चीजें बन सकती हैं। इसलिए मूंगफली की खली की उपयोगिता विषयक ज्ञान का प्रचार करने का प्रयत्न देश में होना चाहिए। यह गुण में निश्चय ही सोयाबीन के समान, बल्कि उससे भी बढ़कर है।

—हरिजन सेवक : 1-2-1936

हरी सब्जियां

आप खुराक या विटामिनों के बारे में लिखी हुई किसी भी आधुनिक पुस्तक को उठाकर देखिए, तो आपको पता चलेगा कि उसमें हर भोजन के साथ थोड़ी मात्रा में बिना पकाई हुई हरी पत्तियां या भाजियां खाने की जोरदार सिफारिश की गयी है। बेशक, उन पर जमी हुई धूल को पूरी तरह साफ करने के लिए उन्हें हमेशा 5-6 बार पानी से अच्छी तरह धोना चाहिए। सिर्फ तोड़ने की थोड़ी सी तकलीफ उठाने से ही ये पत्तियां हर गांव में मिल सकती हैं। फिर भी उन्हें सिर्फ शहरों की ही खाने की चीज समझा जाता है। हिन्दुस्तान के बहुत से हिस्सों में गांव वाले दाल और चावल या रोटी और बहुत सी मिर्च पर गुजर करते हैं जो शरीर को नुकसान करती है। चूंकि गांवों का आर्थिक पुनर्गठन खुराक के सुधार से शुरू किया गया है, इसलिए सादी से सादी और सस्ती से सस्ती खुराक का पता लगाना चाहिए, जो गांव वालों को उनकी खोई हुई तन्दुरुस्ती फिर से पाने में मदद कर सके।

गांव वालों के हर भोजन में अगर हरी पत्तियां जुड़ जायं, तो वे ऐसी बहुत सी बीमारियों से बच सकेंगे, जिनके आज वे शिकार बने हुए हैं। गांव वालों के भोजन में विटामिनों की कमी है। उनमें से बहुत से विटामिन हरी पत्तियों से मिल सकते हैं। एक प्रसिद्ध अंग्रेज डाक्टर ने मुझे दिल्ली में कहा था कि हरी पत्ता-भाजियों का ठीक-ठीक उपयोग खुराक सम्बन्धी रूढ़ विचारों में क्रान्ति पैदा कर देगा और आज दूध से जो कुछ पोषण मिलता है उसका बहुत सा हिस्सा हरी पत्ता-भाजियों से मिल सकेगा। बेशक, इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान के जंगली घास-चारे में छिपी हुई जो बेशुमार हरी पत्तियां मिलती हैं, उनके पोषक तत्वों की तफसीलवार जांच की जाय और उनके बारे में कड़ी मेहनत से शोध की जाय।

✦ ✦ ✦

मैंने सरसों, सूआ, शलजम, गाजर, मूली और मटर की हरी पत्तियां खाई थीं। इसके अलावा यह कहना शायद ही जरूरी हो कि मूली, शलजम और गाजर कच्ची हालत में भी खाए जा सकते हैं। गाजर, मूली और शलजम को या उनकी पत्तियों को पकाना पैसे और 'अच्छे' जायके की बरबादी कहा है, क्योंकि बिना पकाई हुई हरी भाजियों में एक खास कुदरती अच्छा जायका होता है, जो पकाने से खतम हो जाता है।

—हरिजन सेवक : 15.2.35

आम की गुठली

मुझे एक दोस्त ने **करण्ट सायन्स** नामक पत्रिका की एक कतरन भेजी है, जिसमें यह बताया गया है कि आम की गुठली की गरी अनाज और चारे की जगह खासा अच्छा काम दे सकती है।

हाल के अन्दाज के मुताबिक हिन्दुस्तान में खली, गवार, कपास वगैरह की ठोस खुराक गायों, बैलों, बछड़ों वगैरह की कुल आबादी के 29.1 प्रतिशत भाग के लिए ही काफी होती है और घास-चारा सिर्फ 78.5 प्रतिशत के लिए ही पूरा होता है। इसमें भेड़ों, बकरियों, घोड़ों, खच्चरों, गधों वगैरह की गिनती शामिल नहीं है। अकाल के समय वह कमी और बढ़ जाती है। इज्जतनगर की 'न्युट्रीशनल रिसर्च लैबोरेटरी' इस कमी को पूरा करने के लिए दाने-चारे की नई-नई चीजों की खोज कर रही है। वहां आम की गुठली की गरी को आदमियों और जानवरों को खिलाने के बारे में भी खोज हुई है। आज तो ये गुठलियां कूड़ा समझ कर फेंक दी जाती हैं। लेकिन रासायनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि इसमें प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट यानी चीनी और चरबी काफी मात्रा में पायी जाती है क्रूड (अशोधित) प्रोटीन 8.5 प्रतिशत, ईथर एक्स्ट्रेक्ट (ईथर निसार) 8.85 प्रतिशत और घुल जाने वाले कार्बोहाइड्रेट 74.49 प्रतिशत)।

इस छानबीन से आम की गुठली की गरी एक अनाज की गिनती में आ गयी है। इससे पता चला है कि गुठलियां आज रद्दी समझकर फेंक दी जाती हैं, उनसे 7 करोड़ पौंड पचाया जा सकने वाला प्रोटीन और लगभग 78 करोड़ पौंड स्टार्च (निशास्ता) मिल सकता है। यह अंदाजा लगाया गया है कि यह पचाया जा सकने वाला प्रोटीन 80 पौंड जौ में से जितना निकलता है, उतना ही 100 पौंड आम की गुठली की गरी में से भी निकलता है और 86 पौंड जौ के बराबर स्टार्च (निशास्ता) भी निकलता है।

मुझे इस गरी के उपयोग का बचपन से ही पता था। मगर आज तक शायद ही किसी ने खुराक के रूप में इसका उपयोग करने के लिए इसे संभाल कर रखने की बात सोची हो।

—हरिजन सेवक : 26-5-46

भैंस का दूध

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैंस के दूध-घी का कितना पक्षपात करते हैं। असल में हम निकट का स्वार्थ देखते हैं, दूर के लाभ का विचार नहीं करते, नहीं तो यह साफ है कि अन्त में गाय ही ज्यादा उपयोगी है। गाय के घी और मक्खन का एक खास तरह का पीला रंग होता है, जिसमें भैंस के मक्खन से कहीं अधिक कैरोटीन यानी विटामिन 'ए' रहता है। उसमें एक खास तरह का स्वाद भी होता है। मुझसे मिलने आने वाले विदेशी यात्री सेवाग्राम में गाय का शुद्ध दूध पी कर खुश हो जाते हैं और यूरोप में तो भैंस के घी और मक्खन के बारे में कोई जानता ही नहीं। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहां भैंस का घी-दूध इतना पसन्द किया जाता है। इससे गाय की बरबादी हुई है। इसलिए मैं कहता हूं कि हम सिर्फ गाय पर ही जोर न देंगे तो गाय नहीं बच सकेगी।

ताड़ी व नीरा

एक पक्ष ऐसा है जो निश्चित (मर्यादित) मात्रा में शराब पीने का समर्थन करता है और कहता है कि इससे फायदा होता है। मुझे इस दलील में कुछ सार नहीं लगता। पर घड़ी भर के लिए इस दलील को मान लें, तो भी अनेक ऐसे लोगों के खातिर, जो कि मर्यादा में रह ही नहीं सकते, इस चीज का त्याग करना चाहिए।

पारसी भाइयों ने ताड़ी का बहुत समर्थन किया है। वे कहते हैं कि ताड़ी में मादकता तो है, मगर ताड़ी एक खुराक है और दूसरी खुराक को हजम करने में मदद पहुंचाती है। इस दलील पर मैंने खूब विचार किया है और इस बारे में काफी पढ़ा भी है। मगर ताड़ी पीनेवाले बहुत से गरीबों की मैंने जो दुर्दशा देखी है, उस पर से मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि ताड़ी को मनुष्य की खुराक में स्थान देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ताड़ी में जो गुण माने गए हैं वे सब हमें दूसरी खुराक में मिल जाते हैं। ताड़ी खजूरी के रस से बनती है। खजूरी के शुद्ध रस में मादकता बिलकुल नहीं होती। उसे नीरा कहते हैं। ताजी नीरा को ऐसी की ऐसी पीने से कई लोगों को दस्त साफ आता है। मैंने खुद नीरा पीकर देखी है। मुझ पर उसका ऐसा असर नहीं हुआ। परन्तु वह खुराक का काम तो अच्छी तरह से देती है। चाय इत्यादि के बदले मनुष्य सबेरे नीरा पी ले, तो उसे दूसरा कुछ पीने या खाने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए।

नीरा को गन्ने के रस की तरह पकाया जाय, तो उससे बहुत अच्छा गुड़ तैयार होता है। खजूरी ताड़ की एक किस्म है। हमारे देश में अनेक प्रकार के ताड़ कुदरती तौर पर उगते हैं। उन सबमें से नीरा निकल सकती है। नीरा ऐसी चीज है जिसे निकालने की जगह पर ही तुरन्त पीना अच्छा है। नीरा में मादकता जल्दी पैदा हो जाती है। इसलिए जहां उसका तुरन्त उपयोग न हो सके, वहां उसका गुड़ बना लिया जाय, तो वह गन्ने के गुड़ की जगह ले सकता है। कई लोग मानते हैं कि ताड़-गुड़ गन्ने के गुड़ से अधिक गुणकारी है। उसमें मिठास कम होती है, इसलिए वह गन्ने के गुड़ की अपेक्षा अधिक मात्रा में खाया जा सकता है। जिन ताड़ों के रस से ताड़ी बनाई जाती है उन्हीं से गुड़ बनाया जाय तो हिन्दुस्तान में गुड़ और खांड की कभी तंगी पैदा न हो और गरीबों को सस्ते दाम में अच्छा गुड़ मिल सकेगा।

ताड़-गुड़ की मिश्री और शक्कर भी बनाई जा सकती है। मगर गुड़ शक्कर या चीनी से बहुत अधिक गुणकारी है। गुड़ में जो क्षार होते हैं वे शक्कर या चीनी में नहीं होते। जैसे बिना भूसी का आटा और बिना भूसी का चावल होता है, वैसे ही बिना क्षार की शक्कर को समझना चाहिए। अर्थात यह कहा जा सकता है कि खुराक जितनी अधिक स्वाभाविक स्थिति में खाई जाय, उतना ही अधिक पोषण उसमें से हमें मिलना है।

(आरोग्य की कुंजी : पृष्ठ 22-24)

वैज्ञानिकों का दायित्व

(शेषांश पृष्ठ 581 का)

अच्छी दशा में रखेंगे तो आप अपने ज्ञान का उपयोग उन लाखों लोगों के लाभ के लिए करेंगे जिनके श्रम के ऊपर आपकी शिक्षा निर्भर है।

आपने जो थैली मुझे दी है उसका उपयोग मैं दरिद्रनारायण के लिए करूंगा। सच्चे दरिद्रनारायण के दर्शन मैंने भी अभी नहीं किये हैं बल्कि मैं उन्हें केवल कल्पना से जानता हूं। जिन कातने वालों को आपका यह पैसा दिया जायगा वे भी सच्चे दरिद्रनारायण नहीं हैं। सच्चे दरिद्रनारायण तो दूर-दराज के गांवों में बसते हैं जिन्हें कि अभी तक खोजा नहीं गया है। मुझे आपके प्राध्यापकों ने बतलाया है कि आप जिन रसायनों पर कार्य कर रहे हैं उनमें से कुछ के गुणधर्म जानने-खोजने के लिए कई वर्ष तक प्रयोग करने पड़ेंगे। लेकिन उन गांवों को खोजने का यत्न कौन करेगा? जैसे कि आपकी प्रयोगशालाओं में कुछ प्रयोग चौबीसों घंटे चलते रहते हैं, उसी प्रकार आपके हृदय के उस विशाल कोने में सदा उन लाखों दरिद्रों के हित की गर्मी बनी रहनी चाहिए।

साधारण लोगों की तुलना में मुझे आपसे कहीं अधिक अपेक्षाएं हैं। थोड़ा सा काम कर देने के उपरांत आप संतुष्ट होकर यह न कहें कि 'जो कुछ हम कर सकते थे, हमने कर दिया है, अब हम टेनिस और बिलियर्ड खेलेंगे।' बिलियर्ड और टेनिस खेलते समय भी तुम्हें उस बड़े ऋण को नहीं भूलना चाहिए जो कि दिनोंदिन तुम्हारे विरुद्ध बढ़ता जा रहा है।... किंतु मेरे जैसे मंगतों की इच्छा तो पूरी नहीं हो सकती। आपने मुझे जो कुछ दिया है उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूं। मैंने आपसे जो प्रार्थना की है आप उस पर विचार करें और उसे कार्यरूप दें। गरीब औरतों द्वारा बनाया हुआ कपड़ा पहनने से आप डरें नहीं, और खादी पहनने पर नौकरी से निकाले जाने से भी आप डरें नहीं। मैं चाहता हूं कि आप मनुष्य बनें और अपनी मान्यताओं को लेकर दृढ़ता के साथ संसार के सामने खड़े हों। करोड़ों मूक लोगों के लिए आपके मन में जो उत्साह है वह धन की तलाश के कारण समाप्त नहीं हो जाना चाहिए।

मैं आपको बतलाता हूं कि आपने जो वायरलेस यंत्र बनाया है उससे कहीं बड़ा यंत्र आप बना सकते हैं और इसे बनाने में बाहरी शोध कार्य की नहीं, आंतरिक शोध की आवश्यकता होगी—और ऐसा सब शोध कार्य बेकार है जो कि आंतरिक शोध से संबद्ध नहीं है। और आपका यह बड़ा वायरलेस यंत्र आपके हृदयों का उन करोड़ों लोगों के हृदयों से सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ होगा।

जब तक कि आपकी सभी खोजों का उद्देश्य गरीबों की भलाई नहीं है, आपकी सभी कर्मशालाएं वास्तव में शैतान की कर्मशालाओं जैसी ही बनकर रह जाएंगी, जैसा कि राजगोपालाचारी ने मजाक में कहा था। यदि आप मनन की मनःस्थित में हैं, जैसा कि सभी शोध छात्रों को होना चाहिए, तो (मैं समझता हूं) मैंने आपको मनन के लिए पर्याप्त सामग्री दे दी है।

आहार संबंधी गांधी जी के विविध विचार

चीनी से बढ़िया गुड़

डाक्टरों की राय के अनुसार गुड़ सफेद चीनी की अपेक्षा कहीं अधिक पौष्टिक है, और अगर गांववालों ने गुड़ बनाना छोड़ दिया तो उनके बाल-बच्चों के आहार में से एक जरूरी चीज निकल जायगी। वे खुद शायद गुड़ के बिना अपना काम चला सकेंगे, पर उनके बच्चों की शारीरिक ताकत गुड़ के अभाव में निश्चय ही घट जाएगी। ...अगर गुड़ बनाना जारी रहा और लोगों ने उसका उपयोग करना न छोड़ा, तो ग्रामवासियों का करोड़ों रुपया उनके पास ही रहेगा।

(हरिजन सेवक; 8-2-1935)

पालिश बनाम बिना पालिश किया हुआ चावल

अगर चावल पुरानी पद्धति से गांवों में ही कूटा जाए, तो उसकी मजदूरी हाथ-कुटाई करने वाली बहनों के काम आएगी और चावल खाने वाले लाखों लोगों को जिन्हें आज मिलों के पालिश किए हुए चावल से केवल स्टार्च मिलता है, हाथ कुटे चावल से कुछ पोषक तत्व भी मिलेंगे। चावल पैदा करने वाले प्रदेशों में जहां-तहां जो भयावनी चावल की मिलें खड़ी दिखाई देती हैं उनका कारण मनुष्य का अमर्यादित लोभ ही है, जो न तो अपनी तृप्ति के लिए अपने पंजे में आए हुए लोगों के स्वास्थ्य की परवाह करता है और न उनके सुख की। अगर लोकमत शक्तिशाली होता तो वह चावल की मिलों के मालिकों से इस व्यापार को--जो समूचे राष्ट्र के स्वास्थ्य को खोखला बनाता है और गरीबों को जीविका कमाने के एक ईमानदारी-पूर्ण साधन से वंचित करता है--बंद करने का अनुरोध करता और हाथ-कुटाई के चावलों के ही उपयोग का आग्रह रखकर चावल कूटनेवाली मिलों का चलना अशक्य कर देता।

(हरिजन सेवक; 26-10-34)

गेहूं का चोकर युक्त आटा

यह तो सभी डाक्टरों की राय है कि बिना चोकर का आटा उतना ही हानिकर है जितना पालिश किया हुआ चावल। बाजार में जो महीन आटा या मैदा बिकता है उसके मुकाबले घर की चक्की का पिसा हुआ बिना चला गेहूं का आटा अच्छा भी होता है और सस्ता भी। सस्ता इसलिए होता है कि पिसाई का पैसा बच जाता है। फिर घर के पिसे हुए आटे का वजन कम नहीं होता। महीन आटे या मैदे में तौल कम हो जाता है। गेहूं का सबसे पौष्टिक अंश उसके चोकर में होता है। गेहूं की भूसी चालकर निकाल डालने से उसके पौष्टिक तत्व की बहुत बड़ी हानि होती है। ग्रामवासी या दूसरे लोग, जो घर की चक्की का पिसा आटा बिना चला हुआ खाते हैं, पैसे के साथ-साथ अपना स्वास्थ्य भी नष्ट होने से बचा लेते हैं। आज आटे की मिलें जो लाखों रुपए कमा रही हैं उस रकम का काफी बड़ा हिस्सा गांवों में हाथ की चक्कियां फिर से चलने लगने से गांवों में ही रहेगा और वह सत्पात्र गरीबों के बीच बंटता रहेगा।

(हरिजन सेवक; 8-3-1935)

मनुष्य अपनी शक्ति के सर्वोच्च स्तर पर कार्य कर सके, इसके लिए उसे पूरा पोषण पहुंचाने की वनस्पति-जगत की अपार क्षमता की आधुनिक औषधि-विज्ञान ने अभी तक कोई जांच-पड़ताल नहीं की है। उसने तो बस मांस या बहुत हुआ तो दूध और दूध से प्राप्त दूसरे पदार्थों का ही सहारा पकड़ रखा है। भारतीय चिकित्सकों का, जो परम्परा से शाकाहारी हैं, एक कर्त्तव्य है कि वे इस कार्य को पूरा करें। विटामिनों की तेजी से हो रही खोजों से और इस संभावना से कि अधिक महत्व के विटामिनों को सूर्य से सीधा पाया जा सकता है, ऐसा प्रकट होता है कि आहार के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति होने जा रही है और उसके विषय में अभी तक जो स्वीकृत सिद्धान्त चले आ रहे थे तथा औषधि-विज्ञान अभी तक जिन विश्वासों का पोषण करता आ रहा था, उनमें शीघ्र ही परिवर्तन होने वाला है।

(यंग इण्डिया; 18-7-1929)

खादी उद्योग का विकास

शैवाल नाग

खादी या खद्दर से अभिप्राय है हाथ से काते हुए सूत से हाथ करघे द्वारा बुने सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र। हाथ से सूत कातने व हाथ करघे से बुनने का उद्योग हमारे देश का प्राचीन उद्योग है। इतिहास साक्षी है कि ईसा के जन्म से लगभग 1500 वर्ष पहले भी भारत में यह उद्योग फल-फूल रहा था। उस समय भी हमारे कारीगर जगप्रसिद्ध थे। मध्ययुगीन यूरोप के संभ्रांत परिवारों में भारतीय हथबुने वस्त्र बहुत प्रसिद्ध थे। अंग्रेजों के आगमन के बाद इस प्राचीन उद्योग का ह्रास हो गया। परन्तु सन् 1921 में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन के दौरान खादी के व्यापक उत्पादन को प्रोत्साहन मिला तथा गांधीजी के सुझाव पर सन् 1922 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने देश में 20 लाख चरखे वितरित किए। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप कांग्रेस के सदस्यों ने यह व्रत लिया कि वे सदैव खादी के वस्त्र ही पहनेंगे। धीरे-धीरे खादी आजादी के प्रतीक के रूप में भारत के जनमानस में बैठ गयी। इससे खादी उद्योग को बहुत बढ़ावा मिला और 1923 तक यह उद्योग काफी प्रगति कर चुका था। उस समय इस उद्योग में 23 लाख रुपए की पूंजी लगी हुई थी। अब कांग्रेस ने 'अखिल भारतीय खादी बोर्ड' की स्थापना की और भारत भर में उसकी शाखाएं खोलीं। 1925 में खादी बोर्ड को पुनः गठित किया गया तथा उसे 'अखिल भारतीय चरखा संघ' नामक एक स्वशासित संस्था का रूप दे दिया गया।

प्रगति

खादी उद्योग की प्रगति को कई चरणों में विभक्त किया जा सकता है। सन् 1935 तक यह उद्योग मूलतः अपने निर्माण की अवस्था में रहा। इस अवधि में हाथ करघे पर काम करने वाले कारीगरों को इस उद्योग ने प्रेरित किया। हजारों संख्या में कारीगरों को नौकरी मिली। 1925 से 1935 के बीच खादी का वार्षिक उत्पादन 19.03 लाख रुपए से बढ़कर 32-44 लाख रुपए तक पहुंचा तथा इसकी बिक्री 33.61 लाख से बढ़कर 46.90 लाख रुपए तक पहुंची।

सन् 1945 तक के दूसरे चरण में चरखे के डिजाइन में सुधार किए गए। कारीगरों की मजदूरी में भी वृद्धि की गई। खादी का उत्पादन अवश्य बढ़ा पर इसकी बिक्री घट गई। कुछ अन्य संस्थाओं ने भी इसका निर्माण शुरू किया पर ये संस्थाएं 'अखिल भारतीय चरखा संघ' के अंतर्गत नहीं थीं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान खादी उद्योग ने काफी प्रगति की। युद्ध के कारण मिल के बने कपड़ों की कीमत बहुत बढ़ गयी। पर उस समय भी खादी अखिल भारतीय चरखा संघ द्वारा तय की हुई कीमत पर बिकती थी। युद्ध के दौरान इसकी सालाना बिक्री 77.63 लाख रुपए से बढ़कर 149.86 लाख रुपए तक पहुंची। वैसे युद्ध के अन्त तक, 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ उत्पादन केन्द्र बंद होने के कारण, इस उद्योग को कुछ हानि उठानी पड़ी। 1945 में इस उद्योग को व्यापारिक स्तर से हटाकर आत्मनिर्भरता का रूप दे दिया गया। मसलन एक गांव में होने वाले कपड़ों की खपत को गांव के लोग स्वयं बुनकर पूरा कर लेते थे। खादी उद्योग के इस नए रूप से खादी का उत्पादन 1950-51 में 127.45 लाख रुपए के बराबर तथा बिक्री 164.99 लाख रुपए तक पहुंची।

खादी और ग्रामोद्योग

1953 में इस उद्योग को 'अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग कमीशन' के अंतर्गत ले लिया गया। इस संस्था ने खादी के उत्पादन को अपने हाथ में ले लिया। इससे खादी के उत्पादन और बिक्री दोनों में वृद्धि हुई। 1957-58 में इसकी बिक्री 777.5 लाख रुपए तक पहुंच गई। अप्रैल 1957 में इसे पुनः एक स्वशासित संस्था का रूप दिया गया। इसका नाम 'खादी और ग्रामोद्योग आयोग' रखा गया।

खादी और ग्रामोद्योग आयोग ने खादी उद्योग के प्रसार के लिए कई महत्वपूर्ण कार्य किए। चरखों के वितरण, खादी प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना, खादी निर्माण में अनुसंधान सुविधाएं तथा योग्य और दक्ष कारीगरों को उपलब्ध कराने आदि के क्षेत्र में इस आयोग ने अनेक साहसिक कदम उठाए।

चरखे

खादी के उत्पादन के लिए इस्तेमाल किए गए चरखों में 'खोदा चरखा,' 'किसान चरखा' तथा 'पेटी चरखा' मुख्य हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक नए चरखे का आविष्कार हुआ है जिसे 'अम्बर चरखा' कहा जाता है।

ऊपर बताए गए तीनों प्रकार के चरखों में अम्बर चरखा अपनी सहज मौलिक कार्यविधि के कारण श्रेष्ठ समझा जाता है ।

सूती खादी का उत्पादन भारत के प्रायः सभी भागों में होता है जिनमें उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, बिहार, राजस्थान और पंजाब मुख्य हैं। रेशमी खादी का उत्पादन मुख्यतः असम, पश्चिम बंगाल, मैसूर, जम्मू और कश्मीर, मद्रास, आंध्र प्रदेश तथा बिहार में होता है । ऊनी खादी अधिकतर बिहार, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर तथा बंबई में तैयार की जाती है ।

खादी का उत्पादन (व्यापार के लिए)

	मात्रा (लाख वर्ग गज)	मूल्य (रुपए)
1953-54	96.8	180.0
1954-55	158.3	328.7
1955-56	203.3	421.3
1956-57	264.8	562.5
1957-58	349.2	763.2

भारत में खादी के प्रसार और प्रचार का श्रेय अगर किसी को है तो वे हैं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी । गांधीजी नें भारत के इस पुराने उद्योग को नया जीवन दिया । वे अक्सर कहते थे "भारतवासियों के लिए अगर कोई आदर्श परिधान हो सकता है तो वह है खादी" भारत के जन-मानस ने उनके इस वक्तव्य को अपनाया ।

खादी बापू का स्वप्न था । आज उनका स्वप्न साकार हुआ है पर अभी भी खादी उद्योग की प्रगति के लिए बहुत कुछ करना है ।

आजादी की पोशाक खादी

मेरे विचार में खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है, और इसलिए जवाहरलाल के काव्यमय शब्दों में कहूं तो वह 'हिन्दुस्तान की आजादी की पोशाक' है ।

इसके सिवा, खादीवृत्ति का अर्थ है, जीवन के लिए जरूरी चीजों की उत्पत्ति और उनके बंटवारे का विकेन्द्रीकरण। इसलिए अब तक जो सिद्धान्त बना है वह यह है कि हर एक गांव को अपनी जरूरत की सब चीजें खुद पैदा कर लेनी चाहियें, और शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिए कुछ अधिक उत्पत्ति करनी चाहिए ।

अलबत्ता, बड़े-बड़े उद्योग-धंधों को तो एक जगह केन्द्रित करके राष्ट्र के अधीन रखना होगा । लेकिन समूचा देश मिलकर गांवों में जिन बड़े-बड़े आर्थिक उद्योगों को चलाएगा, उनके सामने ये कोई चीज न रहेंगे ।

खादी के उत्पादन में ये काम शामिल हैं—कपास बोना, कपास चुनना, उसे झाड़-झटक कर साफ करना और ओटना, रुई पींजना, पूनी बनाना, सूत कातना, सूत को मांड लगाना, सूत रंगना, उसका ताना भरना और बाना तैयार करना, सूत बुनना और कपड़ा धोना। इनमें से रंगसाजी को छोड़कर बाकी सारे काम खादी के सिलसिले में जरूरी और महत्व के हैं, और उन्हें किए बिना काम नहीं चल सकता । इनमें से हर एक काम गांवों में अच्छी तरह हो सकता है, और सच तो यह है कि अखिल भारत चरखा-संघ समूचे हिन्दुस्तान के जिन कई गांवों में काम कर रहा है, वहां ये सारे काम आज हो रहे हैं।

('रचनात्मक कार्यक्रम' से)

ग्रामोद्योग संबंधी गांधीजी के विचार

ग्रामोद्योगों की योजना के पीछे मेरी कल्पना तो यह है कि हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकतायें गांवों की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहियें, और जहां यह मालूम हो कि अमुक चीजें गांवों में मिलती ही नहीं, वहां हमें देखना चाहिए कि उन चीजों को थोड़े परिश्रम और संगठन से बना कर, गांव वाले उनसे कुछ मुनाफा उठा सकते हैं या नहीं । मुनाफे का अंदाज लगाने में हमें अपना नहीं, किन्तु गांव वालों का खयाल रखना चाहिए । संभव है कि शुरू में हमें साधारण भाव से कुछ अधिक देना पड़े और चीज हलकी मिले । पर अगर हम उन चीजों के बनाने वालों के काम में रस लें और यह आग्रह रखें कि वे बढ़िया से बढ़िया चीजें तैयार करें, और सिर्फ आग्रह ही नहीं रखें बल्कि उन लोगों को पूरी मदद भी दें, तो यह हो नहीं सकता कि गांवों की बनी चीजों में दिन-दिन तरक्की न होती जाय ।

—हरिजन सेवक; 30-11-1934

खादी और ग्रामोद्योग

खादी के मुकाबले देहात में चलने वाले और देहात के लिए जरूरी दूसरे धन्धों की बात अलग है । उन सब धन्धों में अपनी राजी-खुशी से मजदूरी करने की बात बहुत उपयोगी होने जैसी नहीं है । फिर, उनमें से हर एक धन्धा या उद्योग ऐसा है, जिसमें एक खास तादाद में ही लोगों को मजदूरी मिल सकती है । इसलिए ये उद्योग खादी के मुख्य काम में सहायक हो सकते हैं । खादी के अभाव में उनकी कोई हस्ती नहीं, और उनके बिना खादी का गौरव या शोभा नहीं है । हाथ से पीसना, हाथ से कूटना और पछोरना, साबुन बनाना, कागज बनाना, चमड़ा कमाना, तेल पेरना और इस तरह के सामाजिक जीवन के लिए जरूरी और महत्व के दूसरे धन्धों के बिना गांवों की आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती, यानी गांव स्वयं पूर्ण घटक नहीं बन सकते ।

हरिजन सेवक; 30-11-1934

व्यर्थ पदार्थों से कम्पोस्ट खाद

पादप उद्योग संस्थान (इंस्टीटयूट आफ प्लान्ट इण्डस्ट्री), इन्दौर ने समय-समय पर अनेक किसानोपयोगी लेख प्रकाशित किये। प्रस्तुत लेख संस्थान द्वारा प्रकाशित पहला लेख था जिसमें बेकार समझी जाने वाली वस्तुओं से कम्पोस्ट खाद बनाने के तरीकों और उसके लाभ का वर्णन है। गांधीजी को यह लेख इतना पसंद आया था कि उन्होंने उसे फुटनोटों सहित 'हरिजन सेवक' में उद्धृत कराया था। —सम्पादक

बहुत लम्बे समय से यह बात समझ ली गई है कि हिन्दुस्तान की मिट्टियों में उचित और व्यवस्थित ढंग से प्राणिज तत्वों की कमी पूरी करना या उन्हें फिर से पैदा करना खेती की पैदावार को बढ़ाने की किसी भी सफल योजना का एक जरूरी हिस्सा है। यह भी उतनी ही अच्छी तरह समझ लिया गया है कि खलिहानों में तैयार किए जाने वाले खाद के मौजूदा साधन खाद की जरूरी मात्रा पूरी नहीं कर सकते। इसके अलावा, यह बात तो है ही कि इस खाद के तैयार होने में नाइट्रोजन का बड़ा हिस्सा बरबाद हो जाता है और इस खाद के ज्यादा गुणकारी बनने में बहुत लम्बा समय लग जाता है। हरा खाद शायद इसकी जगह ले सकता है, लेकिन मौसमी हवाओं की अनिश्चितता के कारण हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सों में उसका मिलना अनिश्चित ही रहता है। हरे खाद का मिट्टी में गलना या सड़ना भी कुछ समय के लिए पौधों के भोजन की कमी पूरी करने की कुदरती प्रक्रिया में रुकावट डालता है, जो उष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों में जमीन के उपजाऊपन को कायम रखने में बड़े महत्व का काम करती है। साफ है कि जमीन को ह्यूमस तैयार करने के बोझ से मुक्त करके उसे जैव तत्वों की कमी करने और फसल को बढ़ाने के काम में ही लगे रहने देना सबसे अच्छा रास्ता है। इसका सबसे आसान तरीका यह है कि खेत का काम चालू रखते हुए



गांधी दर्शन प्रदर्शनी, दिल्ली का मधु मक्खी पालन खंड

खेती की ऐसी सारी बेकार चीजों का, जिनकी ईंधन या ढोरों के चारे के रूप में जरूरत नहीं होती, फायदा उठाकर उप-पैदावार के रूप में ह्यूमस तैयार किया जाय।

यहां इस बात पर जोर देना जरूरी है कि खलिहान या बाड़ों के खाद की जगह लेने वाली कोई भी चीज बनावट में ह्यूमस के साथ ज्यादा से ज्यादा समानता रखने वाली होनी चाहिए। यही इन्दौर पद्धति का ध्येय है, जिसे वह सिद्ध करती है। इस तरह इन्दौर पद्धति का उद्देश्य उन तरीकों के उद्देश्य से बिलकुल अलग है, जो बहुत ज्यादा नाइट्रोजनवाला सक्रिय खाद तैयार करते हैं, जिसकी खास उपयोगिता बनावटी खादों जैसी ही होती है।

पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस लेख में सिर्फ हिन्दुस्तानी किसानों की हालतों पर लागू होने वाले तरीकों की काम-चलाऊ रूपरेखा ही थोड़े में दी गयी है।

हिन्दुस्तान की सिंचाई की फसलों के लिए खलिहान खाद बहुत कीमती माना गया है। लेकिन बिना सिंचाई वाली फसलों के खेतों में भी समय-समय पर थोड़ा खाद देते रहना उतना ही जरूरी है। कम्पोस्ट बनाने की इन्दौर पद्धति जल्दी ही बड़ी मात्रा में ज्यादा अच्छा खाद तैयार करती है। इसके अलावा, यह खाद देते ही तुरन्त फसल को सक्रिय रूप से फायदा पहुंचाता है जबकि खलिहान का खाद हमेशा ऐसा नहीं करता। अगर सही ढंग से तैयार किया जाय, तो इन्दौर पद्धति का

खाद के गड्ढे

गांव में खाद के खड्ढे खोदने की जरूरत के बारे में बताए गए श्री ब्रेन के सुझावों के साथ आम तौर से सहमत होते हुए, मगर साथ ही उनकी इस राय से असहमत होते हुए कि खाद के खड्डे 6 फुट चौड़े और 6 फुट गहरे होने चाहिए, गांधी जी ने लिखा :

श्री ब्रेन ने जैसे खड्डों के लिए लिखा है, वैसों की ही आमतौर पर सिफारिश की जाती है, यह मैं जानता हूं। मगर मेरी राय में श्री पूरे ने जो एक फुट के छिछले खड्डों की सिफारिश की है, वह अधिक वैज्ञानिक एवं लाभप्रद है। उसमें खुदाई की मजदूरी कम होती है और खाद निकालने की मजदूरी या तो बिलकुल ही नहीं होती या बहुत थोड़ी होती है। फिर उस मैले का खाद भी लगभग एक सप्ताह में ही बन जाता है। क्योंकि जमीन की सतह से 6 से 9 इंच तक की गहराई में रहने वाले जंतुओं, पर हवा और सूर्य की किरणों का असर होता है, जिससे खड्डे में दबाए जाने वाले मैले के बनिस्बत कहीं अच्छा खाद तैयार हो जाता है।

लेकिन मैला ठिकाने लगाने के तरीके कितने ही तरह के क्यों न हों, याद रखने की मुख्य बात तो यह है कि सब मैले को खड्डे में गाड़ा जरूर जाए। इससे दुहरा लाभ होता है--एक तो ग्रामवासियों की तन्दुरुस्ती ठीक रहती है, दूसरे खड्डों में दब कर बना हुआ खाद खेतों में डालने से फसल की वृद्धि होकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती है। यह याद रखना चाहिए कि मैले के अलावा जानवरों के शरीर के अवयव आदि चीजें अलग गाड़ी जानी चाहिए।

इन्दौर के 'इन्स्टीटयूट आफ प्लान्ट इण्डस्ट्री' में होने वाले काम ने, जो श्री एलबर्ट हावर्ड के इस दिशा में किए गए बीस बरस के परिश्रम का नतीजा है, अब निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि इन उसूलों को बड़ी आसानी से अमल में लाया जा सकता है। कम्पोस्ट की इन्दौर पद्धति व्यावहारिक टेकनिक (तरीका) बताती है और विकास के नए रास्ते खोलती है। खेतों और शहरों में कचरा, मैला, वगैरह चीजों के रूप में जो अपार कुदरती साधन मौजूद हैं, उनका मिश्र खाद बनाकर खेतों में उपयोग किया जा सकता है और फायदा उठाया जा सकता है। खली के निकास व गोबर के ईंधन के रूप में होने वाले उपयोग पर हमला किए बिना इससे बहुत सा खाद मिल सकता है। साथ ही बनावटी खादों के इस्तेमाल में किफायत भी की जा सकती है, जो जैव तत्वों की मदद से ही अच्छे से अच्छा नतीजा ला सकते हैं।

'युटिलाइजेशन आफ ऐग्रिकल्चरल वेस्ट' ('हावर्ड एंड वाड, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1931) किताब में इस पद्धति से संबंध रखने वाली समस्याओं और उसूलों की चर्चा की गयी है और इन्दौर

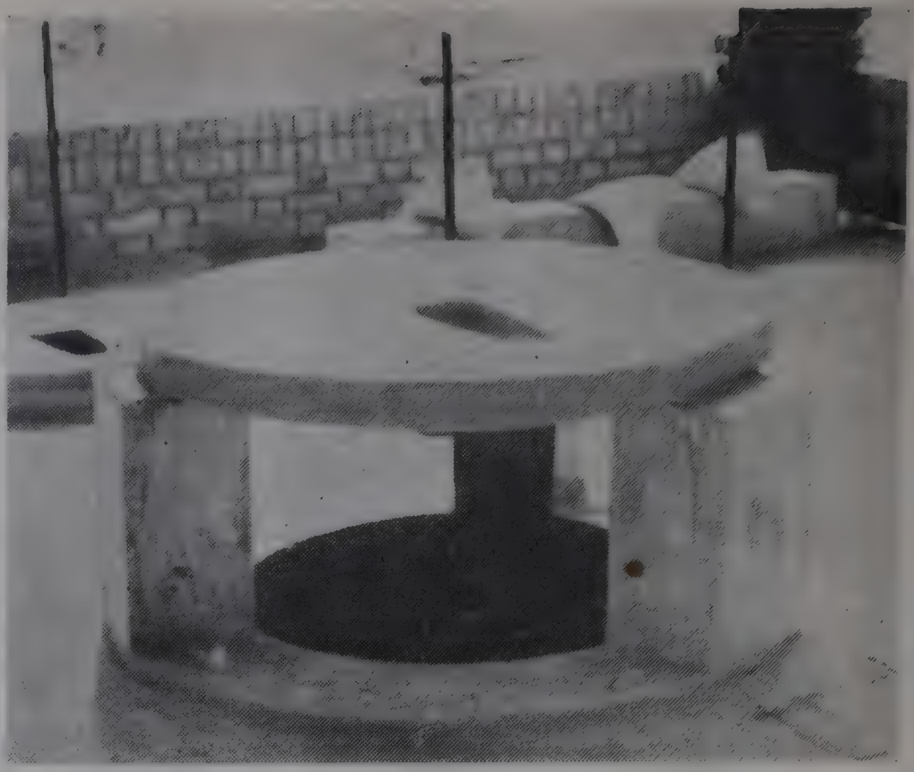
मिश्र खाद तीन महीने बाद काम में लिया जा सकता है और तब वह गहरे भूरे या काफी के रंग का बिखरा पदार्थ बन जाता है, जिसमें 20 प्रतिशत के करीब कुछ अंशों में गला हुआ छोटी डालियों वाला हिस्सा होता है, जिसका अंगुलियों से दबाकर तुरन्त भूसा किया जा सकता है। बाकी का हिस्सा गीला होने के कारण (और इसलिए उसके बिखरे कण फूले हुए होते हैं) उम्दा होता है और वह एक इंच में छः छेदवाली छलनी से छन जाता है। इस खाद में नाइट्रोजन की मात्रा, इस्तेमाल किए हुए कचरे वगैरा के गुण के मुताबिक 0.8 से लेकर 1.0 फी सदी या इस से ज्यादा होती है। 100 या 125 गाड़ी खेत में मिलने वाले सब तरह कचरे और गोठान में मिलने वाली पेशाब जज्ब की हुई आधी मिट्टी के साथ एक चौथाई भाग ताजा गोबर मिलाने से दो बैलों के पीछे हर साल करीब 50 गाड़ी मिश्र खाद तैयार हो सकता है। आधी बची हुई पेशाब वाली मिट्टी का भी बड़ा अच्छा खाद होता है और वह सीधे खेतों में डाला जा सकता है। अगर इससे ज्यादा कचरा मिल सके, तो सारे गोबर और पेशाबवाली मिट्टी से करीब 150 गाड़ी मिश्र खाद बनाया

जा सकता है। इन्दौर में एक गाड़ी मिश्र खाद बनाने का खर्च साढ़े आठ आने आता है। यहां 8 घंटे काम करने के लिए हर मर्द को 7 आने रोज और हर औरत को 5 आने रोज मजदूरी दी जाती है।

इन्दौर पद्धति की रूपरेखा

दूसरी तरह की बेकार जाने वाली खेत की चीजों, कचरे वगैरा के साथ ताजा गोबर, लकड़ी की राख और पेशाब वाली मिट्टी के मिश्रण को खड्डों में जल्दी सड़ाना ही इस तरीके का खास काम है। खड्डों की गहराई 2 फुट से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। वे 14 फुट चौड़े होने चाहियें। उनकी मामूली लम्बाई 30 फुट होनी चाहिए। खड्डों का यह नाप बड़े पैमाने और छोट पैमाने दोनों तरह के काम के लिए ठीक रहेगा। उदाहरण के लिए, खड्डे का 3 फुट लम्बा हिस्सा दो जोड़ी बैलों के नीचे बिछाए हुए बिछौने से 6 दिन में भर सकता है। इसके बाद 3 फुट का पास का हिस्सा भरा जाय। आगे चलकर हरएक हिस्से को स्वतंत्र इकाई समझा जाय। खड्डे में डाली हुई चीजों पर पानी का एक सा छिड़काव किया जाता है, जिसमें थोड़ा गोबर, लकड़ी की राख, पेशाबवाली मिट्टी और सक्रिय खड्डे में से निकाला हुआ कुकुरमुत्ता वाला खाद मिला रहता है। सक्रिय रूप से सड़ने वाला कम्पोस्ट जल्दी ही कुकुरमुत्ता उगने से सफ़ेद हो जाता है। बाद में यह नए खड्डों के कचरे, गोबर वगैरा को जोरों से सड़ाने के काम में लिया जाता है। पहलेपहल जब कुकुरमुत्ता वाला खाद नहीं मिलता, तो ढोरों के बिछौने के साथ थोड़ी हरी पत्तियां बिछाकर कुकुरमुत्ता उगाने में मदद ली जाती है। खड्डे की चीजों को गलाने का काम शुरू करने वाले पदार्थ-स्टार्टर-में पूरी सक्रियता 3-4 बार ऐसी क्रिया हो चुकने के बाद आती है। खड्डे की सतह पर पानी छिड़कने और भीतर की चीजों को पलटते रहने से नमी और हवा को नियमित रखकर इसकी सक्रियता कायम रखी जाती है। इसमें दूसरी बार स्टार्टर की थोड़ी मात्रा जोड़ी जाती है, जो इस वक्त 30 दिन से ज्यादा पुराने खड्डे से लिया जाता है। सारा ढेर जल्दी ही बहुत गरम हो जाता है और लम्बे समय तक वैसा बना रहता है। व्यवस्थित ढंग से सब काम किया जाय, तो बड़ा अच्छा मिश्रण तैयार होता है और उसे काफी हवा भी मिलती रहती है। पानी का साधारण छिड़काव एकदम चीजों को गलाना शुरू कर देता है, जो आखिर तक लगातार चालू रहता है और अन्त में बिलकुल एकसा उम्दा खाद बन जाती है।

गोठान के पास और संभव हो तो पानी के किसी साधन के पास अच्छी तरह सूखा हुआ जमीन का हिस्सा चुन लीजिए। 30 फुट × 14 फुट × 2 फुट का खड्डा बनाने के लिए एक फुट मिट्टी खोदकर



व्यर्थ पदार्थों से खाद बनाने का गड्ढा

किनारों पर फैला दीजिए, ऐसे खड्डे दो-दो की जोड़ में खोदे जायं। उनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर रहे। एक जोड़ के दो खड्डों के बीच 6 फुट की दूरी रहे और ऐसी हर जोड़ी एक-दूसरे से 12 फुट दूर रहे। तैयार कम्पोस्ट के ढेर और बारिश में लगाए जाने वाले ढेर इन चौड़ी जगहों पर किये जाते हैं, जो हरएक ढेर से सीधे गाड़ी में खाद भर कर ले जाने के लिए भी उपयोगी होती हैं।

ढोरों की पेशाब में कीमती खाद के तत्व होते हैं और खलिहान का खाद बनाने के मामूली तरीके में वह ज्यादातर बरबाद ही होती है। गोठान में पक्का फर्श बनाना खर्चीला होता है। और बैलों के लिए अच्छा नहीं होता। ढोरों के उठने-बैठने और सोने के लिए खुली मिट्टी का मुलायम, गरम और सूखा बिछौना सस्ते में बनाया जा सकता है। मिट्टी की 6 इंच की परत गन्दगी फैलाए बिना ढोरों की सारी पेशाब जज्ब करने के लिए काफी होगी, बशर्ते कि ज्यादा गीले हिस्से रोज साफ कर दिए जायं, उनमें थोड़ी नयी मिट्टी डाल दी जाय और मिट्टी पर थोड़ा न खाया हुआ घास बिछा दिया जाय। हर चार महीने में यह पेशाबवाली मिट्टी हटा दी जाय और उसकी जगह नयी मिट्टी डाली जाय। उसका ज्यादा अच्छा हिस्सा कम्पोस्ट बनाने के लिए रख छोड़ा जाय और ज्यादा बड़े ढेले सीधे खेतों में डाल दिए जायें। यह बड़ी जल्दी काम करने वाला खाद होता है, जो खास तौर पर सिंचाई की फसल को ऊपर से दिया जाता है।

हरिजन सेवक; 17-8-1935

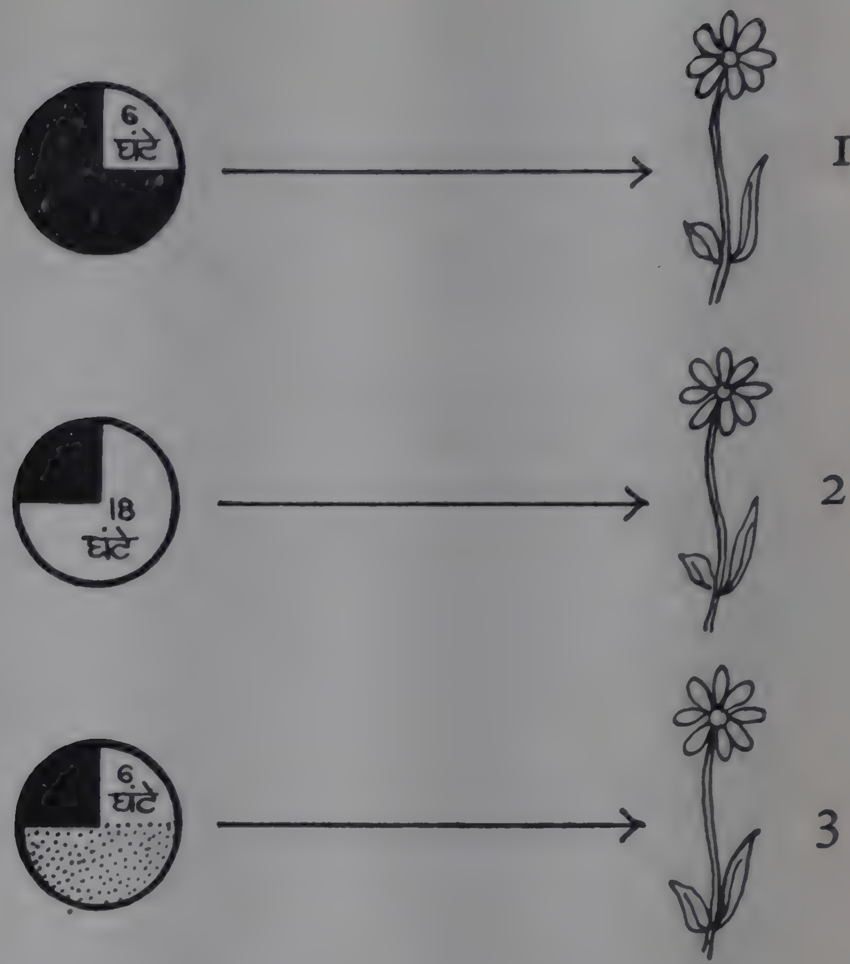
गांवों में चमड़े का धंधा

हमारे गांवों का चमड़े का धंधा उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वयं भारतवर्ष। यह कोई नहीं बतला सकता कि चमड़ा कमाने का यह धंधा कब अनादर की चीज समझा जाने लगा। प्राचीन काल में तो यह बात हुई नहीं होगी। लेकिन हम जानते हैं कि आज हमारे यहां के इस एक अत्यन्त जरूरी और उपयोगी उद्योग ने संभवतः दस लाख आदमियों को पुश्तैनी अछूत बना दिया है। वह कुदिन ही होगा जिस दिन से इस अभागे देश में परिश्रम को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे होंगे और इस प्रकार उसकी उपेक्षा करने लगे होंगे।

—हरिजन सेवक; 19-4-1934

फूल कैसे खिलते हैं ?

अरुणकुमार सेन



दिन के दीप्ति काल का पौधों में फूलों के उत्पादन पर प्रभाव : 1. अल्पदीप्तिकाली पौधा जिसे 6 घंटे का प्रकाश ही काफी होता है; 2. दीर्घदीप्तिकाली पौधा जिसे 18 घंटे का प्रकाश चाहिए; 3. मध्यवर्ती पौधा जो दोनों स्थितियों में सामान्य रूप से फूलों का उत्पादन कर सकता है।

वसन्त ऋतु में फूलों से लदी पेड़ों की डालियां और फूलों से भरी क्यारियां किस का मन अपनी ओर आकर्षित नहीं करतीं। ये फूल प्रकृति में केवल सौंदर्य ही प्रदान नहीं करते वरन् इनके ऊपर पौधों की वंश वृद्धि का भी पूरा भार होता है। ये फूल ही हैं जिन से आगे चलकर बीज बनते हैं जिन्हें बोकर हम नये पेड़-पौधों को उगाते हैं। हम जानते हैं कि अलग-अलग मौसम की अलग-अलग फसलें होती हैं।

प्रत्येक पौधा जीवन-पर्यन्त वृद्धि करता रहता है। पौधे की वृद्धि में सूर्य के प्रकाश का मुख्य हाथ है। एक पौधे को किस तीव्रता का प्रकाश मिलता है और कितने समय तक मिलता है यह भी बहुत महत्वपूर्ण है। मंद प्रकाश में उग रहे पौधों के तने प्रायः पतले, लम्बे और निर्बल हो जाते हैं। साथ ही उनकी पत्तियां गूदेदार हो जाती हैं और उनका रंग पीला पड़ जाता है। प्रकाश में रखने पर वृद्धि तो अवश्य कम हो जाती है पर वे स्वस्थ रहते हैं। पौधे की सक्रियता प्रकाश पर ही निर्भर है।

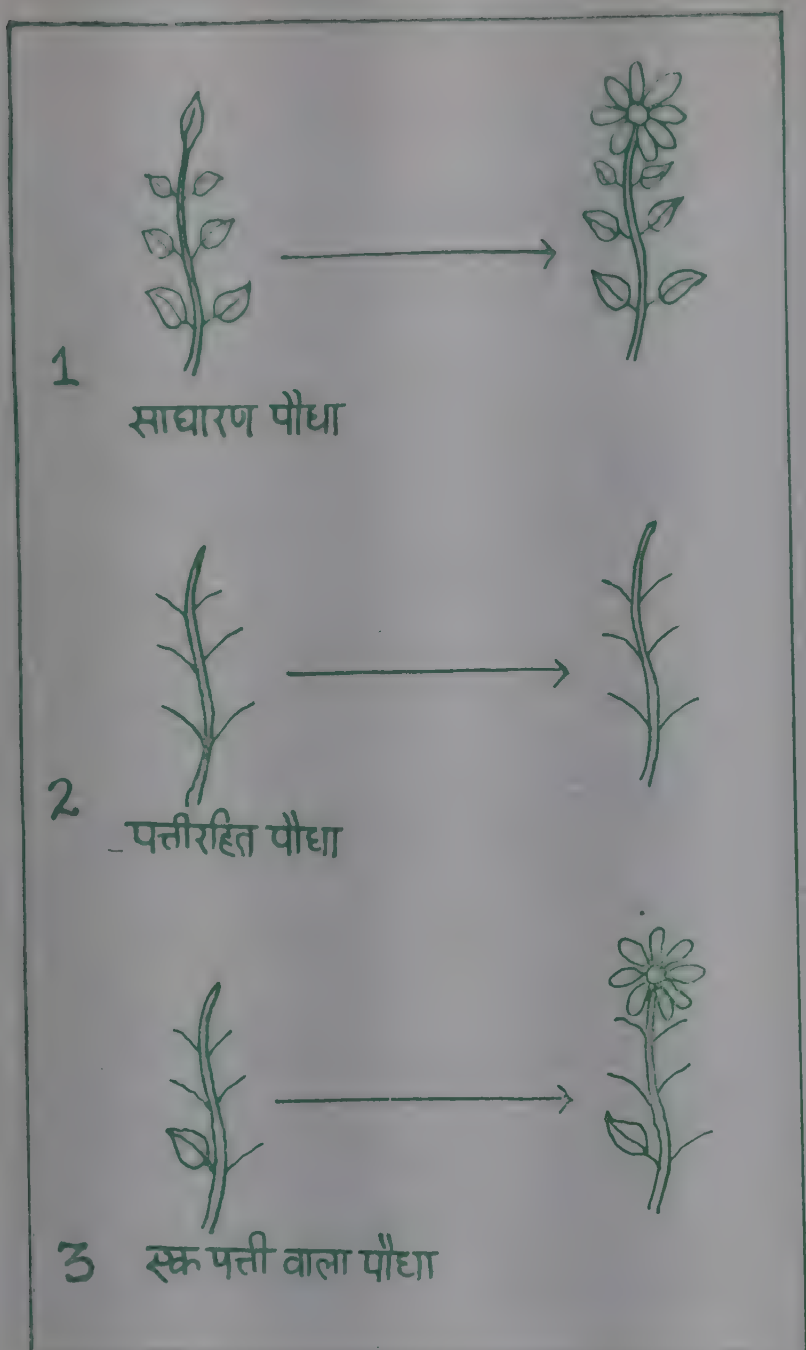
प्रकाश और लम्बाई

मंद प्रकाश की भांति ही सूर्य का तीव्र प्रकाश भी पौधों को बहुत नुक्सान पहुंचाता है। परन्तु प्रकाश की कुछ ऐसी तरंग लम्बाइयां भी हैं जो अधिकांश पौधों की वृद्धि के लिए उपयुक्त होती हैं। वैसे अलग-अलग जाति के पौधों की सर्वोत्तम वृद्धि के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रकाश जरूरी होता है। उदाहरणार्थ टमाटर, घास आदि को खूब फलने-फूलने के लिए काफी तेज प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश की तीव्रता जितनी अधिक होगी उनकी वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत फर्न जैसे कुछ पौधे मंद प्रकाश में अधिक वृद्धि करते हैं। इसके अलावा गुलाब जैसे पौधे ऊपर बताई गई दोनों ही स्थितियों में वृद्धि करते हैं।

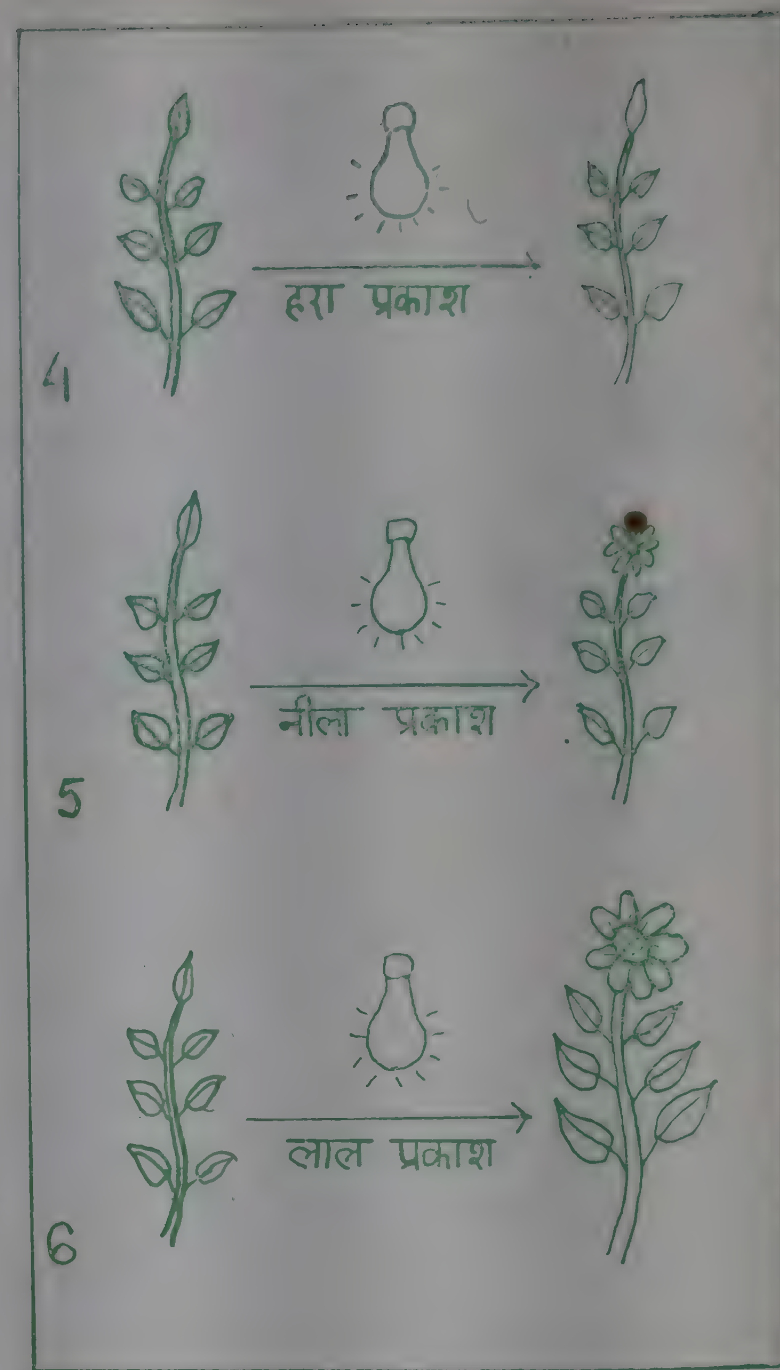
दीप्तिकाल

सूर्य के प्रकाश की भिन्न-भिन्न तरंग लम्बाइयों वाली किरणें भी पौधों की वृद्धि पर काफी प्रभाव डालती हैं चाहे उनकी तीव्रता एक जैसी ही क्यों न हो। प्रयोगों द्वारा पता लगाया गया है कि नीले रंग के प्रकाश में रखे हुए पौधे प्रायः छोटे रह जाते हैं जब कि लाल रंग के प्रकाश में उनकी लम्बाई बहुत अधिक बढ़ जाती है। सूर्यवर्णक्रम के मध्य भाग की किरणें, जो प्रायः हरे रंग की होती हैं अप्रभावशाली होती हैं। एक प्रयोग में जब सेम और जौ जैसे पौधों को छोटी तरंग लम्बाई वाले प्रकाश से प्रभावित कराया गया तो उनके तने की वृद्धि रुक गई। इन्हीं पौधों को जब अधिक तरंग लम्बाई वाले प्रकाश से प्रभावित कराया गया तो उनके तने की रुकी हुई वृद्धि फिर शुरू हो गई। परन्तु इस प्रकार के प्रकाश का असर पत्तियों पर उलटा-पड़ता है।

दिन के प्रकाश की अवधि भी पौधों में फूलों व फलों की वृद्धि पर



पत्तियां ही प्रकाश-संवेदी होती है : 1. साधारण पौधा जो प्रकाश की पर्याप्त मात्रा मिल जाने पर फूलने लगता है; 2. पत्ती रहित पौधे को सूर्य का प्रकाश यदि पर्याप्त मात्रा में भी प्राप्त हो तो वह नहीं फूलता; 3. एक पौधा जिसमें केवल एक ही पत्ती है जिसके कारण उसमें फूल आने लगे।



विभिन्न रंगों वाले प्रकाश का फूलों के उत्पादन पर प्रभाव; 4. हरा प्रकाश अप्रभावशाली होता है; 5. नीले प्रकाश में फूल तो बनते हैं लेकिन बड़े नहीं होते 6. लाल प्रकाश फूलों के उत्पादन के लिये सबसे उत्तम है।

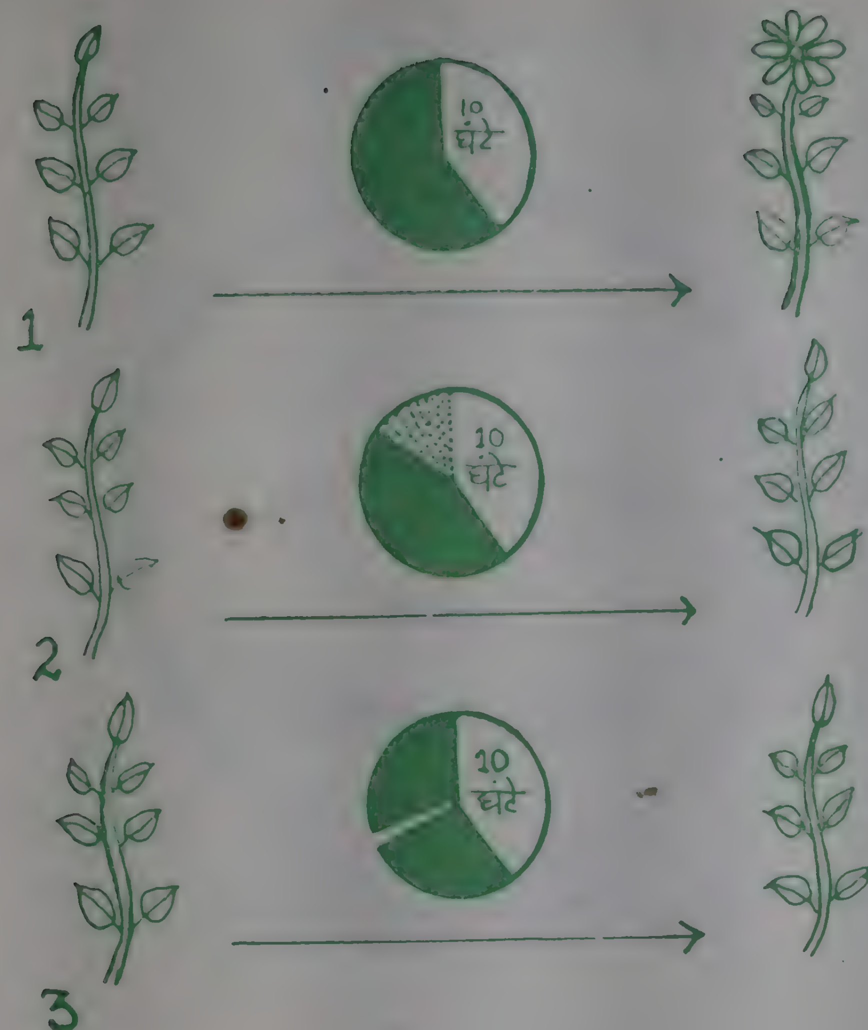
बहुत प्रभाव डालती है। किसी पौधे को जितने समय तक प्रकाश मिलता रहता है उसे 'दीप्तिकाल' कहते हैं। यह सभी ऋतुओं में अलग-अलग होता है। दीप्तिकाल के प्रति पौधों के संवेदन को 'दीप्तिकालिकता' कहते हैं। भिन्न-भिन्न जातियों के पौधों की दीप्तिकालिता भिन्न-भिन्न होती है।

सामान्यतया, वृद्धि की कुछ निश्चित अवधि के बाद प्रजनन होता है। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जो प्रतिदिन कम समय तक ही प्रकाश पाने पर फूल उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार के पौधों को 'अल्पदीप्तिकाली' पौधे कहते हैं। उदाहरणार्थ चावल, छोटा गोखरू, स्ट्राबेरी गुलदाउदी आदि को प्रकाश यदि 12 घंटे से कम भी मिले तो भी पर्याप्त होता है। गार्नर और एलार्ड ने 1950 में देखा कि तम्बाकू के पौधे गर्मियों में 10-15 फुट लम्बे हो जाते हैं, पर फूलते नहीं और सर्दियों में 5 फुट के पौधों में ही फूल आ जाते हैं।

कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं जिनमें फूल पैदा होने के लिए काफी लम्बे दिनों की आवश्यकता होती है। इन्हें 'दीर्घदीप्तिकाली' पौधे कहते हैं। ऐसे पौधे गर्मियों के लम्बे दिनों में फूल उत्पन्न करते हैं। यदि उनको रात में कुछ देर तक कृत्रिम प्रकाश में रख दिया जाए तो इनमें जल्दी फूल आ जाते हैं। गेहूं, चुकन्दर आदि ऐसे ही पौधे हैं।

तीसरे प्रकार के पौधे वे होते हैं जिनको फूलने के लिए कोई खास समय के लिए प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, जैसे टमाटर, घिया, कपास, सूर्यमुखी आदि।

अल्पदीप्तिकाली पौधों को यदि ऐसे मौसम में उगाया जाय या ऐसे स्थान पर ले जाया जाय जहां दिन में सूर्य का प्रकाश 12 घंटे से अधिक समय के लिए होता हो, तो उनमें फूल नहीं आते और यदि आते भी हैं तो बहुत धीरे। ठीक यही दशा दीर्घदीप्तिकाली पौधों की होती है जब उन्हें अल्पदीप्तिकाल वाले स्थानों या मौसम में उगाया जाता है।



निश्चित दीप्तिकाल का फूलों के उत्पादन पर प्रभाव : १. अल्पदीप्तिकाल और लम्बी रातों के कारण फूलों का उत्पादन काफी अच्छा होता है; २. अल्पदीप्तिकाल के साथ-साथ यदि रातें छोटी हों तो फूलों का उत्पादन रुक जाता है; ३. अल्प-दीप्तिकाल और लम्बी रातों के साथ यदि रात्रि के अन्धकार में कोई व्यवधान हो जाये तो भी उत्पादन रुक जाता है

शायद यही कारण ह कि प्रकृति भिन्न-भिन्न मौसमों में अपना शृंगार भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलों से करती है।

इस संबंध में एक विचित्र बात यह है कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी यदि पौधों को कुछ समय के लिए उनका विशेष दीप्तिकाल प्राप्त हो जाता है तो भी उनमें फूलों का उत्पादन शुरू हो जाता है। चाहे बाद में वह दीप्तिकाल वही रहे या नहीं। इस प्रकार के कई प्रयोग छोटे- छोटे गोखरू के पौधों पर किए गए हैं।

पत्ती और फूल का सम्बन्ध

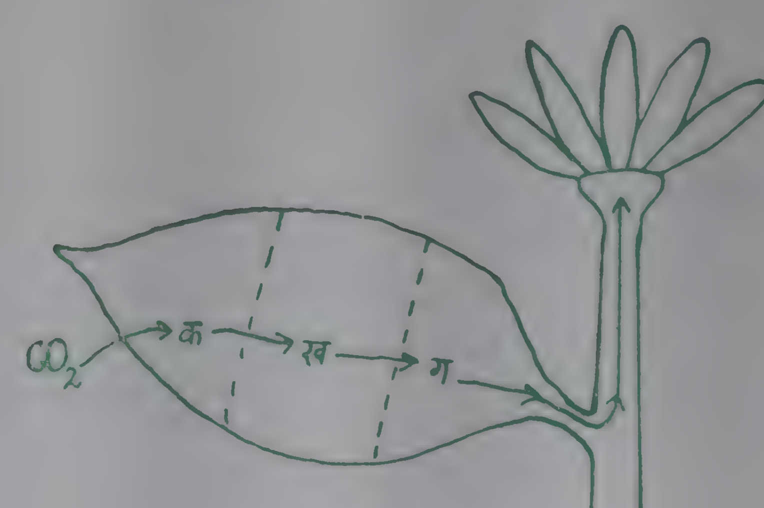
पौधों की पत्तियां ही उनका सबसे अधिक संवेदी भाग होता है। कितनी विचित्र बात है कि एक ऐसे पौधे को जिसकी पत्तियां तोड़ दी गई हों, अनुकूल दीप्तिकाल में भी फूलों को देने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर पौधे में यदि एक भी पत्ती बाकी है तो उसमें अनुकूल दीप्तिकाल प्राप्त हो जाने पर फूल बनाना शुरू हो जाते हैं। अलग-अलग पौधों की पत्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकाश-संवेदी गुण होते हैं। ये पौधों के अन्य गुणों पर निर्भर होते हैं। पौधों की आयु का भी पत्तियों के प्रकाश-संवेदी गुण पर काफी प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया नये पत्ते प्रकाश संवेदी नहीं होते। पर जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते हैं उनकी प्रकाश-संवेदनशीलता बढ़ती जाती है। कुछ पौधों की अधिक आयु वाली पत्तियां भी प्रकाश संवेदी नहीं होतीं।

पौधों में फूलों के 'बनने' के लिए जितनी आवश्यकता दैनिक दीप्तिकाल की है उतनी ही आवश्यकता रात्रि के अंधकार की भी है। इसके बिना पौधों में फूल नहीं खिल सकते। एक अल्पदीप्तिकाली पौधे को दीर्घ रात्रि काल की आवश्यकता होती है जब कि दीर्घदीप्तिकाली पौधे को रात के अंधकार की थोड़ी ही देर के लिए आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम अल्पदीप्तिकाली पौधे को 'दीर्घरात्रिकाली' पौधा भी कह सकते हैं। यदि किसी भी कारण से इस 'रात्रिकाल' में किसी प्रकाश का व्यवधान हो जाता है तो पौधे फूलों का उत्पादन नहीं कर पाते।

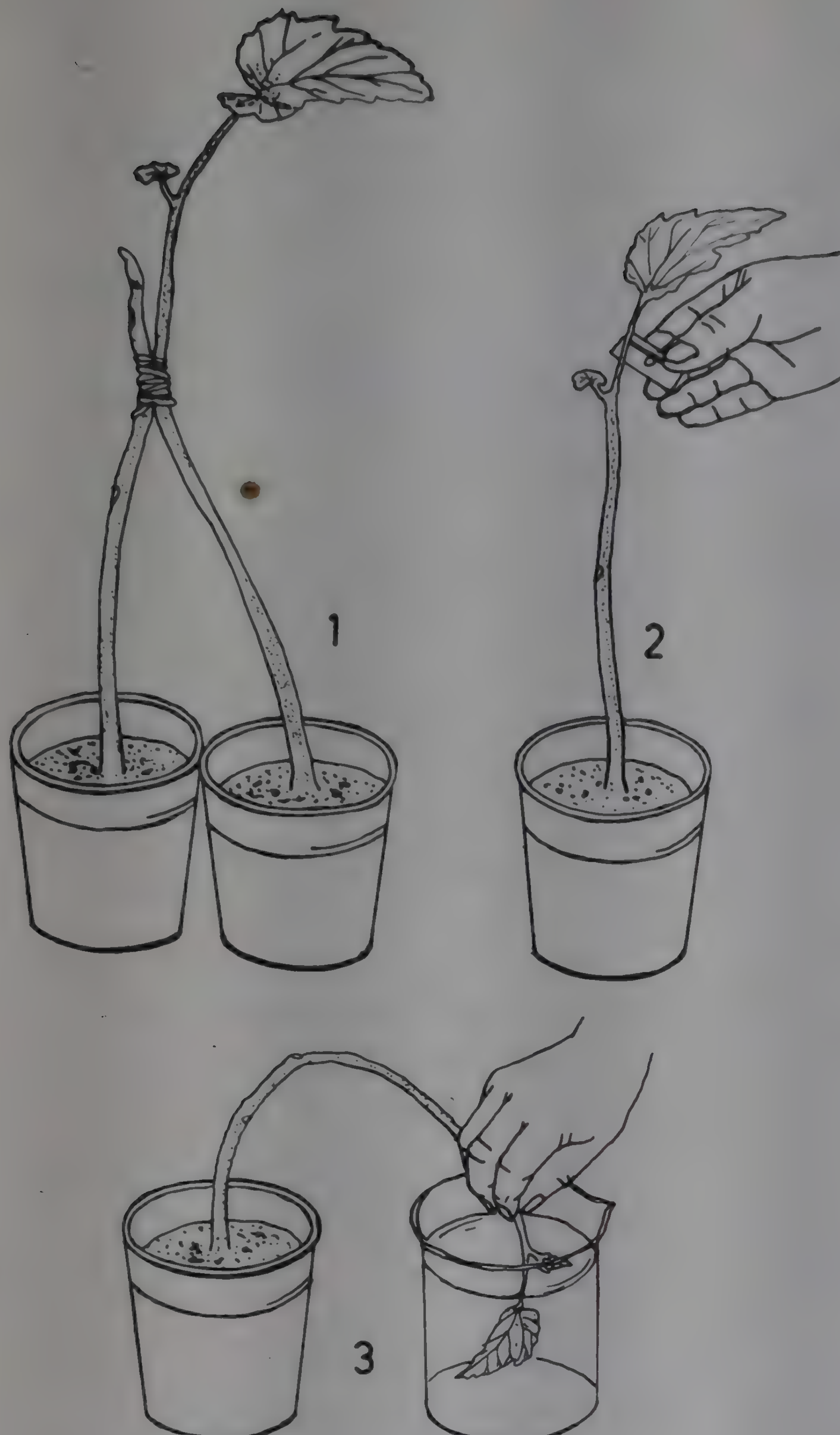
कार्बन डाईआक्साइड का प्रभाव

फूलों के उत्पादन में सूर्य प्रकाश के साथ-साथ वातावरण में उपस्थित कार्बन डाईआक्साइड की मात्रा का भी काफी महत्व है। वातावरण में यदि कार्बन डाईआक्साइड की पर्याप्त मात्रा नहीं होगी तो फूलों का उत्पादन कुछ समय के लिए रुक सकता है। स्पष्ट है कि पौधों की पत्तियां वातावरण से कार्बन डाईआक्साइड अवशोषित करती हैं। समझा जाता है कि इससे कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ संश्लेषित होते हैं जो फूलों के उत्पादन में सहायक होते हैं।

समस्या यह है कि ये रासायनिक पदार्थ पत्तियों में बनते हैं जब कि फूल अक्सर छोटी-छोटी डालियों के सिरों पर लगते हैं। ये पदार्थ किस प्रकार वहां तक पहुंच पाते हैं? अनुमान है कि इस सारे क्रम में पत्तियों



फूलों का उत्पादन और कार्बन डाईआक्साइड : वातावरण से कार्बन डाईआक्साइड शोषित कर पत्तियों में कुछ रासायनिक पदार्थ 'क' दिन में और 'ख' रात्रि में बनते हैं। इनकी सहायता से एक हारमोन 'ग' बनता है जो सिरों तक पहुंच कर फलों के उत्पादन को प्रेरित करता है।



1. रोपण द्वारा एक पौधे में बना हारमोन 'फ्लोरीजिन' रिस कर दूसरे पौधे में चला जाता है और दूसरे पौधे को फूलों के उत्पादन के लिए प्रेरित करता है; 2. एक ब्लेड द्वारा पत्ती का डंठल काट दिया जाए तो उसमें निर्मित हारमोन शिखर तक नहीं पहुंच पाता, जिससे फूलों का उत्पादन रुक गया है; 3. कुछ रासायनिक पदार्थों में यदि सिरा डुबो दिया जाये तो उसमें फूल जल्दी लगने लगते हैं।

में कुछ हारमोन बनते हैं जो स्थानान्तरण द्वारा शाखाओं के सिरों तक पहुंच कर फूलों के उत्पादन को प्रेरित करते हैं। प्रयोगों में इस प्रकार के एक पादप हारमोन 'फ्लोरीजिन' का पता लग चुका है। एक प्रयोग में वैज्ञानिकों ने दो अल्पदीप्तिकाली छोटे गोखरू के पौधे लिए। उनमें से एक पौधे पर दिन में थोड़े समय के लिए सूर्य का प्रकाश डाला। परिणामस्वरूप उसमें फूल खिलने लगे। दूसरे पौधे को प्रतिदिन काफी देर तक सूर्य के प्रकाश में रखा गया। इससे उसमें फूलों का उत्पादन रुक गया। इन दोनों पौधों का आपस में संकरण कराया गया। इससे कुछ समय बाद दूसरे पौधे में भी फूल खिलने लगे। इस प्रयोग से इस बात की पुष्टि हुई कि पहले पौधे में एक हारमोन का निर्माण हुआ जो संकरण के बाद दूसरे पौधे में रिस कर चला गया और जिससे दूसरा पौधा भी प्रभावित हो गया। यह भी पाया गया कि यदि पौधे की पत्ती का डंठल इस प्रकार काट दिया जाए जिससे हारमोन का स्थानान्तरण सम्भव न हो तो फूलों का उत्पादन रुक जाता है।

नियंत्रित प्रकाश अवधि

प्रतिदिन प्रकाश की अवधि पर नियंत्रण रख कर किसी पौधे में कभी भी फूल उत्पन्न किए जा सकते हैं। इस प्रकार से वर्ष में केवल एक बार फूलने वाले पौधों में दो बार फूल लाए जा सकते हैं। खेती में भी दीप्तिकालिकता का बहुत आर्थिक महत्व है। प्रकाश की अवधि को कृत्रिम रूप से नियंत्रित करके दो खाद्य-पदार्थ वाले पौधों में एक साथ फल प्राप्त किए जा सकते हैं, जो अलग-अलग ऋतुओं में फल देते हैं।

लेखकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' विज्ञान और टैक्नोलाजी से संबंधित रोचक लेख आमंत्रित करती है। प्रकाशित लेखों तथा चित्रों पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

'विज्ञान प्रगति' में लेख अधिकारी व्यक्तियों की आलोचना के बाद प्रकाशित किये जाते हैं।

लेख की भाषा और शैली ऐसी होनी चाहिए जिसे शिक्षित जन-साधारण समझ सके।

लेखों की शब्द संख्या 1000 से अधिक नहीं होनी चाहिये।

लेख कागज के एक ओर तिहाई हाशिया छोड़ कर साफ अक्षरों में लिखा होना चाहिये। हाथ से लिखे लेखों की एक प्रति भेजी जा सकती है किन्तु टाइप किये हुए लेखों की दो प्रतियां आने से कार्यालय को विशेष सुविधा होगी।

सचित्र लेख विशेष रूप से पसंद किये जाते हैं। चित्रों पर क्रम संख्या और शीर्षक दिये जाने चाहिये। फोटो ग्लॉसी कागज पर होने चाहिये।

प्रकाशन के लिये लेख और समालोचना के लिये पुस्तकें सम्पादक, 'विज्ञान प्रगति', भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, के पते पर आनी चाहिये।

लेख के साथ लेखक का संक्षिप्त परिचय भी आना चाहिये। इसमें लेखक की शिक्षा, महत्वपूर्ण पद, अनुसंधान कार्य या विशेषज्ञता का क्षेत्र और हाबी होनी चाहिये।

'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित लेखों अथवा चित्रों को सम्पादक की अनुमति से उद्धृत किया जा सकता है।

मनुष्य के शत्रु — परजीवी प्रोटोजोआ

टी. डी. नागपाल

कुछ वर्ष पूर्व तक महामारी का प्रचंड रूप धारण करने वाले मलेरिया ज्वर को कौन नहीं जानता। आज से लगभग 30 वर्ष पहले भारत में होने वाली मृत्युओं में से 33 प्रतिशत इस भयानक बीमारी के कारण ही होती थीं।

लगभग दो हजार वर्ष पहले रोम निवासियों ने इसे 'गन्दी वायु वाला बुखार' कहा था और इसका यह नाम उन्नीसवीं शती के अंत तक चलता रहा। सन् 1897 में रोनाल्ड रौस ने कलकत्ते में गहन अध्ययन करने के बाद इसके सही कारण का पता लगाया। लाखों लोगों की जानों से खेलने वाले इस ज्वर का कारण एक सूक्ष्म परजीवी **प्लास्मोडियम विवेक्स** है जो मादा एनाफाइल्स मच्छर के काटने से मनुष्य के शरीर में पहुंचता है।

भारत की 30 प्रतिशत जनता को पीड़ित करने वाली अमीबी पेचिश का कारण भी एक-कोशीय परजीवी **ऐन्टामोइबा हिस्टोलाइटिका** है जो हमारे शरीर के अन्दर कच्ची सब्जियों, फलों तथा अन्य खाने की वस्तुओं के साथ चला जाता है और आंव का कारण बन जाता है। आतशक भी एक प्रकार के परजीवियों के कारण ही पैदा होता है और आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित करने से नहीं चूकता। मध्य अफ्रीका के देशों में रहने वालों को अक्सर **ट्राइप्नोसोमेसिस** (नींद लाने वाली बीमारी––स्लीपिंग सिकनैस) हो जाती है। अनुसंधान से पता चला है कि इसका कारण भी एक परजीवी जीवाणु है जिसको **ट्राइप्लोसोमा** के नाम से जाना जाता है। साधारण सा दिखने वाला यह एक-कोशीय जीव न जाने कितनों को अपने आंचल में लपेट लेता है और मस्तिष्क में पहुंचने पर मनुष्य को सदा के लिए सुला देता है। बच्चों के पेट से मल के साथ कीड़े निकलना तो एक साधारण सी बात है। हमारे मन में सहज यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन घातक बीमारियों के उत्पन्न करने वाले जीवाणु कैसे हैं? ये हमारे शरीर के अन्दर कहां से और कैसे आ जाते हैं। और इनसे हम कैसे छुटकारा पा सकते हैं।

परजीवी जन्तुओं से हमारा तात्पर्य उन छोटे जन्तुओं से है जो अपने भोजन, सुरक्षा और स्थानांतरण के लिए अपने से बड़े जन्तुओं पर आश्रित होते हैं। वैज्ञानिक बड़े जन्तुओं को परपोषी (होस्ट) कहते हैं। परजीवी अपने वयस्क जीवन का अधिकांश भाग परपोषियों के शरीर में रह कर बिताते हैं। शरीर के ऊपर रहने वाले जीवों को बाह्य परजीवी और अंदर रहने वालों को 'आन्तरिक' परजीवी कहते हैं। ये परजीवी किसी अन्य जन्तु के माध्यम से अपने शिकार-परपोषी पर पहुंचते हैं। माध्यम का कार्य करने वाले जन्तुओं को माध्यमिक परपोषी (इन्टरमीडिएट होस्ट) कहते हैं।

मलेरिया, अमीबी पेचिश, आतशक, नींद-लाने वाली बीमारी का कारण आंतरिक परजीवी ही है। इन आन्तरिक परजीवियों में से कुछ को हम अपनी आंखों से नहीं देख सकते हैं। ये केवल सूक्ष्मदर्शी के नीचे ही दिखायी देते हैं। ये परजीवी मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों-अंतड़ियों में, हृदय में, रक्त तथा यकृत में पाए जाते हैं। ये सब एक-कोशीय प्रोटोजोआ जीव हैं। इन एक-कोशीय परजीवियों के नाम, इन के द्वारा ग्रसित होने वाले शरीर के अंग तथा इनसे होने वाले विकार संलग्न सारणी में दर्शाए हैं।

परजीवी	माध्यम	ग्रसित अंग	बीमारी
प्लास्मोडियम विवेक्स	मच्छर	रक्त व यकृत	मलेरिया
एन्टामोइबा हिस्टोलाइटिका	पानी	कोलन	अमीबी पेचिश
ट्राइप्नोसोम गेम्बाइन्से	ग्लोसिना मक्खी	रक्त	नींद लाने वाली बीमारी



प्लास्मोडियम विवेक्स का जीवन चक्र :

1. स्पोरोज्वाइट की रक्त में विचरण की अवस्था; 2-5. रक्त से लाल कणों में प्रविष्ट करने तथा 48 घंटे में विभाजित होकर बाहर निकलने की अवस्थाएं; 6-9. मच्छर के पेट में जाइगोट बनने तक अवस्थाएं; 10-14. जाइगोट से विभाजित होकर लाल ग्रंथियों तक पहुंचने की अवस्थाएं; 15. लार ग्रंथियों में पड़े हुए स्पोरोज्वाइट।

मादा एनोफाइलस मच्छर के डंक मारने पर प्लास्मोडियम विवेक्स हमारे रक्त में स्पोरोज्वाइट के रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी रूप में ये रक्त से यकृत में पहुंच जाते हैं। यकृत में विभाजन द्वारा अपनी संख्या बहुत तेजी से बढ़ाते हैं। विभाजन में इन्हें 6 से 10 दिन लग जाते हैं। अपनी संख्या बढ़ाने के बाद ये फिर रक्त में आ जाते हैं पर यहां पर यह रक्त के लाल कणों में घुस कर 48 घन्टे में विभाजन द्वारा अपनी संख्या 15-20 गुना तक बढ़ा लेते हैं। इनमें से आधे नपुंसक मीरोज्वाइट और आधे लैंगिक अवस्था में होते हैं। इस अवस्था में ये रक्त के लाल कणों में प्रवेश करके हीमोग्लोबिन को तोड़ देते हैं और उसका हिमाटिन अंश खा जाते हैं। इससे रक्त के लाल कण टूट कर रक्त में गिरने लगते हैं तथा छोटे लैंगिक और बिना लिंगवाले मीरोज्वाइट रक्त में स्वतन्त्र रूप से आ जाते हैं। इससे इस विकार के बाहरी लक्षण मलेरिया ज्वर के रूप में प्रकट होते हैं। स्वतन्त्र रूप से विचरने वाले मीरोज्वाइट 48 घन्टे में फिर अपना क्रम दोहराते हैं और मनुष्य को फिर मलेरिया ज्वर बढ़ जाता है। साधारण बोल चाल में 'तेइया' कहलाने वाला यह बुखार यदि औषधियों द्वारा रोका नहीं जाता तो अंततः मनुष्य की जान ही ले लेता है।



मनुष्य के ऊतकों में उपस्थित ट्रोपोनिमा पालिडम सूक्ष्मदर्शी के नीचे

1. सर्पिलाकार परजीवी

2. ऊतक भाग

रक्त में कुछ दिन तक निष्क्रिय पड़े रहने वाले प्लास्मोडियम के लैंगिक अंश, मच्छर के काटने पर उसके पेट में चले जाते हैं। इन अंशों का जीवन चक्र अब मच्छर के पेट में पूरा होता है। इनमें कुछ विभाजित होने लगते हैं और कुछ ज्यों के त्यों पड़े रहते हैं। विभाजित होने वाले नर कहलाते हैं और विभाजित न होने वाले मादा। नर और मादा निषेचन द्वारा जाइगोट बनाते हैं। कुछ मिनिट में वयस्क हो जाने पर जाइगोट स्पोरोज्वाइट में विभाजित हो जाते हैं। ये स्पोरोज्वाइट मच्छर की लार ग्रंथियों में इकट्ठे हो जाते हैं। लार ग्रंथियों की एक जोड़ी में 20 लाख तक स्पोरोज्वाइट समा सकते हैं और जब यह मच्छर मनुष्य को काटते हैं तो ये उसके रक्त में प्रवेश कर जाते हैं।

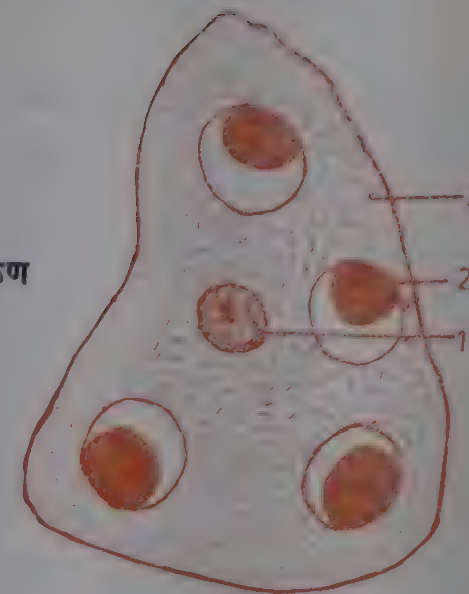
मलेरिया से बचने का सर्वोत्तम उपाय है प्लास्मोडियम परजीवी को मारना अथवा फैलने से रोकना। इसके लिए इनके मादा एनाफाइल्स मच्छरों का माध्यम परपोषी समाप्त करना जरूरी है। एनाफाइल्स को समाप्त करने के लिए इनके अण्डे देने के स्थानों को बन्द कर देना चाहिए अथवा उन पर मिट्टी का तेल, गेमेक्सीन, डी. डी. टी. आदि छिड़क देना चाहिए। इसके बाद भी यदि ये परजीवी मनुष्य के शरीर में पहुंच जाएं तो मीरोज्वाइट अवस्था में समाप्त करने के लिए कुनीन, एन्टाब्रीन, क्लोरोक्वीन, पाल्यूड्रीन तथा डारास्प्रीन लेना चाहिए।

एन्टोमोइबा हिस्टोलाइटिका

1. केन्द्रक

2. पचाए हुए रक्त के लाल कण

3. प्रोटोप्लाज्म



एन्टोमाइबा हिस्टोलाइटिका

प्रोटोजोआ समूह के इस सूक्ष्म एक-कोशीय जीव जो मनुष्य के कोलन में रहता है, को भी बिना सूक्ष्मदर्शी के नहीं देखा जा सकता। इस परजीवी की साधारणतः दो अवस्था होती हैं—पहली पुटित अवस्था (एन्सिसटेड)—जिसमें यह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के शरीर में पहुंचता

ट्रिप्नोसोमा गेम्बाइन्से

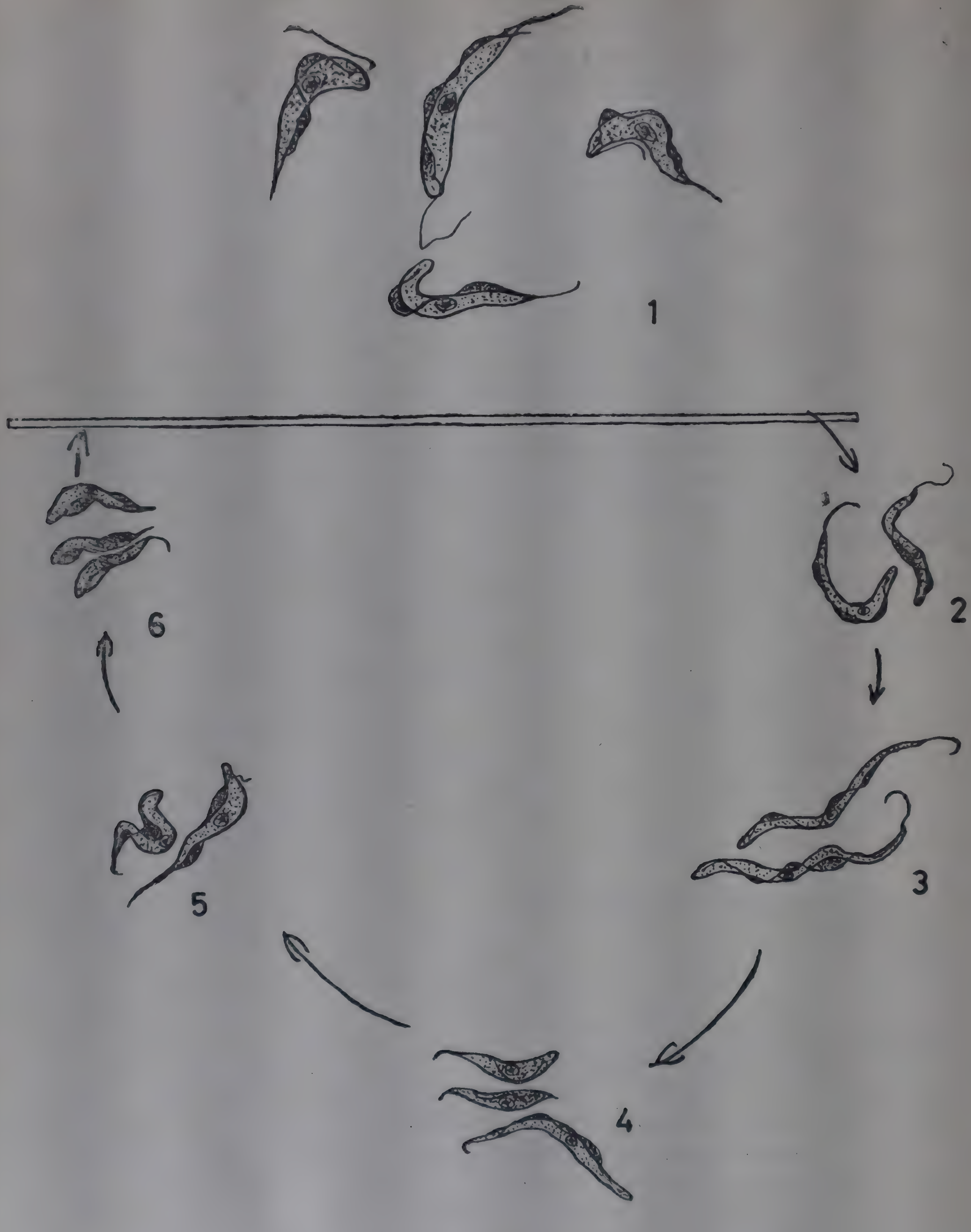
1. केन्द्रक

2. फ्लेजिला

3. तरंगित मेम्ब्रेन

4. काइनेटोसोम





ट्रिप्नोसोमा गेम्बाइन्से का जीवन चक्र :

1. मनुष्य के रक्त में पड़े हुए जीव; 2-6 माध्यमिक परिपोषी के शरीर में प्रोटोजोआ की वंशवृद्धि ग्लोसिना मक्खी के पेट में पहुंचने के 48 घंटे बाद; 3. दस से पन्द्रह दिन बाद की अवस्था; 4. बीसवें दिन की अवस्था; 5. अट्टाईसवें दिन की अवस्था; 6. मक्खी की लार ग्रन्थियों में तीसवें दिन की अवस्था

है। दूसरी मुक्त अवस्था जिसमें यह विभाजित हो कर अपनी संख्या को कई गुना कर लेता है। मुक्त अवस्था में यह अंतड़ियों की तहों में लग जाता है और अन्दर की ओर घुसता चला जाता है। फिर रक्त की छोटी-छोटी धमनियों में पहुंच कर रुधिर के लाल कणों के आन्तरिक भाग को अपना भोजन बनाना प्रारंभ करता है। इस कारण लाल रुधिर कोशिकाएं टूट कर मल के साथ बाहर आना शुरू हो जाती हैं। इस रोग को हम अमीबी पेचिश कहते हैं। यदि इनको समाप्त न किया जाए तो ये जीव शिराओं द्वारा यकृत में पहुंच जाते हैं और वहां तेजी से विभाजित होने लगते हैं। विभाजन के परिणामस्वरूप इनकी संख्या इतनी बढ़ जाती है कि यकृत में एक विशेष प्रकार का रोग हो जाता है जिसे हम **हिपैटिक एम्बिआसिस** कहते हैं।

कई दिनों के रुके पानी अथवा कच्ची सब्जियों को बिना अच्छी प्रकार से धोये सेवन करने से ये हमारे शरीर में अपनी प्रथम अवस्था (एन्सिसटेड अवस्था) में पहुंचते हैं। मक्खियां भी इसे रोगी मनुष्य से स्वस्थ्य मनुष्य में लाने में सहायक होती हैं।

ट्राइप्नोसोमा गेम्बाइन्से

प्रोटोजोआ समूह का यह सदस्य ही **ट्राइप्नोसोमोसिस** (नींद लाने वाली बीमारी) का कारण है। इसके बारे में अभी तक विशेष अनुसंधान नहीं किए गए हैं। आमतौर से यह मुक्त अवस्था में रक्त में रहता है। जब नींद लाने वाली बीमारी से पीड़ित मरीज को ग्लोसीना मक्खी काटती है तो **ट्राइप्नोसोमा गेम्बाइन्से** उसके शरीर में चला जाता है। वहां भी यह मुक्त अवस्था में रहता है और 30 दिन तक रह कर कई प्रकार के रूप बदलता है तथा अपनी संख्या बढ़ाता रहता है। फिर यह लार ग्रंथियों में सिकुड़ी हुई अवस्था में आ जाते हैं। परजीवियों से ग्रसित मक्खी जब स्वस्थ मनुष्य को काटती है तो ये मनुष्य के रक्त में पहुंच जाते हैं। रक्त में आते ही मनुष्य को नींद लाने वाली बीमारी कुछ दिन सताने लगती है। मनुष्य के स्वास्थ्य और प्रविष्ठ करने वाले परजीवियों की संख्या के अनुसार बीस दिन से लेकर एक वर्ष तक रक्त में विचरने के बाद ये केरोटेड आर्टरी से मस्तिष्क में पहुंच जाता है और मस्तिष्क में इसका पहुंचना मनुष्य के लिए यमराज का बुलावा आने के समतुल्य होता है। मनुष्य सदा के लिए सोता ही रह जाता है।

नींद लाने वाली बीमारी की रोकथाम का सबसे अच्छा उपाय है बीमारी के जीवाणुओं की **वाहक ग्लोसीना** मक्खी को नष्ट कर देना।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है 'आतशक' का कारण भी एक परजीवी प्रोटोजोआ–**ट्रोपोनिमा पालिडम** हैं। ●

मिल उद्योग

हमारी मिलें अभी इतना सूत पैदा नहीं कर सकतीं कि कपड़े की हमारी सारी जरूरत उनसे पूरी हो जाय और यदि वे करती होतीं तो भी जब तक उन्हें बाध्य न किया जाता वे कीमत कम करने के लिए तैयार न होतीं। उनका उद्देश्य जाहिरा तौर पर पैसे कमाना है और इसलिए यह तो हो नहीं सकता कि वे राष्ट्र की आवश्यकताओं का खयाल करके अपनी कीमतों का नियमन करें। अतः हाथ-कताई ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा गरीब देहातियों के हाथों में करोड़ों रुपए रखे जा सकते हैं। हरएक कृषि-प्रधान देश को ऐसे एक पूरक उद्योग की जरूरत होती है, जिससे किसान अपने अवकाश के समय का उपयोग कर सकें। भारत में यह पूरक उद्योग हमेशा कताई रहा है। जिस उद्योग के नाश के फलस्वरूप गुलामी और गरीबी आयी और उस अनुपम कला-प्रतिभा का लोप हो गया, जो किसी समय चमत्कारपूर्ण भारतीय वस्त्रों में दिखाई देती थी और जो दुनिया की ईर्ष्या का विषय बन गई थी, उस प्राचीन उद्योग को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न को क्या स्वप्न-सेवियों का आदर्श कहा जा सकता है?

—मो. क. गांधी

राष्ट्रीय ईंधन नीति

रामचन्द्र मिश्र

पृथ्वी पर ईंधन और ऊर्जा उत्पादन के बीच एक अटूट संबंध है। प्राचीन काल में अग्नि के आविष्कार के बाद ईंधन का उपयोग आरम्भ हुआ और उसमें मानव सभ्यता और विकास के साथ उस के उपयोग की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इस वृद्धि की दर में सबसे अधिक तेजी आई औद्योगिक क्रांति के बाद। आज किसी भी देश की औद्योगिक प्रगति उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाले ईंधन की मात्रा से आंकी जाती है और सुनियोजित औद्योगिक प्रगति के लिए ठोस ईंधन नीति आवश्यक है। परन्तु अभी तक भारत में ईंधन का उपयोग करने की कोई सुनियोजित नीति नहीं है। यहां प्रत्येक व्यापारिक अथवा औद्योगिक संस्थान की अलग-अलग ईंधन नीति है। कुछ क्षेत्रों में वैज्ञानिक व आर्थिक तथ्यों के आधार न मान कर अन्य तथ्यों के अनुसार ईंधन का उपयोग किया जाता है। फलस्वरूप हम कुल उपलब्ध ईंधन का सदुपयोग नहीं कर पाते। अब देश की औद्योगिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि ईंधन का उपयोग करने के लिए एक ठोस योजना तैयार की जाए।

व्यापक लक्ष्य

किसी भी देश की ईंधन नीति का ढांचा ऐसा होना चाहिए जिससे कि जनसाधारण तथा उद्योग, दोनों को समुचित मात्रा में न्यूनतम मूल्य पर वांछित ईंधन उपलब्ध हो सके। इस नीति का निर्धारण देश की आर्थिक दशा के साथ-साथ सामाजिक दशा को भी ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। यद्यपि यह नीति काल और स्थान के साथ बदल सकती है परन्तु उसके निर्धारण हेतु कुछ मूलभूत तथ्य निम्न हो सकते हैं :

(1) देश में उपलब्ध कुल ईंधन कोयला, पैट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, परमाणु ईंधन की मात्रा निश्चित करने में प्राकृतिक शक्तियों—सौर ऊष्मा, ज्वार भाटे, वायु आदि को भी शामिल किया जाना चाहिए।

(2) देश के अनेक क्षेत्रों के उद्योगों की मांग, उनके लिए ईंधन की उपयोगिता आदि के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के ईंधनों के गुणों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

(3) कुल राष्ट्रीय पूंजी तथा ईंधन के उत्पादन व परिवहन के लिए उपलब्ध अपेक्षित पूंजी और ईंधन आयात के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा आदि का निश्चयन होना चाहिए।

यह आवश्यक है कि समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकता को ध्यान में रख कर समय-समय पर ईंधन नीति में संशोधन किया जाए।

ऊर्जा संभरण की समस्या

यद्यपि भारत में ऊर्जा के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं पर इनका वितरण सब स्थानों पर एक सा नहीं है। कोयला जिसकी 70 प्रतिशत मात्रा निम्न कोटि की है, देश के कुल सात राज्यों में ही पाया जाता है। लोहा व इस्पात के निर्माण में उपयोगी कोयला (कोकनीय कोयला) केवल बिहार व बंगाल में पाया जाता है। इसी प्रकार तेल देश के सुदूर-पूर्व व सुदूर-पश्चिम भागों में पाया जाता है। जल-विद्युत साधन देश के उत्तर-पूर्वी भाग में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, जब कि दक्षिण में इन साधनों का शेष हो रहा है।

ईंधन के उपयोग के बारे में भी यही बात है। लोग अपने ईंधन का आधा भाग लकड़ी, गोबर आदि जैसे अपेक्षाकृत अत्यधिक महंगे ईंधनों से, 22 प्रतिशत कोयले से व लगभग 4 प्रतिशत जल-विद्युत से पूरा करते हैं। इससे ऊर्जा का बहुत अपव्यय होता है। समझा जाता है कि अन्य क्षेत्रों के मुकाबले में ईंधन के क्षेत्र में अपव्यय सबसे अधिक है। यह अपव्यय लगभग दस करोड़ टन कोयले से प्राप्त होने वाली ऊर्जा के तुल्य है।

देश में परमाणु विखण्डन से ऊर्जा प्राप्त करने के सफल प्रयोग किए गए पर इस क्षेत्र में अभी औद्योगिक दक्षता प्राप्त करना शेष है। यूरेनियम को खान से निकालने और रिएक्टर तक पहुंचाने में बहुत लागत आती है। साथ ही यह कार्य काफी कठिन होता है। पर देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ये कार्य तेजी से किए जाने चाहिए।

भारत की भौगोलिक स्थिति सौर ऊष्मा की दृष्टि से बहुत अच्छी है और इस दिशा में भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा सराहनीय शोधकार्य भी हुआ है। लेकिन अधिक लागत व कम उपयोगी-दक्षता के कारण इसका भविष्य संदिग्ध है।

अल्पकालिक योजना आवश्यक

ईंधन या ईंधन-जनित शक्ति की मांग में एकदम बहुत अधिक वृद्धि हो जाना ईंधन उद्योग की जटिल समस्या है जिसका समाधान प्रौद्योगिकी द्वारा ही संभव है। पिछले कुछ वर्षों में कोयले की मांग बहुत तेजी से बढ़ी है। परन्तु धातु कर्म उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले धुंआहीन कोयले की मांग अन्य प्रकार के कोयलों के मुकाबले में अधिक बढ़ी है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं देश में पाए जाने वाले कोयले में धातुकर्म कोयले की मात्रा सीमित है। अतः इस्पात कारखानों के लिए समुचित मात्रा में कोकनीय कोयला उपलब्ध करने की समस्या धीरे-धीरे विकट होती जा रही है। इसलिए उपयोग के लिए एक अल्पकालिक योजना

बनाना जरूरी है। अल्पकालिक योजना का लक्ष्य अकोकनीय कोयले का उपयोग बढ़ा कर कोकनीय कोयले की बचत करना होना चाहिए।

कोयले से संबंधित आज हमारे समक्ष एक बड़ी समस्या अधिक राख वाले कोयले तथा कोयलों के चूरे को इस्तेमाल करना भी है। भारत में ऐसे कोयले को ढिम्मे बना कर इस्तेमाल करने के सुझाव दिए गए हैं। इनके अतिरिक्त घटिया किस्म के कोयले को उपयोगी बनाने के बारे में अन्य सुझाव हैं: (1) ताप विद्युत घरों में इनका उपयोग करना, पर इसके लिए दहन उपकरणों में सुधार करना पड़ता है; (2) घरेलू ईंधन के लिए इन्हें कम ताप पर कार्बनीकृत करना।

पैट्रोलियम

पैट्रोलियम को 'तरल सोना' कहा जाता है और यह नाम इसके लिए उपयुक्त भी है। यह द्रव राष्ट्रों की सम्पन्नता का प्रतीक बन चुका है और मुद्रा-अर्थ-व्यवस्था में स्वर्ण की तरह महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है। आज पैट्रोलियम, गैसोलिन, डीजल आयल, जेट ईंधन, मिट्टी का तेल, पैट्रोलियम गैस, लुब्रिकेटिंग तेल, एस्फाल्ट तथा विभिन्न प्रकार के पैट्रोरसायन उत्पादों का स्रोत है।

यद्यपि भारत में प्रथम तेल कुआं असम में 1866-67 में खोदा गया पर पहले अनेक वर्षों तक पैट्रोलियम उद्योग की प्रगति बहुत धीमी रही। उसकी प्रगति तो वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हुई। 1947 के बाद पैट्रोलियम उत्पादन में बहुत तेजी से वृद्धि हुई पर मांग में वृद्धि की दर उससे कहीं अधिक रही। परिणामस्वरूप हमें आज भी विदेशों से माल मंगाना पड़ता है। पर कोयले का समुचित उपयोग किए बिना आयात बढ़ा कर तेल की बढ़ती हुई मांग को पूरा करना एक बड़ी भूल है। इसे हमें जल्दी से जल्दी सुधारना है। इस परिस्थिति में जहां तक संभव हो वहां तक घरेलू ईंधन के रूप में व प्रकाश के लिए पैट्रोलियम के स्थान पर ईंधन के अन्य स्रोतों का उपयोग किया जाना चाहिए। साथ ही पैट्रोलियम का उत्पादन बढ़ाने के लिए हर सम्भव स्रोत का उपयोग करना चाहिए। तेल निकालने के उपकरणों का आयात तेल के आयात के मुकाबले में अधिक युक्तिसंगत होगा।

ईंधन—मुफ्त या खरीद कर?

आज भी घरेलू काम में ईंधन की खपत अन्य क्षेत्रों के मुकाबिले में अधिक है। और घरेलू ईंधन के रूप में 90 प्रतिशत से भी अधिक 'अव्यापारिक' ईंधन गोबर, लकड़ी व फसलों के अवशेष पदार्थ आदि इस्तेमाल किए जाते हैं। इनको जलाने से अनेक हानियां हैं। गोबर जलाने से परोक्ष रूप से भूमि की उर्वरा शक्ति घटती जाती है। लकड़ी जलाने से भी भूमि क्षरण तथा वर्षा की कमी जैसी बहुत सी परोक्ष हानियां होती हैं। दरअसल कोयला, उससे निर्मित गैस, कोक तथा तेल जैसे पदार्थ ही घरेलू ईंधन के रूप में इस्तेमाल किये जाने चाहिए। शहरी क्षेत्रों में इनका उपयोग दिनोंदिन बढ़ भी रहा है। पर ग्रामों में स्थिति पहले जैसी ही है।

अब प्रश्न यह है कि क्यों न ग्रामीण क्षेत्रों में भी कोयला या गैस का उपयोग किया जाए? यह बात कुछ विचित्र लगती है कि आज जब किसान कृषि के आधुनिक तरीकों को अपना रहे हैं, ईंधन संबंधी उनके दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अब भी वे लकड़ी तथा फसलों के डंठल आदि ही जलाते हैं। इसका कारण बढ़िया ईंधन की उपलब्धि में कठिनाई नहीं है वरन् गांवों की खेतिहर प्रणाली व पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था है। किसानों को ये वस्तुएं बिना खर्च किए मुफ्त प्राप्त हो जाती हैं। यदि ग्रामवासी धुआंहीन कोक जलाने लगें तो पहले उनका खर्च अवश्य बढ़ेगा पर गोबर को खाद के रूप में प्रयुक्त कर के इस खर्च की न केवल पूर्ति की जा सकेगी वरन् अतिरिक्त फसल के रूप में आमदनी भी बढ़ जाएगी।

अतः किसानों को कोयले का इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। यह कठिन कार्य नहीं है और सरकार इस ओर प्रयत्नशील भी है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश व बिहार की सरकारों ने कुछ चुने हुए गांवों में इस संबंध में एक प्रायोगिक योजना कार्यान्वित करने का निश्चय किया है। इसके अनुसार शुरू में कोक कम मूल्य पर बेचा जाएगा।

वायुमंडलीय दूषण—एक चुनौती

ईंधन जलाने से वायुमंडल दूषित हो जाता है। स्वास्थ्य पर इस दूषण के बहुत हानिकारी प्रभाव पड़ते हैं। परन्तु विचित्र बात यह है कि औद्योगिक रूप से यह दूषण लाभकारी भी हो सकता है। इससे कई बार ऐसे पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं जो साधारणतया उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ कोयले या तेल को जलाने पर उनमें अपद्रव्य के रूप में मौजूद गंधक सल्फर डाईआक्साइड के रूप में वायुमंडल में पहुंच जाता है। इससे समुचित विधि द्वारा गंधक प्राप्त किया जा सकता है।

• • •

चौंतीस वर्ष पहले 'हरिजन' में गांधी जी ने लिखा था कि अगर हम गांवों के घर-घर में बिजली पहुंचा दें तो मुझे उस पर कोई आपत्ति नहीं होगी कि गांव के लोग बिजली से ही अपने औजार चलाएं, किन्तु तब गांव या सरकार के अपने बिजली घर होंगे जैसे इस समय चरागाह हैं।

सौर सक्रियता

भाग 1

कुलदीप चड्ढा

लगभग हर देश में प्राचीन काल में सूर्य, चांद, सितारों को मनुष्य का भाग्य निर्माता माना जाता था। बाद में, विज्ञान के विकास के साथ यह सिद्ध होता गया कि ये पदार्थ निश्चेष्ट प्राकृतिक पिण्ड हैं जिन में किसी को श्राप अथवा वरदान देने की सामर्थ्य नहीं। परन्तु आजकल संसार के सभी प्रमुख वैज्ञानिक मानते हैं कि कम से कम सूर्य अवश्य इस विषय में अपवाद है। सूर्य के 'शरीर' में होने वाली कुछ क्षीण-सी हलचलें भी, हमारी पृथ्वी की अनेक क्रियाओं पर विचित्र और व्यापक प्रभाव डालती हैं। इन्हीं हलचलों को सौर सक्रियता (सोलर एक्टिविटी) कहते हैं।

सक्रियता के घटने-बढ़ने ने ही उसे वैज्ञानिकों के लिए रोचक बनाया। सक्रियता के घटने-बढ़ने अथवा 'उतार-चढ़ाव' का यह क्रम लगभग 11 वर्ष में पूरा होता है। इसे 'ग्यारह वर्षीय चक्र' कहते हैं। वर्तमान शती के प्रारंभ से अब तक पृथ्वी की अनेक क्रियाओं पर इस 11 वर्षीय चक्र के प्रभाव अनुभव किए गए। सौर सक्रियता तथा पृथ्वी पर पड़ने वाले प्रभाव वैज्ञानिकों के लिए इतने रोचक सिद्ध हुए हैं कि राजनैतिक सिद्धान्तों में तीव्र मतभेद तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान में कटु स्पर्धा के बावजूद, संसार के सब प्रमुख देशों के वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में अनुकरणीय सहयोग और सहकारिता का परिचय दिया है।

सन् 1924 में इस अन्तरराष्ट्रीय सहयोग का सूत्रपात हो चुका था। पर विशेषतया उल्लेखनीय अभियान था सन् 1957-58 का अंतरराष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष, जब सौर सक्रियता की चरम तीव्रता पर होने की संभावना थी। इसी प्रकार जब 1964 में सौर सक्रियता न्यूनतम थी, अन्तरराष्ट्रीय शांत सूर्य वर्ष आयोजित किया गया। अब 1969-70 में सौर सक्रियता के अधिकतम होने की संभावना है। यह सक्रियता सूर्य के बिम्ब पर अनेक प्रकार से प्रकट होती है, पर इसके प्रतीक हैं सूर्य 'कलंक'। प्रारम्भ में हम इन्हीं का वर्णन करेंगे।

सूर्य से मनुष्य का 'परिचय' पुराना है पर सूर्य कलंक से नहीं। यद्यपि कुछ देशों, विशेष रूप से एशियाई देशों, में प्राचीन काल से ही सूर्य कलंकों का अध्ययन किया जाता रहा है। चीन, अरब और भारत को इसका श्रेय प्राप्त है। यूरोप में सूर्य कलंकों का पहले-पहल अध्ययन किया गया सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में। अध्ययनकर्त्ता थे : गेलीलियो, शाइनर, गोल्डस्मिट तथा हैरियट। इन्होंने स्वतंत्र रूप से सूर्य पर काले-काले धब्बे देखने की घोषणा की। पर इसमें संदेह नहीं कि इनका विशद और नियमित अध्ययन यूरोप में ही आरम्भ हुआ।

प्रारंभ में उक्त काले धब्बों को सूर्य और धरती के बीच का कोई अवरोध माना जाता रहा। कुछ विद्वानों ने इन्हें विशाल उकाब आदि समझा तो कुछ ने बुध अथवा शुक्र आदि ग्रहों द्वारा सूर्य का आंशिक ग्रहण। पर शीघ्र ही यह पूरी तरह से निश्चित हो गया कि सूर्य कलंक सूर्य के अपने शरीर के ही 'अंग' हैं। पर वे सूर्य के शरीर के स्थायी चिह्न न होकर 'चेष्टापूर्ण' विकार हैं। समय के साथ इनकी संख्या, आकार, विस्तार तथा स्थिति आदि बदलती रहती है।

सूर्य कलंकों के स्थूल परिचय के लिए किसी विशेष यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जिन दिनों सौर सक्रियता तीव्र हो, उन दिनों यदि काजल से अच्छी तरह धूमिल हुए स्वच्छ सपाट कांच के टुकड़े में से सूर्य को देखा जाय तो गहरे पीले सूर्य के गोलाकार बिम्ब की पृष्ठभूमि पर, स्याही के छींटों के समान, छोटे-छोटे काले धब्बे दिखाई देंगे। इन कलंकों को प्रायः सूर्य की विषुवत 5° से 40° के बीच के अक्षांशों में ही देखा जा सकता है।

11 वर्षीय चक्र के प्रारंभ में, सर्वप्रथम कलंक 40° अक्षांश के करीब उत्पन्न होते हैं। जन्म के बाद उनका आकार धीरे-धीरे बढ़ता



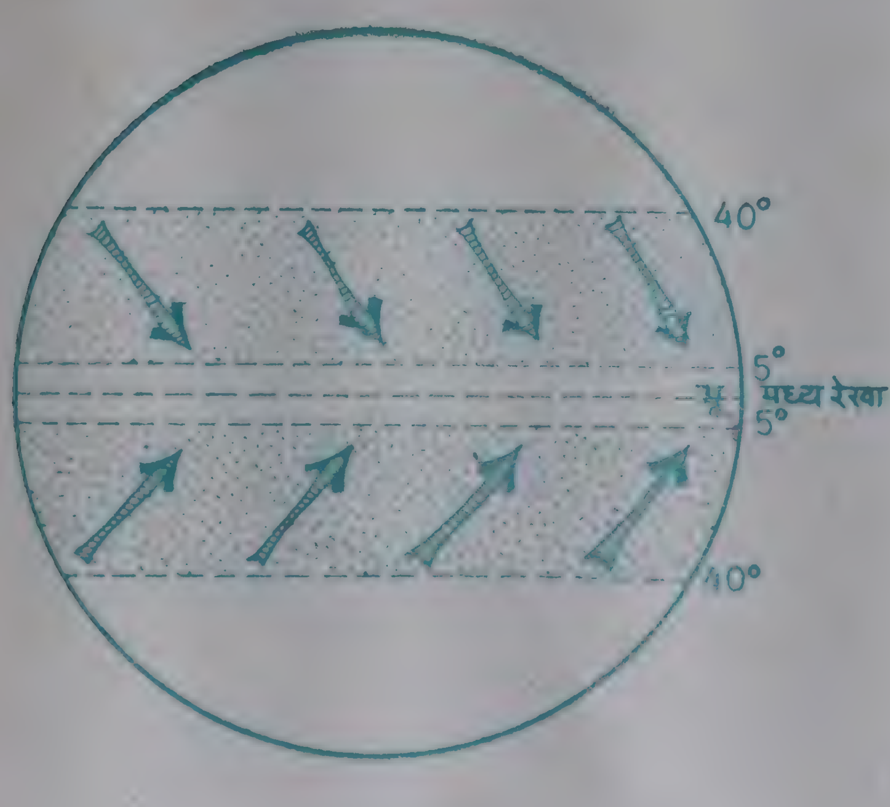
सूर्य के कलंक

जाता है। एक चरम सीमा के बाद या तो ये आकार में कम होने लगते हैं, अथवा दो या अधिक कलंकों में बंट जाते हैं। यह भी संभव है कि दो अथवा अधिक कलंक परस्पर मिल कर एक बड़े कलंक का रूप धारण कर लें।

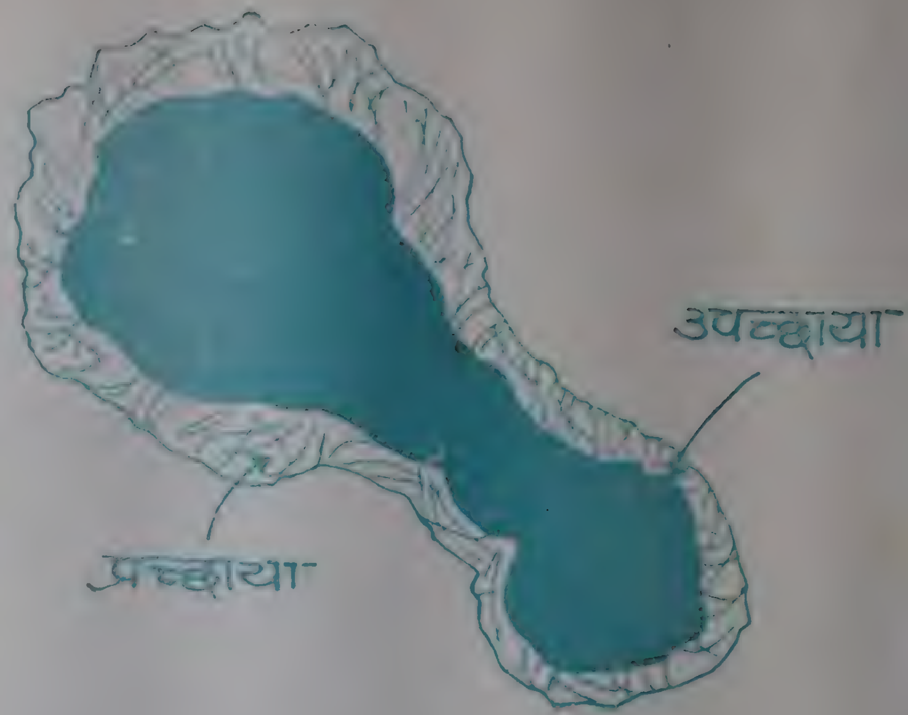
विकास के उक्त दौर के साथ ही साथ, कलंक सूर्य की विषुवत रेखा की ओर भी सरकते रहते हैं। इसे कलंकों का 'अक्षांश प्रभाव' (लैटीट्यूड इफैक्ट) कहते हैं। देशान्तरों के संदर्भ में इनकी गति प्रायः शून्य होती है। पर सूर्य के परिभ्रमण के कारण, पृथ्वी से देखने पर, सूर्य कलंक तिरछी राह पर चलते प्रतीत होते हैं। एक अकेले कलंक का जीवन काल कुछ घंटों से लेकर अनेक दिनों तक का हो सकता है। अभी तक सबसे दीर्घजीवी कलंक सन् 1840-41 में देखा गया, जिस का जीवन काल 18 मास था।

ज्यों-ज्यों 11 वर्षीय चक्र आगे बढ़ता है, नए कलंक नीचे के अक्षांशों में पैदा होते जाते हैं। चक्र की समाप्ति पर अन्तिम कलंक 5° अक्षांश के निकट पैदा होते हैं। उसी समय नए चक्र के प्रारंभ के प्रतीक कुछ कलंक पुनः ऊंचे अक्षांशों पर दिखाई देते हैं। इस प्रकार की हलचल दोनों गोलार्धों में प्रायः समान तीव्रता से होती है। पर एक गोलार्द्ध में पैदा हुआ कलंक विषुवत रेखा पार करके दूसरे में जाता कभी नहीं देखा गया।

सूर्य कलंक एक दूसरे से, जीवन काल के परिमाण के कारण ही भिन्न नहीं, उनका आकार और विस्तार भी विविधता लिए है। जहां बड़े कलंक केवल आंखों से भी देखे जा सकते हैं, अनेक कलंक काफी शक्तिशाली दूरदर्शियों की अपेक्षा रखते हैं। अधिकांश कलंकों का विस्तार 1 से 10 हजार किलोमीटर के बीच होता है—हालांकि कुछ एक लाख किलो मीटर अथवा इससे भी अधिक विस्तार के होते हैं।



सूर्य के परिभ्रमण के कारण पृथ्वी से देखने पर सूर्य कलंक 'तिरछे मार्ग पर चलते' प्रतीत होते हैं



बड़े कलंकों में दो प्रकार के क्षेत्र-- उपच्छाया और प्रच्छाया दिखते हैं

अपेक्षाकृत बड़े कलंकों को, दूरदर्शियों की सहायता से देखने पर, उनकी बनावट की अनेक बारीकियां दृष्टिगोचर होती हैं। हमने प्रारंभ में कलंकों को काले क्षेत्र के रूप में प्रकट किया था। पर बड़े कलंकों में दो प्रकार, बीच का गहरा काला भाग (उपच्छाया—अम्ब्रा) और उसको घेरे हुए कम गहरी पट्टी (प्रच्छाया—पेन अम्ब्रा) स्पष्ट दिखते हैं।

इन दोनों क्षेत्रों में कम-अधिक हलचल मची ही रहती है। अतः समय के साथ इनकी सीमाएं व रूपरेखाएं बदलती रहती हैं। कई बार तो रूपरेखा फोटो लेने की अवधि पर भी निर्भर करती है। अत्यन्त छोटे कलंक प्रायः नितान्त काले होते हैं। उनमें प्रच्छाया नहीं होती। कभी-कभी इन्हें 'छिद्र' (पोर) भी कहते हैं।

सूर्य कलंकों का कालापन कुछ अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है। यह कालापन केवल सापेक्ष है। अन्यथा, लैंगले नामक वैज्ञानिक के अनुसार, चन्द्रमा की तुलना में सूर्य कलंक 500 गुणा अधिक प्रकाशवान होते हैं। इनका तापमान लगभग 5000° अंश, कैलविन होता है। यह ताप इतना अधिक है कि इस पर न केवल लगभग सब धातुएं पिघल ही जाती हैं, वरन् खौलने लगती हैं। फिर भी ये धब्बे काले दिखाई देते हैं क्योंकि वे आसपास के क्षेत्र की अपेक्षा ठंडे हैं। स्मरण रहे कि सूर्य के दृश्य धरातल का सामान्य ताप लगभग 6000° कै. है।

प्रभामंडल व कणिकाएं : सूर्य के दृश्य धरातल का रूप पृथ्वी के धरातल से नितान्त भिन्न है, क्योंकि यह ठोस न होकर तप्त गैसों से बना है। वैज्ञानिक भाषा में इसे प्रभामण्डल (फोटोस्फियर) कहते हैं, क्योंकि सूर्य के प्रकाश का मुख्य भाग यहीं से प्रसारित होता है। प्रभामण्डल की गहराई 1,30,000 किलोमीटर के करीब है।

कुछ समय पूर्व कैरिंगटन नामक वैज्ञानिक ने बताया कि प्रभामण्डल एक सपाट प्रकाश-स्रोत न होकर, छोटे-छोटे क्षेत्रों से बना है जो परस्पर सटे हुए बिजली के लट्टुओं की भांति टिमटिमाते रहते हैं। जैनसन द्वारा लिए गए कुछ चित्रों में भी इनका आभास मिला किंतु गत 10 वर्षों के

दौरान दूरदर्शियों से लैस, ऊंचाई पर मंडराने वाले गुब्बारों में से लिए गए प्रभामंडल के चित्रों में ये तत्व बहुत साफ दिखाई देते हैं। 'कणिकाएं' (ग्रेन्यूलेशन्स) कहलाने वाले इन बहुभुजाकर क्षेत्रों का व्यास 500 से 1000 कि. मी. के लगभग होता है। एक बार प्रदीप्त होकर ये कणिकाएं लगभग 10 मिनट तक सचेत रहती हैं, तदुपरान्त कुछ देर के लिए उन का प्रकाश मन्द पड़ जाता है।

कभी-कभी एक अथवा अधिक लट्टू अकस्मात बुझ जाते हैं अथवा लुप्त हो जाते हैं। जब पास-पड़ोस का क्षेत्र भी इसी कालिख में समा जाता है तो मानों सूर्य कलंक का जन्म होता है। इस अवलोकन से प्रकट होता है कि सूर्य कलंक प्रभामंडल के एक विशेष क्षेत्र की अवस्था है, कोई अलग तत्व नहीं।

प्रभामंडल के चारों ओर एक अन्य गोलाकार क्षेत्र है जिसे वर्ण मंडल कहते हैं और वर्ण मंडल को घेरे है किरीट। जिस समय प्रभामंडल में सूर्य कलंक प्रकट होते हैं, इन दो क्षेत्रों में अत्यन्त रोचक और विचित्र हलचलें होती हैं। आगामी लेख हम इनके वर्णन से प्रारंभ करेंगे।

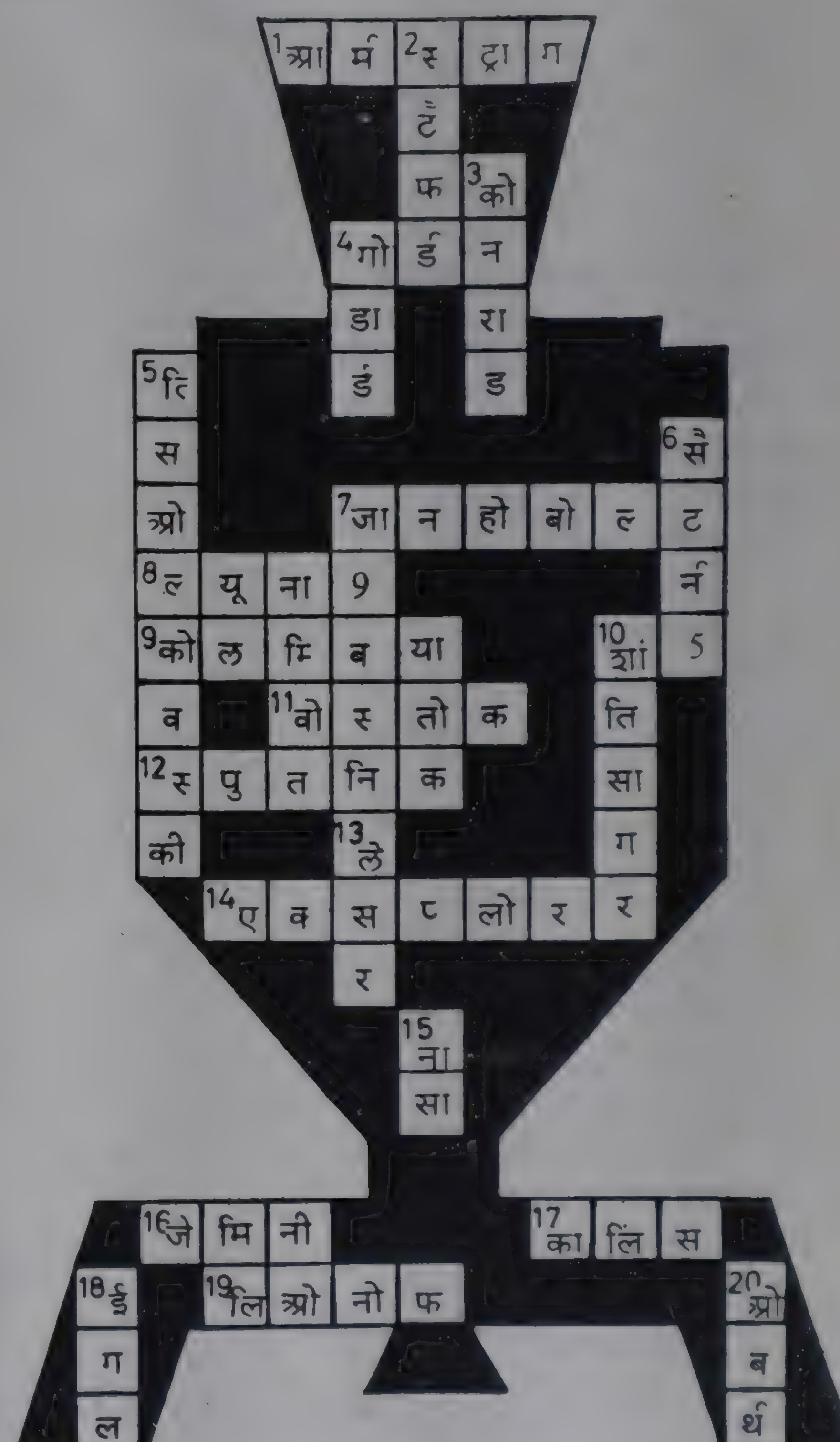
• • •

यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है, जब कि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हों या नपे-तुले हों। पर यह बात हिन्दुस्तान में तो है नहीं। यहां काम के लिए जितने आदमी चाहियें, उनसे कहीं अधिक बेकार पड़े हुए हैं। इसलिए उद्योगों के यंत्रीकरण से यहां की बेकारी घटेगी या बढ़ेगी? कुछ वर्गगज जमीन खोदने के लिए मैं हल का उपयोग नहीं करूंगा। हमारे यहां सवाल यह नहीं है कि हमारे गांवों में जो लाखों करोड़ों आदमी पड़े हैं उन्हें परिश्रम की चक्की से निकाल कर किस तरह छुट्टी दिलाई जाय, बल्कि यह है कि उन्हें साल में जो कुछ महीनों का समय यों ही बैठे-बैठे आलस में बिताना पड़ता है उसका उपयोग कैसे किया जाय। कुछ लोगों को मेरी यह बात शायद विचित्र लगेगी, पर दरअसल बात यह है कि प्रत्येक मिल सामान्यतः आज गांवों की जनता के लिए त्रासरूप हो रही है। उनकी रोजी पर ये मायाविनी मिलें छापा मार रही हैं।

—हरिजन सेवक; 23-11-34

विज्ञान वर्ग पहेली

क्रमांक 14 का हल



'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों से निवेदन

'विज्ञान प्रगति' एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका है जो वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भारतीय भाषा यूनिट द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित की जाती है ।

यह पत्रिका शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्कूलों के लिये स्वीकृत है ।

इस में विविध वैज्ञानिक विषयों पर लोकोपयोगी, सुरुचिपूर्ण और प्रामाणिक लेख प्रकाशित होते हैं। पत्रिका विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है ।

पत्रिका का वार्षिक चंदा (डाक-व्यय सहित) केवल पांच रुपये हैं। एक प्रति का मूल्य पचास पैसे है। विशेषांक के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। 'विज्ञान प्रगति' का शुल्क तथा परिषद् के अन्य हिन्दी व विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रकाशन मंगाने के लिये अग्रिम धन-राशि चैक/पोस्टल/मनी आर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा सेक्रेटरी, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, रफी मार्ग, नई दिल्ली-1, को भेजें। धनराशि किस पुस्तक/पत्रिका के लिये भेजी जा रही है इसका उल्लेख अवश्य करें।

पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक, भारतीय भाषा यूनिट, पी. आई. डी. बिल्डिंग, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12, से करें। नीचे दिया फार्म भर कर पत्रिका के वार्षिक सदस्य बनें। कृपया सदस्यता की समाप्ति से पूर्व ही अगले वर्ष के लिये शुल्क भेज कर नवीकरण करा लें ताकि पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे। नवीकरण कराते समय या पत्र-व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें। इस से पत्र पर तुरन्त उचित कार्यवाही की जा सकेगी।

ग्राहक फार्म

व्यवस्थापक,
विज्ञान प्रगति,
पी. आई. डी. बिल्डिंग,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12.

कृपया मेरा नाम 'विज्ञान प्रगति' के ग्राहकों/नये ग्राहकों की सूची में मास...................... 1969 से दर्ज कर लीजिये। मेरी पुरानी ग्राहक संख्या...........है। मैं........... रु. का चैक/पोस्टल/मनी आर्डर क्रमांक.................दिनांक.........को सेक्रेटरी, सी. एस. आई. आर., नई दिल्ली के नाम से भेज रहा हूं।

पूरा नाम...

पता...

डाकघर..............................जिला....................राज्य...........

हस्ताक्षर..



अपोलो-12 के यात्री (बायें से) : चार्ल्स कोनराड, रिचर्ड गॉर्डन और ऐलेन बीन

कृष्णमुरारी अग्रवाल द्वारा कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, के लिए दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली, में मुद्रित तथा प्रकाशित।

Regd. No. D-464